प्राप्ति स्थान :
महावीर प्रसाद जैन
३३२, स्कीम न. १०
अलवर-३०१ ००१
फोन : ३३१०३८

श्री दिगम्बर जैन साहित्य
प्रकाशन समिति का
चतुर्थ पुष्प
प्रथम आवृत्ति -- ३१००

लागत मूल्य : १५.०० रु.
न्योछावर मूल्य : ३०.०० रु.
(नोट : कृपया न्योछावर मूल्य से अधिक में विक्रय नहीं किया जावे।)

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड, जयपुर
३७३८२२, ३६२४६८

श्री दिग. जैन साहित्य प्रकाशन समिति के सदस्यगण

१. श्री गुलजारीलाल जैन, सेवा-निवृत्त प्राचार्य, राजकीय महाविद्यालय, ५, विकासपथ, अलवर
२. श्री अजित प्रसाद जैन, एम. कॉम., कृष्णा कॉलोनी, अलवर
३. श्री कपूरचन्द्र जैन, प्रोफेसर, आर.आर. कॉलेज, अलवर
४. श्री महावीर प्रसाद जैन, बडेरवाले, ४३, स्कीम 1, अलवर (कोषाध्यक्ष)
५. श्री अभयकुमार बोहरा, हकीमजी की गली, अलवर
६. श्री रतनलाल जैन, अशोका रेडीमेड, होप सर्कस, अलवर
७. डॉ. योगेश जैन पुत्र स्व. श्री गम्भीरचन्द्र वैद्य, अलीगंज
८. श्री पूनमचन्द्र लुहाड़िया, अजमेर
९. श्री छगनलाल जैन, कोकिल कुञ्ज, पालबीसला, अजमेर
१०. श्री प्रेमचन्द्र जैन, केशरगंज, अजमेर
११. श्री गोरधनलाल, स्वतन्त्रता सेनानी, गुदड़ी मंसूरखाँ, आगरा
१२. श्री अशोककुमार जैन, एडवोकेट, केशव निवास, बेलनगंज, आगरा
१३. डॉ. ए. के. जैन, अहमदाबाद
१४. श्री लक्ष्मीनारायण जैन, सेवा-निवृत्त व्याख्याता, फिरोजाबाद
१५. श्री अनिलकुमार जैन, एडवोकेट, फिरोजाबाद
१६. श्री जैनबहादुर जैन, कानपुर
१७. श्री बालचन्द्रजी पाटनी, कलकत्ता
१८. श्री हीराचन्द्रजी बोहरा, कलकत्ता
१९. श्री सुरेन्द्रकुमार जैन, फरीदाबाद (हरियाणा)
२०. श्री मलूकचन्द्र जैन, कोटा (राजस्थान)
२१. श्री मोतीलाल जैन, कोटा (राजस्थान)
२२. श्री प्रतापचन्द्र जैन, २, कामा हाउस, जयपुर
२३. श्री अमरचन्द्र जैन, सी-१२, सेठी कॉलोनी, जयपुर
२४. श्री गुलाबचन्द्र जैन, वनविहार, जयपुर
२५. श्री अजित प्रसाद शास्त्री, देवली (टोंक)
२६. श्री महावीर प्रसाद जैन, स्वतन्त्रता सेनानी, ३३२, स्कीम १०, अलवर (संयोजक)

प्रकाशकीय

आदरणीय पाठकगण,

जहाँ 'ग्रन्थराज पञ्चाध्यायी', स्व. पं. श्री सरनारामजी की टीका 'अध्यात्मचन्द्रिका' सहित, जो सरल भाषा व सुबोध शैली का एक नमूना है, को आपके हाथों में देते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है, वहीं हमारी प्रकाशन समिति के आदरणीय सदस्य वैद्य पं. गम्भीरचन्द्रजी अलीगंज (एटा) का दि. ५.१.९६ को सदैव के लिए हमसे विदा हो जाने का समिति को अत्यन्त दुःख भी है। कुछ समय पहले ही हमसे जुड़ने के बाद उन्होंने इस प्रकाशन के लिए कितना प्रयत्न किया उसका वर्णन नहीं कर सकते। हमें उत्साह देने के लिए जीवन से जूझती अवस्था में भी २० दिन तक अलवर में रहे व मार्गदर्शन किया। उनके दिमाग में यह घर कर गया था कि इस प्रकाशन के लिए करीब २ लाख रुपये की आवश्यकता होगी, अतः उन्होंने जहाँ भी उनकी पहुँच थी वहाँ व्यक्तिगत पत्र लिखे ही थे इसके अलावा स्वयं ने भी अपने घर के प्रत्येक सदस्य से आर्थिक सहयोग करीब ४,००० रुपये का दिलाया। जिन-जिन को उन्होंने लिखा सभी ने उनके आदेश को शिरोधार्य किया।

एक विद्वान व्यक्ति स्वयं आर्थिक सहयोग वीतराग भाव से दे और वह भी श्री सरनारामजी के प्रकाशन के लिए जो आज हमारे बीच में नहीं हैं, कितनी महानता है। उनसे हमने तो कार्य करने की व स्वाध्याय करने की प्रेरणा ली ही है, हम पाठकों से भी निवेदन करेंगे कि वे भी स्वाध्याय व ज्ञानदान करने की उनके वीतराग भाव से प्रेरणा लें। इसमें तो कोई शंका करने की गुंजाइश ही नहीं है कि वे आज भी शान्ति में हैं, क्योंकि उनकी अन्तिम एक माह की संलेखना ने यह सिद्ध कर दिया।

ग्रन्थराज पञ्चाध्यायी के प्रकाशन की योजना कैसे सामने आई, इस पर भी प्रकाश डालना जरूरी है। इससे पहले भी ग्रन्थराज की दो टीकायें और उपलब्ध हैं - (१) आदरणीय श्री मक्खनलालजी की तथा (२) श्री देवकीनन्दनजी की। इन दोनों ही टीकाओं का मैंने तथा भाई अजितप्रसादजी ने साथ-साथ स्वाध्याय किया। इसके बाद यह तीसरी टीका स्व. पं. सरनारामजी की 'अध्यात्म चंद्रिका', जो मेरे पास ७ भागों में मासिक आर्ष टीका के रूप में थी, की स्वाध्याय की। यह मुझे कैसे प्राप्त हुई इस विषय में 'पुरुषार्थ सिद्धिउपाय' के प्रकाशकीय में प्रकाश डाला जा चुका है। ये सातों ही भाग बड़ी जीर्ण अवस्था में थे। इनका कागज भी बहुत हल्का अखबारी कागज था। हमने इनकी अन्य प्रतियाँ तलाश करने का प्रयत्न किया, किन्तु नहीं मिलीं। इसका स्वाध्याय एक बार करने के बाद पुनः दोनों टीकाओं को सामने रखकर स्वाध्याय किया तो इस टीका का महत्व मालूम हुआ। पंडितजी ने अपने स्वयं के नोट में यह सुझाव दिया था कि इस टीका को अन्य टीकाओं के सामने रखकर पढ़ा जावे। यह टीका सरल, सुबोध के साथ-साथ स्थान-स्थान पर इसमें जो स्पष्टीकरण दिया गया है वह उनका अपना मौलिक है। इसके अलावा स्थान-स्थान पर प्रश्न उठाकर हर भाग के अन्त में प्रश्न कर उनका समाधान जो किया है उसने तो विषय की गहनता को समझने में बड़ी ही सरलता कर दी है। आपने सम्यग्दर्शन को खोलने में जो व्याख्या की है वह तो वास्तव में अद्वितीय है।

अच्छी तरह से विचार-विनिमय करने के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचे कि इसका प्रकाशन तो अवश्य ही होना चाहिए वरना आधुनिक युग की इस अद्वितीय टीका से आज का व्यक्ति वञ्चित रह जावेगा और एक महान टीका सदा के लिए लुप्त हो जावेगी। किन्तु प्रथम समय में ही हम लोगों की हिम्मत इसका प्रकाशन करने की नहीं हुई क्योंकि इतना द्रव्य कैसे इकट्ठा होगा। अतः यह निर्णय लिया कि पहले 'पुरुषार्थ सिद्धिउपाय' की टीका प्रकाशित कराई जावे और उसके बाद इसको देखेंगे। अतः प्रथम इन्हीं की 'पुरुषार्थ सिद्धिउपाय' की टीका का प्रकाशन कराया गया जो पाठकगणों के हाथों में पहुँच चुकी है। धर्मप्रेमियों ने पं. सरनारामजी को इतना सम्मान दिया यह तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि २१०० प्रतियों में से प्रेस से ही १६०० प्रतियाँ चली गईं। हमें मात्र ५०० प्रतियाँ ही मिलीं। उसके आय और व्यय का हिसाब भी हम यहाँ देना उचित समझते हैं। जो निम्न प्रकार है :

आमद (रु.)		खर्च (रु.)	
३६,४११.००	ग्रन्थ का मूल्य कम करने के लिए प्राप्त राशि	४१,१००.००	ग्रन्थ छपाई वगैरहा का खर्च
१२,६६०.००	ग्रन्थ की बिक्री से प्राप्त राशि	९३८.००	पोस्टेज, स्टेशनरी, फोटोस्टेट वगैरहा का खर्च
१६९.००	बैंक ब्याज	७,२०२.००	शेष जो ग्रन्थराज पञ्चाध्यायी में गया
४९,२४०.००	योग	४९,२४०.००	योग

इस सफलता से हमारा उत्साह बढ़ा और फलतः समिति ने ग्रन्थराज पञ्चाध्यायी के प्रकाशन कराने का निर्णय ले लिया। ग्रन्थ में कुल १९०९ (१९१३) श्लोक हैं जो अन्दाजे से ६०० पेज २०×३०/८ साइज में आ पायेंगे। पक्की जिल्द सहित अनुमानित खर्चा १,७०,००० रु. होगा।

मैं दृढ़ विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जो कार्य होता है वह स्वयम् अपनी तत्समय की योग्यता से होता है, हम करनेवाले बिल्कुल भी नहीं हैं। केवल हिम्मत व पुरुषार्थ करना ही कार्य है जो जैनधर्म का अटल सिद्धान्त है।

इस प्रकाशन के लिए सर्वप्रथम हमने एक अपील हाथ से लिख कर फोटोस्टेट करा कर निकाली और १५-२० स्थानों पर भेजी। एक-डेढ़ माह के अन्दर ड्राफ्टों या मनीऑर्डरों द्वारा एक लाख रुपये स्वतः ही आ गये। एक घटना तो इस प्रकार है कि एक दानवीर श्री कैलाशचन्द्रजी ने एक हजार रु. का मनीआर्डर भेजा। मेरी अनुपस्थिति में रुपये ले लिये। जिस स्लिप में संदेश व पता होता है, उसमें सन्देश तो था कि "पञ्चाध्यायी के मूल्य में कमी करने हेतु भेज रहे हैं", किन्तु मात्र नाम इतना ही था, "कैलाशचन्द्र जैन"। किसको रसीद भेजें, कहाँ भेजें, बड़ी समस्या रही। हमने एक पत्र उक्त नाम के परिचित श्री कैलाशचन्द्रजी को डी-२९१, विवेक विहार, देहली लिखा कि क्या आपने एक हजार रु. भेजे हैं, तो उनका तत्काल उत्तर आया कि उन्होंने नहीं भेजे हैं, साथ ही पाँच सौ रु. अपनी ओर से भेज दिए। दूसरे श्री कैलाशचन्द्रजी सेठी जयपुर में हैं उनके पास गये तो उन्होंने भी इन्कार किया और अपनी ओर से ग्यारह सौ रु. ग्रन्थराज के मूल्य कम करने हेतु दे दिए; किन्तु उन एक हजार रु. भेजने वाले का आज तक भी पता नहीं है। इसे क्या वस्तु के स्वयं परिणमन की योग्यता नहीं कहेंगे और देखते ही देखते अनुमानित राशि, जो निर्धारित की गई थी, प्राप्त हो गई। इस प्रकार सभी पुण्यार्थी दानदाता व्यक्तिगत रूप से भी, जिनके नाम संलग्न सूची में अंकित हैं, धन्यवाद के पात्र हैं।

उधर ग्रन्थराज को छपाने के लिए श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिन्टर्स वालों से बातचीत की और उन्होंने बड़ी लगन से इतने बड़े ग्रन्थ को ५ माह में आपके हाथों में पहुँचा दिया। प्रेस के कर्मठ कर्मचारियों की तत्परता के कारण ही यह सम्भव हो सका, जिसका मुख्य कारण श्री सोहनलालजी का कुशल संचालन है अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। साथ ही श्री अभयकुमारजी बोहरा, जिन्होंने फाइनल प्रूफ देखे एवं जो समिति के सदस्य हैं, भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना किससे लिखाई जावे, यह प्रश्न आया तो कई विद्वानों को लिखा किन्तु समयाभाव के कारण उन्होंने असमर्थता प्रकट की। डॉ. शीतलचन्दजी, प्राचार्य, श्री दिग. जैन आचार्य संस्कृत कॉलेज, मनिहारों का रास्ता, जयपुर से निवेदन किया तो पहले तो उन्होंने भी समयाभाव की मजबूरी बताई; क्योंकि महाविद्यालय का संचालन, अध्यापन व अन्य कार्यों में व्यस्तता थी। चूँकि पञ्चाध्यायी उनके पढ़ाने का विषय भी था, किन्तु फिर भी सभी टीकाओं का पढ़ना और खासतौर से श्री सरनारामजी की टीका का पढ़ना भी जरूरी था, इस पर भी उन्होंने धर्मभावना से ग्रन्थराज की प्रस्तावना लिखने की स्वीकृति प्रदान की, जिसके लिए समिति उनकी आभारी है।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं इस ग्रन्थराज की दो अन्य टीकाएँ भी हैं जिनमें यह ग्रन्थ दो अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में दोनों में ७६८ सूत्र हैं किन्तु दूसरे अध्याय में स्व. श्री मक्खनलालजी की टीका में ११४५ सूत्र हैं

जबकि स्व. श्री देवकीनन्दनजी की टीका में मात्र ११४१ सूत्र ही दिये गये हैं। यानि ७६८+११४१ = १९०९ सूत्र कुल हैं और श्री मक्खनलालजी की टीका में १९१३ होते हैं। इसको सूक्ष्मता से देखा गया तो श्री मक्खनलालजी ने :-

सूत्र ७४५ (दूसरा अध्याय) पर प्रवचनसार की गाथा २०८ दी है।

सूत्र ७६५ (दूसरा अध्याय) पर प्रवचनसार की गाथा ७ दी है।

सूत्र ७७४ (दूसरा अध्याय) पर पुरुषार्थ सिद्धिउपाय की गाथा २१२ दी है।

और सूत्र ८०५ (दूसरा अध्याय) निम्नलिखित सूत्र है :-

"आदहिदं का दव्वं जइ सक्कइ पर हिदं च कादव्वं।
आद हिद पर हिदा दो आद हिदं सुट्ठु कादव्वं॥

इन्हीं सूत्रों को श्री देवकीनन्दनजी ने भी दिया है, किन्तु बगैर कुछ लिखे सूत्रों पर संख्या नहीं दी है। इसप्रकार सूत्रों की वास्तविक संख्या १९०९ ही होती है। श्री सरनारामजी ने भी इन्हीं का अनुसरण कर १९०९ ही संख्या दी है। इन्होंने सूत्रों की संख्या दो भागों में न कर लगातार रखी है जो कि स्वाध्याय की दृष्टि से ठीक ही है।

इसके अतिरिक्त श्री सरनारामजी ने दूसरी पुस्तक में सूत्र ३४० से आगे लिखा है कि "३४१ से ४१० तक के श्लोकों की टीका श्री देवकीनन्दनजी की पुस्तक में से देख लें।" उन्होंने नीचे नोट भी दिया है कि "३४१ से ४१० तक विषय जानबूझ कर छोड़ दिया गया है जिसको उसके अभ्यास की इच्छा हो वे दूसरी टीकाओं से अभ्यास कर लें। इसके छोड़ने से कुछ हानि नहीं है और न विषय का अनुसंधान टूटता है। उनमें सत् और परिणाम के केवल दृष्टान्ताभास थे।"

किन्तु प्रकाशन समिति की राय में इन श्लोकों का क्रम टूटना नहीं चाहिए; क्योंकि पाठकगण दूसरी टीकाओं को कहाँ और कैसे देखेंगे। अतः ये श्लोक ३४१ से ४१० तक श्री देवकीनन्दनजी की टीका से लेकर क्रम न टूटने के कारण शामिल कर दिए गए हैं। अतः यह ग्रन्थराज अब जितना उपलब्ध है स्वयम् में पूर्ण है।

इसके अलावा गाथा नं. ८७६ जो श्री मक्खनलालजी की व श्री देवकीनन्दनजी की टीकाओं में नं. १०८ द्वितीय खण्ड में है वह श्री सरनारामजी ने छोड़ दी है क्योंकि प्राप्त ग्रन्थों में यह सूत्र की एक ही पहली पंक्ति मिलती है। उसमें श्री मक्खनलालजी ने इस प्रकार दी है - "अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथां। (१०८) दूसरी पंक्ति — (छोड़ दी है) उसका अर्थ लिखा है - "अचेतन, पौद्गलिक, मूर्त द्रव्य कर्म कारण वह वैभाविक भाव हैं। यह परस्पर कारणपना इस प्रकार है कि मानो एक-दूसरे के उपकार का परस्पर उपकार ही चुकाते हों।"

"किन्तु श्री देवकीनन्दनजी की टीका में ऊपर की पंक्ति श्री मक्खनलालजी की तरह है। दूसरी पंक्ति में लिखा है "[आत्मना बध्यते नित्यं मितौ, क्षिप्त कनक गर्दवत]" १०८

अर्थ - "इनमें से कर्म यह अचेतन मूर्त और पौद्गलिक होते हैं जो भित्ति पर फेंके गये रज कण के समान आत्मा से बँध जाते हैं।)

किन्तु श्री सरनारामजी ने इस गाथा को अप्राप्य लिख कर छोड़ दिया है। पाठकों की सुविधा के लिए यह गाथा भी इस ग्रन्थ में छपवा दी है।

कुछ निर्देश स्व. सरनारामजी ने अपनी "मासिक आर्ष टीका" में पाठकों के लिए दिये हैं अतः उनको भी यहाँ देना उचित समझते हैं :-

१. प्रथम तो उन्होंने यह माना है कि इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य अमृतचन्द्रजी ही हैं। इसके मुख्य कारण उन्होंने (१) उनकी भाषा की शैली, (२) वन्दना शुरू में करने का ढंग व (३) श्लोकों के पुनः देने की शैली आदि माने हैं।

२. आचार्य अमृतचन्द्रजी को ही उन्होंने अपना गुरु माना है। उन्होंने यह लिखा है कि कुछ विद्वानों ने इसे कविवर राजमल्लजी की कृति मानी है।

पाठकों की सुविधा के लिए हम इस विषय में, जो महानुभाव जानने की ज्यादा रुचि रखते हैं तो, निम्नलिखित नोट दे रहे हैं वहाँ से देखने का कष्ट करें। इस विषय में वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक और साहित्य सेवी पण्डित जुगल किशोरजी मुख्तार ने छानवीन कर लिखा है यह ग्रन्थ कविवर राजमल्लजी द्वारा लिखा गया है जिनका सर्वप्रथम इस विषय में लेख 'वीर' नामक पत्र के वर्ष ३, अङ्क ११-१२ में प्रकाशित हुआ था। अगर कोई विद्वान् इस विषय में अधिक जानना चाहते हैं तो श्री देवकीनन्दनजी की टीका में स्व. श्री फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना में से देख सकते हैं। इसके अलावा इन्हीं पंडितजी ने "ग्रन्थराज पञ्चाध्यायी" नाम पर व्याख्या की है वो भी पठनीय है जो इस प्रकार है - "अबतक पञ्चाध्यायी का जो भाग उपलब्ध हुआ वह बहुत ही थोड़ा है। वास्तव में वह एक अध्याय भी प्रतीत नहीं होता। साधारणत: उपलब्ध भाग डेढ़ अध्याय समझा जाता है। इसका इससे पूर्व तक चार बार प्रकाशन हो चुका है। उन सव में इसे इसी रूप में अंकित किया गया है। हमने भी इसी आधार से इसे दो भागों में विभक्त कर दिया है। किन्तु ग्रन्थकार ने अब तक मुद्रित प्रतियों में जहाँ प्रथम अध्याय समाप्त होता है वहाँ ऐसी कोई सूचना नहीं दी है। मंगलाचरण के बाद उत्थानिका में विषय का निर्देश करते हुए मात्र वे इतना ही संकेत करते हैं कि प्रथम सामान्य वस्तु को सिद्ध करके तदनन्तर धर्म विशिष्ट वस्तु को सिद्ध करेंगे।[१] वहुत सम्भव है कि यह उल्लेख प्रथम अध्याय के विषय की सूचना मात्र हो। यदि यह अनुमान ठीक है तो कहना होगा कि ग्रन्थ का उपलव्ध भाग एक अध्याय का भी एक हिस्सा है।"

३. "तत्त्व तो गुरुदेव का है। वे शाह हैं। हम तो उनके मुनीम हैं, मालिक की अमानत को आप तक पहुँचा दिया है। इसमें जितना सत्य तत्त्व है, वह उनका दिया हुआ है और जो भूल है वह मुझ पामर की है।"

४. "पूज्य श्री रामजीभाई सम्पादक 'आत्मधर्म' का मुझ पर महान् उपकार है, जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थ को विद्यार्थी के रूप में कई बार पढ़ाया है, मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। मुझे सदैव उनकी याद बनी रहती है।"

५. "पुस्तक जटिल जरूर है। हमने भाव खोलने का भरसक प्रयत्न किया है। अगर सम्यक्त्व प्राप्ति की इच्छा है तो सत् को समझना ही पड़ेगा। सत् समझने के लिए जगत में इससे बढ़िया ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यदि रुचि से बार-बार पढ़ेंगे तो पदार्थ अवश्य समझ में आवेगा।

६. श्री सरनारामजी ने अपनी पुस्तकों के अन्त में "दृष्टि परिज्ञान" नाम से उस पुस्तक के विषय का सूक्ष्म में वर्णन लिखा है जो सभी वास्तव में पठनीय हैं। जैसा कि प्रथम पुस्तक के अन्त में लिखा है :-

"यों तो आत्मा अनन्त गुणों का पिंड है, पर मोक्षमार्ग का तीन गुणों से प्रयोजन है। ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र। सवसे पहले जब जीव को हित की अभिलाषा होती है तो ज्ञान से काम लिया जाता है। पहले ज्ञान द्वारा पदार्थ का स्वरूप, उसका लक्षण तथा परीक्षा सीखनी पड़ती है। पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। अत: पहले सामान्य पदार्थ का ज्ञान करना होता है, फिर विशेष का, क्योंकि जो वस्तु सत् रूप है वही तो जीव रूप है। सामान्य वस्तु को सत् भी कहते हैं। सो पहले उसको सत् का परिज्ञान कराया जा रहा है। सत् का आपको अभेदरूप, भेदरूप, उभयरूप हर प्रकार से ज्ञान कराया। इसको कहते हैं ज्ञानदृष्टि या पण्डिताई की दृष्टि। इससे जीव को पदार्थ ज्ञान होता चला जाता है और वह ग्यारह अङ्ग तक पढ़ लेता है पर मोक्षमार्गी रञ्च भी नहीं बनता। यह ज्ञान मोक्षमार्ग में कब सहाई होता है जबकि दूसरा जो श्रद्धा गुण है उससे काम लिया जाये, अर्थात् मिथ्यादर्शन के अभाव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न किया जाये। वह क्या है? अनादिकाल की जीव की पर में एकत्व बुद्धि है। अहंकार-ममकार भाव है। अर्थात् यह है सो मैं हूँ और यह मेरा है। तथा पर में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व भाव अर्थात् मैं पर की पर्याय फेर सकता हूँ और मैं पर पदार्थ को भोग सकता हूँ।

१. प्रथम अध्याय, श्लोक ७

इसके मिटने का नाम है सम्यग्दर्शन। वह कैसे मिटे ? वह जब मिटे जब आपको यह परिज्ञान हो कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र सत् है। अनादि निधन है। स्वसहाय है। उसका अच्छा या बुरा परिणमन सोलह आना उसी के आधीन है। जब तक स्वतन्त्र सत् का ज्ञान न हो तब तक पर में एकत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव न किसी का मिट सकता है न मिटा है। इसलिए पहले ज्ञान गुण के द्वारा सत् का ज्ञान करना पड़ता है क्योंकि वह ज्ञान सम्यग्दर्शन में कारण पड़ता ही है। पर व्याप्ति इधर से है उधर से नहीं है, अर्थात् सब जानने वालों को सम्यग्दर्शन हो ही ऐसा नहीं है किन्तु जिनको होता है उनको सत् के ज्ञानपूर्वक ही होता है। इससे पता चलता है कि ज्ञानगुण स्वतन्त्र है और श्रद्धा गुण स्वतन्त्र है। दृष्टान्त भी मिलते हैं। अभव्यसेन जैसे ग्यारह अङ्ग के पाठी श्रद्धान न करने से नरक में चले गये और श्रद्धा करने वाले अल्प श्रुति भी मोक्षमार्गी हो गये। इसलिए पण्डिताई दूसरी चीज है और मोक्षमार्गी दूसरी चीज। बिना मोक्षमार्गी हुए कोरे ज्ञान से जीव का रञ्च मात्र भी भला नहीं है। पण्डिताई की दृष्टि तो भेदात्मक ज्ञान, अभेदात्मक ज्ञान और उभयात्मक ज्ञान है सो आपको करा ही दिया है।

जैसे जो श्रद्धा गुण से काम न लेकर केवल मात्र ज्ञान से काम लेते हैं वे कोरे पंडित रह जाते हैं और मोक्षमार्गी नहीं बन पाते। उसी प्रकार जो श्रद्धा से काम न लेकर पहले चारित्र से काम लेने लगते हैं और बाबाजी बनने का प्रयत्न करते हैं वे केवल मान का पोषण करते हैं। मोक्षमार्ग उनमें कहाँ ? जबतक परिणति, स्वरूप को न पकड़े तबतक लाख संयम उपवास करें उनसे क्या ? श्री समयसारजी में कहा है, कोरा क्रियाओं को करता मर भी जाये तो क्या ? अरे यह तो भान कर कि शुद्ध भोजन की, पर पदार्थ की तथा शुभ या अशुभ शरीर की क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता। इनमें तो न पाप है और न पुण्य है, न धर्म है। यह तो स्वतन्त्र दूसरे द्रव्य की क्रिया है। अब रही शुभ विकल्प की बात वह आस्रव तत्त्व है, बन्ध है, पाप है। सोच तो तू कर क्या रहा है और हो क्या रहा है। भाई जबतक परिणति स्वरूप को न ग्रहे, ये तो पाखण्ड है। कोरा संसार है। पशुवत् क्रिया है। छहढाला में प्रतिदिन तो पढ़ते हैं :-

"मुनि व्रतधार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।"

वह तो शुद्ध व्यवहार की दशा कही। यहाँ तो व्यवहार का भी पता नहीं और समझता है अपने को मोक्ष का ठेकेदार या समाज में महान ऊँचा।

मोक्षमार्ग में नियम है कि विकल्प (राग) संसार है और निर्विकल्प (वीतरागता) मोक्षमार्ग है। अब वह राग कैसे मिटे और वीतरागता कैसे प्रकट हो ? उसका विचार करना है। देखिये विषय कषाय का राग तो है ही संसार का कारण। इसमें तो द्वैत ही नहीं है। जिनका अभी राग जरा भी नहीं छूटा वे तो करेंगे ही क्या? ऐसे अपात्रों की तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो मुमुक्षुओं का प्रकरण है। सो उनसे कहते हैं कि भाई यह तो ठीक है कि वस्तु भेदाभेदात्मक ही है, पर भेद में यह खराबी है कि उसका अविनाभावी विकल्प उठता है और वह आस्रव बन्ध तत्त्व है। इसलिए यह भेद को विषय करनेवाली व्यवहार नय, तेरे लिए हितकारी नहीं है। अभेद को बताने वाली जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसका विषय वचनातीत है, विकल्पातीत है। पदार्थ का ज्ञान करके संतुष्ट हो जा। भेद के पीछे मत पड़ा रह। यह भी विषय-कषाय की तरह एक बीमारी है। यह तो केवल अभेदवस्तु पकड़ने का साधन था। जो वस्तु तूने पकड़ ली। अब व्यवहार से ऐसा है, व्यवहार से ऐसा है, अरे इस रागनी को छोड़ और प्रयोजन भूत कार्य में लग। वह प्रयोजन भूत कार्य क्या है ? सुन! हम तुझे सिखा आये हैं कि प्रत्येक सत् स्वतन्त्र है। उसका चतुष्ट्य स्वतन्त्र है। इसलिए पर को अपना मानना छोड़। दूसरे जब वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र है तो तू उसमें क्या करेगा ? अगर वह तेरी की हुई परिणमेगी तो उसका परिणमन स्वभाव व्यर्थ हो जायेगा और जो शक्ति उसमें है ही नहीं वह दूसरा देगा भी कहाँ से ? इसलिए मैं उसका ऐसा परिणमन करा दूँ या यह यूँ परिणमें तो ठीक। यह पर की कर्तृत्वबुद्धि छोड़। तीसरे जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छू नहीं सकता तो भोगना क्या ? अत: यह जो पर के भोग की चाह है, इसे छोड़। यह तो नास्ति का उपदेश है, किन्तु इस कार्य की सिद्धि 'अस्ति' से होगी और वह इस प्रकार है कि जैसा तुझे सिखाया है।

तेरी आत्मा में दो स्वभाव हैं, एक त्रिकाली स्वभाव अवस्थित, दूसरा परिणाम पर्याय धर्म। अज्ञानी जगत तो अनादि से अपने को पर्याय बुद्धि से देखकर उसी में रत है। तू तो ज्ञानी बनना चाहता है। अपने को त्रिकाली स्वभावरूप समझ। वैसा ही अपने को देखने का अभ्यास कर। यह जो तेरा उपयोग पर में भटक रहा है। पानी की तरह उसका रुख पलट। पर की ओर न जाने दे। स्वभाव की ओर उसे मोड़। जहाँ तेरी पर्याय ने पर की बजाय अपने घर को पकड़ा और निज समुद्र में मिली कि स्वभाव पर्याय प्रगट हुई। बस इस स्वभाव पर्याय प्रगट होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है। तीन काल और तीन लोक में इसकी प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसके होने पर तेरा पूर्व का सब ज्ञान सम्यक् होगा। ज्ञान का वलन (बहाव, झुकाव, रुख) पर से रुककर स्व में होने लगेगा। ये दोनों गुण तो अनादि संसार के कारण बने हुए हैं फिर मोक्षमार्ग के कैसे कारण होंगे। ज्यों-ज्यों ये पर से छूट कर स्व घर में आते रहेंगे त्यों-त्यों उपयोग की स्थिरता आत्मा में होती रहेगी। स्व की स्थिरता का नाम ही चारित्र है और वह स्थिरता शनैः-शनैः पूरी होकर तू अपने स्वरूप में जा मिलेगा। (अर्थात् सिद्ध हो जावेगा)।''

अब हम पाठकों की जानकारी के लिए श्री सरनारामजी के जीवन के प्रति भी दो शब्द कह देना उचित समझते हैं:

स्व. श्री सरनारामजी का जन्म ग्रा. उगाला (अम्बाला), पंजाब में दि. २ जुलाई, १९१२ को एक गरीब परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम श्रीरामचन्द्रजी था। वे बचपन में ही शिक्षा प्राप्त कर अम्बाला केन्ट चले गये। जहाँ उन्होंने उर्दू व अंग्रेजी माध्यम की भाषा में हाईस्कूल की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में सन् १९२९ में पास की। उनका विवाह ग्राम बोहट (अम्बाला) की निवासी श्रीमती चलती बाई से हुआ। गरीब परिवार में होने के कारण आपने अम्बाला छावनी में ही एक ग्रामोफोन की दुकान पर १० रु. मासिक पर नौकरी की। बाद में आपकी मेहनत व ईमानदारी से प्रेरित होकर मालिक ने अपनी दुकान में पार्टनर बना लिया और दूसरी दुकान उसी पार्टनर के साथ देहली के चाँदनी चौक में खोल ली। दोनों में बाद में मन-मुटाव होने पर बँटवारा कर लिया और आपने गाँव में रुचि होने के कारण अम्बाला की दुकान ले ली। पंडितजी पाँच भाइयों में सबसे बड़े थे अतः घर की जिम्मेदारी भी इन्हीं की थी। पिताजी की मृत्यु हो चुकी थी। आपने अपनी मेहनत से जिम्मेदारी को निभाया व चारों भाइयों को अलग-अलग दुकान सहारनपुर, मंसूरी, शिमला और देहरादून में खुलाई। स्वयं देहरादून की दुकान पर बैठते थे। आपने व्यवसाय करते-करते ही हिन्दी व संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। आपको धार्मिक शास्त्रों का अध्ययन करने के कारण संस्कृत के अध्ययन करने की ज्यादा रुचि थी अतः कुछ समय के लिए दुकान बन्द करके आप मुरैना पढ़ने गये। वहाँ से आकर आपने पुनः दुकान की। सन् १९५० में आपने दुकान स्थाई रूप से बन्द कर दी और आप सोनगढ़ (गुजरात) चले गये। वहाँ गुजराती भाषा सीखी। वहाँ से कुछ दिन बाद राजकोट गये। वहाँ कुछ दिन रहने के बाद बड़ौत (मेरठ) स्थाई रूप से बस गये। यहाँ सभी बच्चों की शादी व अपने एकमात्र लड़के श्री ज्ञानचन्दजी को किताबों की दुकान कराई। आप इन्दौर, विदिशा, जयपुर, सहारनपुर, महावीरजी व देहली भी गये। आपने सहारनपुर से ही अपने ग्रन्थों का आर्ष टीका के रूप में प्रकाशन किया। आपको स्वाध्याय का बहुत शौक था। प्रतिदिन १४ घंटे स्वाध्याय करते थे। वैसे तो सभी ग्रन्थों का स्वाध्याय किया था किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य रचित ग्रन्थ जैसे समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, रयणसार आदि में विशेष रुचि थी। वे जहाँ-जहाँ गये, उन्होंने समयसार का प्रचार किया। उन्होंने काफी साधुओं, मुनियों व आर्यिकाओं को पढ़ाया। अन्त में बड़ौत में रहते-रहते वहीं पर हृदय गति रुक जाने से मार्च १९८१ में आपका स्वर्गवास हो गया।

आदरणीय स्वाध्याय प्रेमियों व दानदाताओं से अन्त में एक और निवेदन करना चाहते हैं कि ज्यादातर जैनाचार्यों ने व जैन विद्वानों, लेखकों ने अपने द्वारा लिखे शास्त्रों में अपना नाम तक अंकित नहीं किया है। यह उनके निःस्पृह होने की पराकाष्ठा है - नाम तो वह लिखे जिसे अपना नाम करना हो। वे तो अपने नाम कर्म का ही नाश कर सिद्ध होना चाहते हैं फिर नाम लिखकर शास्त्रों में भी अपना नाम क्यों रखा जावे। उनको तो मात्र शुद्धोपयोग से जब शुभोपयोग में आना पड़ता है तो धर्म के प्रति वात्सल्य होने के कारण शास्त्रजी लिखने के भाव आ जाते हैं। वैसे भारतीय सभ्यता कहो या श्रमण संस्कृति कहो विद्यादान और औषधिदान निःशुल्क ही होता है। किन्तु आज क्या हो रहा है,

इन दोनों विषयों के नाम पर पेट नहीं पेटी भरी जा रही है। इस विषय में तो मैं कुछ नहीं कहना चाहता क्योंकि आज का भारतीय नागरिक इससे स्वयम् भुक्तभोगी होकर अच्छी तरह से परिचित है।

किन्तु उनके बारे में क्या कहें कि जो आचार्यों के लिखे शास्त्रों को जिन्होंने अपने नाम का भी संकल्प नहीं रखा आज उन्हीं शास्त्रों की टीकाओं को लिखकर व समाज के पैसे से प्रकाशन कराकर 'सर्वाधिकार सुरक्षित' लेखक के नाम पर कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त कई जैन प्रकाशनों की जो घटनाएँ सामने आई हैं उनका वर्णन करना भी असंगत नहीं होगा। जो शास्त्र सन् १९७५ में छपे उनका मूल्य १५ रु., २० रु. किन्तु जब उनको १९९० में बेचा गया तो उन शास्त्रों पर मोहर लगा कर क्रमशः ३५ व ४० रु. कर दिये गये। इसके विपरीत कुछ प्रकाशन ऐसे भी हैं जैसे कि मैंने जिनेन्द्र वर्णी प्रकाशन माला का १९६५ में छपा शास्त्र १९९२ में मँगाया जिसका उसमें मूल्य १० रु. लिखा था। उनके नियमानुसार कमीशन काट कर ८ रु. में ही भेजा जो ७८० पृष्ठ का मय अच्छी जिल्द के था।

किन्तु इस विषय में सन् १९९६ में तो अवनति की पराकाष्ठा हो गई। दानदाताओं ने पुण्यार्जन के लिए शास्त्र को छपाकर मात्र 'स्वाध्याय' मूल्य रखा किन्तु २-४ माह बाद ही उन शास्त्रों पर मोहर लगा कर स्वाध्याय मूल्य के स्थान पर २० रु., २५ रु., ६५ रु., ११० रु. आदि की मोहर लगा दी। इसे दानदाताओं के प्रति विश्वासघात के अलावा और क्या कहेंगे। क्योंकि दानदाता तो कुछ बोल नहीं सकता उसे तो शास्त्र दान करना था या ज्ञान दान करना था सो कर दिया। अगला काम कार्यकर्त्ताओं का है। इस प्रकाशन समिति की दृष्टि में यह घोर निंदनीय कार्य है। हम पाठकगणों को व दानदाताओं को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हम अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले शास्त्रों का न्योछावर मूल्य नाममात्र का ही रखते हैं वह भी इसलिए कि कोई इसका दुरुपयोग न कर सके और जो भी शास्त्र के न्योछावर मूल्य से द्रव्य प्राप्त होता है उसे अगले प्रकाशन में ले लिया जाता है। यही नहीं किन्तु शास्त्रजी को मंदिरों में, विद्वानों को व विशेष संस्थाओं को पूर्ण रूप से निःशुल्क मय पोस्टेज के भेजते हैं।

हम पाठकगणों से भी निवेदन करते हैं कि उक्त कीमत बढ़ाने की मनोवृत्ति की घोर निन्दा करें।

प्रकाशकीय का समापन करते हुए इसका संयोजक होने के नाते यह निवेदन करना उचित समझता हूँ कि मेरी ओर से किसी को किसी भी प्रकार की (मानसिक या अन्य प्रकार की) कोई वेदना हुई हो जो कि कार्य के करते समय प्रायः हो जाती है तो वे महानुभाव मुझे मन्दबुद्धि समझ कर क्षमा करेंगे। इसे व्यवहार की भाषा न समझें मैं अपने शुद्ध हृदय से अपनी गलती स्वीकार करता हूँ। इस अहम् में बहुत बड़ी गलती छुपी हुई है कि यह कार्य मेरे द्वारा हुआ है। कार्य तो अपनी योग्यता से होता है जैसाकि मैंने ऊपर कहा है। मैं अपने सभी साथी कार्यकर्त्ताओं से निवेदन करता हूँ कि जहाँ उनको यह अनुभव हो कि मुझ में अहम् की प्रवृत्ति आ रही है मुझे सचेत करने का श्रम करने में झिझकें नहीं। यह मेरे ऊपर बड़ा उपकार होगा।

अन्त में, इस प्रकाशन में कोई भी गलती रह गई हो तो उसके लिए मात्र मैं ही जिम्मेदार हूँ। पाठकगण व साथी मुझे क्षमा करते हुए उस गलती के लिए मुझे सूचित करने का श्रम करने की कृपा करें। मैं उनका आभारी होऊँगा। और अगले प्रकाशन में सुधारने का प्रयत्न करूँगा। धन्यवाद।

महावीर प्रसाद (स्वतन्त्रता सेनानी)
संयोजक, श्री दि. जैन साहित्य प्रकाशन समिति
३३२, स्कीम न. १०, अलवर-३०१ ००१
फोन : ३३१०३८/०१४४

प्रस्तुत ग्रंथ का मूल्य कम करने हेतु दानदाताओं की सूची

रुपये	दानदाताओं के नाम
	अलवर
५०००	श्री १००८ चन्द्रप्रभ दि. जैन अतिशय क्षेत्र, तिजारा
५०००	श्री अजितप्रसाद विकास जैन, कृष्णा कॉलोनी
५०००	श्रीमती गिन्नी देवी ध.प. श्री किशनचन्द्र जैन
५०००	श्री महावीरप्रसाद प्रमोदकुमार, ३३२, स्कीम १०
२१०१	स्व. श्री हीरालालजी की पुण्य स्मृति में महावीर प्रसाद बडेरवाले, ४३, आर्य नगर
२१०१	श्री महावीरप्रसाद ऑटोमोबाइल्स
२१००	श्री प्रकाशचन्द्र जैन 'स्वतन्त्रता सेनानी' पुत्र श्री रूपकिशोरजी
२००१	श्री महादेवप्रसाद पुत्र श्री मंगूलाल अग्रवाल, गणेश मार्केट
१००१	श्रीमती शान्तिदेवी ध.प. स्व. श्री हरफूलचन्द्र जैन
१००१	स्व. सुशीला जैन ध.प. श्री विनय कुमार द्वारा - श्री योगेश जैन
१००१	श्री मित्रसेन पुत्र श्री दिवानचन्द्र जैन स्व. सेनानी, तिजारा
१००१	श्री दुर्गाप्रसाद जैन राजकुमार जैन बी-१६ए, हसन खाँ मेवाती नगर
११००	श्रीमती मीना जैन ध.प. श्री हेमन्तकुमार (गोवा) ५, विकास पथ
५०१	श्रीमती प्रेमवती जैन ध.प. श्री गुलजारीलाल ५, विकास पथ
५०१	श्रीमती डॉ. ऊषा जैन ध.प. डॉ. दिनेश C.M.O., C.R.P.F., गोहाटी, विकास पथ
७५०	श्री पदमचन्द्र जैन बड़ौदावाले, सहाजी का चौक
५५१	श्री प्रेमचन्द्र दीवान, दीवानों का चौक
५०१	श्री पवनकुमार जैन, सी.ए., ३/४, काला कुआँ
५०१	श्री नरेन्द्रकुमार जैन, 'दीवान' हाउसिंग बोर्ड
५०१	श्री मा. दयाचन्द्र जिनेन्द्र जैन, स्कीम ४
५००	श्री महावीरप्रसाद स्वतन्त्रता सेनानी (प्रायश्चितरूप)
३५१	श्री प्रकाशचन्द्र महेशचन्द्र जैन परभेणीवाले मुंशी बाजार
२५१	श्री अभयकुमार पीयूषकुमार, किशनगढ़
२५०	श्रीमती गीतादेवी जैन ध.प. श्री भारतभूषण बलजी राठौर की गली
२०१	स्व. श्रीमती चन्द्रकिरण ध.प. श्री नवरतनलालजी स्कीम नं. ४
२००	श्री नवरतनलाल जैन सेवानिवृत्त रेलवे गार्ड, स्कीम नं. ४
१००	श्री कैलाशचन्द्र जैन, स्कीम न. ५
१००	श्री भूपणकुमार सतीशकुमार, ७, विकास पथ
	अजमेर
५१११	श्री कु.कु. मूलचन्द्र फेमिली चैरिटेबल ट्रस्ट द्वारा - श्री छगनलाल जैन
५१०१	श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट द्वारा - अध्यक्ष, श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया
५१०१	श्रीमती शान्ति देवी ध.प. श्री मुसद्दीलाल जैन
२००१	श्री लालचन्द्र जैन पुत्र स्व. श्री माणकचन्द्र जैन
१००१	श्री प्रेमचन्द्र महावीर प्रसाद जैन महावीर टैन्ट हाउस
१००१	श्री हेमचन्द्र दूधवाले पुत्र श्री मिट्ठनलाल जैन नाका मदार
२५१	श्री सुमेरचन्द्र गुलाबचन्द्र जैन
२५१	श्रीमती शकुन्तलादेवी ध.प. स्व. श्री हरखचन्द्र जैन आर्य नगर
२५१	श्री सुशील कुमार पुत्र श्री भागचन्द जैन तोपदड़ा
२०१	श्री त्रिलोकचन्द्र जैन पुत्र स्व. श्री पूरणचन्द्र जैन
२०१	श्री चिरंजीलाल, श्री खुशालचन्द्र, श्री प्रकाशचन्द्र गंगवाल, नया बाजार
२०१	श्री ताराचन्द्र बड़जात्या, मयूर साड़ी एम्पोरियम
१५१	श्री महेशकुमार पुत्र श्री टीकमचन्द्र जैन मदन गोपाल रोड

रुपये	दानदाताओं के नाम
१०१	श्री धर्मचन्द्र जैन, A.En., पुत्र स्व. श्री मूलचन्द्र शाह
१०१	श्री राजकुमार जैन, सुखदेव भवन, कोकिल कुञ्ज

अलीगंज (एटा - उ.प्र.)

रुपये	दानदाताओं के नाम
११०१	स्व. श्री गम्भीरचन्द्रजी वैद्य
११०१	डॉ. मुकेश पुत्र स्व. श्री गम्भीरचन्द्रजी वैद्य
५००	श्रीमती प्रकाशवती ध.प. स्व. गम्भीरचन्द्रजी वैद्य
५००	श्रीमती अनुपमप्रभा ध.प. श्री दिनेश जैन पुत्र स्व. श्री गम्भीरचन्द्रजी
२५१	श्री मधुप जैन मेडिकल स्टोर
२००	श्री राजेशचन्द्र जैन पुत्र स्व. श्री गम्भीरचन्द्र जैन

मैनपुरी (उ.प्र.)

रुपये	दानदाताओं के नाम
११००	श्री मुमुक्षु समाज, मैनपुरी
१०००	श्री धरसैनाचार्य श्री दि. जैन धार्मिक ट्रस्ट
१०००	श्रीमती कुसमा देवी ध.प. श्री चन्द्रकुमार जैन
५०१	श्रीमती वन्दना जैन ध.प. श्री अरविन्द कुमार जैन
५०१	श्री दि. जैन महिला मुमुक्षु मंडल, भोगाँव (मैनपुरी)

कुरावली (मैनपुरी)

रुपये	दानदाताओं के नाम
५०१	श्री विजय कुमार जैन
२०१	श्री विपन जैन
१०१	श्री प्रदीपकुमार जैन
१०१	श्री नैपालचन्द्र जैन
५१	श्री सुरेशकुमार जैन

श्री कुन्दकुन्दज्ञान प्रसार समिति, एटा (उ.प्र.)

रुपये	दानदाताओं के नाम
२६५	श्री विनोद जैन पुत्र श्री प्रत्येन्द्र जैन
२५१	श्री निर्मलकुमार जैन, सेवा-निवृत्त पोस्टमास्टर
२५०	डॉ. शिवलाल जैन
२०१	श्री राजीव जैन
२०१	श्री सुनीलचन्द्र जैन
१५१	श्री अशोककुमार जैन
१५१	श्री इन्द्रभान जैन

रुपये	दानदाताओं के नाम
१५१	श्री सुभाष जैन ठेकेदार
१५१	श्री सुरेशचन्द्र जैन वसुन्धरावाले
१४१	श्री अजीतप्रसाद जैन
१३१	श्री राजेश जैन
१०१	श्री निर्मलकुमार जैन एडवोकेट
१०१	श्री कृष्णस्वरूप जैन
१०१	श्री रामस्वरूप जैन
१०१	श्री महेशचन्द्र जैन
७२	श्री सुरेशचन्द्र जैन
३१	श्री मुकेशचन्द्र जैन साबुनवाले
१०००	श्री भानुकुमार जैन, बगला बाजार C/o मनोज मेडिकल स्टोर, भिण्ड (म.प्र.)
५००	श्री धर्मचन्द्र जैन, इटावा

खतौली

रुपये	दानदाताओं के नाम
११०	श्री रघुबीरशरण

फिरोजाबाद (उ.प्र.)

रुपये	दानदाताओं के नाम
२५००	श्री सुभाषचन्द्र विनोदकुमार जैन
२५००	श्री प्रमोदकुमार विनोदकुमार जैन
२००१	श्री नितिनकुमार पुत्र श्री ललितेशकुमार जैन गाँधी नगर
१००१	श्री अजयकुमार नरेन्द्रकुमार जैन
५०१	डॉ. निर्मलकुमार जैन, जलेसर रोड
५०१	श्री रंजीतप्रसाद पुष्पेन्द्रकुमार जैन, छोटी छपेटी
५०१	श्रीमती शारदादेवी जैन ध.प. स्व. श्री हुक्मचन्द्र जैन
३५१	डॉ. लखमीचन्द्र जैन, आगरा रोड
२०१	श्री संजयकुमार पुत्र श्री लक्ष्मीनारायण जैन, दुर्गानगर

आगरा (यू.पी.)

रुपये	दानदाताओं के नाम
५१०१	श्री चेतन प्रकाश स्वरूपचन्द्र जैन, देहली गेट
२१०१	श्री हरचन्द्रराम चम्पालाल जैन, पुनिया पाड़ा
२१००	श्री पदमचन्द्र सर्राफ चैतन्य सदन, ३/२८६, एम. जी. रोड

रुपये	दानदाताओं के नाम
११०१	श्री मगचन्द मोहनस्वरूप जैन, जैन पेपर मार्ट
११००	श्री नेमीचन्द्र विरथरावाले, नाई की मंडी
११००	श्री गोरधनदास जिनेन्द्रकुमार जैन, स्वतंत्रता सेनानी, गुदड़ीमंसूरखा

देहली

रुपये	दानदाताओं के नाम
११०००	गुप्तदान
१०००	श्रीमती कौशल्या, कौशल एन्टरप्राइजर्स, गत्तेवाले ५७, वड़ा वाजार, शाहदरा
५०१	श्री के. सी. जैन, डी - २९१, विवेक विहार, देहली
५०१	श्री रतनलाल सन्दीपकुमार ४/९४३, नाई वाली गली, करौलवाग
२५१	श्रीमती सुशीलादेवी ध.प. शान्तिलाल ४८, नाईवाली
२५१	श्री राजवहादुर जैन एच/१८०, अशोक विहार, फेज I

कानपुर (उ.प्र.)

रुपये	दानदाताओं के नाम
११०१	श्री राजकुमार जैन पुत्र स्व. श्री सत्यनारायण सरावगी
११००	श्री संतोषकुमार जैन पुत्र स्व. श्री रामनाथ जैन
१००१	श्री जैनवहादुर जैन पुत्र स्व. श्री चन्द्रसेन जैन
१००१	श्री ऋषभकुमार जैन पुत्र श्री जैनवहादुर जैन
१००१	श्रीमती स्नेहलता जैन ध. प. श्री जैनवहादुर जैन
१००१	श्रीमती मुक्ता जैन ध. प. श्री पं. संतोषकुमार शास्त्री, कटनी
१००१	श्रीमती आशु जैन ध.प. श्री नवनीत कुमार जैन
१००१	सुश्री डॉ. प्रतिभा रोहतगी
१००१	श्रीमती डॉ. आभा गुप्ता
१००१	श्री आलोककुमार जैन
१००१	श्रीमती किशोरी जैन ध.प. श्री आलोककुमार जैन
१००१	कु. अंशुल जैन पुत्री श्री आलोक कुमार जैन
१००१	कु. नीलिमा जैन पुत्री श्री आलोक कुमार जैन
१००१	कु. मयूरी जैन पुत्री श्री आलोक कुमार जैन
१००१	श्री सुरेन्द्रकुमार जैन पुत्र स्व. श्री हीरालाल जैन
१००१	श्री अनिलकुमार जैन पुत्र स्व. श्री सनतकुमार जैन

रुपये	दानदाताओं के नाम
१०००	श्री संतोष कुमार जैन पुत्र स्व. श्री सत्यनारायण सरावगी
७०१	श्री केशवदेव जैन पुत्र श्री हीरालाल जैन
७०१	श्रीमती मीना जैन ध.प. श्री केशवदेव जैन
७०१	श्री अनूप जैन पुत्र श्री केशवदेव जैन
५०१	श्री सुरेन्द्रचन्द्र जैन एडवोकेट पुत्र श्री ललिताप्रसाद
५०१	श्री अमोलचन्द्र जैन पुत्र स्व. श्री मुरारीलाल
५०१	श्री प्रफुल्ल किशोर जैन पुत्र स्व. श्री प्रतापचन्द्र जैन
५०१	श्रीमती वी. माला जैन ध.प. श्री प्रफुल्ल किशोर जैन
२५१	श्री महेशचन्द्र जैन पुत्र स्व. श्री नरेशचन्द्र जैन
२५१	श्रीमती सरला रानी जैन ध.प. श्री महेशचन्द्र जैन
२५१	श्री सतीशचन्द्र जैन पुत्र श्री महेशचन्द्र जैन
२५१	श्रीमती नमिता जैन ध.प. श्री सतीशचन्द्र जैन
२५१	श्री कैलाशचन्द्र जैन पुत्र स्व. श्री हरिश्चन्द्र जैन
२५१	श्रीमती सरलारानी जैन ध.प. श्री कैलाशचन्द्र जैन
२५०	श्री प्रसन्नकुमार जैन पुत्र श्री प्राणसिंह जैन
२५०	श्रीमती मुन्नी जैन ध.प. श्री प्रसन्नकुमार जैन
२०१	श्री प्रेमकुमार जैन पुत्र श्री सनतलाल जैन
१५१	श्री महेन्द्रकुमार जैन पुत्र स्व. श्री जैन प्रकाश जैन
१०१	श्रीमती अञ्जु जैन ध.प. श्री प्रवीण जैन
१०१	श्री प्रहलादराय जैन पुत्र श्री वनवारी लाल जैन
१०१	श्री मनोजकुमार जैन पुत्र श्री प्रहलाद जैन
१०१	श्रीमती विमला जैन ध.प. श्री प्रहलादराय जैन
१०१	श्रीमती शशिप्रभा जैन ध.प. स्व. राजेन्द्रकुमार जैन

जयपुर

रुपये	दानदाताओं के नाम
१५०१	श्री सोहनलाल जैन, जयपुर प्रिन्टर्स, एम. आई. रोड
१५०१	स्व. श्री किरोड़ीलाल मोहरादेवी की स्मृति में द्वारा - डॉ. गर्ग
१३५१	श्रीमती चन्द्रकान्ता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन अ-२४५, वैशाली नगर
११०१	श्री कैलाशचन्द्र सेठी सेठी भवन, कल्याणजी का रास्ता
१००१	श्री झूमरमलजी पांड्या, गोहाटीवाले कु.कु. भवन, वापूनगर

रुपये	दानदाताओं के नाम
५०१	श्रीमती शान्तिदेवी बोहरा ध.प. श्री शिवकुमार जैन १७४३, मनिहारों का रास्ता
५०१	श्री प्रतापचन्द्र जैन, २, कामा हाउस
५००	श्री अमरचन्द जैन, सी-१२, सेठी कॉलोनी
५००	श्री कोमलचन्द माणकचन्द गोधा त्रिपोलिया बाजार
५००	श्री सुधीरकुमार जैन इंजीनियर, C/o छगनलालजी
४०१	श्री पदमचन्दजी जैन कठूमरवाले बी-३५, बजाज नगर
२५१	श्री राजमल हितैषी, कीर्तिनगर
२०१	श्री शिखरचन्द जैन एडवोकेट, खवासजी का रास्ता
१०१	श्री कैलाशचन्द्र गोधा, भगत वाटिका
१०१	श्री मोरमुकुट जैन, विष्णु कॉलोनी

कलकत्ता

२०,०००	श्री दिगम्बर जैन, ममुक्षु मंडल, कलकत्ता
१०००	श्री कैलाशचन्द्रजी, मनीआर्डर द्वारा (पता नहीं मालूम)

बड़ौत (मेरठ)

५००	श्री श्रीपाल जैन कमल पुस्तक भंडार, गली धर्मशाला, बड़ौत
५००	श्री श्रीपाल जैन बावलीवाले C/o नीरज पुस्तक सदन, बड़ौत

महाराष्ट्र

११००	श्री गोकलचन्द जैन, राज. एम्पोरियम, लोनावाला
५००	श्री के.डी. मिश्री कोटकर पूर्व प्रिन्सिपल उदय कॉलोनी, चंदूर बाजार, अमरावती

देवली जिला टोंक (राज.)

७५१	श्री मांगीलाल गोविन्दराम सर्राफ
५०१	श्री नाथूलालजी अशोककुमारजी जैन
५०१	श्री दि. जैन अग्रवाल समाज, देवली
४०१	श्री आदिनाथ दि. जैन पाठशाला
३०१	श्रीमती सोहनदेवी ध.प. श्री सूरजमलजी तिलाडुवाले

रुपये	दानदाताओं के नाम
३०१	श्री भूरालालजी दुर्गालालजी खेड़ावाले
३०१	श्री मनोहरलालजी शान्तिलालजी जैन
१०१	श्री कैलाशचन्द्र जैन कालेड़ावाले
१०१	श्री रूपचन्द्रजी चाँदूमलजी बाजटावाले
१०१	श्री रामपालजी सांडलावाले
१०१	श्री नवलकिशोरजी जैन
१०१	श्रीमती अर्चना जैन ध.प. श्री अजितकुमारजी शास्त्री
१०१	श्री मूलचन्द्रजी धूँधरीवाले
५१	श्री गुलाबचन्द्र जैन कालेड़ावाले
५१	श्रीमती मुन्नी देवी ध.प. श्री नन्दकिशोरजी खेड़ावाले
५१	श्री नेमीचन्द्रजी जैन बावड़ीवाले

रानीपुर (झाँसी)

१००	श्री रतनलाल सिंघई

डूंगरपुर (राज.)

२००	श्री धनपाल भँवरलाल
१००	श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन
१००	श्री रमनलाल शाह

कोटा (राजस्थान)

५०१	श्री पूरणचन्द्र जैन, ९८, हाउसिंग सोसाइटी
२५१	श्री राजेन्द्रकुमार जैन
२५१	श्री णमोकार मंत्र जाप समिति
२५१	श्री सुरेशचन्द्र, १३ ई, इन्द्रा कॉलोनी
२५१	श्री नेमीचन्द जैन, चम्बल ऑयरन फैक्ट्री १५, लाजपतराय मार्केट
२५१	श्रीमती सरला जैन ध.प. श्री मदनलाल जैन ३९, रेलवे हाउसिंग सोसायटी
२५१	श्री मोतीलाल जैन, जैन मंदिर के पास, भीम मंडी
२०१	श्री अक्षयकुमार मयंक जैन, इंजीनियरिंग कॉलेज
२०१	श्रीमती नीना जैन ध.प. स्व. प्रमोद जैन C/o रामस्वरूप जैन, ३७, शास्त्री कॉलोनी
१०१	श्री घनश्यामदास
१०१	श्री नवलकिशोर

रुपये	दानदाताओं के नाम
१०१	श्री मलूकचन्द्र जैन प्रेरणा स्कूल के पीछे, खेडली फाटक
१०१	श्री रिखबचन्द्र जैन डी-१८, खेडली फाटक
१०१	श्री प्रेमचन्द्र जैन, २८२, आदर्श कॉलोनी
१०१	श्रीमती कनक जैन ध.प. श्री कौशल किशोर (हलवाई दुकान)
१०१	श्री हुक्मचन्द्र जैन ४३, रेलवे हाउसिंग सोसाइटी, माला रोड
१०१	श्री दिनेशचन्द्र जैन ४०, रेलवे हाउसिंग सोसाइटी, माला रोड

रुपये	दानदाताओं के नाम
१०१	श्री शिखरचन्द्र जैन दुर्गा भवन, राज. स्कूल के पीछे, रंगपुर रोड
१०१	श्रीमती कान्ता जैन ध.प. श्री नेमीचन्द्र जैन १५४/४, विवेकानन्द पार्क, भीम मंडी
१०१	श्रीमती गुलकन्दी जैन ध. प. स्व. श्री हरसहायलाल C/o माताजी श्री शान्ति स्वरूप जैन २७, रेलवे सोसायटी
१०१	श्री शान्तिस्वरूप जैन, २७, रेलवे हाउसिंग सोसाइटी
१०१	श्री मथुरालाल रामेश्वर प्रसाद जैन

अहमदाबाद

रुपये	दानदाताओं के नाम
२५१	श्री महावीर प्रसाद पालावत आश्रम रोड, अहमदावाद

○ ○ ○
○ ○
○

विषय-सूची

प्रथम खण्ड/प्रथम पुस्तक

प्रथम खण्ड/द्वितीय पुस्तक

प्रथम खण्ड/तृतीय पुस्तक

द्वितीय खण्ड/छठी पुस्तक

द्वितीय खण्ड/सातवीं पुस्तक

○ ○ ○
○ ○
○

प्रस्तावना

कविवर राजमल्लकृत पञ्चाध्यायी जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की उपयोगिता इसी से स्पष्ट है कि इसको विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं समाज के विभिन्न परीक्षालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान दिया गया है। ग्रन्थ के स्वरूप और ग्रन्थकार के विषय में प्रस्तुत संस्करण के पूर्व प्रकाशित प. मक्खनलालजी शास्त्री द्वारा की गई सुबोधिनी टीका जो इन्दौर से वी. नि. सं. २४४४ में प्रकाशित हुई उसमें प्रकाश डाला गया है। इसके बाद पं. देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखी गई हिन्दी टीका जो श्री गणेशवर्णी दि. जैन शोध संस्थान, वाराणसी से वी. नि. स. २५१२ में प्रकाशित हुई उसमें पं. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री ने काफी विद्वतापूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना लिखी है। जिसमें उन्होंने ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के सम्बन्ध में ऊहापोह करके काफी विवेचना की है।

ग्रन्थकार ने पाँच अध्यायों में पूर्ण करने के उद्देश्य से ही ग्रन्थ का नाम पञ्चाध्यायी रखा। जैसा कि पञ्चाध्यायावयवं मम कर्त्तुग्रन्थराजमात्मवशात इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार को यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में लिखना अभीष्ट था परन्तु वे किन्हीं अपरिहार्य कारणों से पूरा नहीं कर सके। ग्रन्थ के विषय से ही स्पष्ट है कि वे ग्रन्थ के डेढ़ अध्याय ही लिख सके।

इस ग्रन्थ के रचनाकार के बारे में कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलने के कारण कई वर्षों तक इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में आ. अमृतचन्द स्वीकार किये गये परन्तु स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार के अथक परिश्रम एवं तर्कसंगत प्रयासों के आधार पर इस ग्रन्थ के रचयिता पं. राजमल्लजी विद्ज्जगत में स्वीकार किये गये। अतः इस विषय में लिखकर पुनरावृत्ति करना उचित नहीं समझता।

टीकाकार

इस ग्रन्थाधिराज पर तीन प्रसिद्ध विद्वानों ने टीका लिखी है। प्रथम टीकाकार के रूप में पं. मक्खनलाल शास्त्रीजी ने सर्वप्रथम टीका लिखकर विषय को स्पष्ट किया है। टीका अन्वयार्थक नहीं है, भावार्थक है। उस भावार्थ में पण्डितजी ने कई स्थानों पर अपना मन्तव्य प्रकट किया है जो पाठक को हृदयग्राही है।

पं. देवकीनन्दन शास्त्री दूसरे टीकाकार हैं जिन्होंने विषय को काफी स्पष्ट किया है। विशेषार्थ में कई विषयों पर अपने मन्तव्य भी प्रकट किये हैं जिसका स्पष्ट खुलासा पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने अपनी प्रस्तावना में किया है। जैसे - स्त्री-पुरुष नपुंसक वेद की चर्चा, निश्चय व्यवहार की चर्चा विषयों पर विशद विवेचन है।

तीसरे टीकाकार के रूप में पं. सरनाराम जैन का नाम आता है जो अभी तक विद्वज्जगत में प्रसिद्ध नहीं है उसका कारण है कि वे परम्परागत विद्वान नहीं हैं। अपितु स्वाध्याय के आधार पर जो उन्होंने अनुभव किया और आगम में अध्ययन किया उसके आधार पर 'अध्यात्मचन्द्रिका' टीका विस्तार से लिखी है। पूर्व में लिखी गई दो टीकाओं से यह टीका बहुत विस्तृत एवं अत्यन्त उपयोगी है। इस टीका की विशेषता है कि पण्डितजी ने सैद्धान्तिक शब्दों को अपनी भाषा में सीधी-सरल सुबोध शैली में पाठकों के सामने विषय को प्रस्तुत किया है। कुछ विषयों को तो इतना स्पष्ट कर दिया है कि पाठक को द्रव्य, गुण, पर्याय जैसी कठिन चर्चा बिल्कुल सरल प्रतीत होने लगेगी जैसे द्रव्य के निरूपण में द्रव्य के पर्यायवाची शब्दों को देकर के पाठकों की इस भ्रान्ति को निर्मूल कर दिया है 'अन्वय-अर्थ' धर्मी जैसे शब्दों के अर्थ भी द्रव्य ही हैं। टीकाकार को विस्तृत ज्ञान था, यही कारण है द्रव्य के जितने पर्यायवाची शब्द हो सकते हैं वे सभी खोज करके एक स्थान पर रख दिये। इसी प्रकार गुण-पर्याय के भी पर्यायवाची एवं उनकी स्पष्ट विवेचना काफी प्रभावी ढंग से की गई है।

टीकाकार द्वारा लिखित भावार्थ और उस भावार्थ में दिये गये कोष्ठक में दिये गये विशेषार्थ पाठकों को अत्यन्त उपयोगी है।

प्रत्येक अधिकार एवं अवान्तर अधिकार के पश्चात् दिये गये भावार्थ एवं प्रश्नोत्तरों ने तो ग्रन्थ को बहुत ही महत्त्वपूर्ण बना दिया है। विषय की विवेचना के पूर्व कठिन शब्दों का खुलासा इस टीका की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि

है। जैसे चेतना शब्द के पर्यायवाची शब्द देकर उनके अर्थो को स्पष्ट करना अपने आप में टीकाकार की विद्वता की छाप स्पष्ट झलकती है।

टीकाकार ने कई विषयों पर अपने मन्तव्य दिये हैं जो अनुभव एवं आगम के आधार पर दिये हैं परन्तु विचारणीय हैं जैसे अष्ट मूलगुणों की विवेचना में टीकाकार लिखते हैं कि - ''व्यवहार गृहस्थ धर्म के पालने में भी बहुत विवेक की आवश्यकता है। आगम पद्धति कुछ और है और समाज का ढर्रा कुछ और है। समाज रूढ़ि बहुत गलत है। इस विषय में श्रीरत्नकरण्ड जैसे श्रावकाचार का भी व्यवहार ज्ञान लोगों को नहीं है और जैसे-तैसे देखा-देखी विचरते हैं। इस पर भी कुछ प्रकाश डालना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। वह इस प्रकार - सर्वपद्धति तो यह है कि पहले तीन मकार और ५ पापों को मोटे रूप में त्याग किया जाये (सप्त व्यसन और उदम्बर फल का त्याग इसी पाप त्याग के पेट में आ जाता है) देखिये श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार सूत्र न. ६६। ये गृहस्थों का मूलधर्म है। इसके बिना श्रावक नहीं होता। रात्रि भोजन त्याग, शुद्ध भोजन ग्रहण, भोगोपभोग का कम करना इत्यादिक सब इसके बाद हैं।

जैसाकि क्रम श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार में दिया है। लोग सात व्यसन तो सेते रहते हैं और रात्रि भोजन का त्याग कर देते हैं, परस्त्रीगमन तो करते रहते हैं और खाते शुद्ध भोजन हैं। जुआ, सट्टा, बदनी तो करते है और प्रातः-शाम सामायिक में बैठ जाते हैं। भाव तो दूसरे को ठगने का करते हैं और स्वाध्याय में शास्त्र के पोथे के पोथे पढ़ जाते हैं। बाहर में तो गरम वस्त्र का त्याग कर देते हैं अन्दर में मिथ्यात्व, माया निदान की पोट हैं। बाहर में पूजा करते हैं अन्दर में रात्रि भर ताश खेलते हैं। पाँचों पाप भी करते रहते हैं और बाहर में सबसे अधिक धर्मात्मा भी बने रहते हैं। बाहर में तो सम्यक्त्व के आठ अंग पालते हैं, पढ़ते हैं अन्दर में धर्मात्माओं को ठगने से भी नहीं चूकते। ऐसे लोग भले ही अपने को धर्मात्मा समझें किन्तु वे जैनधर्म सुनने के पात्र भी नहीं है नाम जैन भी नहीं है और ''हाय व्यवहार धर्म नष्ट हो जायेगा'' इसकी दुहाई देते हैं। कहने का आशय थोड़े में इतना ही है कि ऐसे क्रम भंग त्याग की जैन पद्धति नहीं, न उसमें कुछ धर्म है। उपर्युक्त कड़े शब्दों में जरूर लिखा है किन्तु सत्य है या झूठ यह अपने अनुभव से मिलाकर देखें। हमने भी बहुत अनुभवपूर्वक लिखा है।''

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि टीकाकार ने एक स्थान पर नहीं अनेक स्थानों पर अपने मन्तव्य दिये जो उनकी निर्भीकता एवं विद्वता का स्पष्ट प्रमाण है।

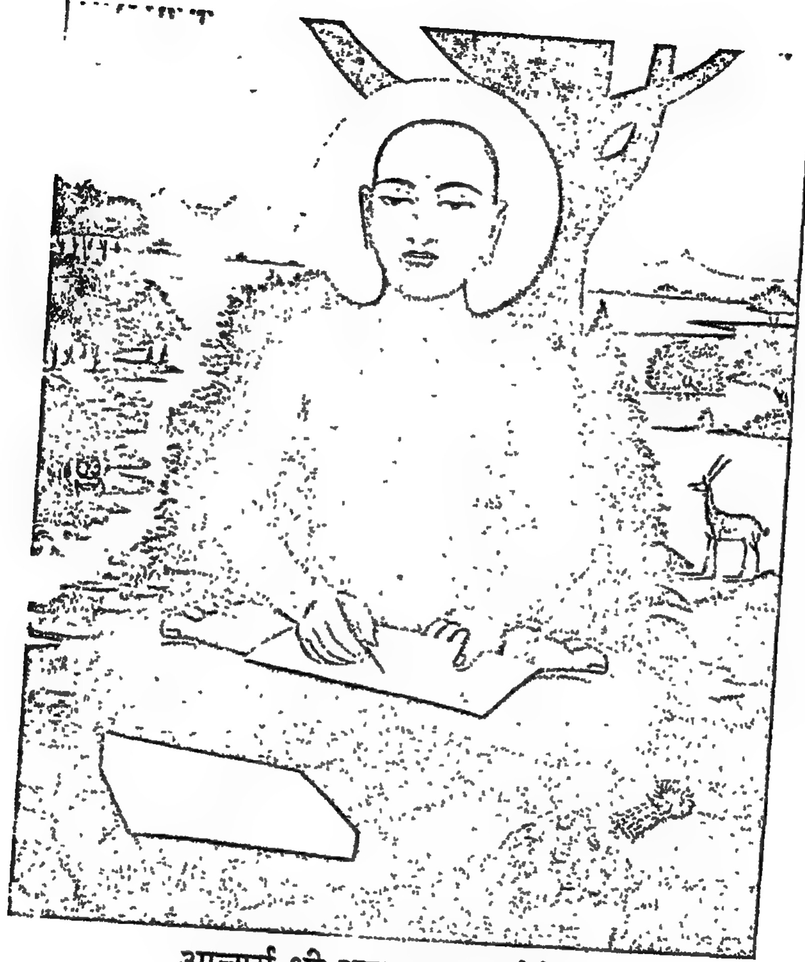
मैं कई विषयों पर विस्तार से लिखना चाहता था परन्तु प्रशासनिक दायित्व के कारण चाहते हुए भी नहीं लिख सका। मुझे आशा है कि इसका दूसरा संस्करण शीघ्र प्रकाशित होगा उसमें मैं विस्तार से लिख सकूँगा।

इस टीका के व्यवस्थित रूप से प्रकाशित हो जाने से पाठ्यक्रम में निर्धारित होने के कारण छात्रों को अत्यधिक उपयोगी है साथ ही स्वाध्याय करनेवाले भव्यात्माओं को तो इस ग्रन्थ का रहस्य सुगमता से ज्ञात हो जायेगा।

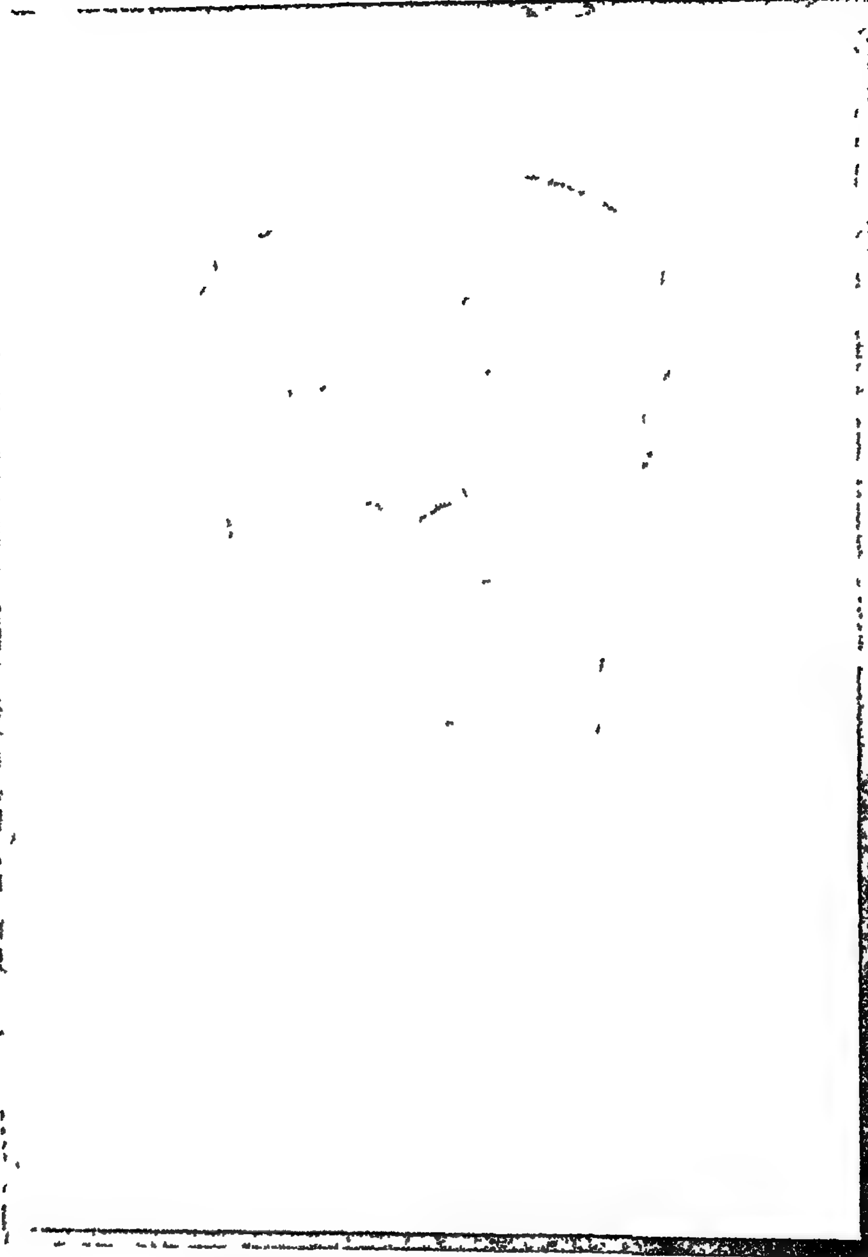
इस टीका को श्री महावीरप्रसादजी जैन अलवर वालों ने स्वाध्याय करके इसका महत्व समझा और प्रकाशित करने का दायित्व अपने साथियों के सहयोग से किया, यह जिनवाणी की महती सेवा है। वस्तुतः जैन साहब पूर्व में पुलिस प्रशासकीय सेवा में थे परन्तु उनकी स्वाध्याय रुचि ने ही पं. सरनारामजी जैन को प्रकाश में लाने का सराहनीय प्रयास किया है। इससे विद्ज्जगत आपका सदैव ऋणी रहेगा। जैनं जयतु शासनम्

श्रुतपञ्चमी
दिनांक : २२.५.९६

डॉ. शीतलचन्द जैन
प्राचार्य
श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत कॉलेज
मनिहारों का रास्ता, जयपुर - ३ (राज.)



आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्य देव



आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री सरनारामजी

जन्म : २ जुलाई, १९१२ ० पुण्य तिथि : मार्च, १९८१

ग्रन्थराज श्री पञ्चाध्यायी

प्रथम खण्ड/प्रथम पुस्तक

अध्यात्मचन्द्रिका टीका सहित

१. वस्तु निरूपण (श्लोक २६० तक)

मङ्गलाचरण (देव)

पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात्।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥

अर्थ–पांच अध्याय जिसके अवयव हैं (अर्थात् जो पांच अध्यायों में बंटा हुआ है) ऐसे ग्रन्थराज को अपना क्षयोपशम शक्ति अनुसार बनाने वाले मुझे, जिसके वचन पदार्थों के प्रतिभास होने में कारण हुए, उस श्री महावीर भगवान् को मैं स्तवन करता हूँ।

भावार्थ–जिस प्रकार चक्षुष्मान भी व्यक्ति प्रकाश के बिना पदार्थों को नहीं देख सकता है, उसी प्रकार यद्यपि सब जीवादिक पदार्थ अनादिनिधन स्वतःसिद्ध हैं तथापि उनका यथार्थ स्वरूप मोहांधकार से अंधे हुये अज्ञ पुरुषों को जिनोपदेश के बिना समझ में नहीं आ सकता। इसलिये ग्रन्थकार का कहना है कि मुझे वस्तु स्वरूप के परिज्ञान होने में भगवान श्री महावीर स्वामी के दिव्य-वचन ही साक्षात् कारण हुये हैं। इसलिये मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। इससे ग्रन्थकार ने देशनालब्धि का संकेत भी कर दिया है क्योंकि ज्ञानी गुरु के उपदेश बिना पदार्थों का यथार्थ भान नहीं होता। निमित्त की ओर से उपकाररूप ऐसे शब्द बोलने की पद्धति है, वास्तव में वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि जिस समय इस जीव में यथार्थ बोध प्राप्ति की योग्यता होती है, उस समय सामने यथार्थ ज्ञानी गुरु का उपदेश अपने कारण से स्वतः वस्तु स्वभाव नियमानुसार होता ही है (अज्ञानी को अज्ञानी ही गुरु मानते हैं)।

यह ग्रन्थ सामान्य ग्रन्थ नहीं है किन्तु द्रव्यानुयोग शास्त्रों का एक प्रकार से राजा है, यह ग्रन्थकार ने 'ग्रन्थराज' इस पद से स्वयं सूचित किया है।

मङ्गलाचरण (देव गुरु)

शेषानपि तीर्थकराननन्तसिद्धानहं नमामि समं।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान् वन्दे ॥ २ ॥

अर्थ–साथ ही साथ २३ तीर्थङ्करों को और अनन्त सिद्धों को भी मैं नमस्कार करता हूँ तथा धर्माचार्य, धर्माध्यापक (धर्मोपाध्याय) धर्म साधु, इन तीन प्रकार के मुनीश्वरों को भी मैं नमस्कार करता हूँ।

मङ्गलाचरण (शास्त्र)

जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम्।
यदपि च कुमताराती‍नदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

अर्थ–अनादिनिधन, भले प्रकार वन्दनीय, निर्दोष, जैन आगम जीवित रहे कि जो खोटी बुद्धिवाले शत्रुओं को (अन्य मतियों को) अग्नि की तरह निर्दयता पूर्वक जलाता है (अर्थात् उनके माने हुये खोटे तत्त्व का बुरी तरह खण्डन करता है)।

भावार्थ–जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट आगम परम्परा दृष्टि से आदि और अन्त रहित है। सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित होने से – पूर्वापर विरोध न आने से प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि प्रमाणों से खण्डित न होने से और शंकादि दोषों का स्थान न होने से निर्दोष है, तत्त्व के प्रतिपादन पूर्वक शुद्ध आत्म तत्त्व की प्राप्ति का उपाय बतलाने के कारण सब जीवों द्वारा–विशेषतया ज्ञानियों द्वारा भले प्रकार वन्दनीय हैं और विपरीत वस्तु स्वरूप का, खोटे मार्ग का खण्डन करने वाला है।

प्रमाण—मङ्गलाचरण में ग्रन्थकार ने श्री प्रवचनसार के मूलकर्त्ता तथा टीकाकार का अनुकरण किया है।

प्रतिज्ञा

इति वन्दितपंचगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्रकार पांचों परमेष्ठियों का वन्दना रूप मंगलाचरण सत्कर्म करके ग्रन्थकार अब पञ्चाध्यायी नामक इच्छित शास्त्र को बनाने की प्रतिज्ञा करता है।

ग्रन्थ बनाने में कारण ५-६

अत्रान्तरङ्गहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः ।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धि ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि इस ग्रन्थ के बनाने में अन्तरंग कारण कवि का विशुद्धतर परिणाम है तो भी कारण का कारण सबका उपकार करने वाली श्रेष्ठ बुद्धि (अर्थात् ज्ञान का विशिष्ट क्षयोपशम) है।

भावार्थ—चरित्र गुण में कषायों की मन्दता और ग्रन्थ बनाने का विकल्प कवि का विशुद्धतर परिणाम है जो ग्रन्थ बनाने का प्रथम कारण है और उसका भी कारण कवि का विशिष्ट ज्ञान क्षयोपशम है। जिस (क्षयोपशम) के कारण लिखित ग्रन्थ द्वारा सब जीवों का भला हो सकता है। यदि ग्रन्थ बनाने का भाव हो और विशेष क्षयोपशम न हो तो भी कार्य नहीं हो सकता। यदि क्षयोपशम हो और ग्रन्थ बनाने का भाव न हो तो भी कार्य नहीं हो सकता। अतः दोनों कारणों का निर्देश किया है।

सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुंकामो वृषं हि सुगमोक्त्या ।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—सब ही जीव लोक धर्म को सरल (किन्तु क्रमबद्ध) कथन शैली से ही सुनने का इच्छुक है। यह बात सर्व विदित है। अतः उस (जीवलोक) के लिए उस (धर्म श्रवण) में यह क्रम (कथनशैली) श्रेष्ठ (लाभदायक) होगा।

विषय सूचना

सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथान्यायात् ।
साध्यं वस्तुविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्मी (सामान्य वस्तु सत्) के होने पर ही धर्मों का (सत् की विशेषताओं का) विचार होता है। यही न्याय से ठीक है। इसलिये पहले सामान्यवस्तु (अभेद वस्तु-सत् सामान्य) सिद्ध करने योग्य है और उसके पश्चात् धर्मविशिष्ट वस्तु (विशेष वस्तु-भेदात्मक वस्तु-जीवाजीवादि वस्तु) भी सिद्ध करने योग्य है (पहले सामान्य सत् को कहकर फिर उस सत् में क्या-क्या विशेषतायें हैं उनको सिद्ध करेंगे जैसे कोई सत् चेतन है तो कोई अचेतन है। कोई मूर्तिक है तो कोई अमूर्तिक है। कोई भाववती शक्ति युक्त है तो कोई भाववती, क्रियावती दोनों युक्त है। कोई वैभाविक शक्ति युक्त है तो कोई नहीं है ।

भावार्थ—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। सो पहले अध्याय में सामान्य वस्तु अर्थात् द्रव्य मात्र का निरूपण करेंगे और दूसरे अध्याय में विशेष वस्तु, द्रव्य विशेष, सत् विशेष, जीवाजीवादि का निरूपण किया जायेगा क्योंकि जो सत् सामान्य है वही तो सत् विशेष है और दोनों धर्मों का ज्ञान होने पर ही पूर्ण वस्तु का ज्ञान होता है। न्याय की यह पद्धति है कि पहले सत् सामान्य का ज्ञान किया जाये फिर सत् विशेष का अन्यथा वस्तु का ठीक-ठीक भान नहीं हो सकता। जो सत् सामान्य है वही तो जीव रूप सत् विशेष है या पुद्गल रूप सत् विशेष है।

प्रमाण—श्री पञ्चास्तिकाय की प्रथम २६ गाथा सामान्य वस्तु की है फिर विशेष वस्तु की है। उसी प्रकार श्री प्रवचनसार दूसरे अध्याय में प्रारंभ की गाथा ९३ से १२६ तक सामान्य वस्तु का निरूपण है फिर विशेष का ठीक उसी क्रम को ग्रन्थकार ने यहां स्वीकार किया है और उसी में से यह सब विषय लिया है।

भूमिका समाप्त

पहला अवान्तर अधिकार

द्रव्य का निरूपण-(अभेद दृष्टि से-८ से ७० तक)

द्रव्य का लक्षण (अभेद दृष्टि-निश्चयदृष्टि से) ८ से १४ तक

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धं ।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥ ८ ॥

अर्थ–तत्त्व (द्रव्य) सत् लक्षण वाला है (गुण-गुणी अभेद दृष्टि) अथवा सत् मात्र है (सत् ही तत्त्व है-अभेद दृष्टि)। क्योंकि स्वतःसिद्ध है इसलिये अनादि अनिधन, स्वसहाय और निर्विकल्प (भेद रहित-अखण्ड) है (यह छहों द्रव्य में प्रत्येक द्रव्य का सामान्य लक्षण है, वस्तु मात्र का लक्षण है)।

व्याख्या– (१) द्रव्य को तत्त्व, सत्त्व, सत्ता, सत्, अन्वय, वस्तु, अर्थ, पदार्थ, सामान्य, धर्मी, देश, समवाय समुदाय इत्यादि अनेक नामों से पुकारते हैं। सो ग्रन्थकार कहीं किसी शब्द का, कहीं किसी शब्द का प्रयोग करेंगे।

(२) सामान्यविशेषात्मक वस्तु को भेद की दृष्टि से देखना-कथन करना-विशेष कथन अर्थात् धर्मों का कथन है और उसी को अभेद-अखण्ड, सत् की अपेक्षा निरूपण करना धर्मी का कथन है – ऐसा यहाँ आशय है। यहाँ मात्र सामान्य अंश नहीं है किन्तु सामान्यविशेषात्मक अभेद सामान्य है जो अनुभय नय, निश्चय नय अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कहा जाता है। इसी नय से यह लक्षण किया है। प्रमाण दृष्टि का लक्षण यह नहीं है।

(३) निर्विकल्प शब्द का अर्थ राग रहित नहीं है किन्तु भेद रहित अखण्ड है, क्योंकि छः द्रव्यों का सामान्य कथन है। यहाँ सामान्य वस्तु का लक्षण है, आत्मा की बात नहीं है।

(४) स्वतःसिद्ध शब्द से यह प्रयोजन है कि वस्तु किसी ईश्वर आदि से उत्पन्न नहीं है। स्वतः स्वभाव से स्वयं सिद्ध है।

(५) अनादि निधन शब्द से यह अभिप्राय है कि वस्तु क्षणिक नहीं है। सत् की उत्पत्ति नहीं है और न सत् का नाश है। वह अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगा।

(६) स्वसहाय का यह भाव है कि पदार्थ-पदार्थान्तर के सम्बंध से पदार्थ नहीं है या निमित्त या अन्य पदार्थ से नहीं टिकता है किन्तु वह प्रभु खुद मुखतार (Independent) है। अनादि अनन्त अपने स्वभाव या विभाव रूप से स्वयं अपनी योग्यता से परिणमन करता है। कभी किसी पदार्थ का अंश न स्वयं अपने में लेता है और न अपना कोई अंश दूसरे को देता है। अनादि अनिधन में उसे उत्पत्ति नाश से रहित बताना है और स्वसहाय में उसकी स्वतन्त्र स्थिति-टिकाव तथा स्वतंत्र परिणमन बताना है।

यह गाथा इस प्रथम भाग का 'करणसूत्र' है। सारा ग्रन्थ अर्थात् ७६८ श्लोक इसी वस्तु को अनेक पद्धतियों से समझाने का प्रयत्न किया है। यह सूत्र कण्ठस्थ करने योग्य है। वस्तु लक्षण या वस्तु विचार के लिये अत्यन्त लाभदायक है।

अगली भूमिका

वस्तु का जो स्वरूप यहां अस्ति रूप से–अन्वय रूप से कहा है, उसी की नास्ति रूप से–व्यतिरेक रूप से अगले श्लोक ९ से १४ तक चर्चा की है। अस्ति नास्ति से वस्तु के स्वरूप की ठीक सिद्धि हो जाती है और खोटी मान्यताओं का स्वतः खण्डन हो जाता है या यूं भी कह सकते हैं कि इस श्लोक में जैन सिद्धांत पद्धति अनुसार कथन किया है और उसी वस्तु का अगले ६ श्लोकों में अन्य मान्यताओं की मुख्यता को लेकर उनका न्याय पद्धति अनुसार खण्डन किया है। अभेद दृष्टि से, निश्चय दृष्टि से द्रव्य का लक्षण यहां किया है। ७०वें श्लोक तक इसकी सिद्धि करके फिर इसी द्रव्य को ७१ से भेद दृष्टि व्यवहार दृष्टि से निरूपण करेंगे।

खोटी मान्यताओं का खण्डन ९ से १४ तक

इत्थं नो चेदसतः प्रादुर्भूतिर्निरंकुशा भवति ।
परतः प्रादुर्भावो युतसिद्धत्वं सतो विनाशो वा ॥ ९ ॥

अर्थ–यदि ऊपर कही हुई रीति से वस्तु का स्वरूप न माना जाय अर्थात् वस्तु पूर्वोक्त अनुसार स्वतःसिद्ध न मानी जाये तो असत् पदार्थ की उत्पत्ति निरंकुश (बिना रोक-टोक) होगी (असत् पदार्थ भी होने लगेगा।) इसी प्रकार वस्तु की पर से उत्पत्ति होने लगेगी (अर्थात् एक पदार्थ की उत्पत्ति दूसरे ईश्वरादि पदार्थ से होगी) अथवा युतसिद्ध होगा द्रव्य, गुण के संयोग से, पदार्थ कहलायेगा) अथवा सत् का विनाश होगा।

भावार्थ–यदि वस्तु स्वतःसिद्ध नहीं मानते हो तो असत् उत्पन्न मानो, अनादि निधन नहीं मानते हो तो परतःसिद्ध मानो, स्वसहाय नहीं मानते हो तो सत् का नाश मानो, निर्विकल्प (अखण्ड) नहीं मानते हो तो युत सिद्धता (दो पदार्थों के संयोग से एक पदार्थ) मानो। अर्थात् यदि वस्तु स्वतःसिद्ध नहीं मानते हो तो इनमें से किसी रूप में तो माननी पड़ेगी।

प्रथम पक्ष में आपत्ति

असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्वम् ।
को वारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेऽपि ॥ १० ॥

अर्थ–असत् की उत्पत्ति होने पर इस लोक में द्रव्य (जातियों) के अनन्तपना होगा। मिट्टी आदि के अभाव में भी घड़े की उत्पत्ति को रोकने के लिये कौन समर्थ होगा ? कोई नहीं।

भावार्थ–यदि असत् की उत्पत्ति मान ली जाय अर्थात् जो वस्तु पहले किसी रूप में भी नहीं है, एसी वस्तु की उत्पत्ति मानने से वस्तुओं की कोई मर्यादा नहीं रह सकती है। जब विना अपनी सत्ता के ही नवीन रूप से उत्पत्ति होने लगेगी तो संसार में अनन्तों द्रव्य होते चले जावेंगे। इसलिये वस्तु को स्वतःसिद्ध मानना ही ठीक है। विना मिट्टी के घड़ा स्वयं पैदा होने लगेगा।

दूसरे पक्ष में आपत्ति

परतः सिद्धत्वे स्यादनवस्था लक्षणो महान् दोषः ।
सोऽपि परः परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोऽपि परः ॥ ११ ॥

अर्थ–वस्तु को पर से सिद्ध मानने पर अनवस्था लक्षण महान दोष आता है। वह इस प्रकार आता है कि – वस्तु जब पर से सिद्ध होगी तो वह पर भी किसी दूसरे पर पदार्थ से सिद्ध होगा और वह पर भी दूसरे पर से सिद्ध होगा (क्योंकि पर सिद्धमानने वालों का यह सिद्धांत है कि हर एक पदार्थ पर से ही उत्पन्न होता है) (उससे वह, फिर उससे वह इस प्रकार कितनी ही लम्बी कल्पना क्यों न की जाय परन्तु कहीं पर भी जाकर विश्राम नहीं आता। जहाँ रुकेंगे वहां पर यही प्रश्न खड़ा होगा कि यह कहाँ से हुआ। इस लिये वस्तु को पर सिद्ध न मान कर अनादिनिधन मानना चाहिये ।)

भावार्थ–नैयायिक आदि कतिपय दर्शनवाले वस्तु को पर से सिद्ध मानते हैं। ईश्वरादि को उसका रचयिता वतलाते हैं परन्तु यह मानना सर्वदा मिथ्या है क्योंकि ईश्वर को किसने वनाया। यदि ईश्वर स्वतःसिद्ध है तो सव ही स्वतःसिद्ध हैं।

तीसरे पक्ष में आपत्ति

युतसिद्धत्वेऽप्येवं गुणगुणिनोः स्यात्पृथक्प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्वाल्लक्षणभेदः कथं तयोर्भवति ॥ १२ ॥

अर्थ–युतसिद्ध मानने पर (अर्थात् पदार्थों के संयोग से पदार्थ मानने पर जैसे लकड़ी और पुरुष के संयोग से दण्डी) गुण और गुणी (जिसमें गुण पाया जाय) दोनों ही के भिन्न-भिन्न प्रदेश ठहरेंगे उस अवस्था में दोनों ही समान ठहरेंगे। फिर अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा गुण-गुणी का भिन्न-भिन्न लक्षण उन दोनों में नहीं वन सकेगा।

भावार्थ–अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड स्वरूप यदि वस्तु मानी जाय तब तो गुण-गुणी के भिन्न प्रदेश नहीं होते हैं और अभिन्नता में ही विवक्षा वश गुण-गुणी में लक्षण भेद हो जाता है। परन्तु जब वस्तु के भिन्न प्रदेश माने जावें और गुणों के भिन्न माने जावें तब दोनों ही स्वतन्त्र होंगे और स्वतन्त्रता से अमुक गुण हैं और अमुक गुणी है ऐसा लक्षण भेद नहीं कर सकते। समान अधिकार में दोनों ही वस्तु होंगे अथवा दोनों ही गुण होंगे। इसलिये युतसिद्ध मानना ठीक नहीं है किन्तु निर्विकल्प (अखण्ड) वस्तु मानना ठीक है। जिसके प्रदेश जुदा-जुदा होते हैं वह कभी एक वस्तु नहीं होती। निमित्त से उपादान में कार्य मानने वाले युतसिद्ध ही मानते हैं।

चौथे पक्ष में आपत्ति

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोऽपि बाधितो भवति ।
नित्यं यतः कथंचिद्द्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयतेऽध्यक्षात् ॥ १३ ॥

अर्थ–अथवा सत् का नाश होता है यह पक्ष भी बाधित है क्योंकि ज्ञानियों के द्वारा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से द्रव्य कथंचित् नित्य अनुभव किया जाता है।

भावार्थ–यदि सत् का नाश मानते हो तो आत्मा का ही नाश हो जायेगा। फिर किसका मोक्ष और काहे की मोक्ष मार्ग की कथा।

उपसंहार

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुन्सा ।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्वं चानुमन्तव्यम् ॥ १४ ॥

अर्थ–इसलिये अनेक दूषणों से दूषित पक्षों को जो पुरुष नहीं चाहता है उसे योग्य है कि वह ऊपर कहे हुये लक्षण वाली निर्दोष वस्तु को स्वीकार करे अर्थात् वस्तु को सत् स्वरूप, स्वतः सिद्ध, अनादि निधन, स्वसहाय और निर्विकल्प ही समझे।

श्लोक ८ से १४ तक का सार

जैन धर्म ने इस विश्व की प्रत्येक वस्तु को सत् स्वरूप, स्वतः सिद्ध, अनादि अनन्त माना है। प्रत्येक पदार्थ पर से निर्पेक्ष स्वसहाय अखण्डित अनादि अनन्त अपने त्रिकाली स्वरूप में स्थिर रहता हुआ पर्याय द्वारा परिणमन किया करता है। इसके विपरीत जगत में जितने मत-मतान्तर हैं उन्होंने अनेकों तरह से तत्व को माना है। उन सब का संग्रह ग्रन्थकार ने चार मान्यतायें दिखला कर उनका खण्डन दोषों की आपत्तियों द्वारा किया है। यह ग्रन्थकार की विचक्षण बुद्धि का कमाल है कि उन्होंने विश्व के सम्पूर्ण मतों की मान्यताओं को अथवा सम्पूर्ण न्याय शास्त्रों के सार को पांच चार श्लोकों में ही भर दिया है। ग्रंथकार ने इसकी विशेष चर्चा इसलिये नहीं की कि उन्हें अध्यात्म ग्रन्थ बनाना इष्ट था और अध्यात्म विषय का इससे कोई खास प्रयोजन नहीं। यहाँ पर तो प्रयोजन केवल श्लोक नं. ८ में दिखलाये हुये तत्व से है। 'अस्ति' पक्ष से हमारा प्रयोजन है नास्ति पक्ष से नहीं। नास्ति पक्ष का तो संक्षेप में चार पद्यों में खण्डन करके आगे सम्पूर्ण ग्रंथ में अस्ति पक्ष का ही निरूपण है।

नोट–श्लोक नं. ८ में जिस वस्तु को सत् रूप बताकर आये हैं अब वह सत् सामान्यविशेषात्मक अखण्ड है, केवल सामान्य रूप या केवल विशेष रूप नहीं है इसका ऊहापोह पूर्वक १५ से २२ तक वर्णन करते हैं।

द्रव्य के सामान्यविशेषात्मकपने का वर्णन १५ से २२ तक

प्रकृत विषय श्लोक ८ से चालू

किं चैवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरंकुशा किन्तु ।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥ १५ ॥

अर्थ–जिस सत्ता को श्लोक नं. ८ में वस्तु का लक्षण बतला कर आये हैं वह सत्ता भी निरंकुश निर्पेक्ष स्वतन्त्र नहीं है (अर्थात् विशेष निर्पेक्ष केवल सामान्य सत्ता नहीं है अर्थात् सामान्य के प्रदेश भिन्न हों और विशेष के प्रदेश

भिन्न हों, उनमें से विशेष के प्रदेश छोड़कर केवल सामान्य के प्रदेशों की ग्राहक हो, ऐसा नहीं है)' किन्तु सप्रतिपक्षा है (अर्थात् विशेष सहित सामान्य है)। वह प्रतिपक्षपना अपने प्रतिपक्ष के साथ है (अर्थात् सामान्य का प्रतिपक्षपना अपने विशेष के साथ है) दूसरे पदार्थ के साथ नहीं है (अर्थात् चेतन का प्रतिपक्षपना अचेतन के साथ नहीं है। घट का प्रतिपक्षपना पट के साथ नहीं है)।

भावार्थ–पूर्वोक्त श्लोक नं. ८ में जिस सत्ता को तत्व वस्तु का लक्षण कहा गया है वह केवल सामान्य सत्ता नहीं है किन्तु अपनी प्रतिपक्ष विशेष सत्ता सहित है क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। यह ध्यान रहे कि-यहाँ पर एक ही पदार्थ की सामान्य सत्ता अपनी विशेष सत्ता के साथ सापेक्ष है । दूसरे पदार्थ की सत्ता से कुछ प्रयोजन नहीं है।

यहाँ यह विवक्षा नहीं है कि विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की समुदायात्मक सत्ता को महासत्ता (सामान्य) सत्ता कहा गया हो और प्रत्येक पदार्थ की सत्ता को अवान्तर (विशेष) सत्ता कहा गया हो। ऐसा अर्थ करने से सम्पूर्ण ग्रंथ का अर्थ मिथ्या हो जायगा । यहाँ किसी एक अखण्ड पदार्थ के सामान्य धर्म को सत्ता और उसी के विशेष धर्म को प्रतिपक्षपना कहा है।

इसी बात को अब आगे स्वयं ग्रंथकार शंका समाधान पूर्वक श्लोक नं. २२ तक सिद्ध करेंगे।

शंका

अत्राहैवं कश्चित् सत्ता या सा निरंकुशा भवतु ।
परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनि यस्मात् ॥ १६ ॥

अर्थ–यहां कोई (शंकाकार या अन्यमती) इस प्रकार कहता है कि जो सत्ता तत्त्व का लक्षण पूर्वोक्त श्लोक नं. ८ में कहा गया है वह सत्ता निरंकुश, निर्पेक्ष, स्वतन्त्र होवे (अर्थात् उन प्रदेशों में केवल सामान्य का स्वरूप होवे विशेष का स्वरूप उसमें न होवे) क्योंकि वह परपक्ष में (विशेष स्वरूप में) निर्पेक्ष होती हुई (विशेष स्वरूप को धारण न करती हुई) अपने पक्ष में रहने वाली होगी (केवल सामान्य स्वरूप की धारक होगी।)

भावार्थ– शंकाकार सामान्यविशेषात्मक वस्तु में सामान्य सत्ता (स्वरूप) के प्रदेश भिन्न और विशेष सत्ता (स्वरूप) के प्रदेश भिन्न स्वीकार करके प्रश्न कर रहा है कि जब दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं तो फिर आपस में सपक्षपना कैसा ? निर्पेक्षपना (निरंकुश) होना चाहिये । दोनों अपने-अपने स्वरूप और अपने-अपने प्रदेशों में हैं। शंकाकार की मान्यता अनुसार विशेष निर्पेक्ष सामान्य और सामान्य निर्पेक्ष विशेष है जो गधे के सींगवत् ही ठहरता है। ऐसा कोई तत्त्व ही नहीं। जगत के सब पदार्थ तो सामान्य विशेषात्मक हैं। जो सत् सामान्य है वही तो सत् विशेष जीव है।

समाधान

तन्न यतो हि विपक्षः कश्चित् सत्त्वस्य वा सपक्षोऽपि।
द्वावपि नयपक्षौ तौ मिथो विपक्षौ विवक्षितापेक्षात् ॥ १७ ॥

अर्थ– ऐसा नहीं है अर्थात् सामान्य सत्ता स्वतंत्र नहीं है क्योंकि सत्ता का कोई सपक्ष (सामान्य स्वरूप) और कोई विपक्ष (विशेष स्वरूप) भी अवश्य है। वे दोनों नय पक्ष हैं (अर्थात् आपस में एकमेक हैं। जिस दृष्टि से देखो सत् उसी रूप दीखता है, सामान्य दृष्टिवाले को सम्पूर्ण सत् सामान्य दीखता है और विशेष दृष्टिवाले को सारा सत् विशेष रूप दीखता है) और विवक्षित (जिसको वक्ता कहना चाहता हो) की अपेक्षा से दोनों आपस में विपक्ष हैं। सामान्य की विवक्षा में विशेष विपक्ष है अर्थात् गौण रूप से वस्तु में खड़ा रहता है और विशेष की विवक्षा में सामान्य विपक्ष है अर्थात् गौण रूप से वस्तु में खड़ा रहता है।)

भावार्थ–हर एक तत्त्व (वस्तु-सत्ता) सामान्यविशेषात्मक है इसलिये उसमें दोनों धर्म युगपत रहते हैं। परस्पर सापेक्ष हैं। वक्ता को जिससे प्रयोजन हो उसको सपक्ष बना लेता है और दूसरे को विपक्ष बना लेता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे स्वतंत्र (भिन्न-भिन्न प्रदेशवाले) हैं। वस्तु प्रमाण रूप हैं। दोनों पक्ष एक-एक नय के विषय हैं और सापेक्ष नय सम्यक है। निर्पेक्ष मिथ्या है।

शंका

अत्राप्याह कुदृष्टिर्यदि नयपक्षौ विवक्षितौ भवतः।
का नः क्षतिर्भवेतामन्यतरेणेह सत्त्वसंसिद्धिः ॥ १८ ॥

अर्थ– इस पर भी मिथ्यादृष्टि (अन्यमति-शंकाकार) कहता है कि यदि आपके दोनों नयपक्ष विवक्षित हैं तो रहें हमारी कुछ हानि नहीं क्योंकि इनमें से किसी एक से सत्त्व (सत्ता-वस्तु-पदार्थ) की सिद्धि हो जायगी।

भावार्थ–शंकाकार कहता है कि सामान्य सत्ता और विशेष सत्ता तो आप भी दोनों मानते हो फिर क्या झगड़ा। हमारा तो किसी एक से ही काम चल जायगा अर्थात् वह वस्तु को सामान्यविशेषात्मक अखण्ड प्रदेशी नहीं मानकर वस्तु को किसी एक रूप मानना चाहता है। अनेकान्तरूप नहीं–एकान्तरूप मानना चाहता है।

समाधान–१९ से २२ तक

तन्न यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मकं वस्तु।
अन्यतरस्य विलोपे शेषस्यापीह लोप इति दोषः ॥ १९ ॥

अर्थ– ऐसा नहीं है अर्थात् तुम किसी एक से वस्तु की सिद्धि नहीं कर सकते क्योंकि वस्तु द्रव्य पर्याय उभय रूप है या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप उभय नय का विषय है (सामान्यविशेषात्मक है)। इनमें से किसी एक का लोप करने पर दूसरे का भी लोप हो जायगा, यह दोष आयेगा (शून्य हो जायेगा)।

भावार्थ– भाई यदि तू एक को छोड़कर दूसरा मानना चाहता है तो यह कैसे बने। चीज तो एक ही है। अतः इस प्रकार तो शून्य का प्रसंग आयेगा। वस्तु ही खत्म हो जायगी।

नोट–निर्पेक्ष वस्तु का खण्डन करके अब सापेक्ष वस्तु का स्वरूप कैसा है यह श्लोक २०-२१-२२ द्वारा उसे समझाते हैं।

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत्।
नानारूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥ २० ॥

आधे का अर्थ–इसलिये जैसा सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है उसी प्रकार दूसरा भी है अर्थात् असत्ता का प्रतिपक्ष सत्ता है।

आधे का भावार्थ–जिस समय महासत्ता सत्ता रूप से विवक्षित होती है उस समय अवान्तर सत्ता असत्ता हो जाती है और जिस समय अवान्तर सत्ता सत्ता रूप से विवक्षित होती है उस समय महासत्ता असत्ता हो जाती है। क्योंकि सामान्य या विशेष जिस स्वरूप को वक्ता को कहना होता है उसको वह सत्ता रूप से विवेचन करता है। दूसरी गौण हो जाती है। असत्ता का अर्थ यहां अ-सत्ता अर्थात् अभाव नहीं है किन्तु गौण है ''अर्पितानर्पितसिद्धेः''।

दूसरे आधे का अर्थ–किन्तु एकरूपता का प्रतिपक्ष तो निश्चय से नाना रूपता है।

भावार्थ–एकरूपता अवान्तर सत्ता को कहते हैं और नाना रूपता महासत्ता को कहते हैं। यह ध्यान रहे कि एकरूपता महासत्ता को और नानारूपता अवान्तर सत्ता को नहीं कहते। इसकी सूचना के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया है। ऊपर की पंक्ति महासत्ता की ओर से है। नीचे की पंक्ति अवान्तर सत्ता की ओर से है। आगे श्लोक २१-२२ फिर महासत्ता की ओर से है। देखिए श्री पंचास्तिकाय गाथा ८ मूल तथा टीका नानारूपता को सविश्वरूपा भी कहते हैं।

एकपदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम्।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥ २१ ॥

अर्थ– यहाँ सर्व पदार्थ स्थिति (महासत्ता) का विपक्षपना एक पदार्थ स्थिति (अवान्तरसत्ता) है और ध्रौव्य उत्पाद व्यय द्वारा त्रिलक्षणा (महासत्ता) का प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव (अर्थात् केवल ध्रौव्य, केवल उत्पाद या केवल व्यय-अत्रिलक्षणा-अवान्तर सत्ता) है।

भावार्थ–सर्वपदार्थस्थिता का अर्थ यह नहीं है कि सब में ठहरी हुई या सब पदार्थों की समुदायात्मक एक सत्ता किन्तु इसका अर्थ स्वयं ग्रंथकार ने आगे श्लोक २६५ में किया है "सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि" अर्थात् पदार्थ समूह को छूनेवाली, क्योंकि सत् ३ की अपेक्षा तो सभी समान हैं। सामान्य धर्म से पदार्थ में भेद नहीं होता। सबके सादृश्यंता की सूचक है न कि सबके एक अस्तित्व की।

एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददोह्यनेकत्वम् ।
स्यादप्यनन्तपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥ २२ ॥

अर्थ–एका सत्ता (महासत्ता) का विपक्ष अनेका (अवान्तर-सत्ता) है। अनन्तपर्याया (महासत्ता) का प्रतिपक्ष एकपर्याया (अवान्तर-सत्ता) है।

भावार्थ–सत्ता-असत्ता विशेषण तो दोनों के लिये प्रयुक्त हो जाते हैं अर्थात् महासत्ता को सत्ता भी कहते हैं और असत्ता भी कहते हैं। उसी प्रकार अवान्तर सत्ता को सत्ता भी कहते हैं असत्ता भी कहते हैं, किन्तु शेष विशेषण जो जिसका है वह उसका ही रहेगा। वे आपस में अदले-बदले नहीं जाते हैं।

महासत्ता को नानारूपा (सविश्वरूपा), सर्वपदार्थस्थिता, ध्रौव्योत्पादव्ययात्मिका (त्रिलक्षणा), एका, अनन्तपर्याया कहते हैं।

अवान्तर सत्ता को एकरूपा, एकपदार्थस्थिता, अत्रिलक्षणा, अनेका, एकपर्याया कहते हैं।

इनमें महासत्ता (सामान्य) द्रव्यार्थिक नय का विषय है और अवान्तर सत्ता (विशेष-भेद) पर्यायार्थिक नय का विषय है। वस्तु में श्रुतज्ञान की अपेक्षा दो अंश हैं और उन दोनों अंशों को ये दो नय दिखलाते हैं। वास्तव में वस्तु तो प्रमाणात्मक है यही सापेक्षता से प्रयोजन है और इसीलिये सापेक्षनय सम्यक है, निर्पेक्ष मिथ्या है। अभेद दृष्टि से उसी को सामान्य कहते हैं, भेद दृष्टि से उसी को विशेष कहते हैं । प्रमाण दृष्टि से वही भेदाभेदात्मक है। महासत्ता अवान्तर सत्ता को विशेष स्पष्ट समझने के लिये आगे निम्नलिखित श्लोकों का मनन करें– नं. २६४ से ३०८ तक तथा ७५६ से ७५९ तक।

प्रमाण–श्लोक १५ से २२ तक श्री पंचास्तिकाय गाथा ८, ९ के आधार से रचे गये हैं।

श्लोक १५ से २२ तक का सार

पदार्थों में स्वरूप का अवबोधक अन्वय रूप जो धर्म पाया जाता है उसे सत्ता कहते हैं। यह अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव के द्वारा नाना पदार्थों में व्याप्त होकर रहती है इसलिये नानारूपा है। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जो सत् स्वरूप न हो, इसलिये सर्वपदार्थस्थिता है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभाव होने से त्रिलक्षणात्मिका है। सब पदार्थों में अन्वय रूप से पाई जाती है इसलिये एका है और अनन्त पर्यायों का आधार है इसलिये अनन्तपर्यायात्मिका है। यद्यपि सत्ता का स्वरूप उक्त प्रकार का है तो भी यह केवल अन्वय रूप से ही विचार करने पर प्राप्त होता है। व्यतिरेक रूप से विचार करने पर तो इसकी स्थिति ठीक इससे उल्टी हो जाती है। इसी से इसे उक्त कथन के प्रतिपक्ष वाली भी बतलाया गया है। आशय यह है कि वस्तु न सामान्यात्मक ही है और न विशेषात्मक ही है किन्तु उभयात्मक है। जिसकी सिद्धि विवक्षाभेद से होती है। नय पक्ष यह विवक्षा भेद का ही पर्यायवाची है। इससे सामान्य विशेषरूप से उभयात्मक वस्तु की सिद्धि होती है क्योंकि वस्तु न केवल सामान्यात्मक ही है और न केवल विशेषात्मक ही। इसी से सत्ता को जहाँ सर्वपदार्थस्थिता आदि रूपा कहा है वहाँ उसे एकपदार्थस्थिता आदि रूपा भी बतलाया है।

प्रत्येक सत् सामान्य विशेषात्मक है उसमें किसी प्रकार भेद न करके जिस किसी द्रव्य को सामने रख कर सत् मात्र देखना महासत्ता है और उसे गुणपर्याय वाला, उत्पाद, व्यय, ध्रुव आदि भेदात्मक रूप देखना अवान्तर सत्ता है। अब कमाल यह है कि जब तक आप उसे सत् रूप से देख रहे थे तो यह आपको सारा का सारा सत् ही दीखता था और जब आप उसे जीव रूप से देखने लगे तो सारा का सारा जीव रूप दीखने लगा। इसी का नाम दो नय या सापेक्षता है। प्रदेश वही के वही हैं, स्वरूप वही का वही है। चीज़ एक की एक है पर वह स्वभाव से इस प्रकार की बनी हुई

है कि दोनों रूप दृष्टिगत होती है। सारी की सारी को चाहे जिस रूप से देख लो। इसे देखने का नाम ही विवक्षित मुख्य है और दूसरे रूप न देखने का नाम ही अविवक्षित या गौण है।

हमने एक बार एक चित्र देखा था वह एक ओर खड़े होकर सारा का सारा म. गांधी का चित्र दीखता था, दूसरी ओर खड़े होकर देखने से सारा का सारा वही चित्र पं. जवाहर लाल नेहरू का दीखता था। शायद आपने भी दीवाली वगैरह पर किसी शहर में किसी दुकान पर देखा हो। वह सामान्य विशेष को देखने का प्रत्यक्ष अच्छा दृष्टांत था।

अखण्ड एक सत् को सामान्य कहते हैं और सत् के अतिरिक्त जितना भी आगे भेदात्मक विचार-विमर्श है सब विशेष है। जैसे जीव यह विचार करना विशेष है। असंख्यात् प्रदेशी, अनन्त गुणों का पिण्ड, मनुष्य पर्याय रूप (शरीर नहीं आत्मा), यह सब विशेष सत् है । यहाँ तक एक प्रदेश या एक प्रदेश की ६ कोण में से एक कोण एक अविभाग प्रतिच्छेद एक समय की एक पर्याय आदि सब विशेष भेद है। प्रदेश सबके वही हैं। स्वरूप सबका वही है। केवल अपेक्षाकृत भेद है। इसी को विशेष स्पष्ट करने के लिये आचार्यों ने द्रव्य से सामान्य विशेष, क्षेत्र से सामान्य विशेष, काल से सामान्य विशेष और भाव से सामान्य विशेष समझाया है। इनसे यह पता चल जाता है कि अखण्ड सत् में आखिर कहाँ तक भेद कल्पना संभव है। जैसे प्रत्येक द्रव्य से, सामान्य विशेष यह है कि जैसे जीव में सत् यह सामान्य, जीव सत् यह द्रव्य से विशेष। देश यह क्षेत्र से सामान्य और असंख्यात प्रदेश यह क्षेत्र से विशेष। पर्याय यह काल से सामान्य और मनुष्य पर्याय यह काल से विशेष। गुण यह भाव से सामान्य, ज्ञान गुण ये भाव से विशेष। अब एक और ध्यान रखिये; द्रव्य में जिसको सत् कहा वह, क्षेत्र में जिसको देश कहा वह, काल में जिसको पर्याय कहा वह, भाव में जिसको गुण कहा वह–इनका वाच्य अर्थ एक ही अखण्ड सत् सामान्य है। चारों शब्दों का सत् अर्थ है और विशेष में चीज तो वही है, प्रदेश भी वही है, स्वरूप भी वही है केवल उसे देखने की दृष्टियां भिन्न-भिन्न हैं। क्या कहें वस्तु ही कुछ स्वयं सिद्ध ऐसी बनी हुई है। यही सत् और उसकी सपक्षता का भाव है जो श्लोक १५ से २२ तक निरूपित है। क्या कहें जहां तक शब्द की ओर हमारी सामर्थ्य थी वहाँ तक समझाने का प्रयत्न किया, विशेष तो गुरुगम अधीन है। गुरु कृपा बिना कभी कोई वस्तु को नहीं पाता। सम्यक्त्व भी देशनालब्धि बिना सद्गुरु प्रसाद के नहीं होता। विशेष स्पष्टता तो साक्षात् गुरु के सामने ही बैठकर समझी जा सकती है। आचार्यों ने छोटे-छोटे सूत्रों में इतना मर्म भर दिया है कि उन्हें हिन्दी के हजारों पन्नों में भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। प्रमाण के लिये देखिये २६३ से ३०८ तक ।

नोट–इस प्रकार वस्तु को सामान्य विशेषात्मक अखण्ड सिद्ध करके अब उस वस्तु के विस्तार क्रम (चौड़ाई का) वर्णन करते हैं।

द्रव्य के विष्कम्भ क्रम (चौड़ाई) का वर्णन २३ से ३७ तक ।

शंका

एकस्मिन्निह वस्तुन्यनादिनिधने च निर्विकल्पे च।
भेदनिदानं किं तद्येनैतज्जृम्भते वचस्त्विति चेत् ॥ २३ ॥

अर्थ–वस्तु एक है। वह अनादि है। अनन्त है और निर्विकल्प (अखण्ड) है ऐसी वस्तु में भेद का क्या कारण है जिस कारण से कि आप यह वचन कहते हैं कि सत् सपक्ष सहित है भेद सहित है (आपने पूर्व श्लोक नं. ८ में यह प्रतिज्ञा की थी कि वस्तु अनादि अनन्त निर्विकल्प एक है। फिर अब आप उसका सपक्ष बतलाकर भेद क्यों कर रहे हैं और बिना भेद के सपक्ष हो ही नहीं सकता। यदि भेद है तो आपकी निर्विकल्प अखण्डित की प्रतिज्ञा मिथ्या है। यदि अभेद है तो यह सपक्षपना मिथ्या है?)

भावार्थ–यहाँ पर यह प्रश्न है कि जब वस्तु अखण्ड द्रव्य है, तब सामान्य का प्रतिपक्ष विशेष, एक का प्रतिपक्ष अनेक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का प्रतिपक्ष प्रत्येक एक लक्षण, अनन्त पर्याय का प्रतिपक्ष एक पर्याय आदि जो बहुत-सी बातें कही गई हैं वे ऐसी हैं जो कि द्रव्य में खण्डपने को सिद्ध करती हैं। इसीलिये वह कौनसा कारण है जिससे द्रव्य में सामान्य, विशेष, एक, अनेक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि भेद सिद्ध हों ?

समाधान

अंशविभागः स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये ।
विष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवांगुलिवितस्तिहस्तादि ॥ २४ ॥

प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोऽप्यनन्ताश्च ।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्ययाख्यास्ते ॥ २५ ॥

पर्यायाणामेतद्धर्म यस्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥ २६ ॥

अर्थ– यद्यपि द्रव्य अखण्ड देश है और बड़ा भी है तथापि उसमें अंशों का विभाग कल्पित किया जाता है। जिस प्रकार आकाश में चौड़ाई के क्रम से एक अंगुल आकाश, एक विलस्त आकाश, एक हाथ आकाश आदि अंश विभाग किया जाता है, उसी प्रकार अखण्ड देशी महान द्रव्य में भी चौड़ाई के क्रम से पहला, दूसरा इत्यादि असंख्यात प्रदेश, उससे भी आगे अनन्त प्रदेश रूप अंश विभाग किया जाता है। जितने भी एक द्रव्य में निरंश (जिसका दूसरा अंश न हो सके, अविभागी) अंश हैं उतनी वे उस द्रव्य की द्रव्य पर्यायें समझनी चाहिये (अर्थात् एक द्रव्य की चौड़ाई समझने के लिये उसके अखण्ड देश में जो प्रदेश कल्पना है वे द्रव्य पर्यायें कहलाती हैं) प्रत्येक अंश को ही द्रव्य पर्याय कहते हैं क्योंकि द्रव्य में जो अंशों की कल्पना की जाती है, वही पर्यायों का स्वरूप है। इसलिये यह सब अंश कल्पना निर्दोष है और प्रमाण से भी सुव्यवस्थित है।

भावार्थ– समाधान करते हैं कि भेद दो प्रकार से होता है एक तो ऐसा जैसे लकड़ी के दो टुकड़े, यह तो खण्ड रूप भेद है। दूसरा ऐसे जैसे एक अखण्ड धोती* में दस गज का भेद करना। दस गज की धोती कहने से कहीं दस टुकड़े नहीं हो गये किन्तु दस गज कहे विना वह धोती कितनी वड़ी है इसका परिज्ञान नहीं होता। सो यहाँ अखण्ड धोती का परिज्ञान कराने के लिये दस गज का भेद किया है। इससे अखण्ड धोती की प्रतिज्ञा भंग नहीं होती। इस प्रकार भाई यहाँ सपक्ष कहने से जैसा तू खण्ड भेद समझ गया है वह वात नहीं है किन्तु वस्तु तो प्रतिज्ञा अनुसार निर्विकल्प (अखण्ड) ही है केवल उस अखण्ड का परिज्ञान कराने के लिये विधिपूर्वक खण्ड किया जाता है। जैसे आकाश त्रिकाल एक अखण्ड वड़ी भारी वस्तु है। किन्तु जगत में एक अंगुल जगह, एक हाथ जगह (आकाश) ऐसा भेद किया जाता है। ठीक इस प्रकार हमारा तत्त्व तो अखण्डित ही है किन्तु तुझे वोध कराने के लिए भेद करते हैं।

अव अखण्ड वस्तु में वह भेद दो प्रकार से होता है जैसे धोती में एक चौड़ाई का भेद जैसे ४५ इन्च। एक लम्बाई का भेद जैसे दस गज । तव धोती का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार वस्तु में एक चौड़ाई की अपेक्षा भेद है। यह भेद प्रदेशों से किया जाता है जैसे एक प्रदेश, असंख्यात प्रदेश, अनन्त प्रदेश। दूसरा भेद वस्तु में लम्बाई की अपेक्षा है, वह परिणमन की अपेक्षा किया जाता है। दोनों प्रकार का भेद वास्तविक रूप से समझने पर ही निर्विकल्प (अखण्डित) अनादि अनन्त एक वस्तु ख्याल में आ सकती है।

सो पहले प्रदेशों (चौड़ाई) की अपेक्षा भेद का निरूपण श्लोक २५ से ३७ तक करेंगे और फिर परिणमन (लम्बाई) रूप भेद की अपेक्षा निरूपण ३८ से ६३ तक करेंगे। सो भाई यह भेद का निरूपण होते हुए भी तू अभेद वस्तु को पकड़। भेद-भेद में अटकाने के लिये नहीं किया गया है किन्तु भेद तो अभेद में लाने के लिए किया गया है। भेद में राग-वंध-व्यवहार-संसार है और अभेद में वीतरागता, मोक्षमार्ग निश्चय है। अभेद वस्तु के अनुभव कराने के लिए ही भेद का निरूपण ज्ञानियों ने किया है भेद में अटकने के लिये नहीं किया है। यह भेद केवल व्यवहार से है। निश्चय से तो वस्तु अभेद है। यद्यपि प्रमाण दृष्टि से वस्तु भेदा-भेदात्मक है तो भी मोक्षमार्ग का विषय अभेद अनुभव ही है। सम्यक्त्व का विषय अभेद ही है। कथन भी अभेद की मुख्यता से चल रहा है।

---

* यह धोती का मोटा दृष्टान्त केवल समझाने को दिया है क्योंकि धोती का टुकड़ा हो सकता है पर वस्तु का नहीं। वास्तव में आकाश का ही दृष्टान्त ठीक है।

इस पर भी शिष्य को सन्तोष नहीं हुआ। वह पुनः कहता है कि जब यह भेद काल्पनिक ही है तो इसकी आवश्यकता ही क्या है ?

शंका

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि।
को दोषो यद्भीतेरियं व्यवस्थैव साधुरस्त्विति चेत् ॥ २७ ॥

अर्थ–(आपकी श्लोक नं. ८ में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार) इस प्रदेश रूप अंश कल्पना के बिना केवल एक अखण्ड निर्विकल्प द्रव्य को ही भले प्रकार देखने वाले के क्या दोष हैं कि जिस (दोष) के भय से यह देशांश की व्यवस्था ही ठीक है यदि तुम्हारी ऐसी आशंका है तो –

समाधान २८-२९-३०

देशाभावे नियमात्सत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत ।
देशांशाभावेऽपि च सर्वं स्यादेकदेशमात्रं वा ॥ २८ ॥

अर्थ– यदि देश ही न माना जाय (प्रदेश ही न माने जावें) तो नियम से द्रव्य की सत्ता का ही निश्चय नहीं हो सकेगा और देशांशों के न मानने पर सब द्रव्य मात्र एक-एक प्रदेशी होंगे।

भावार्थ–देश के मानने से द्रव्य है ऐसा परिज्ञान होता है। देशांशों के मानने से द्रव्य की इयत्ता (परिमाण) का ज्ञान होता है। जितने जिस द्रव्य के अंश होते हैं वह द्रव्य उतना ही बड़ा समझा जाता है। यदि देश के अंशों (विस्तार क्रम) की कल्पना न की जाय तो सभी द्रव्य समान समझे जावेंगे। अंश विभाग न होने से सब ही का एक ही अंश (एक प्रदेश) समझा जायेगा।

तत्रासत्त्वे वस्तुनि न श्रेयस्तस्य साधकाभावात् ।
एवं चैकांशत्वे महतो व्योम्नोऽप्रतीयमानत्वात् ॥ २९ ॥

अर्थ– वस्तु को असत् (अभाव) रूप स्वीकार करना ठीक नहीं है क्योंकि वस्तु असत् स्वरूप सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार (वस्तु में अंश भेद न मानने से अर्थात्) एक प्रदेशी वस्तु मानने से आकाश की महानता का ज्ञान नहीं हो सकेगा। वह एक प्रदेश मात्र हो जायेगा।

भावार्थ–वस्तु में जब अंशों की कल्पना की जाती है तब तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिस वस्तु के जितने अधिक अंश हैं वह उतनी ही बड़ी है। जिसके जितने कम अंश हैं वह उतनी ही छोटी है। आकाश के सब वस्तुओं से अधिक अंश हैं इसलिये वह सबसे महान ठहरता है। यदि देशांशों की कल्पना को उठा दिया जाये तो छोटे-बड़े का भेद भी उठ जायगा।

किं चैतदंशकल्पनमपि फलवत्स्याद्यतोऽनुमीयेत ।
कायत्वमाकायत्वं द्रव्याणामिह महत्त्वममहत्त्वम् ॥ ३० ॥

अर्थ–तथा अंश कल्पना से यह भी फल होता है कि उससे द्रव्यों में कायत्व और अकायत्व का अनुमान कर लिया जाता है जैसे – आत्मा और काल । इसी प्रकार छोटे और बड़े का भी अनुमान कर लिया जाता है जैसे– आत्मा और आकाश।

भावार्थ–जिन द्रव्यों में बहुत प्रदेश होते हैं वे अस्तिकाय समझे जाते हैं और जिनमें केवल एक ही प्रदेश होता है वह अस्तिकाय नहीं समझा जाता। बहुप्रदेश और एकप्रदेश का ज्ञान तभी हो सकता है जब कि उस द्रव्य के प्रदेशों (अंशों) की जुदी-जुदी कल्पना की जाय। बिना जुदी-जुदी कल्पना किये प्रदेशों की न्यूनाधिकता का बोध भी नहीं हो सकता और बिना न्यूनाधिकता का बोध हुये द्रव्यों में कौन द्रव्य छोटा है और कौन बड़ा है यह परिज्ञान भी नहीं हो सकता। इसलिये ये अंशों की कल्पना सफल है।

शंका

भवतु विवक्षितमेतन्ननु यावन्तो निरंशदेशांशाः ।
तल्लक्षणयोगादप्यणुवद्द्रव्याणि सन्तु तावन्ति ॥ ३१ ॥

अर्थ–शंकाकार कहता है कि यह आपकी विवक्षा रहो अर्थात् आप जो द्रव्य में निरंश अंशों की कल्पना करते हो वह करो। परन्तु जितने भी निरंश देशांश हैं उन्हीं को एक-एक द्रव्य समझो। जिस प्रकार परमाणु एक द्रव्य है उसी प्रकार एक द्रव्य में जितने निरंश देशांशों की कल्पना की जाती है उनको उतने ही द्रव्य समझना चाहिये, न कि एक द्रव्य मानकर उसके अंश समझो। द्रव्य का लक्षण उन प्रत्येक अंशों में जाता ही है।

भावार्थ–गुण समुदाय ही द्रव्य कहलाता है। वह द्रव्य का लक्षण द्रव्य के प्रत्येक देशांश में मौजूद है इसलिये जितने भी देशांश हैं उतने ही उन्हें द्रव्य समझना चाहिये।

समाधान ३२ से ३७ तक

नैवं यतो विशेषः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः ।
खण्डैकदेशवस्तुन्यखण्डितानेकदेशे च ॥ ३२ ॥

अर्थ–उक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि खण्ड स्वरूप एकदेश वस्तु मानने से और अखण्ड स्वरूप अनेक देश वस्तु मानने से गुण परिणमन में बड़ा भारी भेद पड़ता है, यह बात प्रत्यक्ष है।

भावार्थ–यदि शंकाकार के कहने के अनुसार देशांशों को ही द्रव्य माना जावे तो द्रव्य एक देश वाला खण्ड-खण्ड रूप होगा। अखण्ड रूप अनेक प्रदेशी नहीं ठहरेगा। खण्ड रूप एक प्रदेशी मानने में क्या दोष आता है सो आगे लिखा जाता है:-

प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य ।
एकत्र तत्र देशे भवितुं शीलो न सर्वदेशेषु ॥ ३३ ॥

अर्थ–पहला पक्ष स्वीकार करने से अर्थात् खण्डरूप एक प्रदेशी द्रव्य मानने से उसका जो गुणों का परिणमन होगा वह सम्पूर्ण वस्तु में न होकर उसके एक ही देशांश में होगा। (क्योंकि शंकाकार एक देशांश रूप ही वस्तु को समझता है। इसलिये उसके कथनानुसार गुणों का परिणमन एक देश में ही होगा।)

तदसत्प्रमाणबाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः ।
देहैकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥ ३४ ॥

अर्थ–गुणों का परिणमन एक देश में होता है यह बात प्रत्यक्ष बाधित है। जिसमें प्रमाण-बाधा आवे वह पक्ष किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता। इन्द्रियजन्य ज्ञान से यह बात सिद्ध है कि शरीर के एक देश में स्पर्श होने से सम्पूर्ण देशों में रोमाञ्च हो जाता है।

भावार्थ–शरीर प्रमाण आत्म द्रव्य है इसलिये शरीर के एक देश में स्पर्श होने से सम्पूर्ण में रोमाञ्च होते हैं अथवा शरीर के एक देश में चोट लगने से सम्पूर्ण में वेदना होती है। यदि शंकाकार के कथनानुसार आत्मा का एक-एक अंश (प्रदेश) ही एक-एक आत्म द्रव्य समझा जाय तो एक देश में चोट लगने से सब में पीड़ा नहीं होनी चाहिये, जिस देश में कष्ट पहुँचा है उसी देश में पीड़ा होनी चाहिये परन्तु होता इसके सर्वथा प्रतिकूल है अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में एक आत्मा होने से सम्पूर्ण में ही वेदना होती है। इसलिए खण्डरूप एक देश स्वरूप वस्तु नहीं है किन्तु अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी है।

प्रथमेतरपक्षे खलु यः परिणामः स सर्वदेशेषु ।
एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥ ३५ ॥

अर्थ–दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् अनेक प्रदेशी-अखण्ड रूप, द्रव्य मानने पर जो गुणात्मक परिणमन होगा वह सर्व देश में (सम्पूर्ण वस्तु में) होगा। यह ठीक है क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक बेंत को एक तरफ से हिलाने से सारा बेंत हिल जाता है।

भावार्थ–बेंत का दृष्टान्त मोटा है। इसलिये ग्राह्य अंश (एक देश) लेना चाहिये। बेंत यद्यपि बहुत से परमाणुओं का समूह है तथापि स्थूल दृष्टि से वह एक ही द्रव्य समझा जाता है। इसी अंश में उसका दृष्टान्त दिया गया है। बेंत अखण्ड रूप वस्तु है इसलिए एक प्रदेश को हिलाने से उसके सम्पूर्ण प्रदेश हिल जाते हैं। यदि अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी उसे न मानकर उसके एक-एक प्रदेश को जुदा-जुदा द्रव्य समझा जाय तो जिस देश में बेंत को हिलाया जावे उसी देश में उसको हिलना चाहिये, सब देश में नहीं परन्तु, यह प्रत्यक्ष बाधित है। इसलिये वस्तु अनेक देशांशों का अखण्ड पिण्ड है।

एकप्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात्खण्डवर्जितः स यथा।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यथा स्वतः सिद्धः ॥ ३६ ॥

अर्थ–(इस प्रकार यद्यपि अखण्डित अनेक देश वस्तु का समर्थन हो जाता है तो भी सब वस्तुयें ऐसी नहीं हैं किन्तु कोई-कोई द्रव्य एक प्रदेशवाला भी है और वह खण्ड रहित है (अर्थात् अखण्ड एक प्रदेशी भी कोई द्रव्य है) जैसे पुद्गल का शुद्ध परमाणु और कालाणु। ये स्वतःसिद्ध ही एक-एक प्रदेशवाले द्रव्य हैं। खण्ड होकर एक प्रदेशी नहीं हुये हैं।

न स्याद्द्रव्यं क्वचिदपि बहुप्रदेशेषु खण्डितो देशः।
तदपि द्रव्यमिति स्यादखण्डितानेकदेशमदः ॥ ३७ ॥

अर्थ–इससे ज्ञात होता है कि कहीं भी बहुत प्रदेशों को खण्डित करके एक अंश रूप द्रव्य नहीं हो सकता है क्योंकि सर्वत्र "यह भी वही द्रव्य है"। इस प्रकार का प्रत्यय होने से द्रव्य अखण्डित अनेक प्रदेश वाला सिद्ध होता है।

नोट– द्रव्य के अखण्डित शरीर को देश कहते हैं और उसकी काल्पनिक देशांश कल्पना को प्रदेश कहते हैं। यह तो वास्तविक अर्थ है पर संस्कृत भाषा में कहीं-कहीं पर देश के लिये प्रदेश भी प्रयोग कर देते हैं और प्रदेशों के लिये देश तो बहुत प्रयोग कर लेते हैं। सो अर्थ समझते समय यह ध्यान रखने की आवश्यकता है। भूल न हो जाये।

२३ से ३७ तक का सार

उक्त विवेचन से दो बातें निष्पन्न होती हैं–

(१) या तो द्रव्य अखण्डित अनेक प्रदेशवाले हैं।

(२) या अखंडित एक देशवाले हैं।

(१) अखण्डित अनेक देशवाला द्रव्य तो इसलिये है कि द्रव्य के किसी एक भाग में गुण परिणमन होने पर उसका परिणमन समस्त द्रव्य में देखा जाता है।

(२) तथा अखण्डित एक देशवाला द्रव्य इसलिये है कि जैसे द्वि-अणुक आदि स्कंधों का विभाग किया जा सकता है वैसे अणु का विभाग करना संभव नहीं है।

(१) अखण्डित अनेक देशवाले द्रव्य चार हैं– जीव, धर्म, अधर्म और आकाश।

(२) अखण्डित एक देशवाले द्रव्य दो हैं– पुद्गलाणु और कालाणु।

नोट–स्कंध को जो अनेक प्रदेशी कहा जाता है वह औपचारिक कथन है। शुद्ध आदेश में उपचार का ग्रहण नहीं होता।

नोट–श्लोक २३ से यहाँ तक देशांश का–विस्तार क्रम का अर्थात् द्रव्य की चौड़ाई का निरूपण हुआ। अब लम्बाई का वर्णन करते हैं–

द्रव्य के ऊर्ध्व क्रम (लम्बाई) का वर्णन ३८ से ६३ तक

अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः।
अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ॥ ३८ ॥

अर्थ–ऊपर जिन देशांशों (प्रदेशों) का वर्णन किया गया है वे देशांश गुण सहित हैं। गुण सहित उन्हीं देशांशों की द्रव्य संज्ञा है। उन देशांशों में रहनेवाले जितने विशेष हैं उन सबकी गुण संज्ञा है।

भावार्थ–द्रव्य अनन्त गुणों का समूह है। इसलिये जितने भी द्रव्य के प्रदेश हैं सब में अनन्त गुणों का अंश है। उन गुणों सहित जो प्रदेश हैं उन्हीं की मिलकर द्रव्य संज्ञा है। गुणों की विशेष संज्ञा है।

तेषामात्मा देशो नहि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः ।
नहि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः ॥ ३६ ॥

अर्थ–उन गुणों का आत्मा (समूह) ही देश (अखण्ड-द्रव्य) है। वे गुण देश से भिन्न अपनी सत्ता नहीं रखते हैं और ऐसा भी नहीं कह सकते कि देश में गुण (विशेष) रहते हैं किन्तु उन विशेषों (गुणों) के मेल से ही वह देश कहलाता है।

भावार्थ–नैयायिक दर्शनवाले गुणों की सत्ता भिन्न मानते हैं और द्रव्य की सत्ता भिन्न मानते हैं। द्रव्य को गुणों का आधार बतलाते हैं परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं मानता किन्तु उन गुणों के समूह को ही देश मानता है और उन गुणों की द्रव्य से भिन्न सत्ता भी नहीं स्वीकार करता है। ऐसा भी नहीं है कि द्रव्य आधार है और गुण आधेय रूप से द्रव्य में रहते हैं, किन्तु उन गुणों के समुदाय से ही यह पिण्ड द्रव्य संज्ञा पाता है।

अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः ।
नहि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः ॥ ४० ॥

अर्थ–गुण और गुणी में अभेद है, इसी विषय में तन्तु (डोरे) का दृष्टांत है। शुक्ल गुण आदि का शरीर ही तन्तु है (शुक्लादि गुणों को छोड़कर और कोई वस्तु तन्तु नहीं है) और न ऐसा ही कहा जा सकता है कि तन्तु में शुक्लादि गुण रहते हैं किन्तु शुक्लादि गुणों के एकत्रित होने से ही वह तन्तु बना है।

भावार्थ–शुक्लादि गुणों का समूह ही डोरा कहलाता है। जिस प्रकार डोरा और सफेदी अभिन्न है उसी प्रकार द्रव्य और गुण भी अभिन्न हैं। जिस प्रकार डोरा, सफेदी आदि से पृथक् वस्तु नहीं है उसी प्रकार द्रव्य भी गुणों से पृथक् चीज़ नहीं है।

शंका

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च ।
तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा ॥ ४१ ॥

अर्थ–यदि देश को भिन्न समझा जाय और देश के आश्रित रहने वाले विशेषों को भिन्न समझा जाय तथा उन सब के संयोग से द्रव्य कहलाने लगे। जिस प्रकार पुरुष भिन्न है, दण्ड (डंडा) भिन्न है, दोनों के संयोग से दण्डी कहलाने लगता है तो क्या हानि है?

समाधान ४२ से ४५ तक

नैवं हि सर्वसङ्करदोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥ ४२ ॥

अर्थ–उपर्युक्त आशंका ठीक नहीं है। देश को भिन्न और गुणों को देशाश्रित भिन्न स्वीकार करने से सर्व संकर दोष आवेगा। यह बात सुघटित दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्ध है। गुणों को भिन्न मानने से क्या चेतना गुण के सम्बन्ध से अचेतन पदार्थ चेतन (जीव) नहीं हो जायेगा ?

भावार्थ–जब गुणों को द्रव्य से पृथक् स्वीकार किया जायेगा तो ऐसी अवस्था में गुण स्वतन्त्र होकर कभी किसी से और कभी किसी से सम्बन्धित हो सकते हैं। चेतना गुण को यदि जीव का गुण न मान कर एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय तो वह जिस प्रकार जीव में रहता है उसी प्रकार कभी अजीव (जड़) पदार्थ में भी रह जायगा। उस अवस्था में अजीव भी जीव कहलाने लगेगा। फिर पदार्थों का नियम ही नहीं रह सकेगा। कोई पदार्थ किसी रूप हो जायगा। इसलिये से गुणों को भिन्न सत्ता वाला मानना सर्वथा मिथ्या है।

अथवा बिना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत ।
अपि चान्तरेण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते च कथम् ॥ ४३ ॥

अर्थ– दूसरी बात यह भी है कि बिना गुणों के द्रव्य के प्रदेशों की सत्ता ही नहीं जानी जा सकती और बिना प्रदेशों के गुण भी नहीं जाने जा सकते।

भावार्थ–गुण समूह ही प्रदेश हैं। बिना समुदाय के समुदायी नहीं रह सकता और बिना समुदायी के समुदाय नहीं रह सकता, दोनों के बिना एक भी नहीं रह सकता अथवा शब्दान्तर में ऐसा कहना चाहिये कि दोनों एक ही बात हैं।

अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेऽपि ॥
कथमिव गुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥ ४४ ॥

अर्थ–यदि हठपूर्वक बिना किसी हेतु के गुण और गुणी भिन्न-भिन्न सत्ता वाले ही माने जावें तो ऐसी अवस्था में दोनों की सत्ता समान होगी। सत्ता की समानता में "यह गुण है और यह गुणी है" यह कैसे जाना जा सकता है ?

भावार्थ–जब गुण समुदाय को द्रव्य कहा जाता है तब तो समुदाय को गुणी और समुदायी को गुण कहते हैं परन्तु गुण और गुणी को भिन्न मानने पर दोनों ही समान होंगे। उस समानता में किस को गुण कहा जाय और किसको गुणी कहा जाय ? गुण-गुणी का अन्तर ही नहीं प्रतीत होगा।

तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते ।
गुणसंज्ञकाः कथंचित्परिणतिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥ ४५ ॥

अर्थ–इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि देश-विशेष ही गुण कहलाते हैं। गुणों में गुण नहीं रहते हैं। वे गुण प्रतिक्षण परिणमनशील हैं (परन्तु सर्वथा विनाशी नहीं हैं।)

शंका

एकत्वं गुणगुणिनोः साध्यं हेतोस्तयोरनन्यत्वात् ।
तदपि द्वैतमिव स्यात् किं तत्र निबन्धनं त्वितिचेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ–गुण, गुणी दोनों ही एक हैं क्योंकि वे दोनों ही भिन्न सत्ता वाले नहीं हैं। यहाँ पर अभिन्न सत्ता रूप हेतु से गुण-गुणी में एकपना सिद्ध किया जाता है, फिर भी क्या कारण है कि अखण्ड पिण्ड होने पर भी द्रव्य में द्वैतभावसा प्रतीत होता है ?

समाधान ४७ से ६३ तक

यत्किञ्चिदस्ति वस्तु स्वतः स्वभावे स्थितं स्वभावश्च ।
अविनाभावी नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥ ४७ ॥

अर्थ–जो कोई भी वस्तु है वह अपने स्वभाव (गुण-स्वरूप) में स्थित है और वह स्वभाव भी निश्चय से उस स्वभावी (वस्तु) से अविनाभावी-अभिन्न है परन्तु विवक्षा वश भिन्न समझा जाता है।

भावार्थ– यद्यपि स्वभाव, स्वभावी दोनों ही अभिन्न हैं तथापि अपेक्षा कथन से स्वभाव और स्वभावी में भेद समझा जाता है, वास्तव में भेद नहीं है।

शक्तिर्लक्ष्मविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृति : शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ ४८ ॥

अर्थ–शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति – ये सभी शब्द एक अर्थ के कहने वाले हैं (सभी नाम गुण के हैं।)

देशस्यका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ॥ ४९ ॥

अर्थ–देश की कोई भी एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप नहीं होती। इसी प्रकार क्रम से प्रत्येक शक्ति के विषय में विचार करने पर भिन्न-भिन्न अनन्त शक्तियां स्पष्ट प्रतीत होती हैं।

भावार्थ–द्रव्य में अनन्त शक्तियां हैं। वे सभी एक-दूसरे से भिन्न हैं। एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप कभी नहीं होती।

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णो युगपद्यथा रसालफले ।
प्रतिनियतेन्द्रियगोचर चारित्वात्ते भवन्त्यनेकेऽपि ॥ ५० ॥

अर्थ–जिस प्रकार आम के फल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चारों ही एक साथ पाये जाते हैं। वे चारों ही गुण भिन्न-भिन्न नियत इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं इसलिये वे अनेक हैं।

भावार्थ–आम के फल में जो स्पर्श है उसका ज्ञान स्पर्शन-इन्द्रिय से होता है। रस का ज्ञान रसना-इन्द्रिय से होता है। गंध का ज्ञान नासिका से होता है। रूप का ज्ञान चक्षु से होता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के विषय होने से वे चारों ही गुण भिन्न हैं। इसी प्रकार सभी गुणों के कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये सभी गुण भिन्न-भिन्न हैं।

तदुदाहरणं चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैकः ।
तन्न ज्ञानं न सुखं चारित्रं वा न कश्चिदितरश्च ॥ ५१ ॥

अर्थ–सभी गुण पृथक-पृथक हैं। इस विषय में यह उदाहरण है – जैसे जीव द्रव्य में जो एक दर्शन नामा गुण है, वह ज्ञान नहीं हो सकता, न सुख हो सकता है, न चारित्र हो सकता है अथवा और भी किसी गुण स्वरूप नहीं हो सकता। दर्शन गुण सदा दर्शन रूप ही रहेगा।

एवं यः कोऽपि गुणः सोऽपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा ।
स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्चशक्तयोऽनन्ताः ॥ ५२ ॥

अर्थ–इसी प्रकार जो कोई भी गुण है वह दूसरे गुण रूप नहीं हो सकता। इसलिये द्रव्य की अनन्त शक्तियाँ परस्पर भिन्नता को लिये हुये भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा स्वयं उदित हो रही हैं।

तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशाः ।
तरतमभागविशेषैरंशच्छेदैः प्रतीयमानत्वात् ॥ ५३ ॥

अर्थ–उक्त शक्तियों में से प्रत्येक शक्ति के अनन्त निरंश अंश होते हैं। हीनाधिक विशेष भेद से उन अंशों का परिज्ञान होता है।

दृष्टान्तः सुगमोऽयं शुक्लं वासस्ततोऽपि शुक्लतरम् ।
शुक्लतमं च ततः स्यादंशाश्चैते गुणस्य शुक्लस्य ॥ ५४ ॥

अर्थ–एक सफेद कपड़े का सुगम दृष्टान्त है। कोई कपड़ा कम सफेद होता है, कोई उससे अधिक सफेद होता है और कोई उससे भी अधिक सफेद होता है। ये सब सफेदी के ही भेद हैं [इस प्रकार की तरतमता (हीनाधिकता) अनेक प्रकार हो सकती है। इसलिये शुक्ल गुण के अनेक (अनन्त) अंश कल्पित किये जाते हैं।] (वास्तव में सफेदी पर्याय है। यहाँ दृष्टांत में गुण रूप से स्वीकार की है)।

अथवा ज्ञानं यावज्जीवस्यैको गुणोऽप्यखण्डोऽपि ।
सर्वजघन्यनिरंशच्छेदैरिव खण्डितोऽप्यनेकः स्यात् ॥ ५५ ॥

अर्थ– दूसरा दृष्टांत जीव के ज्ञान गुण का स्पष्ट है। जीव का ज्ञान गुण यद्यपि एक है और वह अखण्ड भी है तथापि सबसे जघन्य अंशों के भेद से खण्डित सरीखा अनेक रूप प्रतीत होता है।

भावार्थ–सूक्ष्म निगोदिया लब्धि-अपर्याप्तक जीव का अक्षर के अनन्तवें भाग जघन्य ज्ञान है। उस ज्ञान में भी अनन्त अंश (अविभाग प्रतिच्छेद) हैं उसी निगोदिया की ऊपर की उत्तरोत्तर अवस्थाओं में थोड़ी-थोड़ी ज्ञान की वृद्धि हो जाती है। द्वीन्द्रिय आदिक त्रस पर्याय में और भी वृद्धि होती है। बढ़ते-बढ़ते उस जीव का ज्ञान गुण इतना विशाल हो जाता है कि चराचर जगत की प्रतिक्षण में होनेवाली सभी पर्यायों को एक साथ ही स्पष्टता से जानने लगता है। विचारशील अनुभव कर सकते हैं कि एक ही ज्ञान गुण में जघन्य अवस्था से लेकर कहाँ तक वृद्धि होती है। बस यही

क्रम से होनेवाला वृद्धिभेद सिद्ध करता है कि ज्ञान गुण के बहुत से अंश हैं जो कि हीनाधिक रूप से प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक गुण के अंश अनन्त हैं। इन्हीं का नाम अविभाग प्रतिच्छेद है।

देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद्गुणांशस्य ।
विष्कम्भस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभागः ॥ ५६ ॥

अर्थ–जिस प्रकार देश के छेद (देशांश) होते हैं उस प्रकार गुणों के छेद नहीं होते। देश के छेद विष्कंभ (विस्तार-चौड़ाई) क्रम से होते हैं क्योंकि देश एक मोटा पदार्थ है। गुण इस प्रकार का नहीं है और न उसके छेद ही ऐसे होते हैं किन्तु तरतम रूप से होते हैं।

भावार्थ–देश के छेद तो भिन्न-भिन्न प्रदेश स्वरूप होते हैं परन्तु गुण के छेद सर्व प्रदेशों में व्यापक रहते हैं। वे हीनाधिक रूप से होते हैं।

तीन श्लोक इकट्ठे ५७-५८-५९

क्रमोपदेशश्चायं प्रवाहरूपा गुणाः स्वभावेन ।
अर्धछेदेन पुनश्छेतव्योऽपि च तदर्धछेदेन ॥ ५७ ॥

अर्थ–इस विभाग क्रम का उपदेश इस प्रकार है। गुण स्वभाव से प्रवाह रूप है। उसे अच्छेद रूप से छेदना चाहिये और इस प्रकार जो एक अर्ध भाग प्राप्त हो, उसे पुनः अच्छेद रूप से छेदना चाहिये।

एवं भूयो भूयस्तदर्धछेदैस्तदर्धछेदैश्च ।
यावच्छेत्तुमशक्यो यः कोऽपि निरंशको गुणांशः स्यात् ॥ ५८ ॥

अर्थ–इस प्रकार पुनः-पुनः उत्तरोत्तर प्राप्त हुये अर्धछेदों द्वारा तब तक विभाजित करते जाना चाहिये जब तक कि वह फिर से छेदा न जा सके और इस प्रकार जो कोई भी निरंश गुणांश प्राप्त होता है।

तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते।
तेषामात्मा गुण इति नहि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकाः ॥ ५९ ॥

अर्थ–उस गुणांश से गिनती करने पर वे सब गुणांश अनन्त होते हैं। उन्हीं अंशों का आत्मा गुण कहलाता है। गुणों के अंश गुण से भिन्न सत्ता नहीं रखते (किन्तु उन अंशों का समूह ही एक सत्तात्मक गुण कहलाता है)।

अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदच्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ॥ ६० ॥

अर्थ–अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भंग ये सब शब्द एक अर्थ के वाचक हैं (सबों का अर्थ 'पर्याय' है)।

सन्ति गुणांशाइति ये गुणपर्यायास्ते एव नाम्नापि ।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात् ॥ ६१ ॥

अर्थ–जितने भी गुणांश हैं वे ही गुण पर्याय कहलाते हैं। यह बात अविरुद्ध सिद्ध है क्योंकि अंश स्वरूप ही पर्यायें होती हैं।

गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥ ६२ ॥

अर्थ–कितने ही बुद्धिधारी गुणपर्यायों का दूसरा नाम भी कहते हैं। गुण और अर्थ ये दोनों ही एक अर्थवाले हैं। इसलिये गुण-पर्यायों को अर्थपर्याय भी कहते हैं।

अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि।
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ॥ ६३ ॥

अर्थ–देशांशों के द्वारा जिन द्रव्य पर्यायों का ऊपर निरूपण किया जा चुका है उन द्रव्य पर्यायों को कितने ही बुद्धिशाली व्यञ्जन पर्याय इस नाम से पुकारते हैं।

नोट– ३८ से यहाँ तक गुण और उनके परिणमन का विवेचन हुआ अर्थात् द्रव्य की लम्बाई का कथन हुआ। द्रव्य की चौड़ाई का निरूपण पहले २५ से ३७ तक किया था। लम्बाई का अब कर दिया। इस प्रकार श्लोक नं. ८ में कहे हुये अखण्ड द्रव्य का परिज्ञान कराया।

अगली भूमिका

पहले ८ से १४ तक अखण्ड सत् का निरूपण किया, फिर १५ से २२ तक उसे सामान्यविशेषात्मक सिद्ध किया। फिर २३ से ३७ तक उसकी चौड़ाई बतलाई, फिर ३८ से ६३ तक उसकी लम्बाई बतलाई इस प्रकार अखण्ड सत् का परिज्ञान कराया। अब यह समझाते हैं कि एक दृष्टि से वह सत् सदा अवस्थित-ज्यों का त्यों रहता है और दूसरी दृष्टि से वह सत् अनवस्थित है प्रति समय का सत् हीनाधिक रूप भिन्न-भिन्न है। जैसे एक दृष्टि से एक ही जीव की सिद्ध और संसार पर्याय में वह सत् वही का वही वैसा का वैसा ही है यह अवस्थित दृष्टि-द्रव्य दृष्टि है और एक दृष्टि से संसारी सिद्ध में जमीन आसमान का अन्तर है यह अनवस्थित दृष्टि-पर्याय दृष्टि है। इसका वर्णन ६४ से ७० तक करेंगे।

वस्तु के अवस्थित-अनवस्थितपने का वर्णन ६४ से ७० तक

शंका

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणन्यायात् ।
एकेनैव कृतं यत् स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥ ६४ ॥

अर्थ–ऊपर जितना भी कहा गया है सभी पिष्ट पेषण है अर्थात् पीसे हुये को पीसा गया है। एक के कहने से ही काम चल जाता है। या तो द्रव्य ही कहना चाहिये अथवा पर्याय ही कहना चाहिये । द्रव्य और पर्याय को जुदा-जुदा कहना निष्फल है।

भावार्थ–शंकाकार का कहना है कि द्रव्य के अंशों को ही तो पर्याय कहते हैं। फिर द्रव्य भी कहना, पर्याय भी कहना यह व्यर्थ नहीं तो और क्या है ? एक से ही काम चल जायेगा। चाहे द्रव्य कहो या पर्याय कहो ?

समाधान ६५ से ६७ तक

तन्नैवं फलवत्त्वाद् द्रव्यादेशादवस्थितं वस्तु ।
पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतत्त्वात् ॥ ६५ ॥

अर्थ–ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है। द्रव्य और पर्याय दोनों का ही निरूपण आवश्यक सार्थक सफल सप्रयोजन है। द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु अवस्थित रूप से और पर्याय की अपेक्षा से वस्तु अनवस्थित रूप से अनुभव में आती है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से कथन करना सार्थक है।

भावार्थ–द्रव्य और पर्यायों का मानना इसलिये सार्थक है कि सामान्यपने से द्रव्यार्थिक नय से–सत् अवस्थित–सदैव एक सा –प्रतीत होता है। पर्यायार्थिक नय से प्रत्येक सत् में तरतमरूप से विशेषता प्रतीत होती है।

पुनः भावार्थ–द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य (गुण) है। इस अपेक्षा से वस्तु त्रिकाल एक रूप है।

पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय (गुणांश) है। इस अपेक्षा से वस्तु प्रत्येक समय एक जैसी नहीं है। यह तुझे द्रव्य (गुण) और पर्याय (गुणांश) समझाने का प्रयोजन है। ये दोनों मानने से ही वस्तु द्रव्यार्थिक नय से अवस्थित और पर्यायार्थिक नय से अनवस्थित बनेगी, अन्यथा नहीं।

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥ ६६ ॥

अर्थ–जिस प्रकार शुक्लादि अनन्त गुणों का समूह वस्त्र अपनी अवस्थाओं को प्रतिक्षण बदलता रहता है। अवस्थाओं के बदलने पर भी शुक्लादि गुण ज्यों के त्यों रहते हैं। इसलिये तो वह वस्त्र अवस्थित है। साथ ही शुक्लादि गुणों के तरतम रूप अंशों की अपेक्षा से अनवस्थित भी है।

भावार्थ–वस्त्र द्रव्य दृष्टि से अवस्थित है और पर्याय दृष्टि से अनवस्थित है।

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणात्वादवस्थितोऽपि यथा।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य बोधस्य ॥ ६७ ॥

अर्थ–आत्मा में ज्ञान गुण सदा एकरूप रहता है। यदि ज्ञान गुण का आत्मा में अभाव हो जाय तो उस समय आत्मत्व ही नष्ट हो जाय। इसलिये उस गुण की अपेक्षा से तो आत्मा अवस्थित है परन्तु उस गुण के निमित्त से आत्मा का परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है, कभी ज्ञान गुण के अधिक अंश व्यक्त हो जाते हैं और कभी कम अंश प्रकट हो जाते हैं। उस ज्ञान में सदा हीनाधिकता (संसारावस्था में) होती रहती है। इस हीनाधिकता के कारण आत्मा अनवस्थित भी है। (सिद्ध में ज्ञान गुण में षट्गुणी हानिवृद्धि से अनवस्थित है।)

नास्ति से इसी का कथन ६८-६९-७० तीन इकट्ठे

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद् द्रव्यम् ।
यदि वा कीलकवदिदं भवति न परिणामि वा भवेत्क्षणिकम् ॥ ६८ ॥

अथ चेदिदमाकूतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः।
तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥ ६९ ॥

अर्थ–यदि उक्त कथनानुसार वस्तु को द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अवस्थित और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनवस्थित नहीं माना जाता है और इसके विपरीत तुम्हारा यह अभिप्राय हो कि (१) या तो द्रव्य गुणांश के समान निरंश है (२) अथवा परिणामी न होकर कीलक के समान नित्य है अथवा (३) क्षणिक है अथवा (४) अनन्त निरंश अंश तो है पर उनका तरतमरूप परिणमन न होकर समान परिणमन होता है। तो——

एतत्पक्षचतुष्टयमपि दुष्टं दृष्टबाधितत्वाच्च ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोऽप्यदृष्टान्तात् ॥ ७० ॥

अर्थ–ये चारों पक्ष भी दूषित हैं क्योंकि एक तो ऐसा मानना प्रत्यक्ष से बाधित है, दूसरे उनका साधक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है और उस साधक प्रमाण का अभाव इसलिये है कि जहाँ साध्य साधन की व्याप्ति विषयक सन्देह का निवारण किया जाय ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है।

भावार्थ–द्रव्यार्थिक नय से वस्तु अवस्थित और पर्यायार्थिक नय से अनवस्थित है। इस प्रकार की प्रतीति होने के कारण द्रव्य-गुण-गुणांश (पर्याय) कल्पना सार्थक है ऐसा पहले सिद्ध किया गया है। अब उसी को दृढ़ करने के लिये व्यतिरेक रूप से ऊहापोह करते हैं–(१) शंकाकार पहले पक्ष में द्रव्य को निरंश अर्थात् गुणपर्याय रहित मानना चाहता है (२) दूसरे पक्ष में गुण तो मानता है पर गुणांश नहीं मानता अर्थात् कूटस्थ नित्य मानता है (३) तीसरे पक्ष में गुणांश तो मानता है पर गुण नहीं मानता अर्थात् क्षणिक मानता है (४) चौथे पक्ष में गुण-गुणांश तो मानता है पर उसमें हीनाधिक परिणमन नहीं मानता, समान परिणमन मानता है। दृष्टान्त द्वारा साधन व्याप्त साध्य रूप धर्म के मिल जाने से पक्ष की सिद्धि हुआ करती है। इस न्याय से उक्त चारों पक्षों के लिये किसी दृष्टान्त का मिलना ही असंभव है। इसलिये साधक प्रमाण के न मिलने से उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि केवल प्रतिज्ञा मात्र से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। भाई (१) यदि द्रव्य को निरंश माना जाय तो उसमें गुणपर्यायों का भेद न रहेगा। बिना विशेष के सामान्य तो कुछ रहता ही नहीं (२) यदि द्रव्य को नित्य माना जाय तो उसमें कोई विक्रिया नहीं हो सकती। विक्रिया के अभाव में तत्व क्रिया फल कारक कारण कार्य इत्यादि की व्यवस्था कुछ भी नहीं ठहर सकती है। आगे देखिये ४२२ से ४२६ तक। (३) सर्वथा क्षणिक मानने में प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। कार्य कारण हेतु फल भाव भी नहीं हो सकता। आगे देखिये ४२९ से ४३२ तक। (४) यदि अनन्त निरंश अंश मानकर उनका समान परिणमन माना जाय, तरतम रूप न माना जाय तो द्रव्य सदा एकसा (अवस्थित) रहेगा। उसमें अवस्था भेद (अनवस्थितपना) न हो सकेगा। सिद्ध संसारी का भेद मिट जायेगा। इसलिये उपरोक्त चारों ही विकल्प काल्पनिक प्रत्यक्ष मिथ्या है। उनमें अनेक बाधायें आती हैं और वस्तु प्रत्यक्ष वैसी है ही नहीं।

नोट–वस्तु निरूपण महा अधिकार में अखण्ड द्रव्य का निरूपण करनेवाला पहला अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ। इस अधिकार की मूल भित्ति श्लोक नं. ८ है।

दूसरा अवान्तर अधिकार

द्रव्य का भेद दृष्टि से निरूपण ७१ से १०२ तक

द्रव्यत्वं किन्नाम पृष्टश्चेतीह केनचित् सूरिः ।
प्राह प्रमाणसुनयैरधिगतमिव लक्षणं तस्य ॥ ७१ ॥

अर्थ–किसी ने आचार्य से पूछा कि महाराज ! द्रव्यपना क्या पदार्थ है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उस द्रव्यपने का प्रमाण और सुनयों द्वारा अच्छी तरह मनन किया हुआ लक्षण कहने लगे।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम् ।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥ ७२ ॥

अर्थ–जिसमें गुणपर्याय पाये जायें वह द्रव्य है। यह द्रव्य का लक्षण अच्छी तरह सिद्ध है। इस लक्षण में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है। ''गुणपर्याय जिसमें पाये जायें वह द्रव्य है'' इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि गुण और पर्यायों का समुदाय ही द्रव्य है। द्रव्य के इस लक्षण में प्रत्यक्ष अनुमान या आगम आदि किसी भी प्रमाण से विरोध नहीं आता है इसलिए यह सुसिद्ध और अविरुद्ध कहा गया है।

भावार्थ–''गुणपर्ययवद्द्रव्यं'' इस वाक्य में मतुप् प्रत्यय है। उसका ऐसा अर्थ निकलता है कि गुणपर्याय वाला द्रव्य है। इस कथन से कोई यह न समझ लेवें कि गुणपर्याय कोई दूसरे पदार्थ हैं जोकि द्रव्य में रहते हैं और उन दोनों का आधारभूत द्रव्य कोई दूसरा पदार्थ है। इस अनर्थ अर्थ के समझने की आशंका से आचार्य नीचे के चरण से स्वयं उस वाक्य का स्पष्ट अर्थ करते हैं कि ''गुणपर्यायवाला द्रव्य है'' अथवा गुणपर्याय जिसमें पाये जायें वह द्रव्य है'' इन दोनों का यही अर्थ है कि गुणपर्यायों का समूह ही द्रव्य है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य है और वे गुण प्रतिक्षण अपनी अवस्था को बदलते रहते हैं। इसलिये त्रिकालवर्ती पर्यायों को लिए हुए जो गुणों का अखण्ड पिण्ड है वह द्रव्य है। गुणपर्याय से पृथक् कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हुये किन्हीं आचार्यों का कथन प्रगट करते हैं:-

गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युशन्ति बुधाः ।
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥ ७३ ॥

अर्थ – कोई-कोई बुद्धिधारी 'गुणसमुदाय ही द्रव्य है' ऐसा भी द्रव्य का लक्षण कहते हैं। किन्हीं विशेष अनुभवी वृद्ध पुरुषों द्वारा ''सम्पूर्ण गुणपर्यायों के बराबर'' ही द्रव्य कहा गया है।

भावार्थ–पहले श्लोक में गुण और पर्याय दोनों को ही द्रव्य का लक्षण बतलाया गया था परन्तु यहाँ पर पर्यायों को गुणों से पृथक् पदार्थ न समझ कर गुण समुदाय को ही द्रव्य कहा गया है। वास्तव में गुणों की अवस्था विशेष ही पर्यायें हैं। गुणों से सर्वथा भिन्न पर्याय कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये गुणपर्याय में अभेद बुद्धि रखकर गुण समुदाय ही द्रव्य कहा गया है।

कोई सम्पूर्ण गुण और उनकी त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण पर्यायों को ही द्रव्य कहते हैं।

अयमत्राभिप्रायो ये देशास्तद्गुणास्तदंशाश्च ।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निश्शेषम् ॥ ७४ ॥

अर्थ–उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय है कि जो देश (प्रदेश) हैं, उन देशों (प्रदेशों) में रहनेवाले जो गुण हैं तथा उन गुणों के जो अंश हैं, उन सबकी (प्रदेश+ गुण + गुणांशों की) एक ही शब्द द्वारा द्रव्य संज्ञा है। (यहाँ देश-देशांश को भिन्न-भिन्न न कहकर दोनों की जगह मूल गाथा में 'देशाः' शब्द का प्रयोग किया गया है।)

नहि किञ्चित्सद्द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च।
केचित्सन्ति तदंशा द्रव्यं तत्सन्निपाताद्वा ॥ ७५ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है कि द्रव्य कोई जुदा पदार्थ हो, गुण कोई जुदा पदार्थ हो, प्रदेश जुदा पदार्थ हो, उन गुणों के अंश कोई जुदा पदार्थ हों और उन सबके मिलाप से द्रव्य कहलाता हो।

अथवापि यथा भित्तौ चित्रं द्रव्ये तथा प्रदेशाश्च।
सन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायित्वात्तदाश्रयाद्द्रव्यम् ॥ ७६ ॥

अर्थ–अथवा ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार भित्ति में चित्र खिंचा रहता है अर्थात् जैसे मित्ति में चित्र होता है वह भित्ति में रहता है परन्तु भित्ति से जुदा पदार्थ है उसी प्रकार द्रव्य में प्रदेश, गुण और उन गुणों के अंश रहते हैं और भित्ति की तरह समवाय सम्बन्ध से उनका आश्रय द्रव्य है (भिन्न-भिन्न पदार्थों के घनिष्ट नित्य सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। गुण-गुणी को भिन्न मानकर उनका नित्य सम्बन्ध नैयायिक दर्शन मानता है।)

भावार्थ–ऐसा नहीं है कि देश, देशांश, गुण, गुणांश चारों ही जुदे-जुदे पदार्थ हों और उनका समूह द्रव्य कहलाता हो, किन्तु चारों ही अखण्ड रूप से द्रव्य कहलाते हैं। भेद विवक्षा से ही चार जुदी-जुदी संज्ञायें कहलाती हैं। अभेद विवक्षा से चारों ही अभिन्न हैं और चारों की उस अभिन्नता को द्रव्य कहते हैं।

इदमस्ति यथा मूलं स्कन्धः शाखा दलानि पुष्पाणि ।
गुच्छाः फलानि सर्वाण्येकालापात्तदात्मको वृक्षः ॥ ७७ ॥

अर्थ–जिस प्रकार जड़, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, पुष्प, गुच्छा, फल सभी मिलाकर एक शब्द से वृक्ष कहते हैं क्योंकि वह वृक्ष उनमूलादिमय है। वृक्ष, जड़, स्कन्ध शाखा आदि से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है किन्तु इनका समुदाय ही वृक्ष कहलाता है अथवा वृक्ष को छोड़कर शाखादिक भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार देश, देशांश, गुण, गुणांश का समूह ही द्रव्य है। द्रव्य से भिन्न न तो देशादिक ही है और देशादिक से भिन्न न द्रव्य ही है।

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टांतः कारकश्च भवतीह ।
ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्ये ॥ ७८ ॥

अर्थ– यद्यपि दृष्टांत और कारक भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी होते हैं। यहाँ गुण समुदाय रूप द्रव्य की सिद्धि में अभिन्न दृष्टांत और अभिन्न ही कारक ग्रहण करना चाहिये। खुलासा आगे किया जाता है:–

भिन्नोऽप्यथ दृष्टांतो भित्तौ चित्रं यथा दधीह घटे ।
भिन्नः कारक इतिवा कश्चिद्धनवान् धनस्य योगेन ॥ ७९ ॥

अर्थ–आधार आधेय की भिन्नता का दृष्टांत इस प्रकार है कि जैसे भित्ति में चित्र होता है अथवा घड़े में दही रक्खा है (भित्ति भिन्न पदार्थ है और उस पर खिंचा हुआ चित्र दूसरा पदार्थ है। इसी प्रकार घट दूसरा पदार्थ है और उसमें रक्खा हुआ दही दूसरा पदार्थ है। इसलिये ये दोनों ही दृष्टांत आधार आधेय की भिन्नता में हैं) भिन्न कारक का दृष्टांत इस प्रकार है, जैसे कोई मनुष्य धन के निमित्त से धनवाला कहलाता है। यहाँ पर धन दूसरा पदार्थ है और पुरुष दूसरा पदार्थ है। धन और पुरुष का स्व-स्वामी सम्बन्ध कहलाता है। यह स्व-स्वामी सम्बन्ध भिन्नता का है।

भावार्थ–जिस प्रकार 'धनवान पुरुष' यह भिन्नता में स्व-स्वामी सम्बन्ध है, उस प्रकार 'गुणपर्यायवान् द्रव्य' यह सम्बन्ध नहीं है अथवा जैसा आधार आधेय भाव भित्ति और चित्र में है वैसा गुण द्रव्य में नहीं है किन्तु कारक और आधार आधेय दोनों ही अभिन्न हैं।

दृष्टांतश्चाभिन्नो वृक्षे शाखा यथा गृहे स्तम्भः।
अपि चाभिन्नः कारक इति वृक्षोऽयं यथा हि शाखावान् ॥ ८० ॥

अर्थ–आधार आधेय की अभिन्नता में दृष्टांत इस प्रकार है। जैसे वृक्ष में शाखा अथवा घर और खम्भा। कारक की अभिन्नता में दृष्टांत इस प्रकार है जैसे–यह वृक्ष शाखा वाला है।

भावार्थ–यहाँ पर वृक्ष और शाखा तथा घर और खम्भा दोनों ही अभिन्नता के दृष्टांत हैं। वृक्ष में शाखा जुदा पदार्थ नहीं है और घर में खम्भा जुदा पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार "वृक्ष शाखावान् है" यह स्व-स्वामी सम्बन्ध भी अभिन्नता का है। इन्हीं अभिन्न आधार आधेय और अभिन्न कारक के समान गुण, पर्याय और द्रव्य को समझना चाहिये।

शंका

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः ।
समुदायो वक्तव्यो न चापि समवायवानिति चेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ–समवाय और समवायी अर्थात् गुण और द्रव्य दोनों ही सर्वथा एकार्थक हैं। ऐसी अवस्था में गुण समुदाय ही कहना चाहिये द्रव्य को कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान ८२ से ८४ तक

तन्न यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्त्वात् ।
व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ८२ ॥

अर्थ–उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि समुदाय नियम से समुदायी का होता है। यह बात प्रसिद्ध प्रमाण से सिद्ध की हुई है और प्रसिद्ध दृष्टांत से भी यह बात सिद्ध होती है।

भावार्थ–यद्यपि सींकों का समूह ही सोहनी (झाडू) है तथापि सींकों के समुदाय से ही घर का कूड़ा दूर किया जाता है, सींकों से नहीं। इसलिये समुदाय और समुदायी कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं (दृष्टांत मोटा है केवल समुदायांश में ही इसे घटित करना चाहिये।)

स्पर्शरसगंधवर्णा लक्षणभिन्ना यथा रसालफले ।
कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वखण्डदेशत्वात् ॥ ८३ ॥

अर्थ–यद्यपि आम के फल में स्पर्श, रस, गंध और रूप भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि इनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं तथापि सभी अखण्ड रूप से एकरूप हैं। किसी प्रकार जुदे-जुदे नहीं किये जा सकते।

भावार्थ–स्पर्श का ज्ञान स्पर्शन-इन्द्रिय से होता है। रस का ज्ञान रसना इन्द्रिय से होता है। गन्ध का ज्ञान नासिका से होता है और रूप का चक्षु से होता है। इसलिये ये चारों ही भिन्न-भिन्न लक्षण वाले हैं, परन्तु चारों का ही तादात्म्य सम्बन्ध है। कभी भी जुदे-जुदे नहीं हो सकते। इसलिये लक्षण भेद से भिन्न हैं। समुदाय रूप से अभिन्न हैं। अतएव गुण और गुणी में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद स्पष्टता से सिद्ध है।

अतएव यथा वाच्या देशगुणांशा विशेषरूपत्वात् ।
वक्तव्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥ ८४ ॥

अर्थ–अतएव जैसे पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा देश-देशांश, गुण-गुणांश इन सबका कथन करना चाहिये वैसे ही द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उन सबके स्थान में एक द्रव्य ही है ऐसा भी कथन करना चाहिये।

प्रमाण–श्लोक ७५ से ८४ का आशय श्री पंचास्तिकाय गाथा ४५ से ५२ पर से लिया गया है।

पुनः द्रव्य का भेद-दृष्टि से निरूपण-दूसरे प्रकार से ८५ से १०२ तक

अथ चैतदेव लक्षणमेकं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
निष्प्रतिघप्रतिपत्त्यै विशेषतो लक्षयन्ति बुधाः ॥ ८५ ॥

अर्थ–"गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इसी एक लक्षण को निर्बाध प्रतीति के लिये वाक्यान्तर (दूसरी पद्धति) द्वारा विशेष रीति से भी बुद्धिमान कहते हैं।

भावार्थ–अब द्रव्य का दूसरा लक्षण कहते हैं परन्तु वह दूसरा लक्षण उपर्युक्त (गुणपर्ययवद्द्रव्यं) लक्षण से भिन्न नहीं है किन्तु उसी का प्रकाशक है, विशद है, प्रगट करनेवाला है, उसके मर्म को खोलनेवाला है।

उत्पादस्थितिभंगैर्युक्तं सद्द्रव्यलक्षणं हि यथा ।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धेत्समं न तु व्यस्तैः ॥ ८६ ॥

अर्थ–वह वाक्यान्तर इस प्रकार है–उत्पाद, स्थिति, भंग इन तीनों से युक्त सत् ही द्रव्य का लक्षण है। इतना विशेष है कि वह सत् इन तीनों से युगपत् युक्त मानने पर ही सिद्ध होता है। पृथक्-पृथक् इनसे युक्त मानने पर नहीं सिद्ध होता अर्थात् भिन्न उत्पाद, भिन्न व्यय, भिन्न ध्रौव्य-भिन्न-भिन्न प्रदेश मानकर फिर इकट्ठा करने पर सिद्ध नहीं होता।

अयमर्थः प्रकृतार्थो ध्रौव्योत्पादव्ययास्त्रयश्चांशाः ।
नाम्ना सदिति गुणः स्यादेकोऽनेके ते एकशः प्रोक्ताः ॥ ८७ ॥

अर्थ–प्रकरणानुसार सारांश यह है कि ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय ये तीनों अंश नाम से सत् गुण रूप हैं इसलिए एक हैं और पृथक् पृथक् कहे जाने पर वे अनेक हैं।

भावार्थ–द्रव्य में एक अस्तित्व नामक गुण है। उसी को सत्ता भी कहते हैं। वह सत् गुण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। इसलिये प्रत्येक की अपेक्षा से तीनों जुदे-जुदे हैं परन्तु समुदाय की अपेक्षा से केवल सत् गुण स्वरूप हैं।

लक्ष्यस्य लक्षणस्य च भेदविवक्षाश्रयात्सदेव गुणः ।
द्रव्यार्थादेशादिह तदेव सदिति स्वयं द्रव्यम् ॥ ८८ ॥

अर्थ–प्रकृत में लक्ष्य और लक्षण की भेद विवक्षा के आश्रय से तो सत् गुण ही है परन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टि से वही सत् स्वयं द्रव्य स्वरूप है।

भावार्थ–वस्तु में अनन्त गुण हैं। उन गुणों में से प्रत्येक को चालनी न्याय से यदि द्रव्य का लक्षण माना जावे तो उस अवस्था में द्रव्य लक्ष्य ठहरेगा और गुण उसका लक्षण ठहरेगा। लक्ष्य-लक्षण की अपेक्षा से ही गुण-गुणी में कथंचित् भेद है। इसी दृष्टि से सत्ता और द्रव्य में कथंचित् भेद है।

परन्तु भेद विकल्प बुद्धि को हटाकर केवल द्रव्यार्थिक दृष्टि से सत्ता और द्रव्य दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। जो द्रव्य है सो ही सत्ता है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि सम्पूर्ण गुणों में अभिन्नता होने से किसी एक गुण के द्वारा समग्र वस्तु का ग्रहण हो जाता है। इस कथन से सत्ता कहने से भी द्रव्य का ही बोध होता है और द्रव्यत्व कहने से भी द्रव्य का ही बोध होता है। वस्तुत्व कहने से भी द्रव्य (वस्तु) का ही बोध होता है। नय दृष्टि से सत्ता द्रव्यत्व और वस्तुत्व के कहने से केवल उन्हीं गुणों का ग्रहण होता है। अभेद दृष्टि रखने से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों अवस्थायें द्रव्य की कहलाती हैं। इसलिये द्रव्य ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक हैं।

वस्त्वस्ति स्वतःसिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।
तस्मादुत्पादस्थितिभंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥ ८९ ॥

अर्थ–जिस प्रकार वस्तु अनादि निधन स्वतः सिद्ध अविनाशी है उसी प्रकार परिणामी भी है। इसलिये प्रकृत में वह सत् नियम से उत्पाद ध्रौव्य और व्यय रूप है यह सिद्ध हुआ।

भावार्थ–वस्तु स्थायी रहती हुई स्वभाव या विभाव रूप से स्वयं परिणमन करती है। निमित्त से नहीं।

नहि पुनरुत्पादस्थितिभंगमयं तद्विनापि परिणामात् ।
असतो जन्मत्वादिह सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ९० ॥

अर्थ–यदि बिना परिणाम के ही वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप माना जाय तो असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश अवश्यंभावी होगा।

भावार्थ–वस्तु को परिणमनशील मानकर यदि उत्पादादि त्रय माने जावें तब तो वस्तु में नित्यता कायम रहती है। यदि उसे परिणमनशील न मानकर उसके ही उत्पादादि माना जावे तो वस्तु सर्वथा अनित्य ठहर जायेगी तथा फिर नवीन वस्तु का उत्पाद होगा और जो है उसका नाश हो जायेगा। परन्तु यह व्यवस्था प्रमाण बाधित है। इसलिये वस्तु को

परिणामी मानना चाहिये। फिर किसी परिणाम से वस्तु उत्पन्न होगी, किसी से नष्ट भी होगी और किसी से स्थिर भी रहेगी। इसी बात को आगे स्पष्ट करते हैं।

द्रव्यं ततः कथंचित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वितयं हि वस्तुतया ॥ ९१ ॥

अर्थ– (उपर्युक्त कथन से द्रव्य परिणामी सिद्ध हो चुका) इसलिये वह किसी अवस्था से कथंचित् उत्पन्न भी होता है। किसी दूसरी अवस्था से कथंचित् नष्ट भी होता है। वस्तु स्थिति से उत्पत्ति और नाश दोनों ही वस्तुपने नहीं होते हैं।

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन ॥ ९२ ॥

अर्थ–जैसे लोक में मिट्टी एक ही समय में घटरूप से उत्पन्न होती है, पिण्ड रूप से नष्ट होती है तथा मिट्टीपने से ये दोनों ही अवस्थायें नहीं होती।

शंका

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदकिञ्चित्करं तदेवेति ।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतस्त्विति चेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ–शंकाकार कहता है कि यह सब तुम्हारी कल्पना मात्र है और वह व्यर्थ है। उत्पादादि त्रय के मानने से न तो कोई गुण ही हैं और इसके न मानने से कोई हानि भी नहीं दीखती ?

समाधान ९४ से ९६ तक

तन्न यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये ।
तन्निन्हवे च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥ ९४ ॥

अर्थ–शंकाकार की उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पादादि त्रय स्वरूप वस्तु को मानने से ही लाभ है। इसके न मानने से कोई लाभ नहीं है। क्योंकि उत्पादादि के नहीं मानने पर सब द्रव्यादि का अभाव होकर सर्व शून्य दोष प्राप्त होता है।

परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः ।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥ ९५ ॥

अर्थ–परिणाम के न मानने से द्रव्य सदा एक सा ही रहेगा। उस अवस्था में परलोक, कारण और कार्य आदि कुछ भी नहीं बनेगा।

भावार्थ के लिये आगे देखिये श्लोक ४२२ से ४२८ तक । वहाँ यह विषय विशद रूप से स्पष्ट किया है।

परिणामिनोऽप्यभावात् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु ।
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतत्वात् ॥ ९६ ॥

अर्थ–यदि परिणामी को न माना जाय तो वस्तु क्षणिक-केवल परिणाम मात्र ठहर जायगी और यह बात बनती नहीं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्मा की नित्यरूप से भी प्रतीति होती है (स्पष्टता के लिये आगे देखिये श्लोक ४२९ से ४३२ तक) ।

भावार्थ–बिना नित्यता स्वीकार किये आत्मा में "यह वही जीव है" ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये दोनों श्लोकों का फलितार्थ यह निकला कि वस्तु अपनी वस्तुता को कभी नहीं छोड़ती इसलिये तो वह नित्य है और वह सदा नई-नई अवस्थाओं को बदलती रहती है इसलिये अनित्य भी है। वह न तो सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा अनित्य ही है जैसा कि सांख्य बौद्ध मानते हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम् ।
वाक्यान्तरोपदेशादधुना तद्बाध्यते त्विति चेत् ॥ ९७ ॥

अर्थ–शंका पहले द्रव्य का लक्षण ''गुणपर्ययवद्द्रव्यं'' यह कहा गया है और अब वाक्यांतर के द्वारा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सत् द्रव्य का लक्षण बतलाया जाता है। इसलिये इस लक्षण में इस लक्षण से बाधा आती है।

समाधान ९८ से १०२ तक

तन्न यतः सुविचारादेकोऽर्थो वाक्ययोर्द्वयोरेव ।
अन्यतरं स्यादितिचेन्न मिथोऽभिव्यंजकत्वाद्वा ॥ ९८ ॥

अर्थ–दोनों लक्षणों में विरोध बतलाना ठीक नहीं है क्योंकि अच्छी तरह विचार करने से दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ प्रतीत होता है। फिर भी शंकाकार कहता है कि जब दोनों लक्षणों का एक ही अर्थ है तो फिर दोनों के कहने की क्या आवश्यकता है। दोनों में से कोई-सा एक कह दिया जाय । उत्तर देते हैं कि नहीं। दोनों ही एक-दूसरे के अभिव्यंजक (प्रकाशक) हैं।

तद्दर्शनं यथा किल नित्यत्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात् ।
गुणवद्द्रव्यं च स्यादित्युक्ते ध्रौव्यवत्पुनः सिद्धम् ॥ ९९ ॥

अर्थ–दोनों लक्षण एक-दूसरे के प्रकाशक हैं उसका खुलासा इस प्रकार है कि नित्यता और गुण की व्याप्ति है। (अर्थात् गुण कहने से नित्यपने का बोध होता है) इसलिये ''गुणवान् द्रव्य है'' ऐसा कहने से ध्रौव्यवान् द्रव्य सिद्ध होता है।

अपि च गुणाः संलक्ष्यास्तेषामिह लक्षणं भवेत् ध्रौव्यम् ।
तस्माल्लक्ष्यं साध्यं लक्षणमिह साधनं प्रसिद्धत्वात् ॥ १०० ॥

अर्थ–दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि गुण लक्ष्य हैं। ध्रौव्य उनका लक्षण है। इसलिये यहाँ पर लक्ष्य को साध्य बनाया जाता है और लक्षण को साधन बनाया जाता है।

भावार्थ–गुणों का ध्रौव्य लक्षण करने से गुणों में नित्यता भली-भांति सिद्ध हो जाती है।

पर्यायाणामिह किल भङ्गोत्पादद्वयस्य वा व्याप्तिः ।
इत्युक्ते पर्ययवद्द्रव्यं सृष्टिव्ययात्मकं वा स्यात् ॥ १०१ ॥

अर्थ–पर्यायों की नियम से उत्पाद और व्यय के साथ व्याप्ति है। (अर्थात् पर्याय के कहने से उत्पत्ति और विनाश का बोध होता है)। इसलिये ''पर्यायवाला द्रव्य है'' ऐसा कहने से उत्पाद व्यय वाला द्रव्य सिद्ध होता है।

भावार्थ – वस्तु में होनेवाले अवस्था भेद को उत्पाद व्यय कहते हैं। अवस्था नाम पर्याय का है। पर्यायों से अनित्यता सिद्ध करने के लिये ही द्रव्य को उत्पाद व्ययवान् कहा है।

लक्ष्यस्थानीया इति पर्यायाः स्युः स्वभाववन्तश्च ।
तेषां लक्षणमिव वा स्वभावं इव वा पुनर्व्ययोत्पादम् ॥ १०२ ॥

अर्थ–पर्यायें लक्ष्य के स्थानापन्न हैं। इसलिये वे एक प्रकार से स्वभाववान भी हैं। उन पर्यायों के लक्षण की तरह अथवा स्वभाव की तरह उत्पाद व्यय हैं।

भावार्थ–गुण और पर्याय ये स्वभाववान् या लक्ष्यस्थानीय हैं तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये स्वभाव या लक्षण स्थानीय हैं। इस हिसाब से गुणों का स्वभाव या लक्षण ध्रौव्य तथा पर्यायों का स्वभाव या लक्षण उत्पाद और व्यय प्राप्त होता है। जिसका लक्षण किया जाये उसे लक्ष्य कहते हैं और जिसके द्वारा वस्तु की पहचान की जाय उसे लक्षण कहते हैं। गुणों की मुख्य पहचान उनका सदा बने रहना है और पर्यायों की मुख्य पहचान उनका उत्पन्न होते रहना और विनष्ट होते रहना है। इसी से यहाँ पर गुण और पर्यायों का लक्ष्य और उत्पादिक को उनका लक्षण कहा है। ये उत्पादिक गुण और पर्यायों के स्वभाव इसलिये कहलाते हैं क्योंकि ये उनके आत्मभूत धर्म हैं।

पर इससे गुण और पर्याय द्रव्य स्थानीय नहीं हो जाते हैं क्योंकि यह विश्लेषण करने का एक प्रकार हैं। वस्तुतः द्रव्य में जो उत्पाद और व्यय होता है उसी का दूसरा नाम पर्याय है और उसका उसमें लक्षित होनेवाली शक्तियों के रूप में सदा काल बने रहना ही ध्रौव्य है। इस प्रकार ये परस्पर में पर्यायवाची ठहरते हैं–तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है।

प्रमाण–श्लोक ७१ से १०२ तक का संपूर्ण विषय ग्रन्थकार ने श्री पंचास्तिकाय गाथा १० मूल तथा टीका से ज्यों का त्यों लिया है। लक्षणों की परस्पर अभिव्यंजकता भी इसी की टीका से ली है। इसे आप केवल उस गाथा का भाष्य समझें तो कोई अति-उक्ति न होगी।

यहाँ तक का सार

कोई पूछे कि द्रव्य का लक्षण क्या है तो उत्तर वही है जो श्लोक नं. ८ में दिया गया है कि "जो सत् रूप, स्वतः सिद्ध, अनादि अनन्त, स्वसहाय और निर्विकल्प (अखण्डित) है वह द्रव्य है।" यह द्रव्य का लक्षण सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि द्रव्य अखण्ड है और यह लक्षण भी उसके अखण्डपने को प्रगट करता है। यह लक्षण अभेद दृष्टि का है और जगत् में अभेद को बिना भेद के कोई समझ नहीं सकता । अतः कोई भेद सूचक लक्षण चाहिये जो इसका अभिव्यंजक (पूरक प्रकाशक) हो। वे लक्षण ये हैं–(१) गुणपर्ययवद् द्रव्यं (२) गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं (३) गुण-समुदायो द्रव्यं (४) समगुणपर्यायो द्रव्यं । इसको भी और स्पष्ट करना हो तो कहते हैं कि देश-देशांश, गुण-गुणांश का समुदाय-तन्मय पिण्ड द्रव्य है। देश अर्थात् अखण्ड प्रदेश द्रव्य, देशांश अर्थात् प्रदेशकल्पना क्षेत्र, गुण अर्थात् त्रिकाली शक्तियां-स्वभाव अथवा भाव, गुणांश-गुणों के अविभाग-प्रतिच्छेद-पर्याय-अथवा काल।

सत् लक्षण (श्लोक नं. ८) में अखण्ड पिण्ड था। उसका बोध कराने के लिये गुणपर्यय दो खण्ड कल्पना की और अधिक स्पष्ट समझाने के लिये देश-देशांश, गुण-गुणांश की अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की कल्पना की और साथ-साथ यह बताया है कि भिन्न-भिन्न प्रदेश रूप से धन धनीवत् यह भेद नहीं है किन्तु आम में स्पर्श-रस -गंध-वर्णवत् है। चारों का अखण्ड पिण्ड आम है। उसी प्रकार गुणपर्यायों का तन्मय पिण्ड द्रव्य है।

आचार्यों की वस्तु पकड़ाने के लिये बड़ी करुणा रही है। इसी बात को समझाने के लिये एक और ढंग प्रयोग किया कि वह खण्ड कल्पना इस प्रकार भी हो सकती है कि जो "उत्पादव्ययध्रौव्यमय" है वह द्रव्य है। इससे पहला लक्षण जो गुणपर्ययवद् द्रव्य था वह स्पष्ट हो जाता है। गुण किसको कहते हैं जो त्रिकाल स्थायी हो अर्थात् ध्रौव्य । पर्याय किसको कहते हैं जो पैदा हो और नाश हो अर्थात् उत्पाद, व्यय।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं = उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । उनको लक्ष्य लक्षण समझो या स्वभाववान और स्वभाव समझो। परस्पर अभिव्यंजक समझो। सब एक ही बात है।

इस प्रकार श्लोक ८ से ७० तक जो अभेद अखण्ड दृष्टि से द्रव्य का निरूपण किया था। उसी का स्पष्टीकरण भेद दृष्टि से ७१ से १०२ तक किया। ग्रन्थकार ने पहले निरूपण का नाम तत्त्व अर्थात् द्रव्य निरूपण दिया है। दूसरे का नाम द्रव्यत्व निरूपण दिया है। इसका कारण यह है कि द्रव्य शब्द मूल वस्तु का द्योतक है और द्रव्यत्व शब्द उसके पेट में क्या है उसका द्योतक है। अतः स्वभावतः द्रव्य अखण्ड वस्तु का प्रकाशक है और द्रव्यत्व उसके माल का, भेद का, स्वभाव का द्योतक है जो गुणपर्याय या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

इस प्रकार भेदाभेद दृष्टि से यहाँ तक द्रव्य का निरूपण पूरा हुआ। अब उस द्रव्य के गुणपर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक-एक अवयव का क्रमशः भिन्न-भिन्न निरूपण करेंगे ताकि वस्तु स्पष्ट हो जाय।

आवश्यक सूचना–यह ध्यान रहे कि अभेद को समझाने के लिये भेद है भेद में अटकने के लिये भेद नहीं है। अभेद निश्चय है, सम्यक् है, भूतार्थ है, अनुभव का विषय है। अभेद के आश्रय मोक्षमार्ग है और भेद व्यवहार है, झूठा है, अभूतार्थ है, राग का विषय है। भेद के आश्रय आश्रव बंध संसार हैं।

नोट–वस्तु निरूपण महा अधिकार में द्रव्य को भेद दृष्टि से निरूपण करनेवाला दूसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ। इस अधिकार की मूल भित्ति श्लोक नं. ७२, ८६, ८९ हैं।

तीसरा अवान्तर अधिकार

गुणत्व निरूपण १०३ से १६४ तक

अथ च गुणत्वं किमहो सूक्तः केनापि जन्मिना सूरिः।
प्रोचे सोदोहरणं लक्षितमिव लक्षणं गुणानां हि ॥ १०३ ॥

अर्थ–गुणपना क्या पदार्थ है? यह प्रश्न किसी पुरुष ने आचार्य से पूछा तब आचार्य उदाहरण सहित गुणों का सुलक्षित लक्षण कहने लगे।

द्रव्याश्रया गुणाः स्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च ।
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥ १०४ ॥

अर्थ–द्रव्य के आश्रये रहने वाले, विशेष रहित जो विशेष हैं वे ही गुण कहलाते हैं। उन्हीं गुणों के द्वारा हाथ में रक्खे हुए पदार्थ की तरह वस्तु स्पष्ट प्रतीत होती हैं।

प्रमाण–'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इति मोक्षशास्त्रे।

अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०५ ॥

अर्थ–गुण-द्रव्य के आश्रय रहते हैं इसका खुलासा यह है कि एक गुण के जो प्रदेश हैं, वही प्रदेश सभी गुणों के हैं इसलिये सभी गुणों के समान प्रदेश हैं और वे इकट्ठे रहते हैं। उन प्रदेशों में रहनेवाले गुणों का जब बुद्धिपूर्वक विभाग किया जाता है तब श्रेणीवार क्रम से अनन्त गुण प्रतीत होते हैं (अर्थात् बुद्धि से विभाग करने पर द्रव्य के सभी प्रदेश गुणरूप ही दीखते हैं। गुणों के अतिरिक्त स्वतन्त्र आधार रूप प्रदेश कोई भिन्न पदार्थ नहीं प्रतीत होता है)।

दृष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति।
बुध्या विभज्यमानाः क्रमतःश्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०६ ॥

अर्थ–दृष्टान्त–जैसे समान तन्तुवाले सभी शुक्लादिक गुण इकट्ठे रहते हैं उन शुक्लादि गुणों का बुद्धि से विभाग किया जाय तो क्रम से श्रेणीवार अनन्त गुण ही प्रतीत होंगे।

नित्यानित्यविचारस्तेषामिह विद्यते ततः प्रायः।
विप्रतिपत्तौ सत्यां विवदन्ते वादिनो यतो बहवः ॥ १०७ ॥

अर्थ–गुणों के विषय में बहुत से वादियों का विवाद होता है। कोई गुणों को सर्वथा नित्य बतलाते हैं और कोई सर्वथा अनित्य बतलाते हैं। इसलिये आवश्यक प्रतीत होता है कि गुणों के विषय में नित्यता और अनित्यता का विचार किया जाय।

जैनानांमतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यम् ।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥ १०८ ॥

अर्थ–जैनियों का तो ऐसा सिद्धान्त है कि जिस प्रकार द्रव्य कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है उसी प्रकार गुण भी कथंचित् नित्य कथंचित् अनित्य है क्योंकि वे द्रव्य से एक रूप हैं (क्योंकि गुणों का समुदाय ही तो द्रव्य है। द्रव्य से सर्वथा भिन्न गुण नहीं है)।

तत्रोदाहरणमिदं तद्भावाव्ययाद्गुणा नित्याः।
तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥ १०९ ॥

अर्थ–नित्य का यह लक्षण है कि जिसके स्व-भाव का नाश न हो। यह लक्षण गुणों में पाया जाता है इसलिये गुण नित्य हैं। गुणों के स्व-भाव का नाश नहीं होता है यह गुणों का लक्षण ''यह वही है'' ऐसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा सिद्ध होता है (अर्थात् गुणों में यह वही गुण है, ऐसी प्रतीति होती है और यही प्रतीति उनमें नित्यता को सिद्ध करती है)।

प्रमाण–'तद्भावाव्ययं नित्यं' इति मोक्षशास्त्रे,

ज्ञानं परिणामि यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या ।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥ ११० ॥

अर्थ–उदाहरणार्थ जो ज्ञान पहले घट के आकार रूप से परिणमन कर रहा था वह यद्यपि पट के आकार रूप से बदल जाता है, तो क्या यहाँ ज्ञानत्व नष्ट हो जाता है? यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भी ज्ञानत्व नष्ट नहीं होता है। यदि ऐसा है तो फिर वह नित्य क्यों न सिद्ध होगा ? अवश्य नित्य सिद्ध होगा।

भावार्थ–आत्मा का ज्ञान गुण परिणमनशील है। कभी वह घट के आकार होता है तो कभी पट के आकार हो जाता है। घटाकार से पटाकार होते समय उसमें क्या ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है? नहीं। ज्ञान गुण नष्ट नहीं होता, केवल अवस्था भेद हो जाता है। वह पहले घट को जानता था अब पट को जानने लगा है। इतना ही भेद हुआ है। जानना दोनों अवस्थाओं में बराबर है। इसलिये ज्ञान का कभी नाश नहीं होता है। जब ज्ञान का कभी नाश नहीं होता है यह बात सुप्रतीत है तो वह नित्य क्यों नहीं है ? अवश्य है।

दृष्टान्तः किल वर्णो गुणो यथा परिणमन् रसालफले ।
हरितात्पीतस्तत्किं वर्णत्वं नष्टमिति नित्यम् ॥ १११ ॥

अर्थ–दृष्टान्त–जिस प्रकार आम के फल में रूप गुण बदलता रहता है। आम की कच्ची अवस्था में हरा रंग रहता है। पकने पर उसमें पीला रंग हो जाता है। क्या हरे से पीला होने पर उसका रूप (रंग) नष्ट हो जाता है ? यदि नहीं नष्ट होता है तो क्यों नहीं रूप गुण को नित्य माना जावे ? अवश्य मानना चाहिये।

भावार्थ–हरे रंग से पीला रंग होने में केवल रंग की अवस्था में भेद हो जाता है। रंग दोनों ही अवस्थाओं में है। इसलिये रंग सदा रहता है वह चाहे कभी हरा हो जाय, पीला हो जाय, कभी लाल हो जाय (रंग सभी अवस्थाओं में है। इसलिये रंग (रूप) गुण नित्य है। यह दृष्टान्त अजीव का है। पहला जीव का था।

वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि ।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु ॥ ११२ ॥

अर्थ–जिस प्रकार वस्तु प्रतिक्षण परिणमनशील है उसी प्रकार गुण भी प्रतिक्षण परिणमनशील हैं। इसलिये जैसे वस्तु का उत्पाद और व्यय होता है उसी प्रकार गुणों का उत्पाद और व्यय होता है।

ज्ञानं गुणो यथा स्यान्नित्यं सामान्यवत्तयाऽपि यतः ।
नष्टोत्पन्नं च तथा घटं विहायाथ पटं परिच्छिन्दन् ॥ ११३ ॥

अर्थ–यद्यपि सामान्य दृष्टि से ज्ञान नित्य है तथापि वह कभी घट को और कभी पट को जानता है इसलिये अनित्य भी है।

भावार्थ–अवस्था (पर्याय) की अपेक्षा से ज्ञान अनित्य है। अपनी सत्ता की अपेक्षा से नित्य है।

संदृष्टी रूपगुणो नित्यश्चाम्रेऽपि वर्णमात्रतया ।
नष्टोत्पन्नो हरितात्परिणममानश्च पीतवत्त्वेन ॥ ११४ ॥

अर्थ–दृष्टान्त–आम में रूप सदा रहता है इसकी अपेक्षा से यद्यपि रूप गुण नित्य है तो भी हरित से पीत अवस्था में बदलने से वह नष्ट और उत्पन्न भी होता है।

नोट–यहाँ तक गुणों का नित्यानित्यात्मक स्वरूप कहकर अब इसी को शंका समाधानों द्वारा पीसते हैं।

शंका

ननु नित्या हि गुणा अपि भवन्त्वनित्यास्तु पर्यया: सर्वे ।
तत्किं द्रव्यवदिह किल नित्यानित्यात्मका गुणा प्रोक्ताः ॥ ११५ ॥

अर्थ–शंका– यह बात निश्चित है कि गुण नित्य होते हैं और पर्यायें सभी अनित्य होती हैं। फिर क्या कारण है कि द्रव्य के समान गुणों को भी नित्यानित्यात्मक बतलाया है ?

समाधान ११६–११७

सत्यं तत्र यतः स्यादिदमेव विवक्षितं यथा द्रव्ये ।
न गुणेभ्यः पृथगिह तत्सदिति द्रव्यं च पर्ययाश्चेति ॥ ११६ ॥

अर्थ–उपर्युक्त शंका यद्यपि ठीक है तथापि उसका उत्तर इस प्रकार है कि गुणों से सत् अर्थात् द्रव्य और पर्याय कोई भिन्न पदार्थ नहीं है क्योंकि गुणों का समुदाय ही तो द्रव्य है और गुणों का परिणमन ही पर्याय है। इसलिये जिस प्रकार द्रव्य में विवक्षावश कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यता आती है, उसी प्रकार गुणों में भी नित्यता और अनित्यता विवक्षाधीन है। वह इस प्रकार–

अपि नित्याः प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः ।
स च परिणामोऽवस्था तेषामेव न पृथक्त्वसत्ताकः ॥ ११७ ॥

अर्थ–यद्यपि गुण नित्य हैं तथापि बिना किसी प्रयत्न के प्रति समय परिणमन करते हैं। वह परिणाम भी उन्हीं गुणों की अवस्था विशेष है। भिन्न सत्तावाला नहीं।

शंका

ननु तदवस्थो हि गुणः किल तदवस्थान्तरं हि परिणामः ।
उभयोरन्तर्वर्तित्वादिह पृथगेतदेवमिदमिति चेत् ॥ ११८ ॥

अर्थ–शंकाकार का कहना है कि गुण तो सदा एकसा रहता है और परिणाम एक समय से दूसरे समय में सर्वथा जुदा है। तथा परिणाम और गुण इन दोनों के बीच में रहने वाला द्रव्य भिन्न ही पदार्थ है यदि ऐसा कहें तो ?

समाधान ११९ से १२३ तक

तन्न यतः सदवस्थाः सर्वा आम्रेडितं यथा वस्तु ।
न तथा ताभ्यः पृथगिति किमपि हि सत्ताकमन्तरं वस्तु ॥ ११९ ॥

अर्थ–उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि परिणाम गुणों की ही अवस्था विशेष है और वह गुण और उनके परिणाम अर्थात् सत् की सब अवस्थायें मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। उन गुण पर्यायों से भिन्न सत्तावाली वस्तु कोई जुदा पदार्थ नहीं है।

भावार्थ–शंकाकार ने गुणों को उनके परिणामों से भिन्न बतलाया था और उसमें हेतु दिया था कि एक समय में जो परिणाम है दूसरे समय में उससे सर्वथा भिन्न ही है। इसी प्रकार वह भी नष्ट हो जाता है। तीसरे समय में जुदा परिणाम ही पैदा होता है। इसलिये गुणों से परिणाम सर्वथा भिन्न है। इसका उत्तर दिया गया है कि यद्यपि परिणाम प्रति समय भिन्न है तथापि जिस समय में जो परिणाम है वह गुणों से भिन्न नहीं है, उन्हीं की अवस्था विशेष है। इसी प्रकार प्रति समय का परिणाम गुणों से अभिन्न है। यदि गुणों से सर्वथा भिन्न ही परिणाम को माना जाय तो प्रश्न हो सकता है कि वह परिणाम किसका है ? बिना परिणामी के परिणाम होना असम्भव है। इसलिये गुणों का परिणाम गुणों से सर्वथा भिन्न नहीं है परिणामों से भिन्न कोई गुण नहीं और गुणों से भिन्न कोई द्रव्य नहीं। अतः सब गुणपर्याय मिलकर ही वस्तु है।

नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया ये एव गुणाः ।
टङ्कोत्कीर्णन्यायात्ते एव नित्या यथा स्वरूपत्वात् ॥ १२० ॥

अर्थ–जिस प्रकार परिणमनशील होने से गुण उत्पाद, व्यय स्वरूप हैं उसी प्रकार टङ्कोत्कीर्ण न्याय से अपने स्वरूप में सदा स्थिर रहते हैं इसलिये वे नित्य भी हैं।

न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाशः ।
अपरेषामुत्पादो द्रव्यं यत्तद्द्वयाधारम् ॥ १२१ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है कि किन्हीं गुणों का तो सर्वथा नाश होता जाता है और दूसरे नवीन गुणों की उत्पत्ति होती जाती है तथा उस उत्पन्न और नष्ट होने वाले गुणों का आधार द्रव्य है।

दृष्टान्ताभासोऽयं स्याद्धि विपक्षस्य मृत्तिकायां हि ।
एके नश्यन्ति गुणा जायन्ते पाकजा गुणास्त्वन्ये ॥ १२२ ॥

अर्थ–जो गुणों का नाश और उत्पाद मानते हैं, उनका उक्त कथन की पुष्टि में यह कहना कि मिट्टी में पहले गुण तो नष्ट हो जाते हैं और पाक से होनेवाले दूसरे गुण पैदा हो जाते हैं। यह केवल दृष्टांताभास है।

भावार्थ–नैयायिक दर्शन का सिद्धान्त है कि जिस समय कच्चा घड़ा अग्नि (आवा) में दिया जाता है उस समय उस घड़े के पहले सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। घड़े का पाक होने से उसमें दूसरे ही नवीन गुण पैदा हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वैशेषिकों का तो यहाँ तक भी सिद्धान्त है कि अग्नि में जब घड़े की पाकावस्था होती है तब काला घड़ा बिल्कुल फूट जाता है। उसके सब परमाणु अलग-अलग बिखर जाते हैं। फिर शीघ्र ही रक्त रूप पैदा होता है और पाकज परमाणु इकट्ठे होते हैं। उनसे कपाल बनते हैं। उन कपालों से लाल घड़ा बनता है। इस कार्य में (घड़े के फूटने और बनने में) जो समय लगता है वह अति सूक्ष्म है इसलिये जाना नहीं जाता। इस नैयायिक सिद्धांत के दृष्टांत को देकर गुणों का नाश और उत्पत्ति मानना सर्वथा मिथ्या है। यह दृष्टांत सर्वथा बाधित है। यह बात किसी विवेकशाली की बुद्धि में नहीं आ सकती है कि अग्नि में घड़े के गुणों का नाश हो जाता हो अथवा वह घड़ा ही अग्नि में फूटकर फिर झटपट अपने आप तैयार हो जाता हो। इसलिये उक्त नैयायिकों का सिद्धांत सर्वथा बाधित है। इस दृष्टांत से गुणों का नाश और उत्पत्ति मानना भी मिथ्या है। इसी बात को ग्रन्थकार स्वयं प्रगट करते हैं:–

तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधायां हि ।
किं पृथिवीत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्तथा कथं न स्यात् ॥ १२३ ॥

अर्थ–इसका समीचीन उत्तर यह है कि वहाँ पर इस प्रकार की विधि होने पर अर्थात् घड़े का कच्चे से पक्के रूप परिणमन होने पर (मिट्टी के पकते समय) क्या मिट्टीपने का नाश हो जाता है? यदि मिट्टीपने का नाश नहीं होता तो उस समय वह पृथ्वीत्व गुणवाली क्यों न मानी जाय। इसलिये गुण नित्यानित्यात्मक कैसे नहीं हैं, अवश्य हैं।

भावार्थ–गुणों का परिणमन अर्थात् अनित्यपना तो वादी ने स्वयं स्वीकार कर ही लिया था । नित्यपना-मिट्टीपने से आचार्य महाराज ने सिद्ध कर दिया। इस प्रकार जैन सिद्धान्तानुसार गुणों को नित्या-नित्यात्मक सिद्ध कर दिया।

शंका १२४-१२५ दो श्लोक इकट्ठे

ननु केवलं प्रदेशा द्रव्यं देशाश्रया विशेषास्तु ।
गुणसंज्ञका हि तस्माद्भवति गुणेभ्यश्च द्रव्यमन्यत्र ॥ १२४ ॥

अर्थ–शंका–जो प्रदेश हैं वे ही द्रव्य कहलाते हैं। देश के आश्रय से रहनेवाले जो विशेष हैं वे ही गुण कहलाते हैं। इसलिये गुणों से द्रव्य भिन्न है।

शंका चालू

तत एव यथा सुघटं भङ्गोत्पादध्रु वत्रयं द्रव्ये ।
न तथा गुणेषु तत्स्यादपि च व्यस्तेषु वा समस्तेषु ॥ १२५ ॥

अर्थ–जब गुणों से द्रव्य भिन्न है तब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों द्रव्य में जिस प्रकार सुघटित होते हैं, उस प्रकार गुणों में नहीं होते । न तो किसी-किसी गुण में होते हैं और न गुण समुदाय में ही होते हैं ?

भावार्थ–शंकाकार का यह अभिप्राय है कि द्रव्यरूप देश नित्य है उसकी अपेक्षा से ही ध्रौव्य है और गुण रूप विशेष अनित्य है। उनकी अपेक्षा से ही उत्पाद व्यय है।

समाधान १२६ से १३१ तक

तन्न यतः क्षणिकत्वापत्तेरिह लक्षणाद् गुणानां हि ।
तदभिज्ञानविरोधात्क्षणिकत्वं बाध्यतेऽध्यक्षात् ॥ १२६ ॥

अर्थ–उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि इस लक्षण से गुणों में क्षणिकता आती है। गुणों में क्षणिकता 'यह वही है' इस प्रत्यभिज्ञान से प्रत्यक्ष बाधित है।

भावार्थ–प्रत्यभिज्ञान से गुणों में नित्यता की ही प्रतीति होती है।

अपि चैवमेकसमये स्यादेकः कश्चिदेव तत्र गुणः।
तन्नाशादन्यतरः स्यादिति युगपन्न सन्त्यनेकगुणाः ॥ १२७ ॥

अर्थ–गुणों को उत्पाद-व्यय रूप मानने से द्रव्य में एक समय में कोई एक गुण ठहरेगा। उस गुण के नाश होने से दूसरा गुण उसमें आवेगा। एक साथ द्रव्य में अनेक गुण नहीं रह सकेंगे।

तदसद्यतः प्रमाणात्दृष्टान्तादपि च बाधितः पक्षः।
स यथा सहकारफले युगपद्वर्णादिविद्यमानत्वात् ॥ १२८ ॥

अर्थ–द्रव्य में एक समय में एक ही गुण की सत्ता मानना ठीक नहीं है क्योंकि यह बात प्रमाण और दृष्टान्त दोनों से बाधित है। आम के फल में एक साथ ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिक अनेक गुणों की सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है।

अथ चेदिति दोषभयान्नित्याः परिणामिनस्ते इति पक्षः।
तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं समं न्यायात् ॥ १२९ ॥

अर्थ–यदि उपर्युक्त दोषों के भय से गुणों को नित्य और परिणामी माना जाय तो फिर गुणों में एक साथ उत्पादादि त्रय क्यों नहीं होंगे, अवश्य होंगे।

भावार्थ–द्रव्यों की तरह गुणों में भी उत्पादादि त्रय होते हैं यह फलितार्थ निकल चुका। यही बात पहले कही जा चुकी है। अतः गुण नित्यानित्यात्मक हैं।

अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्युः।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोऽपि सोऽपि गुणः ॥ १३० ॥

अर्थ–पहले यह भी शंका की गई थी कि केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं, सो प्रदेश भी प्रदेशत्व नामक शक्ति विशेष है। वह भी एक गुण है।

तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्तम्।
अयमर्थः खलु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥ १३१ ॥

अर्थ–इसलिये जो पूर्वाचार्यों ने गुणों के समुदाय को द्रव्य कहा है वह ठीक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि देश (द्रव्य) को भिन्न-भिन्न विभाजित किया जाय तो गुण ही प्रतीत होंगे।

भावार्थ–गुणों को छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है।

शंका

ननु चैवं सति नियमादिह पर्याया भवन्ति यावन्तः।
सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्ययाः केचित् ॥ १३२ ॥

अर्थ–यदि गुण समुदाय ही द्रव्य है तो जितनी भी द्रव्य में पर्यायें होंगी उन सबों को नियम से गुणों की पर्याय ही कहना चाहिये। किसी को भी द्रव्यपर्याय नहीं कहना चाहिये?

समाधान १३३ से १३५ तक

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेऽपि।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥ १३३ ॥

अर्थ–शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि गुणों में भी विशेषता है। यद्यपि गुणत्व धर्म की अपेक्षा से सभी गुण, गुण कहलाते हैं तथापि उनमें कोई चेतन गुण है कोई अचेतन गुण है। जिस प्रकार गुणों में यह विशेषता है उसी प्रकार उनमें कोई क्रियावती शक्ति (गुण) है और कोई भाववती शक्ति है यह भी विशेषता है।

तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पंदलक्षणो वा स्यात् ।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरंशांशैः ॥ १३४ ॥

अर्थ–उन दोनों शक्तियों में प्रदेश अथवा देश का परिस्पन्द (हलन-चलन) क्रिया कहलाती है और शेष विशेष (गुण) भाव कहलाता है। उसका परिणमन निरंश-अंशों (अविभाग प्रतिच्छेदों) द्वारा होता है।

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्याया नाम्ना ।
यतरे च विशेषांशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

अर्थ–जितने भी प्रदेशांश हैं वे द्रव्य पर्याय कहे जाते हैं और जितने गुणांश हैं वे गुणपर्याय कहे जाते हैं।

भावार्थ–प्रदेशवत्त्व गुण के जितने निरंश प्रदेश हैं उनमें से प्रत्येक को द्रव्यपर्याय कहते हैं तथा प्रदेशवत्त्व गुण के निमित्त से जो द्रव्य के समस्त प्रदेशों में आकारान्तर होता रहता है उसे भी द्रव्यपर्याय अथवा व्यंजन पर्याय कहते हैं और बाकी के गुणों के अंशों को और उनमें जो तरतम रूप से परिणमन होता है उसे गुणपर्याय अथवा अर्थपर्याय कहते हैं।

उपसंहार

तत एव यदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि ।
अनवद्यमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥ १३६ ॥

अर्थ–इसलिए पहले जो गुणों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बतलाया गया है, वह सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने से निर्दोष है।

नोट–यहाँ तक गुणों को नित्यानित्यात्मक सिद्ध किया। अब गुणों के नामान्तर बतलाकर प्रत्येक को निरुक्ति-अर्थ करके समझाते हैं।

गुणों के नामान्तरों का कथन १३७ से १५८ तक

अथ चैतल्लक्षणमिह वाच्यं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा वा स एव चैकार्थः ॥ १३७ ॥

अर्थ–अब गुणों का लक्षण वाक्यान्तर (दूसरी रीति) द्वारा कहते हैं। जिस प्रकार आत्मा, चिदात्मा अथवा ज्ञानात्मा ये सब एक अर्थ को प्रगट करते हैं, उसी प्रकार वह वाक्यान्तर कथन भी एकार्थक है अर्थात् उसी अर्थ को व्यक्त करता है जिसको कि पहले कथन कर आये हैं।

तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोऽपि चान्वयिनः ।
अर्थाच्चैकार्थत्त्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥ १३८ ॥

अर्थ–वह वाक्यान्तर इस प्रकार है–गुण, सहभावी, अन्वयी इन सबका एक ही अर्थ है अर्थात् उपर्युक्त तीनों ही शब्द गुण रूप अर्थ के वाचक हैं।

भावार्थ–बहुवचन में गुणाः, सहभुवः, अन्वयिनः, अर्थाः कहते हैं और एक वचन में गुण, सहभू, अन्वयिनू और अर्थ कहते हैं। अब इनका क्रम से निरुक्ति अर्थ सहित निरूपण करते हैं:-

'सहभू' का निरूपण १३९ से १४१ तक

सह सार्धं च समं वा तत्र भवन्तीति सहभुवः प्रोक्ताः ।
अयमर्थो युगपत्ते सन्ति न पर्यायवत्क्रमात्मानः ॥ १३९ ॥

अर्थ–सह, सार्धं और सम इन तीनों का एक ही साथ रूप अर्थ है। गुण सभी साथ-साथ रहते हैं। इसलिये वे सहभावी कहे गये हैं। इसका यह अर्थ है कि सभी गुण एक साथ रहते हैं। पर्याय के समान क्रम-क्रम से नहीं होते हैं।

शंका समाधान

ननु सह समं मिलित्वा द्रव्येण च सहभुवो भवन्त्विति चेत् ।
तन्न यतो हि गुणेभ्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निषिद्धंत्वात् ॥ १४० ॥

अर्थ–शंकाकार सहभावी शब्द का अर्थ करता है कि गुण द्रव्य के साथ मिलकर रहते हैं इसीलिये वे सहभावी कहलाते हैं परन्तु शंकाकार की यह शंका निर्मूल है क्योंकि गुणों से भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ है इस बात का पहले ही निषेध किया जा चुका है।

भावार्थ–सहभावी शब्द का यह अर्थ नहीं है कि गुण द्रव्य के साथ-साथ रहते हैं इसलिये सहभावी कहलाते हैं क्योंकि ऐसा अर्थ करने से द्रव्य जुदा पदार्थ ठहरता है और उस द्रव्य के साथ-साथ रहने वाले गुण जुदे ठहरते हैं परन्तु इस बात का पहले ही निषेध किया जा चुका है कि गुणों से भिन्न द्रव्य कोई जुदा पदार्थ है। इसलिये सहभावी शब्द का यह अर्थ करना चाहिये कि सभी गुण साथ -साथ रहते हैं। द्रव्य अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है। उन गुणों में प्रतिक्षण परिणमन (पर्याय) होता रहता है। अनादि काल से लेकर अनन्त काल तक उन गुणों के जितने भी परिणमन होते हैं, उन सबों में गुण सदा साथ-साथ रहते हैं। गुणों का परस्पर वियोग नहीं होता है। परन्तु पर्यायों में यह बात नहीं है। वे क्रमभावी हैं। उनका सदा साथ नहीं रहता है। जो पर्यायें पूर्व समय में हैं वे उत्तर समय में नहीं रहतीं। इसलिये पर्यायें क्रमभावी हैं। जो गुण पहले समय में हैं वे ही दूसरे समय में हैं इसलिये गुण सहभावी हैं।

शंका समाधान

ननु चैवमतिव्याप्तिः पर्यायेष्वपि गुणानुषंगत्वात् ।
पर्यायः पृथगितिचेत्सर्वं सर्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १४१ ॥

अर्थ–यदि गुणों को साथ रहने से सहभावी कहा गया है तो यह लक्षण पर्यायों में भी जाता है वे भी तो साथ ही साथ रहती हैं। इसलिये वे भी गुण कहलावेंगी। यह अतिव्याप्ति दोष है। इस अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये आचार्य कहते हैं कि पर्यायों में गुणों का लक्षण नहीं आता है क्योंकि पर्यायें साथ-साथ नहीं रहती हैं किन्तु भिन्न-भिन्न रहती हैं। फिर भी यदि लक्षण को दूषित ठहराया जायगा तो पर्यायों को भी अभिन्न मानने से अवस्थाओं में भेद न रहने से सभी सब रूप हो जायेंगे अर्थात् फिर अवस्था भेद न हो सकेगा एक ही समय में जीव नारकी, मनुष्य, तिर्यञ्च, देव सब रूप ठहरेगा। जिस प्रकार जीव एक समय ज्ञान दर्शन सुखादि अनन्त गुण रूप है उसी प्रकार वह एक ही समय में मनुष्य देव नारकी होगा क्योंकि आप पर्यायों को सहभू मानना चाहते हो।

अन्वयिन् का निरूपण १४२ से १५६ तक

अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा ।
अयतीत्ययगत्यार्थाद्धातोरन्वर्थतोऽन्वयं द्रव्यम् ॥ १४२ ॥

नोट–गुण को 'अन्वयिन्' कहते हैं और द्रव्य को 'अन्वय' कहते हैं। सो पहले ग्रन्थकार 'अन्वय' शब्द की सिद्धि करते हैं।

अर्थ–अन्वय शब्द में दो पद पड़े हुये हैं। एक अनु, दूसरा अय, अनु पद का यह अर्थ है कि बिना किसी रुकावट के अव्युच्छिन्न रूप से - अटूटक धाराप्रवाह से और अय पद गति-अर्थक अय धातु से बना है, इसका अर्थ होता है कि गमन करे, चला जाय। अनु और अय=अन्वय का मिलकर अर्थ होता है कि जो बिना रुकावट के बराबर प्रवाह रूप से चला जाय । ऐसा अनुगत अर्थ घटने से द्रव्य अन्वय कहलाता है।

सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु ।
अर्थो विधिरविशेषादेकाथ वाचका अमी शब्दाः ॥ १४३ ॥

अर्थ–सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि ये सभी शब्द सामान्य रीति से एक द्रव्य रूप अर्थ के वाचक हैं।

अयमन्वयोऽस्ति येषामन्वयिनस्ते भवन्ति गुणवाच्याः ।
अयमर्थो वस्तुत्वात् स्वतः सपक्षा न पर्ययापेक्षाः ॥ १४४ ॥

अर्थ–यह अन्वय जिनके हैं वे अन्वयी कहलाते हैं। ऐसे अन्वयी गुण कहलाते हैं। सारांश यह है कि वे गुण वस्तुत्व रूप से स्वयं एक-दूसरे के सपक्ष हैं, मित्र हैं, साथ मिलकर रहने वाले हैं और एक गुण अपने को दूसरे गुण रूप प्रगट कर देता है क्योंकि उन सबका अन्वय-द्रव्य एक है किन्तु एक-दूसरे के विपक्ष-शत्रु मिलकर न रहने वाले नहीं हैं जैसे पर्यायें एक साथ मिलकर नहीं रहती हैं और एक पर्याय अपने को दूसरे रूप नहीं प्रगट कर सकती है। ऐसे गुण नहीं हैं और वे गुण पर्यायों की अपेक्षा भी नहीं रखते हैं जैसे सोने का पीला गुण चाहे कुण्डल पर्याय में हो या कड़ा पर्याय में वह अपने को पीला रूप प्रकाश करता रहेगा। उसको अपना स्वरूप दिखलाने में पर्याय की अपेक्षा नहीं है। इसी प्रकार जीव चाहे मनुष्य हो या देव, ज्ञान अपने को ज्ञान गुण रूप से प्रगट करता ही है।

भावार्थ–प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं। उनके समुदाय का नाम ही द्रव्य या अन्वय या वस्तु है। उन सब गुणों का परस्पर में सपक्षभाव है। विपक्ष भाव नहीं है क्योंकि उनका अन्वय-द्रव्य-वस्तु एक है। भेददृष्टि से नाना होने पर भी अभेद दृष्टि से सब गुण एक गुण ही हैं। किसी भी गुण की मुख्यता से कथन करते समय शेष गुणों का भी गौण रूप से उसी में कथन हो जाता है और सब गुणों का रूप उसी में समाविष्ट हो जाता है। वह इस प्रकार जैसे सोने की लठ को एक द्रव्य समझो। उसमें पीलापन, भारीपन, चिकनाहट गुण समझो। क्योंकि इनमें लक्षण भेद है पर कमाल यह है कि जब हम उस लठ को पीले रूप देखते हैं तो सम्पूर्ण लठ पीले रूप दीखती है भारीपन, चिकनाहट कहीं अलग नहीं रह जाता। उसी प्रकार जब उसी लठ को भारीपन से देखते हैं तो सम्पूर्ण लठ भारीपन दीखती है। जब उसी को चिकने रूप देखते हैं तो सम्पूर्ण चिकनी दीखती है और है भी ऐसा ही। उस लठ का नाम 'अन्वय' है और तीनों गुण उस अपने एक ही 'अन्वय' को बतलाते हैं इसलिये गुण को अन्वयिन् कहा। देखिये गुण अनेक होने पर भी एक ही है। जो पीली है वही भारी है वही चिकनी है। पर्यायों में यह बात नहीं है वे मिलकर नहीं रहती। उनका अन्वय द्रव्य एक नहीं है तथा एक पर्याय अपने को दूसरे रूप नहीं प्रकट कर सकती। देव, मनुष्य इकट्ठे नहीं रहते। पर्याय दृष्टि से उनका द्रव्य भी जुदा-जुदा है तथा देव अपने को मनुष्य रूप नहीं प्रगट कर सकता। कुण्डल कड़े रूप नहीं दीख सकता। अतः वे भिन्न-भिन्न व्यतिरेकी हैं। अनेक हैं। इसी दृष्टांत को ग्रन्थकार ने आगे जीव का दृष्टांत देकर समझाया है कि जीव में लक्षण भेद से ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुण हैं पर ज्ञानरूप देखने से सारा जीव ज्ञान रूप दीखता है। वही जीव दर्शन रूप देखने से दर्शन रूप दीखता है। जो जाननेवाला है वही देखनेवाला है इत्यादिक अनेक होकर भी एक है। खूब समझाया है। ग्रंथकार की बुद्धि की विचक्षणता है। इसीलिये गुणों में सपक्षपना (मित्रता है) विपक्षपना (शत्रुता) नहीं है। इसी का विशेष स्पष्टीकरण आगे श्लोक नं. १५३ से १५६ तक तथा ४८१ से ४९२ तक किया है।

शंका

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेऽपि ।
तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ॥ १४५ ॥

अर्थ–शंका, गुणों का सत् रूप अन्वय एक होने पर भी उनमें व्यतिरेकीपना होना चाहिये क्योंकि वे अनेक हैं और उन सत् रूप गुणों में भाव से भी व्यतिरेकीपना है जैसे ज्ञान में जानने का भाव है, दर्शन में देखने का भाव है। इस प्रकार सब में भिन्न-भिन्न भाव हैं। अतः वे व्यतिरेकी होने चाहिये यदि ऐसा कहो तो–

भावार्थ–अनेकों में ही व्यतिरेक घटता है। गुण भी अनेक हैं। इसलिये उनमें भी व्यतिरेक घटना चाहिये। फिर गुणों को अन्वयी ही क्यों कहते हो ? उनके व्यतिरेकपने में यह युक्ति है कि उन सबके लक्षण, भाव, कार्य भिन्न-भिन्न हैं।

तन्न यतोऽस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेकेऽप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ॥ १४६ ॥

अर्थ–शंकाकार की उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक में विशेषता है। व्यतिरेकी अनेक होते हैं और सब अन्वयी गुण नियम से एक होता है (व्यतिरेकी अनेक कैसे हैं यह आगे १४७ से १५२ तक स्पष्ट समझाया

है तथा गुण अनेक होने पर भी एक अन्वयी कैसे है यह आगे १५३ से १५६ तक तथा और आगे ४८१ से ४९२ तक स्पष्ट समझाया है।)

देशव्यतिरेक

स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोऽपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥ १४७ ॥

अर्थ–वह व्यतिरेक इस प्रकार है कि जो एक देश है। वह वही देश है वह दूसरा देश नहीं है और वह दूसरा देश भी वह पहला देश नहीं है किन्तु वह दूसरा देश वह दूसरा देश ही है। यह देश व्यतिरेक है।

भावार्थ–यह ध्यान रहे कि यहाँ दो द्रव्यों की बात नहीं है। एक द्रव्य का दूसरे में अभाव देशव्यतिरेक नहीं है। वह तो द्रव्यों का अत्यन्ताभाव है। यहाँ तो एक ही द्रव्य का कथन चल रहा है। यहाँ एक ही द्रव्य के जो बहु प्रदेश हैं वे आपस में व्यतिरेक रूप हैं। जो एक प्रदेश है, वह वही प्रदेश है, वह दूसरा प्रदेश नहीं है। जो दूसरा प्रदेश है, वह दूसरा ही है वह पहला नहीं है। इस प्रकार एक द्रव्य के जितने भी प्रदेश हैं वे परस्पर व्यतिरेक रूप हैं। इन प्रदेशों के व्यतिरेक को ''देशव्यतिरेक'' कहते हैं। यदि आप यहाँ एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव को व्यतिरेक अर्थ देंगे तो सारे ग्रंथ का ही अर्थ गलत हो जायेगा।

क्षेत्र व्यतिरेक

अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम् ।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥ १४८ ॥

अर्थ–और जो एक देश जितने (अपने) क्षेत्र को व्याप कर रहता है वह उसका क्षेत्र है दूसरा नहीं है और उससे दूसरा देश जितने अपने क्षेत्र को व्याप कर रहता है, वह ही उसका क्षेत्र है, पहले वाला क्षेत्र उसका क्षेत्र नहीं है। यह क्षेत्र व्यतिरेक है।

भावार्थ–(१) यह ध्यान रहे कि यहाँ पर क्षेत्र अर्थात् आकाश क्षेत्र की बात नहीं है क्योंकि प्रकरण एक ही द्रव्य का है। (२) और यह भी ध्यान रहे कि एक द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव का जो दूसरे द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अत्यन्ताभाव है, उसमें क्षेत्र का जो अर्थ है वह भी यहाँ नहीं है। वहाँ तो यह अर्थ है कि एक द्रव्य के जितने प्रदेश हैं उनका दूसरे द्रव्य के प्रदेशों में अभाव है। वह अर्थ भी यहाँ नहीं है। (३) यहाँ तो यह अर्थ है कि एक द्रव्य का एक प्रदेश अपने जितने क्षेत्र में है अर्थात् वह प्रदेश ही उसका क्षेत्र है। उस क्षेत्र का उसी द्रव्य के दूसरे प्रदेश के क्षेत्र में अभाव है। यह क्षेत्र व्यतिरेक है।

काल व्यतिरेक

अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या ।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेऽपि कालव्यतिरेकः ॥ १४९ ॥

अर्थ–और एक समय में जो भी अवस्था होती है वह दूसरी नहीं है, वह वही है और दूसरे समय में भी जो अवस्था होती है वह दूसरी ही है वह पहली नहीं है (एक ही द्रव्य की एक पर्याय का दूसरी पर्याय से भिन्नपना) यह काल व्यतिरेक है।

भावार्थ–एक द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का दूसरे द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अभाव है, वहाँ तो एक द्रव्य की एक पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय में अभाव अर्थ है। वह अर्थ यहाँ नहीं है। यहाँ तो एक ही द्रव्य की बात है। एक द्रव्य की एक समय की एक पर्याय उसी द्रव्य की दूसरे समय की दूसरी पर्याय से भिन्न है यह काल व्यतिरेक है। वह पर्याय वही है दूसरी नहीं है। दूसरी पर्याय दूसरी ही है पहली नहीं है। यह व्यतिरेक के बोलने का ढंग है। इसका लक्षण ही ऐसा है।

भाव व्यतिरेक

भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः।
सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योऽपि भावव्यतिरेकः ॥ १५० ॥

अर्थ– (एक द्रव्य के एक गुण का) कोई एक गुणांश है। वह (गुणांश) वही है दूसरा गुणांश नहीं है और वह दूसरा गुणांश भी वह पहला नहीं है। वह दूसरा गुणांश दूसरा ही है। यह भाव व्यतिरेक है।

भावार्थ–(१) यहाँ दो द्रव्यों के परस्पर गुणों के अभाव की बात नहीं है वह तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अभाव में है। (२) तथा एक ही द्रव्य के अनन्त गुणों में परस्पर व्यतिरेक भी नहीं है। यह अर्थ नहीं है कि एक द्रव्य का जो ज्ञान गुण है वह ज्ञान ही है दर्शन नहीं है। गुणों में व्यतिरेक होता ही नहीं, अन्वय ही होता है। (३) किन्तु एक द्रव्य के किसी एक गुण के जो शक्ति के अनन्त अविभाग प्रतिछेद हैं उनको गुणांश कहते हैं। उसमें किसी एक गुण का कोई एक गुणांश लें। वह गुणांश वही है दूसरा गुणांश नहीं है। वह दूसरा गुणांश भी वह दूसरा ही है पहला नहीं है। इस प्रकार एक ही गुण के अनन्त अविभाग प्रतिछेदों का जो परस्पर व्यतिरेक है वह यहाँ इष्ट है। इसको भावव्यतिरेक कहते हैं।

यदि पुनरेवं न स्यात्स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैषः।
एकांशदेशमात्रं सर्वं स्यात्तन्न बाधितत्वात्प्राक् ॥ १५१ ॥

अर्थ–यदि ऐसा न होवे (अर्थात् एक ही द्रव्य में इस प्रकार का व्यतिरेक न होवे) और पुनः-पुनः 'यह वही है' 'यह वही है' ऐसा होवे तो सम्पूर्ण एक वस्तु एकांश देश मात्र रह जाये (अर्थात् हर एक द्रव्य एक प्रदेश, एक प्रदेशी क्षेत्र, एक ही गुणवाला, और एक ही पर्याय वाला हो जायेगा) यह पहले (श्लोक ६८-६९-७० में) बाधित किया जा चुका है।

अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोऽपि सन्ति गुणाः ॥ १५२ ॥

अर्थ–ऊपर कहे हुये कथन का खुलासा अर्थ इस प्रकार है कि पर्यायें प्रत्येक भिन्न-भिन्न जैसे एक-एक करके कही गई हैं। वे व्यतिरेकी हैं और अनेक है वैसे गुण अनेक होने पर भी वैसे व्यतिरेकी नहीं हैं।

भावार्थ–जैसे ऊपर एक-एक प्रदेश भिन्न-भिन्न, एक-एक प्रदेश का क्षेत्र भिन्न-भिन्न, एक-एक समय की पर्याय भिन्न-भिन्न, हर एक गुण का एक-एक गुणांश भिन्न-भिन्न ये सब इस प्रकार के भिन्न हैं कि इनमें "यह वह नहीं है" ऐसा व्यतिरेक लक्षण पाया जाता है और ये अनेक हैं वैसे गुण अनेक होने पर भी एक है। क्योंकि प्रत्येक गुण में "यह वही है" ऐसा लक्षण घटता है। वे गुण अनेक होने पर भी एक कैसे हैं और उन सब में "यह वह नहीं है" ऐसा व्यतिरेकी लक्षण न घटकर "यह वही है" ऐसा अन्वय लक्षण किस प्रकार घटता है सो पहले १४४ में तथा आगे १५३ से १५६ तक फिर आगे ४८१ से ४९२ तक समझाया है।

किन्त्वेकशः स्वबुद्धौ ज्ञानं जीवः स्वसर्वसारेण।
अथ चैकशः स्वबुद्धौ दृग्वा जीवः स्वसर्वसारेण ॥ १५३ ॥

अर्थ–गुण अनेक होने पर भी व्यतिरेकी कैसे नहीं है किन्तु एक अन्वयी कैसे है इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि एक बार अपनी बुद्धि में ज्ञान ही अपने सम्पूर्णसार रूप से जीव है। अथवा एक बार अपनी बुद्धि में दर्शन ही अपने सम्पूर्ण सार रूप से जीव है।

भावार्थ–ज्ञान की दृष्टि से जीव को देखो तो सारा जीव ज्ञानरूप है। फिर उसी जीव को दर्शन की दृष्टि से देखो तो सारा जीव दर्शनरूप है। फिर उसी को सुख की दृष्टि से देखो, सारा सुखरूप है। चाहे जिस गुण की दृष्टि से देखो, उसी रूप है। बस, इसीलिये गुण अनेक होकर भी एक अन्वयी है। पर्यायों में यह बात नहीं है। अपने अनुभव से मिलाकर देखिये।

तत एव यथाऽनेके पर्यायाः सैषः नेति लक्षणतः।
व्यतिरेकिणश्च न गुणास्तथेति सोऽयं न लक्षणाभावात् ॥ १५४ ॥

अर्थ–इसलिये जैसे पर्यायें "यह वह नहीं है" इस लक्षण से अनेक हैं और इसीलिये व्यतिरेकी हैं। उस प्रकार अनेक भी गुण 'यह वह नहीं है" इस लक्षण के न घटने से व्यतिरेकी नहीं है।

भावार्थ–देव मनुष्य नहीं है और देव अपने को मनुष्य रूप नहीं दिखला सकता अतः वह व्यतिरेकी है किन्तु गुणों में यह बात नहीं है। जो ज्ञान है वह दर्शन नहीं है ऐसा नहीं है किन्तु जो ज्ञानरूप जीव है वही दर्शनरूप जीव है। पर्यायों में यह वह नहीं है ऐसा ही लक्षण घटता है किन्तु गुणों में यह वही है ऐसा ही लक्षण घटता है। इसी से पर्यायें व्यतिरेकी हैं और गुण अन्वयी हैं।

तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च ।
जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् स एव तावांश्च ॥ १५५ ॥

अर्थ–उस गुण के अन्वयपने का लक्षण इस प्रकार है कि जैसे 'ज्ञान जीव है' ऐसा कहने पर जो जितना जीव आया। 'दर्शन जीव है' यह कहने पर भी वह ही जीव उतना ही आया। यह प्रत्यभिज्ञान से सिद्ध है।

भावार्थ–गुणों में अन्वय लक्षण ही घटता है। जिस समय जीव ज्ञान स्वरूप कहा जाता है उस समय वह उतना ही है और जिस समय जीव को दर्शन स्वरूप कहा जाता है उस समय भी वह उतना ही है। ज्ञान अथवा दर्शन रूप जीव को कहने में "यह वही है" ऐसा ही प्रत्यभिज्ञान होता है। "यह वह नहीं है" ऐसा व्यतिरेकी ज्ञान नहीं होता। इसलिये गुण अनेक होने पर भी अन्वयी एक है। व्यतिरेक नहीं है।

एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरूपदेशाद्वा ।
यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एव हेतोश्च ॥ १५६ ॥

अर्थ–गुरु-गम से यह क्रम सुखादि गुणों में भी लगा लेना चाहिये। जो जीव जानता है, वही देखता है और वही सुख को अनुभव करता है। इन सब कार्यों में "यह वही है" ऐसी ही प्रतीति होती है। इस कारण से गुण अनेक होकर भी व्यतिरेकी नहीं हैं किन्तु सब गुण एक गुण रूप हैं क्योंकि उनका अन्वय द्रव्य एक है।

गुण व्यतिरेकी नहीं किन्तु अन्वयी कैसे हैं ?

द्रव्य अनन्त गुणों का तादात्म्य एक अखण्ड पिण्ड है और वह भी ऐसा पिण्ड है कि जिस गुण की विवक्षा करके उसे देखो, सारे का सारा द्रव्य उसी रूप प्रतीत होगा। यही गुणों में अन्वयीपना है जैसे एक सोने की लठ लीजिये। उसे पीलेपन की दृष्टि से देखिये तो सम्पूर्ण लठ पीली दृष्टिगत होगी, फिर भारीपन से देखिये सारी भारी, फिर चिकनेपन से देखिये सारी चिकनी। यद्यपि पीला भारी स्निग्ध लक्षण भेद से भिन्न हैं पर उनका अन्वय द्रव्य इस कमाल से एक है कि सब गुण एक में अन्तर्लीन होकर अपने को उस विवक्षित गुण रूप ही उपस्थित कर देते हैं। यही गुणों का अन्वयीपना है। पर्यायों में यह बात नहीं। जो देव रूप है वह अपने को मनुष्य रूप नहीं दिखला सकती किन्तु भिन्न-भिन्न रूप ही दिखलायेंगी अतः वह व्यतिरेकी ही है। वे वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार एक आम को लीजिये। उसको रूप की दृष्टि से देखिये सारा पीला है, रस की दृष्टि से देखिये सारा मीठा है। इसी प्रकार एक जीव को लीजिये उसे ज्ञान की दृष्टि से देखिये सारा जाननेवाला है, दर्शन की दृष्टि से देखिये सारा देखनेवाला है, सुख की दृष्टि से देखिये सारा भोगनेवाला है। क्योंकि सबका तादात्म्य अन्वय एक है इसलिये सब एक-दूसरे में अन्तर्लीन होकर अपने को एक रूप उपस्थित करते हैं इसलिये अन्वयी हैं। गुण वास्तव में भिन्न-भिन्न नहीं है। पर्यायों में यह बात नहीं है। कुण्डल अपने को कड़ा रूप उपस्थित नहीं कर सकता। अतः उनमें वास्तव में भिन्नता है। अतः उन्हें व्यतिरेकी कहते हैं। पर्याय का लक्षण 'यह वह नहीं है' ऐसा ही है। गुण का लक्षण 'यह वही है' ऐसा ही है। बस यह व्यतिरेक और अन्वय का अन्तर जानने की चाबी है।

इस ग्रंथ में व्यतिरेक का स्पष्टीकरण १४७ से १५२ में है। तथा अन्वय का स्पष्टीकरण १४४, १५३ से १५६ तथा ४८१ से ४९२ तक है। इनको अभ्यास करने से व्यतिरेक और अन्वय का अन्तर झलक जायेगा।

'अर्थ' का निरूपण १५७ से १५९ तक

अथ चोदिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः ।
तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थाद्यौगिकं तदेवेति ॥ १५७ ॥

अर्थ—और जो पहले कहा गया था कि गुण 'अर्थ' इस नाम से भी कहने योग्य है। वह भी रूढ़िवश नहीं है किन्तु अर्थ से वह भी यौगिक ही है ।

स्याद्‌ऋगताविति धातुस्तद्रूपोऽयं निरुच्यते तज्ज्ञैः ।
अन्वर्थोऽनुगतार्थादनादिसंतानरूपतोऽपि गुणः ॥ १५८ ॥

अर्थ—'ऋ' यह एक धातु गति (जाना) अर्थ में है। 'अर्थ' यह शब्द उसका रूप उसके जाननेवालों (वैयाकरणों) द्वारा कहा जाता है। गुण का 'अर्थ' नाम 'अन्वर्थक' ही है क्योंकि जो गमन करे उसको अर्थ कहते हैं और गुण भी अनादि सन्तान रूप से साथ-साथ चले जाते हैं। अब इसी का भावार्थ ग्रन्थकार स्वयं अगले श्लोक द्वारा स्पष्ट करते हैं।

अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः ।
नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥ १५९ ॥

अर्थ—ऋ धातु से बने हुए अर्थ शब्द का भाव यह है कि गुण भी नियम से स्वतः सिद्धपरिणामी हैं। इसलिये वे कथंचित् नित्य भी हैं और कथंचित् अनित्य भी हैं और इसी से उनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं।

गुणों के भेद १६० से १६३ तक

अस्ति विशेषस्तेषां सति स समाने यथा गुणत्वेऽपि ।
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति ॥ १६० ॥

अर्थ—यद्यपि गुणत्व सामान्य की अपेक्षा से सभी गुणों में समानता है तथापि उनमें विशेयता भी है। कितने ही उनमें साधारण गुण हैं और कितने ही असाधारण गुण हैं।

साधारणास्तु यतरे ततरे नाम्ना गुणा हि सामान्याः ।
ते चासाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः ॥ १६१ ॥

अर्थ—जितने साधारण गुण हैं वे सामान्य गुण कहलाते हैं और जितने असाधारण गुण हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं।

भावार्थ—जो गुण सामान्य रीति से हरएक द्रव्य में पाये जायें, उन्हें तो सामान्य अथवा साधारण गुण कहते हैं और जो गुण खास-खास द्रव्यों में ही पाये जावें उन्हें विशेष अथवा असाधारण गुण कहते हैं। अर्थात् जो सब द्रव्यों में रहें वे सामान्य और जो किसी-किसी द्रव्य में रहें वे विशेष कहलाते हैं।

तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात् ।
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः ॥ १६२ ॥

अर्थ—ऐसा क्यों कहा जाता है? इसका कारण यह है कि साधारण गुणों से तो द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है और विशेष गुणों से द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है।

संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति ।
अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति ॥ १६३ ॥

अर्थ—उदाहरण इसप्रकार है कि सत् (अस्तित्व) यह गुण सामान्य द्रव्य का साधक है और ज्ञान गुण द्रव्य विशेष (जीव) का साधक है ।

भावार्थ—सत् गुण सभी द्रव्यों में समान रीति से पाया जाता है इसलिये सभी द्रव्य सत् कहलाते हैं परन्तु ज्ञान गुण सभी द्रव्यों में नहीं पाया जाता किन्तु जीव में ही पाया जाता है इसलिये ज्ञान विशेष गुण है और सत् सामान्य गुण है। इसी प्रकार सभी द्रव्यों में सामान्य गुण समान है और विशेष गुण जुदे-जुदे हैं।

नोट—वस्तु निरूपण महा अधिकार में गुणत्व को निरूपण करनेवाला तीसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ।

चौथा अवान्तर अधिकार

पर्यायों का निरूपण १६४ से १९८ तक

उक्तं हि गुणानामिह लक्ष्यं तल्लक्षणं यथाऽगमतः।
सम्प्रति पर्यायाणां लक्ष्यं तल्लक्षणं च वक्ष्यामः ॥ १६४ ॥

अर्थ–इस ग्रन्थ में आगम के अनुसार गुणों का लक्ष्य और लक्षण तो कहा गया। अब पर्यायों का लक्ष्य और लक्षण कहते हैं।

क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः ।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च ॥ १६५ ॥

अर्थ–पर्यायें क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पादव्ययरूप और कथंचित् ध्रौव्य स्वरूप होती हैं।

तत्र व्यतिरेकित्वं प्रायः प्रागेव लक्षितं सम्यक् ।
अविशिष्टविशेषमितः क्रमतः संल्लक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १६६ ॥

अर्थ–उनमें पर्यायों का व्यतिरेकीपना तो पहले गुणों के कथन में भले प्रकार सिद्ध किया जा चुका है। अब बाकी के लक्षण क्रम से यथाशक्ति यहाँ पर कहे जाते हैं।

भावार्थ–एक द्रव्य के प्रदेशों में जो परस्पर अभाव है वह देशव्यतिरेकी पर्याय है। प्रत्येक प्रदेश का निज क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। यह क्षेत्र व्यतिरेकी पर्याय है। एक-एक समय की पर्याय भिन्न-भिन्न है। यह काल व्यतिरेकी पर्याय है और एक-एक गुण के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों की परस्पर भिन्नता है यह भाव व्यतिरेकी पर्याय है। व्यतिरेकी का लक्षण यह है "यह वही है दूसरा नहीं है और दूसरा भी पहला नहीं है, दूसरा दूसरा ही है। देखिये पूर्व श्लोक १४७ से १५२ तक ।

क्रमवर्ती का निरूपण १६७ से १६९ तक

अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे ।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः ॥ १६७ ॥

अर्थ–पाद विक्षेप का अर्थ होता है क्रम से गमन करना अथवा क्रम से होना। इसी अर्थ में क्रमधातु प्रसिद्ध है। उसी का क्रम शब्द बना है। यह शब्द अपने अर्थ का उल्लंघन नहीं करता है।

वर्तन्ते तेन यतो, भवितुंशीलास्तथास्वरूपेण।
यदि वा स एव वर्ती येषां, क्रमवर्तीनस्ते एवार्थात् ॥ १६८ ॥

अर्थ–क्रम से जो वर्तन करें अथवा क्रम से जो होवें उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं अथवा क्रमस्वरूप से होने का जिनका स्वभाव है उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। अथवा क्रम ही जिनमें होता रहे उन्हें ही अनुगत अर्थ होने से क्रमवर्ती कहते हैं ऐसी क्रमवर्ती पर्यायें होती हैं।

भावार्थ–जिस प्रकार चलते समय दोनों पांव क्रमशः एक के बाद एक ही चलते हैं। दोनों पैर कभी इकट्ठे नहीं चलते। उसी प्रकार पर्यायें भी क्रमशः एक के बाद एक चलती हैं। कभी दो पर्यायें इकट्ठी नहीं होती। अतः पर्यायों को क्रमवर्ती भी कहते हैं जैसे नारकी मनुष्य देव, ये क्रमवर्ती पर्यायें हैं।

अयमर्थः प्रागेकं जातं उच्छिद्य जायते चैकः।
अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योऽप्युत्पद्यते यथादेशं ॥ १६९ ॥

अर्थ–पर्यायें क्रमवर्ती हैं, इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार पहले एक पर्याय हुई, फिर उसका नाश होने पर दूसरी हुई, उस दूसरी का भी नाश होने पर तीसरी हुई। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश होने पर जो उत्तर-उत्तर पर्यायें क्रम से होती जाती हैं इसी का नाम क्रमवर्ती है। सब पर्यायें अपने एक ही देश (द्रव्य) के आश्रय से उत्पत्ति विनाश करती हैं।

व्यतिरेक और क्रम में अन्तर का निरूपण (१७० से १७५ तक)

शंका

ननु यद्यस्ति स भेदः शब्दकृतो भवतु वा तदेकार्थात् ।
व्यतिरेकक्रमयोरिह को भेदः पारमार्थिकस्त्विति चेत् ॥ १७० ॥

अर्थ– यदि व्यतिरेकीपन और क्रमवर्तीपन में शब्द भेद ही माना जाय तब तो ठीक है क्योंकि दोनों का एक ही अर्थ है। यदि इन दोनों में अर्थ भेद भी माना जाता है तब बतलाना चाहिये कि वास्तव में इन दोनों में क्या भेद है ?

भावार्थ–व्यतिरेकी में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जो व्यतिरेक बतलाया था उसमें काल व्यतिरेक पर्याय में होता है। एक समय की पर्याय दूसरे समय की पर्याय से भिन्न है, यह काल व्यतिरेक है। अब शंकाकार कहता है कि व्यतिरेकी भी समय-समय की पर्याय को कहते हैं और क्रमवर्ती भी समय-समय की पर्याय को कहते हैं। फिर इन दोनों में केवल नाम का ही भेद है या कुछ भाव सम्बन्धी भी भेद है क्या ?

समाधान १७१, से १७५ तक

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सदंशधर्मे द्वयोः समानेऽपि ।
स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्ययाः सूक्ष्माः ॥ १७१ ॥

अर्थ–शंकाकार का यह कहना कि "व्यतिरेकी और क्रमवर्ती दोनों का एक ही अर्थ है" ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्य के पूर्वसमयवर्ती और उत्तरसमयवर्ती अंशों में समानता होने पर भी विशेषता है। जिस प्रकार स्थूल पर्यायों में सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन (गर्भित) हो जाती हैं परन्तु लक्षण भेद से भिन्न हैं। उसी प्रकार क्रम में व्यतिरेक गर्भित है। पर लक्षण भेद से भिन्न हैं।

भावार्थ–द्रव्य का प्रतिक्षण जो परिणमन होता है उसके दो भेद हैं। एक समयवर्ती परिणमन की अपेक्षा द्वितीय समयवर्ती परिणमन में कुछ समानता भी रहती है और कुछ असमानता भी रहती है। दृष्टान्त के लिए बालक को ही ले लीजिए। बालक की हरएक समय में अवस्थायें बदलती रहती हैं। यदि ऐसा न माना जावे तो एक वर्ष बाद बालक में पुष्टता और लम्बाई नहीं आनी चाहिये और वह एक दिन में नहीं आ जाती है, प्रति समय बढ़ती रहती है परन्तु हमारी दृष्टि में बालक की जो पहले समय की अवस्था है वही दूसरे समय में दीखती है। इसका कारण वही सदृश परिणमन है। जो समय-समय का असदृश अंश है वह सूक्ष्म है। इन्द्रियों द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है। सदृश परिणमन अनेक समयों में एकसा है। इसलिये कहा जाता है कि स्थूल पर्याय चिरस्थायी हैं । स्थूल पर्यायों में यद्यपि सूक्ष्म पर्यायें गर्भित हो जाती हैं तथापि लक्षण भेद से वे भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार क्रम में यद्यपि व्यतिरेक गर्भित हैं तो भी लक्षण भेद से भेद है सोई आगे कहा जाता है–

तत्र व्यतिरेकः स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा ।
अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ॥ १७२ ॥

अर्थ–व्यतिरेक वहाँ होता है जहाँ द्रव्यों के सदृश अंशों में परस्पर के अभाव रूप से पृथक्-पृथक् अंश विभाग किया जाता है।

भावार्थ–क्रम और व्यतिरेक का अन्तर समझाने के पहले व्यतिरेक को समझाते हैं। व्यतिरेक का लक्षण परस्पर अभाव है जैसे यह वही है दूसरा नहीं है। दूसरा-दूसरा ही है पहला नहीं है। मनुष्य मनुष्य ही है देव नहीं है। देव देव ही है मनुष्य नहीं है। अब बताते हैं कि यह कैसे होता है तो कहते हैं कि सत् रूप जीव द्रव्य तो वही है और मनुष्य तथा देव दोनों में उसके सत् अंश भी बराबर हैं किन्तु उस सत् के उन्हीं सदृश अंशों का जो मनुष्य रूप विभाग है वह जुदा है और उसी सत् के उन्हीं सदृश अंशों का जो देव रूप विभाग है वह जुदा है। इस जुदापने को व्यतिरेकी कहते हैं।

तस्माद्व्यतिरेकित्वं तस्य स्यात् स्थूलपर्यये सूक्ष्मः*।
सोऽयं भवति न सोऽयं यस्मादेतावतैव संसिद्धिः ॥ १७३ ॥

अर्थ–इसलिये व्यतिरेकीपना उस (सत्) की स्थूल पर्याय में सूक्ष्म होता है। 'यह वही है यह वह नहीं है' क्योंकि इससे ही उस व्यतिरेक की भले प्रकार सिद्धि होती है। (अर्थात् जो एक समय की पर्याय है वह वही है वह दूसरे समय की नहीं है बस इसी से व्यतिरेक भले प्रकार सिद्ध हो जाता है।)

भावार्थ–एक समयवर्ती पर्याय की द्वितीय समयवर्ती पर्याय में अभाव लाना, इसी का नाम व्यतिरेक है। यद्यपि स्थूल पर्यायों का समान रूप से परिणमन होता है तथापि एक समयवर्ती परिणमन (आकार) दूसरे समयवर्ती परिणमन से भिन्न है। दूसरे समयवर्ती परिणमन पहले समयवर्ती परिणमन से भिन्न हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न समयों में होनेवाले भिन्न-भिन्न आकारों में परस्पर अभाव घटित करना इसी का नाम व्यतिरेक है। जैसे क्रम से परिणमन करने वाले सत् की मनुष्य पर्याय हुई वह स्थूल है। उसमें जो समय-समय का ज्ञानादि का परिणमन है वह सूक्ष्म है। इस प्रकार स्थूल क्रमवर्ती पर्याय में सूक्ष्म व्यतिरेकी पर्याय है। उसमें जो एक समय की अवस्था है वह वही है दूसरे समय की नहीं है। इस परस्पर अभाव लक्षण से उसी व्यतिरेकीपने की सिद्धि है।

विष्कंभ क्रम इति वा क्रमः प्रवाहस्य कारणं तस्य ।
न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा ॥ १७४ ॥

अर्थ–जो विस्तारयुक्त हो वह क्रम कहलाता है। क्रम प्रवाह का कारण है। क्रम में यह नहीं विवक्षित है कि यह वह है अथवा अन्य है।

भावार्थ–एक के पीछे दूसरी, दूसरी के पीछे तीसरी, तीसरी के पीछे चौथी, इसको प्रवाह, विस्तार या विष्कंभ कहते हैं। क्रम से परिणमन होना इसका कारण है। इसमें 'यह वही है' इस तथात्व की कि 'यह वह नहीं है' इस अन्यथात्व की विवक्षा नहीं होती है। जैसे किसी सत् की क्रम से परिणमन करते-करते मनुष्य पर्याय हुई । अब समय-समय में उसका मनुष्य रूप ही परिणमन हो रहा है। यह मनुष्य पर्याय एक विष्कंभ है और समय-समय मनुष्य का मनुष्य रूप परिणमन प्रवाह क्रम आधीन है। पहले समय से दूसरे समय का मनुष्य वही है या दूसरा है क्रम में इस पर दृष्टि नहीं रहती है। क्रम में तो केवल समय-समय का परिणमन का प्रवाह विवक्षित है जैसे पानी का पूर प्रवाह रूप से बहता चला जाता है अथवा सत् का मनुष्य रूप से परिणमन होता चला जाता है।

क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च ।
स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवतीति ॥ १७५ ॥

अर्थ–क्रमवर्तीपना व्यतिरेक के पहले होता है और नियम से व्यतिरेक सहित होता है। एक पर्याय के पीछे दूसरी, दूसरी के पीछे तीसरी, तीसरी के पीछे चौथी, इस प्रकार बराबर के प्रवाह को क्रम कहते हैं। जैसे 'यह वह है, वह नहीं है और यह वैसा है वैसा नहीं है'' इस प्रकार परस्पर में आने वाले अभाव को व्यतिरेक कहते हैं।

भावार्थ–एक के पीछे दूसरी, तीसरी, चौथी इस प्रकार बराबर होनेवाले प्रवाह को क्रम कहते हैं। क्रम में यह बात नहीं विवक्षित है कि ''यह वह है यह वह नहीं है'' यह विवक्षा व्यतिरेक में है। इसलिये क्रम व्यतिरेक के पहले होता है, क्रम व्यतिरेक का कारण है, व्यतिरेक उसका कार्य है। इसलिये क्रम और व्यतिरेक एक नहीं है किन्तु इन दोनों में कारण कार्य भाव भी है और लक्षण की भिन्नता भी है। क्रमवर्ती परिणमन कभी सर्वथा सदृश नहीं होता है। उसमें विशदृशता रहती ही है। इसलिये कहते हैं कि पहले क्रम के आधीन अवस्था उत्पन्न होती है। वह अवस्था पहली अवस्था से कुछ भिन्नता को लिये हुये अवश्य होती है। अतः पहले क्रम फिर व्यतिरेक तथा प्रत्येक क्रम व्यतिरेक सहित ही होता है। समय क्रम और व्यतिरेक का एक ही है। क्रम से होनेवाली प्रत्येक अवस्था में यह लक्षण पाया ही जाता है कि यह अवस्था यही है वह नहीं है। तथा यह अवस्था अपने स्वरूप रूप ही है उस स्वरूप रूप नहीं है। इसलिये उस क्रम में व्यतिरेकपना रहता ही है।

* 'स्थूलपर्यय स्थूलः' ऐसा भी पाठ है पर हमको पूर्वापर अनुसंधान देखकर 'स्थूलपर्यये सूक्ष्मः' पाठ ठीक लगता है।

क्रम और व्यतिरेक के स्वरूप पर कुछ प्रकाश

द्रव्य जैसे स्वभाव से स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वभाव से प्रति समय परिणमन भी किया करता है। जैसे एक जीव है। वह परिणमन करके मनुष्य से देव हुआ। अब यह जीव वही है जो पहले था इसको 'तथात्व' कहते हैं और मनुष्य से देव हुआ इसलिये जो पहले था वह नहीं है इसको 'अन्यथात्व' कहते हैं। अब प्रत्येक समय परिणमन करना इसको क्रम कहते हैं क्योंकि वह परिणमन क्रम से होता है। दो परिणमन एक साथ नहीं होते। अतः प्रत्येक समय की पर्याय को क्रमवर्ती कहते हैं। यद्यपि क्रम में तथात्व तथा अन्यथात्व दोनों अवश्य होते हैं परक्रमवर्ती लक्षण में तथात्व अन्यथात्व पर दृष्टि नहीं है, क्रम परिणमन के प्रवाह पर दृष्टि है। अब उस क्रम में जो पहले समय की पर्याय है वह पहले समय की ही है दूसरे समय की नहीं है और जो दूसरे समय की है वह पहले समय की नहीं है दूसरी-दूसरी ही है यह जो उनमें परस्पर अभाव है इसको व्यतिरेकी कहते हैं। इसमें तथात्व अन्यथात्व पर ही दृष्टि है। परस्पर अभाव इसका लक्षण है। क्रम को स्थूल कहते हैं। पहले समय की पर्याय से दूसरे समय की पर्याय में क्या अन्यथात्व है। वह सूक्ष्म है अतः व्यतिरेकी को सूक्ष्म कहते हैं। दूसरे जो भी क्रमवर्ती परिणमन होगा वह व्यतिरेकीपने को लिये हुये अवश्य होगा। इसलिये क्रम और व्यतिरेकी एक समय में होने पर भी पहले क्रम फिर व्यतिरेकी क्योंकि पहले वदले तभी तो कहें कि यह वही है दूसरी नहीं है। दूसरा दूसरा ही है पहला नहीं है। अतः क्रम व्यतिरेक पुरस्सर ही होता है और व्यतिरेक विशिष्ट ही होता है।

यद्यपि क्रमवर्ती भी पर्याय को कहते हैं और व्यतिरेकी भी पर्याय को कहते हैं फिर भी उनमें यह अन्तर है। (१) क्रमवर्ती स्थूल है। व्यतिरेकी सूक्ष्म है। (२) क्रम का लक्षण 'क्रम-क्रम से वर्तना' है और व्यतिरेकी का लक्षण 'परस्पर अभाव' है। (३) क्रम में तथात्व अन्यथात्व की विवक्षा नहीं है जब कि व्यतिरेकी में तथात्व अन्यथात्व की विवक्षा है। (४) जैसे स्थूल पर्यायों में स्थूल पर्यायें अन्तर्लीन रहती हैं वैसे क्रम में व्यतिरेक अन्तर्लीन रहता है। मनुष्य देव इनको स्थूल पर्यायें कहते हैं और एक ही मनुष्य पर्याय में समय-समय जो ज्ञानादि का परिणमन हो रहा है उसको सूक्ष्म पर्याय कहते हैं। यह परिणमन मनुष्य पर्याय के अन्तर्लीन है। मनुष्य से देव होना इसको क्रमवर्ती कहते हैं क्योंकि यह क्रम से होती हैं एक साथ नहीं। और मनुष्य रूप विष्कम्भ-विस्तार एक वड़ी चौड़ी पर्याय में जो प्रत्येक समय के परिणमन में परस्पर सूक्ष्म अभावपना है वह व्यतिरेकीपना है। इस प्रकार व्यतिरेक क्रम के अन्तर्लीन है व्यतिरेकीपने में कुछ नये सत् अंश आ नहीं जाते और पहले सत् अंश कहीं चले नहीं जाते। उतने के उतने ही रहते हैं। केवल सब के सब सत् अंशों का रूपान्तर-भावान्तर-भूत्वाभवन हुआ करता है जैसे मनुष्य और देव दोनों में असंख्यता प्रदेश तो वही के वही बराबर हैं पर मनुष्य की आकृति से देव की आकृति रूप हो गये हैं । इस कारण व्यतिरेकीपना आया है। ज्ञान के केवल ज्ञान और मतिज्ञान में सत् अंश तो वही हैं केवल लोकालोक-आकार और घटाकार की अपेक्षा व्यतिरेकीपना है। सार बात यह है कि व्यतिरेक में परस्पर भिन्नता पर ही दृष्टि है और क्रमवर्ती में क्रमबद्ध परिणमन पर ही दृष्टि है। यह व्यतिरेकी और क्रमवर्ती के अन्तर को जानने की चावी है।

नोट–पहले १४७ से १५२ तक व्यतिरेक को समझाया, फिर १६७ से १६९ तक क्रमवर्ती को समझाया, फिर १७० से १७५ तक व्यतिरेक और क्रम के अन्तर को समझाया, अब क्रम और व्यतिरेक दोनों के स्वरूप को विशेष स्पष्ट करने के लिये शंका समाधानों द्वारा इसी को पीसते हैं।

शंका

ननु तत्र किं प्रमाणं क्रमस्य साध्ये तदन्यथात्वे हि ।
सोऽयं, यःप्राक्, स तथा यथेति यः प्राक् तु निश्चयादिति चेत् ॥ १७६ ॥

अर्थ–क्रम की सिद्धि में और क्रम में पाये जाने वाले अन्यथात्व अर्थात् व्यतिरेक की सिद्धि में क्या प्रमाण है क्योंकि जो पहले था सो ही यह है अथवा जैसा पहले था वैसा ही है? (अर्थात् शंकाकार क्रम और व्यतिरेक दोनों की सिद्धि चाहता है)।

भावार्थ–शंकाकार न क्रमरूप परिणमन स्वीकार करता है और न उस परिणमन में विसदृशपना स्वीकार करता है। उसके विचार में पदार्थ कूटस्थ वह का वह और वैसे का वैसा ही है।

समाधान १७७ से १८० तक

तन्न यतः प्रत्यक्षादनुभवविषयात्तथानुमानाद्वा ।
स तथेति च नित्यस्य, न तथेत्यनित्यस्य प्रतीतत्त्वात् ॥ १७७ ॥

अर्थ–उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से, अपने अनुभव से अथवा अनुमान प्रमाण से वह उसी प्रकार है, इस प्रकार नित्य की और वह उस प्रकार नहीं है इस प्रकार अनित्य की भी प्रतीति होती है।

अयमर्थः परिणामि द्रव्यं नियमाद्यथा स्वतः सिद्धम् ।
प्रति समयं परिणमते पुनःपुनर्वा यथा प्रदीपशिखा ॥ १७८ ॥

अर्थ–उपर्युक्त कथन का यह अर्थ है कि द्रव्य जिस प्रकार स्वतः सिद्ध है उसी प्रकार नियम से परिणामी भी है। जिस प्रकार दीपक की शिखा (लौ) बार-बार परिणमन करती है, उसी प्रकार प्रतिसमय द्रव्य भी परिणमन करता है।

इदमस्ति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतोऽशस्य ।
यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य ॥ १७९ ॥

अर्थ–पहले-पहले भाव का विनाश होने से किसी अंश का (पर्याय का) नाश होने से और नवीन-नवीन भाव के उत्पन्न होने से किसी अंश (पर्याय) के पैदा होने से यह परिणमन होता है।

तदिदं यथा स जीवो देवो मनुजाद्भवन्नथाप्यन्यः ।
कथमन्यथात्वभावं न लभेत स गोरसोऽपि नयात् ॥ १८० ॥

अर्थ–वह पूर्व-पूर्व भाव का विनाश और उत्तर-उत्तर भाव का उत्पाद इस प्रकार होता है–जैसे जो जीव पहले मनुष्य पर्याय में था, वही जीव मरकर देव पर्याय में चला गया। मनुष्य जीव से देवजीव कथंचित भिन्न है। जिस प्रकार दूध से दही कथंचित् अन्यथा भाव को प्राप्त होता है उसी प्रकार यह भी कथंचित् अन्यथा भाव को क्यों नहीं प्राप्त होगा ? अवश्य ही होगा।

शंका १८१–१८२

ननु चैवं सत्यसदपि किञ्चिद्वा जायते सदेव यथा ।
सदपि विनश्यत्यसदिव सदृशासदृशत्वदर्शनादिति चेत् ॥ १८१ ॥

अर्थ–शंका–इस प्रकार की भिन्नता स्वीकार करने से मालूम होता है कि सत् की तरह कुछ असत् भी पैदा हो जाता है और असत् की तरह कुछ सत् पदार्थ भी विनष्ट हो जाता है। समानता और असमानता के देखने से ऐसा प्रतीत भी होता है।

शंका चालू

सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्णः परिणमन् यथा वन्हिः ।
स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम् ॥ १८२ ॥

अर्थ–किसी-किसी का समान उत्पाद होता है और किसी-किसी का असमान उत्पाद होता है। अग्नि का जो उष्ण रूप परिणमन होता है वह उसका समान उत्पाद है और जो कच्चा आम पकने पर हरे से पीला हो जाता है वह असमान (विजातीय) उत्पाद है। इस प्रकार कुछ असत् का उत्पाद होता है कुछ सत् का नाश होता है क्या ?

भावार्थ–वस्तु के प्रति समय होनेवाले परिणमन को देखकर वस्तु को ही उत्पन्न और विनष्ट समझने वालों की यह शंका है।

समाधान १८३ से १९२ तक

नैवं यतः स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा ।
उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया ॥ १८३ ॥

अर्थ–उपर्युक्त जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि यह एक स्वाभाविक बात है कि न तो असत् पदार्थ का जन्म होता है और न सत् पदार्थ का विनाश ही होता है। जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं वे भी वस्तु के एक भाव से भावान्तर रूप हैं।

भावार्थ–जो पदार्थ है ही नहीं वह तो कहीं से आ नहीं सकता और जो उपस्थित है वह कहीं जा नहीं सकता । इसलिये न तो नवीन पदार्थ की उत्पत्ति ही होती है और न सत् पदार्थ का विनाश ही होता है किन्तु हरएक वस्तु में प्रति समय भाव से भावान्तर होता रहता है।

भाव से भावान्तर क्या है ? इसका खुलासा नीचे किया जाता है:-

अयमर्थः पूर्वं यो भावः सोऽप्युत्तरत्र भावश्च ।
भूत्त्वा भवनं भावो नष्टोत्पन्नो न भाव इह कश्चित् ॥ १८४ ॥

अर्थ–इसका यह अर्थ है कि पहले जो भाव था वही उत्तर भाव रूप हो जाता है । होकर होने का नाम ही भाव है। सर्वथा नष्ट और उत्पन्न कोई भाव नहीं होता है।

भावार्थ–आकार का नाम ही भाव है। वस्तु का एक आकार बदल कर दूसरे आकार रूप हो जाय, इसका नाम भाव से भावान्तर कहलाता है। हरएक वस्तु में प्रतिक्षण इसी प्रकार एक आकार से आकारान्तर होता रहता है। किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती और न किसी सत् पदार्थ का विनाश ही होता है।

दृष्टान्तः परिणामी जलप्रवाहो य एव पूर्वस्मिन् ।
उत्तरकालेऽपि तथा जलप्रवाहः स एव परिणामी ॥ १८५ ॥

अर्थ–दृष्टान्त के लिए जल का प्रवाह है। जो जल का प्रवाह पहले समय में परिणमन करता है वही जल का प्रवाह दूसरे समय में परिणमन करता है।

यत्तत्र विसदृशत्वं जातेरनतिक्रमात् क्रमादेव ।
अवगाहनगुणयोगाद्देशांशानां सतामेव ॥ १८६ ॥

अर्थ–यह जो द्रव्य की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में भिन्नता (असमानता) दीखती है वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़कर क्रम से होनेवाले देशांशों के अवगाहन गुण के निमित्त से ही दीखती है।

पहला दृष्टांत

दृष्टांतो जीवस्य लोकासंख्यातमात्रदेशाः स्युः ।
हानिर्वृद्धिस्तेषामवगाहनविशेषतोनतु द्रव्यात् ॥ १८७ ॥

अर्थ–दृष्टान्त इस प्रकार है। एक जीव के असंख्यात लोक प्रमाण प्रदेश होते हैं । उनकी हानि अथवा वृद्धि केवल अवगाहन की विशेषता से ही होती है । द्रव्य की अपेक्षा से नहीं होती।

भावार्थ–जीव के जितने भी (असंख्यात्) प्रदेश हैं। वे सदा उतने ही रहते हैं। न तो उनमें से कभी कुछ प्रदेश घटते हैं और न कभी कुछ प्रदेश बढ़ते हैं। किन्तु जिस शरीर में जितना छोटा या बड़ा क्षेत्र मिलता है, उसी में अपने कारण से उसके अनुसार संकुचित अथवा विस्तृत हो जाते हैं। चींटी के शरीर में भी वही असंख्यात् प्रदेश वाला आत्मा है और हाथी के शरीर में वही असंख्यात् प्रदेश वाला आत्मा है। आत्मा दोनों स्थानों में उतना ही है जितना कि वह है। केवल एक आकार से आकारान्तर रूप हो गया है। आकार से आकारान्तर को ग्रहण करने की अपेक्षा से ही आत्मा के प्रदेशों की हानि-वृद्धि समझी जाती है। वास्तव में उसमें किसी प्रकार की हानि अथवा वृद्धि नहीं होती। इसे ही हानि वृद्धि

कहो, उत्पाद व्यय कहो, विभिन्नता कहो, विसदृशता कहो एक ही बात है। वह आकार से आकारान्तर शरीर के कारण से नहीं हुआ है किन्तु उस समय के स्वकाल की योग्यता से हुआ है।

दूसरा दृष्टांत

यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजननिवशेषतोऽवगाहाच्च ॥ १८८ ॥

अर्थ–अथवा दूसरा दृष्टांत दीपक का है। दीपक की किरणें उतनी ही हैं जितनी कि वे हैं परन्तु उनमें अधिकता और न्यूनता जो आती है वह केवल घर आदि आवरक विशेष के निमित्त की उपस्थिति में अवगाहन के कारण आती है।

भावार्थ–दीपक को जैसे भी छोटे या बड़े आवरक का निमित्त उपस्थिति रूप (जिसमें दीपक रक्खा हो वह पात्र) मिलेगा, दीपक का प्रकाश उसी क्षेत्र अनुसार निज अवगाहना को अपने कारण से प्राप्त होगा। निमित्त के कारण से नहीं।

तीसरा दृष्टांत

अंशानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम् ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयान्न तु स्वांशैः ॥ १८९ ॥

अर्थ–अंशों के अवगाहन में यह दृष्टांत है कि ज्ञान गुण जितना भी है वह अपने अंशों (अविभाग प्रतिच्छेदों) में स्थित है। वह जो कभी कमती कभी बढ़ती होता है, वह केवल ज्ञेय पदार्थ का आकार धारण करने से होता है। जितना बड़ा ज्ञेय है उतना ही बड़ा ज्ञान का आकार हो जाता है। वास्तव में ज्ञान गुण के अंशों में न्यूनाधिकता नहीं होती।

भावार्थ–कम-ज्यादा जानने की अपेक्षा से है। काम करने की ताकत की अपेक्षा से है। वस्तु रूप में नहीं है। ज्ञेय को जानने से ज्ञेय का फोटो नहीं आता। आंखवत् जानता है। ज्ञेय के कारण भी नहीं जानता है। उस समय के स्वकाल की योग्यता से जानता है।

तदिदं यथा हि संविद्घटं परिच्छिन्ददिहैव घटमात्रम् ।
यदि वा सर्वं लोकं स्वयमवगच्छच्च लोकमात्रं स्यात् ॥ १९० ॥

अर्थ–दृष्टांत इस प्रकार है कि जिस समय ज्ञान घट को जान रहा है, उस समय वह घटमात्र है अथवा जिस समय वह संपूर्ण लोक को स्वयं जान रहा है, उस समय वह लोकमात्र है।

भावार्थ–घट को जानते हुये समग्र ज्ञान घटाकार में ही परिणत होकर उतना हो जाता है और समग्र लोक को जानते हुये वह लोक प्रमाण हो जाता है।

भावार्थ–पर्याय में ज्ञान के पूर्ण जानने की ताकत का नाम लोकाकार है और घट को जानने का नाम घटाकार है। समय-समय के स्वकाल की योग्यता से जानता है। ज्ञेय के या निमित्त के कारण से नहीं।

न घटाकारेऽपिचितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः।
लोकाकारेऽपि चितः नियतांशानां न चासदुत्पत्तिः ॥ १९१ ॥

अर्थ–घटाकार होने पर ज्ञान के शेष अंशों का सर्वथा नाश नहीं होता है और लोकाकार होने पर नियमित अंशों के अतिरिक्त उसमें नवीन अंशों की उत्पत्ति भी नहीं होती है। आकार का अर्थ फोटो का नहीं, जानने का है।

किन्त्वस्ति च कोऽपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्धः ।
नाम्ना चागुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभुतिलक्ष्यो वा ॥ १९२ ॥

अर्थ–किन्तु उन गुणों में एक अगुरुलघु नामक गुण है। वह वचनों के अगम्य है । स्वतः सिद्ध है। उसका प्रत्यक्ष तो सर्वज्ञ (परम गुरु) को होता है पर अनुभव से छद्मस्थ भी निश्चय कर लेता है।

भावार्थ–अगुरुलघु गुण हर एक पदार्थ में जुदा-जुदा रहता है। उस निमित्त से किसी भी शक्ति का कभी भी नाश नहीं होता है। जो शक्ति जिस स्वरूप को लिये हुये है, वह सदा उसी स्वरूप में रहती है। इसी को अवस्थितपना भी

कहते हैं। इसलिये ज्ञान गुण में तरतमता होने पर भी उसके अंशों का विनाश नहीं होता है। विशेष में गुणांशों की हानि वृद्धि होने पर भी सामान्य (गुण) में उतने के उतने अंश बनाये रखना अगुरुलघु गुण का काम है। यह प्रत्यक्ष केवली गम्य है। 'जीव के केवली होने पर सब प्रगट हो जाते हैं' इस अनुमान से यह पता चलता है कि गुण में थे तो पर्याय में प्रकट हुये। कहीं से आ थोड़ा ही गये हैं। इस स्वानुभव अनुमान से प्रत्यक्ष ख्याल आता है।

शंका १९३-१९४

ननु चैवं सत्यर्थादुत्पादादित्रयं न संभवति ।
अपि नोपादानं किल कारणं न फलं तदनन्यात् ॥ १९३ ॥

अर्थ–किसी शक्ति का कभी नाश भी नहीं होता है और न नवीन कुछ उत्पत्ति ही होती है। यदि ऐसा माना जावे तो गुणों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नहीं घट सकते हैं, न उपादान (ध्रुव) वनता है, न कोई किसी का कारण ही बन सकता है न फल ही कुछ हो सकता है क्योंकि उपर्युक्त कथन से तुम गुणों को सदा एक जैसा ही मान चुके हो।

शंका चालू

अपि च गुणः स्वांशानामपकर्षे दुर्बलः कथं न स्यात् ।
उत्कर्षे बलवानिति दोषोऽयं दुर्जयोमहानिति चेत् ॥ १९४ ॥

अर्थ–दूसरी बात यह है कि हर एक गुण के अंशों की कभी न्यूनता भी प्रतीत होती है, ऐसी अवस्था में गुण दुर्बल (सूक्ष्म-पतला) कैसे नहीं होता है ? और कभी गुण में अधिकता भी प्रतीत होती है ऐसी अवस्था में वह बलवान (सशक्त-मोटा) कैसे नहीं होता है ? यह एक महान दोष है। इसका निराकरण कुछ कठिन है ?

समाधान १९५ से १९८ तक

तन्न यतः परिणमि द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्यक् ।
उत्पादादित्रयमपि सुघटं नित्येऽथ नाप्यानित्येऽर्थे ॥ १९५ ॥

अर्थ–उपर्युक्त जो शंका की गई है वह निर्मूल है क्योंकि यह पहले (नं. ८९, १७८ में) अच्छी तरह कहा जा चुका है कि द्रव्य परिणमन शील है। इसलिये नित्य पदार्थ में ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं। अनित्य पदार्थ में नहीं घटते।

भावार्थ–गुण में पूरा ज्ञान स्थित होगा तभी तो पर्याय में हीनाधिक परिणमन करेगा। वह हीनाधिक परिणमन ज्ञानावरण कर्म या अन्य निमित्तों के कारण नहीं होता है किन्तु वस्तु के स्वतः सिद्ध परिणमन स्वभाव के कारण होता है और स्वकाल की योग्यता से होता है ऐसा ग्रन्थकार का आशय है इसी को अनवस्थित कहते हैं। दूसरा आशय उनका ऐसा है कि पर्याय में हीनाधिक होने पर भी वस्तु में गुण रूप से हर समय पूरा स्थित रहता है। इसी को अवस्थित या नित्य कहते हैं। यदि यह न माना जायेगा तो परिणमन किसके आधार पर होगा। मोक्ष का पुरुषार्थ ज्ञानी किसके आश्रय से करेंगे। गुण में भरा है तो पर्याय में पुरुषार्थ के द्वारा प्रगट किया जाता है।

जाम्बूनदे यथा सति जायन्ते कुण्डलादयो भावाः ।
अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादित्रयं भवत्येव ॥ १९६ ॥

अर्थ–सोने की सत्ता मानने पर ही तो उसमें कुण्डलादिक भाव होते हैं और उन कुण्डलादिक भावों के होने पर उनमें उत्पादादिक घटते ही हैं।

भावार्थ–जिस समय सोना कुण्डलाकार हो जाता है उस समय सोने में पहली पांसे रूप पर्याय का विनाश होकर कुण्डल रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है। सोना दोनों ही अवस्था में है। इसलिये सोने में उत्पादादि त्रय तो घट जाते हैं परन्तु सोने के प्रदेशों में वास्तव में किसी प्रकार की नवीन उत्पत्ति अथवा नाश नहीं होता है। केवल आकार से आकारान्तर होता है। यदि सोने को अनित्य ही मान लिया जाय तो फांसे के नाश होने पर कुण्डल किसका बने ? इसलिये पदार्थ में ही उत्पादादि तीनों घटते हैं। अनित्य में नहीं।

अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं फलं चैव ।
यस्मादेवास्य सतस्तद्‌द्वयमपि भवत्येतत् ॥ १९७ ॥

अर्थ–इसी प्रकार ऊपर कही हुई प्रक्रिया (रीति) के अनुसार कारण और फल भी उसी कथंचित् नित्य पदार्थ के घटते हैं क्योंकि ये दोनों ही सत् पदार्थ के ही हो सकते हैं।

आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात् ।
स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥ १९८ ॥

अर्थ–द्रव्य दृष्टि से गुणों में असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश तो दूर रहा परन्तु उनमें अपने प्रमाण से स्थूलता और कृशता (दुर्बलता) भी नहीं आती ।

भावार्थ–अगुरुलघु गुण के कारण गुण तो त्रिकाल एक रूप पूर्ण शक्ति लिये हुवे रहता है। पर्याय में जो कम-ज्यादा जानने की सामर्थ्य की उद्‌भूति अनुद्‌भूति होती है वह स्वकाल की योग्यता से होती है। ज्ञानावरणीय के कारण से नहीं जैसा कि पहले श्लोक नं. १९५ में उत्तर दिया है। ज्ञानावरणीय निमित्त रूप से उपस्थित अवश्य है। जब परिणमन करेगा तो उस पर आरोप आ जायेगा। वह भी विभाव में अनित्यता दिखलाने के लिये। ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान कम होता है इसको आगे नयाभास कहेगा। जैनधर्म में प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव या विभाव परिणमन समय-समय की स्वकाल की योग्यता से होता है। किसी भी पर-द्रव्य के कारण नहीं। वस्तु त्रिकाल पूर्ण स्वतन्त्र है। कैसी सुन्दर वस्तु-स्थिति है ऐसी अलौकिक वस्तुस्थिति समझाने वाले सद्‌गुरुदेव की जय ! जय !! जय !!!

नोट–वस्तु निरूपण महा अधिकार में पर्याय का वर्णन करने वाला चौथा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ।

पांचवां अवान्तर अधिकार

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का वर्णन १९९ से २६० तक

इति पर्यायाणामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ ।
उत्पादादित्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १९९ ॥

अर्थ–इस प्रकार पर्यायों का लक्षण जैसा कुछ था कहा गया। अब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भिन्न-भिन्न स्वरूप यथाशक्ति कहा जाता है।

उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः ।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्‌द्रव्यं हि तत्त्रितयम् ॥ २०० ॥

अर्थ–उत्पाद स्थिति भंग ये तीनों ही पर्यायों के होते हैं, पदार्थ के नहीं होते और उन पर्यायों का समूह द्रव्य कहलाता है इसलिये वे तीनों मिलकर द्रव्य कहलाते हैं।

भावार्थ–यदि उत्पाद व्यय पदार्थ के माने जावें तो पदार्थ का ही नाश और उत्पाद होने लगेगा, परन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि न तो किसी पदार्थ का नाश होता है और न किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति ही होती है। इसलिये ये तीनों पदार्थ की अवस्थाओं के भेद हैं और वे अवस्थायें मिलकर ही द्रव्य कहलाती हैं। इसलिये तीनों का समुदाय ही द्रव्य का पूर्ण स्वरूप है।

तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः ।
सदसद्‌भावनिबद्धं तदतद्‌भावत्ववन्नयादेशात् ॥ २०१ ॥

अर्थ–उन तीनों में परिणमन शील द्रव्य की नवीन अवस्था को उत्पाद कहते हैं। यह उत्पाद भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सत् और असत् भाव से विशिष्ट है।

अपि च व्ययोऽपि न सतो व्ययोऽप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य ।
प्रध्वंसाभावः स च परिणामित्वात् सतोऽप्यवश्यं स्यात् ॥ २०२ ॥

अर्थ–तथा व्यय भी पदार्थ का नहीं होता है, किन्तु उसी परिणमनशील द्रव्य की अवस्था का व्यय होता है। इसी को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यह प्रध्वंसाभाव परिणमनशील द्रव्य के अवश्य होता है।

ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः ।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥ २०३ ॥

अर्थ–ध्रौव्य भी कथंचित् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ के होता है। पर्याय दृष्टि को छोड़कर केवल पदार्थ का ध्रौव्य नहीं होता है, किन्तु उत्पाद और व्यय की तरह वह भी एक अंश स्वरूप है। सर्वांश रूप नहीं है।

भावार्थ–जिस प्रकार उत्पाद और व्यय द्रव्यदृष्टि से नहीं होते हैं, उस प्रकार ध्रौव्य भी द्रव्यदृष्टि से नहीं होता है किन्तु वह भी पर्याय दृष्टि से होता है, इसलिये उसको भी वस्तु का एक अंश रूप कहा गया है। यदि तीनों को द्रव्यदृष्टि से ही माना जाय तो वस्तु सर्वथा अनित्य और सर्वथा नित्य ठहरेगी।

तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः ।
यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः ॥ २०४ ॥

अर्थ–ध्रौव्य का लक्षण "तद्भावाव्ययम्" यह भी कहा गया है उसका भी यही उत्तम अर्थ है कि वस्तु के भाव का नाश नहीं होता अर्थात् जो वस्तु का पहले परिणाम है, वही परिणाम पीछे भी होता है।

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमंश्च गन्धगुणः ।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥ २०५ ॥

अर्थ–जिस प्रकार पुष्प का गन्ध परिणाम है और गन्ध गुण भी परिणामी है। वह भी प्रतिक्षण परिणमन करता है। वह अपरिणामी नहीं है परन्तु ऐसा नहीं है कि पहले पुष्प गन्ध रहित हो और पीछे गन्ध सहित हुआ हो।

भावार्थ–गन्ध गुण परिणमनशील होने पर भी वह पुष्प में सदा पाया जाता है। उसका कभी पुष्प में अभाव नहीं है। बस इसी का नाम ध्रौव्य है। जो गंध परिणाम पहले था वही पीछे रहता है।

तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य ।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥ २०६ ॥

अर्थ–उन तीनों में उत्पाद और व्यय ये दो तो उस परिणामी द्रव्य में अनित्यता के कारण हैं और ध्रुव नित्यता का कारण है। ये तीनों ही एक-एक अंश रूप से भिन्न हैं।

ऐसा नहीं है

न च सर्वथा हि नित्यं किंचित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति ।
तस्मादतिरिक्तौ द्वौ परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥ २०७ ॥

अर्थ–कोई ऐसी आशंका न करे कि द्रव्य में सत्त्व तो सर्वथा नित्य है। बाकी का कोई गुण नित्य नहीं है और उससे सर्वथा भिन्न परिणतिमात्र उत्पाद, व्यय दोनों हैं। क्योंकि

ऐसा मानने में पहला दोष

सर्वं विप्रतिपन्नं भवति तथा सति गुणो न परिणामः ।
नापि द्रव्यं न सदिति पृथक्त्वदेशानुषङ्गत्वात् ॥ २०८ ॥

अर्थ–ऊपर कही हुई आशंका के अनुसार मानने पर सभी विवाद कोटि में आ जायगा। प्रदेश भेद मानने से न गुण की सिद्धि होगी न पर्याय की सिद्धि होगी। न द्रव्य की और न सत् की ही सिद्धि होगी क्योंकि भिन्न-भिन्न स्वीकार करने से एक भी (कुछ भी) सिद्ध नहीं होता।

दूसरा दोष

अपि चैतद्दूषणमिह यन्नित्यं तद्धि नित्यमेव तथा ।
यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मत्वम् ॥ २०९ ॥

अर्थ–उत्पाद, व्यय को सर्वथा भिन्न पर्यायमात्र मानने से और द्रव्य को उससे भिन्न सर्वथा नित्य मानने से यह भी दूषण आता है कि जो नित्य है वह सदा नित्य ही रहेगा और जो अनित्य है वह सदा अनित्य ही रहेगा क्योंकि एक के अनेक धर्म नहीं हो सकते ।

भावार्थ–द्रव्य को अनेक धर्मात्मक मानने पर तो कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य की व्यवस्था बन जाती है और सर्वथा भिन्नता में वस्तु को एक धर्मात्मक स्वीकार करने पर सम्पूर्ण व्यवस्था विघटित हो जाती है।

तीसरा दोष

अपि चैकमिदं द्रव्यं गुणोऽयमेवेति पर्ययोऽयं स्यात् ।
इति काल्पनिको भेदो न स्याद्द्रव्यान्तरत्ववन्नियमात् ॥ २१० ॥

अर्थ–भिन्नता में यह द्रव्य है, यह गुण है, यह पर्याय है, ऐसा काल्पनिक भेद जो होता है वह भी उठ जायेगा, क्योंकि भिन्नता में द्रव्यान्तर की तरह सभी भिन्न-भिन्न द्रव्य कहलावेंगे।

शंका

ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव ।
भावाः कल्लोलादिवदुत्पन्नध्वंसिनो भवन्त्विति चेत् ॥ २११ ॥

अर्थ–शंका द्रव्य और गुण समुद्र की तरह नित्य हैं और पर्यायें तरंगों की तरह उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, ऐसा मानने में क्या दोष है ?

समाधान २१२ से २१७ तक

तन्न यतो दृष्टांतः प्रकृतार्थस्यैव बाधको भवति ।
अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविपक्षस्य साधकत्वाच्च ॥ २१२ ॥

अर्थ–शंकाकार की यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जो दृष्टांत समुद्र और तरंगों का उसने दिया है वह उसके प्रकृत अर्थ का बाधक हो जाता है और उसके अभिप्राय से विरुद्ध (विपक्ष) अर्थ का साधक हो जाता है अर्थात् वह शंकाकार के पक्ष का बाधक तो है ही साथ ही सिद्धांत पक्ष का साधक भी है। वह विपक्षभूत अर्थ का किस प्रकार साधक है यह बतलाते हैं।

अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि ।
एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ॥ २१३ ॥

अर्थ–जिस प्रकार तरंग मालाओं से खचित समुद्र एक ही है। ऐसा ही नहीं है कि तरंग समुद्र से भिन्न हों और समुद्र उनसे भिन्न हो किन्तु तरंगों से डोलायमान होने वाला समुद्र अभिन्न है, उसी प्रकार किसी भी गुण की पर्यायों से सत् (द्रव्य) सर्वथा भिन्न नहीं है।

किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला भवन्ति ता एव ।
यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति ॥ २१४ ॥

अर्थ–किन्तु ऐसा है कि जो समुद्र है वे ही तरंगमालायें हैं क्योंकि स्वयं वह समुद्र ही तरंगरूप परिणाम धारण करता है।

यत्मात्स्वयमुत्पाद : सदिति ध्रौव्यं व्ययोऽपि वा सदिति ।
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोऽपि वा ध्रौव्यम् ॥ २१५ ॥

अर्थ–इसलिये स्वयं सत् ही उत्पाद है, स्वयं सत् ही व्यय है, और वही स्वयं ध्रौव्य है। सत् से भिन्न न कोई उत्पाद है, न व्यय है और न ध्रौव्य है।

यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम् ।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥ २१६ ॥

अर्थ–अथवा भेद निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय से न कोई उत्पाद है न व्यय है, न ध्रौव्य हैं, न गुण है, और न पर्याय है। केवल अखण्ड सत् मात्र ही वस्तु है (यह दृष्टि वस्तु में भेद स्वीकार नहीं करती - भावार्थ अन्त में 'दृष्टि परिज्ञान' में देखिये ।)

अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मज्जति तदा हि तत्त्रितयम् ।
अपि तत्त्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति स मूलतो भेदः ॥ २१७ ॥

अर्थ–उपर्युक्त कथन का यही सारांश है कि यदि भेद बुद्धि रक्खी जाती है तब तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही सत् के अंश रूप से प्रकट हो जाते हैं और यदि मूल से भेद बुद्धि को ही दूर कर दिया जाय, तब तीनों ही सन्मात्र वस्तु में लीन हो जाते हैं।

भावार्थ–भेद सापेक्ष पर्यायार्थिक नय से वही सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है और भेद निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय से वही सत् केवल सन्मात्र ही प्रतीत होता है।

शंका

ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि ।
ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ–शंकाकार कहता है कि उत्पाद और ध्वंस (व्यय) ये दोनों ही अंशात्मक–अंश स्वरूप रहो परन्तु ध्रौव्य तो सदा रहता है वह किस प्रकार अंश रूप हो सकता है ?

समाधान २१९ से २२५ तक

नैवं यतस्त्रयोंशाः स्वयं सदेवेति वस्तुतो न सतः ।
नैवार्थान्तरवदिदं प्रत्येकमनेकमिह सदिति ॥ २१९ ॥

अर्थ–ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है क्योंकि ये तीनों ही अंश स्वयं सत् स्वरूप हैं। वास्तव में सत् के नहीं हैं। जैसे पदार्थान्तर पृथक्-पृथक् होने से अनेक होते हैं उस प्रकार ये पृथक्-पृथक् होकर अनेक नहीं हैं, किन्तु स्वयं सत् ही प्रत्येक अंश रूप हैं।

भावार्थ–उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों ही सत् के उस प्रकार अंश नहीं हैं जिस प्रकार कि वृक्ष के फल, पुष्प, पत्ते आदि होते हैं किन्तु स्वयं सत् ही उत्पादादि स्वरूप हैं।

तत्रैतदुदाहरणं यद्युत्पादेन लक्ष्यमाणं सत् ।
उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिह वस्तु ॥ २२० ॥

अर्थ–इस विषय में यह उदाहरण है कि यदि सत् उत्पाद का लक्ष्य बनाया जाता है तब उत्पाद रूप से परिणमन करता हुआ वह केवल उत्पाद मात्र है।

यदि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सदिति लक्ष्यमाणं स्यात् ।
व्ययपरिणतं च सदिति व्ययमात्रं किल कथं हि तन्न स्यात् ॥ २२१ ॥

अर्थ–अथवा यदि वह सत् केवल व्यय का लक्ष्य बनाया जाता है तब व्यय रूप से परिणमन करने पर वह सत् केवल व्यय मात्र क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा।

ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात्
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति तद् ध्रौव्यमात्रं सत् ॥ २२२ ॥

अर्थ–ध्रौव्य परिणाम को धारण करने वाला सत् यदि ध्रौव्य का लक्ष्य बनाया जाता है, तब उत्पाद व्यय के समान वह सत् ध्रौव्य मात्र है।

भावार्थ—उपर्युक्त तीनों श्लोकों में इस बात का निषेध किया गया है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सत् से भिन्न हैं अथवा सत् के एक-एक भाग से होने वाले अंश हैं। साथ ही यह बतलाया गया है कि तीनों ही सत् स्वरूप हैं और तीनों ही एक साथ होते हैं। परन्तु जिसकी विवक्षा की जाय अथवा जिसका लक्ष्य बनाया जाय सत् उसी स्वरूप है। सत् ही स्वयं उत्पाद स्वरूप है, सत् ही व्यय स्वरूप है और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है।

संदृष्टिर्मृद्द्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात् ॥ २२३ ॥

अर्थ—दृष्टान्त के लिये मिट्टी द्रव्य है। जिस समय वह मिट्टी विद्यमान घट रूप कर लक्ष्य होती है उस समय वह केवल घट-मात्र है और जिस समय वह अविद्यमान पिण्ड रूप का लक्ष्य होती है, तब पिण्ड मात्र है।

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच्च मृत्तिकात्त्वेन ।
एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥ २२४ ॥

अर्थ— यदि वह मिट्टी मिट्टीपने का ही केवल लक्ष्य बनाई जाती है तब वह केवल मिट्टी मात्र है। इस प्रकार एक ही सत् (द्रव्य) के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ऐसे तीन अंश होते हैं।

न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।
संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥ २२५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि सत् (द्रव्य) का ही किसी एक भाग से उत्पाद हो, और उसी का किसी एक भाग से व्यय हो और उसी का किसी एक भाग से ध्रौव्य रहता हो, जिस प्रकार कि वृक्ष के एक भाग में फल हैं तथा एक भाग में पुष्प हैं और उसके एक भाग में पत्ते हैं किन्तु ऐसा है कि सत् ही उत्पादरूप है, सत् ही व्ययरूप है, और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है। आशय यह है कि जैसे वृक्ष में फल, फूल और पत्ते पृथक्-पृथक् रहते हैं वैसे ही सत् में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पृथक्-पृथक् नहीं रहते।

शंका

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात् ।
अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमात्रमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥ २२६ ॥

अर्थ—क्या उत्पादादिक तीनों पृथक्-पृथक् अंशों के होते हैं ? अथवा अंशी के होते हैं ? अथवा सत् रूप भिन्न-भिन्न अंश मात्र हैं? अथवा असत्-अंश रूप भिन्न-भिन्न हैं।

समाधान २२७–२२८

तन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥ २२७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ पर (जैन दर्शन में) नियम से अनेकान्त ही बलवान है। सर्वथा एकान्त नहीं। यदि ऊपर किये हुये प्रश्न अनेकान्त दृष्टि से किये गये हैं तो सभी कथन अविरुद्ध हैं। किसी दृष्टि से कुछ भी कहा जाय, उसमें विरोध नहीं आ सकता और अनेकान्त को छोड़कर केवल एकान्त रूप से ही उपर्युक्त प्रश्न किये गये हैं तो अवश्य ही एक दूसरे के विरोधी हैं इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध हैं और वही कथन उसके बिना विरुद्ध है।

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम् ।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांशिनो हि तत्त्रितयम् ॥ २२८ ॥

अर्थ—केवल अंशों के ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य नहीं होते हैं और न केवल अंशी के ही तीनों होते हैं किन्तु अंशी के अंश रूप से उत्पादादिक तीनों होते हैं।

शंका

ननु चोत्पादध्वंसौ स्यातामन्वर्थतोऽथ वाङ्मात्रात् ।
दृष्टविरुद्धत्वादिह ध्रुवत्वमपि चैकस्य कथमिति चेत् ॥ २२९ ॥

अर्थ–एक पदार्थ के उत्पाद और ध्वंस भले ही हो; परन्तु उसी पदार्थ के ध्रौव्य भी होता है, यह बात वचनमात्र है और प्रत्यक्ष बाधित है। एक ही पदार्थ के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों किस प्रकार हो सकते हैं ?

समाधान २३०-२३१

सत्यं भवति विरुद्धं क्षणभेदो यदि भवेत्त्रयाणां हि ।
अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पद्यते स्वयं सदिति ॥ २३० ॥

अर्थ–शंकाकार का उपर्युक्त कहना तभी ठीक हो सकता है अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों का एक पदार्थ में तभी विरोध आ सकता है जब कि इन तीनों का क्षणभेद हो अथवा यदि स्वयं सत् ही नष्ट होता हो और सत् ही उत्पन्न होता हो तब भी इन तीनों में विरोध आ सकता है।

क्वापि कुतश्चित् किञ्चित् कस्यापि कथंचनापि तन्न स्यात् ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोऽप्यदृष्टान्तात् ॥ २३१ ॥

अर्थ–परन्तु ऐसा कहीं किसी कारण से किसी के, किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता है। उत्पाद भिन्न समय में होता हो, व्यय भिन्न समय में होता हो और ध्रौव्य भिन्न समय में होता हो, इस प्रकार तीनों के क्षण भेद को सिद्ध करने वाला तथा स्वयं सत् ही उत्पन्न होता हो, स्वयं सत् ही नष्ट होता हो इसको सिद्ध करने वाला न तो कोई प्रमाण ही है और न कोई उसका साधक दृष्टांत ही है।

शंका

ननु च स्वावसरे किल सर्गः सर्गैकलक्षणत्वात् स्यात् ।
संहारः स्वावसरे स्यादिति संहारलक्षणत्वाद्वा ॥ २३२ ॥
ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यैकलक्षणत्तस्य ।
एवं च क्षणभेदः स्याद्बीजांकुरपादपत्ववत्त्विति चेत् ॥ २३३ ॥

अर्थ–शंका–उत्पाद अपने समय में होता है क्योंकि उसका उत्पत्ति होना ही एक लक्षण है। व्यय अपने समय में होता है क्योंकि संहार होना ही उसका लक्षण है। इसी प्रकार ध्रौव्य भी अपने समय में होता है क्योंकि उसका ध्रुव रहना ही स्वरूप है। जिस प्रकार बीज अंकुर और वृक्ष इनका भिन्न-भिन्न लक्षण है और भिन्न-भिन्न समय है उसी प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्य का भी भिन्न-भिन्न लक्षण है और भिन्न-भिन्न समय है। यदि ऐसा कहो तो ।

भावार्थ–भिन्न-भिन्न लक्षण होने से तीनों का भिन्न-भिन्न समय है क्या ?

समाधान २३४ से २४७ तक

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोऽपि सिद्धत्वात् ॥ २३४ ॥

अर्थ–लक्षणभेद होने से तीनों को भिन्न-भिन्न समय में मानना ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों का समय भेद नहीं है। तीनों एक ही समय में होते हैं यह बात हेतु और दृष्टांत से भली-भांति सिद्ध है। इसी का खुलासा नीचे किया जाता है:–

अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदेव नासदिति ।
तत्र व्ययो न सत्वाद्व्ययश्च तस्मात्सदंकुरावसरे ॥ २३५ ॥

अर्थ–बीज अपनी पर्याय के समय में है। बीज पर्याय के समय बीज का अभाव नहीं कहा जा सकता। बीज पर्याय के समय बीज पर्याय का व्यय भी नहीं कहा जा सकता किन्तु अंकुरपर्याय के उत्पाद समय में बीज पर्याय का व्यय कहा जा सकता है।

बीजावस्थायामपि न स्यादंकुरभवोऽस्ति वाऽसदिति ।
तस्मादुत्पादः स्यात्स्वावसरे चांकुरस्य नान्यत्र ॥ २३६ ॥

अर्थ–जो समय बीज पर्याय का है वह अंकुर की उत्पत्ति का नहीं कहा जा सकता । बीज पर्याय के समय अंकुर के उत्पाद का अभाव ही है। इसलिये अंकुर का उत्पाद भी अपने ही समय में होगा अन्य समय में नहीं।

यदि वा बीजांकुरयोरविशेषात् पादपत्वमिति वाच्यम् ।
नष्टोत्पन्नं न तदिति नष्टोत्पन्नं च पर्ययाभ्यां हि ॥ २३७ ॥

अर्थ–अथवा बीज और अंकुर इन दोनों को सामान्य रीति से यदि वृक्ष कहा जाय तो वृक्ष न तो उत्पन्न हुआ, और न वह नष्ट हुआ, किन्तु बीजपर्याय से नष्ट हुआ है और अंकुर पर्याय से उत्पन्न हुआ है।

आयातं न्यायबलादेतद्यत्त्रितयमेककालं स्यात् ।
उत्पन्नमंकुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत् ॥ २३८ ॥

अर्थ–यह बात न्याय बल से सिद्ध हो चुकी कि उत्पाद व्यय धौव्य तीनों का एक ही काल है। वृक्ष का अंकुर रूप से जिस समय उत्पाद हुआ है, उसी समय उसका बीजरूप से व्यय हुआ है और वृक्षपना दोनों अवस्थाओं में मौजूद है।

भावार्थ–ऊपर के तीनों श्लोकों का सारांश इस प्रकार है–जो बीज पर्याय का समय है वह उसके व्यय का समय नहीं है, क्योंकि उसी का सद्भाव और उसी का अभाव दोनों एक ही समय में नहीं हो सकते हैं किन्तु जो अंकुर के उत्पाद का समय है वही बीज पर्याय के नाश का समय है । ऐसा भी नहीं है कि बीज पर्याय और अंकुरोत्पाद इन दोनों के बीच में बीज पर्याय का नाश होता हो। ऐसा मानने से पर्याय रहित द्रव्य ठहरेगा क्योंकि बीज का तो नाश हो गया, अभी अंकुर पैदा नहीं हुआ है। उस समय कौनसी पर्याय मानी जावेगी ? कोई नहीं। तो अवश्य ही पर्याय शून्य द्रव्य ठहरेगा। पर्याय के अभाव सें पर्यायी का अभाव स्वयं सिद्ध है। इसलिये जिस समय अंकुर का उत्पाद होता है उसी समय बीजपर्याय का नाश होता है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि जो बीजपर्याय का नाश है वही अंकुर का उत्पाद है। इसका यह अर्थ नहीं है कि नाश और उत्पाद दोनों का एक ही अर्थ है। यदि दोनों का एक ही अर्थ हो तो जिसका नाश है उसी का उत्पाद कहना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं है नाश तो बीज का होता है और उत्पाद अंकुर का होता है परन्तु नाश और उत्पाद दोनों की फलित पर्याय एक ही है। ऐसा भी नहीं है कि जो बीजपर्याय का समय है वही अंकुर के उत्पाद का समय है। ऐसा मानने से एक ही समय में दो पर्यायों की सत्ता माननी पड़ेगी और एक समय में दो पर्यायों का होना प्रमाण-बाधित है इसलिये बीज पर्याय के समय अंकुर का उत्पाद नहीं होता है किन्तु जो बीजपर्याय के नाश का समय है वही अंकुर के उत्पाद का समय है और बीजनाश तथा अंकुरोत्पाद दोनों ही अवस्थाओं में वृक्षपने का सद्भाव है। वृक्ष का जिस समय बीज पर्याय से नाश हुआ है, उसी समय उसका अंकुर पर्याय से उत्पाद हुआ है। वृक्ष का सद्भाव दोनों ही अवस्थाओं में है। इसलिये यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि उत्पाद, व्यय, धौव्य तीनों का एक ही समय है भिन्न-भिन्न नहीं है।

जैसे एक मनुष्य मरकर देव हुआ। अब जो मनुष्य पर्याय का समय है वह तो मनुष्य पर्याय का है और जो देव पर्याय का समय है वह देव पर्याय का ही है किन्तु जो मनुष्य के नाश और देव की उत्पत्ति का समय है वह एक है और उस उत्पाद व्यय में उसी समय ध्रुव जीव न उत्पाद है न व्यय है किन्तु ध्रुव है यह सारे कथन का फलितार्थ है।

अपि चांकुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य ।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्वस्य ॥ २३९ ॥

अर्थ–जो अंकुर की उत्पत्ति का समय है, वही समय बीज के नाश का है और अंकुर का उत्पाद तथा बीज का नाश दोनों ही वृक्ष स्वरूप हैं। इसलिए जो समय बीज के नाश और अंकुर के उत्पाद का है वही समय वृक्ष के धौव्य का है।

तस्मादनवद्यमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य चैकसमये स्यात् ।
उत्पादादित्रयमपि पर्यायार्थान्न सर्वथापि सतः ॥ २४० ॥

अर्थ–इसलिये यह बात सर्वथा निर्दोष सिद्ध हो गई कि सत् (पदार्थ) के एक समय में ही उत्पादादि तीनों होते हैं। वे भी पदार्थ के पर्याय दृष्टि से होते हैं। पर्याय निरपेक्ष पदार्थ के नहीं होते।

भवति विरुद्धं हि तदा यदा सतः केवलस्य तत्त्रितयम् ।
पर्ययनिरपेक्षत्वात् क्षणभेदोऽपि च तदैव सम्भवति ॥ २४१ ॥

अर्थ–जिस समय उत्पादादि तीनों पर्यायनिरपेक्ष केवल पदार्थ के ही माने जायेंगे उस समय अवश्य ही तीनों का एक साथ विरोध होगा, और उसी समय उनके समय भेद की संभावना भी है।

यदि वा भवति विरुद्धं तदा यदाप्येकपर्ययस्य पुनः ।
अस्त्युत्पादो यस्य व्ययोऽपि तस्यैव तस्य वै ध्रौव्यम् ॥ २४२ ॥

अर्थ–अथवा तब भी विरोध होगा जब कि जिस एक पर्याय का उत्पाद है, उसी का व्यय भी माना जाय, और उसी एक पर्याय का ध्रौव्य भी माना जाय ।

प्रकृतं सतो विनाशः केनचिदन्येन पर्ययेण पुनः ।
केनचिदन्येन पुनः स्यादुत्पादो ध्रुवं तदन्येन ॥ २४३ ॥

अर्थ–प्रकृत में ऐसा है कि किसी अन्य पर्याय से सत् का विनाश होता है तथा किसी अन्य पर्याय से उसका उत्पाद होता है और किसी अन्य पर्याय से ही उसका ध्रौव्य होता है।

संदृष्टिः पादपवत् स्वयमुत्पन्नः सदंकुरेण यथा ।
नष्टो बीजेन पुनर्ध्रुवमित्युभयत्र पादपत्वेन ॥ २४४ ॥

अर्थ–वृक्ष का दृष्टांत स्पष्ट है। जिस प्रकार वृक्ष सत् रूप अंकुर से स्वयं उत्पन्न होता है, बीज रूप से नष्ट होता है और वह वृक्षपने से दोनों जगह ध्रुव है।

नहि बीजेन विनष्टः स्यादुत्पन्नश्च तेन बीजेन ।
ध्रौव्यं बीजेन पुनः स्यादित्यध्यक्षपक्षवाध्यत्वात् ॥ २४५ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है कि वृक्ष बीज रूप से ही तो नष्ट होता हो उसी बीज रूप से वह उत्पन्न होता हो और उसी बीज रूप से वह ध्रुव भी रहता हो क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष बाधित है।

उत्पादव्ययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सदेवेति ।
तस्मादेतद्द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः ॥ २४६ ॥

अर्थ–उत्पाद और व्यय दोनों का आत्मा (जीवभूत) स्वयं सत् ही है इसलिये ये दोनों ही सद्वस्तुस्वरूप हैं। सत् से भिन्न ये दोनों कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं हैं।

पर्यायादेशत्वादस्त्युत्पादो व्ययोस्ति च ध्रौव्यम् ।
द्रव्यार्थादेशत्वान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ॥ २४७ ॥

अर्थ–पर्यायार्थिक नय से उत्पाद भी है व्यय भी है और ध्रौव्य भी है। द्रव्यार्थिक नय से न उत्पाद है न व्यय है और न ध्रौव्य है। भावार्थ के लिये अन्त में 'दृष्टि परिज्ञान' में पढ़िये ।

शंका

ननु चोत्पादेन सता कृतमसतैकेन वा व्ययेनाथ ।
यदि वा ध्रौव्येण पुनर्यदवश्यं तत्त्रयेण कथमिति चेत् ॥ २४८ ॥

अर्थ–या तो सत्रूप उत्पाद स्वरूप ही वस्तु मानो, या असत् रूप व्यय स्वरूप ही वस्तु मानो अथवा ध्रौव्य स्वरूप ही वस्तु मानो, तीनों स्वरूप उसे कैसे मानते हो ?

भावार्थ–इससे पहले यह सिद्ध करके आये हैं कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक समय में एक सत् के ही पर्यायार्थिक नय से है। इस पर शंकाकार पूछता है कि जब एक ही समय है और एक ही सत् है तो कोई एक ही कहना पर्याप्त है। तीनों के आवश्यक कथन से क्या लाभ ?

समाधान २४९ से २६० तक

तन्न यदविनाभावः प्रादुर्भावध्रुवव्ययानां हि ।
यस्मादेकेन बिना न स्यादितरद्द्वयं तु तन्नियमात् ॥ २४९ ॥

अर्थ–उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों का नियम से अविनाभाव है क्योंकि एक को छोड़कर दूसरे दोनों भी नियम से नहीं रह सकते ।

अपि च द्वाभ्यां ताभ्यामन्यतमाभ्यां विना न चान्यतरम् ।
एकं वा तदवश्यं तत्त्रयमिह वस्तुसंसिद्ध्यै ॥ २५० ॥

अर्थ–अथवा बिना किन्हीं भी दो के कोई एक भी नहीं रह सकता है। इसलिये ये आवश्यक है कि वस्तु की भले प्रकार सिद्धि के लिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों एक साथ हों।

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥ २५१ ॥

अर्थ–तीनों का परस्पर अविनाभाव है, इसी बात को स्पष्ट किया जाता है कि विनाश बिना उत्पाद के नहीं हो सकता क्योंकि किसी पर्याय का अभाव नियम से भाव पूर्वक ही होता है।

उत्पादोऽपि न भावी व्ययं बिना वा तथा प्रतीतत्वात् ।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥ २५२ ॥

अर्थ–उत्पाद भी बिना व्यय के नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी प्रतीति है कि नवीन जन्म लेने वाला भाव, अभाव से कृतार्थ होता है।

भावार्थ–किसी पर्याय का नाश होने पर ही तो दूसरी पर्याय हो सकती है। पदार्थ तो किसी न किसी अवस्था में सदा रहता ही है। इसलिये यह आवश्यक है कि पहली अवस्था का नाश होने पर ही कोई नवीन अवस्था हो।

उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तोविनापि तद्ध्रौव्यम् ।
भावस्याभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥ २५३ ॥

अर्थ–अथवा बिना ध्रौव्य के उत्पाद, व्यय दोनों भी नहीं हो सकते क्योंकि वस्तु की सत्ता होने पर ही उसके आश्रय से भाव और अभाव (उत्पाद और व्यय) रह सकते हैं।

अपि च ध्रौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात् ।
यदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोप्यभावत्वात् ॥ २५४ ॥

अर्थ–अथवा बिना उत्पाद और व्यय दोनों के ध्रौव्य भी नियम से नहीं रह सकता है क्योंकि विशेष के अभाव में सामान्य सत् का भी अभाव ही है।

भावार्थ–वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। बिना सामान्य के विशेष नहीं हो सकता और बिना विशेष के सामान्य भी नहीं हो सकता । उत्पाद, व्यय विशेष है। ध्रौव्य सामान्य है। इसलिये बिना उत्पाद व्यय विशेष के ध्रौव्य सामान्य नहीं बन सकता है और इसी प्रकार बिना ध्रौव्य सामान्य के उत्पाद व्यय विशेष भी नहीं बन सकते हैं।

एवं चोत्पादादित्रयस्य साधीयसी व्यवस्थेह ।
नैवान्यथान्यनिन्हववदतः स्वस्यापि घातकत्वाच्च ॥ २५५ ॥

अर्थ–इस प्रकार वस्तु में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की व्यवस्था घटित करना चाहिये । अन्य किसी प्रकार उनकी व्यवस्था नहीं घटित की जा सकती है क्योंकि दूसरों के न मानने से अपनी मान्यता का भी विघात होता है।

भावार्थ–ऊपर कही हुई व्यवस्था ही ठीक व्यवस्था है और तीनों को एक साथ मानने से ही यह व्यवस्था बन सकती है। तीनों में से किसी एक का अथवा दो का अभाव मानने से बाकी के दो अथवा एक भी नहीं ठहर सकता है।

अथ तद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य ।
असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥ २५६ ॥

अर्थ–उपर्युक्त को ही स्पष्ट करते हैं कि जो केवल एक उत्पाद को ही मानता है उसके मत में असत् का उत्पाद होने लगेगा अथवा कारण का अभाव होने से उत्पाद ही न होगा।

अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम् ।
भवति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽथवाप्यहेतुत्वात् ॥ २५७ ॥

अर्थ–उत्पाद पक्षनिरपेक्ष केवल व्यय को ही जो मानता है, उसके यहाँ सत् का निरन्वय सर्वथा नाश हो जायेगा अथवा विना कारण उसका माना हुआ नाश भी नहीं हो सकता।

अथ च ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च ।
द्रव्यमपरिणामि स्यात्तदपरिणामाच्च नापि तद्ध्रौव्यम् ॥ २५८ ॥

अर्थ–इसी प्रकार जो उत्पाद व्यय निरपेक्ष केवल ध्रौव्य पक्ष को ही स्वीकार करते हैं, उनके मत में द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा और द्रव्य के अपरिणामी होने से उसके ध्रौव्य भी नहीं बन सकता है।

अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्वयं प्रमाणयतः ।
सर्वं क्षणिकमिवैतत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥ २५९ ॥

अर्थ–ध्रौव्य निरपेक्ष केवल उत्पाद और व्यय इन दो को ही प्रमाणभूत मानता है उसके यहाँ सभी क्षणिक की तरह हो जायगा। अथवा सत् पदार्थ के अभाव में न तो व्यय ही बन सकता है और न उत्पाद ही बन सकता है।

एतद्दोषभयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा ।
उत्पादादीनामयमविनाभावेऽवगन्तव्यः ॥ २६० ॥

अर्थ–ऊपर कहे हुये दोषों के भय से आस्तिक्य के चाहने वाले पुरुष को प्रकृत में उत्पाद आदिक तीनों का ही अविनाभाव मानना चाहिये।

भावार्थ–तीनों एक साथ परस्पर सापेक्ष हैं, यही निर्दोष सिद्ध है।

प्रमाण–उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का सब विषय श्री प्रवचनसार गाथा ९९, १००, १०१, १०२, १०४, १०५ पर से लिया है।

नोट–वस्तु निरूपण महा अधिकार में उत्पाद व्यय ध्रौव्य को वर्णन करने वाला पांचवां अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ और वस्तु निरूपण पहला महा अधिकार भी समाप्त हुआ।

परिशिष्ट

वस्तु का प्रमाण लक्षण

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यत्तद्व्ययादियुक्तं सत् ।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्ध्यर्थम् ॥ २६१ ॥

अर्थ–जो द्रव्य, गुण पर्याय वाला है–वही द्रव्य, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् है। यह द्रव्य का लक्षण प्रमाण दृष्टि से कहा। अब अनेकान्त ज्ञान की शुद्धि के लिए वस्तु के स्वरूप का विशेष विचार करते हैं।

द्रव्य गुण पर्याय पर नय प्रमाण लगाने की पद्धति ७४७ से ७५० तक* जो तत्काल समझने को आगे दिये जा रहे हैं।

* ये श्लोक इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के अन्त के हैं। भावार्थ के लिये आगे 'दृष्टि परिज्ञान' देखिये।

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम् ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥ ७४७ ॥

अर्थ–तत्त्व (द्रव्य) अनिर्वचनीय (अभेद-अखण्ड) है यह शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का कहना है। द्रव्य, गुणपर्यायवाला है (भेदरूप है) यह पर्यायार्थिक नय का कहना है।

भावार्थ–तत्व में अभेद बुद्धि का होना शुद्धद्रव्यार्थिक नय है और उसमें भेद बुद्धि का होना पर्यायार्थिक नय है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि का कथन ८, ८४, ८८, २१६, २४७ में किया है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि का कथन ७२, ७३, ८६, ८४, ८८, २४७ में किया है। अनिर्वचनीय, अभेद, अखण्ड, शुद्ध, निश्चय पर्यायवाची हैं। अभेद के द्योतक हैं।

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।
गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ॥ ७४८ ॥

अर्थ–जो द्रव्य, अनिर्वचनीय है (अखण्ड है) वही द्रव्य, गुण-पर्यायवाला है (भेद रूप है) दूसरा नहीं है। तथा जो द्रव्य, गुणपर्यायवाला है (भेद रूप है) वही द्रव्य, अनिर्वचनीय है (अखण्ड है) । इस प्रकार भेद-अभेद दोनों रूप द्रव्य का कहने वाला प्रमाण है।

भावार्थ ७४७-४८–(१) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय वस्तु को अभेद रूप अखण्ड बतलाता है (२) पर्यायार्थिक नय वस्तु को भेद रूप-खण्ड बतलाता है। (३) प्रमाण वस्तु को भेद-अभेद दोनों रूप बतलाता है। जो भेद रूप है वही अभेद रूप है यह प्रमाण के बोलने की रीति है। ७४७–४८ इकट्ठे हैं। ७४७ की प्रथम पंक्ति में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का, दूसरी पंक्ति में पर्यायार्थिक नय का और ७४८ में प्रमाण का विषय बतलाया है। प्रमाण दृष्टि से द्रव्य का लक्षण २६१ की प्रथम पंक्ति में कहा है।

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात् ।
पर्यायोऽपि यथास्यात् ऋजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥ ७४९ ॥

अर्थ–पदार्थ रूप से जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है। उसी प्रकार पर्याय भी पर्याय ही है, द्रव्य गुण नहीं है। यह पर्यायार्थिक नय का कहना है क्योंकि यह द्रव्य गुण पर्याय को भिन्न-भिन्न मानकर भिन्न रूप से ही अपने विषय को कहने वाला है। (यहाँ ऋजुसूत्र नय का अर्थ पर्यायार्थिक नय है। पद्य बनाने के कारण पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर लिया है)।

यदिदं द्रव्यं स गुणो योऽपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात् ।
तदुभयपक्षदक्षो विवक्षितः प्रमाणपक्षोऽयम् ॥ ७५० ॥

अर्थ–क्योंकि द्रव्य गुण का एक अर्थ (पदार्थ–अभेद वस्तु) है, इसलिये जो द्रव्य है, वही गुण है। जो गुण है, वही द्रव्य है, यह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का पक्ष है तथा भेद-अभेद इन दोनों पक्षों को कहने में समर्थ विवक्षित जो पक्ष है वह प्रमाण का पक्ष है जैसे जो द्रव्य, गुण-पर्यायवाला है; वही उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है तथा वही अखण्ड सत् अनिर्वचनीय है।

भावार्थ ७४९-५०–(१) जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है तथा जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है परन्तु गुण-गुण ही है तथा द्रव्य-द्रव्य ही है। इसी प्रकार जो पर्याय है, वह पर्याय ही है पर द्रव्य या गुण नहीं है। इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय को भिन्न-भिन्न कहना व्यवहार नय का विषय है तथा (२) जो द्रव्य है, वही गुण है और जो गुण है, वहीं द्रव्य है कारण 'गुणसमुदायो द्रव्यं, इस सिद्धान्त में सम्पूर्ण गुणों को ही द्रव्य कहा है। इसलिए गुण और द्रव्य परस्पर भिन्न नहीं हैं परन्तु उक्त प्रकार से एक ही अर्थवाला है। इसलिए गुण और द्रव्य को एक अखण्ड कहना यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है–विषय है तथा (३) इन दोनों नयों के पक्ष को जोड़ रूप युगपत विषय करना जैसे जो भेद रूप है वही अभेद रूप है यह प्रमाण का विषय है। श्लोक ७४९-५० इकट्ठे हैं। ७४९ में पर्यायार्थिक नय का विषय, ७५० की

प्रथम पंक्ति में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय और दूसरी पंक्ति में प्रमाण का विषय है। इस वस्तु अधिकार में जो द्रव्य गुण पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्य का निरूपण किया है उस पर इन चार पद्यों द्वारा नय प्रमाण को घटित करके दिखलाया है।

गुर–व्यवहार भेद का प्रतिपादक है, निश्चय भेद का निषेधक है – अभेद का प्रतिपादक है और प्रमाण भेद-अभेद दोनों का प्रतिपादक है।

नोट–तीनों दृष्टियों का ज्ञान परम आवश्यक है।

दृष्टि परिज्ञान

सत् स्वभाव से ही अनेक धर्मात्मक रूप बना हुआ अखण्ड पिण्ड है। उसका जीव को ज्ञान नहीं है। उसका ज्ञान कराने के लिये जैन धर्म दृष्टियों से काम लेता है (१) जगत् में अभेद को विना भेद कोई समझ नहीं सकता। अतः सब से प्रथम जीव को भेद भाषा से ऐसा परिज्ञान कराते हैं कि द्रव्य है, गुण है, पर्याय है। प्रत्येक का लक्षण सिखलाते हैं कि जो गुण पर्यायों का समूह है वह द्रव्य है इत्यादि रूप से। इस भेद रूप पद्धति को व्यवहार नय कहते हैं। यह दृष्टि द्रव्य को खण्ड-खण्ड कर देती है। इस दृष्टि का कहना है कि द्रव्य जुदा है, गुण जुदा है, पर्याय जुदा है। यहाँ तक कि एक-एक गुण, उसका एक-एक अविभाग प्रतिछेद और एक-एक प्रदेश तक जुदा है। यह सबकुछ सीखकर शिष्य को ऐसा भान होने लगता है कि जिस प्रकार एक वृक्ष में फल, फूल, पत्ते, स्कंध, मूल, शाखा जुदी-जुदी सत्ता वाले हैं और उनका मिलकर एक सत्ता वाला वृक्ष बना है, उस प्रकार द्रव्य में अनेक अवयव हैं और उनका मिलकर वना हुआ एक द्रव्य पदार्थ है अथवा जैसे अनेक भिन्न-भिन्न सत्तावाली दवाइयों से एक गोली वनती है वैसे गुण पर्यायों से बना हुआ द्रव्य है किन्तु पदार्थ ऐसा है नहीं। अतः यह तो पदार्थ का गलत ज्ञान हो गया । तव (२) आचार्यों को दूसरी दृष्टि से काम लेना पड़ा और उसको समझाने के लिये वे शिष्य से कहने लगे कि देख भाई यह बता कि आम में कितने गुण हैं ? वह सोच कर बोला चार । स्पर्श, रस, गंध और वर्ण । तव गुरु महाराज कहने लगे ठीक पर अव ऐसा करो कि रस तो हमें दे दो और रूप तुम ले लो, स्पर्श राम को दे दो और गंध श्याम को। अब शिष्य बड़े चक्कर में पड़ा और कहने लगा कि महाराज यह तो नहीं हो सकता क्योंकि आम तो अखण्ड पदार्थ है। उसमें ऐसा होना असंभव है। बस भाई जैसे उस आम में चारों का लक्षण जुदा-जुदा किया जाता है पर भिन्न नहीं किये जा सकते ठीक उसी प्रकार यह जो द्रव्य है इसमें ये गुण पर्याय केवल लक्षण भेद से भिन्न-भिन्न हैं वास्तव में भिन्न नहीं किये जा सकते। यह तो तुझे अखण्ड सत् का परिज्ञान कराने का हमारा प्रयास था, एक ढंग था । वास्तव में वह भेद रूप नहीं है अभेद है। अव शिष्य की आँखें खुलीं और यह अनुभव करने लगा कि वह तो स्वतः सिद्ध निर्विकल्प अर्थात् भेद रहित अखण्ड है। इसको कहते हैं शुद्ध दृष्टि । यहाँ शुद्ध शब्द का अर्थ राग रहित नहीं किन्तु भेद रहित है। इस दृष्टि का पूरा नाम है शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि अर्थात् वह दृष्टि जो सत् को अभेद रूप ज्ञान करावे। और आगे चलिये। गुरुजी ने शिष्य से पूछा कि यह पुस्तक किसकी है तो शिष्य ने कहा महाराज मेरी । अब उससे पूछते हैं कि तू तो जीव है, चेतन है, पुस्तक तो अजीव है, जड़ है। यह तेरी कैसे हो गई। अब शिष्य फिर चक्कर में पड़ा और वहुत देर सोचने के बाद जब और कुछ उत्तर न बन पड़ा तो कहने लगा, महाराज इस समय मेरे पास है मैं पढ़ता हूँ। इसलिये व्यवहार से मेरी कह देते हैं वास्तव में मेरी नहीं है। अरे बस यही बात है। द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, यहाँ भी भेद से ऐसा कह देते हैं, यहाँ भी यह व्यवहार है, वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तव = निश्चय । जो द्रव्य को भेद रूप कहे वह व्यवहार और जो अभेद रूप कहे वह निश्चय । इसलिये इसका दूसरा नाम रक्खा निश्चय नय । इस प्रकार इसको शुद्ध द्रव्यर्थिक दृष्टि, निश्चय दृष्टि, भेद निषेधक दृष्टि, व्यवहार निषेधक दृष्टि, अखण्ड दृष्टि, अभेद दृष्टि, अनिर्वचनीय दृष्टि आदि अनेकों नामों से आगम में कहा है और आगे चलिये अब शिष्य को तीसरी दृष्टि, का परिज्ञान कराते हैं। आचार्य कहने लगे कि अच्छा वताओ! आत्मा में कितने प्रदेश हैं ? वह बोला – असंख्यात् । व्यवहार से या निश्चय से ? व्यवहार से, क्योंकि अब तो वह जान चुका था कि भेद व्यवहार से है। और फिर पूछा कि निश्चय से कैसा है तो बोला अखण्ड देश। शाबाश तू होनहार है हमारी बात समझ गया। देख वे जो व्यवहार से असंख्यात् है वे ही निश्चय से एक अखण्ड देश हैं। इसी

को कहते हैं प्रमाण दृष्टि। जो ऐसा है वही ऐसा है। यही इसके बोलने की रीति है। यह पदार्थ को भेदाभेदात्मक कहता है अर्थात् जो भेद रूप है वही अभेद रूप है। इस प्रकार तीनों दृष्टियों द्वारा पदार्थ का ठीक-ठीक बोध हो जाता है और जैसा पदार्थ स्वतः सिद्ध बना हुआ है वैसा वह ठीक ख्याल में पकड़ में आ जाता है।

सो ग्रन्थकार ने यहाँ पहली व्यवहार दृष्टि का परिज्ञान ७४७ की दूसरी पंक्ति में तथा ७४९ में कराया है। दूसरी निश्चय दृष्टि का परिज्ञान ७४७ की प्रथम पंक्ति तथा ७५० की प्रथम पंक्ति में कराया है और तीसरी प्रमाण दृष्टि का परिज्ञान ७४८ में तथा ७५० को दूसरी पंक्ति में कराया है। और इस ग्रंथ में नं. ८ से ७० तक निश्चय अभेद दृष्टि से सत् का निरूपण किया है और ७१ से २६० तक भेद दृष्टिव्यवहार दृष्टि से सत् का निरूपण किया है और २६१ में तीसरी प्रमाण दृष्टि से सत् का निरूपण किया है। श्लोक नं. ८४, ८८, २१६ तथा २४७ में भेद और अभेद दृष्टियों को लगा कर भी दिखलाया है। इस प्रकार द्रव्य के भेदाभेदात्मक स्वरूप को दिखलाया है।

अब दूसरी बात यह जानने की है कि ऐसे भेदाभेदात्मक द्रव्य में दो स्वभाव पाये जाते हैं एक तो यह कि वह अपने स्वरूप को (स्वभाव को) त्रिकाल एक रूप बनाए रखता है और दूसरा स्वभाव यह कि वह उस स्वभाव को बनाये रखते हुये भी प्रति समय स्वतन्त्र निरपेक्ष स्वभाव या विभाव * रूप परिणमन किया करता है और उस परिणमन में हानि-वृद्धि भी होती है। स्वभाव का नाम है द्रव्य, सत्त्व, वस्तु, पदार्थ आदि और उस परिणमन का नाम है पर्याय, अवस्था, दशा, परिणाम आदि। यहाँ भी द्रव्य को दो रूप से देखा जाता है जब स्वभाव को देखना है तो सारे का सारा द्रव्य स्वभाव रूप, त्रिकाल एक रूप, अवस्थित नजर आयेगा। इसको कहते हैं द्रव्य दृष्टि, स्वभाव दृष्टि, अन्वय दृष्टि, त्रिकाली दृष्टि, निश्चय दृष्टि, सामान्य दृष्टि आदि। जब अवस्था को देखना हो तो सारे का सारा द्रव्य परिणाम रूप, पर्यायरूप, अनवस्थित, हानिवृद्धि रूप, अवस्था रूप दृष्टिगत होगा। इसको कहते हैं पर्याय दृष्टि, व्यवहार दृष्टि, विशेष दृष्टि आदि। यहाँ यह बात खास ध्यान रखने की है कि ऐसा नहीं है कि त्रिकाली स्वरूप तो किसी कोठे में जुदा पड़ा है और पर्याय का स्वरूप कहीं ऊपर धरा हो। पर्यायरूप परिणमन उस स्वभाववान् का ही है। उनमें दोनों धर्मों के प्रदेश तो भिन्न हैं नहीं पर स्वरूप दोनों इस कमाल से वस्तु में रहते हैं कि उसको आप चाहे जिस दृष्टि से देख लो हूबहू वैसी की वैसी नजर आयेगी। जैसे एक जीव वर्तमान में मनुष्य है। अब यदि स्वभाव दृष्टि से देखो तो वह चाहे मनुष्य है या देव, सिद्ध है या संसारी, जीव तो एक जैसा ही है। इसीलिये तो जगत् में कहा जाता है कि जो कर्ता है वह भोगता है। सिद्ध संसारी में कहीं जीव के स्वरूप में फर्क नहीं आ गया है और यदि पर्याय दृष्टि से देखें, परिणाम दृष्टि से देखें तो कहां देव कहाँ मनुष्य, कहाँ संसारी कहाँ सिद्ध । यह परिणमन स्वभाव का कमाल है कि स्वकाल की योग्यता अनुसार कहीं स्वभाव के अधिक अंश प्रगट हैं कहीं कम अंश प्रगट हैं। केवल प्रगटता-अप्रगटता के कारण, अवगाहन के कारण, भूत्वाभवन के कारण, आकारान्तर के कारण यह अन्तर पड़ा है। स्वभाव को बनाये रखना अगुरुलघु गुण का काम है। परिणमन कराते रहना द्रव्यत्व गुण का काम है। क्या कहें वस्तु ही कुछ ऐसी बनी हुई है। इस ग्रन्थ में इसको ६५, ६६, ६७ और १९८ में लगाकर दिखलाया है।

अब एक बात और रह गई । कहीं द्रव्यदृष्टि प्रथमवर्णित अभेद अखण्ड के लिये प्रयोग की है और पर्याय दृष्टि भेद के लिए प्रयोग की है और कहीं द्रव्य दृष्टि स्वभाव के लिए और पर्याय दृष्टि परिणाम के लिये प्रयोग की जाती है। अब कहाँ क्या अर्थ है यह गुरुगम से भली-भाँति सीख लेने की बात है, वरना अर्थ का अनर्थ हो जायगा और पदार्थ का भान न होगा । जितना ग्रन्थ आप पढ़ चुके हैं इसमें नं. ८४, ८८, २१६, २४७ में अभेद के लिये द्रव्यदृष्टि और भेद के लिए पर्याय दृष्टि का प्रयोग किया है। और नं. ६५, ६६, ६७, १९८ में स्वभाव के लिये द्रव्य दृष्टि और परिणाम के लिए पर्याय दृष्टि का प्रयोग किया है। आप सावधान रहें इसमें बड़े-बड़े शास्त्रपाठी भी भूल कर जाते हैं। अध्यात्म के चक्रवर्ती श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नं. ५८ में लिखा है कि इस अज्ञानी आत्मा को वस्तु स्वरूप का भान कराने में नयचक्र को चलाने में चतुर ज्ञानी गुरु ही शरण हो सकते हैं। सद्गुरु बिना न आज तक किसी ने तत्त्व

* देखिये श्री समयसार गाथा ११६ से १२५ तक तथा कलश नं. ६४, ६५ तथा श्री पंचास्तिकाय गा. ६२ टीका तथा श्री तत्त्वार्थसार तीसरे अजीव अधिकार का श्लोक नं. ४३, प्रवचनसार गा. १६, ९५ टीका, पंचाध्यायी दूसरा भाग १०३०।

पाया है न पा सकता है ऐसा ही अनादि अनन्त मार्ग है। वस्तु स्वभाव है। कोई क्या करे। अर्थ इसका यह है कि जब जीव में यथार्थ बोध की 'स्वकाल' में योग्यता होती है तो सामने अपने कारण से वस्तु स्वभाव नियमानुसार ज्ञानी गुरु होते हैं। तब उन पर आरोप आता है कि गुरु देव की कृपा से वस्तु मिली । निश्चय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है। जगत् में सत् का परिज्ञान हुए बिना किसी की पर में एकत्वबुद्धि, पर में कर्तृत्व भोक्तृत्व का भाव नहीं मिटता तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती और सत् का परिज्ञान करने के लिये इससे बढ़िया ग्रन्थ जगत् में आज उपलब्ध नहीं है। यह ग्रन्थराज है। यदि मोक्षमार्गी बनने की इच्छा है तो इसका रुचिपूर्वक अभ्यास करिये । यह नॉवल की तरह पढ़ने का नहीं है। कोर्स ग्रन्थ है। इसका बार-बार मंथन कीजिये, विचार कीजिये। सद्गुरुदेव का समागम कीजिए तो कुछ ही दिनों में पदार्थ का स्वरूप आपको झलकने लगेगा। सद्गुरु देव की जय । ओं शान्ति ।

कण्ठस्थ करने योग्य प्रश्नोत्तर –　प्रमाण श्लोक नं.

द्रव्यत्व अधिकार (१)

प्रश्न १ – शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से (निश्चय दृष्टि से - अभेद दृष्टि से) द्रव्य का क्या लक्षण है ?

उत्तर – जो सत् स्वरूप, स्वतः सिद्ध, अनादि अनन्त, स्वसहाय और निर्विकल्प (अखण्डित) है वह द्रव्य है । (८, ७४७ प्रथम पंक्ति, ७५० प्रथम पंक्ति)

प्रश्न २ – पर्यायार्थिक नय से (व्यवहार दृष्टि से – भेद दृष्टि से) द्रव्य का क्या लक्षण है ?

उत्तर – (१) गुणपर्यायवद्द्रव्यं (२) गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं (३) गुणसमुदायो द्रव्यं (४) समगुणपर्यायो द्रव्यं (५) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्-सत् द्रव्य लक्षणं । ये सब पर्यायवाची हैं। सब गुण और त्रिकालवर्ती सब पर्यायों का तन्मय पिंड द्रव्य है यह इसका अर्थ है। (७२, ७३, ८६, ७४७ दूसरी पंक्ति ७४९)

प्रश्न ३ – प्रमाण से (भेदाभेद दृष्टि से) द्रव्य का क्या लक्षण है ?

उत्तर – जो द्रव्य, गुणपर्यायवाला है – वही द्रव्य, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है तथा वही द्रव्य, अखण्डसत् अनिर्वचनीय है। (२६१ प्रथम पंक्ति, ७४८, ७५० दूसरी पंक्ति)

प्रश्न ४ – द्रव्य के नामान्तर बताओ ?

उत्तर – द्रव्य, तत्व, सत्व, सत्ता, सत्, अन्वय, वस्तु, अर्थ, पदार्थ, सामान्य, धर्मी, देश, समवाय, समुदाय, विधि। (१४३)

प्रश्न ५ – स्वतःसिद्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर – वस्तु पर से सिद्ध नहीं है। ईश्वरादि की बनाई हुई नहीं है। स्वतःस्वभाव से स्वयंसिद्ध है। (८)

प्रश्न ६ – अनादि अनन्त किसे कहते हैं ?

उत्तर – वस्तु क्षणिक नहीं है। सत् की उत्पत्ति नहीं है, न सत् का नाश है, वह अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगी। (८)

प्रश्न ७ – स्वसहाय किसे कहते हैं ?

उत्तर – पदार्थ पदार्थान्तर के सम्बन्ध से पदार्थ नहीं है। निमित्त या अन्य पदार्थ से न टिकता है और न परिणमन करता है। अनादि अनन्त स्वभाव या विभाव रूप से स्वयं अपने परिणमन स्वभाव के कारण परिणमता है। कभी किसी पदार्थ का अंश न स्वयं अपने में लेता है और न अपना कोई अंश दूसरे को देता है। (८)

प्रश्न ८ – अनादि अनन्त और स्वसहाय में क्या अन्तर है ?

उत्तर – अनादि अनन्त में उसे उत्पत्ति नाश से रहित बताना है और स्वसहाय में उसकी स्वतन्त्र स्थिति तथा स्वतन्त्र परिणमन बताना है । (८)

प्रश्न ९ – निर्विकल्प किसे कहते हैं ?

उत्तर – द्रव्य के प्रदेश भिन्न, गुण के प्रदेश भिन्न, पर्याय के प्रदेश भिन्न, उत्पाद के प्रदेश भिन्न, व्यय के प्रदेश भिन्न, ध्रुव के प्रदेश भिन्न, जिसमें न हों अर्थात् जिसके द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से किसी प्रकार सर्वथा खण्ड न हो सकते हों, उसे निर्विकल्प या अखण्ड कहते हैं। (८)

प्रश्न १० – महासत्ता किसको कहते हैं ?

उत्तर – सामान्य को, अखण्ड को, अभेद को। (२६५)

प्रश्न ११ – अवान्तरसत्ता किसको कहते हैं ?

उत्तर – विशेष को, खण्ड को, भेद को। (२६६)

प्रश्न १२ – महासत्ता अवान्तरसत्ता भिन्न-भिन्न हैं क्या ?

उत्तर – नहीं, प्रदेश एक ही है, स्वरूप एक ही है, केवल अपेक्षाकृत भेद है। वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। अभेद की दृष्टि से वह सारी महासत्ता रूप दीखती है। भेद की दृष्टि से वही सारी अवान्तर सत्ता रूप दीखती है जैसे एक ही वस्तु को सत् रूप देखना महासत्ता और उसी को जीवरूप देखना अवान्तर सत्ता है। (१५, १९, २६४, २६७, २६८)

प्रश्न १३ – सामान्य विशेष से क्या समझते हो ?

उत्तर – द्रव्य को अखण्ड सत् रूप से देखना सामान्य है और उसी को किसी भेद रूप से देखना विशेष है। जैसे एक ही वस्तु को सत् रूप देखना सामान्य है उसी को जीव रूप देखना यह विशेष है। वस्तु उभयात्मक है। (१५, १९)

प्रश्न १४ – सत् को अखण्ड रूप से देखने वाली दृष्टियों का क्या नाम है ?

उत्तर – सत् को अभेद दृष्टि से देखने को सामान्य दृष्टि, शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि, अखण्ड दृष्टि, अभेद दृष्टि, निर्विकल्प दृष्टि, अनिर्वचनीय दृष्टि, निश्चय दृष्टि, शुद्ध दृष्टि आदि अनेक नामों से कहा जाता है। (८४, ८८, २१६, २४७)

प्रश्न १५ – सत् को खण्ड रूप से देखने वाली दृष्टियों का क्या नाम है ?

उत्तर – सत् को भेद दृष्टि से देखने को विशेष दृष्टि, पर्याय दृष्टि, अंश दृष्टि, खण्ड दृष्टि, व्यवहार दृष्टि, भेद दृष्टि कहा जाता है। (८४, ८८, २४७)

प्रश्न १६ – द्रव्य का विभाग किस प्रकार किया जाता है ?

उत्तर – एक विस्तार क्रम से, दूसरा प्रवाह क्रम से। विस्तार क्रम में यह जानने की आवश्यकता है कि प्रत्येक द्रव्य कितने प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड है और प्रवाह क्रम में उसके अनन्त गुण, प्रत्येक गुण के अनन्त अविभाग प्रतिछेद तथा उनका अनादि अनन्त हीनाधिक परिणमन जानने की आवश्यकता है।

प्रश्न १७ – द्रव्यों का विस्तार क्रम (लम्बाई) बताओ ?

उत्तर – धर्म अधर्म और एक जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, आकाश अनन्त प्रदेशी है, कालाणु तथा शुद्ध पुद्गल परमाणु अप्रदेशी अर्थात् एक प्रदेशी है। (२५)

प्रश्न १८ – एक द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानने में क्या आपत्ति है ? (३१)

उत्तर – गुण परिणमन प्रत्येक प्रदेश में भिन्न-भिन्न रूप से होना चाहिये जो प्रत्यक्षबाधित है। (३२ से ३७)

प्रश्न १९ – द्रव्य का चतुष्टय किसे कहते हैं ?

उत्तर – देश-देशांश-गुण-गुणांश को द्रव्य का चतुष्टय कहते हैं।

प्रश्न २० – देश किसे कहते हैं ?

उत्तर – प्रदेशों के अभिन्न पिण्ड को देश या द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न २१ – देशांश किसे कहते हैं ?

उत्तर – भिन्न-भिन्न प्रत्येक प्रदेश को देशांश या क्षेत्र कहते हैं ।

प्रश्न २२ – गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – त्रिकाली शक्तियों को गुण या भाव कहते हैं ।

प्रश्न २३ – गुणांश किसे कहते हैं ?

उत्तर – गुण के एक-एक अविभाग प्रतिछेद को गुणांश या पर्याय कहते हैं।

प्रश्न २४ – देश देशांश के मानने से क्या लाभ है ?

उत्तर – देश से द्रव्य के अस्तित्व की प्रतीति होती है और देशांश के मानने से कायत्व-अकायत्व और महत्व-अमहत्व का अनुमान होता है जैसे काल द्रव्य अकायत्व है और आत्मा कायत्व है तथा आकाश आत्मा से महान है । (२८, २९, ३०)

प्रश्न २५ – कायत्व, अकायत्व, महत्व, अमहत्व, किसे कहते हैं ?

उत्तर – बहुप्रदेशी को कायत्व या अस्तिकाय कहते हैं और अप्रदेशी अर्थात् एक प्रदेशी को अकायत्व कहते हैं। बड़े छोटे के परिज्ञान को महत्व, अमहत्व कहते हैं। (६४)

प्रश्न २६ – गुण गुणांश के मानने से क्या लाभ है ?

उत्तर – गुण दृष्टि से वस्तु अवस्थित-त्रिकाल एक रूप है, पर्याय दृष्टि से वस्तु अनवस्थित-समय समय भिन्न रूप है। इसका परिज्ञान होता है। (१९८)

प्रश्न २७ – द्रव्य का स्वभाव क्या है ?

उत्तर – द्रव्य स्वतःसिद्ध परिणामी है । 'स्थित रहता हुआ बदला करता है' यही उसका स्वभाव है। इस स्वभाव के कारण ही वह गुणपर्यायमय या उत्पादव्ययध्रौव्यमय है। स्वतःसिद्ध स्वभाव के कारण उसमें गुण धर्म या ध्रौव्यधर्म है। परिणमन स्वभाव के कारण उसमें पर्यायधर्म या उत्पाद व्यय धर्म है। (८९, १७८)

प्रश्न २८ – द्रव्य और पर्याय दोनों मानने की क्या आवश्यकता है ? (६४)

उत्तर – द्रव्य दृष्टि से वस्तु अवस्थित है और पर्याय दृष्टि से वस्तु अनवस्थित है। द्रव्य दृष्टि को निश्चय दृष्टि, अन्वय दृष्टि, सामान्य दृष्टि भी कहते हैं। पर्याय दृष्टि को अवस्था दृष्टि, विशेष दृष्टि, व्यवहार दृष्टि भी कहते हैं । (६५, ६६, ६७)

प्रश्न २९ – अवस्थित अनवस्थित से क्या समझते हो ?

उत्तर – यह द्रव्य 'वही का वही' और 'वैसा का वैसा' ही है इसको अवस्थित कहते हैं अर्थात् द्रव्य का त्रिकाली स्वरूप सदा एक जैसा रहता है । इस अपेक्षा वस्तु अवस्थित है तथा प्रत्येक समय पर्याय में हीनाधिक परिणमन हुआ करता है, इस अपेक्षा अनवस्थित है।

प्रश्न ३० – अवस्थित न मानने से क्या हानि है ?

उत्तर – मोक्ष का पुरुषार्थ ज्ञानी किसके आश्रय से करेंगे ? किसी के भी नहीं ।

प्रश्न ३१ – अनवस्थित न मानने से क्या हानि है ?

उत्तर – मोक्ष और संसार का अन्तर मिट जायेगा, मोक्ष का पुरुषार्थ व्यर्थ हो जायेगा ।

प्रश्न ३२ – अवस्थित के पर्यायवाची नाम बताओ ?

उत्तर – अवस्थित, ध्रुव, नित्य, त्रिकाल एकरूप, द्रव्य, गुण, सामान्य, टंकोत्कीर्ण।

प्रश्न ३३ – अनवस्थित के पर्यायवाची नाम बताओ ?

उत्तर – अनवस्थित, अध्रुव, अनित्य, समय-समय में भिन्न-भिन्न रूप, पर्याय, विशेष ।

गुणत्व अधिकार (२)

प्रश्न ३४ – गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो देश के आश्रय रहते हों, देश के विशेष हों, स्वयं निर्विशेष हों, सबके सब उन्हीं प्रदेशों में इकट्ठे रहते हों, कथंचित् परिणमनशील हों, उन्हें गुण कहते हैं ? (३८, १०३)

प्रश्न ३५ – गुणों के जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर – इनके द्वारा प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न हाथ पर रक्खी हुई की तरह दृष्टिगत हो जाती है जिससे भेद विज्ञान की सिद्धि होती है और पर में कर्तृत्व बुद्धि का भ्रम मिट जाता है। (२०४)

प्रश्न ३६ – एक द्रव्य में कितने गुण होते हैं ?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं । (५२)

प्रश्न ३७ – गुणों के नामान्तर बताओ ?

उत्तर – गुण, शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, स्वभाव, ध्रुव, प्रकृति, शील, आकृति, अर्थ, अन्वयी, सहभू, ध्रुव, नित्य, अवस्थित, टंकोत्कीर्ण, त्रिकाल एक रूप । (४८, १३८, ४७९)

प्रश्न ३८ – गुणों को सहभू क्यों कहते हैं ?

उत्तर – क्योंकि वे सब मिलकर साथ-साथ रहते हैं । पर्यायों की तरह क्रम से नहीं होते । (१३९)

प्रश्न ३९ – गुण को अन्वयी क्यों कहते हैं ?

उत्तर – क्योंकि सब गुणों का अन्वय द्रव्य एक है, सब मिलकर इकट्ठे रहते हैं तथा सब अनेक होकर भी अपने को एक रूप से प्रगट कर देते हैं । (१४४–१५३ से १५६)

प्रश्न ४० – गुण को अर्थ क्यों कहते हैं ?

उत्तर – क्योंकि वे स्वतःसिद्ध परिणामी हैं। उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त हैं । (१५८, १५९)

प्रश्न ४१ – गुण के भेद लक्षण सहित बताओ ?

उत्तर – दो, साधारण असाधारण अर्थात् सामान्य विशेष । जो छहों द्रव्यों में पाये जावें उन्हें सामान्य गुण कहते हैं जैसे अस्तित्व, प्रदेशत्व इत्यादि। जो छहों द्रव्यों में न पाये जाकर किसी द्रव्य में पाये जाते हैं, उन्हें विशेष गुण कहते हैं जैसे जीव में ज्ञान दर्शन या पुद्गल में स्पर्श रस इत्यादि । (१६०, १६१)

प्रश्न ४२ – गुणों के इस भेद से क्या सिद्धि है?

उत्तर – सामान्य गुणों से द्रव्यत्व सिद्ध किया जाता है और विशेष गुणों से द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है क्योंकि उभयगुणात्मक वस्तु है । जो अस्तित्व गुण वाला है वही ज्ञान गुण वाला है। इनसे प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाती है और जीव की अनादि कालीन एकत्व बुद्धि का नाश होकर भेद विज्ञान की सिद्धि होती है। पर में कर्तृत्व बुद्धि का नाश होता है। स्व का आश्रय करके स्वभाव पर्याय प्रगट करने की रुचि जागृत हो जाती है। (१६२, १६३)

पर्यायत्व अधिकार (३)

प्रश्न ४३ – पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर – अखण्ड सत् में अंश कल्पना को पर्याय कहते हैं । (२६, ६१)

प्रश्न ४४ – पर्याय के नामान्तर बताओ ?

उत्तर – पर्याय, अंश, भाग, प्रकार, भेद, छेद, भंग, उत्पादव्यय, क्रमवर्ती क्रमभू, व्यतिरेकी, अनित्य, अनवस्थित। (६०, १६५)

प्रश्न ४५ – व्यतिरेकी किसे कहते हैं ?

उत्तर – भिन्न-भिन्न को व्यतिरेकी कहते हैं । 'यह यही है यह वह नहीं है' यह उसका लक्षण है । (१५२, १५४)

प्रश्न ४६ – व्यतिरेक के भेद लक्षण सहित लिखो ?

उत्तर – व्यतिरेक चार प्रकार का होता है – (१) देश व्यतिरेक (२) क्षेत्र व्यतिरेक (३) काल व्यतिरेक (४) भाव व्यतिरेक । एक-एक प्रदेश का भिन्नत्व देश व्यतिरेक है। एक-एक प्रदेश क्षेत्र का भिन्नत्व क्षेत्र व्यतिरेक है। एक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय का भिन्नत्व पर्याय व्यतिरेक है। एक-एक गुण के एक-एक अंश का भिन्नत्व भाव व्यतिरेक है । (१४७ से १५० तक)

प्रश्न ४७ – क्रमवर्ती किसको कहते हैं ?

उत्तर – एक, फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी, इस प्रकार प्रवाह क्रम से जो वर्तन करें उन्हें क्रमवर्ती या क्रमभू कहते हैं । क्रम व्यतिरेक पूर्वक तथा व्यतिरेक विशिष्ट ही होता है। (१६८)

प्रश्न ४८ – तथात्व अन्यथात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर – यह वही है इसको तथात्व कहते हैं तथा यह वह नहीं है इसको अन्यथात्व कहते हैं। जैसे यह वही जीव है जो पहले था यह तथात्व है तथा देवजीव मनुष्य जीव नहीं है यह अन्यथात्व है । (१७४)

प्रश्न ४९ – पर्याय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो, प्रदेशत्व गुण की पर्याय को द्रव्य पर्याय या व्यजंन पर्याय कहते हैं। शेष गुणों की पर्यायों को गुण पर्याय या अर्थ पर्याय कहते हैं । (१३५, ६१, ६२, ६३)

प्रश्न ५० – पर्याय को उत्पाद व्यय क्यों कहते हैं ?

उत्तर – जो उत्पन्न हो और विनष्ट हो । पर्याय सदा उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है। कोई भी पर्याय गुण की तरह सदैव नहीं रहती, इसलिये पर्यायों को उत्पाद व्यय कहते हैं । (१६५)

उत्पाद व्यय ध्रौव्यत्व अधिकार (४)

प्रश्न ५१ – उत्पाद किसे कहते हैं ?

उत्तर – द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं । जैसे कि जीव में देव का उत्पाद । (२०१)

प्रश्न ५२ – व्यय किसे कहते हैं ?

उत्तर – द्रव्य में पूर्व पर्याय के नाश को व्यय कहते हैं जैसे देव पर्याय के उत्पाद होने पर मनुष्य पर्याय का नाश । (२०२)

प्रश्न ५३ – ध्रौव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – दोनों पर्यायों में (उत्पाद और व्यय में) द्रव्य का सदृशता रूप स्थायी रहना, उसे ध्रौव्य कहते हैं; जैसे कि देव और मनुष्य पर्याय में जीव का नित्य स्थायी रहना । (२०३)

प्रश्न ५४ – उत्पाद के नामान्तर बताओ ?

उत्तर – उत्पाद संभव, भव, सर्ग, सृष्टि, भाव ।

प्रश्न ५५ – व्यय के नामान्तर बताओ ?

उत्तर – व्यय, भंग, ध्वंस, संहार, नाश, विनाश, अभाव, उच्छेद ।

प्रश्न ५६ – ध्रुव के नामान्तर बताओ ?

उत्तर – ध्रुव, ध्रौव्य, स्थिति, नित्य, अवस्थित ।

प्रश्न ५७ – उत्पात व्यय ध्रौव्य के बारे में कुछ कहो ?

उत्तर – उत्पाद, व्यय ध्रौव्य में अविनाभाव हैं । एक समय में होते हैं । स्वयं सत् का उत्पाद, सत् का व्यय या सत् का ध्रौव्य नहीं होता किन्तु सत् की किसी पर्याय का व्यय, किसी पर्याय का उत्पाद तथा कोई पर्याय ध्रौव्य है ।

प्रश्न ५८ – उत्पाद व्यय और ध्रौव्य दोनों के मानने से क्या लाभ है ?

उत्तर – ध्रौव्य दृष्टि से वस्तु अवस्थित और उत्पाद व्यय दृष्टि से अनवस्थित है । (१९८)

अन्तर अधिकार (५)

प्रश्न ५९ – उत्पाद व्यय ध्रौव्य में और सत् में क्या अन्तर है ?

उत्तर – अभेद दृष्टि से सत् को गुण कहते हैं और भेद दृष्टि से उसी को उत्पाद व्यय ध्रौव्य कहते हैं । (८७)

प्रश्न ६० – सत् और द्रव्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर – भेद दृष्टि से सत् गुण और द्रव्य गुणी कहलाता है । अभेद दृष्टि से जो सत् गुण है वही द्रव्य गुणी है । (८८)

प्रश्न ६१ – द्रव्य और गुण में क्या अन्तर है ?

उत्तर – द्रव्य अवयवी है और प्रत्येक गुण उसका एक-एक अवयव है ।

प्रश्न ६२ – गुण और पर्यायँ में क्या अन्तर है ?

उत्तर – गुण त्रिकाली शक्ति को कहते हैं और पर्याय उसके एक अविभाग प्रतिच्छेद को या एक समय के परिणमन को कहते हैं।

प्रश्न ६३ – उत्पाद व्यय और ध्रुव में क्या अन्तर है?

उत्तर – ध्रुव तो द्रव्य के स्वतःसिद्ध स्वभाव को कहते हैं और उत्पाद व्यय उसके परिणमन स्वभाव को कहते हैं ।

प्रश्न ६४ – व्यतिरेकी और अन्वयी में क्या अन्तर है ?

उत्तर – व्यतिरेकी अनेकों को, भिन्न-भिन्न को कहते हैं, ये पर्यायें हैं और जो अनेक होकर भी एक हों उन्हें अन्वयी कहते हैं, वे गुण हैं।

प्रश्न ६५ – व्यतिरेकी और क्रमवर्ती में क्या अन्तर है ?

उत्तर हैं तो दोनों एक समय की पर्याय के वाचक, पर प्रत्येक पर्याय की भिन्नता को व्यतिरेकी कहते हैं तथा पर्याय के क्रमबद्ध उत्पाद को क्रमवर्ती कहते हैं ।

प्रश्न ६६ – व्यतिरेक और अन्वय के लक्षण बताओ ?

उत्तर – 'यह वह नहीं है' यह व्यतिरेक का लक्षण है तथा 'यह वही है' यह अन्वय का लक्षण है।

प्रश्न ६७ – द्रव्य और पर्याय में क्या अन्तर है ?

उत्तर – स्वतःसिद्ध स्वभाव को द्रव्य कहते हैं और उसके परिणमन को पर्याय कहते हैं ।

नय प्रमाण अधिकार (६)

प्रश्न ६८ – पर्यायार्थिक नय का विषय क्या है ?

उत्तर – जो द्रव्य का भेद रूप ज्ञान करावे जैसे द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्य है, सब भिन्न-भिन्न हैं । जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है, जो द्रव्य गुण है वह पर्याय नहीं है, जो उत्पाद है वह व्यय ध्रौव्य नहीं है इत्यादि । (८४, ८८, २४७, ७४७ दूसरी पंक्ति, ७४९)

प्रश्न ६९ – शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय क्या है ?

उत्तर – जो द्रव्य का अभेद रूप ज्ञान करावे जैसे भेद रूप से न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है, न उत्पाद है, न व्यय है न ध्रौव्य है, एक अखण्ड सत् अनिर्वचनीय है अथवा जो द्रव्य है वही गुण है, वही पर्याय है, वही उत्पाद है, वही व्यय है, वही ध्रौव्य है अर्थात् एक अखण्ड सत् है ।
(८, ८४, ८८, २१६, २४७, ४४७ प्रथम पंक्ति, ७५० प्रथम पंक्ति)

प्रश्न ७० – प्रमाण का विषय क्या है ?

उत्तर – जो द्रव्य का सामान्यविशेषात्मक जोड़ रूप ज्ञान करावे जैसे जो भेद रूप है वही अभेद रूप है। जो गुण पर्याय वाला है वही गुण पर्याय वाला नहीं भी है । जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है वही उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त नहीं भी है। जो द्रव्य, गुण पर्याय वाला है वही द्रव्य, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है तथा वही द्रव्य, अनिर्वचनीय है। यह एक साथ दोनों कोटि का ज्ञान करा देता है। और दोनों विरोधी धर्मों को द्रव्य में सापेक्षपपने से, मैत्रीभाव से, अविरोध रूप से सिद्ध करता है ।
(२६१ प्रथम पंक्ति ७४८ तथा ७५० की दूसरी पंक्ति)

प्रश्न ७१ – द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि का दूसरा अर्थ क्या है ?

उत्तर – वस्तु जैसे स्वभाव से स्वतःसिद्ध है वैसे ही वह स्वभाव से परिणमन शील भी है। उस स्वभाव को द्रव्य, वस्तु, पदार्थ, अन्वय, सामान्य आदि कहते हैं । परिणमन स्वभाव के कारण उसमें पर्याय अवस्था परिणाम की उत्पत्ति होती है। जो दृष्टि परिणाम को गौण करके स्वभाव को मुख्यता से कहे उसे द्रव्यदृष्टि, अन्वयदृष्टि, वस्तु दृष्टि, निश्चय दृष्टि, सामान्य दृष्टि आदि नामों से कहा जाता है और जो दृष्टि स्वभाव को गौण करके परिणाम को मुख्यता से कहे उसे पर्याय दृष्टि, अवस्था दृष्टि, विशेष दृष्टि आदि नामों से कहते हैं। जिसकी मुख्यता होती है सारी वस्तु उसी रूप दीखने लगती है ।(६५, ६६, ६७, १९८)

सार तत्त्व*

यों तो आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है पर मोक्षमार्ग की अपेक्षा तीन गुणों से प्रयोजन है। ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र। सबसे पहले जब जीव को हित की अभिलाषा होती है तो ज्ञान से काम लिया जाता है । पहले ज्ञान द्वारा पदार्थ का स्वरूप, उसका लक्षण तथा परीक्षा सीखनी पड़ती है । पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है । अतः पहले सामान्य पदार्थ का ज्ञान करना होता है फिर विशेष का, क्योंकि जो वस्तु सत् रूप है वही तो जीव रूप है। सामान्य वस्तु को सत् भी कहते हैं। सो पहले आपको सत् का परिज्ञान कराया जा रहा है । सत् का आपको अभेदरूप, भेदरूप, उभय रूप हर प्रकार से ज्ञान कराया । इसको कहते हैं ज्ञानदृष्टि या पण्डिताई की दृष्टि । इससे जीव को पदार्थ ज्ञान होता चला जाता है और वह ग्यारह अंग तक पढ़ लेता है पर मोक्षमार्गी रंचमात्र भी नहीं बनता । यह ज्ञान मोक्षमार्ग में कब सहाई होता है जब जीव का दूसरा जो श्रद्धा गुण है उससे काम लिया जाय अर्थात् मिथ्यादर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न किया जाय । वह क्या है ? अनादिकाल की जीव की पर में एकत्वबुद्धि है। अहंकारममकार भाव है। अर्थात् यह है सो मैं हूँ और यह मेरा है तथा पर में कर्तृत्वभोक्तृत्व भाव अर्थात् मैं पर की पर्याय फेर सकता हूँ और मैं पर पदार्थ को भोग सकता हूँ। इसके मिटने का नाम है सम्यग्दर्शन । वह कैसे मिटे ? वह जब मिटे जब आपको यह परिज्ञान हो कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र सत् है। अनादिनिधिन है। स्वसहाय है। उसका अच्छा या बुरा परिणमन सोलह आने उसी के आधीन है। जब तक स्वतन्त्र सत् का ज्ञान न हो तब तक पर में एकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व भाव न किसी का मिट सकता है न मिटा है। इसलिये पहले ज्ञानगुण के द्वारा सत् का ज्ञान करना पड़ता है क्योंकि वह ज्ञान सम्यग्दर्शन में कारण पड़ता ही है। पर व्याप्ति उधर से है इधर से नहीं है अर्थात् सब जानने वालों को सम्यग्दर्शन हो ही ऐसा नहीं है किन्तु जिनको होता है उनको सत् के ज्ञानपूर्वक ही होता है। इससे पता चलता है कि ज्ञानगुण स्वतन्त्र है और श्रद्धा गुण स्वतन्त्र है। दृष्टान्त भी मिलते हैं। अभव्यसेन जैसे ग्यारह अंग के पाठी श्रद्धा न करने से नरक में चले गये और श्रद्धा करने वाले अल्पश्रुती भी मोक्षमार्गी हो गये। इसलिये पण्डिताई दूसरी चीज है। मोक्षमार्गी दूसरी चीज है। बिना मोक्षमार्गी हुए कोरे ज्ञान से जीव का रंचमात्र भी भला नहीं है। पण्डिताई की दृष्टि तो भेदात्मक ज्ञान, अभेदात्मक ज्ञान और उभयात्मक ज्ञान है सो आपको करा ही दिया।

---

* इस लेख में पहले निश्चयाभासी का खण्डन किया है फिर व्यवहाराभासी का खण्डन किया है फिर 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' समझाया है।

जैसे जो श्रद्धा गुण से काम न लेकर केवल मात्र ज्ञान से काम लेते हैं वे कोरे पण्डित रह जाते हैं और मोक्षमार्गी नहीं बन पाते उसी प्रकार जो श्रद्धा से काम न लेकर पहले चारित्र से काम लेने लगते हैं और बाबाजी बनने का प्रयत्न करते हैं वे केवल मान का पोषण करते हैं। मोक्षमार्ग उनमें कहाँ ! जब तक परिणति स्वरूप को न पकड़े तब तक लाख संयम उपवास करे–उनसे क्या ? श्री समयसारजी में कहा है कोरी क्रियाओं को करता मर भी जाय तो क्या ? अरे यह तो भान कर कि शुद्ध भोजन की, पर पदार्थ की तथा शुभ या अशुभ शरीर की क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता। इनमें तो न पाप है, न पुण्य है, न धर्म है। यह तो स्वतन्त्र दूसरे द्रव्य की क्रिया है। अब रही शुभ विकल्प की बात वह आश्रव तत्त्व है, बंध है, पाप है ? सोच तो तू कर क्या रहा है और हो क्या रहा है। भाई जब तक परिणति स्वरूप को न ग्रहे ये तो पाखण्ड है। कोरा संसार है। पशुवत क्रिया है। छह ढाले में रोज तो पढ़ता है 'मुनिव्रतधार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' वह तो शुद्ध व्यवहारी की दशा कही । यहाँ तो व्यवहार का भी पता नहीं और समझता है अपने को मोक्ष का ठेकेदार या समाज में महान ऊंचा ।

मोक्षमार्ग में नियम है कि विकल्प (राग) संसार है और निर्विकल्प (वीतरागता) मोक्षमार्ग है। अब वह राग कैसे मिटे और वीतरागता कैसे प्रगट हो ? उसका विचार करना है। देखिये विषय कषाय का राग तो है ही संसार कारण। इसमें तो द्वैत ही नहीं है। जिनका पिण्ड अभी उससे जरा भी नहीं छूटा वे तो करेंगे ही क्या ? ऐसे अपात्रों की तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो मुमुक्षु का प्रकरण है। सो उसे कहते हैं कि भाई यह तो ठीक है कि वस्तु भेदाभेदात्मक ही है पर भेद में यह खराबी है कि उसका अविनाभावी विकल्प उठता है और वह आश्रव बन्ध तत्त्व है। इसलिये यह भेद को विषय करने वाली व्यवहार नय तेरे लिये हितकर नहीं है। अभेद को बतलाने वाली जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसका विषय वचनातीत है। विकल्पातीत है। पदार्थ का ज्ञान करके संतुष्ट होजा। भेद के पीछे मत पड़ा रह। यह भी विषय कषाय की तरह एक बीमारी है। यह तो केवल अभेद वस्तु पकड़ाने का साधन था। सो वस्तु तूने पकड़ ली। अब 'व्यवहार से ऐसा है' 'व्यवहार से ऐसा है' अरे इस रागनी को छोड़ और प्रयोजन भूत कार्य में लग। वह प्रयोजनभूत कार्य क्या है ? सुन ! हम तुझे सिखा आये हैं कि प्रत्येक सत् स्वतन्त्र है। उसका चतुष्टय स्वतन्त्र है इसलिए पर को अपना मानना छोड़ । दूसरे जब वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र है तो तू उसमें क्या करेगा ? अगर वह तेरे की हुयी परिणमेगी तो उसका परिणमन स्वभाव व्यर्थ हो जायेगा और जो शक्ति जिसमें है ही नहीं वह दूसरा देगा भी कहाँ से ? इसलिये मैं इसका ऐसा परिणमन करादूं या यह यूं परिणमे तो ठीक । यह पर की कर्तृत्व बुद्धि छोड़ । तीसरे जब एक द्रव्य दूसरे को छूभी नहीं सकता तो भोगना क्या ? अतः यह जो पर के भोग की चाह है इसे छोड़*। यह तो नास्ति का उपदेश है किन्तु इस कार्य की सिद्धि 'अस्ति' से होगी और वह इस प्रकार है कि जैसा कि तुझे सिखाया है तेरी आत्मा में दो स्वभाव हैं एक त्रिकाली स्वभाव-अवस्थित, दूसरा परिणाम पर्याय धर्म । अज्ञानी जगत तो अनादि से अपने को पर्याय बुद्धि से देखकर उसी में रत है। तू तो ज्ञानी बनना चाहता है। अपने को त्रिकाली स्वभाव रूप समझ ! वैसा ही अपने को देखने का अभ्यास कर। यह जो तेरा उपयोग पर में भटक रहा है। पानी की तरह इसका रुख पलट। पर की ओर न जाने दे। स्वभाव की ओर इसे मोड़। जहाँ तेरी पर्याय ने पर की बजाये अपने घर को पकड़ा और निज समुद्र में मिली कि स्वभाव पर्याय प्रगट हुई। बस उस स्वभाव पर्याय प्रगट होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है। तीन काल और तीन लोक में इसकी प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसके होने पर तेरा पूर्व का सब ज्ञान सम्यक होगा। ज्ञान का वलन (वहाओ, झुकाओ, रुख) पर से रुक कर स्व में होने लगेगा। ये दोनों गुण जो अनादि से संसार के कारण बने हुये थे फिर मोक्षमार्ग के कारण होंगे। ज्यों-ज्यों ये पर से छूट कर स्वघर में आते रहेंगे त्यों-त्यों उपयोग की स्थिरता आत्मा में होती रहेगी। स्व की स्थिरता का नाम ही चरित्र है। और वह स्थिरता शनैः शनैः पूरी होकर तू अपने स्वरूप में जा मिलेगा (अर्थात् सिद्ध हो जायेगा)। सद्गुरुदेव की जय ! ओं शान्ति ।

हिन्दी टीकाकार का परिचय (हरिगीत)

शब्द अपनी योग्यता से ग्रंथ रूप में परिणये ।
विद्वान सरना रूप में रमता न उसने ये रचे ॥

---

* यह भाव श्री प्रवचनसार गाथा २३२ की टीका से लिया है।

ग्रन्थराज श्री पञ्चाध्यायी

प्रथम खण्ड/द्वितीय पुस्तक

वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति निरूपण

(२६१ से ५०२ तक)

प्रतिज्ञा

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यत्तद्व्ययादियुक्तं सत् ।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्ध्यर्थम् ॥ २६१ ॥

अर्थ - जो द्रव्य, गुण पर्यायवाला है। वही द्रव्य, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सत् है। यह द्रव्य का लक्षण प्रमाण दृष्टि से कहा (क्योंकि वस्तु प्रमाण स्वरूप है अर्थात् अनेकान्तात्मक है इसलिये) अब अनेकान्त ज्ञान की शुद्धि के लिये वस्तु (की अनेकान्तात्मक) स्थिति कही जाती है।

प्रमाण - श्री समयसार कलश नं. २४७।

वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति

स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च ।
तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥ २६२ ॥

अर्थ - स्यात् अस्ति-स्यात् नास्ति, स्यात् नित्य-स्यात् अनित्य, स्यात् एक-स्यात् अनेक, स्यात् तत्-स्यात् अतत् इस प्रकार इन चार युगलों के द्वारा ही मानो वस्तु गुम्फित हो रही है। (अर्थात् इन धर्मों से वस्तु गुंथी हुई है)।

इसी का स्पष्टीकरण

अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च ।
द्रव्येण, क्षेत्रेण च कालेन तथाथ वापि भावेन ॥ २६३ ॥

अर्थ - उसी का खुलासा करते हैं कि जो कथंचित् (किसी स्वरूप से) है, वही कथंचित् नहीं भी है। इसी प्रकार जो कथंचित् नित्य है, वही कथंचित् अनित्य भी है। जो कथंचित् एक है, वही कथंचित् अनेक भी है। जो कथंचित् वही है, वही कथंचित् वही नहीं भी है। इसी प्रकार ये चारों ही युगल द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से होते हैं।

व्याख्या - जो वस्तु अपने सामान्य स्वरूप से, द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से अस्ति रूप है वही वस्तु उसी समय अपने विशेष स्वरूप से, द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से नास्ति रूप भी है। अथवा इसको यों भी कह सकते हैं कि जो वस्तु अपने विशेष स्वरूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से 'अस्ति' है वह ही अपने सामान्य स्वरूप से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से 'नास्ति' रूप है। उसी समय वही अपने सामान्य स्वरूप से, द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से नित्य है और वही वस्तु उसी समय अपने विशेष स्वरूप से, द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से अनित्य रूप भी है। उसी समय वही वस्तु अपने सामान्य स्वरूप से, द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से एक रूप है और वही वस्तु उसी समय अपने विशेष रूप से, द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से अनेक रूप है। उसी समय वही वस्तु अपने सामान्य स्वरूप से - द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से तत् रूप हैं और वही वस्तु उसी समय अपने विशेष स्वरूप से, द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से भाव से अतत् स्वरूप है। इस प्रकार एक ही वस्तु को एक ही समय में देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह उपरोक्त चार युगलों से गुम्फित है। इसलिये वस्तु ही अनेकान्तात्मक है, अनेक उपरोक्त चार युगल, अन्त = धर्म, आत्मक = स्वरूप। ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तु का बोध अनेकान्त दृष्टि वाले किसी जैन को ही हो सकता है (आगे श्लोक ३०८) और अनेकान्त स्वरूप वस्तु को निरूपण करनेवाले स्याद्वाद आगम की कृपा से। जैनधर्म को छोड़कर शेष सब धर्मों ने वस्तु को उपरोक्त में से किसी एक धर्म रूप सर्वथा एकान्त माना है। जैसे साख्य का कहना है कि वस्तु नित्य ही है। का कहना है कि वस्तु अनित्य ही है। इसलिये अन्य मतों को एकांती कहते हैं। जैनधर्म अनेकांती है। यह ध्यान

रहे अनेकान्त रूप वस्तु है और 'स्याद्‌वाद अर्थात् कथंचित् ऐसा है यह उस वस्तु के बोलने की पद्धति है जिससे एकान्त का परिहार और अनेकान्त का समर्थन होता है, अनेकान्त कोई 'संशयवाद' या मदारी का खेल नहीं है। किन्तु वस्तु स्वयं अनेकान्त रूप स्वतः सिद्ध है। इसलिये ये अनेकान्त जैनों की कोई घड़ी हुई वस्तु नहीं हैं किन्तु वस्तु ही स्वतः अनेकान्त रूप बनी हुई है। जैसी है वैसा ही इसका निरूपण कर देता है। एक और ध्यान रहे कि एक दृष्टि यह भी है कि एक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है और वही द्रव्य उसी समय दूसरे द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। इस पद्धति का भी जैनधर्म में प्रयोग बहुत मिलता है पर वह पद्धति यहाँ नहीं है। यहाँ तो सामान्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में विशेष के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की नास्ति है और विशेष के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में सामान्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की नास्ति है यह दृष्टि है। यदि इसमें भूल हो गई तो प्रथम भाग के सारे ग्रंथ का अर्थ मिथ्या हो जायेगा। इस पर ग्रंथकार स्वयं पहले भी श्लोक नं. १५ से २२ तक प्रकाश डाल आये हैं। वह भी आप पुनः एकबार पढ़ लें तो हितकर होगा। यही चार युगल श्री समयसारजी के परिशिष्ट में भी हैं। वहाँ और यहाँ में यह अन्तर है कि वहाँ एक द्रव्य का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को दूसरे द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में नास्ति रूप कहा है। क्योंकि वहाँ आत्मा का प्रकरण है। ज्ञान ज्ञेय की बात है। ज्ञान (आत्मा) का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ज्ञेय में नहीं है और ज्ञेय का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ज्ञान में नहीं है। यहाँ एक द्रव्य का प्रकरण चल रहा है। यहाँ वस्तु को अनेकान्तात्मक सिद्ध करने के लिये सामान्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वरूप भिन्न दिखाना है और विशेष के द्रव्य-क्षेत्र-काल का स्वरूप भिन्न दिखाना है। अन्य तीन युगल श्री समयसार में भी सामान्य विशेष दृष्टि से हैं और यहाँ भी सामान्य विशेष दृष्टि से हैं। दूसरे द्रव्य की बात नहीं है। पर इतना विशेष है। वहाँ केवल आत्मा पर और उसमें भी ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार की अपेक्षा लेकर है। और यहां छहों द्रव्यों की बात है तथा यह दृष्टि है कि जैसे वस्तु स्वतः सिद्ध है वैसे वह स्वतः परिणामी भी है। इन चार युगलों का भाव तो ग्रंथकार ने समयसारजी से ही लिया है पर प्रकरणवश वह आत्मा का शास्त्र था यहाँ सामान्य वस्तु की बात है इसलिये निरूपण अपने-अपने विषय के अनुसार अपने-अपने ढंग का है। श्री अमृतचन्द्रजी ने अपने इन ही चार युगलों के १४ कलशों में एकान्त रूप वस्तु मानने वाले अन्यमती को, अज्ञानी को "पशु" संज्ञा दी है। इस ग्रंथकार ने भी उसे सिंहमाणवक कहा है। बिल्ली को शेर समझने वाला। भाव दोनों का एक ही है। आगे 'अस्ति-नास्ति' युगल का वर्णन श्लोक ३०८ तक, तत्-अतत् युगल का वर्णन ३३५ तक, नित्य-अनित्य युगल का वर्णन ४३३ तक, एक-अनेक युगल का वर्णन ५०२ तक किया है। ग्रंथकार ने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को 'अस्ति-नास्ति' तथा 'एक-अनेक' युगल पर तो लगा कर दिखा दिया है और शेष दो युगलों पर यह कह दिया है कि स्वयं लगा लेना, पर इसी प्रकार लगेगा उन पर भी अवश्य। श्री समयसारजी में केवल 'अस्ति-नास्ति' इस एक युगल पर ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव लगाकर दिखाया गया है। इसलिये वहाँ ८ कलश 'अस्ति-नास्ति' युगल के हैं और शेष तीन युगलों के ६ कलश ही हैं। इस प्रकार वहाँ १४ कलश इसी विषय के हैं। 'नास्ति' शब्द का अर्थ यहाँ सर्वथा अभाव नहीं है किन्तु 'गौण' अर्थ है। स्यात् का अर्थ कंथचित् किसी अपेक्षा से, किसी एक दृष्टि से ऐसा है। वह अपेक्षा लोप है। स्वयं समझने योग्य है। जैसे "द्रव्य स्यात् नित्य है।" यहाँ स्यात् का अर्थ द्रव्यार्थिक दृष्टि है। द्रव्य द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं। उसी प्रकार "द्रव्य स्यात् अनित्य है।" यहाँ स्यात् का अर्थ पर्याय दृष्टि है। अर्थात् द्रव्य पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। दृष्टि वक्ता के अभिप्राय में रहती है। इसी प्रकार सब समझ लेवें। जैसे द्रव्य स्यात् तत् है। यह सामान्य दृष्टि है। द्रव्य स्यात् अतत् है वह विशेष दृष्टि है। इस दृष्टि से समय-समय का द्रव्य ही दूसरा है। ये चारों युगल सापेक्ष सच्चे हैं। निरपेक्ष मिथ्या हैं क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। प्रत्येक युगल को चार दृष्टियों से देखा जाता है। जैसे नित्यानित्य पर इस प्रकार घटेगा। (१) वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य है। (२) वस्तु पर्याय दृष्टि से अनित्य है। (३) वस्तु प्रमाण दृष्टि से उभय (नित्यानित्यात्मक) है। (४) वस्तु शुद्ध दृष्टि से अनुभय है अर्थात् अखण्ड है। प्रत्येक युगल इसी प्रकार है और प्रत्येक युगल के अन्त में नय प्रमाण लगाकर भी दिखलाये गये हैं। "अस्ति-नास्ति" युगल का दूसरा नाम 'सत्-असत्' भी है। श्री समयसारजी में सत्-असत् के नाम से ही लिखा है। दोनों पर्यायवाची है।

सामान्य कथन समाप्त

पहला अवान्तर अधिकार

अस्ति-नास्ति युगल २६४ से ३०८ तक

द्रव्य से 'अस्ति-नास्ति' (२६४ से २६९ तक)

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च ।
न पृथक्प्रदेशवत्त्वं स्वरूपभेदोऽपि नानयोरेव ॥ २६४ ॥

अर्थ - एक तो महासत्ता है। दूसरी अवान्तर सत्ता है। इस प्रकार यद्यपि सत्ता के दो भेद हैं तथापि इन दोनों सत्ताओं के भिन्न-भिन्न प्रदेश नहीं हैं तथा दोनों में स्वरूप भेद भी नहीं है (दोनों का एक ही स्वरूप है। केवल अपेक्षाकृत दृष्टि भेद है)।

भावार्थ - यहाँ यह भाव नहीं है कि विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की समुदायात्मक सत्ता को महासत्ता कहते हैं और प्रत्येक पदार्थ की सत्ता को अवान्तर सत्ता कहते हैं। ऐसा अर्थ करने से सम्पूर्ण ग्रंथ का अर्थ गलत हो जायेगा। यहाँ यह भाव है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। उसके सामान्य स्वरूप को महासत्ता और विशेष स्वरूप को अवान्तर सत्ता कहते हैं। जो प्रदेश सामान्य स्वरूप अर्थात् महासत्ता का है वही प्रदेश विशेष स्वरूप अर्थात् अवान्तर सत्ता का है। इसलिये दोनों में प्रदेश भेद नहीं हैं। स्वरूप भेद इस प्रकार नहीं है कि वह द्रव्य, द्रव्यदृष्टि से सामान्य स्वरूप रूप दीखता है और वही पदार्थ पर्याय दृष्टि से विशेष रूप दीखता है। ऐसा नहीं है कि जैसे वृक्ष में फल अलग हैं और पत्ते अलग हैं इस प्रकार द्रव्य में महासत्ता भिन्न है और अवान्तर सत्ता भिन्न है। अभेद दृष्टि से वही महासत्ता रूप है और भेद दृष्टि से वही अवान्तर सत्ता रूप है। जो सत् सामान्य है वही सत् विशेष जीव है। जैसे किसी एक शुद्ध जीव को अपनी दृष्टि के सामने रखिये। अब जब तक आप उसे जीव न समझ कर केवल सत् मात्र अखण्ड सत् रूप से देखते हैं तब तक उस जीव का नाम सत्-सत्ता-महासत्ता या सामान्य है क्योंकि सत् धर्म उसके सम्पूर्ण विशेष धर्मों को गौण करके उसे केवल वस्तु रूप से दिखा रहा है और जहाँ आपकी दृष्टि सत् से हटकर यह आई कि यह जीव है वस समझ लो कि अब वही पदार्थ महासत्ता रूप न रहकर अवान्तर सत्ता रूप बन गया। इस तरह न तो उसका प्रदेश ही बदला न उसका स्वरूप ही बदला। वह चीज तो जैसी थी, ठीक वैसी की वैसी है और आगे चलिये। आपको यह ख्याल आया कि यह चेतन मेटर है, ज्ञान गुणवाला है तब ज्ञान मुख्य हो गया। तब वही पदार्थ गुण अवान्तर सत्ता रूप नजर आने लगा। प्रदेश वही, स्वरूप वही, चीज वही और आगे चलिये आपकी दृष्टि पर्याय पर गई। अब वह आपको सिद्ध पर्याय रूप दीखने लगा। अब वह सारा का सारा पदार्थ पर्याय रूप अवान्तर सत्तामय है। प्रदेश वही, स्वरूप वही, चीज वही। इसी प्रकार उसे उत्पाद रूप देखना, व्यय रूप देखना, ध्रौव्य रूप देखना सब अवान्तर सत्ता है। इस प्रकार एक सत् को केवल अखण्ड सत् रूप देखना महासत्ता और उसे ही द्रव्य रूप, गुण रूप, पर्याय रूप, उत्पाद रूप, व्यय रूप, ध्रौव्य रूप या किसी भी रूप जहाँ तक भेद हो सकता है। भेद रूप देखना अवान्तर सत्ता है। जिस रूप आप देखेंगे वह मुख्य है, दूसरी गौण है। मुख्य को अस्ति कहते हैं। गौण को नास्ति कहते हैं। बस यही द्रव्य से अस्ति-नास्ति है। इसी भाव को ग्रन्थाकार ने स्वयं अगले पाँच श्लोकों में स्पष्ट किया है। पूर्व श्लोक १५ से २२ तक पहले भी इस पर प्रकाश डाल चुके हैं। वह भी पुनः पढ़ लें तो बहुत हितकर होगा।

किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि ।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता ॥ २६५ ॥

अर्थ - किन्तु जो सत् सम्पूर्ण पदार्थों के समूह को स्पर्श करनेवाला है उसे ही महासत्ता के नाम से कहते हैं। वह सामान्य का ग्रहण करनेवाला है और उसी की अपेक्षा से वस्तु सत्-मात्र है (अर्थात्-महासत्तारूप है)।

भावार्थ - हर एक पदार्थ का अस्तित्व गुण जुदा-जुदा है। उसी अस्तित्व गुण को 'सत्' इस नाम से भी कहते हैं क्योंकि उसी से वस्तु की सत्ता कायम रहती है। वह सत् गुण सामान्य रीति से सब वस्तुओं में एक सरीखा हैं। एक सरीखा होने से उसे एक भी कह देते हैं और उसी का नाम महासत्ता रखते हैं। वास्तव में 'महासत्ता' नामक कोई एक ... नहीं है। केवल समानता की अपेक्षा से इसको एकत्व संज्ञा मिली है।

अपि चावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सन्गुणश्च पर्यायः ।
सच्चोत्पादध्वंसौ सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः ॥ २६६ ॥

अर्थ - तथा द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्य है, इस प्रकार जितना भी विस्तार है, सत् का परिवार है, वह अवान्तर सत्ता कहलाता है।

भावार्थ - सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय, सत् उत्पाद, सत् व्यय और सत् ध्रौव्य इस प्रकार विशेषण विशिष्ट सत्ता के विशेष विस्तार को अवान्तर सत्ता कहते हैं अर्थात् अवान्तर सत्ता में अवान्तर शब्द व्याप्य का वाचक है। इसलिये प्रत्येक पदार्थ व उनके गुण तथा पर्यायवर्ती व्याप्यसत्ता को अवान्तर सत्ता कहते हैं।

अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयावधार्येत।
स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव न तु मूलात् ॥ २६७ ॥

अर्थ - द्रव्य की अपेक्षा स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति का अर्थ यह है कि वस्तु जिस समय महासत्ता की अपेक्षा से कथंचित् है, उस समय अवान्तर सत्ता की अपेक्षा से वह कथंचित् नहीं भी है। वस्तु में अवान्तर सत्ता की अपेक्षा से ही अभाव आता है। वास्तव में अभावात्मक नहीं है।

भावार्थ - जब द्रव्यार्थिक नय से वस्तु को देखते हैं तो सारी की सारी वस्तु सत् रूप ही दृष्टिगोचर होती है, उस समय अवान्तर सत्ता रूप वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। इसी का अर्थ अभाव है। यह अर्थ नहीं है कि अवान्तर सत्ता का स्वरूप ही वस्तु में से नष्ट हो जाता है।

प्रमाण - श्री प्रवचनसार गाथा ९७, ९८ की टीका।

अपि चावान्तरसत्तारूपेण यदावधार्यते वस्तु ।
अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा ॥ २६८ ॥

अर्थ - इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ता की अपेक्षा से वस्तु निश्चय की जाती है उस समय उसकी अपेक्षा से तो वह कथंचित् है परन्तु प्रतिपक्षी महासत्ता की अपेक्षा से कथंचित् नहीं भी है।

भावार्थ - वास्तव में वस्तु तो जैसी है, वह वैसी ही है। उस में से न तो कुछ कभी जाता है और न उसमें कुछ कभी आता है। केवल कथन शैली से उसमें भेद हो जाता है। जिस समय वस्तु को महासत्ता की दृष्टि से देखते हैं उस समय वह सत् रूप ही दीखती है। उस समय वह कोई विशेष द्रव्य नहीं कही जा सकती, गुण भी नहीं कही जा सकती और पर्याय भी नहीं कही जा सकती। इसलिये उस समय यह कहा जा सकता है कि वस्तु सत् रूप से तो है परन्तु वह द्रव्य, गुण पर्याय आदि रूप से नहीं है। इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ता की दृष्टि से वस्तु देखी जाती है उस समय वह द्रव्य पर्याय आदि विशेष सत् रूप से तो है परन्तु सामान्य सत् रूप से नहीं है। इस प्रकार वस्तु में कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व सुघटित होता है। वस्तु में नास्तित्व केवल अपेक्षा दृष्टि से आता है। वास्तव में वस्तु अभाव स्वरूप नहीं है।

दृष्टांतः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति।
पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च ॥ २६९ ॥

अर्थ - कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व का दृष्टांत भी स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार पट (वस्त्र) द्रव्य-पट की अपेक्षा से तो है परन्तु वही पट द्रव्यपट के शुक्लादि गुणों की अविवक्षा की अपेक्षा से नहीं है।

भावार्थ - शुक्लादि गुणों का समूह ही पट कहलाता है। जिस समय पट को मुख्य रीति से कहते हैं उस समय उसके गुण नहीं के बराबर समझे जाते हैं और जिस समय शुक्लत्वादि गुणों को मुख्य रीति से कहते हैं उस समय पट भी नहीं के बराबर समझा जाता है। कहने की अपेक्षा से ही वस्तु में मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है तथा उसी व्यवस्था से वस्तु में कथंचित् अस्तिवाद और कथंचित् नास्तिवाद आता है। इसी का नाम स्याद्वाद है। पूर्व श्लोक २६४ के भावार्थ अनुसार जब तक आपकी दृष्टि में पट-पट-पट है तब तक सत्वत् वह पट महासत्ता रूप है। जहाँ यह ख्याल

आया कि रेशमी कपड़ा या सफेद रंग का कपड़ा बस वही कपड़ा अवान्तर सत्ता रूप हो गया। तन्तु वही, स्वरूप वही, केवल देखने की दृष्टि से महासत्ता अवान्तर सत्ता रूप वह कपड़ा बन जाता है।

क्षेत्र से अस्ति-नास्ति (२७० से २७३ तक)

क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् ।
तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥ २७० ॥

अर्थ - वस्तु का क्षेत्र भी दो प्रकार से कहा जाता है। एक सामान्य दूसरा विशेष। उनमें देश मात्र को तो सामान्य क्षेत्र कहते हैं और उसके अंशों को विशेष क्षेत्र कहते हैं।

भावार्थ - किसी भी द्रव्य के जबतक देश पर दृष्टि है तबतक वह महासत्ता रूप सामान्य क्षेत्र है क्योंकि देश-देश-देश से भिन्नता नहीं आती जहाँ आपकी यह दृष्टि हुई कि असंख्यात् देश या एक देश या जीव का देश या पुद्गल का देश, बस समझ लो कि क्षेत्र की अपेक्षा अवान्तर सत्ता हो गई। देश रूप से देखना महासत्ता और देश को किसी भी देश के भेद रूप, अंश रूप, विशेषण रूप से देखना अवान्तर सत्ता। जिस रूप से देखोगे वह मुख्य, शेष गौण। मुख्य को अस्ति, गौण को नास्ति कहते हैं। यह क्षेत्र से अस्ति-नास्ति है। एक ध्यान रहे कि देश कहो या सत् कहो, इन दोनों शब्दों का वाच्य एक अखण्ड सत् ही है। तथा प्रदेश दोनों हालतों में वही है। स्वरूप भी वही है। जीव को देश कहना महासत्ता, असंख्यात प्रदेशी कहना अवान्तर सत्ता, काल को देश कहना महासत्ता, एक प्रदेशी कहना अवान्तर सत्ता। जो देश रूप है वही तो असंख्यात् प्रदेश रूप है। जो देश रूप है वही तो एक प्रदेशी है।

अथ केवलं प्रदेशात् प्रदेशमात्रं यदेष्यते वस्तु ।
अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राविवक्षितत्वान्न ॥ २७१ ॥

अर्थ - जिस समय केवल देश की अपेक्षा से देश रूप वस्तु कही जाती है उस समय वह देश रूप स्वक्षेत्र की अपेक्षा से तो है परन्तु उस देश के अंशों की अविवक्षा होने से अंशों की अपेक्षा से नहीं है।

भावार्थ - जीव को देश रूप देखने से देश रूप तो दृष्टि में आयेगा, असंख्यात् प्रदेश रूप दृष्टि में नहीं आयेगा, काल को देश रूप देखने से देश रूप तो दृष्टि में आयेगा, एक प्रदेश रूप दृष्टि में नहीं आयेगा।

अथ केवलं तदंशात्तावन्मात्राद्यदेष्यते वस्तु ।
अस्त्यंशविवक्षितया नास्ति च देशविवक्षितत्त्वाच्च ॥ २७२ ॥

अर्थ - अथवा जिस समय केवल देश के अंशों की अपेक्षा से वस्तु कही जाती है उस समय यह अंशों की अपेक्षा से तो है, परन्तु देश की विवक्षा न होने से देश की अपेक्षा से नहीं है।

भावार्थ - इस अपेक्षा जीव असंख्यात् प्रदेश रूप दृष्टिगत होगा, देशरूप नहीं। काल एक प्रदेश रूप दृष्टिगत होगा, देश रूप नहीं।

संदृष्टिः पटदेशः क्षेत्रस्थानीय एव नास्त्यस्ति ।
शुक्लादितन्तुमात्रादन्यतरस्याविवक्षितत्त्वाद्वा ॥ २७३ ॥

अर्थ - क्षेत्र के लिये दृष्टान्त पट रूप देश है। वह शुक्लादि स्वभावतन्तु समुदाय की अपेक्षा से तथा भिन्न-भिन्न अंशों की अपेक्षा से कथंचित् अस्ति-नास्ति रूप है। जिस समय जिसकी विवक्षा (कहने की इच्छा) की जाती है वह तो उस समय मुख्य होने से अस्ति रूप है और इतर अविवक्षित होने से उस समय गौण है। इसलिये वह नास्ति रूप है। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व समझना चाहिये।

भावार्थ - २७० के भावार्थानुसार जब तक कपड़े के देश पर दृष्टि है तब तक देश की अपेक्षा महासत्ता और जब उस देश के अंश पर जैसे दस गज या एक गज अथवा किसी प्रकार भी देश का भेद कहना अवान्तर सत्ता है। विवक्षित को मुख्य या अस्ति कहते हैं। अविवक्षित को गौण या नास्ति कहते हैं।

काल से 'अस्ति-नास्ति' (२७४ से २७८ तक)

कालो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुनः स्वभावेन ।
सोऽपिपूर्ववद्द्वयमिह सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥ २७४ ॥

अर्थ - काल नाम वर्तन का है अथवा वस्तु का स्वभाव से परिणमन होने का है। वह काल भी पहले की तरह सामान्य और विशेष रूप से दो प्रकार है।

भावार्थ - किसी भी द्रव्य के जबतक काल (पर्याय) पर दृष्टि है तबतक वह महासत्ता रूप सामान्य काल है क्योंकि काल-काल-काल से भिन्नता नहीं आती जहाँ आपकी यह दृष्टि हुई कि जीव का काल (जीव की पर्याय) या पुद्गल का काल या वर्तमान काल या भूतकाल या समय मात्र का काल बस समझ लो कि काल की अपेक्षा अवान्तर सत्ता हो गई। काल रूप से देखना महासत्ता और काल को किसी भी काल के भेदरूप-अंशरूप देखना अवान्तर सत्ता। जिस रूप से देखोगे वह मुख्य शेष गौण। मुख्य को अस्ति, गौण को नास्ति कहते हैं। यह काल से अस्ति-नास्ति है। यह ध्यान रहे कि काल कहो या सत् कहो, इन दोनों शब्दों का वाच्य एक अखण्ड सत् ही है तथा प्रदेश दोनों हालतों में वही है स्वरूप भी वही है। जैसे जीव को केवल काल रूप देखना महासत्ता जीव काल रूप देखना अवान्तर सत्ता। काल द्रव्य को काल (पर्याय) रूप देखना महासत्ता, काल के काल रूप देखना अर्थात् काल द्रव्य को पर्याय रूप देखना अवान्तर सत्ता।

सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च ।
उभयोरन्यतमस्यावमग्नोन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ॥ २७५ ॥

अर्थ - सामान्य विधिरूप है, विशेष प्रतिषेधरूप है। उन दोनों में से किसी एक के विवक्षित और अविवक्षित होने से अस्तित्व और नास्तित्व आता है।

भावार्थ - देखने से ऐसा लगता है कि नामालूम कितना कठिन श्लोक है किन्तु ओट तले पहाड़ है। सामान्य, विधि, निरंश, स्व शुद्ध, प्रतिषेधक, निरपेक्ष ये सब महासत्ता के पर्यायवाची शब्द हैं और विशेष, प्रतिषेध, सांश, पर, अशुद्ध, प्रतिषेध्य, सापेक्ष ये सब अवान्तर सत्ता के पर्यायवाची शब्द हैं। विवक्षित, उन्मग्न, अर्पित, अनुलोम, उन्मज्जत ये मुख्य के नामान्तर हैं और अविवक्षित, अवमग्न, अनर्पित, प्रतिलोम, निमज्जत ये गौण के नामान्तर हैं। श्लोक का भाव अब स्पष्ट है कि सामान्य काल भी है, विशेष काल भी है, दोनों मुख्य गौण होने से अस्ति-नास्ति रूप हैं। जो काल सामान्य है वही तो जीवकाल विशेष है।

तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति ।
तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य ॥ २७६ ॥

अर्थ - अंश कल्पना रहित-निरंश परिणमन को विधि कहते हैं जैसे स्वयं सत् परिणमन। सत् सामान्य में अंश कल्पना नहीं है किन्तु उसका सामान्य परिणमन है और उसी सत् की भिन्न-भिन्न विभाजित अंश परिणमन कल्पना को प्रतिषेध कहते हैं। जैसे जीव द्रव्य का परिणमन, गुण परिणमन, पर्याय परिणमन।

भावार्थ - सामान्य परिणमन की अपेक्षा से वस्तु में किसी प्रकार का भेद नहीं होता है परन्तु विशेष-विशेष परिणमन की अपेक्षा से वही एक निरंश रूप वस्तु अनेक भेदवाली हो जाती है और वस्तु में होने वाले अंश रूप भेद ही प्रतिषेध रूप हैं।

तदुदाहरणं सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत ।
अस्ति विवक्षिततत्त्वादिह नास्त्यंशस्याविवक्षया तदिह ॥ २७७ ॥

अर्थ - यहाँ सामान्य और विशेष काल के साथ अस्ति-नास्ति का उदाहरण इस प्रकार है कि जिस समय वस्तु में भेद विवक्षा रहित सत्ता सामान्य के परिणमन की विवक्षा की जाती है। उस समय वह सामान्य रूप स्वकाल की अपेक्षा से तो है, परन्तु अंशों की विवक्षा न होने से विशेषरूप पर-काल की अपेक्षा से वह नहीं है। जैसे जीव को केवल परिणमन

से देखना हो तो परिणमन से तो है – जीव परिणमन से नहीं है। उसी प्रकार जब जीव परिणमन से देखें तो जीव परिणमन से तो है पर परिणमन मात्र से नहीं है।

संदृष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालायतस्वकालतया ।
अस्ति च तावन्मात्रान्नास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥ २७८ ॥

अर्थ – उदाहरणार्थ पट रूप जो सामान्य परिणमन है वह काल सामान्य की अपेक्षा से पट का स्वकाल है, इसलिये इतने मात्र की अपेक्षा से तो वह है परन्तु वही पट तन्तु और शुक्ल रूप विशेष परिणमन (पर काल) की अपेक्षा से नहीं है।

भावार्थ – अखंड कपड़े के परिणमन की दृष्टि महासत्ता और उसके भेद परिणमन, अंश परिणमन दृष्टि अवान्तर सत्ता। जैसे धोती का परिणमन, सफेद परिणमन, इत्यादि। मुख्य अस्ति गौण नास्ति।

भाव से अस्ति-नास्ति (२७९ से २८३ तक)

भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः ।
अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात् ॥ २७९ ॥

अर्थ – भाव नाम परिणमन का है। तत्त्व का जो स्वरूप है वही उसका भाव है। अथवा शक्तियों के समूह का नाम भी भाव है, अथवा भाव से पदार्थ के सर्वस्वसार का ग्रहण किया जाता है।

स विभक्तो द्विविधः स्यात्सामान्यात्मा विशेषरूपश्च ।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात्स्वभावोऽथ गुणोहि परभावः ॥ २८० ॥

अर्थ – वह भाव भी सामान्यात्मक और विशेषात्मक ऐसे दो भेदवाला है। उन दोनों में जो भाव विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है। अतः यह स्व-भाव कहलाता है और जो अविवक्षित होता है वह गौण हो जाता है। अतः वह पर-भाव कहलाता है।

भावार्थ – किसी भी द्रव्य के जबतक भाव (गुण) पर दृष्टि है तबतक वह महासत्ता रूप सामान्य भाव है क्योंकि भाव-भाव-भाव से भिन्नता नहीं आती। जहाँ आपकी यह दृष्टि हुई कि जीव भाव (जीव का गुण) या ज्ञान भाव या स्पर्श भाव या अनन्त भाव या एक भाव तो समझ लो कि भाव की अपेक्षा अवान्तर सत्ता हो गई। भावरूप से देखना महासत्ता और भाव को किसी भी विशेषण सहित देखना-भेद भाव से देखना अवान्तर सत्ता। जिस रूप से देखोगे वह मुख्य, शेष गौण। मुख्य को अस्ति गौण को नास्ति कहते हैं। यह भाव से अस्ति-नास्ति है। यह ध्यान रहे कि भाव कहो या सत् कहो, इन दोनों शब्दों का वाच्यार्थ एक अखंड सत् ही है तथा प्रदेश दोनों हालतों में वही है। स्वरूप भी वही है। जैसे जीव को भावरूप देखना महासत्ता, जीवभाव रूप देखना अवान्तर सत्ता।

सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः ।
प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः ॥ २८१ ॥

अर्थ – इन दोनों भावों में से सामान्य भाव विधिरूप ही है। वह शुद्ध है, प्रतिषेधक है और निरपेक्ष है तथा विशेष भाव प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध्य है, अंशसहित है और सापेक्ष है।

तत्र विवक्ष्यो भावः केवलमस्ति स्वभावमात्रतया* ।
अविवक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥ २८२ ॥

अर्थ – वस्तु के सामान्य और विशेष भावों में से जो भाव विवक्षित होता है, वही केवल वस्तु का स्व-भाव समझा जाता है, और उसी स्व-भाव की अपेक्षा से वस्तु में अस्तित्व आता है। परन्तु जो भाव अविवक्षित होता है, वही पर-भाव कहलाता है। जिस समय स्वभाव की विवक्षा की जाती है, उस समय पर-भाव की विवक्षा न होने से उसका वस्तु

* श्लोक नं. २८२ से २८८ तक टीकाओं के क्रम में अन्तर है। हमने पूर्वापर विषय का अनुसंधान देखकर क्रम रखा है। ग्रन्थकार ने जिस क्रम से द्रव्य-क्षेत्र-काल में वर्णन पहले किया। उसी क्रम से हमने भाव का क्रम लिखा है।

में अभाव समझा जाता है। इसलिये परभाव की अपेक्षा से वस्तु में नास्तित्व आता है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक काल में ही वस्तु में घटित होते हैं जैसे जीव को भावरूप देखना या जीवभाव रूप देखना।

संदृष्टिः पटभावः पटसारो वा पटस्य निष्पत्तिः ।
अस्त्यात्मना च तदितरपरपटादिभावाविवक्षया नास्ति ॥ २८३ ॥

अर्थ – पट का भाव, पट का सार, पट के स्वरूप की प्राप्ति, ये तीनों ही बातें एक अर्थ वाली हैं। पट का भाव अपने स्वरूप की अपेक्षा से है परन्तु उसके इतर पट आदि भावों की अविवक्षा होने से वह नहीं है क्योंकि विवक्षित भाव को छोड़कर बाकी सभी भाव अविवक्षित हैं। भावार्थ २८० वत् जानना।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों की 'अस्ति-नास्ति' का इकट्ठा निरूपण २८४ से २८६

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत् ।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥ २८४ ॥

अर्थ – आशय यह है कि जब तक सत् में अंश कल्पना नहीं की जाती है तब तक तो वह सत् सामान्य कहा जाता है और जब यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भेदों से विभाजित किया जाता है तब वही सत् विशेष कहलाता है।

भावार्थ – वस्तु में जबतक भेद बुद्धि नहीं होती है तबतक वह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्ध है और उसी अवस्था में वह निरपेक्ष है परन्तु जब उसमें पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भेद कल्पना की जाती है तब वह वस्तु परस्पर सापेक्ष हो जाती है और उसी अवस्था में वह प्रतिषेध भी है। जो सतत अन्वय रूप से रहने वाली हो, उसे विधि कहते हैं और जो व्यतिरेक रूप से रहे उसे प्रतिषेध्य कहते हैं। वस्तु सामान्य अवस्था में ही सतत अन्वय रूप से रह सकती है परन्तु भेद विवक्षा में वह व्यतिरेक रूप धारण करती है। इसलिये सत् सामान्य को विधि रूप और सत् विशेष को प्रतिषेध रूप कहा गया है। वस्तु की विशेष अवस्था में ही प्रतिषेध कल्पना की जाती है।

पुनः भावार्थ – आचार्य भिन्न-भिन्न रूप से तो द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से अस्ति-नास्ति निरूपण कर ही आये हैं अब उस सबके सार रूप से चारों को इकट्ठा करके कहते हैं कि जबतक वस्तु सब प्रकार से अखण्ड सत् है और उसमें किसी प्रकार की भेद कल्पना नहीं है तभी तक उसका नाम सामान्य या महासत्ता है और जहाँ उसमें किसी भी प्रकार से कोई भी अंश कल्पना की गई वह विशेष है जैसे केवल अखण्ड सत् यह सामान्य है, वह जीव सत्, असंख्यात प्रदेश, ज्ञानादि अनन्त गुण, सिद्ध पर्याय, देवरूप उत्पाद, मनुष्य रूप व्यय, जीव रूप ध्रौव्य इत्यादिक कोई भी भेद हो सब विशेष या अवान्तर सत्ता है। जिसकी विवक्षा हो वह मुख्य दूसरी गौण। मुख्य अस्ति, गौण नास्ति।

तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदाप्यस्ति ।
शेषविशेषविवक्षाभावादिह तदैव तन्नास्ति ॥ २८५ ॥

अर्थ – इसलिये यह बात निर्दोष रीति से सिद्ध हो चुकी कि सम्पूर्ण पदार्थ जिस समय सामान्यता से विवक्षित किये जाते हैं उस समय वे सामान्यता से तो है परन्तु शेष-विशेष विवक्षा का अभाव होने से वे नहीं भी हैं। जैसे सामान्य में जीव सत् रूप से तो हैं परन्तु जीव रूप से नहीं है।

यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाद्विशेषतोऽस्ति यदा।
अविवक्षितसामान्यात्तदैव तन्नास्ति नययोगात् ॥ २८६ ॥

अर्थ – अथवा सम्पूर्ण पदार्थ जिस समय विशेषता से विवक्षित किये जाते हैं, उस समय वे उसकी अपेक्षा से तो हैं परन्तु उस समय सामान्य विवक्षा का उनमें अभाव होने से सामान्य दृष्टि से वे नहीं भी हैं। जैसे विशेष में जीव, जीव रूप से तो हैं पर सत् रूप से नहीं है।

शेष विधि

अब प्रमाण दृष्टि बतलाते हैं – जो सामान्य रूप है वही विशेष रूप है। अर्थात् वस्तु भेदाभेदात्मक है। उभय रूप है। यह प्रमाण दृष्टि है। यह दोनों विरोधी धर्मों को अविरुद्ध रूप से, मैत्री भाव से, परस्पर सापेक्ष एक वस्तु में एक समय में ही स्थापित करती है जैसे जो वस्तु सत् सामान्य है वही वस्तु सत् विशेष 'जीव' है।

अब अनुभय दृष्टि बतलाते हैं - वस्तु स्वरूप से है - अस्ति, पर रूप से नहीं है - नास्ति, उभय रूप है प्रमाण, ये तीन दृष्टियां तो ऊपर बतलाई ही गई हैं किन्तु एक दृष्टि और है वह अनुभय दृष्टि है। यह दृष्टि कुछ कठिन है। बहुत कम लोगों की समझ में आती है। देखिये क्या सामान्य के प्रदेश भिन्न और विशेष के प्रदेश भिन्न हैं - नहीं, क्या सामान्य स्वरूप आप ले लें और विशेष स्वरूप हमें दे दें यह हो सकता है - नहीं, बस यही अनुभय दृष्टि है। अनुभय अर्थात् दोनों रूप नहीं किन्तु अखण्ड। यह दृष्टि सिखलाती है कि वस्तु में सामान्य और विशेष ऐसा भेद ही नहीं हैं। न सामान्य है न विशेष है दोनों नहीं हैं वह तो अखण्ड है, अभेद्य है। यह ध्यान रहे कि इस दृष्टि को आप शब्द से व्यक्त नहीं कर सकते। जो कुछ आप बोलेंगे वह विशेषण विशेष्य रूप हो जायेगा, भेद रूप पड़ेगा। इसको अवक्तव्य दृष्टि, अनुभय दृष्टि, शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि, अनिवर्चनीय दृष्टि, भेद निषेधक दृष्टि कहते हैं। यहाँ शुद्ध शब्द का अखण्ड अर्थ है। इसका विषय केवल अनुभव गम्य है। अनुभय शब्द का अर्थ है दोनों रूप नहीं।

विधिरूप सूत्र

सर्वत्र क्रम एष द्रव्ये क्षेत्रे तथाथ काले च ।
अनुलोमप्रतिलोमैरस्तीति विवक्षितो मुख्यः ॥ २८७ ॥

अर्थ - यह अस्ति-नास्ति आदि ऊपर कहा हुआ क्रम सब जगह अर्थात् तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक युगलों में भी लगा लेना चाहिए तथा प्रत्येक युगल में द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से चारों ही जगह लगाना चाहिये। अनुकूलता और प्रतिकूलता के अनुसार जो विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है, दूसरा गौण समझा जाता है।

भावार्थ - जिस प्रकार अस्ति-नास्ति आदि एक द्रव्य के सामान्य विशेष पर लगाये गये हैं उसी प्रकार शेष तीन युगल भी सामान्य विशेष पर लगेंगे। जिस प्रकार अस्ति-नास्ति को भिन्न-भिन्न दो द्रव्यों पर लगाने वाला पशु है उसी प्रकार शेष तीन युगलों को भी दो द्रव्यों पर लगाने वाला पशु है स्याद्वादी नहीं है। तथा जिस प्रकार अस्ति-नास्ति आदि की मुख्य गौणता में सारा का सारा द्रव्य अस्ति या नास्ति या उभय या अनुभय रूप ही प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार शेष युगलों में भी सारा का सारा द्रव्य मुख्य धर्म रूप प्रतीति होने लगता है। जिसकी विवक्षा होगी उस रूप दीखने लगेगा तथा जिस प्रकार यहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर अस्ति-नास्ति आदि लगाये गये हैं, उसी प्रकार शेष तीन युगल भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से मुख्य गौण की विवक्षा करते हुये लगेंगे। यह विधिरूप सूत्र है। सर्वत्र लागू होगा।

विधिरूप सूत्र

अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पञ्चशेषभङ्गाश्च ।
वर्णवदुक्तद्वयमिह पदवच्छेषास्तु तद्योगात् ॥ २८८ ॥

अर्थ - इसी प्रक्रिया के अनुसार बाकी के पाँच भंग भी वस्तु में घटित कर लेना चाहिए। 'स्यात-अस्ति' और 'स्यात्-नास्ति' ये दो भंग वर्ण की तरह कह दिये गये हैं। बाकी के ५ भंग पद की तरह इन्हीं दो भंगों के योग से घटित करना चाहिये।

भावार्थ - अस्ति-नास्ति दो भंग तो ऊपर कहे। शेष पाँच भाव अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य इसी प्रक्रिया से जान लेने चाहिये। वर्णवत् दो अक्षर कहे जैसे घ और ट जैसे उन दोनों अक्षरों के योग से घट पद बनता है, उस प्रकार अस्ति, नास्ति दो कहे। इनके योग से ही शेष पाँच भंग बन जाते हैं। ये इस प्रकार लगाये जाते हैं (१) सामान्य अथवा विशेष जिसकी मुख्यता हो वह स्व कहलाता है। स्व से अस्ति यह पहला अस्ति भंग है। (२) सामान्य अथवा विशेष जिसकी गौणता हो वह पर कहलाता है। पर से नास्ति, यह दूसरा नास्ति भंग है। (३) जब सामान्य और विशेष दोनों एक साथ क्रम से कहने हों तो तीसरा अस्ति-नास्ति भंग है। जैसे वस्तु स्व से (सामान्य से) है और पर से (विशेष से) नहीं है। (४) जब दोनों भंग एक समय में एक साथ विवक्षित हों क्योंकि वस्तु दोनों रूप एक ही समय में है। यह अवक्तव्य नय है। (५-६-७) शेष तीन भंग इनके योग से जान लेना। ये सातों भंग जिस प्रकार अस्ति-नास्ति पर लगाये जाते हैं उसी प्रकार तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक [illegible] पर भी लगेंगे, सो जानना। यह भी विधिरूप सूत्र है। सर्वत्र लागू होगा। अन्त में सप्तभंगी विज्ञान देखिये।

नोट - यहाँ तक अस्ति-नास्ति युगल का वर्णन किया। अब यह समझाते हैं कि ये दोनों धर्म सापेक्ष तो सम्यक् हैं - सच्चे हैं, निरपेक्ष मिथ्या हैं। बहुत से विद्वान् भी इनको निरपेक्ष (दो द्रव्यों पर) लगा देते हैं। यह भूल नहीं होनी चाहिये। ठीक इसी बात का निरूपण पहले भी नं. १५ से २२ तक हो चुका है। आप उसे भी पढ़ लें तो अधिक लाभ होगा।

(१) निरपेक्ष अस्ति-नास्ति का खण्डन २८९ से ३०८ तक

(२) सापेक्ष अस्ति-नास्ति का समर्थन २८९ से ३०८ तक

शंका २८९-२९०

ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः प्रयासभारेण ।
अपि गौरवप्रसंगादनुपादेयाध वाग्विलासितत्वात् ॥ २८९ ॥

शंका - अस्ति-नास्ति दोनों में से एक ही कहना चाहिये, उसी से काम चल जायेगा, व्यर्थ के प्रयास (कष्ट) से क्या प्रयोजन है। इसके सिवाय दोनों कहने से उलटा गौरव होता है तथा वचनों का आधिक्य होने से उसमें ग्राह्यता भी नहीं रहती है ?

शंका चालू

अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिद्ध्यै ।
नोपादानं पृथगिह युक्तं तदनर्थकादिति चेत् ॥ २९० ॥

शंका चालू - इसलिये तत्त्व की भले प्रकार सिद्धि के लिये या तो केवल 'अस्ति' ही कहना ठीक है अथवा केवल 'नास्ति' कहना ही ठीक है दोनों का अलग-अलग ग्रहण करना युक्ति संगत नहीं है। दोनों का ग्रहण व्यर्थ पड़ता है ?

समाधान २९१-२९२

तन्न यतः सर्वं सत् तदुभयभावाध्यवसितमेवेति ।
अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्नवापत्तेः ॥ २९१ ॥

अर्थ - उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ "अस्ति-नास्ति" स्वरूप उभय (दोनों) भावों को लिये हुये हैं। यदि इन दोनों भावों में से किसी एक का भी लोप कर दिया जाये, तो बाकी का दूसरा भाव भी लुप्त हो जायेगा (देखो पूर्व नं. १९)।

स यथा केवलमन्वयमात्रं वस्तु प्रतीयमानोऽपि ।
व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥ २९२ ॥

अर्थ - अस्ति-नास्ति में से किसी एक के नहीं मानने पर शेष दूसरे के अभाव का प्रसंग इस प्रकार आता है कि यदि केवल 'अस्ति रूप' वस्तु को माना जावे तो वह सदा अन्वयमात्र ही प्रतीत होगी, व्यतिरेक रूप नहीं होगी और बिना व्यतिरेक भाव के स्वीकार किये वह अन्वय की साधक भी नहीं रहेगी।

भावार्थ - वस्तु में एक अनुगत प्रतीति होती है और दूसरी व्यावृत्त प्रतीति होती है। जो वस्तु में सदा एकसा ही भाव जताती रहे उसे अनुगत प्रतीति अथवा अन्वय भाव कहते हैं और जो वस्तु में अवस्था भेद को प्रगट करे उसे व्यावृत्त प्रतीति अथवा व्यतिरेक कहते हैं। वस्तु का पूर्ण स्वरूप दोनों भावों को मिलकर ही होता है। इसीलिये दोनों परस्पर सापेक्ष है। यदि इन दोनों में से एक को भी न माना जाय तो दूसरा भी नहीं ठहर सकता है। फिर ऐसी अवस्था में वस्तु भी अपनी सत्ता नहीं रख सकती है। इसलिये अस्ति-नास्ति रूप अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही वस्तु में एक साथ मानना ठीक है (पेज १६ के नीचे का सार अवश्य देखिये)।

शंका २९३ से २९८ तक ६ श्लोक इकट्ठे

ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तद्वदपि ।
किन्त्वन्वयो यथास्ति व्यतिरेकोऽप्यस्ति चिदचिदिव ॥ २९३ ॥

अर्थ - शंकाकार कहता है कि यदि व्यतिरेक के अभाव में अन्वय भी नहीं बनता तो व्यतिरेक भी उसी तरह मानों, इसमें हमारी कौनसी हानि है ? किन्तु इतना अवश्य मानना चाहिये कि अन्वय स्वतन्त्र है और व्यतिरेक स्वतन्त्र है। वे दोनों ऐसे ही स्वतन्त्र है जैसे कि जीव और अजीव।

शंका चालू

यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेक नान्वयः कदाप्यस्ति ।
न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोऽप्यन्वये यतो न स्यात् ॥ २१४ ॥

अर्थ - यदि कदाचित् तुम्हारा ऐसा सिद्धान्त हो कि व्यतिरेक में अन्वय कभी नहीं रहता है तो भी हमारे पक्ष का खण्डन नहीं होता है क्योंकि जिस प्रकार व्यतिरेक में अन्वय नहीं रहता है, इसी प्रकार अन्वय में व्यतिरेक भी नहीं रहता है।

शंका चालू

तस्मादिदमनवद्यं केवलमयमन्वयो यथास्ति तथा ।
व्यतिरेकोस्त्यविशेषादेकोक्त्या चैकशः समानतया ॥ २१५ ॥

अर्थ - इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि जिस प्रकार केवल अन्वय है, उसी प्रकार व्यतिरेक भी है। क्योंकि इनमें कोई विशेषता नहीं है। सामान्य दृष्टि से दोनों समान हैं, स्वतन्त्र हैं। जैसे अन्वय कहा ज़ाता है वैसे ही व्यतिरेक भी कहा जाता है।

शंका चालू

दृष्टांतोऽप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोस्ति पटः ।
न घटः पटेऽथ न पटो घटेपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥ २१६ ॥

अर्थ - दृष्टांत भी इस विषय में घट-पट का ले लीजिये। जिस प्रकार घट अपने स्वरूप को लिये हुये जुदा है, उसी प्रकार अपने स्वरूप को लिये हुए पट भी जुदा है। पट में घट नहीं रहता है और न घट में पट ही रहता है किन्तु घट और पट दोनों जुदे-जुदे स्वतन्त्र हैं।

शंका चालू

न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः ।
न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति चेत् ॥ २१७ ॥

अर्थ - जिस प्रकार पट का अभाव घट नहीं है और न पट के अभाव में घट की उत्पत्ति ही होती है। उसी प्रकार पट भी घट का अभाव नहीं है और न घट के अभाव से पट की उत्पत्ति ही होती है।

शंका चालू

तत्किं व्यतिरेकस्यभावेन विनाऽन्वयोपि नास्तीति ।
अस्त्यन्वयः स्वरूपादिति वक्तुं शक्यते यतस्त्विति चेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ - ऐसी अवस्था में आपका (ग्रंथकार का) यह कहना कि व्यतिरेक के अभाव में अन्वय भी नहीं होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि घट-पट की तरह हम यह कह सकते हैं कि अन्वय अपने स्वरूप से जुदा है और व्यतिरेक अपने स्वरूप से जुदा है। ऐसी अवस्था में बिना व्यतिरेक के भी अन्वय हो सकता है ?

भावार्थ - ऊपर कहे हुये कथन के अनुसार शंकाकार अन्वय को स्वतन्त्र मानता है और व्यतिरेक को स्वतन्त्र मानता है। वस्तु को वह सापेक्ष उभयधर्मात्मक नहीं मानता है।

नोंट - शंकाकार ने वही भूल की है जिसकी हम आपको प्रारंभ से ही कई बार चेतावनी दे चुके हैं कि महासत्ता (अस्ति) और अवान्तर सत्ता (नास्ति) को एक ही द्रव्य के सामान्य विशेष पर लगाना चाहिए, दो द्रव्यों पर नहीं। शंकाकार ने उसी भूल अनुसार दो द्रव्यों पर घट-पट पर या चेतन-अचेतन पर अस्ति-नास्ति लगा दिया है। सो अब ग्रंथकार उसे कहेंगे कि ये दो द्रव्यों पर न लगकर एक के सामान्य विशेष पर ही लगता है। जो ऐसा जानता है वह स्याद्वादी है और जो ऐसा नहीं जानता वह सिंहमाणवक है - मूर्ख-पशु-अज्ञानी है। हाँ जहाँ एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव सिद्ध करना हो वहाँ दो द्रव्यों पर लगाया जाता है पर वह प्रकरण यहाँ नहीं है। यह भूल प्रायः बहुत विद्वान करते हैं। आपसे न हो जाये। ठीक यही शंका पहले श्लोक नं. १६ तथा १८ में हो चुकी है और उसका उत्तर पूर्व नं. १५, १७, १८ में हो चुका है। उसे एक बार फिर पढ़िये।

समाधान २९९ से ३०८ तक

तन्न यतः सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभावभागपि च ।
तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥ २९९ ॥

अर्थ - यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सत् यह द्वैत रूप होकर भी कथंचित् अद्वैत रूप ही है इसलिये विधि के विवक्षित होने पर वह सत् विधिमात्र है, और वही सत् निषेध के विवक्षित होने पर निषेध मात्र है।

भावार्थ - पदार्थ सामान्यविशेषात्मक अथवा विधिनिषेधात्मक है। जिस समय जो भाव विवक्षित किया जाता है, उस समय् वह पदार्थ उसी भाव स्वरूप है।

न हि किंचिद्विधिरूपं किञ्चित्तच्छेशतो निषेधांशम् ।
आस्तां साधनमस्मिन्नाम द्वैतं न निर्विशेषत्वात् ॥ ३०० ॥

अर्थ - ऐसा नहीं है कि द्रव्य का कुछ भाग तो विधि रूप हो और कुछ भाग निषेध रूप हो क्योंकि ऐसे सत् की सिद्धि में साधन का मिलना तो दूर रहा, उसमें द्वैत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है क्योंकि वह अशेष विशेषों से रहित माना गया है।

भावार्थ - वृक्ष में फल, पत्तों की तरह एक ही सत् में कुछ अंश विधि रूप हों और उससे अविशिष्ट कुछ अंश निषेध रूप हों, ऐसा नहीं है क्योंकि निरपेक्ष विधि रूप तथा निषेध रूप सत् के सिद्ध करने को हेतु के मिलने की तो बात ही क्या है वास्तव में सामान्य विशेष में द्वैतभाव भी नहीं है। केवल विवक्षावश द्वैत प्रतीत होता है।

न पुनर्द्रव्यान्तरवत्संज्ञा भेदोप्यबाधितो भवति ।
तत्र विधौ विधिमात्राच्छेषविशेषादिलक्षणाभावात् ॥ ३०१ ॥

अर्थ - ऐसा भी नहीं है कि द्रव्यान्तर (घट-पट या चेतन-अचेतन) की तरह विधि, निषेध दोनों ही सर्वथा भिन्न हों। सर्वथा नाम भेद भी इनमें बाधित ही है क्योंकि विधि को कहने से वस्तु विधि मात्र ही हो जाती है, बाकी के विशेष लक्षणों का उसमें अभाव हो जाता है।

अपि च निषिद्धत्वे सति नहि वस्तुत्वं विधेरभावत्वात् ।
उभयात्मकं यदि खलु प्रकृतं न कथं प्रमीयेत ॥ ३०२ ॥

अर्थ - उसी प्रकार सर्वथा निषेध को कहने से उसमें विधि का अभाव हो जाता है। इन दोनों के सर्वथा भेद में वस्तु की वस्तुता ही चली जाती है। यदि वस्तु को उभयात्मक माना जाय तो प्रकृत की सिद्धि हो जाती है अर्थात् विधि निषेध दोनों परस्पर सापेक्ष सिद्ध हो जाते हैं।

तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेधरूपं वा ।
संहृत्यान्यतरत्वादन्यतरे सन्निरूप्यते तदिह ॥ ३०३ ॥

अर्थ - जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि पदार्थ विधिनिषेधात्मक है तब वह कभी विधि रूप कहा जाता है और कभी निषेध रूप कहा जाता है क्योंकि परस्पर सापेक्ष होने से इनका एक-दूसरे में अन्तर्भाव हो जाता है।

भावार्थ - इस प्रकार वस्तु को अन्वयव्यतिरेकात्मक सिद्ध हो जाने से जिस समय वह वस्तु विधि रूप कही जाती है उस समय निषेध रूप विशेष धर्म गौण रूप से उसी विधि में गर्भित हो जाता है ऐसा समझना चाहिये तथा जिस समय वही वस्तु निषेध रूप से विवक्षित होती है उस समय विधि रूप सामान्य भी उसी निषेध में गौण रूप से गर्भित हो जाता है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि अस्ति-नास्ति सर्वथा पृथक् नहीं हैं किन्तु परस्पर सापेक्ष हैं। इसलिये विवक्षित की मुख्यता में अविवक्षित गौण रूप से गर्भित रहता है।

दृष्टांतोऽत्र पटत्वं यावन्निर्दिष्टमेव तन्तुतया ।
तावन्न पटो नियमाद् दृश्यन्ते तन्तवस्तथाध्यक्षात् ॥ ३०४ ॥

अर्थ - दृष्टांत के लिये पट है। जिस समय पट तन्तु की दृष्टि से देखा जाता है उस समय वह पट प्रतीत नहीं होता किन्तु तन्तु ही दृष्टिगत होते हैं।

यदि पुनरेव पटत्वं तदिह तथा दृश्यते न तन्तुतया ।
अपि संगृह्य समन्तात् पटोऽयमिति दृश्यते सद्भिः ॥ ३०५ ॥

अर्थ – यदि वही पट पटबुद्धि से देखा जाता है तो वह पट ही प्रतीत होता है, उस समय वह तन्तु रूप नहीं दीखता किन्तु प्रमाण से दोनों ही विवक्षाओं का संग्रह करके पटत्व और तन्तुओं से युक्त संकलनात्मक सामान्यविशेषात्मक यह पट है ऐसा विद्वानों के द्वारा देखा जाता है।

इत्यादिकाश्च बहवो विद्यन्ते पाक्षिका हि दृष्टान्ताः ।
तेषामुभयाङ्गत्वान्नहि कोऽपि कदा विपक्षः स्यात् ॥ ३०६ ॥

अर्थ- पट की तरह और भी अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं जो कि हमारे पक्ष को पुष्ट करते हैं। वे सभी दृष्टान्त उभयपने को सिद्ध करते हैं इसलिये उनमें से कोई भी दृष्टान्त कभी हमारा (जैनदर्शन का) विपक्ष नहीं होने पाता है।

अयमर्थो विधिरेव हि युक्तिवशात्स्यात्स्वयं निषेधात्मा ।
अपि च निषेधस्तद्वद्विधिरूपः स्यात्स्वयं हि युक्तिवशात् ॥ ३०७ ॥

अर्थ – ऊपर कहे हुये कथन का खुलासा अर्थ यह है कि विधि ही युक्ति के वश से स्वयं निषेधरूप हो जाती है और जो निषेध है वह भी युक्ति के वश से स्वयं विधिरूप हो जाता है।

भावार्थ – जिस समय पदार्थ सामान्य रीति से विवक्षित किया जाता है। उस समय वह समग्र पदार्थ सामान्य रूप ही प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि उस समय पदार्थ का कोई अंश विशेष रूप भी प्रतीत होता हो। इसी प्रकार विशेष विवक्षा के समय समग्र पदार्थ विशेष रूप ही प्रतीत होता है। जो दर्शनकार सामान्य और विशेष को पदार्थ के जुदे-जुदे अंश मानते हैं उनका इस कथन से खण्डन हो जाता है क्योंकि पदार्थ एक समय में दो रूप से विवक्षित नहीं हो सकता और जिस समय जिस रूप से विवक्षित किया जाता है, वह उस समय उसी रूप से प्रतीत होता है। स्याद्वाद का जितना भी स्वरूप है सब विवक्षाधीन है। इसलिये जो नय दृष्टि को नहीं समझते हैं, वे स्याद्वाद तक नहीं पहुँच पाते हैं।

उपसंहार

इति विन्दन्निह तत्त्वं जैनः स्यात्कोऽपि तत्त्ववेदीति ।
अर्थात्स्यात्स्याद्वादी तदपरथा नाम सिंहमाणवकः ॥ ३०८ ॥

अर्थ – ऊपर कही हुई रीति के अनुसार जो कोई तत्त्व का ज्ञाता तत्त्व को जानता है, वही जैन है और वही वास्तविक स्याद्वादी है। यदि ऊपर कही हुई रीति से तत्त्व का स्वरूप नहीं जानता है तो वह स्याद्वादी नहीं है किन्तु उसका नाम सिंहमाणवक (मूर्ख-अज्ञानी-पशु) है।

२८९ से ३०८ तक का सार

नं. २८९ से ३०८ तक स्वतन्त्र अस्ति और स्वतन्त्र नास्ति अर्थात् सामान्य के प्रदेश भिन्न और विशेष के प्रदेश भिन्न दोनों निरपेक्ष का खण्डन किया है और अस्ति-नास्ति अर्थात् सामान्य विशेष की परस्पर सापेक्षता का समर्थन किया है। यही इस कथन का रहस्य है।

नोट – इस प्रकार 'वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति' नामा महा अधिकार में 'अस्ति (सत्) – नास्ति (असत्)' युगल का वर्णन करने वाला प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ। सद्गुरु देव की जय।

'अस्ति-नास्ति' पर नय प्रमाण लगाने की पद्धति ७५६ से ७५९ तक*

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात् ।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्ति नयः ॥ ७५६ ॥

अर्थ – वस्तु सामान्य मात्र से है अथवा विशेष मात्र से है। उस में जब तक विपक्ष अर्थात् नास्ति पक्ष अविवक्षित (गौण) रहता है तब तक वह एक 'अस्ति नय' है (अनन्य शब्द का अर्थ एक है)।

* ये श्लोक इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग के अन्त के हैं। भावार्थ के लिए अन्त में 'दृष्टि परिज्ञान' देखिये।

भावार्थ - सामान्यविशेषात्मक वस्तु में जिस समय विशेष को गौण करके केवल सामान्य की विवक्षा होती है अथवा सामान्य को गौण करके केवल विशेष की विवक्षा होती है, उस समय विपक्ष की विवक्षा न करके केवल सामान्य या केवल विशेष की अपेक्षा से वस्तु के अस्तित्व का जो निरूपण करने में आता है, वह व्यवहार अन्तर्गत नयों में से 'अस्ति-नय' का विषय है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्य विवक्षितायां वा ।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्तिनयः ॥ ७५७ ॥

अर्थ - वस्तु सामान्य की विवक्षा में विशेष धर्म की गौणता होते विशेष रूप से नहीं है अथवा विशेष की विवक्षा में सामान्य धर्म की गौणता होते सामान्य रूप से नहीं है यह 'नास्तिनय' है।

भावार्थ - वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। इसलिये जिस समय सामान्य की विवक्षा होती है, उस समय विशेष धर्म की गौणता होने से वह वस्तु विशेष की अपेक्षा से 'नहीं हैं' तथा जिस समय विशेष की विवक्षा होती है, उस समय सामान्य धर्म की गौणता होने से वह वस्तु सामान्य की अपेक्षा से नहीं है।' इस प्रकार जो कथन करने में आता है, उसको व्यवहार अन्तर्गत नयों में से 'नास्ति नय' का विषय कहते हैं।

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोऽपि ततः ।
न च नास्ति पररूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥ ७५८ ॥

अर्थ - द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तु स्वरूप से अस्ति रूप है यह नहीं है तथा वस्तु पररूप से नहीं है - यह भी नहीं है क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सब विकल्पों से रहित ही वस्तु का स्वरूप है। वह तो अखण्ड है।

भावार्थ - शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तु न स्वरूप से अस्ति रूप है तथा न पर रूप से नास्ति रूप ही है कारण कि इस नय की अपेक्षा से वस्तु निर्विकल्प-अखण्ड अनिर्वचनीय मानी है क्योंकि दोनों में प्रदेश भेद तो है ही नहीं।

यदिदं नास्ति स्वरूपाभावादस्ति स्वरूपसदभावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥ ७५९ ॥

अर्थ - जो वस्तु स्वरूपाभाव से (पर स्वरूप के अभाव की अपेक्षा से) नास्ति रूप है और जो स्वरूप सद्भाव से अस्ति रूप है, वह वस्तु विकल्पातीत (अनिर्वचनीय-अखण्ड) है। यह सब प्रमाण पक्ष है।

भावार्थ - वस्तु पर्यायार्थिक नय से अस्तिरूप अथवा नास्तिरूप द्रव्यार्थिक नय से विकल्पातीत तथा प्रमाण से-अस्ति-नास्ति अवक्तव्य सब रूप अविरुद्ध रीति से है।

भावार्थ ७५६ से ७५९ तक - सत् विशेष्य है। स्वरूप से अस्ति, पर रूप से नास्ति उसके विशेषण हैं। अतः ये दो व्यवहार नय हैं। ''नेति'' सब विकल्पों से रहित-अनिर्वचनीय द्रव्यार्थिक नय है। जो व्यवहार से अस्ति तथा नास्ति रूप है और जो निश्चय से अवक्तव्य है, वही प्रमाण से अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य सब रूप है। इस प्रकार चारों श्लोक इकट्ठे हैं।

इस अधिकार में जो सत् को स्व (सामान्य) के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्ति (सत्) और पर (विशेष) के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्ति (असत्) तथा विशेष के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्ति और सामान्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्ति सिद्ध किया है। उस पर इन चार पद्यों द्वारा नय प्रमाण घटित करके दिखलाये हैं। अस्ति नय को सत् नय और नास्ति नय को असत् नय भी श्री समयसार आदि आगमों में कहा है। दोनों नाम पर्यायवाची हैं।

नोट - इस अधिकार की प्रश्नावली अन्त में दी है।

दूसरा अवान्तर अधिकार

आवश्यक सूचना - ग्रंथकार की यह पद्धति है कि पहले एक बात को 'अस्ति' से निरूपण करते हैं फिर उसी को 'नास्ति' से निरूपण करते हैं अथवा यूं कहिये कि पहले अन्वय से निरूपण करके फिर व्यतिरेकरूप से ऊहापोह करते हैं अथवा यूं भी कह सकते हैं कि पहले जैनधर्म का निरूपण करके फिर अन्यमतों का खण्डन करते हैं। किन्तु इस तत्-अतत् के निरूपण में पहले ३०९ से ३२५ तक 'नास्ति ' से निरूपण किया है अथवा व्यतिरेक रूप से ऊहापोह किया है अथवा अन्य सिद्धांत का खण्डन किया है और फिर ३२६ से ३३५ तक 'अस्ति' से निरूपण किया है अथवा अन्वय रूप से सिद्धान्त का निरूपण किया है। सो ध्यान रहे। यहाँ पहले 'नास्ति' फिर अस्ति।

तत्-अतत् का रहस्य - द्रव्य जैसे स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणामी भी है। अतः वह स्थित रहता हुआ बदला करता है। इस स्थित रहने को नित्य और परिणमन करने को अनित्य कहते हैं जिसका निरूपण आगे नित्यानित्य अधिकार में होगा। वह जो परिणमन के कारण प्रति समय ''परिणाम'' उत्पन्न होता है उस परिणाम में सदृश और विसदृश दो धर्म अवश्य रहते हैं। सदृशता के कारण यह बोध होता है कि ''यह वही है'' और विसदृश्यता के कारण यह बोध होता है। ''यह वह नहीं है अन्य ही है''। द्रव्य दृष्टि से यह वह है ऐसा ही प्रतीत होता है और पर्याय दृष्टि से यह वह नहीं है दूसरा ही है ऐसा ही प्रतीत होता है। यह वही है इसको 'तत्' कहते हैं, यह वह नहीं है दूसरा ही है इसको अतत् कहते हैं। जैसे मनुष्य से मरकर देव हुआ। यह वही है यह तत् है। यह दूसरा ही है यह अतत् है। कई बार नित्य-अनित्य और तत्-अतत् में अन्तर न सूझने के कारण एक जैसा प्रतीत होने लगता है किन्तु ऐसा नहीं है। नित्य उसके स्वतः सिद्ध स्वभाव को बताता है और अनित्य धर्म उसके परिणमन को बताता है। किन्तु तत्-अतत् तो यह बताता है कि परिणमन के कारण जो प्रति समय का 'परिणाम' उत्पन्न होता है वह 'परिणाम' सदृश्यता और असदृश्यता दोनों धर्मों को लिये हुये है। सदृश्यता के कारण यह वही है ऐसा भान होता है और विसदृश्यता के कारण यह वह नहीं है दूसरा ही है ऐसा प्रतीत होता है। वह परिणाम सर्वथा सदृश ही हो या विसदृश ही हो ऐसा नहीं है। एक बात और ध्यान रहे। अतत् दृष्टि से वह द्रव्य ही दूसरा है ऐसा जैनधर्म का कहना है। तत् का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव त्रिकाल एक रूप है और अतत् का द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव प्रति समय का भिन्न-भिन्न है। तत्-अतत् भी अन्य तीन युगलों की तरह सापेक्षता से रहते हैं निरपेक्ष नहीं। तत् को भाव और अतत् को अभाव भी कहते हैं। सदृश-असदृश्य भी कहते हैं। तीनों पर्यायवाची हैं।

तत्-अतत् का निरूपण ३०९ से ३२५ तक नास्ति से

शंका

ननु सदिति स्थायि यथा सदिति तथा सर्वकालसमयेषु ।
तत्र विवक्षितसमये तत्स्यादथवा न तदिदमिति चेत् ॥ ३०९ ॥

शंका - सदा सत् ध्रुवरूप से रहता है, इसलिये वह सम्पूर्ण काल के सभी समयों में रहता है। फिर आप (जैन) यह क्यों कहते हैं कि वह सत् विवक्षित समय में ही है अविवक्षित समय में वह नहीं है ?

समाधान

सत्यं तत्रोत्तरमिति सन्मात्रापेक्षया तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमात् सदवस्थापेक्षया पुनः सदिति ॥ ३१० ॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि ठीक है। आप की शंका का उत्तर यह है कि सत्ता मात्र की अपेक्षा से तो सत् वही है और सत् की अवस्थाओं की अपेक्षा से सत् वह नहीं है। दूसरा ही है।

ननु तदतदोर्द्वयोरिह नित्यानित्यत्वयोर्द्वयोरेव ।
को भेदो भवति मिथो लक्षणलक्ष्यैकभेदभिन्नत्वात् ॥ ३११ ॥

शंका - तत् और अतत् इन दोनों में तथा नित्य और अनित्य इन दोनों में परस्पर में क्या भेद है क्योंकि दोनों का एक ही लक्षण है और एक ही लक्ष्य है ?

भावार्थ - तत् का अर्थ है वह, और अतत् का अर्थ है - वह नहीं जो तत् और अतत् का अर्थ है, वही नित्य और अनित्य का अर्थ है, फिर दोनों के कहने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान

नैवं यतो विशेषः समयात्परिणमति वा न नित्यादौ ।
तदतद्भावविचारे परिणामो विसदृशोथ सदृशो वा ॥ ३१२ ॥

अर्थ - उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि नित्य-अनित्य में और तत् भाव अतत् भाव में अवश्य भेद है। भेद भी यह है कि नित्य, अनित्य पक्ष में तो वस्तु के समय-समय में होने वाले परिणमन का ही विचार होता है वहाँ पर समान परिणमन है या असमान परिणमन है, इसका विचार नहीं है, परन्तु तद्भाव, अतद्भाव पक्ष में यह विचार होता है कि जो वस्तु में परिणमन हो रहा है, वह सदृश है अथवा विसदृश है।

शंका

ननु सन्नित्यमनित्यं कथंचिदेतावतैव तत्सिद्धिः ।
तत्किं तदतद्भावाभावविचारेण गौरवादिति चेत ॥ ३१३ ॥

शंका - सत् कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है, केवल इतने मात्र से ही सदृश और विसदृश परिणाम की सिद्धि हो जाती है, फिर तत्-अतत् के भाव और अभाव के विचार से क्या प्रयोजन ? इससे उलटा लम्बा ही होता है?

समाधान ३१४ से ३२१ तक

नैवं तदतद्भावाभावविचारस्य निन्हवे दोषात् ।
नित्यानित्यात्मनि सति सत्यपि न स्यात् क्रियाफलं तत्त्वम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ - ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है क्योंकि तत्-अतत् के भाव और अभाव का विचार यदि न किया जाये तो वस्तु सदोष ठहरती है। तत्-अतत् के बिना वस्तु को नित्य और अनित्य स्वरूप मानने पर भी उसमें क्रियाफल और तत्त्व नहीं बन सकते।

अयमर्थो यदि नित्यं सर्वं सत् सर्वथेति किल पक्षः ।
न तथा कारणकार्ये, कारकसिद्धिस्तु विक्रियाभावात् ॥ ३१५ ॥

अर्थ - स्पष्ट अर्थ यह है कि "सर्वं सत् नित्य ही है" यदि सर्वथा ऐसा ही पक्ष मान लिया जाय तो विक्रिया का अभाव होने से कारण और कार्य, दोनों ही नहीं बनते तथा कारक सिद्धि भी नहीं होती भावार्थ के लिये आगे देखिये ४२२ से ४२८ तक।

यदि वा सदनित्यं स्यात्सर्वस्वं सर्वथेति किल पक्षः ।
न तथा क्षणिकत्वादिह क्रियाफलं कारकाणि तत्त्वं च ॥ ३१६ ॥

अर्थ - अथवा सत् को यदि सर्वथा अनित्य ही स्वीकार किया जाय तो वह क्षणिक ठहरेगा और क्षणिक होने से उसमें न तो क्रिया का फल ही हो सकता है और न कारक ही बन सकते हैं और न तत्त्व (सत्-ध्रुव) ही रहता है। भावार्थ के लिये आगे देखिये ४२९ से ४३२ तक।

अपि नित्यानित्यात्मनि सत्यपि सति वा न साध्यसंसिद्धिः ।
तदतद्भावाभावैर्विना न यस्माद्विशेषनिष्पत्तिः ॥ ३१७ ॥

अर्थ - यदि तत्-अतत् के भाव-अभाव का विचार न करके केवल नित्यानित्यात्मक ही पदार्थ माना जाय तो भी साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि बिना तत्-अतत् के स्वीकार किये पदार्थ में विशेष की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है।

अथ तद्यथा यथा सत्परिणममानं यदुक्तमस्तु तथा ।
भवति समीहितसिद्धिर्बिना न तदतद्विवक्षया हि यथा ॥ ३१८ ॥

अर्थ - यदि सत् परिणमन करता हुआ भी नित्य-अनित्य स्वरूप ही माना जाय और उसमें तत्-अतत् की विवक्षा न की जाय तो इच्छित अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। उसे ही नीचे दिखलाते हैं -

अपि परिणममानं सन्नतदेतत् सर्वथाऽन्यदेवेति ।
इति पूर्वपक्षः किल विना तदेवेति दुर्निवारः स्यात् ॥ ३१९ ॥

अर्थ - "परिणमन करता हुआ सत् वही नहीं है जो पहले था किन्तु उससे सर्वथा भिन्न ही है" इस प्रकार का किया हुआ पूर्वपक्ष (आशंका) बिना तत् पक्ष के स्वीकार किये दूर नहीं किया जा सकता है।

अपि परिणतं यथा सद्दीपशिखा सर्वथा तदेव यथा।
इति पूर्वपक्षः किल दुर्वारः स्याद्विना न तदिति नयात् ॥ ३२० ॥

अर्थ - इसी प्रकार उस परिणमनशील सत में दूसरा पूर्वपक्ष ऐसा भी हो सकता है कि "यह दीपशिखा के समान सर्वथा वही है जो पहले थी।" इसका समाधान भी बिना अतत् पक्ष के स्वीकार किये नहीं हो सकता।

भावार्थ - तत् और अतत् में यह विचार किया जाता है कि यह वस्तु किसी दृष्टि से वही है और किसी दृष्टि से वह नहीं है किन्तु दूसरी है। परन्तु नित्य-अनित्य में यह विचार नहीं होता है। वहां तो केवल नित्य-अनित्य रूप से परिणमन होने का ही विचार है। वही है या दूसरा, इसका कुछ विचार नहीं होता है। यदि वस्तु में तत्-अतत् पक्ष को न माना जाय, केवल नित्य-अनित्य पक्ष को ही माना जाय तो अवश्य ही उसमें ऊपर की हुई आशंकायें आ सकती हैं। उनका समाधान बिना तत्-अतत् पक्ष के स्वीकार किये नहीं हो सकता है।

तस्मादवसेयं सन्नित्यानित्यत्ववत्तदतद्वत् ।
यस्मादेकेन बिना न समीहितसिद्धिरध्यक्षात् ॥ ३२१ ॥

अर्थ - इसलिये सत् नित्यानित्य के समान तत्-अतत् रूप है ऐसा मान लेना चाहिये क्योंकि किसी एक के माने बिना प्रत्यक्ष से इच्छित अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है।

शंका

ननु भवति सर्वथैव हि परिणामो विसदृशोथ सदृशो वा ।
ईहितसिद्धस्तु सतः परिणामित्त्वाद्यथाकथञ्चिद्वै ॥ ३२२ ॥

अर्थ - शंकाकार कहता है कि परिणाम चाहे सर्वथा समान हो अथवा चाहे असमान हो इसमें तत्-अतत् भाव के न मानने से कुछ भी हानि नहीं है। तुम्हारे इच्छित अर्थ की सिद्धि तो पदार्थ को कथंचित् परिणामी मानने से ही बन जायेगी।

भावार्थ - पदार्थ को कथंचित् परिणामी ही मानना चाहिये उसमें सदृश अर्थात् तत् भाव अथवा असदृश अर्थात् अतत् भाव के विचार की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान ३२३ से ३२५ तक

तन्न यतः परिणामः सन्नपि सदृशैकपक्षतो न तथा ।
न समर्थश्चार्थकृते नित्यैकान्तादिपक्षवत् सदृशात् ॥ ३२३ ॥

अर्थ - उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि सत् में दो प्रकार का ही परिणमन होगा। सदृशरूप अथवा विसदृशरूप। यदि सदृशरूप ही सत् में परिणमन माना जाय तो भी इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। जिस प्रकार नित्यैकान्त पक्ष में दोष आते हैं उसी प्रकार सदृश परिणाम में भी दोष आते हैं। उससे भी अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती है।

नापीष्टः संसिद्ध्यै परिणामो विसदृशैकपक्षात्मः ।
क्षणिकैकान्तवदसतः प्रादुर्भावात् सतो विनाशाद्वा ॥ ३२४ ॥

अर्थ - यदि विसदृश रूप एक पक्षात्मक ही परिणाम माना जाय तो भी अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती है। केवल विसदृश पक्ष मानने में क्षणिक एकान्त की तरह असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होने लगेगा।

एतेन निरस्तोऽभूत क्लीवत्वादात्मनोऽपराधतया ।
तदतद्भावाभावापन्हववादी विबोध्यते त्वधुना ॥ ३२५ ॥

अर्थ - सर्वथा सदृश और सर्वथा असदृश परिणमन पक्ष में नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त के समान दोष आने से तत्-अतत् पक्ष का लोप करने वाला शंकाकार खण्डित हो चुका क्योंकि वह आत्मापराधी होने से स्वयं शक्तिहीन हो चुका। अतः अब वह समझाया जाता है।

तत् अतत् का निरूपण ३२६ से ३३५ तक अस्ति से

तदतद्भावनिबद्धो यः परिणामः सतः स्वभावतया ।
तद्दर्शनमधुना किल दृष्टांतपुरस्सरं वक्ष्ये ॥ ३२६ ॥

अर्थ - तद्भाव और अतद्भाव से निबद्ध जो वस्तु का स्वभाव से परिणमन होता है, उसका स्वरूप अब दृष्टान्त पूर्वक कहूँगा।

जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमंस्तदेवेति ।
सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या ॥ ३२७ ॥

अर्थ - जैसे जीव का ज्ञान परिणाम, परिणमन करता हुआ सदा वही (ज्ञान रूप ही) रहता है। ज्ञान के परिणमन में ज्ञानत्व जाति (ज्ञान गुण) का कभी उल्लंघन नहीं होता है। यही सदृश परिणमन (तत् भाव) का उदाहरण है।

यदि वा तदिह ज्ञानं परिणामः परिणमन्न तदिति यतः ।
स्वावसरे यत्सत्त्वं परत्र नययोगात् ॥ ३२८ ॥

अर्थ - अथवा वही जीव का ज्ञान परिणाम परिणमन करता हुआ वह नहीं भी रहता है, क्योंकि उसका एक समय में जो सत्त्व है, वह पर्याय दृष्टि से दूसरे समय में नहीं है। यह अतत् भाव का उदाहरण है।

अत्रापि च संदृष्टिः सन्ति च परिणामतोऽपि कालांशाः ।
जातेरनतिक्रमतः सदृशत्वनिबन्धना एव ॥ ३२९ ॥

अर्थ - यहाँ पर दूसरा यह भी दृष्टान्त है कि यद्यपि काल के अंश परिणमनशील हैं तथापि स्वजाति का उल्लंघन नहीं होने से वे पदार्थ में सदृशबुद्धि अर्थात् तत् भाव के ही उत्पादक हैं।

अपि नययोगाद्विसदृशसाधनसिद्ध्यै ते एव कालांशा ।
समयः समयः समयः सोपीति बहुप्रतीतित्वात् ॥ ३३० ॥

अर्थ - अथवा नय दृष्टि से वे ही काल के अंश विसदृश बुद्धि अर्थात् अतत् भाव के उत्पादक हो जाते हैं क्योंकि उनमें एक समय, दो समय, तीन समय, चार समय आदि अनेक रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है, वही क्षणभेद प्रतीति पदार्थ भेद का कारण है।

अतदिदमिहप्रतीतौ क्रियाफलं कारकाणि हेतुरिति ।
तदिदं स्यादिह संविदि हि हेतुस्तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम ॥ ३३१ ॥

अर्थ - प्रकृत में 'अतत्' अर्थात् 'यह वह नहीं है' इस प्रतीति में क्रिया, फल, कारक बन जाते हैं और 'तत्' अर्थात् 'यह वही है' इस प्रतीति में तत्त्व बन जाता है। ये दोनों बातें तभी बनती हैं जबकि तत्-अतत् दोनों परस्पर सापेक्ष माने हों। (यहाँ हेतु का अर्थ कारण अर्थात् बनना है)।

भावार्थ – अतत् पक्ष मानने से क्रिया फल कारक अर्थात् मोक्षमार्ग और उसका फल बनता है और तत् पक्ष मानने से द्रव्य-वस्तु उपादान-ध्रुव बनता है जिसके आश्रय से मोक्षमार्ग है। ये दोनों बातें तत्-अतत् की परस्पर सापेक्षता में ही बनती हैं। निर्पेक्षता में कुछ भी नहीं बनता।

१. तत्-अतत् सर्वथा निर्पेक्ष का खण्डन ३३२-३३-३४

२. तत्-अतत् परस्पर सापेक्ष का समर्थन ३३२-३३-३४

अयमर्थः सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात् ।
न पुनर्निर्पेक्षतया तद्द्वयमपि तत्त्वमुभयतया ॥ ३३२ ॥

अर्थ – उपरोक्त श्लोक में 'तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम' का भाव यह है कि अस्ति और नास्ति के समान तत् और अतत् भी विधि निषेध रूप है परन्तु निरपेक्ष दृष्टि से वे दोनों तत्त्वरूप नहीं हैं किन्तु एक-दूसरे की सापेक्षता में ये दोनों तत्त्व रूप हैं।

भावार्थ – जिस प्रकार अस्ति की विवक्षा में सारा का सारा पदार्थ विधि रूप पड़ता है और नास्ति की विवक्षा में वही सारा का सारा पदार्थ निषेध रूप पड़ता है उसी प्रकार तत्-अतत् में भी सारा का सारा पदार्थ विधि रूप या निषेध रूप जिसकी विवक्षा हो उस रूप पड़ता है। इतना विशेष है कि विधि, निषेध की अपेक्षा रखता है और निषेध, विधि की अपेक्षा रखता है। सर्वथा स्वतन्त्र एक भी नहीं है। सर्वथा स्वतन्त्र मानने से पदार्थ व्यवस्था ही नहीं बनती है क्योंकि पदार्थ का स्वरूप कथंचित् विधिनिषेधात्मक उभय रूप है।

भावार्थ – अस्ति-नास्ति युगल में स्वतन्त्र अस्ति और स्वतन्त्र नास्ति का खण्डन तथा अस्ति-नास्ति की परस्पर सापेक्षता का मण्डन जिस प्रकार नं. २८९ से ३०८ तक किया था वह सब विधि यहाँ भी जान लेना। वहाँ अस्ति-नास्ति पर थी यहाँ तत्-अतत् पर समझ लेना। सार यह है कि तत् स्वरूप के प्रदेश भिन्न हों, अतत् स्वरूप के प्रदेश भिन्न हों, ऐसा नहीं है किन्तु एक ही प्रदेशों में दोनों धर्म परस्पर की सापेक्षता से मित्रवत् रहते हैं। सापेक्ष सम्यक् हैं निरपेक्ष मिथ्या हैं। जिसकी मुख्यता हो उसी रूप सारा पदार्थ प्रतीत होने लगता है। दूसरा धर्म उस समय गौण हो जाता है। अब इस सूत्र का भाव ग्रंथकार स्वयं अगले दो सूत्रों द्वारा खोलते हैं –

रूपनिर्दर्शनमेतत्तदिति यदा केवलं विधिर्मुख्यः ।
अतदिति गुणोऽपृथक्त्वात्तन्मात्रं निरवशेषतया ॥ ३३३ ॥

अर्थ – विधि निषेध की परस्पर सापेक्षता का खुलासा इस प्रकार है कि जिस समय 'तत्' इस रूप से केवल विधि को मुख्यता से कहा जाता है उस समय अतत् अर्थात् निषेध गौण हो जाता है क्योंकि वह विधि से अपृथक् है। अभिन्न है। विधि की विवक्षा में सारी वस्तु केवल विधि रूप ही प्रतीत होती है।

अतदिति विधिर्विवक्ष्यो मुख्यः स्यात् केवल यदादेशात् ।
तदिति स्वतोगुणत्वादविवक्षितमित्यतन्मात्रम् ॥ ३३४ ॥

अर्थ – उसी प्रकार जब पर्यायार्थिक नय से केवल 'अतत्' यह विधि कथन विवक्षित होता है, तब वही मुख्य हो जाता है। उस समय तत् अविवक्षित होने से गौण हो जाता है। अतत् विवक्षा में वस्तु तन्मात्र नहीं समझी जाती किन्तु सारी की सारी वस्तु अतन्मात्र ही समझी जाती है। यही विधि निषेध की परस्पर सापेक्षता का मर्म है।

भावार्थ – तत् विवक्षा में वस्तु सारी की सारी 'वही की वही' प्रतीत होती है। अतत् विवक्षा में वस्तु सारी की सारी 'नई-नई' ही प्रतीत होती है यह उपरोक्त दो पद्यों का भाव है। अब यह कहते हैं कि प्रमाण में जो वस्तु तत् रूप प्रतीत होती है वही अतत् रूप प्रतीत होती है अर्थात् उभय धर्मात्मक प्रतीत होती है और अनुभय विवक्षा में न तत् रूप, न अतत् रूप, दोनों रूप नहीं किन्तु एक अखण्ड रूप प्रतीत होती है।

उभय अनुभय आदि शेष भंगों का समर्थन

शेषविशेषाख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तवक्ष्यमाणतया ।
सूत्रे पदानुवृत्तिर्ग्राह्यासूत्रान्तरादिति न्यायात् ॥ ३३५ ॥

अर्थ - अब इस तत्-अतत् के विषय में जो विशेष व्याख्यान करना शेष है सो जैसा पहले अस्ति-नास्ति युगल में कह आये हैं वह सब विधि तथा जैसी आगे नित्य-अनित्य युगल में कहेंगे वह सब विधि यहाँ भी लगा लेना क्योंकि ऐसा न्याय है कि सूत्र में पदों की अनुवृत्ति अन्य सूत्रों से ग्रहण कर लेनी चाहिये।

भावार्थ - (१) वस्तु एक समय में तत्-अतत् दोनों भावों से गूंथी हुई है। सारी की सारी वस्तु को तत् भाव या सदृशपने से देखना अर्थात् वस्तु वही की वही है इस प्रकार देखना एक दृष्टि है। (२) अतत् भाव या विसदृशपने से देखना अर्थात् वस्तु हर समय नई-नई है - इस प्रकार देखना यह दूसरी दृष्टि है। (३) दोनों धर्मों से परस्पर सापेक्ष देखना जैसे जो वही की वही है वह ही नई-नई है - यह तीसरी प्रमाण दृष्टि है। (४) तथा अखण्ड रूप से देखना जैसे न वही की वही है और न नई-नई है - अभेद्य है, अखण्ड है, अनिर्वचनीय है यह शुद्ध द्रव्यार्थिक या अनुभय दृष्टि है। (५) वस्तु में तत् स्वरूप भिन्न है, अतत् स्वरूप भिन्न है यह व्यस्त-जुदी-जुदी दृष्टि है। (६) वस्तु तत् अतत् दोनों रूप इकट्ठी है यह समस्त दृष्टि है। (७) वस्तु समय-समय में नई-नई उत्पन्न हो रही है यह क्रमवर्ती दृष्टि है। (८) वस्तु त्रिकाल वही की वही है यह अक्रमवर्ती दृष्टि है। यहाँ तक तो हमने ग्रंथकार की आज्ञानुसार आगे नित्य-अनित्य अधिकार में कही हुई विधि के अनुसार लगाकर दिखलाया है। अब अस्ति-नास्ति अधिकार में कही हुई विधि के अनुसार बताते हैं। (९) जैसे अस्ति-नास्ति युगल द्रव्य से-क्षेत्र से-काल से और भाव से लगाया था वैसे इस तत्-अतत् को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से लगा लेना चाहिये। इसका मर्म यह है कि तत् दृष्टि से द्रव्य का चतुष्टय त्रिकाल एक रूप है और अतत् दृष्टि से द्रव्य का चतुष्टय समय-समय का भिन्न-भिन्न रूप है। (१०) जिस प्रकार अस्ति-नास्ति को दो द्रव्यों पर न लगाकर सामान्य विशेष पर लगाया था, उसी प्रकार तत्-अतत् को भी दो द्रव्यों पर न लगाकर एक ही द्रव्य के समान्य विशेष पर लगाना चाहिये। (११) जिस प्रकार अस्ति-नास्ति सात भंग रूप था उसी प्रकार यह तत्-अतत् भी सात भंग रूप समझ लेना चाहिए। ऐसी ग्रन्थकार की उपरोक्त सूत्र की आज्ञा है। अन्त में दृष्टि परिज्ञान तथा सप्तभंगी विज्ञान देखिये।

नोट - इस प्रकार 'वस्तु की अनेकान्तात्मक 'स्थिति' नामा महा अधिकार में तत्-अतत् युगल का वर्णन करने वाला दूसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ। सद्गुरु देव की जय !

तत्-अतत् पर नय प्रमाण लगाने की पद्धति ७६४ से ७६७ तक*

अभिनवभावपरिणतेयोऽयं वस्तुन्यपूर्वसमयो यः ।
इति यो वदति स कश्चित्पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥ ७६४ ॥

अर्थ - वस्तु में नवीन भाव रूप परिणमन होने से "यह तो वस्तु ही अपूर्व-अपूर्व है" ऐसा जो कोई कहता है, वह पर्यायार्थिक नयों में अभाव नय-अतत् नय है (अभाव और अतत् पर्यायवाची शब्द हैं)।

भावार्थ - अतत् दृष्टि से वस्तु ही प्रति समय नई-नई उत्पन्न होती है। यह अभाव नय या अतत् नय नाम की पर्यायार्थिक नय है।

परिणममानेऽपि तथा भूतैर्भावैर्विनश्यमानेऽपि ।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥ ७६५ ॥

अर्थ - वस्तु के नवीन भावों से परिणमन करने पर भी तथा पूर्व भावों से विनष्ट होने पर भी - "यह अपूर्व (नई) वस्तु नहीं है - किन्तु वही की वही है" ऐसा जो कोई कथन करता है, वह पर्यायार्थिक नयों में भाव नय-तत् नय है (भाव-तत् पर्यायवाची शब्द है)।

भावार्थ - तत् दृष्टि से कोई वस्तु नई उत्पन्न नहीं होती है। वही की वही है। यह भाव नय या तत् नय नाम की पर्यायार्थिक नय है।

---

* यह श्लोक इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग के अन्त में है। भावार्थ के लिए अन्त में दृष्टि परिज्ञान देखिये।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि ।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा ॥ ७६६ ॥

अर्थ – शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से (अनुभय दृष्टि से) वस्तु में सर्वथा नवीन भाव भी नहीं होता है तथा प्राचीन भाव का अभाव भी नहीं होता है क्योंकि इस नय की दृष्टि में वस्तु न तो अभूतपूर्व (नई) है और न भूतपूर्व (पुरानी) है। उभय रूप अर्थात् दोनों रूप नहीं है। किन्तु अनुभय रूप अर्थात् अखण्ड रूप है। यह दृष्टि भेद को स्वीकार नहीं करती।

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत् ।
असदुत्पन्नं न हि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥ ७६७ ॥

अर्थ – जो सत् प्रतिक्षण नवीन-नवीन भावों से परिणमन करता है, वही न तो असत् उत्पन्न होता है और न सत् विनष्ट ही होता है, यह प्रमाण का मत है।

भावार्थ – जो वस्तु परिणमन की अपेक्षा प्रति समय नई-नई दीखती है, वही वस्तु तो वस्तु की अपेक्षा वही की वही है। इस प्रकार अतत्-तत् (अभाव-भाव) दोनों धर्मो को मैत्री रूप से एक समय विषय करने वाला जोड़ रूप प्रमाण पक्ष है।

भावार्थ ७६४ से ७६७ तक – परिणमन पर दृष्टि रखने वाले पर्यायार्थिक नय का कहना है कि प्रति समय वस्तु ही नई-नई उत्पन्न होती है, यह अतत् नाम का व्यवहार नय है। वस्तु पर दृष्टि रखने वाली पर्यायार्थिक नय कहता है कि वस्तु वही की वही है, यह तत् नाम की व्यवहार नय है क्योंकि दोनों की दृष्टि वस्तु के एक-एक अंश पर है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहता है – न नई है – न पुरानी है – निर्विकल्प है। अखण्ड है। प्रमाण कहता है कि जो नई-नई है, वह वही की वही है। ये चार पद इकट्ठे हैं। इस अधिकार में जो सत् को तत्-अतत् सिद्ध किया है, उस पर यह नय प्रमाण लगाकर दिखलाये हैं।

नोट – इस अधिकार की प्रश्नावली अन्त में दी है।

तीसरा अवान्तर अधिकार

नित्य-अनित्य का रहस्य – द्रव्य जैसे स्वभाव से स्वतः सिद्ध है वैसे ही स्वभाव से वह स्वतः परिणामी भी है। अतः स्वतः सिद्ध स्वभाव के कारण नित्य है और परिणमन के कारण अनित्य है। इस प्रकार तत्त्व "नित्यानित्यात्मक" है। नित्य त्रिकाल स्थायी है। इसको सामान्य-द्रव्य-तत्त्व-वस्तु-सत्त्व आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। अनित्य एकसमय स्थाई है। इसको विशेष-परिणाम-पर्याय-अवस्था भी कहते हैं। इस प्रकार वस्तु का सामान्य विशेष स्वरूप कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है। दीपप्रकाश की तरह, जल कल्लोलों की तरह, मिट्टी घड़े की तरह।

नित्य-अनित्य युगल का निरूपण ३३६ से ४३३ तक

शंका

ननु किं नित्यमनित्यं किमथोभयमनुभयञ्च तत्त्वं स्यात् ।
व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत् ॥ ३३६ ॥

शंका – (१) क्या सत् नित्य है (२) क्या सत् अनित्य है (३) क्या सत् उभय है। (४) क्या सत् अनुभय है (५) क्या सत् व्यस्त है (६) क्या सत् समस्त है (७) क्या सत् क्रमवर्ती है (८) क्या सत् अक्रमवर्ती है ? (उत्तर विवक्षाओं के लिये देखिये ४१४ से ४१७ तक)

समाधान ३३७ से ३४० तक

सत्त्वं स्वपरनिहत्त्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वं ।
स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात्पदाङ्कितं तु पदम् ॥ ३३७ ॥

अर्थ – यदि उपरोक्त शब्दों के पहले सर्वथा पद जोड़ दिया जाय तो यह सत् स्व (जैनदर्शन) तथा पर (अन्य-दर्शन) दोनों के नाश के लिये है। यदि उनके पहले स्यात् पद जोड़ दिया जाय तब वही सत् सब रूप होता हुआ स्व और पर दोनों का उपकारक है।

भावार्थ - सत् जैसे स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणमनशील भी है। इसलिये विवक्षावश उसमें एक धर्म मुख्य दूसरा गौण हो जाता है। इस मुख्य और गौण की विवक्षा में ही सत् कभी किसी रूप और कभी किसी रूप कहा जाता है परन्तु मुख्य गौण की विवक्षा को छोड़कर सर्वथा एक धर्म (एकान्त) रूप सत् को मानने से किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो पाती है। इसलिये सर्वथा कहने से सर्वनाश है और कथंचित् कहने से सर्वसिद्धि है जैसे (१) स्वभाव दृष्टि से सत् नित्य है। (२) परिणाम दृष्टि से सत् अनित्य है। (३) प्रमाण दृष्टि से सत् उभय है, नित्यानित्य है। (४) अखण्ड दृष्टि से सत् अनुभय है अर्थात् न नित्य है न अनित्य है, अभेद्य है। अनिर्वचनीय है अखण्ड है। (५) स्वभाव त्रिकाल रहने वाली वस्तु है और परिणाम एक समय मात्र की क्षणिक अवस्था इस अपेक्षा से सत् व्यस्तरूप है - जुदा-जुदा है। (६) जो स्वभाव रूप है वही तो परिणाम रूप है इस दृष्टि से सत् समस्त (इकट्ठा) है। (७) परिणाम क्रमबद्ध उत्पन्न होते हैं इस दृष्टि से क्रमवर्ती है (८) स्वभाव सदा एक रूप रहता है इस दृष्टि से अक्रमवर्ती है। (४१४ से ४१७)। सारांश यह है कि स्यात् पद लगाने से (अनेकान्त दृष्टि से) सब ठीक है। सर्वथा पद लगाने से (एकान्त दृष्टि से) एक भी ठीक नहीं है। परिणाम, पर्याय, अवस्था, दशा, परिणमन, विक्रिया, कर्म, कार्य, परिणति, भाव ये सब पर्यायवाची हैं। पर्याय के द्योतक हैं। स्वभाव, सत्त्व, सामान्य, वस्तु, पदार्थ, द्रव्य ये पर्यायवाची हैं। स्वभाव के द्योतक हैं।

इसी का स्पष्टीकरण

अथ तद्यथा यथा सत्स्वतोऽस्ति सिद्धं तथा च परिणामि ।
इति नित्यमथानित्यं सच्चैकं द्विस्वभावतया ॥ ३३८ ॥

अर्थ - खुलासा इस प्रकार है कि जैसे सत् स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणमनशील भी है। इस प्रकार एक ही सत् दो स्वभाववाला होने से नित्य भी है और अनित्य भी है।

भावार्थ - वह सदा रहता है अर्थात् अपने स्वरूप को कभी नहीं छोड़ता है इस दृष्टि से वह नित्य भी है और प्रतिक्षण वह बदलता भी रहता है अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आया करता है इस दृष्टि से अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही सत् दो स्वभाववाला है।

अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणामः ।
नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्यादन्वयार्थनययोगात् ॥ ३३९ ॥

अर्थ - आशय यह है कि जिस समय वस्तु पर दृष्टि रखी जाती है, परिणाम पर दृष्टि नहीं होती उस समय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तु नित्य प्राप्त होती है क्योंकि वस्तु सामान्य का कभी भी नाश नहीं होता है।

अपि च यदा परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु ।
अभिनवभावानभिनवभावाभावादनित्यमंशनयात् ॥ ३४० ॥

अर्थ - तथा जिस समय पदार्थ पर दृष्टि नहीं रक्खी जाती, केवल उस परिणाम पर ही दृष्टि रखी जाती है उस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु अनित्य प्राप्त होती है क्योंकि प्रतिसमय नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पुरानी पर्याय का नाश देखा जाता है।

भावार्थ ३३९-४० - यहाँ पर केवल वस्तु के परिणाम अंश को ग्रहण किया गया है ऊपर उसके द्रव्य अंश को ग्रहण किया गया है। वस्तु के एक देश को परस्पर सापेक्ष ग्रहण करनेवाली ही नय है।

सत् और परिणाम के विषय में शंकाकार की अनेक आपत्तियाँ

ननु चैकं सदिति यथा तथा च परिणाम एव तद् द्वैतम् ।
वक्तुं क्षममन्यतरं क्रमतो हि समं न तदिति कुतः ॥ ३४१ ॥

शंका - जिस प्रकार सत् एक है उसी प्रकार परिणाम भी एक है, ये दो हैं फिर क्या कारण है कि इन दोनों में से किसी का क्रम से ही कथन किया जा सकता है दोनों का एक साथ नहीं ॥ ३४१ ॥

क्या वे दोनों वर्णों की ध्वनि के समान हैं

अथ किं खरवादिवर्णाः सन्ति यथा युगपदेव तुल्यतया ।
वक्ष्यन्ते क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद् ध्वनेरिति न्यायात् ॥ ३४२ ॥

अर्थ - तो क्या ऐसा है कि जिस प्रकार क, ख आदि वर्ण एक साथ समानरूप से विद्यमान रहते हैं, परन्तु ध्वनि में क्रमवर्तीपना पाया जाने से वे क्रम से बोले जाते हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम एक साथ विद्यमान रहते हुए क्या क्रम से कहे जाते हैं ॥ ३४२॥

क्या वे विंध्य हिमाचल के समान हैं

अथ किं खरतरदृष्ट्या विन्ध्यहिमाचलयुगं यथास्ति तथा ।
भवतु विवक्ष्यो मुख्यो विवक्तुरिच्छावशाद् गुणोऽन्यतरः ॥ ३४३ ॥

अर्थ - अथवा ऐसा है जिस प्रकार कि देखने में विन्ध्याचल और हिमालय ये स्वतन्त्र दो हैं परन्तु दोनों में वक्ता की इच्छानुसार जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है और दूसरा गौण हो जाता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम स्वतन्त्र दो हैं और उन दोनों में जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है और दूसरा गौण हो जाता है ॥ ३४३ ॥

क्या वे सिंह और साधु के समान हैं

अथ चैकः कोऽपि यथा सिंहः साधुर्विवक्षितो द्वेधा ।
सत्परिणामोऽपि तथा भवति विशेषणविशेष्यवत् किमिति ॥ ३४४ ॥

अर्थ - या ऐसा है कि जिस प्रकार कोई एक व्यक्ति कभी सिंह और कभी साधु दो तरह से विवक्षित होता है उसी प्रकार वस्तु कभी सत् और कभी परिणामस्वरूप से विवक्षित होती है। वस्तु का सत् और परिणाम के साथ क्या इस तरह का विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध है ॥ ३४४॥

क्या वे दोनों सव्येतर गोविषाणों के समान हैं

अथ किमनेकार्थत्वादेकं भावद्वयाङ्कितं किञ्चित् ।
अग्निर्वैश्वानर इव सव्येतरगोविषाणवत् ॥ ३४५ ॥

अर्थ - या ऐसा है क्या कि जिस प्रकार एक ही पदार्थ नाना प्रयोजन होने से अग्नि और वैश्वानर के समान दो नामों से अंकित होता है उसी प्रकार सत् और परिणाम भी क्या नाना प्रयोजन होने से एक ही वस्तु के दो नाम हैं। या जिस प्रकार दाएँ और बाएँ सींग होते हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं ॥ ३४५॥

क्या वे काल भेद से कच्ची-पक्की मिट्टी के समान हैं

अथ किं कालविशेषादेकः पूर्वं ततोऽपरः पश्चात् ।
आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं तद्यथा तथा किमिति ॥ ३४६ ॥

अर्थ - अथवा काल भेद से एक पहले और दूसरा पीछे होता है क्या। जिस प्रकार की कच्ची-पक्की मिट्टी आगे-पीछे होती है उसी प्रकार ये सत् और परिणाम हैं क्या ॥ ३४६॥

क्या वे दो सपत्नियों के समान हैं

अथ किं कालक्रमतोऽप्युत्पन्नं वर्तमानमिव चास्ति ।
भवति सपत्नीद्वयमिह यथा मिथः प्रत्यनीकतया ॥ ३४७ ॥

अर्थ - अथवा क्या कालक्रम से उत्पन्न होकर भी ये दोनों वर्तमान काल में परस्पर विरुद्ध भाव से रहते हैं। जैसे आगे-पीछे परणी हुई दो सपत्नियाँ वर्तमान काल में परस्पर विरुद्ध भाव से रहती हैं ॥ ३४७॥

क्या वे दो भाइयों या मल्लों के समान हैं

अथ किं ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वयमिव मिथः सपक्षतया ।
किमथोपसुन्द सुन्दमल्लन्यायात्किलेतरेतरस्मात् ॥ ३४८ ॥

अर्थ - अथवा बड़े और छोटे भाई के समान ये दोनों परस्पर अविरुद्ध भाव से एक साथ रहते हैं क्या। अथवा वे दोनों उपसुन्द और सुन्द इन दोनों मल्लों के समान परस्पर के आश्रित हैं क्या ॥ ३४८॥

क्या वे परत्वापरत्व तथा दिशाओं के समान हैं

केवलमुपचारादिह भवति परत्वापरत्ववत्किमथ ।
पूर्वापरदिग्द्वैतं यथा तथा द्वैतमिदमपेक्षतया ॥ ३४९ ॥

अर्थ - अथवा सत् और परिणाम इन दोनों में केवल उपचार से परत्वापरत्व व्यवहार होता है क्या। अथवा जिस प्रकार अपेक्षा मात्र से पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा ये दोनों कही जाती हैं उसी प्रकार ये दोनों हैं क्या ॥ ३४९॥

क्या वे कारक द्वैत के समान हैं

किमथाधाराधेयन्यायादिह कारकादिद्वैतमिव ।
स यथा घटे जलं स्यान्न स्यादिह जले घटः कश्चित् ॥ ३५० ॥

अर्थ - अथवा आधार-आधेय न्याय से इन दोनों में कारक आदि द्वैत घटित होता है। क्या! जैसे 'घट में जल है' यहाँ आधार-आधेयभाव है, किन्तु 'जल में घट है' यहाँ वह नहीं है ॥ ३५०॥

क्या वे बीजांकुर के समान हैं

अथ किं बीजाङ्कुरवत्कारणकार्यद्वयं यथास्ति तथा ।
स यथा योनीभूतं तत्रैकं योनिजं तदन्यतरम् ॥ ३५१ ॥

अर्थ - अथवा जिस प्रकार बीज और अंकुर में कारण-कार्यभाव है उसी प्रकार सत् और परिणाम में भी क्या कारण-कार्यभाव है। जैसे कि बीज और अंकुर में एक कारण है, और दूसरा कार्य है, क्या वे ऐसे हैं ॥ ३५१॥

क्या वे कनकोपल के समान हैं

अथ किं कनकोपलवत् किञ्चित्स्वं किञ्चिदस्वमेव यतः ।
ग्राह्यं स्वं सारतया तदितरमस्वं तु हेयमसारतया ॥ ३५२ ॥

अर्थ - अथवा सत् और परिणाम दोनों में कनक और पाषाण के समान एक स्वरूप हैं और दूसरा पररूप है और इस प्रकार साररूप होने से स्व ग्राह्य है और दूसरा पररूप असार होने से अग्राह्य है ॥ ३५२॥

क्या वे वाच्य-वाचक के समान हैं

अथ किं वागर्थद्वयमिव सम्पृक्तं सदर्थसंसिद्ध्यै ।
पानकवत्तन्नियमादर्थाभिव्यञ्जकं द्वैतात् ॥ ३५३ ॥

अर्थ - अथवा सत् और परिणाम ये दोनों अर्थसिद्धि के लिये वचन और अर्थ के समान संपृक्त होकर पेय पदार्थ के समान मिलकर नियम से अर्थ के अभिव्यञ्जक हैं क्या ॥ ३५३॥

क्या वे भेरी दण्ड के समान हैं

अथ किमवश्यतया तद्वक्तव्यं स्यादनन्यथासिद्धेः ।
भेरीदण्डवदुभयोः संयोगादिव विवक्षितः सिद्ध्येत् ॥ ३५४ ॥

अर्थ - अथवा दोनों के बिना अर्थ सिद्धि नहीं होती, इसलिए सत् और परिणाम इन दोनों का कथन करना आवश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार भेरी और दण्ड के संयोग से विवक्षित कार्य सिद्ध होता है उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम के सम्बन्ध से पदार्थ की सिद्धि होती है ॥ ३५४॥

क्या वे पद पूर्णन्याय के समान हैं

अथ किमुदासीनतया वक्तव्यं वा यथारुचित्यान्न ।
पद[1]पूर्णन्यायादप्यन्यतरेणेह साध्यसंसिद्धेः ॥ ३५५ ॥

अर्थ - अथवा सत् और परिणाम इनका कथन रुचिपूर्वक न करके उदासीनतापूर्वक किया जाता है; क्योंकि पदपूर्णन्याय के अनुसार इनमें से किसी एक के द्वारा ही साध्य की सिद्धि हो जाती है ॥ ३५५॥

---

१. 'ख' पुस्तके 'यदपूर्ण-' इति पाठः ।

क्या वे दो मित्रों के समान हैं

अथ किमुपादानया स्वार्थं सृजति कश्चिदन्यतमः ।
अपरः सहकारितया प्रकृतं पुष्णाति मित्रवत्तदिति ॥ ३५६ ॥

अर्थ - अथवा कोई एक उपादान कारण होकर अपने कार्य को करता है और दूसरा सहकारी कारण बनकर प्रकृत कार्य को पुष्ट करता है। जिस प्रकार ये दो मित्र हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं ॥ ३५६॥

क्या वे आदेश के समान हैं

शत्रुवदादेशः स्यात्तद्वत्तद् द्वैतमेव किमिति यथा ।
एकं विनाश्य मूलादन्यतमः स्वयमुदेति निरपेक्षः ॥ ३५७ ॥

अर्थ - अथवा आदेश शत्रु के समान होता है उसी प्रकार ये दोनों हैं क्या। जिससे कि इनमें से कोई एक-दूसरे का समूल नाश करके निरपेक्ष भाव से स्वयं उदित होता है॥ ३५७॥

क्या वे दो रज्जुओं के समान हैं

अथ किं वैमुख्यतया विसन्धिरूपं द्वयं तदर्थकृते ।
वामेतरकरवर्त्तिलरज्जूयुग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ॥ ३५८ ॥

अर्थ - अथवा जिस प्रकार वाम और दक्षिण हाथ में रहने वाली दो रस्सियाँ परस्पर विमुखता से अलग-अलग रहकर भी यथायोग्य कार्य करती हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुखता से अनमिल रहकर ही अपने कार्य को करते हैं ॥ ३५८॥

विशेषार्थ - पहले यह बतलाया जा चुका है कि वस्तु सत् और परिणाम उभयरूप है। तथापि इनमें से जब जो विवक्षित होता है तब वह उसरूप प्रतीत होती है, क्योंकि सत् और परिणाम ये सर्वथा जुदे नहीं हैं। किन्तु इस विवेचन से सन्तुष्ट न होकर शंकाकार ने सत् और परिणाम के विषय में दृष्टान्त पूर्वक अनेक आपत्तियाँ उपस्थित की हैं। आगे स्वयं ग्रन्थकार इन आपत्तियों का निराकरण करनेवाले हैं, अतः यहाँ जिन उदाहरणों का आश्रय लेकर ये आपत्तियाँ खड़ी की गई हैं उनके विषय में अधिक नहीं लिखा जाता है ॥ ३४१-३५८॥

समाधान

नैवमदृष्टान्तत्वात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात् ।
नाचरते मन्दोऽपि च स्वस्य विनाशाय कश्चिदेव यतः ॥ ३५९ ॥

अर्थ - यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपने पक्ष की पुष्टि में जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे जब स्व और पर दोनों पक्षों के घातक होने से दृष्टान्त ही नहीं ठहरते तब ऐसा कौन मन्दबुद्धि पुरुष होगा जो स्वयं अपने विनाश के लिये प्रयत्न करेगा। अर्थात् कोई भी नहीं हो सकता है ॥ ३५९॥

सत् और परिणाम के विषय में वर्णपंक्ति का दृष्टान्त ठीक नहीं है

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशिनः प्रमाणस्य ।
मा भूदभाव इति न हि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र ॥ ३६० ॥
अपि च प्रमाणाभावे न हि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायै ।
वाक्यविवक्षाभावे पदपक्षः कारकोऽपि नार्थकृते ॥ ३६१ ॥
संस्कारस्य वशादिह पदेषु वाक्यप्रतीतिरिति चेद्वै ।
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया ह्युक्तस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ३६२ ॥
अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूषणद्वयं भवति ।
नयपक्षच्युतिरिति वा क्रमवर्तित्वाद् ध्वनेरहेतुत्वम् ॥ ३६३ ॥

अर्थ - परस्पर में सापेक्ष सत् और परिणाम इन दोनों धर्मों को विषय करने वाले प्रमाण का अभाव करना इष्ट नहीं, इसलिए प्रकृत में जो वर्णपंक्ति का दृष्टान्त दिया है वह ठीक नहीं है ॥ ३६०॥ यदा कदाचित् प्रमाण का अभाव

भी मान लिया जाय तो भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि जिस प्रकार वाक्य विवक्षा के अभाव में केवल पद पक्ष किसी प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ नहीं है। उसी प्रकार प्रमाण के अभाव में केवल नयपक्ष भी अपनी रक्षा में समर्थ नहीं है। अर्थात् प्रमाण के अभाव में केवल नयपक्ष भी कार्यकारी नहीं है ॥ ३६१॥ यदि संस्कार वश पदों में वाक्य प्रतीति मानी जाय तो यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कथन करने पर नयों का अभाव होकर केवल प्रमाण के कथन करने की आपत्ति आती है जिसे रोकना दुर्निवार है ॥ ३६२॥ यदि कहा जाय कि केवल प्रमाणपक्ष मान लिया जाय तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर दो ऐसे दूषण आते हैं जिनका रोकना दुर्वार हो जाता है। उक्त मान्यता के अनुसार एक तो नयपक्ष का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और दूसरे ध्वनि क्रमवर्ती होती है; यह जो हेतु दिया गया था वह समीचीन हेतु नहीं ठहरता ॥ ३६३॥

विशेषार्थ - पहले विविध दृष्टान्तों द्वारा सत् और परिणाम के विषय में आशंका कर आये हैं। उन दृष्टान्तों में एक वर्णपंक्ति का भी दृष्टान्त दे आये हैं। इस द्वारा यह आशंका प्रकट की गई है कि जिस प्रकार क, ख आदि वर्ण स्वतन्त्ररूप से एक साथ रहते हैं, किन्तु उनका ग्रहण क्रम से होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम का स्वतन्त्ररूप से एक साथ रहना मानकर उनका ग्रहण क्रम से माना जाय। इस आशंका का ग्रन्थकर्त्ता ने जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि सामान्य और विशेष ये स्वतन्त्र दो न होकर एक अनिर्वचनीय वस्तु को देखने के दो प्रकार हैं जो परस्पर सापेक्ष हैं। यतः प्रमाण ज्ञान सकलादेशी होता है, अतः वह सत् और परिणाम उभयरूप वस्तु को ही ग्रहण करता है। प्रकृत में वर्णपंक्ति के दृष्टान्त द्वारा शंकाकार ने सत् और परिणाम को सर्वथा स्वतन्त्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है अतः यह दृष्टान्त यहाँ लागू नहीं होता। यदि प्रमाण के अभाव में केवल नयपक्ष स्वीकार किया जाता है तो ऐसा करना युक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार वाक्य के अभाव में केवल पद कार्यकारी नहीं होता है उसी प्रकार प्रमाण के अभाव में नयपपक्ष भी कार्यकारी नहीं है। आशय यह है कि नाना पदों के मिलने से एक वाक्य बनता है और तब जाकर वाक्य से अर्थबोध होता है। इसलिये वाक्य की अपेक्षा से ही प्रत्येक पद कुछ न कुछ अर्थ रखनेवाले कहे जाते हैं। यदि कोई 'नमः श्रीवर्धमानाय' इत्यादि वाक्य को न मानकर 'नमः' और 'श्रीवर्धमानाय' इन पदों को भिन्न-भिन्न ही मानें तो 'श्री वर्धमान को नमस्कार हो' इस अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार वाक्य पक्ष के अभाव में कारक अर्थात् विभक्ति का भी अर्थ नहीं बन सकता है। वैसे ही प्रमाण के अभाव में नयपक्ष भी कार्यकारी नहीं है। यदि कहा जाय कि जैसे वाक्य का उच्चारण नहीं करके भी केवल संस्कार वश पदों में वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। वैसे ही प्रमाण के अभाव में नयों से प्रमाण की प्रतीति हो जायेगी सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर यावत् कथन प्रमाणरूप प्राप्त होता है तब नय का कोई स्थान ही नहीं रहता। किन्तु यदि इस दृष्टिकोण को समीचीन मान लिया जाय तो दो महान् दूषण आते हैं। एक तो नयपक्ष का सर्वथा अभाव हो जाता है और दूसरे नयपक्ष के अभाव में क्रम नहीं बनता जिससे ध्वनि अहेतुक ठहरती है। यतः ये दोष न प्राप्त होवें अतः सत् और परिणाम को क, ख आदि वर्णों के समान सर्वथा निरपेक्ष न मानकर परस्पर सापेक्ष ही मानना चाहिये।

विन्ध्य और हिमाचल भी दृष्टान्ताभास है

विन्ध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम् ।
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यतोऽविवक्षश्च ॥ ३६४ ॥

अर्थ - विंध्याचल और हिमाचल इन दोनों पर्वतों का दृष्टान्त भी इष्ट वस्तु की सिद्धि करने के लिये समर्थ नहीं है, क्योंकि जब ये नियम से अनेक हैं तब इनमें गौण मुख्य भाव की कल्पना करना निरर्थक है ॥ ३६४॥

विशेषार्थ - प्रकृत में सत् और परिणाम में कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है। किन्तु विन्ध्याचल और हिमाचल ये सर्वथा स्वतन्त्र दो हैं, अतः सत् और परिणाम की सिद्धि के लिये विन्ध्याचल और हिमाचल का दृष्टान्त भी उपयोगी नहीं है ॥ ३६४॥

सिंह साधु भी दृष्टान्ताभास है

नालमसौ दृष्टान्तः सिंहः साधुर्यथेह कोऽपि नरः ।
दोषादपि स्वरूपासिद्धत्वात्किल यथा जलं सुरभि ॥ ३६५ ॥
नासिद्धं हि स्वरूपासिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वात् ।
केवलमिह रूढिवशादुपेक्ष्य धर्मद्वयं यथेच्छत्वात् ॥ ३६६ ॥

अर्थ – जैसे कोई एक मनुष्य सिंह और साधु कहा जाता है सो प्रकृत में यह दृष्टान्त इष्ट की सिद्धि करने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि जैसे जल सुरभि है, ऐसा मानने पर स्वरूपासिद्ध दोष आता है उसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्त में भी स्वरूपासिद्ध दोष आता है ॥ ३६५ ॥ यहाँ स्वरूपासिद्धत्व दोष असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त साध्यशून्य है। दृष्टान्त साध्यशून्य इसलिये है, क्योंकि यहाँ दो धर्मों की उपेक्षा करके केवल रूढ़िवश इच्छानुसार सिंह और साधु ऐसा व्यवहार किया गया है ॥ ३६६ ॥

विशेषार्थ – मनुष्य में सिंहत्व और साधुत्व धर्म के नहीं रहने पर भी व्यवहार में कभी वह सिंह और कभी साधु कहा जाता है। यदि सत् और परिणाम को वस्तु में इस प्रकार माना गया होता तो उक्त दृष्टान्त ठीक होता। किन्तु इसके विपरीत वस्तु सत्परिणामात्मक स्वरूप से है, इसलिये प्रकृत में यह दृष्टान्त उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। नैयायिक दर्शन के अनुसार जल में सुगन्धि नहीं पाई जाती फिर भी 'जल सुगन्धित है' ऐसा कहा जाता है जो जैसे यह कहना स्वरूपासिद्ध है उसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्त भी स्वरूपासिद्ध है, अतः यह प्रकृत में उपयोगी नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिये ॥ ३६५-३६६ ॥

अग्नि वैश्वानर भी दृष्टान्ताभास है

अग्निर्वैश्वानर इव नामद्वैतं च नेष्टसिद्ध्यर्थम् ।
साध्यविरुद्धत्वादिह संदृष्टेरथ च साध्यशून्यत्वात् ॥ ३६७ ॥
नामद्वयं किमर्थादुपेक्ष्य धर्मद्वयं च किमपेक्ष्य ।
प्रथमे धर्माभावेऽप्यलं विचारेण धर्मिमोऽभावात् ॥ ३६८ ॥
प्रथमेतरपक्षेऽपि च भिन्नमभिन्नं किमन्वयात्तदिति ।
भिन्नं चेदविशेषादुक्तवदसतो हि किं विचारतया ॥ ३६९ ॥
अथ चेद्युतसिद्धत्वात्तन्निष्पत्तिर्द्वयोः पृथक्त्वेऽपि ।
सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वः सर्वोऽपि दुर्निवारः स्यात् ॥ ३७० ॥
चेदन्वयादभिन्नं धर्मद्वैतं किलेति नयपक्षः ।
रूपपटादिवदिति किं किमथ क्षारद्रव्यवच्चेति ॥ ३७१ ॥
क्षारद्रव्यदिदं चेदनुपादेयं मिथोऽनपेक्षत्वात् ।
वर्णततेरविशेषन्यायान्न नयाः प्रमाणं वा ॥ ३७२ ॥
रूपपटादिवदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।
एकं नामद्वयाङ्कमिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् । ३७३ ॥

अर्थ – अग्नि और वैश्वानर इनके समान सत् और परिणाम ये एक वस्तु के दो नाम हैं ऐसा जो कथन कर आये हैं वह भी इष्ट का साधन नहीं है, क्योंकि यह कथन साध्य के विरुद्ध है और दृष्टान्त में साध्य शून्यता का दोष आता है ॥ ३६७ ॥ आशय यह है कि प्रकृत दृष्टान्तद्वारा दो नामों की कल्पना की गई है वह दोनों धर्मों की उपेक्षा करके की गई है या उनकी उपेक्षा रखकर की गई है। पहला पक्ष स्वीकार करने पर धर्मों के अभाव में धर्मी का भी अभाव हो जाने से विचार करना ही व्यर्थ हो जाता है ॥ ३६८ ॥ दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर भी वे दोनों धर्म द्रव्य से भिन्न हैं कि अभिन्न हैं इस प्रकार ये दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं ? यदि भिन्न पक्ष स्वीकार किया जाता है तो कोई विशेषता नहीं रहने से जैसे पहले धर्मों का अभाव कह आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी धर्मी का अभाव प्राप्त होता है, अतः भिन्न पक्ष

के विचार करने में क्या लाभ है अर्थात् कोई लाभ नहीं ॥ ३६९॥ यदि दोनों धर्मों के भिन्न रहने पर भी युतसिद्ध होने से धर्म धर्मी भाव की निष्पत्ति मानी जाती है तो सब पदार्थों का सब पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने के कारण सब पदार्थों का सब रूप होना दुर्निवार हो जायेगा ॥ ३७०॥ अब यदि द्रव्य से दोनों धर्म अभिन्न हैं यह नय पक्ष स्वीकार किया जाता है तो क्या यह अभिन्नता रूप और पट के समान मानी जाती है या क्षार द्रव्य के समान मानी जाती है॥ ३७१॥ यदि यह अभिन्नता क्षार द्रव्य के समान मानी जाती है तो प्रकृत में यह गाह्य नहीं है, क्योंकि क्षार द्रव्य परस्पर में निरपेक्ष हैं, इसलिये वर्ण पंक्ति के दृष्टान्त से इस दृष्टान्त में कोई विशेषता नहीं आती। इस न्याय से नय और प्रमाण ये कुछ भी नहीं ठहरते ॥ ३७२॥ यदि सत् और परिणाम की अन्वय (वस्तु) से अभिन्नता रूप और पट के समान मानी जाती है तो प्रकृत के अनुकूल होने से यह मानना ठीक ठहरता है, अतः एक वस्तु दो नामों से अंकित है यह पक्ष अपने आप विपक्ष रूप हो जाता है ॥ ३७३॥

विशेषार्थ - अग्नि और वैश्वानर ये एक वस्तु के दो नाम हैं, अतः इस दृष्टान्त से इष्ट की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वस्तु सत्परिणामात्मक है। किन्तु इस दृष्टान्त द्वारा इसकी सिद्धि नहीं होती, इसलिये यह दृष्टान्त साध्य से विरुद्ध की सिद्धि करने वाला होने के कारण साध्य शून्य हो जाता है। आगे इसी विषय का विशेष खुलासा करने के लिए दो शंकाएँ उपस्थित करके उनका जो खुलासा किया गया है, वह इस प्रकार है -

(१) क्या सत् और परिणाम ये एक ही वस्तु के दो नाम दो धर्मों की उपेक्षा करके रखे गये हैं ? या (२) सत् और परिणाम ये एक ही वस्तु के दो नाम दो धर्मों की अपेक्षा करके रखे गये हैं। प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि इससे धर्मी का अभाव प्राप्त होता है। दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर यह प्रश्न खड़ा होता है कि वे दोनों धर्म धर्मी से भिन्न हैं कि अभिन्न। यदि धर्मी से धर्मो को भिन्न माना जाता है तो धर्मी और धर्म दोनों का अभाव प्राप्त होता है। यदि अभिन्न पक्ष स्वीकार किया जाता है तो यह अभिन्नता संयोगजन्य है या तादात्म्य रूप है। ऐसा नय प्रश्न खड़ा होता है। संयोगजन्य अभिन्नता तो बन नहीं सकती, क्योंकि धर्म धर्मी में ऐसी अभिन्नता किसी ने नहीं स्वीकार की है। अब यदि तादात्म्य रूप अभिन्नता स्वीकार की जाती है तो ऐसी अभिन्नता के स्वीकार करने में कोई हानि नहीं, क्योंकि स्याद्वादियों ने सत् और परिणाम का तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वीकार किया है। पर इससे शंकाकार का यह पक्ष कि 'सत् और परिमाम एक ही वस्तु के दो नाम है' नहीं रहता, वह स्वयं विपक्षभूत हो जाने के कारण खण्डित हो जाता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३६७-३७३॥

सव्येतर गोविषाण भी दृष्टान्ताभास है

अपि चाकिञ्चित्कर इव सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः ।
सुरभि गगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥ ३७४ ॥
न यतः पृथगिति किञ्चित् सत्परिणामातिरिक्तमिह वस्तु ।
दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव , तद्द्वयोरैक्यात् ॥ ३७५ ॥

अर्थ - पहले जो सत् और परिणाम के विषय में दाएँ और बाएँ सींगों का दृष्टान्त दे आये हैं सो वह दृष्टान्त भी प्रकृत में अकिंचित्कर ही है, क्योंकि आकाश कमल सुगन्धित है इसके समान यह दृष्टान्त आश्रयासिद्ध है ॥ ३७४॥ यह दृष्टान्त आश्रयासिद्ध इसलिए है क्योंकि सत् और परिणाम के अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। किन्तु जिस प्रकार दीप और प्रकाश में अभेद होने से वे गुम्फित होते हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम में ऐक्य होने से वे परस्पर में तादात्म्य को प्राप्त हैं ॥ ३७५॥

विशेषार्थ - गाय के दाएँ और बाएँ सींग ये गाय के आश्रय से रहते हैं। अब यदि सत् और परिणाम को दाएँ और बाएँ सींगों के समान माना जाता है तो सत् और परिणाम का एक अन्य आश्रय मानना पड़ेगा। यतः सत् और परिणाम का अन्य आश्रय नहीं है, किन्तु वे दीप और प्रकाश के समान परस्पर गुम्फित हैं। अतः सत् और परिणाम की सिद्धि के लिये दाएँ और बाएँ सींगों का दिया गया दृष्टान्त 'आकाशकमल सुरभि है' इसके समान आश्रयासिद्ध है, इसलिये यह दृष्टान्त साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३७४-३७५॥

छठे दृष्टान्त में दोषदर्शन

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः ।
क्रमवर्तित्वादुभयोः स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥ ३७६ ॥
परपक्षवधस्तावत् क्रमवर्तित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः ।
असमर्थसाधनत्वात् स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥ ३७७ ॥
तत्साध्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु ।
स्यादिह पृथिवीत्वतया नित्यमनित्यं ह्यपक्वपक्वतया ॥ ३७८ ॥

अर्थ - सत् और परिणाम के विषय में कच्ची और पक्की मिट्टी भी दृष्टान्त नहीं हो सकती है क्योंकि कच्ची और पक्की मिट्टी क्रम से होती है, इसलिए यह दृष्टान्त उभय पक्ष का घातक है ॥ ३७६ ॥ शंकाकार ने इस दृष्टान्त द्वारा जो प्रतिज्ञा की है वह स्वभावतः क्रमवर्तित्व की समर्थक है, इसलिए तो इससे पर पक्ष का घात हो जाता है और यह असमर्थ साधन है, इसलिए यह स्वयं स्वपक्ष का भी बाधक है ॥ ३७७ ॥ क्योंकि शंकाकार के मन में जो भी वस्तु साध्य होगी वह स्वभावतः या तो अनित्य वस्तु साध्य होगी या नित्य वस्तु साध्य होगी। किन्तु प्रकृत में वस्तु स्वभाव से पृथिवी सामान्य की अपेक्षा नित्य मानी गई है और अपक्व धर्म की अपेक्षा अनित्य मानी गई है ॥ ३७८ ॥

विशेषार्थ - शंकाकार की प्रतिज्ञा यह है कि सत् और परिणाम स्वतन्त्र दो हैं और सिद्धान्त पक्ष यह है कि सत् और परिणाम दीप और प्रकाश के समान तादात्म्य को प्राप्त हैं। अब यदि सत् और परिणाम को कच्ची और पक्की मिट्टी के समान बतलाया जाता है तो यह दृष्टान्त दोनों पक्षों का घातक हो जाता है। कच्ची और पक्की मिट्टी क्रम से होनेवाली एक मिट्टी द्रव्य की दो अवस्थाएँ हैं किन्तु सत् और परिणाम ऐसे नहीं हैं इसलिए तो यह दृष्टान्त पर पक्ष अर्थात् सिद्धान्त पक्ष का घातक हो जाता है और इससे शंकाकार की प्रतिज्ञा की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि शंकाकार सत् और परिणाम को स्वतन्त्र दो सिद्ध करना चाहता है पर इस दृष्टान्त से वे स्वतन्त्र दो सिद्ध न होकर एक वस्तु की क्रम से होनेवाली दो अवस्थाएँ सिद्ध होती हैं, इसलिए शंकाकार के द्वारा उपस्थित किये गये पक्ष का बाधक हो जाता है। शंकाकार का साध्य या तो अनित्य वस्तु हो सकती है या नित्य, पर वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर अनेक दोष आते हैं, इसलिए पृथिवी सामान्य की अपेक्षा जैसे पृथिवी नित्य सिद्ध होती है और अपक्व, पक्व धर्म की अपेक्षा जैसे वह अनित्य सिद्ध होती है उसी प्रकार प्रकृत में जान लेना चाहिये ॥ ३७६-३७८ ॥

सातवें दृष्टान्त में दोषदर्शन

अपि च पत्नीयुग्मं स्यादिति हास्यास्पदोपमा दृष्टिः ।
इह यदसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वात् ॥ ३७९ ॥
माता मे वन्ध्या स्यादित्यादिवदपि विरुद्धवाक्यत्वात् ।
कृतकत्वादिति हेतोः क्षणिकैकान्तात्कृतं विचारतया ॥ ३८० ॥

अर्थ - सत् और परिणाम के विषय में सपत्नीयुग्म यह दृष्टान्त भी हास्यास्पद के समान है, क्योंकि प्रकृत में इस दृष्टान्त के मानने पर असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीनों दोष आते हैं ॥ ३७९ ॥ 'मेरी माता बाँझ है' इत्यादि के समान तो इसमें विरुद्ध वाक्यता है। तथा कृतकत्व हेतु के बल से अनैकान्तिक और क्षणिकैकान्त के बल से असिद्ध दोष आता है इसलिये इसका विचार करना व्यर्थ ॥ ३८० ॥

विशेषार्थ - यहाँ सपत्नीयुग्म के दृष्टान्त को आधार बनाकर तीन दोष दिये गये हैं - असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। क्षणिकैकान्त हेतु के बल से तो असिद्ध दोष दिया गया है। कृतकत्व हेतु के बल से अनैकान्तिक दोष दिया गया है और मेरी माता बांझ है इत्यादि वचनों के समान विरुद्ध वचन बतला कर विरुद्ध दोष दिया गया है।

सब पदार्थ अनित्य हैं, सर्वथा क्षणिक होने से, सपत्नी युग्म के समान। इस अनुमान में जैसे असिद्ध दोष आता है उसी प्राकर सत् और परिणाम को सपत्नी युग्म के समान सिद्ध करना असिद्ध है।

घट और पट सर्वथा भिन्न हैं, कार्य होने से, सपत्नी युग्म के समान। इस अनुमान में अनैकान्तिक दोष आता है, क्योंकि कृतकत्व हेतु जैसे घट और पट के भिन्नत्व का सूचक है उसी प्रकार वह तन्तु और पट के अभिन्नत्व का भी

समर्थक है। इस प्रकार कृतकत्व इस हेतु के बल से प्रकृत में जैसे अनैकान्तिक दोष आता है उसी प्रकार प्रकृत हेतु के बल से सत् और परिणाम को सपत्नी युग्म के समान सिद्ध करना अनैकान्तिक है।

तीसरा विरुद्ध दोष हैं। सो इसकी सिद्धि में कोई हेतु नहीं दिया गया है किन्तु जैसे यह कहना कि 'मेरी माता बांझ है' विरुद्ध वचन है उसी प्रकार सत् और परिणाम को सपत्नी युग्म के समान सिद्ध करना भी विरुद्ध वचन है यह कह कर उक्त दोष का समर्थन किया गया है। तात्पर्य यह है सत् और परिणाम ये सपत्नी युग्म के समान न तो काल क्रम से ही उत्पन्न होते हैं न स्वतन्त्र हैं और न वैपरीत्य भाव से ही रहते हैं अतः इनके समर्थन में सपत्नी युग्म का दृष्टान्त देना विरुद्ध वचन है।

इस प्रकार सपत्नी युग्म के दृष्टान्त में असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीनों दोष आते हैं इसलिये इसका विचार करना ही व्यर्थ है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३७९-३८०॥

आठवें दृष्टान्त में दोष दर्शन

तद्वज्ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः ।
धर्मिणि[1] चासति तत्त्वे तथाश्रयासिद्धदोषत्वात् ॥ ३८१ ॥
अपि कोऽपि परायत्तः सोऽपि परः सर्वथा परायत्तात् ।
सोऽपि परायत्तः स्यादित्यनवस्थाप्रसङ्गदोषश्च ॥ ३८२ ॥

अर्थ - जिस प्रकार पिछले दृष्टान्त अनेक दोषों से दूषित बतला आये हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम के विषय में बड़े और छोटे भाई को दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत करना भी विरुद्ध है। दूसरे इससे धर्मी का अभाव सिद्ध होता है इसलिये आश्रयासिद्ध दोष आता है ॥ ३८१ ॥ तीसरे इसके मानने से अनवस्था दोष भी आता है, क्योंकि इनमें से जो कोई पराधीन होगा यह पर भी पराधीन ही होगा और इस प्रकार उत्तरोत्तर पराधीनता के प्राप्त होने से अनवस्था दोष आता है ॥ ३८२ ॥

विशेषार्थ - बड़े और छोटे भाई क्रम से होते हैं किन्तु सत् और परिणाम इस प्रकार क्रम से नहीं होते। वादी और प्रतिवादी दोनों को उनका युगपत् सद्भाव इष्ट है, इसलिये तो यह दृष्टान्त विरुद्ध है। दूसरे सत् और परिणाम को यदि बड़े और छोटे भाई के समान माना जाता है तो जिस प्रकार बड़े और छोटे भाई ये माता-पिता के आश्रय से उत्पन्न होते हैं इस प्रकार इनका कोई स्वतंत्र आश्रय प्राप्त न होने से आश्रयासिद्ध दोष आता है। तीसरे इस दृष्टान्त के आधार से अनवस्था दोष भी आता है, क्योंकि जिस प्रकार बड़े और छोटे भाई की उत्पत्ति उनके माता-पिता के आधीन है और माता-पिता की उत्पत्ति उनके माता-पिता के आधीन है। इस प्रकार सत् और परिणाम के मानने पर अनवस्था दोष आता है। अब यदि इन दोषों से बचना है तो सत् और परिणाम को बड़े और छोटे भाई के समान मानना उचित नहीं है यह उक्त कथन का सार है ॥ ३८१-३८२॥

सुन्दोपसुन्द भी दृष्टान्ताभास है

सु[2]न्दोपसुन्दमल्लद्वैतं दृष्टान्ततः प्रतिज्ञातम् ।
तदसदसत्त्वापत्तेरितरेतरनियतदोषत्वात् ॥ ३८३ ॥
सत्युपसुन्दे सुन्दो भवति च सुन्दे किलोपसुन्दोऽपि ।
एकस्यापि न सिद्धिः क्रियाफलं वा तदात्ममुखदोषात् ॥ ३८४ ॥

अर्थ - तथा जहाँ जो सुन्द और उपसुन्द इन दो मल्लों का दृष्टान्त दिया गया है सो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इससे इतरेतर दोष आता है जिससे सत् और परिणाम का अभाव प्राप्त होता है ॥ ३८३ ॥ उपसुन्द के होने पर सुन्द की सिद्धि होती है और सुन्द के होने पर उपसुन्द की सिद्धि होती है। इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष के आने से किसी एक की सिद्धि नहीं होती और न कार्य ही बनता है ॥ ३८४॥

---

(१) ख पुस्तके 'सति चाधर्मिणि' इति पाठः ।
(२) प्रतिषु इमौ श्लोकौ व्युत्क्रमेण वर्तेते क. ख. पुस्तकयोः इमौ ४०७, ४०८ क्रमांकभ्यां निबद्धेते।

विशेषार्थ - सुन्द और उपसुन्द के विषय में ऐसी कथा आई है कि सुन्द और उपसुन्द ये समान शक्तिवाले दो मल्ल थे। इन्होंने तपश्चर्या करके शंकर को प्रसन्न कर लिया और फलस्वरूप पार्वती की मागनी की। शंकर ने पार्वती दे दी। किन्तु पार्वती के लिये दोनों में विवाद उठ खड़ा हुआ और उनके विवाद को मेटने के लिये एक मध्यस्थ की आवश्यकता पड़ी। यह देख शंकर ब्राह्मण का रूप धरकर उनके पास पहुँचे और उनके द्वारा प्रार्थना करने पर मध्यस्थ होना स्वीकार कर लिया। दोनों पक्ष की बातें सुनकर यह न्याय दिया कि तुम दोनों क्षत्रिय हो, अतः युद्ध द्वारा इस विवाद को मिटाना चाहिये। अन्त में उन दोनों में युद्ध हुआ और वे युद्ध करते हुए एक साथ मर गये।

इस प्रकार यह इनका कथानक है। अब यदि सत् और परिणाम को सुन्द और उपसुन्द स्थानीय माना जाता है तो इतरेतराश्रय दोष आता है, अतः प्रकृत में यह दृष्टान्त उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है॥ ३८३-३८४॥

पूर्व-पश्चिम दिशा भी दृष्टान्ताभास है

इसके बाद पूर्व पक्ष ने पूर्व और पश्चिम दिशा का दृष्टान्त देकर सत् और परिणाम को उनके समान बतलाया गया है। किन्तु उत्तर पक्ष में इस पर विचार नहीं किया गया है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं एक तो यह कि सम्भव है इसके समाधान में जो श्लोक लिखे गये हों वे त्रुटित हो गये हों। दूसरा यह कि सरल समझ कर उत्तर न दिया गया हो। जो भी कारण हो, इतना स्पष्ट है कि यह दृष्टान्त भी प्रकृत में लागू नहीं है, क्योंकि दिशा व्यवहार जिस प्रकार उपचार से किया जाता है सत् और परिणाम वैसे उपचरित नहीं हैं, किन्तु वास्तविक हैं।

कारकद्वय भी दृष्टान्ताभास है

नार्थक्रियासमर्थो दृष्टान्तः कारकादिवद्धि यतः ।
सव्यभिचारित्वादिह सपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिश्च ॥ ३८५ ॥
वृक्षे शाखा हि यथा स्यादेकात्मनि तथैव नानात्वे ।
स्थाल्यां दधीति हेतोर्व्यभिचारी कारकः कथं न स्यात् ॥ ३८६ ॥
अपि सव्यभिचारित्वे यथाकथञ्चित्सपक्षदक्षश्चेत् ।
न यतः परपक्षरिपुर्यथा तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥ ३८७ ॥
साध्यं देशांशाद्वा सत्परिणामद्वयस्य सांशत्वम् ।
तत्स्वाभ्येकविलोपे कस्यांशा अंशमात्र एवांशः ॥ ३८८ ॥

अर्थ - सत् और परिणाम के विषय में कारक युग्म का दृष्टान्त भी कार्यकारी नहीं है, क्योंकि यह सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहता है इसलिये सव्यभिचारी है ॥ ३८५॥ जिस प्रकार अभेद पक्ष में 'वृक्ष में शाखा है' यह व्यवहार होता है उसी प्रकार भेद पक्ष में 'वटलोई में दही है' यह व्यवहार होता है। इस कारण से कारकयुग्म का दृष्टान्त व्यभिचारी क्यों नहीं होगा॥ ३८६॥ यदि कहा जाय कि कारक दृष्टान्त के सव्यभिचारी होने पर भी वह किसी प्रकार पक्ष का ही समर्थक है सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार वह पर पक्ष का शत्रु है उसी प्रकार वह स्वयं स्वपक्ष का भी शत्रु है ॥ ३८७॥ प्रकृत में शंकाकार द्वारा देशांश रूप से सत् और परिणाम ये दोनों सांश सिद्ध किये जा रहे हैं पर जब कि उनका कोई आधार ही नहीं तब फिर ये किसके अंश हो सकते हैं अर्थात् किसी के भी नहीं। वास्तव में ये अंशमात्र ही अंश हैं ॥ ३८८॥

विशेषार्थ - कारक युग्म का दृष्टान्त देकर शंकाकार ने यह सिद्ध करना चाहा है कि सत् और परिणाम में कोई एक आधार है और दूसरा आधेय है या इन दोनों का कोई तीसरा आधार है। पर यह दृष्टान्त भेद पक्ष और अभेदपक्ष दोनों में घटित होता है इसलिए सव्यभिचारी होने से प्रकृत में उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। कदाचित् शंकाकार इस दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि सत् और परिणाम ये अंश हैं और अंशी इनसे जुदा है पर विचार करने पर उसका यह दृष्टिकोण भी समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इनके सिवा वस्तु का कोई दूसरा रूप

शेष नहीं रहता, इसलिए सिद्धान्त रूप से यही कहा जा सकता है कि एतन्मात्र ही वस्तु है। इससे ये अंशात्मक भले ही सिद्ध हो जाय पर वस्तु का इनसे अलग स्वतंत्र अस्तित्व नहीं यह निर्विवाद है ॥ ३८५-३८८॥

बीजांकुर भी दृष्टान्ताभास है

नाप्युपयोगी क्वचिदपि बीजाङ्कुरवदिहेति दृष्टान्तः ।
स्वावसरे स्वावसरे पूर्वापरभावभावित्वात् ॥ ३८९ ॥
बीजावसरे नाङ्कुर इव बीजं नाङ्कुरक्षणे हि यथा ।
न तथा सत्परिणामद्वैतस्य तदेककालत्वात् ॥ ३९० ॥
सदभावे परिणामो भवति न सत्ताक आश्रयाभावात् ।
दीपाभावे हि यथा तत्क्षणमिव दृश्यते प्रकाशो न ॥ ३९१ ॥
परिणामाभावेऽपि च सदिति नालम्बते हि सत्तान्ताम् ।
स यथा प्रकाशनाशे प्रदीपनाशोऽप्यवश्यमध्यक्षात् ॥ ३९२ ॥
अपि च क्षणभेदः किल भवतु यदीहेष्टसिद्धिरनायासात् ।
सापि न यतस्तथा सति सतो विनाशोऽसतश्च सर्गः स्यात् ॥ ३९३ ॥

अर्थ - सत् और परिणाम के विषय में बीज और अङ्कुर का दृष्टान्त भी उपयोगी नहीं है, क्योंकि बीज अपने समय में होता है और अङ्कुर अपने समय में होता है। ये दोनों पूर्वापर काल में होते हैं इसलिए इनका एक काल में सद्भाव मानना युक्त नहीं है ॥ ३८९ ॥ जिस प्रकार बीज के समय में अंकुर नहीं होता है और अंकुर के समय में बीज नहीं होता है उस प्रकार सत् और परिणाम की बात नहीं है, क्योंकि ये दोनों एक समय में पाये जाते हैं ॥ ३९० ॥ जिस प्रकार दीपक का अभाव होने पर उसी समय आश्रय के बिना प्रकाश दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार सत् के अभाव में आश्रय का अभाव हो जाने से परिणाम का भी सद्भाव नहीं हो सकता है ॥ ३९१ ॥ प्रत्यक्ष से हम देखते हैं कि जिस प्रकार प्रकाश का नाश होने पर प्रदीप का नाश अवश्य हो जाता है उसी प्रकार परिणाम का अभाव होने पर सत् का अस्तित्व ही नहीं रह सकता है ॥ ३९२ ॥ यदि कहा जाय कि काल भेद मान लेने पर बिना प्रयत्न के इष्ट सिद्धि हो जायेगी सो इस प्रकार से इष्ट की सिद्धि मानना ठीक नहीं है, क्योंकि सत् और परिणाम में काल भेद मानने पर सत् का विनाश और असत् का उत्पाद प्राप्त होता है ॥ ३९३ ॥

विशेषार्थ - बीज और अंकुर में जैसा समय भेद है वैसा समय भेद सत् और परिणाम में नहीं है अतः प्रकृत में यह दृष्टान्त भी उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का सार है।

कनकोपल भी दृष्टान्ताभास है

कनकोपलवदिहैषः क्षमते न परीक्षितः क्षणं स्थातुम् ।
गुणगुणिभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥ ३९४ ॥
हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव ।
तदनेकद्रव्यत्वान्न स्यात्साध्ये तदेकद्रव्यत्वात् ॥ ३९५ ॥

अर्थ - सत् और परिणाम के विषय में कनकोपल का दृष्टान्त भी परीक्षा करने पर क्षणमात्र नहीं ठहर सकता है, क्योंकि कनकोपल में गुण-गुणी भाव नहीं, इसलिये यह स्वयं असिद्ध दोष से युक्त है ॥ ३९४ ॥ कनक और पाषाण इन दोनों में कौन हेय है और कौन उपादेय है यह विचार होता है, क्योंकि ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं। किन्तु यह विचार साध्य में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सत् और परिणाम रूप साध्य एक द्रव्य है ॥ ३९५ ॥

विशेषार्थ - प्रकृत में सत्परिणामात्मक वस्तु साध्य है, अतः इसकी सिद्धि में मिले हुए कनक पाषाण रूप दो द्रव्यों को दृष्टान्त रूप से उपस्थित करना युक्त नहीं है यह उक्त कथन का सार है। कनक और पाषाण ये दो द्रव्य हैं फिर भला यह दृष्टान्त सत्परिणामात्मक वस्तु का समर्थक कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। इसी से इस दृष्टान्त को असिद्ध कहा है ॥ ३९४-३९५ ॥

वाच्य-वाचक भी दृष्टान्ताभास है

वागर्थद्वयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम् ।
घट इति वर्णद्वैतात् कम्बुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥ ३९६ ॥
यदि वा निःसारतया वागेवार्थः समस्यते सिद्ध्यै ।
न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यनित्यत्वात् ॥ ३९७ ॥

अर्थ – सत् और परिणाम के विषय में जो वचन और अर्थ इन दोनों का दृष्टान्त दिया गया है सो यह भी अपने साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि 'घट' इन दो वर्णों से कम्बुग्रीवा आदि वाला पदार्थ भिन्न है ॥ ३९६॥ यदि उक्त प्रकार से यह दृष्टान्त निःसार होने से इष्ट की सिद्धि के लिये वचन और अर्थ इन दोनों में 'वाग् एवं अर्थः' ऐसा समास किया जाता है सो ऐसा समास करने पर भी इष्ट की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि ऐसा मानने पर शब्द के समान अर्थ भी अनित्य प्राप्त होता है ॥ ३९७॥

विशेषार्थ – यहाँ उक्त दृष्टान्त के विषय में दो प्रकार से विचार किया गया है भेद पक्ष और अभेद पक्ष। किन्तु इन दोनों दृष्टियों से प्रकृत दृष्टान्त उपयोगी नहीं है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। विशेष खुलासा मूल से ही हो जाता है ॥ ३९६-३९७॥

भेरी-दण्ड भी दृष्टान्ताभास है

स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिहेति संदृष्टिः ।
पक्षाधर्मत्वेऽपि च व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात् ॥ ३९८ ॥
युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः ।
एकस्यापि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोऽपि सर्वधर्मः स्यात् ॥ ३९९ ॥

अर्थ – प्रकृत में भेरीदण्ड का दृष्टान्त भी अविचारितरम्य है, क्योंकि पक्ष धर्म का अभाव होने से यह व्याप्यासिद्ध दोष से दूषित है ॥ ३९८॥ सत् और परिणाम ये दोनों युतसिद्ध हैं यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाता है तो एक की भी सिद्धि नहीं होती है। अथवा ऐसा मानने पर सब पदार्थ सब धर्मवाले सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३९९॥

विशेषार्थ – भेरी और दण्ड जिस प्रकार संयुक्त होकर कार्यकारी हैं ऐसे सत् और परिणाम नहीं हैं क्योंकि उनका परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध है, इसलिये भेरी-दण्ड के समान सत्परिणाम की सिद्धि करने पर व्याप्यासिद्ध दोष आता है। कदाचित् भेरी-दण्ड के समान सत् परिणाम को भी युतसिद्ध माना जाता है तो किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकती। अथवा इस तरह सभी पदार्थ युतसिद्ध हो जायेंगे जिससे कौन किसका धर्म है और कौन किसका धर्मी है यह भेद नहीं किया जा सकेगा। सब पदार्थ सब धर्मवाले सिद्ध हो जायेंगे। इसलिए प्रकृत में भेरी-दण्ड का दृष्टान्त उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का सार है ॥ ३९८-३९९॥

अपूर्ण न्याय भी दृष्टान्ताभास है

इह पदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः ।
अविशेषत्वापत्तौ द्वैताभावस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ४०० ॥
अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तथा तदितरेण ।
भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥ ४०१ ॥

अर्थ – सत् और परिणाम के विषय में पदपूर्ण न्याय का दृष्टान्त भी परीक्षा के योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें दोनों में अविशेषता की आपत्ति प्राप्त होने से द्वैत का अभाव दुर्निवार हो जाता है ॥ ४००॥ दूसरे ऐसा मानने पर जिस प्रकार किसी एक के बिना इष्ट की सिद्धि हो जाती है उसी प्रकार उससे भिन्न दूसरे के विना भी इष्ट की सिद्धि हो जानी चाहिये और ऐसा मानने पर कार्य कारणभाव का अभाव हो जाता है ॥ ४०१॥

विशेषार्थ – पदपूर्ण न्याय में किसी एक पद के देने से काम चल जाता है। दोनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि ऐसा सत् और परिणाम को माना जाता है तो दो में से कोई एक ही शेष रहेगा, दोनों नहीं। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी

नहीं है, क्योंकि सत् और परिणाम इनमें से किसी एक का भी त्याग नहीं किये जा सकता है क्योंकि दोनों ही तादात्म्य सम्बन्ध वाले होकर सफल है, अतः प्रकृत में पदपूर्ण न्याय का दृष्टान्त भी उपकारी नहीं होते यह उक्त कथन का सार है ॥ ४००-४०१॥

मित्रद्वैत भी दृष्टान्ताभास है

मित्रद्वैतवदित्यपि दृष्टान्तः स्वप्नसन्निभो हि यतः ।
स्याद्गौरवप्रसङ्गाद्धेतोरपि हेतुहेतुरनवस्था ॥ ४०२ ॥
तदुदाहरणं कश्चित् स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया ।
अपरः सहकारितया तमनु तदन्योऽपि दुर्निवारः स्यात् ॥ ४०३ ॥
कार्यं प्रति नियतत्वाद्धेतुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०४ ॥

अर्थ – सत् और परिणाम मित्रद्वैत के समान हैं यह दृष्टान्त भी स्वप्न के समान हैं, क्योंकि एक तो इससे गौरव दोष आता है और दूसरे हेतु का हेतु और उस हेतु का हेतु इस प्रकार उत्तरोत्तर हेतु कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है ॥ ४०२॥ इसका खुलासा इस प्रकार है कि कोई उपादान कारण बनकर कार्य को उत्पन्न करता है और दूसरा सहकारी बनकर उसे उत्पन्न करता है। फिर इसके बाद इससे भिन्न कारण का मानना भी दुर्वार हो जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कारणों की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है ॥ ४०३॥ यदि कहा जाय कि प्रत्येक कार्य के एक उपादान और दूसरा सहकारी ऐसे दो हेतु निश्चित हैं उनसे अतिरिक्त अन्य हेतुओं की आवश्यकता नहीं पड़ती सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में इस प्रकार के नियम का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है ॥ ४०४॥

विशेषार्थ – यहाँ मित्रद्वैत से एक उपादान और दूसरा सहकारी कारण लिये गये हैं और फिर यह पूछा गया है कि सत् और परिणाम इस प्रकार हैं। इस प्रश्न का जो समाधान किय गया है उसका भाव यह है कि वस्तु में कार्यकारित्व की योग्यता अन्य वस्तु के निमित्त से नहीं आती है। वह तो उसका स्वभाव है। तिस पर भी यदि किसी वस्तु में कार्यकारित्व की योग्यता अन्य वस्तु की सहकारिता से मानी जाती है तो उस अन्य वस्तु में ऐसी योग्यता उससे भिन्न अन्य वस्तु के निमित्त से माननी पड़ेगी और इस प्रकार उत्तरोत्तर हेतु परम्परा की कल्पना करने पर अनवस्था दोष प्राप्त होगा। यदि अनवस्था दोष से बचने के लिए एक उपादान और एक सहकारी ऐसे दोनों ही कारण माने जाते हैं। इनसे अतिरिक्त अन्य कारण नहीं माने जाते हैं तो ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि जिस प्रमाण के आधार से ऐसा नियम किया जायेगा वह प्रमाण नही पाया जाता है, अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि सत् और परिणाम मित्रद्वैत के समान एक उपादान और दूसरा सहकारी रूप नहीं है ॥ ४०२-४०४॥

शत्रुद्वैत भी दृष्टान्ताभास है

एवं मिथो विपक्षद्वैतवदित्यपि न साधुदृष्टान्तः ।
अनवस्थादोषत्वाद्यथारिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥ ४०५ ॥
कार्यं प्रति नियतत्वाच्छत्रुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०६ ॥

अर्थ – इसी प्रकार सत् और परिणाम ये दोनों परस्पर में शत्रुद्वैत के समान हैं यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आता है। जैसे कि विवक्षित किसी एक का दूसरा शत्रु है; दूसरे का तीसरा शत्रु है। इस प्रकार उत्तरोत्तर शत्रुओं की परंपरा चालू रहने से अनवस्था दोष आता है ॥ ४०५॥ यदि कहा जाय कि प्रत्येक कार्य के दो शत्रु नियत हैं दो से अधिक शत्रु नहीं होते सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में इस प्रकार के नियम का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है ॥ ४०६॥

विशेषार्थ – वस्तु की जिस काल में जैसी पर्याय रूप प्रकट होने क्री योग्यता होती है तदनुसार कार्य होता है यह सामान्य नियम है। इस नियम के रहते हुए सत् और परिणाम को शत्रुद्वैत के समान मानना उचित नहीं है। पूर्व पर्याय का नाश स्वभाव से होता है और उत्तर पर्याय का उत्पाद भी स्वभाव से होता है। पर्यायों का यही स्वभाव है। वे क्रम

से द्रव्य में योग्यता रूप से अवस्थित हैं और एक के बाद एक इस क्रम से उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं। यदि कोई समझे कि पूर्व पर्याय का नाश कर नवीन पर्याय का उत्पाद होता है सो यह बात नहीं है। किन्तु प्रत्येक पर्याय एक क्षणवर्ती होती है यह उनका स्वभाव है। पर्याय पर्याय में से नहीं आती किन्तु द्रव्य में से आती है। द्रव्य का प्रति समय किसी एक शकल में रहना इसी का नाम पर्याय है। इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि सत् और परिणाम शत्रुद्वैत के समान नहीं हैं। इन्हें शत्रुद्वैत के समान मानने पर जो दोष आते हैं वे मूल में दिये ही हैं ॥ ४०५-४०६॥

रज्जुयुग्म भी दृष्टान्ताभास है

वामेतरकरर्त्तितरज्जूयुग्मं न चेह दृष्टान्तः ।
बाधितविषयत्वाद्वा दोषात् कालात्ययापदिष्टत्वात् ॥ ४०७ ॥
तद्वाक्यमुपादानकारणसदृशं हि कार्यमेकत्वात् ।
अस्त्यनतिगोरसत्वं दधिदुग्धावस्थयोर्यथाध्यक्षात् ॥ ४०८ ॥

अर्थ - प्रकृत में दाएँ और बाएँ हाथ में रहनेवाली दो रस्सियों का दृष्टान्त भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह बाधित विषय है इसलिये कालात्ययापदिष्ट दोष आता है ॥ ४०७॥ प्रकृत में खुलासा इस प्रकार है कि कथंचित् अभेद होने से प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण के समान होता है। उदारणार्थ दही और दूध इन दोनों अवस्थाओं में गोरसपने का उल्लंघन नहीं पाया जाता यह बात प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है ॥ ४०८॥

विशेषार्थ - यहाँ सत् और परिणाम की सिद्धि में दाएँ और बाएँ हाथ में रहनेवाली दो रस्सियों को दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया गया है। दाएँ और बाएँ हाथ में रहनेवाली दो रस्सियाँ जिस प्रकार दही का मन्थन कर छाछ तैयार करती हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं यह शंकाकार के पूछने का आशय है। इस द्वारा शंकाकार ने सत् और परिणाम को निमित्त कारण रूप से ध्वनित किया है। किन्तु शंकाकार का यह कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि प्रत्येक कार्य अपने उपादान के अनुरूप होता है। क्योंकि कार्य कारण से कथंचित् अभिन्न होता है। उदाहरणार्थ - दही और दूध ये दोनों कार्य हैं जो गोरसमय हैं। इन्हें गोरस से जुदा नहीं समझा जा सकता है। इसलिये सत् और परिणाम को रज्जु युग्म के दृष्टान्त द्वारा कार्य से भिन्न सिद्ध करना प्रत्यक्ष से बाधित है और ऐसा नियम है कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बांधित होता है वह कालात्ययापदिष्ट दोष विशिष्ट माना जाता है। यही सबब है कि दाएँ और बाएँ हाथ में रहनेवाली दो रस्सियों को सत् और परिणाम की सिद्धि में उपयोगी नहीं माना गया है ॥ ४०७-४०८॥

सत् और परिणाम को सर्वथा नित्य मानने में दोष

अथ चेदनादिसिद्धं कृतकत्वापह्नवात्तदेवेह ।
तदपि न तद्द्वैतं किल त्यक्तदोषास्पदं यदत्रैतत् ॥ ४०९ ॥

अर्थ - अब यदि इन दोषों से बचने के लिए यह माना जाय कि सत् और परिणाम अनादिसिद्ध हैं क्योंकि वे किसी के कार्य नहीं हैं। उनमें 'यह वही है' ऐसी प्रतीति होती है सो ऐसा मानने पर भी सत् और परिणाम ये दोनों सब दोषों से रहित सिद्ध नहीं होते ॥ ४०९॥

विशेषार्थ - सत् और परिणाम क्या हैं इस विषय में पहले शंकाकार ने अनेक दृष्टान्त दिये हैं और ग्रन्थकार ने अनेक युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया है। फिर भी सर्वथा नित्यवादी इस कथन से सन्तुष्ट न होकर यह जिज्ञासा प्रकट करता है कि सत् और परिणाम का कोई कार्य नहीं दिखाई देने से उन्हें अनादिनिधन क्यों न माना जाय और ऐसा मानना असमीचीन भी नहीं है, क्योंकि उनमें 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति भी होती है। इस पर ग्रन्थकार का जो कुछ कहना है उसका भाव यह है कि सत् और परिणाम को सर्वथा नित्य मानने में भी अनेक दोष आते हैं इसलिये यह मान्यता भी समीचीन नहीं हैं। सर्वथा नित्यपक्ष के मानने में जो दोष आते हैं उनका निर्देश आगे किया ही है इसलिये यहाँ नहीं करते हैं ॥ ४०९॥

सिद्धान्त पक्ष का समर्थन

दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताः स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात् ।
लक्ष्योन्मुखेषव इव दृष्टान्तास्त्वथ यथा प्रशस्यन्ते ॥ ४१० ॥

अर्थ - इस प्रकार पूर्व में जितने भी दृष्टान्त दिये गये हैं वे अपने साध्य की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं हैं अतः दृष्टान्ताभास हैं। किन्तु जो दृष्टान्त लक्ष्य के अनुकूल बाणों के समान अपने साध्य की सिद्धि कराने में समर्थ हैं वे प्रशंसनीय माने गये हैं ॥ ४१०॥

पहला साधक दृष्टान्त

सत्परिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्त्वाद्वै ।
सत्परिणमद्वैतं स्यादपि दीपप्रकाशयोरेव ॥ ४११ ॥

अर्थ - (१) सत् परिणाम के भिन्न प्रदेश नहीं है किन्तु अभिन्न हैं इसलिये उन दोनों में द्वैतभाव नहीं है किन्तु दोनों एक ही अद्वैत है। (२) तथा कथंचित् सत् और परिणाम में द्वैत भी है। सत् स्थायी है परिणाम क्षणिक है। इसलिये भिन्नता है। (३) सत् और परिणाम में भिन्नता-अभिन्नता ऐसी ही है जैसी कि दीप और प्रकाश में होती है। दीप और प्रकाश के प्रदेश अभिन्न हैं इसलिये तो अभिन्नता है। दीप स्थायी है और प्रकाश समय-समय का नया-नया है इसलिये भिन्नता भी है।

दूसरा साधक दृष्टांत

अथवा जलकल्लोलवदद्वैतं द्वैतमपि च तद्द्वैतम् ।
उन्मज्जच्च निमज्जन्नाप्युन्मज्जन्निमज्जदेवेति ॥ ४१२ ॥

अर्थ - अथवा सत् परिणाम में जल और उसकी तरंगों के समान कथंचित् भिन्नता और अभिन्नता है। जल में पहले एक तरंग उछलती है शान्त होती है, फिर दूसरी उछलती है शान्त होती है, फिर तीसरी उछलती है शान्त होती है, जल सदा एक रूप बना रहता है। इन तरंगों के प्रवाह से प्रतीत होती है कि समय-समय की तरंगें भिन्न हैं और चिरस्थायी जल भिन्न है। इस प्रकार तो जल कल्लोलों में भिन्नता है (२) दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय तो न कोई तरंग उछलती है और न कोई शान्त होती है केवल जल ही जल है क्योंकि जल और तरंगों के देश भिन्न नहीं है एक ही है। इस अपेक्षा जल और कल्लोलों में अभिन्नता है। (३) इसी प्रकार सत् में जो एक समय का परिणाम है वह दूसरे समय में नहीं है। जो दूसरे समय में है वह तीसरे समय में नहीं है। सत् ज्यों का त्यों बना रहता है। इस प्रकार तो सत् और परिणाम में भिन्नता प्रतीत होती है किन्तु जब प्रदेशों पर दृष्टि देते हैं तो सत् और परिणाम के प्रदेश अभिन्न हैं इसलिये सत् परिणाम एक भी है। विवक्षाधीन भिन्नता और अभिन्नता की सिद्धि है।

तीसरा साधक दृष्टान्त

घटमृत्तिकयोरिव वा द्वैतं तद्द्वैतवदद्वैतम् ।
नित्यं मृण्मात्रतया यदनित्यं घटत्वमात्रतया ॥ ४१३ ॥

अर्थ - अथवा सत् परिणाम में घट और मिट्टी के समान द्वैतभाव और अद्वैतभाव है। मृत्तिका रूप से तो उस पदार्थ में नित्यता आती है और घटरूप पर्याय की अपेक्षा से उसी में अनित्यता आती है। उसी प्रकार द्रव्य दृष्टि से सत् कहा जाता है और पर्याय दृष्टि से परिणाम कहा जाता है। सत् और परिणाम की अपेक्षा से तो भिन्न-भिन्न हैं किन्तु प्रदेश एक होने से अभिन्न हैं।

उपरोक्त तीन दृष्टान्तों का सार

एक जीव मनुष्य है। अब बतलाइये कि वह जीव उस मनुष्य दशा से भिन्न है या अभिन्न। देखिये जीवत्व स्वभाव तो उसमें त्रिकाल स्थायी है। अनादि से है अनन्त काल तक रहेगा। उसमें कभी हानि वृद्धि नहीं होती और मनुष्य एक पर्याय है, दशा है, क्षणिक है, नाश होने वाली वस्तु है। कहाँ त्रिकाली चीज कहाँ एक समय की चीज। इस अपेक्षा तो सत् और परिणाम में भिन्नता है। द्वैतभाव है। अब दूसरी दृष्टि से देखिये ! मनुष्य पर्याय रूप (शरीर नहीं आत्मा) उस जीव का ही तो परिणमन है। परिणमन स्वभाव के कारण ही तो वह स्वयं मनुष्य रूप परिणत हुआ है। जो जीव

स्वभाव के प्रदेश हैं वही तो मनुष्य पर्याय के प्रदेश हैं। ऐसा नहीं है कि उसमें से जीवत्व जीवपना आप ले लें और मनुष्यपना हमें दे दें। इस अपेक्षा अभिन्नता है। अद्वैतभाव है। वह सत् इस प्रकार से अभिन्न है कि उसे स्वभाव रूप देखो तो सारा जीवत्व रूप दीखता है और उसी को मनुष्यत्व पर्याय रूप देखो तो सारा मनुष्य दीखता है। जिन दृष्टांताभासों को हमने छोड़ दिया है उनमें सत् परिणाम के भिन्न-भिन्न प्रदेश थे, अतः वे दृष्टान्त वस्तु अनुकूल नहीं थे। उनका भी सार तत्त्व इसी में आ गया है।

श्लोक ३३६ का उत्तर ४१४ से ४१७ तक

सत् नित्य-अनित्य विवक्षा

अयमर्थः सन्नित्यं तदभिज्ञप्तेर्यथा तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमादिति प्रतीतेश्च सन्न नित्यं स्यात ॥ ४१४ ॥

अर्थ - आशय यह है कि "यह वही है" ऐसा प्रत्यभिज्ञान होने से प्रतीत होता है कि सत् नित्य है और "यह वह नहीं है" ऐसी प्रतीति होती है, इसलिये ज्ञात होता है कि सत् नित्य नहीं है।

भावार्थ - क्योंकि वस्तु का स्वतः सिद्ध स्वभाव सदा एक रूप रहता है इस अपेक्षा तो वस्तु नित्य है। 'यह वही है' इस प्रत्यभिज्ञान से इसकी सिद्धि होती है, और परिणमन स्वभाव के कारण वह प्रत्येक समय में बदल जाती है अतः पर्याय पर लक्ष जाने से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि 'यह वह नहीं है' इससे सत् अनित्य भी है। जैसे एक जीव मनुष्य से मरकर देव हुआ। स्वभाव दृष्टि से 'यह वही जीव है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होने के कारण नित्य है। वह मनुष्य जीव था यह देव जीव है। यह वह नहीं है ऐसी प्रतीति होने के कारण सत् अनित्य है।

सत् उभय अनुभय विवक्षा

अप्युभयं युक्तिवशादेकं सच्चैककालमेकोक्तेः ।
अप्यनुभयं सदेतन्नयप्रमाणादिवादशून्यत्वात् ॥ ४१५ ॥

अर्थ - युक्तिवश (विवक्षावश) सत् उभय (दो रूप) भी है और एक की विवक्षा करने से एक काल में एक ही कहा जाता है इसलिये वह एक है अर्थात् विवक्षावश सत् कथंचित् एक रूप है और कथंचित् उभय रूप है तथा वही सत् अनुभय रूप भी प्रतीत होने लगता है जबकि नय प्रमाणादि वाद से रहित वह दृष्टिगत किया जाता है।

भावार्थ - जैसा अभी ऊपर कह आये हैं कि जब स्वभाव दृष्टि से देखते हैं तो नित्य है और जब परिणाम दृष्टि से देखते हैं तो अनित्य है। अब कहते हैं कि यह तो एक समय में किसी एक रूप देखने की दृष्टि है। पर एक दृष्टि ऐसी भी है कि दोनों रूप एक समय में एक साथ देखा जाता है जैसे जो यह जीव है वही तो देव है। इस दृष्टि को प्रमाण दृष्टि कहते हैं। इस दृष्टि से सत् उभयरूप है। ऐसा ग्रन्थकार का प्रथम पंक्ति का आशय है। (२) अब कहते हैं कि इस एक नित्य दृष्टि, एक अनित्य दृष्टि, एक उभय दृष्टि के अतिरिक्त एक दृष्टि और है जिसको अनुभय दृष्टि कहते हैं। क्योंकि सत् में स्वभाव और परिणाम का प्रदेश भेद तो है ही नहीं। अतः उसमें स्वभाव और परिणाम का भेद न करके अखण्ड रूप से देखना अनुभय दृष्टि है। अर्थात् दोनों भेद रूप नहीं किन्तु एक अखण्ड निर्भेद है। यह ध्यान रहे कि इस दृष्टि में विशेषण विशेष्य रूप से आप कुछ कह न सकेंगे। इस दृष्टि का विषय केवल अनुभव गम्य है। अवक्तव्य है।

सत् व्यस्त समस्त विवक्षा

व्यस्तं सन्नययोगान्नित्यं नित्यत्वमात्रतस्तस्य ।
अपि च समस्तं सदिति प्रमाणामापेक्षतो विवक्षायाः ॥ ४१६ ॥

अर्थ - स्वभाव और परिणाम की जुदी-जुदी विवक्षा करने से सत् व्यस्त अर्थात् पृथक्-पृथक् जुदा-जुदा है जैसे नित्यत्वमात्र (स्वभावमात्र) की विवक्षा करने पर वह नित्य ही है (और उसी प्रकार परिणाम की विवक्षा करने पर वह अनित्य ही है) किन्तु प्रमाण की विवक्षा करने से वही सत् समस्त अर्थात् दोनों रूप, उभय रूप, इकट्ठा, नित्यानित्य रूप है।

भावार्थ - स्वभाव त्रिकाल रहने वाली चीज है और परिणाम एक समय मात्र ही क्षणिक वस्तु है। इस अपेक्षा से सत् व्यस्त रूप है - जुदा-जुदा है। किन्तु जब हम प्रमाण की दृष्टि से देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जो स्वभाव

रूप है वही तो पर्याय रूप है। जो जीव है वही तो मनुष्य पर्याय रूप है। तो इसलिये इस दृष्टि में स्वभाव और परिणाम व्यस्त रूप न देखकर समस्त रूप-उभय रूप इकट्ठा ही सत् दीखता है।

सत् क्रमवर्ती-अक्रमवर्ती विवक्षा

न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथाऽनादितोपि परिणामि।
अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ॥ ४१७ ॥

अर्थ - क्योंकि सत् अनादि काल से परिणामी है (परिणमन स्वभाव वाला है) इसलिये परिणाम की दृष्टि से वह क्रमवर्ती (क्रमबद्ध परिणमन करने वाला है) यह भी विरुद्ध नहीं है और स्वभाव की दृष्टि से वह सदा एक रूप रहता है। अतः सत् अक्रमवर्ती है यह भी विरुद्ध नहीं है।

नोट - इस प्रकार विवक्षाओं के वश से सत् नित्य-अनित्य, उभय-अनुभय, व्यस्त-समस्त, क्रमवर्ती-अक्रमवर्ती आदि अनेक धर्म वाला होता है और वह भी परस्पर विरुद्ध धर्मों वाला। इस प्रकार वस्तु अनेकधर्मात्मक अर्थात् अनेकान्त रूप सिद्ध हुई। अब आगे इस पर शंकाकार आपत्ति उठाता है। यह शंका जान-बूझकर सत् को एक रूप अर्थात् एकान्त मानने वालों के खण्डन करने के लिये उठवाई गई है।

शंका ४१८ से ४२१ तक - चार इकट्ठे

ननु किमिह जगदशरणं विरुद्धधर्मद्वयाधिरोपत्वात्।
स्वयमपि संशयदोलान्दोलित इव चलितप्रतीतिः स्यात् ॥ ४१८ ॥

अर्थ - क्या एक द्रव्य में दो विरोधी धर्म रह सकते हैं ? यदि ऊपर के कथनानुसार रह सकते हैं तब तो इस जगत में कोई भी शरण नहीं रहेगा। सर्वत्र ही विरुद्ध धर्म उपस्थित रहेंगे। ऐसी विरुद्धता में कोई भी पदार्थ के समझने की इच्छा रखनेवाला जिज्ञासु कुछ निश्चित नहीं कर सकेगा किन्तु वह स्वयं संशयरूपी झूले में झूलने लगेगा जैसे -

शंका चालू

इह कश्चिज्जिज्ञासुर्नित्यं सदिति प्रतीयमानोऽपि।
सदनित्यमिति विपक्षे सति शल्ये स्यात्कथं हि निःशल्यः ॥ ४१९ ॥

अर्थ - कोई जिज्ञासु (सत् को समझने का इच्छुक) वह जिस समय सत् को नित्य समझेगा, उसी समय उसको नित्यता की विरोधिनी अनित्यता भी उसी में प्रतीत होगी। ऐसी अवस्था में वह न तो वस्तु में नित्यता ही स्थिर कर सकेगा और न अनित्यता ही स्थिर कर सकेगा किन्तु सदा सशल्य-संशयालु बना रहेगा।

शंका चालू

इच्छन्नपि सदनित्यं भवति न निश्चितमना जनः कश्चित्।
जीवदवस्थत्वादिह सन्नित्यं तद्विरोधिनोऽध्यक्षात् ॥ ४२० ॥

अर्थ - उसी प्रकार यदि वह यह समझने लगे कि वस्तु अनित्य ही होती है, तो भी वह निश्चित् विचारवाला निःसंशयी नहीं बन सकेगा, क्योंकि उसी समय अनित्य का विरोधी 'सत् नित्य है' ऐसी सजीव प्रतीति प्रत्यक्ष होने लगती है।

शंका चालू

तत एव दुरधिगम्यो न श्रेयान् श्रेयसे ह्यनेकान्तः।
अप्यात्ममुखदोषात् सव्यभिचारो यतो चिरादिति चेत् ॥ ४२१ ॥

अर्थ - इन बातों से जाना जाता है कि अनेकान्त (स्याद्वाद) बहुत ही कठिन है अर्थात् सब कोई इसका पार नहीं पा सकते हैं। इसलिये यह अच्छा नहीं है क्योंकि सहसा इससे कल्याण नहीं होता है। दूसरी बात यह भी है कि यह अनेकान्त स्वयं ही दोषी बन जाता है। क्योंकि जो कुछ भी यह कहता है उसी समय उसका व्यभिचार-निरोध खड़ा हो जाता है। इसलिये यह अनेकान्त ठीक नहीं है यदि ऐसा कहो तो -

नोट - यहाँ तक यह शंका सर्वथा एकान्तमतों का खण्डन करने के लिये उठाई गई है।

समाधान ४२२ से ४२६ तक

तन्न यतस्तदभावे बलवानस्तीह सर्वथैकान्तः ।
सोपि च सदनित्यं वा सन्नित्यं वा न साधनायालम् ॥ ४२२ ॥

अर्थ - शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि यदि अनेकान्त का अभाव मान लिया जाय तो उस समय एकान्त ही सर्वथा बलवान सिद्ध होगा। वह या तो सत् को सर्वथा नित्य ही कहेगा अथवा सर्वथा उसे अनित्य ही कहेगा परन्तु सर्वथा एकान्त रूप से पदार्थ में न तो नित्यता ही सिद्ध होती है और न अनित्यता ही सिद्ध होती है। इसलिये एकान्त पक्ष से कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। अब इसी बात को नित्य-अनित्य पक्षों द्वारा नीचे दिखाते हैं।

सर्वथा नित्य एकान्त का खण्डन ४२३ से ४२८ तक

सन्नित्यं सर्वस्मादिति पक्षे विक्रिया कुतो न्यायात् ।
तद्भावेपि न तत्त्वं क्रिया फलं कारकाणि यावदिति ॥ ४२३ ॥

अर्थ - सर्वथा सत् नित्य ही है। ऐसा पक्ष स्वीकार करने पर पदार्थ में विक्रिया किस न्याय से हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। यदि पदार्थ में विक्रिया न मानी जाय तो उसके अभाव में पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है, न क्रिया ही सिद्ध होती है, न उसका फल सिद्ध होता है और उसके कारक (कर्त्ता-कर्मादि) ही सिद्ध होते हैं। कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

परिणामः सदवस्था कर्मत्वाद्विक्रियेति निर्देशः ।
तदभावे सदभावे नासिद्धः सुप्रसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ४२४ ॥

अर्थ - क्योंकि सत् पदार्थ की अवस्थाओं का नाम ही परिणाम है और पदार्थ का कार्य होने से उसी को विक्रिया के नाम से कहते हैं। उस परिणाम का प्रतिक्षण होने वाली अवस्थाओं का अभाव मानने पर सत् का ही अभाव हो जाता है। यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु सुसिद्ध दृष्टान्त से सिद्ध है।

अथ तद्यथा पटस्य क्रिया प्रसिद्धेति तन्तुसंयोगः ।
भवति पटाभावः किल तद्भावे यथा तदनन्यात् ॥ ४२५ ॥

अर्थ - यह जगत् प्रसिद्ध है कि अनेक तन्तुओं का संयोग ही पट की क्रिया है। यदि वह तन्तु संयोग रूप पटक्रिया न मानी जाय तो पट ही कुछ नहीं ठहरता है क्योंकि तन्तु संयोग से अतिरिक्त पट कोई पदार्थ नहीं है।

भावार्थ - तन्तु संयोगरूप क्रिया के मानने पर ही पट की सत्ता और उससे शीतनिवारण आदि कार्य सिद्ध होते हैं। यदि तन्तु संयोग रूप क्रिया न मानी जाय तो भिन्न-भिन्न तन्तुओं से न तो पटात्मक कार्य ही सिद्ध होता है और न उस स्वतन्त्र तन्तुओं से शीतनिवारण आदि कार्य ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तन्तुसंयोग रूप क्रिया पट की अवश्य माननी पड़ती है।

अपि साधनं क्रिया स्यादपवर्गस्तत्फलं प्रमाणत्वात् ।
तत्कर्त्ता ना कारकमेतत् सर्वं न विक्रियाभावात् ॥ ४२६ ॥

अर्थ - यदि विक्रिया मानी जाती है तब तो मोक्ष प्राप्ति का जो साधन (उपाय) किया जाता है वह तो क्रिया पड़ती है और उसका फल मोक्ष भी प्रमाण सिद्ध है तथा उसका करने वाला-कर्त्ता आत्मा होता है। यदि पदार्थ में विक्रिया ही न मानी जाय तो इनमें से एक भी कारक सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थ - पदार्थों में विक्रिया मानने पर ही इस जीव के मोक्ष प्राप्ति रूप फल और उसके साधनभूत सम्यग्दर्शनादि कारण सिद्ध होते हैं। अन्यथा कुछ भी नहीं बनता।

ननु का नो हानिः स्याद्भवतु तथा कारकाद्यभावश्च ।
अर्थात् सन्नित्यं किल न ह्यौषधमातुरे तमनुवर्ति ॥ ४२७ ॥

अर्थ - शंकाकार कहता है कि ग्रन्थकार ने विक्रिया के अभाव में जो कारकादि न बनना आदि दोष बतलाये हैं वे हों अर्थात् कारकादि भले ही सिद्ध न हों, ऐसा मानने से भी हमारी कोई हानि नहीं है। हम तो पदार्थ को सर्वथा

नित्य ही मानेंगे। नित्य मानने पर उसमें मोक्ष प्राप्ति आदि कुछ भी न सिद्ध हो, इसकी हमें परवाह नहीं है क्योंकि औषधि रोगी का रोग दूर करने के लिये दी जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि वह रोगी को अच्छी लगे या बुरी लगे।

भावार्थ - औषधि देते समय यह विचार नहीं किया जाता है कि रोगी इसे अनुकूल समझेगा या नहीं, उसके समझने न समझने पर औषधि का देना अवलम्बित नहीं है। उसी प्रकार यहाँ पर वस्तु विचार आवश्यक है। उसमें चाहे कोई भी दोष आओ अथवा किसी का अभाव हो जाओ इससे शंकाकार की कुछ हानि नहीं है।

पुनः भावार्थ - हम आत्मा शुद्ध ही मानते हैं। हमको विक्रिया क्या करनी है। कारक का अभाव हो तो हो ऐसा उसके पेट में है। शिष्य सांख्यमतानुयायी है।

समाधान

सत्यं सर्वमनीषितमेतत्तदभाववादिनो तावत्।
यत्सत्तत्क्षणिकादिति यावन्नोदेति जलददृष्टान्तः ॥ ४२८ ॥

अर्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि शंकाकार के पदार्थ को सर्वथा नित्य मानना आदि विचार तभी तक ठहर सकते हैं जब तक कि उसके सामने मेघ का दृष्टान्त नहीं आया है। जिस समय उसके सामने यह अनुमान रखा जाता है कि जो सत् है वह क्षणिक है जैसे जल के देने वाले मेघ। उसी समय उसके नित्यता के विचार भाग जाते हैं अर्थात् जो मेघ अभी आते हुये दीखते हैं वे ही मेघ तुरन्त ही नष्ट-विलीन होते हुये भी दीखते हैं। ऐसी अवस्था में कौन साहस कर सकता है कि वह पदार्थ को सर्वथा नित्य कहे ?

सर्वथा अनित्य एकान्त का खण्डन ४२९ से ४३२ तक

अयमप्यात्मरिपुः स्यात्सदनित्यं सर्वथेति किल पक्षः।
प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क्व तत्फलं यस्मात् ॥ ४२९ ॥

अर्थ - सत् पदार्थ अनित्य है ऐसा पक्ष भी उनका (सत् को अनित्य मानने वालों का) स्वयं शत्रु है; क्योंकि जब सत् अनित्य है तो पहले ही उसका नाश हो जायेगा, फिर प्रमाण और उसका फल किस प्रकार बन सकता है ? अर्थात् नहीं बन सकता।

अपि यत्सत्तदिति वचो भवति च निग्रहकृते स्वतस्तस्य।
यस्मात्सदिति कुतः स्यात्सिद्धं तच्छून्यवादिनामिह हि ॥ ४३० ॥

अर्थ - दूसरे "जो सत् है वह" यह वचन ही स्वयं उनके निग्रह के लिये है क्योंकि सत् का अभाव मानने वालों के मत में सत् की सिद्धि कैसे की जा सकती है।

भावार्थ - जिस समय वे सत् को अनित्य सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रयोग में यह प्रतिज्ञा बोलेंगे कि 'जो सत् है वह अनित्य है' तो यह कहना तो स्वयं उनकी पकड़ का कारण हो जायेगा क्योंकि सत् तो है ही नहीं फिर "जो सत् है वह" यह शब्द कैसा ?

अपि च सदमन्यमानः कथमिव तद्भावसाधनायालम्।
बन्धासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायादिवद्व्यलीकत्वात् ॥ ४३१ ॥

अर्थ - तीसरे यदि सत् का अभाव स्वीकार करते हुये ही किसी प्रकार पदार्थ में नित्यपने का अभाव सिद्ध किया जाता है तो यह सिद्ध करना उसी प्रकार मिथ्या (झूठा) है जिस प्रकार किसी का यह कहना कि मैं बांझ स्त्री के पुत्र को मारता हूँ, मिथ्या है।

भावार्थ - जब बांझ स्त्री के पुत्र ही नहीं होता तो फिर मारा किसे जायेगा। उसी प्रकार जब सत् का अभाव ही सर्वथा अनित्यवादियों ने स्वीकार कर लिया है तो वे नित्यता का अभाव किसमें सिद्ध करेंगे। जगत् में सत् के आश्रय से ही विकल्प उठता है। बिना सत् के विकल्प क्या ? किसी को यह विकल्प नहीं होता कि मैं बन्ध्या के पुत्र को मारूँ बिना पदार्थ के विकल्प ही नहीं होता। जब सत् ही नहीं तो विकल्प क्या ?

अपि यत्सत्तन्नित्यं तत्साधनमिह यथा तदेवेदम् ।
तद्भिज्ञानसमक्षात् क्षणिकैकान्तस्य बाधकं च स्यात् ॥ ४३२ ॥

अर्थ - चौथे श्लोक में ऐसी प्रतीति भी होती है जोकि क्षणिक एकान्त की सर्वथा बाधक है। वह प्रतीति इस प्रकार है - जो सत् है वह नित्य है जैसे यह वही वस्तु है जिसे पहले हमने देखा था ऐसा प्रत्यभिज्ञान। प्रत्यभिज्ञान प्रतीति यथार्थ है क्योंकि उससे लोक व्यवहार चलता है। प्रत्यभिज्ञान की यथार्थता से पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जाता है। बिना कथंचित् नित्यता के पदार्थ में प्रत्यभिज्ञान प्रतीति होती ही नहीं और यह प्रतीति क्षणिक एकान्त की बाधक है।

नित्य-अनित्य की परस्पर सापेक्षता

क्षणिकैकान्तवदित्यपि नित्यैकान्ते न तत्त्वसिद्धिः स्यात् ।
तस्मान्न्यायागतमिति नित्यानित्यात्मकं स्वतस्तत्त्वम् ॥ ४३३ ॥

अर्थ - जिस प्रकार क्षणिकैकान्त से पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है उसी प्रकार नित्य एकान्त से भी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये यह बात न्याय से सिद्ध हुई कि पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य भी है अर्थात् नित्यानित्यात्मक है अर्थात् नित्य-अनित्य दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। अविरोध रूप से मित्रवत् एक ही प्रदेशों में रहते हैं।

भावार्थ - जैसे सर्वथा क्षणिक असिद्ध है वैसे सर्वथा नित्य भी असिद्ध है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान जैसे सर्वथा अनित्य में नहीं हो सकता है। वैसे वह सर्वथा नित्य में भी नहीं हो सकता है। इसका कारण भी यह है कि प्रत्यभिज्ञान में पूर्व और वर्तमान ऐसी दो प्रकार की प्रतीति होती है। सर्वथा नित्य में वैसी प्रतीति नहीं हो सकती है। इसलिये पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही युक्ति, अनुभव और आगम से सुसिद्ध है अर्थात् पदार्थ में नित्य-अनित्य दोनों परस्पर की सापेक्षता से रहते हैं।

शेष विधि पूर्ववत्

(१) जैसे अस्ति-नास्ति युगल द्रव्य से-क्षेत्र से-काल से और भाव से लगाया था वैसे इस नित्य-अनित्य युगल को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से लगा लेना चाहिये। इसका मर्म यह है कि नित्य दृष्टि से द्रव्य का चतुष्टय त्रिकाल एक रूप है और अनित्य दृष्टि से द्रव्य का चतुष्टय समय-समय का भिन्न-भिन्न रूप है। (२) जिस प्रकार अस्ति-नास्ति को दो द्रव्यों पर न लगाकर सामान्य विशेष पर लगाया था, उसी प्रकार नित्य-अनित्य को भी दो द्रव्यों पर न लगाकर एक ही द्रव्य के समान्य विशेष पर लगाना चाहिये। (३) जिस प्रकार अस्ति-नास्ति सात भंग रूप था, उसी प्रकार यह नित्य-अनित्य भी सात भंग रूप समझ लेना चाहिये। यह पहले कहे हुए विधिरूप सूत्रों के आधार से लिखा गया है।

नोट - 'वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति नामा महा अधिकार में नित्य-अनित्य युगल का वर्णन करने वाला तीसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ। सद्गुरु देव की जय।

नित्य-अनित्य पर नय प्रमाण लगाने की पद्धति ७६० से ७६३ तक*

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहारविशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्ध स्यात् ॥ ७६० ॥

अर्थ - सत् पदार्थ प्रतिक्षण अपने आप उत्पन्न होता है और नाश होता है, यह नियम से प्रसिद्ध अनित्य नय है जो व्यवहार नय का एक भेद है।

भावार्थ - अनित्य पर्यायार्थिक नय से ऐसा कहा जाता है कि सत् प्रति समय उत्पन्न होता है और नाश होता है। अनित्य है।

---

* यह श्लोक इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग के अन्त में है। भावार्थ के लिए अन्त में दृष्टि परिज्ञान देखिये।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहारान्तर्भूतो नयः स नित्योऽप्यनन्यशरणः स्यात् ॥ ७६१ ॥

अर्थ - अन्यथा भाव न होने से अर्थात् एक स्वभाव रूप रहने से सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। वह ध्रुव (नित्य है) यह अनन्यशरण (स्वपक्ष नियत) एक नित्य नय है जो व्यवहार नय के अन्तर्गत है।

भावार्थ - नित्य पर्यायार्थिक नय से ऐसा कहा जाता है कि सत् ध्रुव एक रूप ही रहता है। वह उत्पाद व्यय नहीं करता।

न विनश्यति वस्तु यथा तथा नैव उत्पद्यते नियमात् ।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ॥ ७६२ ॥

अर्थ - जिस प्रकार वस्तु नष्ट नहीं होती है, उसी प्रकार वह नियम से उत्पन्न भी नहीं होती है, तथा ध्रुव भी नहीं है क्योंकि वह अखण्ड है। (यह निषेधात्मक कथन-अनिर्वचनीय कथन) शुद्ध निश्चय नय का पक्ष है। यह पदार्थ में भेद स्वीकार नहीं करती।

भावार्थ - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों ही एक समय में होनेवाली सत् की पर्यायें हैं। इसलिये इन पर्यायों को पर्यायार्थिक नय विषय करता है, परन्तु शुद्ध निश्चय नय सर्व भेदों से रहित अखण्ड वस्तु को विषय करता है।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्य विवक्षया तदिदम् ।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणविशेषात् ॥ ७६३ ॥

अर्थ - यह जो (वस्तु) सामान्य (नित्य) की विवक्षा में विशेष रूप से (अनित्यपने से) नहीं है वही विशेष (अनित्य) की विवक्षा होने पर सामान्य (नित्य) से नहीं है। यह जो नित्य है वही अनित्य है। इस प्रकार दोनों को सामान्य रूप से विषय करना - किसी को मुख्य गौण किये बिना यह प्रमाण का पक्ष है (नित्य का पर्यायवाची सामान्य शब्द है। अनित्य का पर्यायवाची विशेष शब्द है क्योंकि विशेष की उत्पत्ति उत्पाद व्यय से होती है।

भावार्थ ७६० से ७६३ तक - विशेष नाम पर्याय का है। पर्याय अनित्य होती है। इसलिये विशेष की अपेक्षा से वस्तु अनित्य है। सामान्य की अपेक्षा वह नित्य भी है। ये दोनों व्यवहार पक्ष हैं। न नित्य-न अनित्य = अखण्ड अनिर्वचनीय - यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। शुद्ध अर्थात् अखण्ड। एक ही समय में मैत्री रूप से नित्यानित्यात्मक है यह प्रमाण का पक्ष है। चारों श्लोक इकट्ठे हैं। इस अधिकार में जो नित्य-अनित्य का निरूपण किया गया है, उस पर इन चार पद्यों द्वारा नय प्रमाण लगाकर दिखाये हैं।

नोट - इस अधिकार की प्रश्नावली अन्त में दी है।

चौथा अवान्तर अधिकार

एक अनेक का निरूपण ४३४ से ५०२ तक

शंका

ननु चैकं सदिति स्यात्किमनेकं स्यादथोभयं चैतत् ।
अनुभयमिति किं तत्त्वं शेषं पूर्ववदथान्यथा किमिति ॥ ४३४ ॥

शंका - क्या सत् एक है या अनेक है अथवा यह उभय है या अनुभय है अथवा पहले के समान शेष भंग रूप है या अन्य प्रकार है ?

समाधान

सत्यं सदेकमिति वा सदनेकं चोभयं च नययोगात् ।
न च सर्वथा सदेकं सदनेकं वा सदप्रमाणत्वात् ॥ ४३५ ॥

अर्थ - ठीक है। सत् नय दृष्टि से एक भी है, अनेक भी है, उभय भी है और अनुभय भी है, परन्तु यह बात नय विवक्षा से ही बनती है। नय अपेक्षा को छोड़कर सर्वथा सत् को एक कहना भी ठीक नहीं है, अनेक कहना भी ठीक

नहीं है और उभय कहना भी ठीक नहीं है, अनुभय कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सर्वथा एकान्तरूप से एक अनेक सत् अप्रमाण ही है।

नोट - पहले ४३६ से ४९२ तक एक सिद्ध करेंगे फिर ४९३ से ४९८ तक अनेक सिद्ध करेंगे। फिर ४९९ में यह कहेंगे कि उभय-अनुभय आदि शेष भंग रूप पूर्ववत् जान लेना। ५०० में एक अनेक की परस्पर सापेक्षता कहेंगे। ५०१ और ५०२ से सर्वथा निरपेक्ष एक अनेक पक्ष का खण्डन करेंगे।

सत् एक में युक्ति

अथ तद्यथा सदेकं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्त्वाद्वा।
गुणपर्यायांशैरपि निरंशदेशादखण्डसामान्यात् ॥ ४३६ ॥

अर्थ - गुण पर्याय रूप अंशों का अभिन्न प्रदेशी होने से सत् एक है अर्थात् क्योंकि वह निरंश देश है इसलिये अखण्ड सामान्य की अपेक्षा से सत् एक है।

भावार्थ - द्रव्य में गुण पर्यायें इसी प्रकार हैं जिस प्रकार कि जल में कल्लोलें होती हैं। जिस प्रकार जल से कल्लोलों की सत्ता भिन्न नहीं है उसी प्रकार द्रव्य से गुण पर्यायों की सत्ता भी भिन्न नहीं है। केवल विवक्षा से द्रव्य, गुण, पर्यायों की कल्पना की जाती है। शुद्ध दृष्टि से जो द्रव्य है सोई गुण पर्याय है। जो गुण है सोई द्रव्य पर्याय है अथवा जो पर्याय है सोई द्रव्य गुण है। इसलिये जब तीनों एक ही हैं तो न उनकी भिन्न सत्ता है और न उनके भिन्न प्रदेश ही हैं। तथा शुद्ध दृष्टि से न उनमें अंश कल्पना ही है किन्तु निरंश अखण्ड देशात्मक एक ही सत् है।

इसी का स्पष्टीकरण

द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेनापीह चाथ भावेन।
सदखण्डं नियमादिति यथाधुना वक्ष्यते हि तल्लक्ष्म ॥ ४३७ ॥

अर्थ - द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से नियम से सत् अखण्ड है। अब इन चारों की अपेक्षा से ही सत् में अखण्डता क्रम से सिद्ध की जाती है।

सामान्य कथन समाप्त हुआ।

द्रव्य से एक ४३८ से ४४८ तक

गुणपर्ययवद्द्रव्यं तद्गुणपर्ययवपुः सदेकं स्यात्।
नहि किंचिद्गुणरूपं पर्ययरूपं च किञ्चिदशांशैः ॥ ४३८ ॥

अर्थ - गुणपर्यायवाला द्रव्य है अर्थात् गुणपर्याय ही द्रव्य का शरीर है (गुणपर्याय स्वरूप ही द्रव्य है) इसलिये सत् एक है। ऐसा नहीं है कि वृक्ष में फल-फूल-पत्तों की तरह उसके कुछ अंश तो गुणरूप हों, कुछ पर्याय रूप हों।

रूपादितन्तुमानिह यथा पटः स्यात्स्वयं हि तद्द्वैतम्।
नहि किञ्चिद्रूपमयं तन्तुमयं स्यात्तदंशगर्भांशैः ॥ ४३९ ॥

अर्थ - जैसे कि पट रूपादिवाला और तन्तुवाला होता है। इसलिये वह स्वयं उन दोनों रूप है। परन्तु ऐसा नहीं है कि पट में कुछ अंश तो रूपमय हों और कुछ अंश तन्तुमय हों (किन्तु रूप-तन्तु-पट तीनों एक ही पदार्थ हैं। केवल विवक्षा से उसमें द्वैतभाव है)।

पहला लक्षणाभास तथा दृष्टान्ताभास

न पुनर्गोरसवदिदं नानासत्त्वैकसत्त्वसामान्यम्।
सम्मिलितावस्थायामपि घृतरूपं च जलमयं किञ्चित् ॥ ४४० ॥

अर्थ - सत् में जो एकत्व है वह गोरस के समान अनेक सत्ताओं के सम्मेलन से एक समान्य सत्त्वरूप नहीं है। जैसे दुग्धादि की मिली हुई अवस्था में कुछ घृतभाग है और कुछ जलभाग है परन्तु सम्मेलन होने के कारण उन्हें एक

गोरस से पुकारते हैं, वैसे सत् में कुछ गुण अंश हों, कुछ पर्याय अंश हों। उनके सम्मेलन से सत् हो ऐसा एकत्व नहीं है। (भैंस या गाय के थनों से निकलने वाले दूध को गोरस कहते हैं)।

भावार्थ - जैसे गोरस में कई पदार्थों की भिन्न-भिन्न सत्ता है परन्तु मिलाप के कारण एक गोरस की ही सत्ता कही जाती है, वैसे गुणपर्याय रूप कई पदार्थों की सत्ता मिलकर सत् एक नहीं कहा जाता है किन्तु एक सत्ता होने से वह एक कहा जाता है।

दूसरा लक्षणाभास तथा दृष्टांताभास

अपि यदशक्यविवेचनमिह न स्याद्वा प्रयोजकं यस्मात् ।
क्वचिदश्मनि तद्भावान्माभूत्कनकोपलद्वयाद्वैतम् ॥ ४४१ ॥

अर्थ - अथवा ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि सत् में गुणपर्यायों की भिन्न-भिन्न सत्तायें हैं परन्तु उनका भिन्न-भिन्न विवेचन (टुकड़ा) नहीं किया जा सकता है, इसलिये सत् को एक अथवा एक सत्तावाला कह दिया जाता है जैसे कि स्वर्णपाषाण में स्वर्ण और पाषाण दो पदार्थ हैं परन्तु उनका भिन्न-भिन्न विवेचन (टुकड़ा) अशक्य है इसलिये उसे एक ही पत्थर के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा कहने से जिस प्रकार कनकोपल - स्वर्ण पाषाण में द्वैतभाव है, उसी प्रकार सत् में भी द्वैतभाव सिद्ध होगा परन्तु स्वर्ण पाषाण में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न दो पदार्थ हैं उस प्रकार सत् में गुण और पर्याय दो भिन्न -भिन्न पदार्थ नहीं है। सत् वास्तव में एक सत्तावाला एक ही है।

तस्मादेकत्वम्प्रति प्रयोजकं स्यादखण्डवस्तुत्वम् ।
प्रकृतं यथा सदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत् ॥ ४४२ ॥

अर्थ - इसलिये एकत्व सिद्ध करने के लिये न तो भिन्न २ अनेक सत्ताओं का सम्मेलन ही प्रयोजक है और न अशक्य विवेचन ही एकत्व का प्रयोजक है किन्तु अखण्ड वस्तुत्व ही उसका प्रयोजक है अर्थात् जो अखण्ड प्रदेशी-एक सत्तात्मक पदार्थ है वही एक है। प्रकृत में द्रव्य की अपेक्षा से ऐसा ही अखण्ड प्रदेशी एकत्व सत् में माना गया है।

शंका ४४३-४४४ दो इकट्ठे

ननु यदि सदेव तत्त्वं स्वयं गुणः पर्ययः स्वयं सदिति ।
शेषः स्यादन्यतरस्तदितरलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ४४३ ॥

शंका - यदि स्वयं सत् ही द्रव्य है, स्वयं ही गुण है, स्वयं ही पर्याय है तो एक शेष रहना चाहिये अर्थात् जब द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों एक ही हैं तो तीनों में से कोई एक कहा जा सकता है। बाकी के दोनों का लोप होना अवश्यंभावी है क्योंकि ऊपर आपने अनेकता का निषेध तो किया ही है।

शंका चालू - तीसरा लक्षणाभास तथा दृष्टांताभास

न च भवति तथावश्यम्भावात्तत्समुदयस्य निर्देशात् ।
तस्मादनवद्यमिदं छायादर्शवदनेकहेतुः स्यात् ॥ ४४४ ॥

अर्थ - परन्तु वैसा होता नहीं है अर्थात् कोई दो का लोप होता नहीं है क्योंकि इनके समुदाय का निर्देश किया गया है अर्थात् आगम में गुणपर्यायों के समुदाय को ही द्रव्य कहा गया है इसलिये द्रव्य गुणपर्याय तीनों का कहना ही आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध होती है कि सत्, छाया और दर्पण के समान अनेक हेतुक एक है (अनेकों का मिलकर बना हुआ एक है जैसे दर्पण और छाया मिलकर एक पदार्थ है)।

भावार्थ ४४३-४४४ - यदि द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों एक ही बात है तब तो एक शेष रहना चाहिये। दो का लोप हो जाना चाहिए यदि तीनों ही तीन बातें हैं तो अवश्य ही सत् को अनेक हेतुक सिद्ध करती हैं और अनेक हेतुक होने से सत् अनेकों के मिलाप से एक सिद्ध होता है। जैसे दर्पण और छाया मिलकर एक पदार्थ है वैसे गुणपर्याय मिलकर एक सत् है क्या ?

समाधान ४४५ से ४४८ तक

सत्यं सदनेकं स्यादपि तद्धेतुश्च यथा प्रतीतत्वात् ।
न च भवति यथेच्छं तच्छायादर्शवदसिद्धदृष्टांतात् ॥ ४४५ ॥

अर्थ – ठीक है। कथंचित् सत् अनेक भी है तथा यथायोग्य अनेकहेतुक भी है परन्तु उसमें अनेकहेतुता छाया और दर्पण के समान इच्छानुसार नहीं है किन्तु प्रतीति के अनुसार है (स्पष्टता के लिये आगे सार देखिये) । सत् के विषय में छायादर्श का दृष्टांत असिद्ध है। क्यों असिद्ध है ? उसी का उत्तर नीचे दिया जाता है।

प्रतिबिम्बः किल छाया वदनादर्शादिसन्निकर्षाद्वै ।
आदर्शस्य सा स्यादिति पक्षे सदसदिव वान्वयाभावः ॥ ४४६ ॥

अर्थ – नियम से प्रतिबिम्ब का नाम ही छाया है। वह वदन (मुख) और आदर्श (दर्पण) के सम्बन्ध से होती है। यदि उस छाया को केवल दर्पण की ही कहा जाय तो ऐसा पक्ष मानने से सत्-असत् के समान ठहरेगा अथवा अन्वय नहीं बनेगा।

भावार्थ – (मुख के हटने पर) दर्पण में से छाया का तो अभाव हो जाता है और तुम उसे दर्पण सत् का अंश मानते हो। इसलिये छाया का अभाव होने से सत् आदर्श (दर्पण) का भी अभाव मानना पड़ेगा। इस प्रकार तो सत्-असत् के समान हो जायगा और अन्वय इस प्रकार नहीं बनता है कि यदि छाया को दर्पण की कहा जाये तो जहाँ-जहाँ दर्पण है वहाँ-वहाँ छाया होनी चाहिये परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है। बिना छाया के भी दर्पण देखा जाता है। परन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय में वैसा अन्वय-अभाव नहीं है। जहाँ-जहाँ द्रव्य है वहाँ-वहाँ गुण पर्याय हैं। कथंचित् तीनों ही सहभावी हैं और कथंचित् एक हैं।

यदि वा सा वदनस्य स्यादिति पक्षोऽसमीक्ष्यकारित्वात् ।
व्यतिरेकाभावः किल भवति तदास्यस्य सतोऽप्यछायत्वात् ॥ ४४७ ॥

अर्थ – यदि वह छाया मुख की कही जाय तो यह पक्ष भी बिना विचारे कहा हुआ ही प्रतीत होता है क्योंकि मुख की छाया मानने से व्यतिरेक नहीं बनता है। यदि मुख की ही छाया मानी जाती है तो जहाँ-जहाँ छाया नहीं है वहाँ-वहाँ मुख भी नहीं होना चाहिये, परन्तु यह बात असिद्ध है। जहाँ मुख देखने में आता है वहाँ छाया नहीं भी देखने में आती है। परन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय में ऐसा व्यतिरेक व्यभिचार नहीं है। जहाँ द्रव्य नहीं है वहाँ गुणपर्याय भी नहीं है और जहाँ गुणपर्याय नहीं है वहाँ द्रव्य भी नहीं है। तीनों में रूप रस-गंध-स्पर्श के समान अभिन्नता है। इसलिये सत् के विषय में छाया आदर्श का दृष्टान्त ठीक नहीं है तथा सत् अनेकहेतुक एक (अनेकों का मिलकर बना हुआ एक) नहीं है।

भावार्थ – छायादर्श का दृष्टान्त जैन सिद्धान्तानुसार द्रव्य की विकारी पर्याय में तो घट जाता है। द्रव्य को दर्पण मान लिया जाय और राग को छाया मान लिया जाय पर स्वाभाविक सामान्य विशेष या स्वाभाविक द्रव्य, गुण, पर्याय पर नहीं घट सकता। यहाँ प्रकरण विकार का नहीं है। स्वतः सिद्ध शुद्ध द्रव्य का है। अन्य जो गोरस या स्वर्णपाषाण के दृष्टान्त तो प्रत्यक्ष जुदे-जुदे मिलकर दो सतों के एकसत् रूप थे, पर शंकाकार का छायादर्श का दृष्टान्त सूक्ष्म और मार्मिक है क्योंकि यहाँ छाया और आदर्श के भिन्न प्रदेश नहीं है जिस प्रकार कि गुणपर्यायों के भिन्न प्रदेश नहीं हैं पर अन्तर इतना रह गया है कि दर्पण में छाया परहेतुक है जैसे जीव में राग परहेतुक है और यहाँ गुणपर्याय स्वहेतुक है। इसलिये यह लक्षणाभास तथा दृष्टान्ताभास हुआ।

उपसंहार

एतेन निरस्तोऽभून्नानासत्त्वैकसत्त्ववादीति ।
प्रत्येकमनेकं प्रति सद् द्रव्यं सन् गुणो यथेत्यादि ॥ ४४८ ॥

अर्थ – इस प्रकार इतने विवेचन से नाना सत्त्वों का मिलकर एक सत्त्व मानने वाला वादी खण्डित हो गया। वह ऐसा मानता था कि भिन्न-भिन्न अनेक सत् मिलकर एक सत् बनता है जैसे सद् द्रव्य जुदा है, सद् गुण जुदा है, सत् पर्याय जुदा हैं और इन सब तत्त्व का मिलकर एक तत्त्व 'सत्' है।

उपसंहार – सो ऐसे अनेक सत् मिलकर एक सत् नहीं है किन्तु सत् द्रव्यपने में स्वतः सिद्ध एक है यह सिद्ध हो गया।

'द्रव्य की अपेक्षा एक' का सार

(१) जिस प्रकार अनेक दवाइयों की एक गोली बनाली जाती है, वहाँ एक-एक दवाई की सत्ता भिन्न-भिन्न है और गोली अनेकहेतुक एक सत्तावाली है, उस प्रकार शंकाकार दवाईवत् एक-एक गुण और एक-एक पर्याय की भिन्न-भिन्न सत्ता मानकर – गोलीवत् उनके समुदाय को द्रव्य की एक सत्ता मानता है अर्थात् अनेकहेतुक एक सत्ता मानता है। अथवा (२) जिस प्रकार गोरस में घी अंश का सत् जुदा है। पानी अंश का सत् जुदा है और दोनों सत् का मिलकर एक गोरस सत् अनेक हेतुक एक है उस प्रकार प्रत्येक गुण और प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न है और वे मिलकर अनेकहेतुक एक सत् द्रव्य है अथवा (३) जिस प्रकार अनेकहेतुक एक अंध सुवर्ण पाषाण पत्थर में सोना अंश जुदा है, पत्थर अंश जुदा है। वे इस प्रकार मिले हुये हैं कि कभी जुदा नहीं होंगे, उस प्रकार गुणपर्याय भिन्न-भिन्न सत्ता वाले मिलकर इस प्रकार एक सत् बना है कि कभी भिन्न नहीं होगा। इस प्रकार सत् अनेकहेतु एक है अथवा (४) जिस प्रकार दर्पण और छाया मिलकर एक पदार्थ हैं उस प्रकार गुण और पर्याय मिलकर एक सत् पदार्थ है। इस प्रकार अनेक हेतुक एक है क्या ? उपर्युक्त चार दृष्टान्तों अनुसार शंकाकार अनेकहेतुक एक सत् मानता है। सो उसके उत्तर में ग्रन्थकार ने समझाया है कि सत् उपर्युक्त दृष्टान्तों अनुसार अनेकहेतुक एक नहीं है किन्तु वह स्वतः सिद्ध एक है जैसे आम का फल। इस पर फिर शंकाकार ने कहा तो क्या सर्वथा एक ही है ? उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार अनेक सत्ताओं के कारण अनेकता तू कहता है वह अनेकता तो सर्वथा नहीं है पर कथंचित् प्रतीति के अनुसार अनेकता है। अब यह समझने की आवश्यकता है कि वह प्रतीति के अनुसार अनेकता क्या वस्तु है। लीजिये समझाये देता हूँ। देखिये आम एक है। वह एक ही कहा जाता है और एक रूप से ही उसका प्रयोग भी होता है पर क्या वह आम हरा है या पीला तो आप तुरन्त आँख से काम लेकर कहेंगे पीला है। अच्छा फिर आपसे पूछा जाये कि वह आम कड़ा है या नरम तो आप हाथ से छूकर कहेंगे कि नरम। अच्छा फिर आपसे पूछते हैं कि आम सुंगधित है या दुर्गंधित तो आप तुरन्त सूंघकर कहेंगे कि सुगंधित। फिर हम पूछते हैं कि अच्छा अब यह और बताओ कि वह खट्टा है या मीठा तो आप तुरन्त जीभ पर रखकर खा जायेंगे और कहेंगे कि मीठा है। देखिये वे चारों चीज भिन्न-भिन्न आपकी प्रतीति (अनुभव) में आई या नहीं, अवश्य आई। जभी तो आपने भिन्न-भिन्न उत्तर दे दिये। इसी को प्रतीति से अनेकता कहते हैं। अच्छा अब ऐसा करो कि रूप तो तुम ले लो और रस हमें दे दो। गंध राम को दे दो स्पर्श श्याम को दे दो तो आप कहेंगे कि यह तो नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न प्रदेश थोड़ा ही है जो ऐसा हो जाय, बस भाई इसी को कहते हैं कि अनेक नहीं है अथवा सर्वथा अनेक नहीं हैं। इसी प्रकार कपड़े का दृष्टान्त है। कपड़ा भी रूपादि गुण और तन्तु आदि प्रदेशों का तन्मय पिण्ड एक है। बस भाई यही रहस्य यहाँ सत् की एकता में समझना है कि जगत् का प्रत्येक सत् स्वतः सिद्ध एक है यह द्रव्य से एकत्व है। यद्यपि प्रतीति के अनुसार उसमें अनेकता भी है पर वह वास्तव में एक ही है। निश्चय से एक ही है।*

क्षेत्र से एक ४४९ से ४७० तक

क्षेत्रं प्रदेश इति वा सदधिष्ठानं च भूर्निवासश्च ।
तदपि स्वयं सदेव स्यादपि यावन्न सत्प्रदेशस्थम् ॥ ४४९ ॥

अर्थ – क्षेत्र कहो, प्रदेश कहो, सत् का आधार कहो, सत् की पृथ्वी कहो, सत् का निवास कहो, ये सब पर्यायवाची हैं परन्तु ये सब सत् स्वरूप ही हैं। ऐसा नहीं है कि सत् कोई दूसरा पदार्थ हो और क्षेत्र दूसरा हो, उस क्षेत्र में सत् रहता हो किन्तु सत् और उसके प्रदेश दोनों एक ही बात है। सत् का क्षेत्र स्वयं सत् का स्वरूप ही है।

भावार्थ – जिन आकाश के प्रदेशों में सत्-पदार्थ ठहरा हो, उनको सत् का क्षेत्र नहीं कहते हैं। उस क्षेत्र में तो और भी अनेक द्रव्य हैं। किन्तु जिन अपने प्रदेशों से सत् ने अपना स्वरूप पाया है, वे ही सत् के प्रदेश कहे जाते हैं अर्थात् जितने निज द्रव्य के प्रदेशों में सत् है वही उस द्रव्य का क्षेत्र है।

---

* जिस प्रकार शंकाकार गुणपर्यायों को भिन्न-भिन्न मानता है, व्यवहार नय भी उसी प्रकार भिन्न-भिन्न निरूपण करता है। इसलिये व्यवहार नय को भी ज्ञानियों ने अभूतार्थ कहा है। हाँ, वह अभेद को समझा देता है, पकड़ा देता है, इतना प्रयोजन उससे अवश्य सिद्ध होता है। अतः भेद काम निकालने की चीज है। आश्रय करने की नहीं है। आश्रय करने योग्य तो अभेद एक ही है जो निश्चय कहता है यह सर्वत्र ध्यान रखने की आवश्यकता है। इसका संकेत यहाँ सर्वप्रथम श्लोक ४३६ में कर आये हैं। विशेषता के लिये अवश्य आगे देखिये नं. ६२६ से ६४४ तक।

अथ ते त्रिधा प्रदेशाः क्वचिन्निरंशैकदेशमात्रं सत् ।
क्वचिदपि च पुनरसंख्यदेशमयं पुनरनन्तदेशवपुः ॥ ४५० ॥

अर्थ - वे प्रदेश तीन प्रकार हैं - कोई सत् निरंश (फिर जिसका खण्ड न हो सकें ऐसा) एक देश मात्र है, कोई सत् असंख्यात् प्रदेश वाला है और कोई अनन्त प्रदेशमय भी है।

भावार्थ - एक परमाणु अथवा एक काल-द्रव्य एक प्रदेशी है। यहाँ पर प्रदेश से तात्पर्य परमाणु और काल-द्रव्य के आधारभूत आकाश का नहीं है किन्तु परमाणु और काल-द्रव्य के प्रदेश का है। दोनों ही द्रव्य एक प्रदेशी हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य ये असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी है।

शंका-समाधान

ननु च द्व्यणुकादि यथा स्यादपि संख्यातदेशि सत्त्विति चेत् ।
न यतः शुद्धादेशैरुपचारस्याविवक्षितत्वाद्वा ॥ ४५१ ॥

शंका -जिस प्रकार एक प्रदेश, असंख्यात प्रदेश और अनन्त प्रदेश वाले द्रव्य बतलाये गये हैं, उस प्रकार संख्यात प्रदेशी द्रव्य भी बतलाना चाहिये और ऐसे द्रव्य द्वि-अणुक, त्रि-अणुक आदि पुद्गल स्कंध हो सकते हैं। उन्हें क्यों छोड़ दिया गया ? परन्तु उपर्युक्त आशंका ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ शुद्ध द्रव्यों का कथन है। उपचरित द्रव्यों का कथन नहीं है।

भावार्थ - संख्यात प्रदेशी कोई द्रव्य नहीं है किन्तु कई पुद्गल द्रव्यों के मेल से होने वाला स्कन्ध है। वह यहाँ पर विवक्षित नहीं है। परमाणु और काल-द्रव्य को संख्यात् प्रदेश नहीं कहा गया है किन्तु निरंश एक देश मात्र कहा गया है। जैनधर्म में संख्या दो प्रदेश से प्रारम्भ होती है एक को अप्रदेशी कहते हैं।

अयमर्थः सद्द्वेधा यथैकदेशीत्यनेकदेशीति ।
एकमनेकं च स्यात्प्रत्येकं तन्नयद्वयान्नयात् ॥ ४५२ ॥

अर्थ - तात्पर्य यह है कि सत् के दो भेद हैं (१) एक प्रदेशी (२) अनेक प्रदेशी। इन दोनों में प्रत्येक ही दो नयों की विवक्षा से एक और अनेक रूप हैं।

भावार्थ - इस श्लोक द्वारा प्रदेशों के भेद तीन के स्थान में दो ही बतलाये गये हैं और असंख्यात् तथा अनन्त प्रदेश अनेक में गर्भित किये गये हैं। जो एक प्रदेशी है वह द्रव्य भी नय सामान्य की अपेक्षा से एक और नय विशेष की अपेक्षा से अनेक है। इसी प्रकार अनेक प्रदेशी द्रव्य भी नय सामान्य की अपेक्षा से एक और नय विशेष की अपेक्षा से अनेक है।

क्षेत्र एकत्व का गुर (लक्षण)

अथ यस्य यदा यावद्यदेकदेशे यथा स्थितं सदिति ।
तत्तावत्तस्य तदा तथा समुदितं च सर्वदेशेषु ॥ ४५३ ॥

अब सत् क्षेत्र की अपेक्षा एक कैसे हैं, इसे बताते हैं -

अर्थ - जिस समय जिस द्रव्य के एक देश में जितना, जो, जैसे, सत् यह स्थित है, उसी समय उस द्रव्य के सब देशों में भी उतना, वही सत्, वैसे ही, समुदित स्थित है। [कालाणु और शुद्ध पुद्गल परमाणु के छः कोण माने गये हैं। उनमें छः कौण की अपेक्षा यह लक्षण घटित कर लेना चाहिये और उसी अपेक्षा से इनमें क्षेत्र की अपेक्षा अनेकत्व भी सिद्ध होगा। यह सूत्र क्षेत्र एकत्व लक्षण का करणधार-प्राण है - इसे खासतौर पर ध्यान रखना चाहिये अन्यथा अगले लक्षणाभास ख्याल में नहीं आयेंगे। लक्षणाभास का विषय बहुत जटिल है। बड़े-बड़े विद्वानों को समझ नहीं पड़ता। हमने बहुत प्रयत्न और सावधानता से स्पष्ट किया है आप ध्यान से पढ़ें]।

इत्यनवद्यमिदं स्याल्लक्षणमुद्देशि तस्य तत्र यथा।
क्षेत्रेणाखण्डित्वात् सदेकमित्यत्र नयविभागोऽयम् ॥ ४५४ ॥

अर्थ - इस प्रकार उस सत् का यह निर्दोष लक्षण क्षेत्र की अपेक्षा से कहा गया। क्योंकि वह क्षेत्र की अपेक्षा अखण्डित है इसलिये सत् एक है। यही क्षेत्र एकत्व विवक्षा में नय विभाग है।

पहला लक्षणाभास तथा दृष्टांताभास ४५५-५६

न पुनश्चैकापवरकसञ्चरितानेकदीपवत्सदिति।
हि यथा दीपसमृद्धौ प्रकाशवृद्धिस्तथा न सद्वृद्धिः ॥ ४५५ ॥

अर्थ - जिस प्रकार किसी मकान के भीतर एक दीप, फिर दूसरा दीप, फिर तीसरा, फिर चौथा इस क्रम से अनेक दीप लगाये जावें, तो जितने-जितने दीपों की संख्या बढ़ती जायेगी उतनी-उतनी ही प्रकाश की वृद्धि भी होती जायेगी। उस प्रकार सत् (क्षेत्र) नहीं है। सत् (क्षेत्र) की वृद्धि अनेक दीपों के प्रकाश के समान नहीं होती है।

अपि तत्र दीपशमने कस्मिंश्चित्तत्प्रकाशहानिः स्यात्।
न तथा स्यादविवक्षितदेशे तद्धानिरेकरूपत्वात् ॥ ४५६ ॥

अर्थ - ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार मकान में रखे हुये अनेक दीपों में से किसी दीप के बुझ जाने पर उस मकान में कुछ प्रकाश की कमी हो जाती है, उस प्रकार सत् (क्षेत्र) की भी कमी हो जाती है। किन्तु अविवक्षित देश में सत् की हानि नहीं होती है, वह सदा एक रूप ही रहता है।

भावार्थ - दृष्टांत में दीपकों के प्रकाश को क्षेत्र समझना। जिस प्रकार दीपकों के प्रकाश की वृद्धि-हानि होती है, उस प्रकार सत् क्षेत्र की कभी हानि-वृद्धि नहीं होती। वह सदा एक जैसा ही रहता है। उसमें हानि-वृद्धि मानना पहला लक्षणाभास है। भाव यह है कि जिस प्रकार एक कमरे का प्रकाश अनेकहेतुक एक है अर्थात् एक-एक भिन्न-भिन्न प्रकाश क्षेत्र मिलकर वह सारा एक प्रकाश क्षेत्र है, उस प्रकार सत् क्षेत्र का (सत् देश का) एक-एक भिन्न-भिन्न देशांश मिलकर सत् का एक क्षेत्र बना हो, ऐसा मानना लक्षणाभास है अर्थात् ऐसा नहीं है। सत् का स्वतः सिद्ध स्वभाव से अखण्ड देश है। तथा जिस प्रकार दीपकों के प्रकाश की हानि-वृद्धि होती है उस प्रकार सत् क्षेत्र की हानि-वृद्धि भी नहीं होती है। जैसा आत्मा का देश असंख्यात् प्रदेश है। वह अखण्ड एक है। वे प्रदेश मोतियों की मालावत् जैसे एक-एक मोती मिलाकर एक माला बनी हो और उसमें कभी मोती कम कभी अधिक भी होते हैं उस प्रकार आत्मा के असंख्यात् प्रदेश एक-एक करके जुड़े हों और कभी उनमें कुछ कम कुछ अधिक हो जाते हों, ऐसा नहीं है। आत्मा का क्षेत्र अनेकहेतुक एक नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध एक है तथा उसमें जो क्षेत्र अर्थात् देशाँश की अपेक्षा अनेकता है वह दीपों की रोशनीवत् अनेक हेतुक एक नहीं है किन्तु प्रतीति के अनुसार अनेकता है । प्रतीति का अर्थ यह है कि चींटी के शरीर में प्रदेश संकुचित होते और हाथी के शरीर में फैलते प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं तथा कायत्व-अकायत्व और महत्व-अमहत्व का परिज्ञान करने के लिये देशांश कल्पना प्रतीति में आती है इसलिये अनेक भी कह देते हैं वास्तव में अखण्ड देश एक ही है।

दूसरा लक्षणाभास तथा दृष्टान्ताभास ४५७-५८-५९

नात्र प्रयोजकं स्यान्नियतनिजाभोगदेशमात्रत्वम्।
तदनन्यथात्वसिद्धौ सदनेकं क्षेत्रतः कथं स्याद्वा ॥ ४५७ ॥

अर्थ - जिस सत् का निश्चित जितना अपना उपभोग देश (निज प्रदेश) हैं। वह सदा उतना ही रहता है अतः वही उसके क्षेत्र से एकत्व का प्रयोजक हो, सो यह बात भी नहीं है क्योंकि इस प्रकार यदि क्षेत्र की अपेक्षा सत् का एकत्व माना जायेगा तो वह उपभोग क्षेत्र तो बदलता नहीं हैं सबका सदा एकसा रहता है तो क्षेत्र की अपेक्षा अनेक कैसे सिद्ध होगा। अतः उपभोग देश की अपेक्षा क्षेत्र का एकत्व सिद्ध करना उचित नहीं है।

भावार्थ - यहाँ आकाश क्षेत्र की बात नहीं है किन्तु एक द्रव्य के जितने निज प्रदेश हैं वहीं उसका उपभोग क्षेत्र है। धर्म-अधर्म आत्मा के असंख्यात् प्रदेश आत्मा का उपभोग क्षेत्र है। परमाणु तथा कालाणु का एक प्रदेश उपभोग क्षेत्र है। आकाश का अनन्तप्रदेश उपभोग क्षेत्र है। उपभोग क्षेत्र से भाव यह है कि वह द्रव्य अपना भोग सुख-दुःख या अपने गुणों का परिणमन रूप कार्य अपने में ही भोगता है। उसका वह उपभोग संपूर्ण क्षेत्र में एक है, अखण्ड है। अतः शंकाकार कहता है कि क्योंकि हर एक द्रव्य का उपभोग क्षेत्र नियत है। अतः इस कारण से द्रव्य, क्षेत्र की अपेक्षा एक है। आचार्य कहते हैं कि ठीक है। हम तेरी बात मानने को तैयार हैं क्योंकि जैसा तू कहता है, है भी ऐसा ही पर

यह तो बता कि उनका क्षेत्र से अनेकत्व सिद्ध कैसे करोगे ? सीधी बात है कि अगर कभी-कभी वह अपने प्रदेशों में हीनाधिक भोग करने लगें अर्थात् उनके उपभोग प्रदेश कभी कम हो जायें कभी ज्यादा हो जायें तभी क्षेत्र से अनेकत्व बने और कोई उपाय अनेकत्व बनने का है नहीं। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं। इसलिये बात अटक गई तो आचार्य कहते हैं कि एकत्व तो बनता है पर अनेकत्व नहीं बनता। जब अनेकत्व नहीं बनता तो यह एकत्व भी इस तरह मानना ठीक नहीं क्योंकि हम जैन तो दोनों धर्म मानते हैं। सर्वथा एक नहीं मानते।

सदनेकं देशानामुपसंहारात्प्रसर्पणादिति चेत्।
न यतो नित्यविभूनां व्योमादीनां न तद्धि तदयोगात्॥ ४५८॥

अर्थ - ऊपर के उत्तर में यदि कहो कि सत् के प्रदेशों का संकोच विस्तार होता है। इसलिये सत् का उपभोग क्षेत्र अनेक हो जायेगा, ऐसी आशंका ठीक नहीं है, यदि सत् के प्रदेशों का संकोच और विस्तार होने से ही उसे अनेक कहा जाय तो आकाश आदि नित्य-विभु (सर्वव्यापक) पदार्थों में अनेकत्व नहीं घट सकेगा, क्योंकि आकाश, धर्म-अधर्म के प्रदेशों का संकोच विस्तार ही नहीं होता है।

अपि परमाणोरिह वा कालाणोरेकदेशमात्रत्वात्।
कथमिव सदनेकं स्यादुपसंहारप्रसर्पणाभावात्॥ ४५९॥

अर्थ - तथा परमाणु और कालाणु ये दो द्रव्य एक-एक प्रदेश मात्र हैं। इनमें संकोच विस्तार हो ही नहीं सकता है, फिर इनमें अनेकत्व किस प्रकार सिद्ध होगा ? इस प्रकार जब अनेकत्व सिद्ध नहीं होता तो निश्चित उपभोग क्षेत्र की अपेक्षा सत् एक भी सिद्ध नहीं हो सकता।

तीसरा लक्षणाभास तथा दृष्टान्ताभास ४६० से ४६९ तक

ननु च सदेकं देशैरिव संख्यां खण्डयितुमशक्यत्वात्।
अपि सदनेकं देशैरिव संख्यानेकतो नयादिति चेत्॥ ४६०॥

अर्थ - क्योंकि भिन्न-भिन्न द्रव्यों के समान प्रदेशों की संख्या का खण्ड-खण्ड नहीं किया जा सकता है इसलिये तो सत् एक है और भेद दृष्टि से भिन्न-भिन्न द्रव्यों के समान प्रदेशों से अनेक संख्यावाला है, इस नय से वह अनेक है, यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थ - जैसे जीव असंख्यात् प्रदेशी है, इसलिये तो अनेक है और वे प्रदेश एक-एक तोड़कर भिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते इसलिये एक है अर्थात् सत् के प्रदेश सदा अखण्ड रहते हैं इसलिये तो वह एक है परन्तु अखण्ड रहने पर भी उसके प्रदेशों की संख्या अनेक है, इसलिये वह अनेक भी कहा जाता है। यदि ऐसा कहो तो गलत है। बहुत विद्वान् इसी प्रकार मानते हैं, सो ध्यान रहे यह लक्षणाभास है। कैसे सो दोष दिखलाते हैं-

न यतोऽशक्यविवेचनमेकक्षेत्रावगाहिनां चास्ति।
एकत्वमनेकत्वं न हि तेषां तथापि तदयोगात्॥ ४६१॥

अर्थ - नहीं। क्योंकि यद्यपि एक क्षेत्रावगाही अनेक द्रव्यों का भेद करना शक्य नहीं है तथापि ऐसा न कर सकने के कारण उनका एकत्व और अनेकत्व नहीं है।

ननु ते यथा प्रदेशाः सन्ति मिथो गुम्फितैकसूत्रत्वात्।
न तथा सदनेकत्वादेकक्षेत्रावगाहिनः सन्ति॥ ४६२॥

अर्थ - इस पर फिर शंकाकार कहता है जिस प्रकार एक द्रव्य के प्रदेश एक सूत्र में गुम्फित (गूंथे हुये) होते हैं, उस प्रकार एक क्षेत्रावगाही अनेक द्रव्यों के नहीं होते क्योंकि उनकी सत्ता जुदी-जुदी है।

भावार्थ - शंकाकार फिर भी अपनी शंका को पुष्ट करता है कि जिस प्रकार एक द्रव्य के प्रदेश अखण्ड होते हैं उस प्रकार अनेक द्रव्यों के एक क्षेत्र में रहने पर भी अखण्ड प्रदेश नहीं होते हैं क्योंकि वे अनेक द्रव्य हैं। उनकी [illegible]त्ता जुदी-जुदी है। यहाँ तो द्रव्य ही एक है।

सत्यं तत्र निदानं किमिति तदन्वेषणीयमेव स्यात् ।
येनाखण्डितमिव सत् स्यादेकमनेकदेशवत्त्वेऽपि ॥ ४६३ ॥

अर्थ - एक पदार्थ के प्रदेश जैसे अखण्ड होते हैं वैसे एक क्षेत्रावगाही अनेक पदार्थों के नहीं होते - आपका यह कहना तो ठीक है परन्तु जिससे कि अनेक प्रदेशवाला होने पर भी आपको सत् एक अखण्ड सा प्रतीत होता है इसका क्या कारण है वह (कारण ही) पहले आप बतलाइये।

भावार्थ - ग्रन्थकार शंकाकार से यह जानना चाहते हैं कि वह किस कारण से अनेक प्रदेशी सत् को अखण्ड एक कहता है ताकि उसके कारण का खोटापन उसे समझा सकें।

ननु तत्र निदानमिदं परिणममाने यदेकदेशेऽस्य ।
वेणोरिव पर्वसु किल परिणमनं सर्वदेशेषु ॥ ४६४ ॥

अर्थ - शंकाकार उत्तर में कहता है कि सत् अनेक प्रदेशवाला होकर भी जो अखण्डित प्रतीत होता है उसमें कारण यह है कि इस सत् के एक देश में परिणमन* (संकोचविस्तार हलन-चलन) होने पर सब देश में परिणमन (हलन-चलन) होता है जैसे बांस की एक पोरी के हिलने पर सब पोरियों में हलन-चलन होता है। यही इसके अखण्डित्व की युक्ति है।

तन्न यतस्तद्ग्राहकमिव प्रमाणं च नास्त्यदृष्टान्तात् ।
केवलमन्वयमात्रादपि वा व्यतिरेकिणश्च तदसिद्धेः ॥ ४६५ ॥

अर्थ - एक देश हिलने से सब देशों में हिलना एक वस्तु की अखण्डता में कारण नहीं हो सकता क्योंकि इसका साधक कोई प्रमाण नहीं है और प्रमाण इसलिये नहीं है कि उसका कोई अन्वय व्यतिरेक साधक दृष्टान्त नहीं है। यदि उपर्युक्त कथन (एक देश में हिलने से सब देश में हिलना होता है) में अन्वय व्यतिरेक दोनों घटित होते हों तब तो उसकी सिद्धि हो सकती है अन्यथा केवल अन्वयमात्र या केवल व्यतिरेक मात्र से उक्त कथन की सिद्धि नहीं हो सकती।

ननु चैकस्मिन् देशे कस्मिंश्चित्त्वन्यतरेऽपि हेतुवशात् ।
परिणमति परिणमन्ति हि देशाः सर्वे सदेकतस्त्विति चेत् ॥ ४६६ ॥

अर्थ - इस पर फिर शंकाकार अन्वय वाक्य द्वारा अपनी शंका को सिद्ध करता है कि कारणवश सत् के किसी एक देश के परिणमन (हलन-चलन) पर उसके सब देश हिलते हैं क्योंकि उन सब देशों की एक ही सत्ता है।

न यत सव्यभिचारः पक्षोऽनैकान्तिकत्वदोषत्वात् ।
परिणमति समयदेशे तद्देशाः परिणन्ति नेति यथा ॥ ४६७ ॥

अर्थ - ऊपर जो अन्वय बतलाया गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि वैसा अन्वय पक्ष अनैकान्तिक देश आने से सव्यभिचारी (दोषी) है। वह दोष इस प्रकार आता है कि आत्मा के एक देश के हिलने पर भी उसके सब देश नहीं हिलते हैं।

नोट- शंकाकार ने ऊपर अन्वय वाक्य कहा था। उसमें ग्रन्थकार ने दोष दिखलाया। अब अगले श्लोक द्वारा वह व्यतिरेक वाक्य कहकर अपने पक्ष को पुनः सिद्ध करना चाहता है -

व्यतिरेके वाक्यमिदं यदपरिणमति सदेकदेशे हि ।
क्वचिदपि न परिणमन्ति हि तद्देशाः सर्वतः सदेकत्वात् ॥ ४६८ ॥

अर्थ - व्यतिरेक में यह युक्ति है कि सत् के किसी एक देश में परिणमन** (गुण परिणमन) नहीं होने पर उसके सब प्रदेश कहीं पर भी (गुण) परिणमन नहीं करते हैं। क्योंकि उन सब देशों का एक ही सत्त्व है।

---

* यह ध्यान रहे यहाँ गुण परिणमन से आशय नहीं है किन्तु प्रदेशों के संकोच विस्तार से आशय है।

** यह ध्यान रहे कि यहाँ गुण परिणमन से आशय है, प्रदेश परिस्पन्द से नहीं है।

तन्न यतः सति सति वै व्यतिरेकाभाव एव भवति यथा ।
तद्देशसमयभावैरखण्डितत्वात् सतः स्वतः सिद्धात् ॥ ४६९ ॥

अर्थ - ऐसा नहीं है क्योंकि सत् के सत् होने पर, (उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर, परिणमनशील होने पर) व्यतिरेक का अभाव ही है क्योंकि वह देश समय-समय के परिणामों द्वारा अखण्डित है और वह अखण्डितपना सत् के स्वतः सिद्ध स्वभाव के कारण है।

भावार्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि शंकाकार ने जो व्यतिरेक वाक्य कहा है वह बनता ही नहीं है क्योंकि पदार्थ सदात्मक है अर्थात् उसका सत् लक्षण है और जिसमें उत्पादव्यय-ध्रौव्य होता रहे उसे सत् कहते हैं। जब पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत् रूप है तब उसमें व्यतिरेक सर्वथा ही नहीं बनता। क्योंकि उस देश में प्रतिक्षण अखण्ड रीति से परिणमन होता रहता है और वह पदार्थ का स्वतः सिद्ध स्वभाव है।

पुनः भावार्थ -'ऐसा कोई समय नहीं जिस समय पदार्थ में परिणमन न होता हो। यदि ऐसा समय कभी माना जाय तो उस समय उस पदार्थ का ही अभाव सिद्ध होगा। क्योंकि उस समय उसमें सत्ता लक्षण ही नहीं घटित होगा। इसलिये शंकाकार का यह कहना कि "जहाँ पर एक देश में परिणमन नहीं होता वहाँ पर सर्व देश में भी नहीं होता" सर्वथा निर्मूल है। इस प्रकार शंकाकार के व्यतिरेक पक्ष का भी खण्डन हो गया। शंकाकार ने जो श्लोक ४६० में अनेक प्रदेशों के कारण अनेकत्व और प्रदेशों के खण्डित न होने के कारण एकत्व कहा था। उसका ऊहापोह पूर्वक विचार यहाँ तक चला और अन्त में उसे लक्षणाभास सिद्ध कर दिया गया। जिनकी ऐसी मान्यता हो वे ध्यान से पढ़ें। अतः क्षेत्र की अपेक्षा एकत्व लक्षण वही निर्दोष है जो श्लोक ४५३-५४ में कहा गया है।

एवं यकेऽपि दूरादपनेतव्या हि लक्षणाभासाः ।
यदकिंचित्कारित्वादत्रानधिकारिणोऽनुक्ताः ॥ ४७० ॥

अर्थ - इसी प्रकार और भी जो लक्षणाभास हैं उन्हें भी दूर से ही छोड़ देना चाहिये क्योंकि उनसे किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो पाती। ऐसे अकिञ्चित्कर लक्षणाभासों का यहाँ पर हम उल्लेख भी नहीं करते हैं। उनका प्रयोग करना तो अधिकार से बाहर ही है।

'क्षेत्र से एकत्व' का सार

प्रायः विद्वान् ऐसा अर्थ कर देते हैं कि द्रव्य के प्रदेश अखण्डित हैं इसलिये तो वह एक है और प्रदेश अनेक हैं इसलिए वह अनेक है - जैसे आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं इसलिये तो वह अनेक है और वे प्रदेश अखण्डित हैं इसलिये एक है किन्तु यह ध्यान रहे कि इसको ग्रन्थकार ने तीसरा लक्षणाभास बतलाया है। भाई सोच तो काल द्रव्य और पुद्गल द्रव्य तो एक ही प्रदेशी है उनमें एक अनेक कैसे घटित होगा। अतः वह धारणा गलत है। सत्य अर्थ यह है कि सत् अपने एक देश में जो, जैसा, जिस प्रकार, जितना, स्थित है वह सत् सम्पूर्ण देश में वही, वैसा, उसी प्रकार, उतना ही स्थित है जैसे आत्मा के एक देश में जो जैसा, जितना, सत् जिस प्रकार है; वही, वैसा, उतना, सत् उसी प्रकार सर्वत्र स्थित है। इसी प्रकार काल के छः कोण हैं। एक कोण में जो, जैसा, जितना सत् जिस प्रकार स्थित है, सब कोण में वही वैसा उतना ही सत् स्थित है। यही क्षेत्र की अपेक्षा सत् के एकत्व में सत्य युक्ति है। (४५३-४५४) (२) दूसरे जिस प्रकार दीप के प्रकाश में वृद्धि-हानि होती है। उस प्रकार सत् क्षेत्र में हानि-वृद्धि नहीं होती है। उसके क्षेत्र में हानि-वृद्धि कहना लक्षणाभास है।

यहाँ यह खास मार्मिक बात है कि शंकाकार रोशनी में हानि-वृद्धि बतलाकर सत् क्षेत्र को अनेक हेतुक एक सिद्ध करना चाहता है। उसका ऐसा आशय है कि द्रव्य के प्रदेश सर्वथा भिन्न हैं। वे जुड़कर एक बने हैं। उनमें पुद्गल स्कंधों की तरह कभी प्रदेश कम भी हो जाते हैं कभी अधिक भी हो जाते हैं। ऐसा वह कहना चाहता है सो ग्रंथकार कहते हैं कि सत् का क्षेत्र न तो रोशनीवत् या स्कन्धवत् अनेकहेतुक एक है और न उसके प्रदेशों में हानि-वृद्धि ही होती है। शंकाकार किसी भी तरह सत् को अनेक सत्ताओं से मिलकर एक सत् (अनेकहेतुक एक) सिद्ध करना चाहता है सो आचार्य कहते हैं कि वह तो स्वभाव से स्वतः सिद्ध एक निश्चित क्षेत्रवाला है। उसको अनेक क्षेत्रवाला मानना

या हीनाधिक क्षेत्रवाला मानना लक्षणाभास है। (३) तीसरे द्रव्य का उपभोग अपने सब देश क्षेत्र में सीमित है इसलिये एक है जैसे आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव होगा तो सम्पूर्ण देशों में एक डिग्री का बराबर होगा अतः वह एक है अथवा पुद्गल के एक परमाणु में स्पर्श का परिणमन होगा तो सारे में एक जैसा होगा इसलिये क्षेत्र एकत्व है, यह भी लक्षणाभास है क्योंकि इस प्रकार एकत्व सिद्ध करने से अनेकत्व सिद्ध करने का कोई मार्ग नहीं है। यदि उपभोग क्षेत्र के प्रदेश कम-ज्यादा होते हों तो क्षेत्र से अनेकत्व सिद्ध हो जाय पर ऐसा कभी होता नहीं यदि संकोच विस्तार से वह अनेकत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया तो तीन द्रव्यों में तो संकोच विस्तार ही नहीं होता और दो हैं ही एक प्रदेशी-उनमें संकोच विस्तार का प्रश्न ही नहीं। अतः यह भी लक्षणाभास है। इसका मर्म यह है कि शिष्य की बात में दम तो था और आचार्य इस अपेक्षा एकत्व मानने को तैयार भी थे। इसमें सहसा कोई दोष नहीं दीखता था, एकत्व ठीक बनता था पर जब क्षेत्र की अपेक्षा अनेकत्व का प्रश्न आकर खड़ा हुआ तो उसका उत्तर यही हो सकता है कि उपभोग क्षेत्र के वे प्रदेश कम-ज्यादा हों तो अनेकत्व ठीक सिद्ध हो जाये पर ऐसा कभी होता नहीं। अतः मामला अटक गया। जब अनेकत्व नहीं बना तो आचार्य कहते हैं कि भाई इसलिये इस प्रकार एकत्व भी मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार शिष्य की सब खोटी मान्यताओं का खण्डन करके सत् को सब प्रकार से एकत्व सिद्ध किया गया। अब शिष्य कहता है कि सर्वथा एक है तो कहते हैं कि जिस प्रकार अनेक होने से अनेक तू कहता है वैसा नहीं है। किन्तु प्रतीति के अनुसार अनेकत्व है जैसे पहले नं. ४५६ में कहा है। वास्तव में एक ही है।

काल से एक (४७१ से ४७८ तक)

कालः समयो यदि वा तद्देशे वर्त्तनाकृतिश्चार्थात् ।
तेनाप्यखण्डितत्त्वाद्भवति सदेकं तदेकनययोगात् ॥ ४७१ ॥

अर्थ - काल, समय अथवा उस देश (वस्तु) में वर्तना रूप आकार का होना, ये तीनों ही बातें एक हैं। उस काल से भी वस्तु अखण्डित है। वस्तु में यह अखण्डता द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से लाई जाती है।

अयमर्थः सन्मालामिह संस्थाप्य प्रवाहरूपेण ।
क्रमतो व्यस्तसमस्तैरितस्ततो वा विचारयन्तु बुधाः ॥ ४७२ ॥

अर्थ - अर्थ यह है कि यहाँ सत् की माला को (त्रिकालवर्ती परिणामों को) प्रवाहरूप से संस्थापित करके और क्रम से अलग-अलग या मिलाकर इधर-उधर से बुधजन विचार करें (तो उन्हें ज्ञात होगा कि)

काल से एकत्व का लक्षण

तत्रैकावसरस्थं यद्यावद्यादृगस्ति सत्सर्वम् ।
सर्वावसरसमुदितं तत्तावत्तादृगस्ति सत्सर्वम् ॥ ४७३ ॥

अर्थ - उन सब समयों में से एक समय में रहने वाला जो, जितना और जिस प्रकार का संपूर्ण सत् है, वही उतना और उसी प्रकार का संपूर्ण सत् समुदित सब समयों में भी है (यह काल से एकत्व का करणसूत्र है)।

लक्षणाभास तथा दृष्टान्ताभास

न पुनः कालसमृद्धौ यथा शरीरादिवृद्धिरिति वृद्धिः ।
अपि तद्धानौ हानिर्न तथा वृद्धिर्न हानिरेव सतः ॥ ४७४ ॥

अर्थ - किन्तु ऐसा नहीं है कि जिस प्रकार काल की वृद्धि होने पर शरीरादि की वृद्धि होती है इस प्रकार वृद्धि और जिस प्रकार काल की हानि होने पर शरीरादि की हानि होती है उस प्रकार हानि, उस प्रकार काल की अपेक्षा सत् की वृद्धि हानि नहीं होती है। वह काल की अपेक्षा सदा एकसा ही रहता है।

शंका

ननु भवति पूर्वपूर्वभावध्वंसान्नु हानिरेव सतः ।
स्यादपि तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन वृद्धिरेव सतः ॥ ४७५ ॥

शंका - जब पदार्थ में पहले-पहले भावों (पर्यायों) का नाश होता जाता है तो अवश्य ही पदार्थ की हानि (न्यूनता) होती है और जब उत्तरोत्तर-नवीन भावों का उसमें उत्पाद होता रहता है तो अवश्य ही उसकी वृद्धि होती है।

समाधान

नैवं सतो विनाशादसतः सर्गादसिद्धसिद्धान्तात् ।
सदनन्यथाथ वा चेत्सदनित्यं कालतः कथं तस्य ॥ ४७६ ॥

अर्थ - उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। यदि पदार्थ की हानि और वृद्धि होने लगे तो सत् पदार्थ का विनाश और असत् का उत्पाद भी स्वयं सिद्ध होगा और ऐसा सिद्धान्त सर्वथा असिद्ध है। अब यदि इस दोष से बचने के लिए सत् को सर्वथा एक रूप में (अपरिणामी) ही मान लिया जाय अर्थात् उसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य न माना जाय तो ऐसा मानने वाले के यहाँ काल की अपेक्षा से सत् अनित्य किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् बिना परिणमन स्वीकार किये पदार्थ में अनित्यता काल की अपेक्षा से नहीं आ सकती है।

नासिद्धमनित्यत्वं सतस्ततः कालतोऽपि नित्यस्य ।
परिणामित्त्वान्नियतं सिद्धं तज्जलधरादिदृष्टान्तात् ॥ ४७७ ॥

अर्थ - यद्यपि सत् काल की अपेक्षा नित्य है तथापि वह अनित्य भी है यह बात असिद्ध भी नहीं है। काल की अपेक्षा से वह सदा परिणमन करता ही रहता है, इसलिये उसमें कथंचित् अनित्यता स्वयं सिद्ध है। इस विषय में मेघ बिजली आदि अनेक दृष्टान्त प्रत्यक्ष सिद्ध हैं।

उपसंहार

तस्मादनवद्यमिदं परिणममानं पुनः पुनः सदपि ।
स्यादेकं कालादपि निजप्रमाणादखण्डितत्त्वाद्वा ॥ ४७८ ॥

अर्थ - ऊपर के कथन से यह बात निर्दोष रीति से सिद्ध होती है कि सत् बार-बार परिणमन करता हुआ भी काल की अपेक्षा से वह एक है क्योंकि उसका जितना प्रमाण (परिणाम) है उतना ही बना रहता है अर्थात् उससे वह सदा अखण्ड रहता है (परिणमन करने पर भी उसका स्वभाव सदा एकसा रहता है)।

काल से एकत्व का सार

तीनों काल के सम्पूर्ण समयों को क्रमशः रखकर देखें तो पता चलता है कि हर एक पर्याय में सम्पूर्ण सत् अपने पूर्ण रूप को लिये हुए वैसे का वैसा स्थित है। बस यह काल की अपेक्षा एकत्व का लक्षण है (४७३) शंकाकार उस काल के एकत्व को इस प्रकार सिद्ध करना चाहता है कि प्रत्येक समय की पर्याय सर्वथा भिन्न-भिन्न है। ये तो अनेकत्व है और अनादि से अनन्तकाल की सब पर्यायें एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं यह एकत्व है तथा जो पर्याय बीत जाती है वह सत् में से निकल जाती है। इस प्रकार से सत् की हानि होती है और अगले समय की पर्याय आ मिलती है इस प्रकार सत् की वृद्धि होती है। अपनी पृष्टि के लिये उसने शरीर का दृष्टान्त दिया है कि जैसे बालक से जवानी में शरीर बढ़ता है। इस प्रकार तो काल की अपेक्षा सत् बढ़ता है और जिस प्रकार जवानी से बुढ़ापे में शरीर घटता है उस प्रकार सत् घटता है। शिष्य के पेट का रहस्य यह है कि वह काल की अपेक्षा से भी सत् को अनेकहेतुक एक सिद्ध करना चाहता है इससे उसका अनेकत्व भी सिद्ध हो जायेगा और काल से सत् में हानि-वृद्धि भी सिद्ध हो जायगी किन्तु यह सब भ्रमणा है और लक्षणाभास है। यहाँ तो काल की अपेक्षा सत् एक इसलिये है कि वह स्वतःसिद्ध वस्तु सदैव एक जैसी है अपने स्वरूप में कमी-बेशी नहीं करती पर परिणमनशील है अतः उसके प्रत्येक परिणमन में वह स्वरूप ज्यों का त्यों है यही काल से एकत्व है। क्या सर्वथा ऐसा है तो कहते हैं कि नहीं। वह अनेकपना शिष्य की मान्यतानुसार अनेकहेतुक एक नहीं है किन्तु प्रतीति के अनुसार अनेक है। वह कैसे ? वह इस प्रकार कि जब हम पर्याय दृष्टि से देखते हैं तो प्रत्येक समय का सत् भिन्न-भिन्न प्रतीतिगोचर होता है। मनुष्य देव भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में वह एक ही सत् है देव मनुष्य में सर्वथा भिन्नता नहीं है।

भाव से 'एक' ४७९ से ४९२ तक

भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात् ।
प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणश्च धर्मश्च ॥ ४७९ ॥

अर्थ - भाव, परिणाम, शक्ति, विशेष स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप, लक्षण, गुण, धर्म, ये सब भाव के ही पर्यायवाचक हैं। (देखिये पूर्व श्लोक ८४ तथा १३८)।

तेनाखण्डतया स्यादेकं सच्चैकदेशनययोगात् ।
तल्लक्षणमिदमधुना विधीयते सावधानतया ॥ ४८० ॥

अर्थ - उस भाव से भी अखण्डितपने के कारण द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से सत् एक है। भाव की अपेक्षा से सत् एक है इस विषय का लक्षण (स्वरूप) सावधानी से इस समय कहा जाता है।

सर्वं सदिति यथा स्यादिह संस्थाप्य गुणपंक्तिरूपेण ।
पश्यन्तु भावसादिह निःशेषं सन्नशेषमिह किञ्चित् ॥ ४८१ ॥

अर्थ - सम्पूर्ण सत् को गुणों की पंक्तिरूप से यदि स्थापित किया जाय तो उस सम्पूर्ण सत् को आप भाव रूप ही देखेंगे। भावों (गुणों) को छोड़कर सत् में और कुछ भी आपकी दृष्टि में न आवेगा (क्योंकि वह गुणों का ही समुदाय है)।

भाव से एकत्व का लक्षण

एकं तत्रान्यतरं भावं समपेक्ष्य यावदिह सदिति ।
सर्वानपि भावानिह व्यस्तसमस्तानपेक्ष्य सत्तावत् ॥ ४८२ ॥

अर्थ - इन भावों में से किसी एक भाव की अपेक्षा विचार करने पर सत् जितना है, सब भावों की अपेक्षा पृथक् -पृथक् या मिलाकर विचार करने पर वह सत् उतना ही है।

लक्षणाभास तथा दृष्टांताभास

न पुनर्द्व्यणुकादिरिति स्कन्धः पुद्गलमयोऽस्त्यणूनां हि ।
लघुरपि भवति लघुत्वे सति च महत्वे महानिहास्ति यथा ॥ ४८३ ॥

अर्थ - जिस प्रकार पुद्गलमय द्व्यणुकादि स्कन्ध परमाणुओं के कम होने से छोटा और उनके अधिक होने पर बड़ा हो जाता है उस प्रकार सत् में गुणों के कम होने से छोटापन और गुणों के बढ़ने से बड़ापन नहीं होता है। अर्थात् उसमें से न तो कोई गुण कहीं चला जाता है और न कोई कहीं से आ जाता है। वह जितना है सदा उतना ही रहता है।

अयमर्थो वस्तु यदा लक्ष्येत विवक्षितैकभावेन ।
तन्मात्रं सदिति स्यात् सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥ ४८४ ॥

अर्थ - अर्थ यह है कि जब वस्तु विवक्षित एक भाव रूप से देखी जाती है, उस समय सत् विवक्षित उस भाव रूप ही प्रतीत होता है और वह विवक्षित भाव भी सत् मात्र ही प्रतीत होता है।

यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात् ।
तन्मात्रं सदिति स्यात् सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥ ४८५ ॥

अर्थ - इसी प्रकार यदि वह सत् किसी अन्य भावरूप से विवक्षित होता है, उस समय वह सत् उस भाव रूप ही प्रतीत होता है और वह विवक्षित भाव भी सत् मात्र ही प्रतीत होता है।

भावार्थ - जिस समय जिस भाव की विवक्षा की जाती है, उस समय संपूर्ण वस्तु उसी भाव रूप प्रतीत होती है। बाकी के सब उसी में अन्तर्लीन हो जाते हैं। इसका कारण भी उसका तादात्म्य भाव है।

दृष्टांत तीन श्लोक इकट्ठे

अत्रापि च संदृष्टिः कनकः पीलादिमानिहास्ति यथा ।
पीतेन पीतमात्रो भवति गुरुत्वादिना च तन्मात्रः ॥ ४८६ ॥

अर्थ - वस्तु जिस भाव से विवक्षित की जाती है, उसी भावमय प्रतीत होती है, इस विषय में सुवर्ण (सोने) का दृष्टांत भी है। सुवर्ण में पीलापन, भारीपन, चमकीलापन आदि अनेक गुण हैं। जिस समय वह पीत गुण से विवक्षित किया जाता है उस समय वह पीतमात्र ही प्रतीत होता है तथा जिस समय वह सुवर्ण गुरुत्व गुण से विवक्षित किया जाता है उस समय वह गुरुरूप ही प्रतीत होता है।

न च किंचित् पीतत्वं किंचित् स्निग्धत्वमस्ति गुरुता च ।
तेषामिह समवायादस्ति सुवर्णस्त्रिसत्त्वसत्ताकः ॥ ४८७ ॥

अर्थ – ऐसा नहीं है कि उस सोने में कुछ तो पीतिमा हो, कुछ स्निग्धता हो और कुछ गुरुता हो, और उन सब के समवाय से तीन सत्ताओं वाला एक सोना कहलाता हो। (फल, फूल, पत्तों से मिलकर बने हुवे वृक्ष की तरह नहीं है)।

इदमत्र तु तात्पर्यं यत्पीतत्वं गुणः सुवर्णस्य ।
अन्तर्लीनगुरुत्वाद्विवक्ष्यते तद्गुरुत्वेन ॥ ४८८ ॥

अर्थ – किन्तु यहाँ यह तात्पर्य है कि सोने का जो पीत गुण है उसमें गुरुत्व गुण अन्तर्लीन होने से वह पीत गुण ही गुरुत्वपने से विवक्षित किया जाता है।

ज्ञानत्वं जीवगुणस्तदिह विवक्षावशात् सुखत्वं स्यात् ।
अन्तर्लीनत्वादिह तदेकसत्त्वं तदात्मकत्वाच्च ॥ ४८९ ॥

अर्थ – (इसी प्रकार) ज्ञानपना जीव का गुण है वही यहाँ विवक्षा वश से सुख रूप हो जाता है। उस ज्ञान में सुख अन्तर्लीन होने से वह एक सत्तावाला है क्योंकि वह (ज्ञान) तदात्मक (सुखात्मक) है।

(श्री प्रवचनसार गाथा ५९-६०-६१)

शंका

ननु निर्गुणा गुणा इति सूत्रे सूक्तं प्रमाणतो वृद्धैः ।
तत् किं ज्ञानं गुण इति विवक्षितं स्यात् सुखत्वेन ॥ ४९० ॥

अर्थ – शंका-गुण निर्गुण हैं। ऐसा तत्त्वार्थ सूत्र में प्रमाण से वृद्ध पुरुषों द्वारा (अनुभवी आचार्यों द्वारा) कहा गया है। तब फिर ज्ञान गुण सुखपने से विवक्षित कैसे हो सकता है ?

भावार्थ – जब एक गुण में दूसरा गुण रहता ही नहीं है ऐसा सिद्धान्त है, तब ज्ञान में सुख की अन्तर्लीनता अथवा सुख में ज्ञान की अन्तर्लीनता यहाँ पर क्यों बतलाई गई है ?

समाधान

सत्यं लक्षणभेदाद्गुणभेदो निर्विलक्षणः स स्यात् ।
तेषां तदेकसत्त्वादखण्डितत्वं प्रमाणतोऽध्यक्षात् ॥ ४९१ ॥

अर्थ – ठीक है, परन्तु बात यह है कि गुणों में जो भेद है वह उनके लक्षणों के भेद से है। वह ऐसा भेद नहीं है कि गुणों को सर्वथा जुदा-जुदा सिद्ध करने वाला हो। उन संपूर्ण गुणों की एक ही सत्ता है इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण से उनमें अखण्डता अभेद सिद्ध है।

उपसंहार

तस्मादनवद्यमिदं भावेनाखण्डितं सदेकं स्यात् ।
तदपि विवक्षावशतः स्यादिति सर्वं न सर्वथेति नयात् ॥ ४९२ ॥

अर्थ – उपर्युक्त कथन से यह बात निर्दोष रीति से सिद्ध हो चुकी कि भाव की अपेक्षा से सत् अखण्डित एक है। इतना विशेष समझना चाहिए कि वह सत् की एकता विवक्षा के आधीन है। सर्वथा एकता उसमें असिद्ध ही है, क्योंकि वस्तु में एकता और अनेकता किसी नय विशेष से सिद्ध होती है।

भाव से एकत्व का सार

द्रव्य अनन्त गुणों का अखण्ड तादात्म्य एक पिण्ड है और वह भी ऐसा पिण्ड है कि जिस गुण की विवक्षा करके उसे देखो, सम्पूर्ण द्रव्य उसी रूप प्रतीत होगा, बस यही भाव से एकत्व का रहस्य है। (१) दृष्टांत के लिये एक सोने का लठ लीजिये। उसे पीलेपन की दृष्टि से देखिये तो सारी की सारी लठ पीली दृष्टिगत होगी। फिर उसी लठ को भारीपन की दृष्टि से देखिये तो सारी की सारी लठ भारी प्रतीत होगी। फिर उसे स्निग्धत्व की दृष्टि से देखिये, सारी

की सारी लठ स्निग्ध प्रतीत होगी। यद्यपि पीला, भारी, स्निग्ध गुण लक्षणभेद से भिन्न हैं पर उनका अन्वय द्रव्य इस कमाल से एक है कि सब गुण एक में अन्तर्लीन होकर अपने को उस विवक्षित गुण रूप ही उपस्थित कर देते हैं। यह भाव की अपेक्षा एकत्व है। (२) इसी प्रकार एक आम को लीजिये। रूप की दृष्टि से देखिये तो सारे का सारा पीला है। रस की दृष्टि से देखिये तो सारे का सारा मीठा है। (३) इसी प्रकार जीव को लीजिये। जिस समय जीव को ज्ञानी कहा जाता है उस समय विचार करने पर सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। द्रष्टा कहने पर वह दर्शनमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर वह सुखमय ही प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञानी कहने पर जीव में कुछ अंश तो ज्ञानमय प्रतीत होता हो कुछ दर्शनमय होता हो और कुछ अंश सुखमय प्रतीत होता हो किन्तु सर्वांश ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर सर्वांश रूप से जीव सुखमय ही प्रतीत होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानी कहने से सम्पूर्ण जीव का बोध नहीं होना चाहिए अथवा द्रष्टा और सुखी कहने से भी सम्पूर्ण जीव का बोध नहीं होना चाहिए किन्तु उसके एक अंश का ही बोध होना चाहिये परन्तु ऐसा बोध नहीं होता है। क्योंकि सब गुणों का तादात्म्य अन्वय पिण्ड एक है इसलिये सब एक में अन्तर्लीन होकर अपने को एक रूप ही उपस्थित कर देते हैं। यह भाव से एकत्व है। इस विषय में पूर्व श्लोक नं. १४४ तथा १५३ से १५६ भी पढ़िये। वहाँ भी इसका स्पष्टीकरण हो चुका है। गुणों की यह एकता भी अनेक हेतुक एक नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध एकत्व है। शंकाकार इस विषय को इस प्रकार सिद्ध करना चाहता है कि द्रव्य तो एक पुद्गल स्कन्धवत् है और एक-एक गुण उसमें एक-एक परमाणुवत् है। जैसे उस स्कन्ध में कोई परमाणु आता रहता है उस प्रकार तो गुणों की वृद्धि होती है और जिस प्रकार कोई परमाणु स्कंध से जुदा भी हो जाता है उस प्रकार सत् में गुण की हानि भी होती है इससे वह द्रव्य को भाव की अपेक्षा अनेकहेतुक एक सिद्ध करना चाहता है और गुणों की हीनाधिकता से एक-एक गुण की सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करना चाहता है किन्तु यह प्रत्यक्ष मिथ्या है। लक्षणाभास या दृष्टान्ताभास है। यहाँ तो द्रव्य आमवत् है और गुण, स्पर्श, रस, गंध वर्णवत् है। अतः वह द्रव्य वास्तव में एक है। गुणों के लक्षण भेद से प्रतीति के अनुसार अनेक भी कह देते हैं। जिसका स्पष्टीकरण हम पहले द्रव्य की अपेक्षा एक के सार में लिख ही चुके हैं।

अगली भूमिका - अनेकपने का रहस्य

यहाँ तक आचार्यदेव ने डटकर अनेकपने का खण्डन किया है और द्रव्य को हर प्रकार से एक सिद्ध किया है। अब यह समझाते हैं कि यह बात तो सोला आने सही है ही कि वह अनेकसत्ताओं का मिलकर एक सत् (अनेकहेतुक एक) नहीं है, पर हे शिष्य ! तुझे यह भी समझ लेना चाहिये कि वह एकता भी सर्वथा एकता नहीं है। हम जैन लोग किसी अपेक्षा से सत् को अनेक भी मानते हैं। वह अपेक्षा पर्याय दृष्टि है। भेद कल्पना है। क्योंकि अवयवों के अभाव में अवयवी का अभाव ठहरता है अथवा व्यतिरेक (भेद) के अभाव में अन्वय (अभेद) की सत्ता भी सिद्ध नहीं होती है। अतः वह अनेकता द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से चारों प्रकार से है जो क्रमशः समझाते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि वह अनेकता प्रतीति के अनुसार है। लक्षण भेद से है। सर्वथा नहीं है। प्रदेश भेद से नहीं है।

अनेकपने में युक्ति ४९३-९४

एवं भवति सदेकं भवति न तदपि च निरंकुशं किन्तु ।
सदनेकं स्यादिति किल सप्रतिपक्षं यथाप्रमाणाद्वा ॥ ४९३ ॥

अर्थ - इस प्रकार यद्यपि सत् एक है तथापि वह सर्वथा-निरपेक्ष-निरंकुश स्वतन्त्र एक नहीं है। इसका प्रतिपक्ष भी प्रमाण सिद्ध है इसलिये वह निश्चय से अनेक भी है। यह अनेकता प्रतीति (अनुभव-लक्षण) के अनुसार है। अनेक सत्ताओं के आधार से नहीं है।

अपि च स्यात् सदनेकं तद्द्रव्याद्यैरखण्डितत्त्वेऽपि ।
व्यतिरेकेण बिना यन्नान्वयपक्षः स्वपक्षरक्षार्थम् ॥ ४९४ ॥

अर्थ - यद्यपि सत् द्रव्य, गुण, पर्यायों से अखण्ड है तथापि वह अनेक है क्योंकि बिना व्यतिरेक पक्ष स्वीकार किये अन्वय पक्ष भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता है।

भावार्थ – बिना कथंचित् भेद पक्ष स्वीकार किये अभेद पक्ष भी नहीं सिद्ध होता क्योंकि भेद द्वारा ही तो अभेद की सिद्धि की जाती है। उभयात्मक ही वस्तु स्वरूप है। अब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों ही से वस्तु में भेद सिद्ध किया जाता है।

द्रव्य से 'अनेक'

अस्ति गुणस्तल्लक्षणयोगादिह पर्ययस्तथा च स्यात् ।
तदनेकत्वे नियमात् सदनेकं द्रव्यतः कथं न स्यात् ॥ ४९५ ॥

अर्थ – गुण अपने गुणत्व लक्षण के योग से भिन्न है। उसी प्रकार पर्याय अपने पर्यायत्व लक्षण के योग से भिन्न है। उन गुणपर्यायों की नियम से अनेकता में द्रव्य की अपेक्षा से सत् अनेक क्यों नहीं है ? अर्थात् भेद विवक्षा से सत् कथंचित् अनेक भी है। यह अनेकत्व लक्षण भेद से ही है। सत्ता भेद से नहीं है।

क्षेत्र से 'अनेक'

यत्सत्तदेकदेशे तद्देशे न तद्द्वितीयेषु ।
अपि तद्द्वितीयदेशे सदनेकं क्षेत्रतश्च को नेच्छेत् ॥ ४९६ ॥

अर्थ – जो सत् एक देश में है वह उसी देश में है वह दूसरे आदि देशों में नहीं है। इसी प्रकार दूसरे देश में जो सत् है वह उसी देश में है अन्य देशों में नहीं है अतः क्षेत्र की अपेक्षा से सत् अनेक कौन नहीं चाहेगा ? सभी चाहेंगे (यह अनेकता कथंचित् है सर्वथा नहीं है। कालद्रव्य तथा शुद्ध पुद्गल परमाणु छः कोण की अपेक्षा अनेक है)।

काल से 'अनेक'

यत्सत्तदेककाले तत्तत्काले न तदितरत्र पुनः ।
अपि सत्तदितरकाले सदनेकं कालतोऽपि तदवश्यम् ॥ ४९७ ॥

अर्थ – जो सत् एक काल (पर्याय) में है वह उसी काल में है वह दूसरे कालों में नहीं है। इस प्रकार जो सत् दूसरे काल में है वह उसी काल में है उससे भिन्न पहले में अथवा तीसरे आदि काल में नहीं है। अतः काल की अपेक्षा भी वह सत् अनेक अवश्य है यह अनेकता पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से है। अतत् दृष्टि से है। इस दृष्टि से प्रत्येक समय का सत् भिन्न-भिन्न है।

भाव से 'अनेक'

तन्मात्रत्वादेको भावो यः स न तदन्यभावः स्यात् ।
भवति च तदन्यभावः सदनेकं भावतो भवेन्नियतम् ॥ ४९८ ॥

अर्थ – जो एक भाव है वह अपने स्वरूप से उसी प्रकार है, वह अन्य भावरूप नहीं हो सकता है और जो अंन्य भाव है वह अन्य रूप ही है, वह दूसरे भाव रूप नहीं हो सकता है। इसलिए भाव की अपेक्षा से भी नियम से सत् अनेक है। गुणों की यह अनेकता लक्षण दृष्टि से है। प्रतीति अनुसार है। सर्वथा नहीं है तथा यहाँ गुणांश की भिन्नता की बात नहीं है किन्तु ज्ञान, दर्शन, सुखादि गुण भिन्नता की बात है।

अनेकत्व पूरा हुआ

उभय अनुभय आदि शेष भंगों का समर्थन

शेषो विधिरुक्तत्वादत्र न निर्दिष्ट एव दृष्टान्तः ।
अपि गौरवप्रसंगाद् यदि वा पुनरुक्तदोषभयात् ॥ ४९९ ॥

अर्थ – बाकी की विधि (सत् उभय-अनुभय आदि रूप) पहले ही कही जा चुकी है। इसलिये वह नहीं कही जाती है। गौरव के प्रसंग से अथवा पुनरुक्त दोष के भय से उस विषय में दृष्टान्त भी नहीं कहा जाता है।

भावार्थ – (१) जो सत् लक्षण भेद के कारण द्रव्य-गुण-पर्याय आदि अंशों से विभाजित अनेक हैं, वही सत् निरंश होने से अभेद्य एक है। इस प्रकार सत् उभय है। (२) निरंश देश होने से जिसमें द्रव्य-गुण-पर्याय की कल्पना ही नहीं है अर्थात् न एक है न अनेक है। किसी विकल्प से व्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। अखण्ड अनिर्वचनीय है। इस

प्रकार सत् अनुभय है। (३) एक-एक अंश लक्षण भेद से भिन्न होने से सत् व्यस्तरूप है और (४) अखण्ड एक सामान्य रूप होने से समस्त रूप है। (५) गणना की अपेक्षा अंशों को भिन्न-भिन्न क्रमशः गिनने से सत् क्रमवर्ती है। (श्री प्रवचनसार गाथा ९९) और (६) अखण्ड एक स्वभाव होने से अक्रमवर्ती है। (७) इस एक अनेक के दो भंग कह दिये हैं। शेष पांच भंग इनके योग से जान लेना। ऐसा ग्रन्थकार का शेष विधि कहने से आशय है। सो जानना। अन्त में दृष्टि परिज्ञान तथा सप्तभंगी विज्ञान देखिये।

एक अनेक आदि की परस्पर सापेक्षता

तस्माद्यदिह सदेकं सदनेकं स्यात्तदेव युक्तिवशात् ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषविलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५०० ॥

अर्थ - इसलिये जो सत् एक है वही युक्तिवश से अनेक भी सिद्ध होता है। यदि एक और अनेक इन दोनों में से किसी एक का लोपकर दिया जाय तो दूसरे का लोप भी दुर्निवार अवश्यम्भावी है अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा रखता है दोनों की सिद्धि में दोनों की सापेक्षता ही कारण है। एक की असिद्धि में दूसरे की असिद्धि स्वयं सिद्ध है। इसी का निरूपण जैसा पहले श्लोक नं. १५ से १९ तक तथा २८९ से ३०८ तक हो चुका है। वैसा यहाँ भी जान लेना।

सर्वथा निरपेक्ष 'एक' का खण्डन

अपि सर्वथा सदेकं स्यादिति पक्षो न साधनायालं ।
इह तदवयवाभावे नियमात् सदवयविनोऽप्यभावत्वात् ॥ ५०१ ॥

अर्थ - सत् सर्वथा एक है यह पक्ष भी वस्तु की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं है। वस्तु के अवयवों के अभाव में वस्तु रूप अवयवी भी नियम से सिद्ध नहीं होता है।

सर्वथा निरपेक्ष 'अनेक' का खण्डन

सपि सदनेकं स्यादिति पक्षः कुशलो न सर्वथेति यतः ।
एकमनेकं स्यादिति नानेकं स्यादनेकमेकैकात् ॥ ५०२ ॥

अर्थ - सत् सर्वथा अनेक है यह पक्ष भी सर्वथा ठीक नहीं है क्योंकि एक ही अनेक है किन्तु एक-एक मिलकर अनेक 'अनेक' होता है ऐसा नहीं है (यह अन्तिम श्लोक बहुत मार्मिक लिखा है।) इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि अनेकहेतुक एक नहीं है किन्तु प्रतीति के अनुसार अनेक है। वास्तव में एक है। यह ध्यान रहे एकता निश्चय नय का विषय है और अनेकता व्यवहार नय का विषय है। ज्ञान दृष्टि से वस्तु प्रमाणस्वरूप है।

एक अनेक अधिकार का सार

एक अनेक का सम्बन्ध गणना से है जैसे एक, दो, तीन इत्यादि। वह गणना दो प्रकार से होती है एक तो ऐसे जैसे भिन्न-भिन्न दस दवाइयों की मिलाकर एक गोली बना ली। अब वह गोली की अपेक्षा तो एक है किन्तु दवाइयों की अपेक्षा अनेक है क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रदेशवाली अनेक वस्तुओं की वह एक समुदायात्मक गोली है। इस प्रकार एक अनेक तो शंकाकार मानता है उसका कहना है कि द्रव्य की अपेक्षा तो, दवाइयों की तरह, गोरस की तरह, स्वर्ण पाषाण की तरह भिन्न-भिन्न अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें अपने-अपने प्रदेशों में सत्तारूप हैं और उनका मिलकर गोलीवत् एक सत् है, क्षेत्र की अपेक्षा उसका कहना है कि माला के दानों की तरह एक-एक प्रदेश भिन्न-भिन्न सत्तावाला अनेक है और उनका जुड़कर असंख्यात् या अनन्त प्रदेशी द्रव्य एक है। उसमें कभी कम प्रदेश भी हो जाते हैं कभी अधिक भी जैसे दीपों की रोशनी बढ़ भी जाती है, घट भी जाती है। काल की अपेक्षा उसका कहना है कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीन काल के समयों की एक-एक समय की भिन्न-भिन्न सत्तात्मक पर्याय है और उन सब पर्यायों का मिलकर एक काल है। जैसे अगले-अगले समय में शरीर बढ़ता जाता है वैसे अगले-अगले काल में सत् बढ़ता जाता है और जैसे बुढ़ापे में शरीर घटता जाता है वैसे भूतकाल के समयों से वह सत् घटता जाता है। भाव की अपेक्षा उसका कहना है कि जैसे अनेक परमाणु मिलकर स्कंध में एक बनता है। ऐसे भिन्न-भिन्न अनन्त गुण मिलकर एक सत् है और जैसे स्कन्ध में परमाणु कम-ज्यादा हो जाते हैं। ऐसे सत् में भाव (गुण) कम-ज्यादा भी हो जाते हैं। इस सारे कथन का सार यह है कि वह हर प्रकार से अनेक सत्ताओं का मिलकर एक सत् अर्थात् अनेकहेतुक एक सत् मानता है।

समाधान - अब उसके उत्तर में आचार्य उसे समझाते हैं कि तेरी सब मान्यता गलत है। वह सत् तो द्रव्य की अपेक्षा से आमवत् एक है और स्पर्श-रस-गंध-वर्ण की तरह गुणपर्यायें उसमें अनेक हैं, क्षेत्र की अपेक्षा से स्वाभाविक असंख्यात् या अनन्त या एक प्रदेश का अखण्ड पिण्ड है इसलिये एक हैं और चौड़ाई समझने के लिये जो प्रदेशों की कल्पना या एक प्रदेश में छः कोण की कल्पना से अनेक है। पर्याय की अपेक्षा अनादि अनन्त परिणमन में वह अखण्ड स्वभावी एक है और समय-समय के भिन्न-भिन्न परिणमन की अपेक्षा अनेक है, भाव की अपेक्षा सोने की लठवत् एक है और वह लठ पीली, भारी, चिकनी अनेक रूप दीखती है इसलिये अनेक है ऐसे सत् अनन्त गुणों का एक शरीर होने से सारा का सारा एक गुण रूप दीखता है इसलिये एक है गुण भेद की अपेक्षा अनेक है अर्थात् हर प्रकार से अनेक सत्ता मिलकर एक नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध एक है। इस पर फिर शिष्य पूछता है कि अनेकहेतुक एक है या नहीं तो कहते हैं कि अनेकहेतुक एक तो है पर जिस प्रकार का अनेकहेतुक एक तू समझता है वैसा नहीं है अर्थात् अनेक सत् मिलकर एक नहीं है। हैं तो अखण्ड एक जैसे आम, पर जिस प्रकार आम में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से भिन्न-भिन्न रूप केवल प्रतीति में आता है, उस प्रकार अनेक है ऐसा नहीं है कि रस तुम ले लो और रूप मुझे दे दो। इसी प्रकार सत् है तो एक पर ज्ञान से उसमें गुणपर्यायों की, प्रदेशों की, पर्यायों की और गुणों की भिन्नता भी दीखती है, प्रतीति में आती है। इस प्रतीति के अनुसार अनेक भी है। प्रतीति अनुसार अनेकहेतुक एक है।

नोट - 'वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति' नामा महाअधिकार में एक अनेक युगल का वर्णन करनेवाला चौथा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ तथा दूसरा महाअधिकार भी समाप्त हुआ। सद्गुरुदेव की जय !

एक अनेक पर नय प्रमाण लगाने की पद्धति ७५२ से ७५५ तक*

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत् त्रयं मिथोऽनेकम् ।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥ ७५२ ॥

अर्थ - द्रव्य-गुण अथवा पर्याय ये तीनों अपने-अपने स्वरूप से हैं, इसलिये ये तीनों परस्पर में भी अनेक हैं - भिन्न हैं। इस प्रकार व्यवहार नयों के अन्तर्गत एक नय है वह न्यायानुसार अनेकता को प्रतिपादन करने के कारण से अनेक नामवाली एक व्यवहार नय है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना ।
इतरत् द्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥ ७५३ ॥

अर्थ - नाम से चाहे द्रव्य कहो अथवा गुण कहो अथवा पर्याय कहो पर सामान्यपने ये तीनों ही अभिन्न एक सत् है। इसलिये इन तीनों में से किसी एक के कहने से बाकी दो का बिना कहे हुये ही ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार जो सत् को एक कहता है वह एक नामवाली एक व्यवहार नय है।

न द्रव्यं नापि गुणो न च पर्यायो निरंशदेशत्वात् ।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥ ७५४ ॥

अर्थ - निरंश देश होने से अर्थात् वस्तु अखण्ड होने से भेद रूप से न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और वह वस्तु किसी विकल्प से भी व्यक्त नहीं की जा सकती है (क्योंकि अनिर्वचनीय है) यह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की मान्यता है।

द्रव्यगुणपर्यायाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः ।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥ ७५५ ॥

अर्थ - युक्तिवश से जो सत् द्रव्य, गुण, पर्यायों के द्वारा अनेकरूप भेद किया जाता है वही सत् अंश रहित (अखण्ड) होने से अभेद्य एक है यह (एकअनेकात्मक-उभयरूप) प्रमाण पक्ष है।

भावार्थ - युक्तिपूर्वक जिस सत् को द्रव्य-गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेक कहा है वही सत् अंश रहित होने से अभेद्य एक ही है इस प्रकार युगपत् एक अनेक को विषय करनेवाला जोड़ रूप ज्ञान प्रमाण का पक्ष है। जो अनेक है वही एक है।

भावार्थ - ७५२ से ७५५ तक - उदाहरण सहित तथा विशेषण विशेष्य भेद सहित निरूपण करना व्यवहार नय का लक्षण है। अतः सत् अनेक है या सत् एक है। यहाँ पर सत् विशेष्य-लक्ष्य है और अनेक या एक उसके विशेषण-लक्षण है। अतः ये दोनों पद्य तो व्यवहार नय के उदाहरण हैं। फिर व्यवहार द्वारा विशेष्य विशेषण सहित निरूपण का निषेधक अर्थात् न एक है, न अनेक है, अखण्ड है, अवक्तव्य है - यह एक पद्य निश्चय नय का है। फिर जो अनेक है वही एक है यह जोड़ रूप ज्ञान प्रमाण है। एक पद्य इसका है। इस प्रकार चारों इकट्ठे हैं। इस अधिकार में जो सत् को एक अनेक सिद्ध किया है, उस पर इन चार पद्यों द्वारा नय प्रमाण लगाकर दिखलाये गये हैं।

नोट - इस अधिकार की प्रश्नावली अन्त में है।

परिशिष्ट

दृष्टि परिज्ञान (२)

यह लेख इस ग्रन्थ के ७५२ से ७६७ तक १६ श्लोकों का मर्म खोलने के लिये लिखा है।*

इस पुस्तक में चार दृष्टियों से काम लिया गया है उनका जानना परम आवश्यक है अन्यथा आप ग्रन्थ का रहस्य न पा सकेंगे। AB दो व्यवहार दृष्टि C एक प्रमाण दृष्टि D एक द्रव्य दृष्टि AB (१) राम अच्छा लड़का है। यहाँ राम विशेष्य है और अच्छा उसका विशेषण है। जिसके बारे में कुछ कहा जाय उसे विशेष्य कहते हैं और जो कहा जाय उसे विशेषण कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ 'सत्' विशेष्य है और चार युगल अर्थात् आठ उसके विशेषण है। सत् सामान्य रूप भी है और विशेष रूप भी है। अतः यह कहना कि 'सत् सामान्य है' यहाँ सत् विशेष्य है और सामान्य उसका विशेषण है। इस वाक्य ने सत् के दो खण्ड कर दिये, एक सामान्य एक विशेष। उसमें से सामान्य को कहा। सो जो विशेष्य विशेषण रूप से कहे वह अवश्य सत् को भेद करता है जो भेद करे उसको व्यवहार नय कहते हैं। कौनसी व्यवहार नय कहते हैं ? तो उत्तर देते हैं कि जिस रूप कहे वही उस नय का नाम है। यह सामान्य व्यवहार नय है। (२) फिर हमारी दृष्टि विशेष पर गई। हमने कहा 'सत् विशेष हैं' यहाँ सत् विशेष्य है और विशेष उसका विशेषण है यह विशेष नामवाली व्यवहार नय है। जिस रूप कहना हो वह अस्ति दूसरा नास्ति। अस्ति अर्थात् मुख्य, नास्ति अर्थात् गौण। इनका वर्णन नं. ७५६, ७५७ में है। सत् रूप देखना सामान्य, जीव रूप देखना विशेष अब नित्य-अनित्य नय को समझाते हैं (३) आपकी दृष्टि त्रिकाली स्वभाव पर गई। आपने कहा कि 'सत् नित्य है'। सत् विशेष्य है और नित्य उसका विशेषण है। यह सत् में भेद सूचक नित्य नामा व्यवहार नय हुई। इसका वर्णन नं. ७६१ में है। (४) फिर आपकी दृष्टि वस्तु के परिणमन स्वभाव पर (परिणाम पर, पर्याय पर) गई आपने कहा 'सत् अनित्य है' यहाँ सत् विशेष्य है और अनित्य उसका विशेषण है। यह अनित्य नामा व्यवहार नय है। इसका वर्णन नं. ७६० में है।

अब तत्-अतत् नय को समझाते हैं (५) जब आपने वस्तु को परिणमन करते देखा तो आपकी दृष्टि हुई कि अरे यह तो वही का वही है जिसने मनुष्य गति में पुण्य कमाया था वही स्वर्ग में फल भोग रहा है तो आपने कहा 'सत्-तत् है'। यह तत् नामा व्यवहार नय है। इसका वर्णन नं. ७६५ में है। (६) फिर आपकी दृष्टि परिणाम पर गई तो आपने कहा अरे वह तो मनुष्य था, यह देव है, दूसरा ही है, तो आपने कहा 'सत्-अतत् है' यह अतत् नामा व्यवहार नय है इसका वर्णन नं. ७६४ में है। अब एक अनेक का परिज्ञान कराते हैं। (७) किसी ने आपसे पूछा कि सत् एक है या अनेक तो पहले आपकी दृष्टि एक धर्म पर पहुंची। आपने सोचा उसमें प्रदेश भेद तो है नहीं, कई सत् मिलकर एक

---

* ये श्लोक इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के अन्त में हैं। भावार्थ के लिएँ आगे 'दृष्टि परिज्ञान' देखिये ।
पञ्चाध्यायीकार ने यह दृष्टि परिज्ञान श्री समयसार की मूल गाथा नं. २७२ की प्रथम पंक्ति तथा २७५ की टीका तथा २७६, २७७ के शीर्षक से लिया है। अन्तर केवल यह है कि वहाँ केवल आत्मा का प्रकरण होने से आचार्य देव ने इन दृष्टियों को आत्मा पर प्रयोग किया है। इन्होंने इसे सत् परिज्ञान में प्रयोग किया है। ग्रन्थकार को उपर्युक्त दोनों आचार्यो के पेट का ज्ञान कहाँ तक था इसका यह स्पष्ट प्रमाण है। इन्हीं की ही शक्ति थी जो ऐसा भाव निकाल लिया। साधारण व्यक्ति तो क्या, प्रौढ़ विद्वान भी ऐसा नहीं कर सकता। पंचाध्यायीकार की अध्यात्म विषय में दिव्य शक्ति थी, इसका पग-पग पर सबूत मिलता है या ये स्वयं अमृतचन्द्र आचार्य ही हों तो दूसरी बात है वरना उनके रूपान्तर तो थे ही।

सत् बना ही नहीं तो आपने झट कहा कि 'सत् एक है' यह एक नामा व्यवहार नय है। इसका वर्णन नं. ७५३ में है। (८) फिर आपकी दृष्टि अनेक धर्मों पर गई, आपने सोचा, अरे द्रव्य का लक्षण भिन्न है, गुण का लक्षण भिन्न है, पर्याय का लक्षण भिन्न है, इन सब अवयवों को लिये हुये ही तो सत् है तो आपने कहा 'सत् अनेक है' यह अनेक नामा व्यवहार नय है इसका वर्णन नं. ७५२ में है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आठ प्रकार की व्यवहार नयों का परिज्ञान कराया है (C) अब आपको प्रमाण दृष्टि का परिज्ञान कराते हैं। जब आपकी दृष्टि सत् के एक-एक धर्म पर भिन्न-भिन्न रूप से न पहुँच कर इकट्ठी दोनों धर्मों को पकड़ती है तो आपको सत् दोनों रूप दृष्टिगत होता है। दोनों को संस्कृत में उभय कहते हैं। (९) अच्छा बतलाइये कि सत् सामान्य है या विशेष। तो आप कहेंगे जो सामान्य सत् रूप है वही तो विशेष जीव रूप है दूसरा थोड़ा ही है। सामान्य विशेष यद्यपि दोनों विरोधी धर्म हैं, पर प्रत्यक्ष वस्तु में दोनों धर्म दीखते हैं। आपस में प्रेमपूर्वक रहते हैं कहो, या परस्पर की सापेक्षता से कहो, या मित्रता से कहो, या अविरोधपूर्वक कहो। इसलिये जो दृष्टि परस्पर दो विरोधी धर्मों को अविरोध रूप से एक ही समय एक ही वस्तु में कहे उसे प्रमाण दृष्टि या उभय दृष्टि कहते हैं। सो सत् सामान्यविशेषात्मक है यह अस्ति-नास्ति को बताने वाली प्रमाण दृष्टि है इसका वर्णन नं. ७५९ में है। (१०) फिर आपकी दृष्टि वस्तु के त्रिकाली स्वभाव और परिणमन स्वभाव - दोनों स्वभावों पर एक साथ पहुँची तो आप कहने लगे कि वस्तु नित्य भी है, अनित्य भी है, नित्यानित्य है, उभय रूप है। यह प्रमाण दृष्टि है इसका वर्णन नं. ७६३ में है। (११) फिर परिणमन करती हुई वस्तु में आपकी दृष्टि तत्-अतत् धर्म पर गई। आपको दीखने लगा कि जो वही का वही है वही तो नया-नया है - अन्य-अन्य है। दूसरा थोड़ा ही है। इसको कहते हैं तत्-अतत् को बतलाने वाली प्रमाण दृष्टि। इसका वर्णन नं. ७६७ में है। (२) फिर आपकी दृष्टि वस्तु के एक-अनेक धर्मों पर पहुँची। जब आप प्रदेशों से देखने लगे तो अखण्ड एक दीखने लगा, लक्षणों से देखने लगे तो अनेक दीखने लगा तो झट आपने कहा कि वस्तु एकानेक है। जो एक है वही तो अनेक है। इसको कहते हैं एक-अनेक को बतलाने वाली प्रमाण दृष्टि। इस दृष्टि का वर्णन ७५५ में है।

(D) अब आपको अनुभय दृष्टि का परिज्ञान कराते हैं। (१३) ऊपर आप यह जान चुके हैं कि एक दृष्टि से वस्तु सामान्य रूप है। दूसरी दृष्टि से वस्तु विशेष रूप है। तीसरी दृष्टि से वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। अब एक चौथी दृष्टि वस्तु को देखने की और है। उस दृष्टि का नाम है अनुभय दृष्टि। जरा शान्ति से विचार कीजिये - वस्तु में न सामान्य है, न विशेष है, वह तो जो है सो है। अखण्ड है। यह तो आपको वस्तु का परिज्ञान कराने का एक ढंग था। कहीं सामान्य के प्रदेश भिन्न और विशेष के प्रदेश भिन्न हैं क्या ? नहीं। इस दृष्टि में आकर वस्तु केवल अनुभव का विषय रह जाती है। शब्द में आप कह ही नहीं सकते क्योंकि शब्द में तो विशेषण विशेष्य रूप से ही बोलने का नियम है। बिना इस नियम के कोई शब्द कहा ही नहीं जा सकता। जो आप कहेंगे वह विशेषण विशेष्य रूप पड़ेगा। इसलिये आपको अनुभव में तो बराबर आने लगा कि वस्तु न सामान्य रूप है न विशेष रूप है, वह तो अखण्ड है। जो है सो है। अनुभय शब्द का अर्थ है - दोनों रूप नहीं। इसलिये इसका नाम रखा अनुभय दृष्टि। दोनों रूप नहीं का भाव यह नहीं है कि कुछ भी नहीं किन्तु यह है कि दोनों रूप अर्थात् भेद रूप नहीं किन्तु अखण्ड है। भेद के निषेध में अखण्डता का समर्थन निहित (छुपा हुआ) है (क) क्योंकि इसको विशेषण विशेष्य रूप से शब्द में नहीं बोल सकते इसलिये इसका नाम रखा अनिर्वचनीय दृष्टि या अवक्तव्य दृष्टि। (ख) क्योंकि वस्तु में किसी प्रकार भेद नहीं हो सकता। भेद को व्यवहार कहते हैं, अभेद को निश्चय कहते हैं। इसलिये इस दृष्टि का नाम रखा निश्चय दृष्टि। (ग) क्योंकि ये भेद का निषेध करती है इसलिये इसका नाम हुआ भेद निषेधक दृष्टि या व्यवहार निषेधक दृष्टि (घ) शब्द में जो कुछ आप बोलेंगे उसमें वस्तु के एक अंग का निरूपण होगा, सारे का नहीं।

देखिये आपने कहा 'द्रव्य' ये तो द्रव्यत्वं गुण का द्योतक है, वस्तु तो अनन्त गुणों का पिण्ड है। फिर आपने कहा 'वस्तु'। वस्तु तो वस्तुत्व गुण की द्योतक है पर वस्तु में तो अनन्त गुण हैं। फिर आपने कहा 'सत्' या 'सत्त्व' ये अस्तित्व गुण के द्योतक हैं। फिर आपने कहा 'अन्वय' ये त्रिकाली स्वभाव का द्योतक है, पर्याय रह जाती है। आप कहीं तक कहते चलिये, जगत में कोई ऐसा शब्द नहीं जो वस्तु के पूरे स्वरूप को एक शब्द में कह दे। इसलिये जो आप कहेंगे वह विशेषण विशेष्य रूप-भेद रूप पड़ेगा। जब आप भेद रूप से सब वस्तु का निरूपण कर चुकेंगे और फिर यह दृष्टि आपके सामने आयेगी तो आप झट कहेंगे कि 'ऐसा नहीं' इसका अर्थ है भेद रूप नहीं किन्तु अखण्ड। इसको

संस्कृत में कहते हैं 'न इति' संधि करके कहते हैं 'नेति'। 'नेति' का यह अर्थ नहीं कि कुछ नहीं किन्तु यह अर्थ है कि भेद रूप कुछ नहीं किन्तु अभेद। शब्द रूप कुछ नहीं किन्तु अनुभव गम्य – इसलिये इसका नाम रखा 'न इति दृष्टि' या 'नेति दृष्टि'। (ङ) जैनधर्म में भेद को अशुद्ध भी कहते हैं और अभेद को शुद्ध कहते हैं। इसलिये इसका नाम है शुद्ध दृष्टि। (च) जैनधर्म में अखंड को द्रव्य कहते हैं और आप श्लोक नं. २६ में पढ़ चुके हैं कि अखण्ड के एक अंश को पर्याय कहते हैं इसलिये इसका नाम है द्रव्य दृष्टि। द्रव्य शब्द का अर्थ अखण्ड दृष्टि।

(छ) कभी इसको विशेष स्पष्ट करने के लिये शुद्ध और द्रव्य दोनों शब्द इकट्ठे मिलाकर बोल देते हैं तब इसका नाम होता है शुद्ध द्रव्य दृष्टि या शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि। शुद्ध दृष्टि भी इसी का नाम है, द्रव्य दृष्टि भी इसी का नाम है, शुद्ध द्रव्य दृष्टि भी इसी का नाम है। (ज) भेद को जैनधर्म में विकल्प भी कहते हैं। विकल्प नाम राग का भी है, भेद का भी है। यहाँ भेद अर्थ इष्ट है। इसमें भेद नहीं है इसलिये इसका नाम है निर्विकल्प दृष्टि या विकल्पातीत दृष्टि। (झ) अभेद को सामान्य भी कहते हैं। इसलिये इसका नाम हुआ सामान्य* दृष्टि। इस दृष्टि का वर्णन (१३) सत् में सामान्य विशेष का भेद नहीं है इसका वर्णन तो नं. ७५८ में किया है। (१४) सत् में नित्य-अनित्य का भेद नहीं है इसका वर्णन ७६२ में किया है। (१५) सत् में तत्-अतत् का भेद नहीं है इसका वर्णन नं. ७६६ में किया है। (१६) सत् में एक अनेक का भेद नहीं है इसका वर्णन नं. ७५४ में किया है। इस प्रकार जितना ग्रन्थ का भाग आप के हाथ में है अर्थात् २३१ से ५०२ तक। इसमें उपर्युक्त १६ दृष्टियों से काम लिया है। सारे का निरूपण इन्हीं १६ दृष्टियों के आधार पर है जो मूल ग्रंथ में श्लोक नं. ७५२ से ७६७ तक १६ श्लोकों द्वारा कहा गया है। हमने चार-चार श्लोक प्रत्येक अवान्तर अधिकार के अन्त में परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिये हैं ताकि आप जहाँ यह विषय पढ़ें वहीं आपको दृष्टि परिज्ञान भी हो जाय। हमारी हार्दिक भावना यही है कि आपका भला हो आप ज्ञानी बनें। यह हम जानते हैं कि कोई किसी को ज्ञानी नहीं बना सकता। न हमारे भाव में ऐसी एकत्वबुद्धि है किन्तु आशीर्वाद रूप से ऐसा बोलने की व्यवहार पद्धति है। जिसके उपादान में समझने की योग्यता होगी, उन्हें ग्रन्थ निमित्त रूप में पड़ जायेगा। ऐसी अलौकिक किन्तु सुन्दर वस्तु स्थिति समझाने वाले सद्गुरुदेव की जय। ओं. शान्ति।

सप्तभंगी विज्ञान

यह लेख इस ग्रन्थ के श्लोक नं. २८७, २८८, ३३५, ४९१ का मर्म खोलने के लिए लिखा गया है। प्रमाण के लिये देखिये श्री पंचास्तिकाय गाथा १४ तथा श्री प्रवचनसार गा. ११५। एक प्रमाण सप्तभङ्गी होती है एक नय सप्तभंगी होती है। जो दो द्रव्यों पर लगाई जाती है वह प्रमाण सप्तभंगी कहलाती है सो श्री पंचास्तिकाय की उपर्युक्त गाथा में तो प्रमाण सप्तभंगी का कथन है 'जैसे एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव' वह इस प्रकार चलती है। दूसरी नय सप्तभंगी है वह सामान्य विशेष पर चलती है जो श्री प्रवचनसार की उपर्युक्त गाथा में है। यह इस प्रकार चलती है कि सामान्य का विशेष में अभाव, विशेष का सामान्य में अभाव। चलाने का तरीका दोनों का एक प्रकार का है। श्री पंचास्तिकाय में तो छः द्रव्यों का विषय था, इसलिये वहाँ छः द्रव्यों पर लगने वाली द्रव्य सप्तभंगी की आवश्यकता पड़ी और श्री प्रवचनसार में एक ही द्रव्य के सामान्य विशेष का विषय चल रहा था, इसलिये वहाँ नय सप्तभंगी बतलाई। इस ग्रंथ में सब विषय नय सप्तभंगी का है क्योंकि यह सम्पूर्ण ग्रंथ एक ही द्रव्य पर लिखा गया है। दूसरे द्रव्य को यह स्पर्श भी नहीं करता। वह सप्तभंगी यहाँ सामान्य विशेष के चार युगलों पर लगेगी। सो सबसे पहले एक नित्य-अनित्य युगल पर लगाकर दिखलाते हैं। इस पर आपको सरलता से समझ में आ जायेगी। देखिये द्रव्य में दो स्वभाव हैं एक तो यह कि वह अपने स्वभाव को त्रिकाल एक रूप रखता है। दूसरा यह कि वह हर समय परिणमन करके नए-नए परिणाम उत्पन्न करता है। स्वभाव त्रिकाल स्थायी है। परिणाम एक समय स्थाई है। अतः दोनों भिन्न हैं। अब जिसको आपको कहना हो, वह मुख्य हो जाता है। मुख्य को 'स्व' कहते हैं। दूसरा धर्म गौण हो जाता है। गौण को 'पर' कहते हैं। यह ध्यान रहे कि स्व या पर किसी खास का नाम नहीं है। जिसके विषय में कहना हो, वही स्व कहलाता है। अब

---

* मोक्षमार्ग में केवल यही दृष्टि काम आती है ऐसा श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने श्री समयसार की गाथा २७२ की दूसरी पंक्ति में स्पष्ट लिखा है। ऊपर की पंक्ति में इस नय का स्वरूप और नीचे की में इसका फल।

आपको त्रिकाली स्वभाव को कहना है तो त्रिकाली स्वभाव का नाम स्व हो जायेगा और परिणाम का नाम पर हो जायेगा तो आप इस प्रकार कहेंगे - (१) वस्तु स्व से है अर्थात् त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से है। इस दृष्टिवाले को सबकी सब वस्तु एक स्वभाव रूप दृष्टिगत होगी। जीव रूप दिखेगी - मनुष्य देव रूप नहीं दिखेगी। वह धर्म बिल्कुल गौण हो जायेगा। यह पहला अस्ति नय है। अस्ति अर्थात् मुख्य - जिसके कहने की आपने मुख्यता की है। (२) उसी समय वस्तु पर रूप से नहीं है अर्थात् परिणाम की अपेक्षा से नहीं है। इस दृष्टिवाले को वस्तु पर्याय रूप - मनुष्य रूप नहीं दीख रही है। वह धर्म बिल्कुल गौण है, गौण वाले को नास्ति कहते हैं। यह दूसरा नास्ति नय है। यह ज्ञानियों के देखने की रीति है। अब अज्ञानी कैसे देखते हैं। यह बताते हैं उनको द्रव्य दृष्टि का तो ज्ञान ही नहीं। उनकी केवल पर्याय दृष्टि ही रहती है। अब आप भी यदि इस दृष्टि से देखना चाहते हों तो पर्याय को मुख्य करिये - स्वभाव को गौण करिये। पर्याय स्व हो जायेगी। स्वभाव पर हो जायेगा। अब कहिये - (१) वस्तु स्व से है - अस्ति, इसको सारा जीव मनुष्य रूप दृष्टिगत होगा। (२) वस्तु पर से नहीं है। स्वभाव अत्यन्त गौण है। इस सप्तभंगी का प्रयोग तो ज्ञानी ही जानते हैं। ऊपर अज्ञानी का तो दृष्टान्त रूप से लिखा है। अज्ञानी को तो एकत्व दृष्टि है। सप्तभंगी का प्रयोग तो अनेकान्त दृष्टिवाले ज्ञानी प्रयोजन सिद्धि के लिये करते हैं। (३) अब दोनों धर्मों को क्रमशः ज्ञान कराने के लिये कहते हैं कि वस्तु स्व (त्रिकाली स्वभाव से है) और पर (परिणाम) से नहीं है या वस्तु स्व (परिणाम) से है और पर (त्रिकाली स्वभाव से नहीं है) यह अस्ति-नास्ति तीसरा भंग है। इसका लाभ यह है कि वस्तु के दोनों पड़खों का क्रमशः ज्ञान हो जाता है। (४) अब वे दोनों धर्म वस्तु में तो एक समय में युगपत इकट्ठे हैं और आप क्रम से कह रहे हैं। अब आपकी इच्छा हुई कि मैं एक साथ ही कहूँ तो उस भाव को प्रगट करने के लिए अवक्तव्य शब्द नियुक्त किया गया। अवक्तव्य कहने वाले तथा समझने वाले का इस शब्द से यह भाव स्पष्ट प्रगट हो जाता है कि वह दोनों भावों को युगपत कह रहा है। यह चौथा अवक्तव्य भंग है। एक बात यहाँ खास समझने की है कि यह अवक्तव्य नय और है और दृष्टि परिज्ञान में जो अनुभय दृष्टि बतलाई थी वह और चीज है। यहाँ वस्तु के दोनों धर्मों की भिन्न-भिन्न स्वीकारता है। कहने वाला दोनों को एक समय में कहना चाहता है पर शब्द नहीं है इसलिये अवक्तव्य नय नाम रखा। वहाँ सामान्य विशेष का भेद ही नहीं है। उसका लक्षण ऐसा है कि न सामान्य है न विशेष है। यह भेद ही जहाँ नहीं है। उसकी दृष्टि में वस्तु में भेद कहना ही भूल है। जो है सो है। उसका विषय अनुभव गम्य है। शब्द में अनिर्वचनीय है। अवक्तव्य है। पर वह अखण्ड वस्तु की द्योतक है। नयभंगी में अवक्तव्य नय वस्तु के एक अंश की कहने वाली है। यह भेद सहित दोनों धर्मों को युगपत स्वीकार करती है। वह दोनों धर्मों को ही वस्तु में स्वीकार नहीं करती। इतना अन्तर है वह दृष्टि श्री समयसार गा. २७२ से निकाली है। वहाँ उसका लक्षण व्यवहार प्रतिषेध लिखा है। वह आध्यात्मिक वस्तु है। यह दृष्टि श्री पंचास्तिकाय गाथा १४ तथा श्री प्रवचनसार गा. ११५ से निकाली है। इसका लक्षण इन दोनों में ऐसा लिखा है। "स्यादस्त्यवक्तव्यमेव स्वरूपपररूपयौगपद्याभ्यां"। यह आगम की वस्तु है। वह निर्विकल्प है। यह सविकल्प है। वह अखण्ड की द्योतक है यह अंश की द्योतक है। वह नयातीत अवस्था है यह नयदृष्टि है। आगम में कहाँ अनुभय शब्द या अवक्तव्य शब्द या अनिर्वचनीय शब्द किसके लिये आया है। यह गुरुगम से ध्यान रखने की बात है। भाव आपके हृदय में झलकना चाहिये फिर आप मार नहीं खायेंगे। भावभासे बिना तो आगम का निरूपण मोक्षशास्त्र में कहा है कि सत् (सच्चे) और असत् (झूठे) की विशेषता बिना पागल के समान इच्छानुसार बकता है। यह आपकी चौथी नय पूरी हुई। शेष तीन तो इनके संयोग रूप हैं और उनमें कोई खास बात नहीं है।

(B) अब एक अनेक युगल पर लगाते हैं। एक या अनेक जिसको आप कहना चाहते हैं या जिस रूप वस्तु को देखना चाहते हों उसका नाम होगा स्व और दूसरे का पर। मानों आप एक रूप से कहना चाहते हैं तो (१) वस्तु स्व (एक रूप) से है। इसमें सारी वस्तु अखण्ड नजर आयेगी (२) और उस समय वस्तु पर रूप से (अनेक रूप से) नहीं है। यह धर्म बिल्कुल गौण हो जायेगा। यदि अनेक रूप देखने की इच्छा है। तो कहिये। (१) वस्तु स्व (अनेक) रूप से है। इस दृष्टिवाले को द्रव्य अपने लक्षण से भिन्न नजर आयेगा, गुण अपने लक्षण से भिन्न नजर आयेगा, पर्याय अपने लक्षण से भिन्न नजर आयेगा और उस समय वही वस्तु (२) पर (एकत्व) से नहीं है। वस्तु का अखण्डपना लोप हो जायेगा। डूब जायेगा। ज्ञानी की एकत्व दृष्टि की मुख्यता रहती है। अज्ञानी जगत की सर्वथा अनेकत्व दृष्टि

है।(३) एक अनेक दोनों को क्रम से देखना हो तो कहिये 'स्व से है पर से नहीं है। यह अस्ति-नास्ति, (४) एक अनेक दोनों रूप एक साथ देखना हो तो कहेंगे 'वस्तु अवक्तव्य है'। शेष तीन भंग इनके योग से जान लेना (C) अब तत्-अतत् पर लगाते हैं। जब आपको यह देखना हो कि वस्तु वही की वही है तो तत् धर्म की मुख्यता होगी और इसका नाम होगा 'स्व' अब कहिये।(१) वस्तु स्व (तत् धर्म से) है। इसमें सारी वस्तु वही की वही नजर आयेगी।(२) वस्तु पर से नहीं है। अतत् धर्म (नई-नई वस्तु) बिल्कुल गौण हो जायेगा। अगर आपको अतत् धर्म से देखना है तो अतत् धर्म स्व हो जायेगा तो कहिये (१) वस्तु स्व (अतत्) रूप से है। इसमें समय-समय की वस्तु नई-नई नजर आयेगी। (२) वस्तु पर नहीं से है। इसमें वस्तु वही ही वही है। ये धर्म बिल्कुल गौण हो जायेगा। (३) क्रम से वही की वही और नई-नई देखनी है तो कहिये अस्ति-नास्ति (४) एक समय में दोनों रूप देखनी है तो अवक्तव्य। शेष तीन इनके योग से जान लेना। ज्ञानियों को तत् धर्म की मुख्यता रहती है। अज्ञानी जगत् तो देखता ही अतत् धर्म से है। तत् धर्म का उसे ज्ञान ही नहीं। (D) अब सामान्य विशेष पर लगाते हैं। आपको सामान्य रूप से वस्तु देखनी हो तो सामान्य धर्म स्व होगा।(१) कहिये वस्तु स्व से है। इसमें सारी वस्तु सत् रूप ही नजर आयेगी फिर कहिये (२) वस्तु पर से नहीं है। विशेष रूप से बिल्कुल गौण हो जायेगी। जीव रूप नहीं दिखेगी। यदि आप विशेष रूप से देखना चाहते हों तो विशेष को स्व बना लीजिये। कहिये (१) वस्तु स्व से है तो आपको सारी वस्तु विशेष रूप नजर आयेगी। जीव रूप ही दृष्टिगत होगी।(२) वस्तु पर से नहीं है सामान्य पक्ष उसी समय बिल्कुल नजर न आयेगा। सत् रूप से नहीं दिखेगी। (३) दोनों धर्मों को क्रम से देखना हो तो अस्ति-नास्ति (४) युगपत देखना हो तो अवक्तव्य। शेष तीन इनके योग से। ज्ञानी सदा विशेष को गौण करके सामान्य से देखते हैं। अज्ञानी सदा विशेष को देखता है वह बेचारा सामान्य को समझता ही नहीं। विशेष की दृष्टि हल्की पड़े तो सामान्य पकड़ में आये। ऐसा ग्रंथकार का पेट उपर्युक्त चार श्लोकों में निहित (छुपा हुआ) है।

अनेकान्त के जानने का लाभ

अब यह देखना है कि यह मदारी का तमाशा है या कुछ इसमें सार बात भी है। भाई इसको कहते हैं। 'स्याद्वाद-अनेकान्त' यही तो हमारे सिद्धान्त की भित्ती है। हमारे सरताज श्री अमृतचन्द्र सूरी ने श्री पुरुषार्थसिद्धि में इसको जीवभूत या बीजभूत कहा है। श्री समयसार के परिशिष्ट में इसके न जानने वाले को सीधा पशु शब्द से सम्बोधित किया है। यद्यपि आध्यात्मिक सन्त ऐसा कड़ा शब्द नहीं कहते पर अधिक करुणा बुद्धि से शिष्य को यह बतलाने के लिये कि यदि यह न समझा तो कुछ नहीं समझा - ऐसा कहा है। श्री प्रवचनसार तथा श्री समयसार के दूसरे कलश में इसको मंगलाचरण में स्मरण किया है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण हम आपको इस ग्रंथ के प्रारम्भ में श्लोक नं. २६१-२६२-२६३ में बतला चुके हैं कि वस्तु उपर्युक्त चार युगलों से गुंथी हुई है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हर प्रकार से गुंथी हुई है। यह तो पुस्तक ही "वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति" के नाम से आपके हाथ में है। वह चीज जैसी है वैसा ही तो उसका ज्ञान होना चाहिये अन्यथा मिथ्या हो जायेगा। अब देखिये इससे लाभ क्या है।(१) वस्तु में नित्य धर्म है। जिसके कारण वस्तु अवस्थित है। इस धर्म के जानने से पता चलता है कि द्रव्यरूप से तो मोक्ष वस्तु में वर्तमान में विद्यमान ही है तो फिर उसका आश्रय करके कैसे नहीं प्रकट किया जा सकता। (B) अनित्य धर्म से पता चलता है कि पर्याय में मिथ्यात्व है, राग है, दुःख है। साथ ही यह पता चल जाता है कि परिणमन स्वभाव द्वारा बदल कर यह सम्यक्त्व, वीतरागता और सुख रूप परिवर्तित किया जा सकता है तो भव्य जीव नित्य स्वभाव का आश्रय करके पर्याय के दुःख को सुख में बदल लेता है। (C) मानों वस्तु ऐसी ख्याल में न आवे। केवल एकान्त नित्य ख्याल में आवे तो अपने को अभी सर्वथा मुक्त मानकर निश्चयाभासी हो जायेगा और पुरुषार्थ को लोप करेगा। (D) केवल अनित्य ही वस्तु ख्याल में आई तो मूल तत्त्व ही जाता रहा। सारा खेल ही बिगड़ गया। पुरुषार्थ करनेवाला कर्त्ता ही न रहा। इस प्रकार वस्तु अनेकान्तात्मक है। यह प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।(२) एक जगह दुःख होने से सम्पूर्ण में दुःख होता है इससे उसकी अभेदता, अखण्डता, एकता ख्याल में आती है। (B) चौथे गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है। चारित्र में पुरुषार्थ की दुर्बलता के कारण कृष्ण लेश्या चलती है। इससे वस्तु की भेदता, अनेकता खण्डता का परिज्ञान प्रत्यक्ष होता है। (३) जो यहाँ पुण्य करता है वही स्वर्ग में सुख भोगता है। जो यहाँ पाप करता है वही नरक में

दु:ख भोगता है। जो यहाँ शुद्ध भाव करता है वही मोक्ष में निराकुल सुख पाता है। इससे उसके तत्धर्म का ज्ञान होता है। (B) हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि लड़का मर जाता है। घर वाले रोते हैं। जिसके यहाँ जन्म लेता है, वह जन्मोत्सव मनाते हैं। इस पर्याय दृष्टि से पता चलता है कि यहाँ का जीव नष्ट हो गया। वहाँ नया पैदा हुआ। यह प्रत्यक्ष अज्ञानी जगत की अतत् दृष्टि है। (४) आपको क्या यह अनुभव नहीं है कि आप सत् हैं। इससे वस्तु के सामान्य धर्म का परिज्ञान होता है। (B) पर आप जीव हैं पुद्गल तो नहीं, इससे वस्तु विशेष भी है यह ख्याल आता है। इस प्रकार वस्तु चार युगलों से गुम्फित है, यह सर्व साधारण को प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह जो हमने अनेकान्त का लाभ लिखा है यद्यपि यह विषय इस पुस्तक में नहीं है, इसमें तो केवल वस्तु का अनेकान्तात्मकता का परिज्ञान कराया है, हमने चूलिका रूप से आपकी अनेकान्त के मर्म को जानने की रुचि हो जाये इस ध्येय से संक्षिप्त रूप में लिखा है। अनेकान्त का विषय बहुत रूखा है, अत: लोगों के समझने की रुचि नहीं होती तथा विवेचन भी पंडिताई के ढंग से बहुत कठिन किया जाता है जो समझ नहीं आता। हमने तो सरल देसी भाषा में आपके हितार्थ लिखा है। श्री सद्गुरु देव की जय। ओं. शान्ति।

'अस्ति-नास्ति युगल' (१)

प्रश्न ७२ - वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति बताओ ?

उत्तर - प्रत्येक वस्तु स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् तत्-अतत्, स्यात् नित्य-अनित्य, स्यात् एक-अनेक इन चार युगलों से गुंथी हुई है। इसका अर्थ यह है कि जो वस्तु द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से अस्ति रूप है वही वस्तु उसी समय द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से नास्ति रूप भी है तथा वही वस्तु इसी प्रकार अन्य चार युगल रूप भी है। एक दृष्टि से वस्तु का चतुष्टय त्रिकाल एक रूप है। एक दृष्टि से वस्तु का चतुष्टय समय-समय का भिन्न-भिन्न रूप है। २६२-२६३

प्रश्न ७३ - 'अस्ति-नास्ति' युगल के नामान्तर बताओ ? इनका वर्णन कहाँ-कहाँ आया है।

उत्तर - अस्ति-नास्ति युगल को सत्-असत् युगल भी कहते हैं। महासत्ता अवान्तरसत्ता युगल भी कहते हैं। सामान्य विशेष युगल भी कहते हैं, भेदाभेद युगल भी कहते हैं। इसका वर्णन प्रारम्भ में १५ से २२ तक, मध्य में २६४ से ३०८ तक, अन्त में ७५६ से ७५९ तक आया है।

प्रश्न ७४ - महासत्ता के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - महासत्ता, सामान्य, विधि, निरंश, स्व, शुद्ध, प्रतिषेधक, निरपेक्ष अस्ति, व्यापक।

प्रश्न ७५ - अवान्तर सत्ता के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - अवान्तर सत्ता, विशेष, प्रतिषेध, सांश, पर, अशुद्ध, प्रतिषेध्य, सापेक्ष, नास्ति, व्याप्य।

प्रश्न ७६ - द्रव्य से अस्ति-नास्ति बताओ ?

उत्तर - वस्तु स्वभाव से ही सामान्यविशेषात्मक बनी हुई है। उसे सामान्य रूप से अर्थात् केवल सत् रूप से देखना महासत्ता और द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रुव आदि के किसी भेद रूप से देखना अवान्तर सत्ता है। प्रदेश दोनों के एक ही हैं। स्वरूप दोनों का एक ही है। जिस दृष्टि से देखते हैं उसको अस्ति या मुख्य कहते हैं और जिस दृष्टि से नहीं देखते उसे नास्ति या गौण कहते हैं। जो वस्तु सत् रूप है वही तो जीव रूप है। २६४ से २६८ तक।

प्रश्न ७७ - क्षेत्र से अस्ति-नास्ति बताओ ?

उत्तर - वस्तु स्वभाव से देश-देशांश रूप बनी हुई है। प्रदेश वही है, स्वरूप वही है। देश दृष्टि से देखना सामान्य दृष्टि है। इससे वस्तुओं में भेद नहीं होता है। देशांश दृष्टि से देखना विशेष दृष्टि है। जिस दृष्टि से देखना हो वह क्षेत्र से अस्ति दूसरी नास्ति। जो वस्तु देश मात्र है वही तो विशेष देश रूप है जैसे जो देश रूप है वही तो असंख्यात् प्रदेशी आत्मा है। २७० से २७२ तक

प्रश्न ७८ - काल से अस्ति-नास्ति बताओ ?

उत्तर - वस्तु स्वभाव से ही काल-कालांश रूप बनी हुई है। प्रदेश वही है, स्वरूप वही है। काल से देखना सामान्य दृष्टि, कालांश दृष्टि से देखना विशेष दृष्टि। जिस दृष्टि से देखना वह काल से अस्ति और जिससे नहीं देखना, वह काल से नास्ति। जो वस्तु सामान्य परिणमन रूप है वही तो विशेष परिणमन रूप है जैसे आत्मा में पर्याय यह सामान्य काल, मनुष्य पर्याय यह विशेष काल। २७४ से २७७ तक, ७५६, ७५७

प्रश्न ७९ - भाव से अस्ति-नास्ति बताओ ?

उत्तर - वस्तु स्वभाव से ही भाव-भावांश रूप बनी हुई है। प्रदेश वही है, स्वरूप वही है। भाव की दृष्टि से देखना सामान्य दृष्टिभावांश की दृष्टि से देखना विशेष दृष्टि। जिस दृष्टि से देखो वह भाव से अस्ति-दूसरी नास्ति। जो वस्तु भाव सामान्य रूप है वही तो भाव विशेष (ज्ञान, गुण) रूप है। २७९ से २८२ तक

प्रश्न ८० - उपर्युक्त चारों का सार क्या है ?

उत्तर - वस्तु सत् सामान्य की दृष्टि से द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से हर प्रकार निरंश है और वही वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अंशों में विभाजित हो जाती है अतः सांश है। वस्तु दोनों रूप है। वह सारी की सारी जिस रूप देखनी हो उसको मुख्य या अस्ति कहते हैं। दूसरी को गौण या नास्ति कहते हैं। २८४ से २८६

प्रश्न ८१ - अस्ति-नास्ति का उभय भंग बताओ ?

उत्तर - जो स्व (सामान्य या विशेष जिसकी विवक्षा हो) से अस्ति है, वही पर (सामान्य या विशेष जिसकी विवक्षा न हो) से नास्ति है, तथा वही अनिर्वचनीय है। यह उभय भंग या प्रमाण दृष्टि है। २८९ से ३०८ तक तथा ७५९

प्रश्न ८२ - अस्ति-नास्ति का अनुभय भंग बताओ ?

उत्तर - वस्तु किस रूप से है और किस रूप से नहीं है, यह भेद ही जहाँ नहीं है किन्तु वस्तु की अनिर्वचनीय-अवक्तव्य निर्विकल्प (अखण्ड दृष्टि है)। वह अनुभय नय या शुद्ध (अखण्ड) द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। ७५८

प्रश्न ८३ - पर्यायार्थिक नय के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - पर्यायदृष्टि, व्यवहारदृष्टि, विशेषदृष्टि, भेददृष्टि, खण्डदृष्टि, अंशदृष्टि, अशुद्धदृष्टि, म्लेच्छदृष्टि।

प्रश्न ८४ - उभयदृष्टि के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - प्रमाणदृष्टि, उभयदृष्टि, अविरुद्धदृष्टि, मैत्रीभावदृष्टि, सापेक्षदृष्टि।

प्रश्न ८५ - अनुभयदृष्टि के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - अनुभयदृष्टि, अनिर्वचनीयदृष्टि, अवक्तव्यदृष्टि, निश्चयदृष्टि, भेद निषेधकदृष्टि, व्यवहार निषेधकदृष्टि, नेतिदृष्टि, शुद्धदृष्टि, द्रव्यदृष्टि वा द्रव्यार्थिकदृष्टि, शुद्ध द्रव्यदृष्टि, निर्विकल्पदृष्टि, विकल्पातीतदृष्टि, सामान्यदृष्टि, अभेददृष्टि, अखण्डदृष्टि आदि।

'तत्-अतत् युगल' (२)

प्रश्न ८६ - तत्-अतत् में किस बात का विचार किया जाता है ?

उत्तर - नित्य-अनित्य अधिकार में बतलाये हुये परिणमन स्वभाव के कारण वस्तु में जो समय-समय का परिणाम उत्पन्न होता है वह परिणाम सदृश है या विदृश्य है या सदृशासदृश है। इसका विचार तत्-अतत् में किया जाता है। ३१२

प्रश्न ८७ - तत् किसे कहते हैं ?

उत्तर - परिणमन करती हुई वस्तु वही की वही है। दूसरी नहीं है। इसको तत्-भाव कहते हैं। ३१०, ७६४

प्रश्न ८८ - अतत् किसे कहते हैं ?

उत्तर - परिणमन करती हुई वस्तु समय-समय में नई-नई उत्पन्न हो रही है। वह की वह नहीं है इसको अतत्-भाव कहते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक समय का सत् ही भिन्न-भिन्न रूप है। ३१०, ७६५

प्रश्न ८९ - तत्-अतत् युगल का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर - तत्-अतत् को भाव-अभाव युगल भी कहते हैं। सदृश विसदृश युगल भी कहते हैं। सत् असत् युगल भी कहते हैं।

प्रश्न ९० - तत् धर्म का क्या लाभ है ?

उत्तर - इससे तत्त्व की सिद्धि होती है। ३१४, ३३१

प्रश्न ९१ - अतत् धर्म से क्या लाभ है ?

उत्तर - इससे क्रिया, फल, कारक, साधन, साध्य, कारण, कार्य आदि भावों की सिद्धि होती है। ३१४, ३३१

प्रश्न ९२ - तत्-अतत् युगल पर नय प्रमाण लगाकर दिखलाओ।

उत्तर - वस्तु एक समय में तत्-अतत् दोनों भावों से गुंथी हुई है। (१) सारी की सारी वस्तु को वही की वही। इस-दृष्टि से देखना तत् दृष्टि है। (२) सारी की सारी वस्तु समय-समय में नई-नई उत्पन्न हो रही है इस दृष्टि से देखना अतत् दृष्टि है। (३) जो वही की वही है वह ही नई-नई उत्पन्न हो रही है इस प्रकार दोनों धर्मों से परस्पर सापेक्ष देखना उभय दृष्टि या प्रमाण दृष्टि है तथा (४) दोनों रूप नहीं देखना अर्थात् न वही की वही है - न नई-नई है किन्तु अखण्ड है इस प्रकार देखना अनुभय दृष्टि या शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि है। ३३३, ३३४, ७३४ से ७३७ तक

नित्य अनित्य युगल (३)

प्रश्न ९३ - नित्य-अनित्य युगल का रहस्य बताओ ?

उत्तर - वस्तु जैसे स्वभाव से स्वतः सिद्ध है वैसे वह स्वभाव से परिणमनशील भी है। स्वतः सिद्ध स्वभाव के कारण उसमें नित्यपना (वस्तुपना) है और परिणमन स्वभाव के कारण उसमें अनित्यपना (पर्यायपना-अवस्थापना) है। दोनों स्वभाव वस्तु में एक समय में हैं।

प्रश्न ९४ - दोनों स्वभावों को एक समय में एक ही पदार्थ में देखने के दृष्टान्त बताओ ?

उत्तर - (१) जीव और उसमें होनेवाली मनुष्य पर्याय (२) दीप और उसमें होने वाला प्रकाश (३) जल और उसमें होनेवाली कल्लोलें (४) मिट्टी और उसमें होनेवाला घट। जगत् का प्रत्येक पदार्थ इसी रूप है। ४११, ४१२, ४१३

प्रश्न ९५ - नित्य किसे कहते हैं ?

उत्तर - पर्याय पर दृष्टि न देकर जब द्रव्य दृष्टि से केवल अविनाशीत्रिकाली स्वभाव देखा जाता है तो वस्तु नित्य (अवस्थित) प्रतीत होती है। ३३९, ७६१

प्रश्न ९६ - नित्य स्वभाव की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर - 'यह वही है' इस प्रत्यभिज्ञान से इसकी सिद्धि होती है। ४१४

प्रश्न ९७ - अनित्य किसको कहते हैं ?

उत्तर - त्रिकाली स्वतः सिद्ध स्वभाव पर दृष्टि न देकर जब पर्याय से केवल क्षणिक अवस्था देखी जाती है तो वस्तु अनित्य (अनवस्थित) प्रतीत होती है। ३४०, ७६०

प्रश्न ९८ - अनित्य की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर - 'यह वह नहीं है' इस अनुभूति से इसकी सिद्धि होती है। ४१४

प्रश्न ९९ - उभय किसको कहते हैं ?

उत्तर - जब एक साथ स्वत: सिद्ध स्वभाव और उसके परिणाम दोनों पर दृष्टि होती है तो वस्तु उभय रूप दीखती है यह प्रमाण दृष्टि है। जैसे जो जीव है वही तो यह मनुष्य है। जो मिट्टी है वही तो घड़ा है। जो दीप है वही तो प्रकाश है। जो जल है वही तो कल्लोलें हैं।

प्रश्न १०० - अनुभय किसको कहते हैं ?

उत्तर - वस्तु न नित्य है न अनित्य है अखंड है और अखंड का वाचक शब्द कोई है ही नहीं। जो कहेंगे वह विशेषण विशेष्य रूप हो जायेगा और वह भेद रूप पड़ेगा। इसलिए अखण्ड दृष्टि से अनुभय है। इसको शुद्ध (अखण्ड) द्रव्यार्थिक दृष्टि भी कहते हैं। ४१५, ७६२

प्रश्न १०१ - पूर्वोक्त प्रश्न 'नित्य किसे कहते हैं के उत्तर में जो द्रव्य दृष्टि कही है उसमें और अनुभय के उत्तर में जो शुद्ध द्रव्य दृष्टि कही है इसमें - दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर - वह पर्याय (अंश) को गौण करके *त्रिकाली स्वभाव अंश की द्योतक है उसको द्रव्य दृष्टि या नित्य पर्याय* दृष्टि भी कहते हैं और यहाँ दोनों अंशों के अखण्ड पिण्ड को नित्य-अनित्य का भेद न करके अखण्ड का ग्रहण शुद्ध द्रव्यदृष्टि है। यहाँ शुद्ध शब्द अखण्ड अर्थ में है। ७६१, ७६२

प्रश्न १०२ - शुद्ध द्रव्यदृष्टि और प्रमाण में क्या अन्तर है क्योंकि यह भी पूरी वस्तु को ग्रहण करती है और प्रमाण भी पूरी वस्तु को ग्रहण करता है ?

उत्तर - प्रमाण दृष्टि में नित्य-अनित्य दोनों पड़खों का जोड़ रूप ज्ञान किया जाता है। जैसे जो नित्य है वही अनित्य है। इसमें वस्तु उभय रूप है और उसमें वस्तु अनुभव गोचर है। शब्द के अगोचर है। अनिर्वचनीय है। उसमें नित्य-अनित्य का भेद नहीं है। उसमें वस्तु अखण्ड एक रूप अखण्ड है। ७६२, ७६३

प्रश्न १०३ - व्यस्त-समस्त किसको कहते हैं ?

उत्तर - भिन्न-भिन्न को व्यस्त कहते हैं। अभिन्न को समस्त कहते हैं। स्वभाव दृष्टि से समस्त रूप है क्योंकि स्वभाव का कभी भेद नहीं होता है जैसे - जीव। अवस्था दृष्टि से व्यस्त रूप है क्योंकि समय-समय का परिणाम अर्थात् अवस्था प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न रूप है जैसे मनुष्य देव। ४१६

प्रश्न १०४ - क्रमवर्ती अक्रमवर्ती किसको कहते हैं ?

उत्तर - स्वभाव दृष्टि को अक्रमवर्ती कहते हैं क्योंकि वह सदा एकरूप है जैसे जीव। और परिणाम-अवस्था-पर्याय दृष्टि को क्रमवर्ती कहते हैं क्योंकि अनादि से अनन्त काल तक क्रमबद्ध परिणमन करना भी वस्तु का स्वभाव है जैसे मनुष्य देव। ४१७

प्रश्न १०५ - परिणाम के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - परिणाम, पर्याय, अवस्था, दशा, परिणमन, विक्रिया, कार्य, क्रम परिणति, भाव।

प्रश्न १०६ - सर्वथा नित्य पक्ष में क्या हानि है ?

उत्तर - सत् को सर्वथा नित्य मानने से विक्रिया (परिणति) का अभाव हो जायेगा और उसके अभाव में तत्त्व क्रिया, फल, कारक, कारण, कार्य कुछ भी नहीं बनेगा। ४२३

प्रश्न १०७ - तत्त्व किस प्रकार नहीं बनेगा ?

उत्तर - परिणाम सत् की अवस्था है और उसका आप अभाव मानते हो तो परिणाम के अभाव में परिणामी का अभाव स्वयं सिद्ध है। व्यतिरेक के अभाव में अन्वय अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार तत्त्व का अभाव हो जायगा। ४२४

प्रश्न १०८ - क्रिया फल आदि किस प्रकार नहीं बनेगा ?

उत्तर - आप तो वस्तु को कूटस्थ नित्य मानते हैं। क्रिया, फल, कार्य आदि तो सब पर्याय में होते हैं। पर्याय की आप नास्ति मानते हैं, अतः ये भी नहीं बनते।

प्रश्न १०९ - तत्त्व और क्रिया दोनों कैसे नहीं बनते ?

उत्तर - मोक्ष का साधन जो सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भाव हैं वे परिणाम हैं और उनका फल जो मोक्ष है वह भी निराकुल सुख रूप परिणाम है। ये दोनों साधन और साध्य रूप भाव हैं। परिणाम हैं। परिणाम आप मानते नहीं हैं। इस प्रकार तो क्रिया का अभाव हुआ और इन दोनों भावों का कर्ता-साधक आत्मद्रव्य है वह विशेष के बिना सामान्य न रहने से नहीं बनता है। इस प्रकार तत्त्व का भी अभाव ठहरता है अर्थात् कर्त्ता-कर्म क्या कोई भी कारक नहीं बनता है। ४२६

प्रश्न ११० - सर्वथा अनित्य पक्ष में क्या हानि है ?

उत्तर - (१) सत् को सर्वथा अनित्य माननेवालों के यहाँ सत् तो पहले ही नाश हो जायेगा। फिर प्रमाण और प्रमाण का फल नहीं बनेगा। ४२९

(२) जिस समय वे सत् को अनित्य सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग में यह प्रतिज्ञा बोलेंगे कि "जो सत् है वह अनित्य है" तो यह कहना तो स्वयं उनकी पकड़ का कारण हो जायेगा क्योंकि सत् तो है ही नहीं फिर 'जो सत् है वह' यह शब्द कैसा ४३०

(३) सत् को नहीं मानने वाले उसका अभाव कैसे सिद्ध करेंगे। ४३२

(४) सत् को नित्य सिद्ध करने में जो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है वह क्षणिक एकान्त का बाधक है।४३२

(५) सामान्य (अन्वय) के अभाव में विशेष (व्यतिरेक) तो गधे के सींगवत् है। वस्तु के अभाव में परिणाम किसका।

'एक-अनेक युगल' (४)

प्रश्न १११ - सत् एकहै इसमें क्या युक्ति है ?

उत्तर - द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से गुण पर्याय या उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप अंशों का अभिन्न प्रदेशी होने से सत् एक है अर्थात् क्योंकि वह निरंश देश है इसलिये अखण्ड सामान्य की अपेक्षा से सत् एक है। ४३६, ४३७

प्रश्न ११२ - द्रव्य से सत् एक कैसे हैं ?

उत्तर - क्योंकि वह गुण पर्यायों का एक तन्मय पिण्ड है इसलिये एक है। ऐसा नहीं है कि उसका कुछ भाग गुण रूप हो और कुछ भाग पर्याय रूप हो अर्थात् गोरस के समान, अंध स्वर्णपाषाण के समान, छाया आदर्श के समान अनेकहेतुक एक नहीं है किन्तु स्वतःसिद्ध एक है। ४३८ से ४४८ तक, ७५३

प्रश्न ११३ - क्षेत्र से सत् एक कैसे है ?

उत्तर - जिस समय जिस द्रव्य के एक देश में जितना, जो, जैसे सत् स्थित है, उसी समय उसी द्रव्य के सब देशों में भी उतना, वही वैसा ही समुदित स्थित है। इस अखण्ड क्षेत्र में दीप के प्रकाशों की तरह कभी हानि-वृद्धि नहीं होती। ४५३, ७५३

प्रश्न ११४ - काल से सत् एक कैसे है ?

उत्तर - एक समय में रहने वाला जो, जितना और जिस प्रकार का सम्पूर्ण सत् है - वही, उतना और उसी प्रकार का सम्पूर्ण सत् समुदित सब समयों में भी है। काल के अनुसार शरीर की हानि-वृद्धि की तरह सत् में काल की अपेक्षा से भी हानि-वृद्धि नहीं होती है। वह सदा अखण्ड है। ४७३, ७५३

प्रश्न ११५ - भाव से सत् एक कैसे हैं ?

उत्तर - सत् सब गुणों का तादात्म्य एक पिण्ड है। गुणों के अतिरिक्त और उसमें कुछ है ही नहीं। किसी एक गुण की अपेक्षा जितना सत् है प्रत्येक गुण की अपेक्षा भी वह उतना ही है तथा समस्त गुणों की अपेक्षा

भी वह उतना ही है यह भाव से एकत्व है। स्कंध में परमाणुओं की हानि-वृद्धि की तरह सत् के गुणों में कभी हानि-वृद्धि नहीं होती। ४८१ से ४८५ तक ७५३

प्रश्न ११६ - सत् के अनेक होने में क्या युक्ति है ?

उत्तर - व्यतिरेक के बिना अन्वय पक्ष नहीं रह सकता अर्थात् अवयवों के अभाव में अवयवी का भी अभाव ठहरता है। अतः अवयवों की अपेक्षा से सत् अनेक भी है। ४९४

प्रश्न ११७ - द्रव्य से सत् अनेक कैसे हैं ?

उत्तर - गुण अपने लक्षण से है, पर्याय अपने लक्षण से है। प्रत्येक अवयव अपने-अपने लक्षण से (प्रदेश से नहीं) भिन्न-भिन्न है। अतः सत् द्रव्य से अनेक है। ४९५, ७५२

प्रश्न ११८ - क्षेत्र से सत् अनेक कैसे हैं ?

उत्तर - प्रत्येक देशांश का सत् भिन्न-भिन्न है इस अपेक्षा क्षेत्र से अनेक भी है। प्रतीति के अनुसार अनेक है। सर्वथा नहीं। ४९६, ७५२

प्रश्न ११९ - काल से सत् अनेक कैसे हैं ?

उत्तर - पर्याय दृष्टि से प्रत्येक काल (पर्याय) का सत् भिन्न-भिन्न है इस प्रकार सत् काल की अपेक्षा अनेक है। ४९७, ७५२

प्रश्न १२० - भाव की अपेक्षा सत् अनेक कैसे हैं ?

उत्तर - प्रत्येक भाव (गुण) अपने-अपने लक्षण से (प्रदेश से नहीं) भिन्न-भिन्न है इस प्रकार सत् भाव की अपेक्षा अनेक है। ४९८, ७५२

प्रश्न १२१ - एक अनेक पर उभय नय लगाओ ?

उत्तर - जो सत् गुण पर्यायादि अंशों से विभाजित अनेक है, वही सत् अनंशी होने से अभेद्य एक है, यह उभय नय या प्रमाण पक्ष है। ७५५

प्रश्न १२२ - एक अनेक पर अनुभय नय लगाओ ?

उत्तर - अखण्ड होने से जिसमें द्रव्य, गुण, पर्याय की कल्पना ही नहीं है। जो किसी विकल्प से भी प्रगट नहीं किया जा सकता है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय या अनुभय पक्ष है। ७५४

निर्पेक्ष, सापेक्ष विचार (५)

प्रश्न १२३ - निर्पेक्ष-सापेक्ष से क्या समझते हो ?

उत्तर - अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, चारों युगल भिन्न-भिन्न सर्वथा जुदा माना जावें तो मिथ्या हैं और चारों यदि परस्पर के मैत्रीभाव से सम्मिलित मानकर मुख्य गौण की विधि से प्रयोग किये जायें तो सम्यक् हैं।

प्रश्न १२४ - परस्पर सापेक्षता का या मुख्य गौण का रहस्य क्या है ?

उत्तर - परस्पर सापेक्षता का यह रहस्य है कि आप वस्तु को जिस धर्म से देखना चाहें सारी की सारी वस्तु आपको उसी रूप दृष्टिगत होगी यह नहीं कि उसका कुछ हिस्सा तो आपको एक धर्म रूप नजर आये और दूसरा हिस्सा दूसरे रूप जैसे नित्यानित्यात्मक वस्तु में नित्य-अनित्य दोनों धर्म इस प्रकार परस्पर सापेक्ष हैं कि त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से वस्तु देखों तो सारी स्वभाव रूप और परिणाम की दृष्टि से वस्तु देखों तो सारी परिणाम रूप नजर आयेगी। अब तुम अपने को चाहे जिस रूप देख लो। ज्ञानी अपने को सदैव नित्य अवस्थित स्वभाव की दृष्टि से देखता है। अज्ञानी जगत् अपने को सदा परिणाम दृष्टि से देखता है। क्योंकि उसमें दोनों धर्म रहते हैं इसलिये जिस रूप देखना चाहो उसी रूप दीखने लगती है। इसी को मुख्य गौण कहते हैं। निरपेक्ष माननेवालों को वस्तु सर्वथा एक रूप नजर आयेगी। यही बात अन्य चार युगलों में भी है।

प्रश्न १२५ - सर्वथानिरपेक्षपने का निषेध कहाँ-कहाँ किया है ?

उत्तर - (१) सामान्य और विशेष दोनों के निरपेक्षपने का निषेध तो १६ से १९ तक तथा २८९ से ३०८ तक किया है। (२) तत्-अतत् के सर्वथा निरपेक्ष का निधेष ३३२ में किया है। (३) सर्वथा नित्य का निषेध ४२३ से ४२८ तक तथा सर्वथा अनित्य का निषेध ४२९ से ४३२ तक किया है। (४) सर्वथा एक का निषेध ५०१ में और सर्वथा अनेक का निषेध ५०२ में किया है।

प्रश्न १२६ - परस्पर सापेक्षता का समर्थन कहाँ-कहाँ किया है ?

उत्तर - (१) सामान्य विशेष की सापेक्षता नं. १५, १७,२०, २१, २२ तथा २८९ से ३०८ तक है (२) तत्-अतत् की सापेक्षता ३३२ से ३३४ में बताई है। (३) नित्य-अनित्य की सापेक्षता ४३३ में कही है। (४) एक अनेक की सापेक्षता ५०० में कही है।

प्रश्न १२७ - निरपेक्ष के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - निरपेक्ष, निरंकुश, स्वतन्त्र, सर्वथा, भिन्न-भिन्न प्रदेश।

प्रश्न १२८ - सापेक्ष के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - सापेक्ष, परस्पर मिथः प्रेम, कथंचित्, स्यात् किसी अपेक्षा से, दोनों के अभिन्न प्रदेश। अविरुद्ध रूप से, मैत्रीभाव, सप्रतिपक्ष।

प्रश्न १२९ - मुख्य के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - विवक्षित, उन्मग्न, अर्पित, मुख्य, अनुलोम, उन्मज्जत, अस्ति, जिस दृष्टि से देखना हो, अपेक्षा, स्व।

प्रश्न १३० - गौण के नामान्तर बताओ ?

उत्तर - अविवक्षित, अवमग्न, अनर्पित, गौण, प्रतिलोम, निमज्जत, नास्ति, जिस दृष्टि से न देखना हो, उपेक्षा पर।

शेष विधि विचार (६)

प्रश्न १३१ - शेष विधि पूर्ववत् जान लेना' इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर - अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक चारों युगल अपने-अपने रूप से अस्ति और नास्ति (जिसकी मुख्यता हो वह अस्ति, दूसरी नास्ति) रूप तो है ही (एक-एक नय दृष्टि) पर वे उभय (प्रमाण दृष्टि) और अनुभय (शुद्ध अखण्ड द्रव्यार्थिक दृष्टि) रूप भी हैं यह बात भी दृष्टि में अवश्य रहे और इसका विस्मरण न हो जाय, यही इसका रहस्य है।

प्रश्न १३२ - 'शेष विधि पूर्ववत् जान लेना' इसका कथन कहाँ-कहाँ है ?

उत्तर - अस्ति-नास्ति का २८७, २८८ में, तत्-अतत् का ३३५ में, नित्य-अनित्य का ४१४ से ४१७ में, एक-अनेक का ४९९ में किया है। (इनका परस्पर अभ्यास करने से अनेकान्त की सब विधि लगाने का परिज्ञान हो जाता है)।

नोट - चारों युगलों में अस्ति पक्ष के प्रश्नोत्तर हमने लिख दिये हैं। नास्ति पक्ष के अर्थात् लक्षणभासों और दृष्टान्ताभासों के प्रश्नोत्तर जान-बूझकर छोड़ दिये हैं।

हरिगीत

योग्यता से शब्द की टीका बनी ये खूब है ।
मोह से मत मानना विद्वान् सरना ने रची ॥

ग्रन्थराज श्री पञ्चाध्यायी

प्रथम खण्ड/तृतीय पुस्तक

अध्यात्मचन्द्रिका टीका सहित
नय प्रमाण निक्षेप निरूपण
तथा
नय प्रमाण प्रयोग पद्धति
(५०३ से ७६८ तक)

प्रतिज्ञा

उक्तं सदिति यथा स्यादेकमनेकं सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
अधुना तद्वाङ्मात्रं प्रमाणनयलक्षणं वक्ष्ये ॥ ५०३ ॥

अर्थ–सत् जिस प्रकार एक और जिस प्रकार अनेक है यह (४३४ से ५०२ तक) सुप्रसिद्ध दृष्टान्तों द्वारा कहा गया। अब उस सत् के उच्चारणमात्र (विकल्पात्मक) नय प्रमाण लक्षण को कहूँगा।

भावार्थ–केवल गुरु शिष्य की प्रवृत्ति द्वारा समझाने के लिये अथवा स्वयं वस्तु को विचार करके समझने के लिये नय प्रमाण साधन है । अतः शब्दात्मक तथा विकल्पात्मक हैं। अनुभव में नय प्रमाण नहीं होते । अनुभव निर्विकल्प होता है।

पहला अवान्तर अधिकार

नय का सामान्य निरूपण ५०४ से ५१५ तक

नय का लक्षण

इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे ।
तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः ॥ ५०४ ॥

अर्थ–२६१ से ५०२ तक कहा गया है लक्षण जिसका ऐसे इस विरुद्ध दो धर्म स्वरूप (अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो धर्म स्वरूप) तत्त्व में–उन विरुद्ध धर्मों में से किसी एक धर्म का वाचक नय है जैसे सत् एक है या यह कहना कि सत् अनेक है।

भावार्थ– वस्तु सामान्यविशेषात्मक है और उस सारी को कहने वाला प्रमाण है। उसमें केवल सामान्य धर्म को कहने वाला अथवा केवल विशेष धर्म को कहने वाला नय है अर्थात् विवक्षित अंश का प्रतिपादक नय है।

नय के औपचारिक भेद*

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद् द्विधा च सोऽपि यथा ।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ॥ ५०५ ॥

अर्थ–द्रव्य नय और भाव नय इस प्रकार वह नय भी भेद से दो प्रकार है। पौद्गलिक शब्द द्रव्य नय है। चेतन रूप जीव का गुण (विकल्पात्मक ज्ञान) भाव नय है।

भावार्थ–जिस प्रकार श्रुत ज्ञान के स्वार्थ और परार्थ दो भेद हैं उसी प्रकार नय, श्रुत ज्ञान का अंश होने से उसके शब्द और भाव रूप दो भेद किये हैं। पदार्थ के एक अंश का प्रतिपादक वाक्य द्रव्य नय कहलाता है और पदार्थ के एक अंश को विषय करने वाला विकल्पात्मक ज्ञान भाव नय कहलाता है। उनमें भी इतनी विशेषता है कि पौद्गलिक शब्दों को उपचार से नय कहा है और भावात्मक वास्तविक नय हैं क्योंकि नय आत्मा की पर्याय में होते हैं। वे विकल्पात्मक श्रुत ज्ञान के अंश हैं।

---

* नय के वास्तविक भेद आगे ५१७ में कहेंगे।

भाव नय का लक्षण

यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोऽप्यपरमार्थः ।
न यतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किल तद्योगात् ॥ ५०६ ॥

अर्थ–अथवा ज्ञान में विकल्प भाव नय है। वह विकल्प भी (राग रूप होने से) अपरमार्थ है (अर्थात् नय मूल वस्तु नहीं है) क्योंकि नय न तो शुद्ध ज्ञान गुण है और न ज्ञेय है किन्तु उस ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान में जो विकल्प है वह नय है अर्थात् ज्ञेय में अटक कर (रुककर) होने वाले श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं।

भावार्थ–जैसे किसी घट से अनभिज्ञ पुरुष को घट का ज्ञान कराना है तो घट के एक-एक अंग के स्वरूप का वर्णन जिन शब्दों में किया जायेगा वे शब्द और भाव-नय हैं। न तो ज्ञान नय है न घट नय है। केवल घट को समझने-समझाने का साधन विकल्प (राग) नय है। अर्थात् ज्ञेय के आश्रय से होने वाले राग सहित श्रुत ज्ञान के एक अंश को नय कहते हैं।

ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेयं प्रक्रियापि संयोज्या ।
ज्ञानं ज्ञानं न नयो, नयोऽपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ॥ ५०७ ॥

अर्थ–ज्ञान विकल्प नय है। वहाँ भी यह प्रक्रिया लगा लेनी चाहिये कि ज्ञान ज्ञान है नय नहीं। नय भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वह विकल्प रूप है (ज्ञान आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है और विकल्प एक समय का क्षणिक आगन्तुक भाव है। दोनों भिन्न-भिन्न हैं) ।

उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा ।
न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ॥ ५०८ ॥

अर्थ–जब विकल्प विवक्षित होता है तब नय पक्ष प्रगट होता है और जब विकल्प विवक्षित नहीं होता तब नय पक्ष स्वयं डूब जाता है।

भावार्थ–जब समझने-समझाने का काम होता है तो नय पक्ष खड़ा हो जाता है और ज्ञान होने पर जब वस्तु का अनुभव किया जाता है तो नय पक्ष नष्ट हो जाता है।

संदृष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचाराद्यथ घटज्ञानम् ।
ज्ञानं ज्ञानं न घटो, घटोऽपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥ ५०९ ॥

अर्थ–दृष्टान्त यह स्पष्ट है। जैसे घट को विषय करने वाले ज्ञान को उपचार से घट ज्ञान कहा जाता है (पर ऐसा कहने से कहीं ज्ञान, घट रूप या घट, ज्ञान रूप नहीं हो गया) ज्ञान ज्ञान रूप है घट रूप नहीं है। घट भी ज्ञान नहीं है वह तो घड़ा ही है।

भावार्थ–ज्ञान का स्वभाव जानना है। हरएक वस्तु उसका ज्ञेय पड़ती है फिर घट को विषय करने वाले ज्ञान को घट ज्ञान क्यों कह दिया जाता है ? उत्तर-उपचार से । उपचार का कारण भी विकल्प है। यद्यपि घट से ज्ञान सर्वथा भिन्न है तथापि ज्ञान में घट-यह विकल्प अवश्य पड़ा है। इसलिये उस ज्ञान को घट ज्ञान कह दिया जाता है।

इदमत्र तात्पर्यं हेयः सर्वो नयो विकल्पात्मा ।
बलवानिव दुर्वारः प्रवर्तते किल तथापि बलात् ॥ ५१० ॥

अर्थ–यहाँ यही तात्पर्य है कि विकल्पात्मक सब नय त्याज्य ही हैं। तो भी वह बलपूर्वक बलवान की तरह प्रवर्त्त होता है और उसको नष्ट करना कठिन है।

भावार्थ–समझने-समझाने का और कोई साधन नहीं है अतः यह नय रूप विकल्प हेय होने पर भी लाचारी में प्रयोग करना ही पड़ता है। इसी को बलपूर्वक प्रवृत्ति कहते हैं। दुर्वार इसलिये है कि जीव सहसा नय विकल्पों का अभाव नहीं कर सकता। केवल आत्मज्ञानी आत्मानुभव से ही नयातीत दशा को प्राप्त करते हैं।

(आगे देखिये ६४५ से ६५३ तक)

अथ तद्यथा तथा सत् सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित् ।
न विकल्पमतिक्रामति सदिति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५११ ॥

अर्थ–जितना भी नय है वह विकल्पात्मक है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यहाँ सत् को सत् मात्र मानता हुआ भी कोई विकल्प को उलंघन नहीं करता है क्योंकि सत् के विषय में 'सत्' इस विकल्प का निवारण करना कठिन है।

भावार्थ–कोई यह कहे कि चलो हम पदार्थ की भेद रूप श्रद्धा नहीं करते। हम तो अखण्ड अभेद सत् को श्रद्धा करेंगे, तो कहते हैं कि सत् को 'सत् मात्र' श्रद्धान करने में भी 'सत्' इतना विकल्प तो फिर भी है। इसलिये नय विकल्प तो फिर भी खड़ा है। वह बिना अनुभव दुर्निवार ही है।

स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यान्तर्जल्पमात्रवर्णमयम् ।
ज्ञानं तन्मयमिति वा नयविकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥ ५१२ ॥

अर्थ–इसी प्रकार स्थूल बाह्य विकल्प (स्पष्ट बोलना) और सूक्ष्म अन्तर्जल्प (मन ही मन में बोलना) जितना भी विकल्प है वह सब वर्णमय है और वह नय रूप है क्योंकि वह वचन विन्यास रूप है। जितना भी वचनात्मक कथन है सब नयात्मक है तथा उन वचनों का जो बोध है–ज्ञान है वह भी नय रूप ही है क्योंकि वचनों के समान उसने भी वस्तु के विवक्षित अंश को ही विषय किया है और राग को लिये हुये है।

भावार्थ–वाचक तथा वाच्य बोध - दोनों ही नयात्मक हैं। सत् को समझने के लिये सूक्ष्म से सूक्ष्म तक जितना भी वचनाश्रित विकल्प भेद है। वह सब नय है।

अवलोक्य वस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशिष्टमेकैकम् ।
संज्ञाकरणं यदि वा तद्वागुपचर्यते च नयः ॥ ५१३ ॥

अर्थ–अपनी-अपनी विशेषता को लिये हुये प्रतिनियत एक-एक वस्तु के धर्म को देखकर जो उसका वैसा नाम रखना है अथवा उसका उच्चारणात्मक वचन है वह सब नय से उपचार किया जाता है।

भावार्थ–(१) अग्नि को छूकर देखा तो कह दिया 'अग्नि गरम है' अग्नि से खाना पकाते देखा तो कह दिया 'अग्नि पाचक है'। अग्नि से प्रकाश होते देखा तो कह दिया 'अग्नि प्रकाशक' है। इत्यादि अग्नि अनन्त रूप है। यह जितना अग्नि का नाम रखना या कहना या विकल्प करना सब वचन विलास है और वह वचन विलास नय रूप से लोक में तथा आगम में उपचार किया जाता है (प्रसिद्ध है) । अग्नि तो जो है सो है वह निर्विकल्प है और अनुभव गम्य है ।(२) इस प्रकार आत्मा को जानते हुये देखकर 'ज्ञानी' कहना, देखते हुये देखकर दृशी' कहना। रमण करते देखकर चारित्री कहना इत्यादिक-आत्मा का नाम रखना या कहना या विचारना सब नय विकल्प जाल है। हेय है। आत्मा तो जो है सो है। निर्विकल्प है। अनुभव गम्य है। पर उस अनुभव गम्य आत्मा का ज्ञान कराने का और कोई साधन नहीं है।

अथ तद्यथा यथाग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य ।
उष्णोऽग्निरिति वागिह तद्ज्ञानं वा नयोपचारः स्यात् ॥ ५१४ ॥

अर्थ–जैसे अग्नि का उष्ण धर्म सामने देखकर किसी ने कहा कि 'अग्नि उष्ण है' यह वचन नय रूप है और उस वचन का वाच्य रूप बोध भी नयात्मक है।

इह किल छिदानिदानं स्यादिह परशु स्वतन्त्र एव यथा ।
न तथा नयः स्वतन्त्रो, धर्मविशिष्टं करोति वस्तु बलात् ॥ ५१५ ॥

अन्वय–यथा इह किल परशु स्वतन्त्रः एव छिदानिदानं स्यात् तथा नयः स्वतन्त्रः (छिदानिदानं न स्यात् किन्तु सः नयः) वस्तु बलात् धर्मविशिष्टं करोति।

अर्थ–जैसे यहाँ जगत में कुलहाड़ा स्वतन्त्र ही भेद का कारण होता है। उस प्रकार नय स्वतन्त्र होकर वस्तु के भेद (टुकड़े करने) का कारण नहीं है किन्तु वह तो वस्तु को बलपूर्वक धर्म सहित करता है अर्थात् नय गुण गुणी का भेद (खंड) नहीं करता किन्तु अभेद करता है।

भावार्थ–वस्तु में अनन्त धर्म होने से तथा शब्द में युगपत् सब धर्मों का प्रतिपादन करने की शक्ति न होने से, वस्तुगत एक-एक विशेष-विशेष धर्म की अपेक्षा करके कहने वाला वचन या विकल्परूप नय उस वस्तु को उस धर्म सहित निरूपण कर देता है। यही नय का कमाल है। वह एक-एक धर्म को वस्तु से भिन्न नहीं करता किन्तु वस्तु को उस धर्म से युक्त करता है। जैसे ऊपर के दृष्टान्त में अग्नि को उष्ण कहा था यह नय उष्णता को अग्नि से परशुवत् भिन्न नहीं करना किन्तु अग्नि उष्णतामय है इस प्रकार अग्नि को उष्णता से विशिष्ट करता है। सब नय इसी प्रकार वस्तु को अपने-अपने धर्म से विशिष्ट करते हैं। अतःवस्तु अनन्तधर्मात्मक सिद्ध हो जाती है। फिर प्रमाण के अनन्तधर्मात्मक वस्तु का युगपत बोध हो जाता है।

५०३ से ५१५ तक का सार

हम ऊपर कह चुके हैं कि नय का कार्य केवल वस्तु को समझाना है और समझना-समझाना बिना भेद किये नहीं हो सकता। अतः वस्तु का अनुभवी आचार्य शिष्य को वस्तु पकड़ाने के लिये नयों द्वारा भेद-प्रभेद करता चला जाता है पर आशय उसका अभेद को ही पकड़ाने का है और शिष्य भी भेद-प्रभेद करके पकड़ता है पर आशय शिष्य का भी अभेद को ही पकड़ने का है। तो कहते हैं कि नय यद्यपि शब्दों में वस्तु को खण्ड-खण्ड कर देता है पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वस्तु भी उस प्रकार खण्ड-खण्ड हो गई जैसे परशु से लकड़ी खण्ड-खण्ड हो जाती है किन्तु नय तो एक-एक धर्म को भेद करके वस्तु को अनन्त धर्मों से विशिष्ट करता है अर्थात् अनन्तधर्मात्मक एक वस्तु सिद्ध करता है। समझने-समझाने के बाद यह सब नय जाल निरर्थक है। अतः श्रीसमयसारजी में इसी को व्यवहार या म्लेच्छ भाषा कहा है। म्लेच्छों में धर्म नहीं है उसी प्रकार नय जाल (व्यवहार) में धर्म नहीं है। आर्य (निश्चय) में धर्म है अर्थात् अखण्ड आत्मानुभव में धर्म है। धर्म नयातीत है। (आगे देखिये ६४५ से ६५३ तक)

नोट–यहाँ तक वचनात्मक (द्रव्यनय) और ज्ञानात्मक विकल्प (भाव नय) दोनों का निरूपण किया। इसमें इतना विवेक और रखने की आवश्यकता है कि शब्द को तो उपचार से ही नय कहते हैं। आत्मा में जो विकल्प है वही वास्तव में नय है। क्योंकि नय आत्मा की पर्याय है पुद्गल की नहीं और आत्मा में भी वह भाव नय अपरामार्थभूत है कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। वह तो उन्मज्जत निमज्जत होनेवाली चीज है। आगन्तुक भाव है। आस्त्रव तत्त्व हैं। अथवा विकल्पात्मक ज्ञान है। अनुभव में नय का उदय नहीं है।

नय का सामान्य कथन पूरा हुआ।

दूसरा अवान्तर अधिकार

व्यवहार नय तथा उसके भेद-प्रभेदों का निरूपण

नय के मूल भेदों का कथन ५१६ से ५२० तक

एकः सर्वोऽपि नयो भवति विकल्पाविशेषतोऽपि नयात् ।
अपि च द्विविधः स यथा स्वविषयभेदे विकल्पद्वैविध्यात् ॥ ५१६ ॥

अर्थ–विकल्प सामान्य की अपेक्षा सभी नय एक है क्योंकि जो भी नय होगा वह विकल्पात्मक ही होगा तथा अपने विषय में भेद होने से विकल्प दो प्रकार का होता है। अतः नय के भी दो भेद हो जाते हैं।

एको द्रव्यार्थिक इति पर्यायार्थिक इति द्वितीयः स्यात् ।
सर्वेषां च नयानां मूलमिवेदं नयद्वयं यावत् ॥ ५१७ ॥

अर्थ–एक द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय है। ये दो नय सब नयों के मूलश्रोत हैं।

द्रव्यार्थिक नय का निरुक्ति - अर्थ

द्रव्यं सन्मुख्यतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य ।
भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः ॥ ५१८ ॥

अर्थ–द्रव्य अर्थात् सत् केवल वह ही मुख्यता से जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन (विषय) हो वह द्रव्यार्थिक नय यह अपनी धातु के अर्थ के अनुसार यथार्थ नाम धारक है और यह एक ही होती है। (इसके भेद नहीं होते)।

भावार्थ–भेद (पर्याय) को गौण रखकर मुख्यता से जहाँ अखण्ड द्रव्य कहा जाता है अथवा उसका ज्ञान किया जाता है वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और वह एक है क्योंकि उसमें भेद विवक्षा नहीं है।

पर्यायार्थिक नय का निरुक्ति-अर्थ

अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंऽशः सः ।
अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च ॥ ५१९ ॥

अर्थ–अंशों का नाम ही पर्यायें हैं। उन अंशों के बीच में से जो भी विवक्षित अंश है, वह अंश है, अर्थ अर्थात् प्रयोजन (विषय) जिसका वह पर्यायार्थिक नय माना गया है। ऐसे पर्यायार्थिक नय अनेक हैं।

भावार्थ–ग्रन्थकार पहले श्लोक नं. २६ में कह आये हैं "कि जो द्रव्य में अंश कल्पना है वह पर्यायों का धर्म है।" इसलिये जो अखण्ड द्रव्य के किसी भी एक अंश का निरूपण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। अंश अनेक हैं इसलिये उनको विषय करने वाला ज्ञान भी अनेक है तथा उनको प्रतिपादन करने वाला वाक्य भी अनेक है। अतः ये नय अनेक हैं।

अधुना रूपदर्शनं संदृष्टिपुरस्सरं द्वयोर्वक्ष्ये ।
श्रुतपूर्वमिव सर्वं भवति च यद्वानुभूतपूर्वं तत् ॥ ५२० ॥

अर्थ–अब उन दोनों के स्वरूप कथन को दृष्टान्तपूर्वक कहूँगा क्योंकि दृष्टान्त पूर्वक कहने से सब विषय श्रोताओं को पहले सुने हुये के समान अथवा अनुभव किये हुये के समान हो जाता है।

५१६ से ५२० तक का सार

जितना भी विकल्पात्मक ज्ञान है उसे नय कहते हैं यह पहले ही बता आये हैं। अतः विकल्प सामान्य की अपेक्षा नय को एक बतलाया है। किन्तु कोई विकल्प सामान्यग्राही (अखण्डग्राही) होता है और कोई विशेषग्राही (खण्डग्राही) होता है। इस प्रकार विकल्प के दो भागों में बट जाने के कारण नय के भी दो भेद हो जाते हैं। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय । इनमें से जो नय द्रव्य अर्थात् सामान्य (अभेद) को विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो नय पर्याय (भेद) को विषय करता है वह पर्यायार्थिक नय है। सामान्य एक है अतः द्रव्यार्थिक नय एक है और पर्यायें (अंश-भेद) अनेक होते हैं अतः पर्यायार्थिक नय अनेक हैं।

नोट–नय के मूल दो भेदों का कथन पूरा हुआ अब उनमें से पहले व्यवहार नय का वर्णन करते हैं।

व्यवहार नय का वर्णन ५२१ से ५२४ तक

नोट–द्रव्यार्थिक (निश्चय) और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नयों में से पहले व्यवहार नय के निरूपण करने का प्रयोजन यह है कि व्यवहार नय प्रतिषेध्य है और निश्चय नय प्रतिषेधक है। प्रतिषेध्य का निरूपण किए बिना प्रतिषेध किसका करें।

पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति ।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ॥ ५२१ ॥

अर्थ–पर्यायार्थिक नय अथवा इसका व्यवहार नय भी नाम है। इनका एक ही अर्थ है क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार है सब उपचार मात्र है।

भावार्थ–वस्तु वास्तव में अखण्ड है जो निश्चय का विषय है। अतः निश्चय नय सत्यार्थ है और भेद तो केवल समझाने के लिये काल्पनिक किया जाता है। अतः इस नय का विषय अभूतार्थ होने से इसको पर्यायार्थिक, व्यवहार, उपचार, अभूतार्थ, असत्यार्थ आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

व्यवहार नय का लक्षण

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः ।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥ ५२२ ॥

अर्थ–किसी वस्तु में विधि पूर्वक भेद करने का नाम व्यवहार है। यह उसका शब्द (निरुक्ति) के आधार से अर्थ है किन्तु परमार्थ अर्थ नहीं है। परमार्थ इस कारण नहीं है कि सत् में अभेद होने पर भी 'यह गुण है–यह गुणी है' इस प्रकार गुण-गुणी में भेद करता है। जैसे जीव गुणी, ज्ञान गुण।

व्यवहार नय की प्रवृत्ति में कारण

साधारणगुण इति वा यदि वाऽसाधारणः सतस्तस्य ।
भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥ ५२३ ॥

अर्थ–जब उस सत् का साधारण गुण या असाधारण गुण कोई भी विवक्षित होता है तब व्यवहार नय प्रवृत्त होता है।

भावार्थ–अखण्ड द्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है। द्रव्य का वाचक जगत् में कोई शब्द ही नहीं है। जितने शब्द हैं वे उसके एक-एक गुण के वाचक हैं। अतः अखण्ड वस्तु में किसी एक गुण का भेद करके उस भेद द्वारा यह नय वस्तु को पकड़ा देता है। जैसे जीव को चाहे सामान्य गुण 'द्रव्य' (द्रव्यत्व गुण का वाचक) कह कर पकड़ाये या सत् (अस्तित्व गुण का वाचक) कह कर पकड़ाये या ज्ञान या दर्शन आदि कोई विशेष गुण कह कर पकड़ाये। चाहे जिस गुण भेद से वस्तु पकड़ाये जैसे "परिणमन करे सो जीव-द्रव्यत्व गुण से, जाने सो जीव ज्ञान गुण से"। वस्तु पकड़ाने के लिये इस नय द्वारा सामान्य या विशेष कोई गुण भी विवक्षित किया जा सकता है। उससे ही वस्तु पकड़ ली जाती है। वस्तु का पकड़ना ही इस नय की सार्थकता है।

अगली भूमिका–यहाँ पर शंका की जा सकती है कि जब व्यवहार नय वस्तु में भेद सिद्ध करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक नहीं है तो फिर उसका विवेचन ही क्यों किया जाता है अर्थात् जब उससे किसी उपयोगी फल की सिद्धि ही नहीं होती तो उसका मानना ही निष्फल है ? इस शंका के उत्तर में व्यवहार नय का फल नीचे के श्लोक में कहा जाता है:-

व्यवहार नय के जानने का फल

फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य ।
गुणसद्भावे नियमाद् द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात् ॥ ५२४ ॥

अर्थ–इस व्यवहार नय का फल यह है कि उस अनन्तधर्मात्मक एक धर्मी में आस्तिक्य बुद्धि हो जाती है क्योंकि गुणों के सद्भाव में नियम से द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है और द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होने पर फिर उसका सद्भाव स्वयं सिद्ध स्वतः अनुभव (प्रतीति) में आने लगता है।

भावार्थ–व्यवहार नय के मानने का फल यह है कि वस्तु में अनन्त धर्म होने पर भी वह अखण्ड वस्तु है ऐसी प्रतीति हो जाती है। अर्थात् गुण-गुणी अभेद होने से गुणों को जानने से गुणी की प्रतीति जीव को आवे तो इस व्यवहार नय का यथार्थ फल आया कहलाय। व्यवहार (भेद) के आश्रय का फल विकल्प-राग द्वेष संसार है इसलिये भेद का आश्रय नहीं करना चाहिये अर्थात् इस नय द्वारा कहे हुये गुणों के भेद में नहीं रुकना चाहिये। अभेद द्रव्य की प्रतीति करनी यही इस नय के ज्ञान का फल है। यदि यह फल न आये, तो इस नय का ज्ञान यथार्थ नहीं कहा जाता।

५२१ से ५२४ तक का सार

व्यवहार नय के बिना पदार्थ विज्ञान नहीं होता। दृष्टान्त के लिये जीव द्रव्य को ही ले लीजिये। व्यवहार नय से जीव का कभी ज्ञान गुण विवक्षित किया जाता है, कभी दर्शन गुण, कभी चारित्र, कभी सुख, कभी वीर्य, कभी सम्यकत्व, कभी अस्तित्व, कभी वस्तुत्व, कभी द्रव्यत्व इत्यादि सब गुणों को क्रमशः विवक्षित करने से यह बात ध्यान में आ जाती है कि जीव द्रव्य अनन्त गुणों का पुंज है। साथ ही इस बात का भी परिज्ञान (व्यवहार नय से) हो जाता है कि ज्ञान, दर्शन, सुख, चरित्र, सम्यकत्व ये जीव के विशेष गुण हैं क्योंकि ये गुण जीव के सिवाय अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाये जाते हैं और अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण हैं क्योंकि ये गुण जीव द्रव्य के सिवाय अन्य सभी द्रव्यों में भी पाये जाते हैं तथा रूप, रस, गंध, स्पर्श ये पुद्गल के सिवाय अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाये जाते हैं इसलिये वे पुद्गल के विशेष गुण हैं। इस प्रकार वस्तु में अनन्त गुणों के परिज्ञान के साथ ही उसके सामान्य विशेष गुणों का परिज्ञान भी व्यवहार नय से होता है। गुण-गुणी और सामान्य विशेष गुणों का परिज्ञान होने पर ही पदार्थ अस्तित्व भाव होता है। इसलिये बिना व्यवहार नय के माने काम नहीं चल सकता क्योंकि पदार्थ का स्वरूप बिना समझाये आ नहीं सकता और जो कुछ समझाया जायेगा वह अंश रूप से समझाया जायेगा-इसी को पदार्थ में भेद बुद्धि कहते हैं। अभिन्न अखण्ड पदार्थ में भेद बुद्धि को उपचरित कहा गया है। इस प्रकार यह व्यवहार नय पदार्थ का

बोध कराने वाली होने के कारण स्थापन करने योग्य है पर" अनुसरण करने योग्य नहीं है क्योंकि यह राग-द्वेष संसार की उत्पादक है। केवल काम निकालने की चीज है अटकने की चीज़ नहीं है। श्री समयसारजी गाथा ८ की टीका में कहा है – "इस प्रकार जगत तो म्लेच्छ के स्थान पर होने से और व्यवहार नय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का प्रतिपादक (कहने वाला) है इसलिये व्यवहार नय स्थापित करने योग्य है, किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिये – इस वचन से वह (व्यवहार नय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।" अर्थात् स्वयं म्लेच्छ बनने योग्य नहीं है, इस बात को बराबर समझ लेना चाहिये अन्यथा सब शास्त्राभ्यास निरर्थक है। साध्य की सिद्धि न होगी। इसी बात को श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नं. ६ में इन शब्दों में कहा है कि "अज्ञानी को ज्ञान कराने के लिये मुनीश्वर अभूतार्थ का (व्यवहार नय को–भेद को) उपदेश करते हैं। जो केवल व्यवहार को ही जानता है। उसके लिये उपदेश ही नहीं है क्योंकि आचार्य महाराज तो अभेद को पकड़ाने के लिये भेद का उपदेश दे रहे थे भेद में अटकने के लिये नहीं। इस भूल से सावधान रहना चाहिये।

नोट–मूलभूत व्यवहार नय का वर्णन समाप्त हुआ। अब उसके भेदों का वर्णन करते हैं।

सद्भूत व्यवहार नय का वर्णन
(५२५ से ५२८ तक)
सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण

व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः ।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ॥ ५२५ ॥

अर्थ–व्यवहार नय दो प्रकार है (१) सद्भूत और (२) असद्भूत । जिस वस्तु में जो गुण है उसकी सद्भूत संज्ञा है और उन गुणों की भेद रूप प्रवृत्तिमात्र का नाम व्यवहार है अर्थात् विवक्षित किसी द्रव्य के गुणों को उसी द्रव्य में भेद रूप से प्रवृत्ति कराने वाले नय का नाम सद्भूतव्यवहार नय है।

भावार्थ–किसी द्रव्य के गुण उसी द्रव्य में विवक्षित करने का नाम ही सद्भूतव्यवहार नय है। यह नय उसी वस्तु के गुणों का विवेचन करता है इसलिये यथार्थ है। इस नय में अयथार्थपना केवल इतना है कि यह अखण्ड वस्तु में गुण-गुणी का भेद करता है। प्रवृत्ति के पीछे 'मात्र' शब्द इसलिये है कि – "इस नय के कथन में गुण के भेद की प्रवृत्ति है पर उसका प्रयोजन भेद समझाने का नहीं है परन्तु गुण-गुणी के अभेदरूप समझाने का है।"

सद्भूत व्यवहारनय की प्रवृत्ति में कारण

अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात् ।
अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ॥ ५२६ ॥

अर्थ–इस नय की प्रवृत्ति में कारण यह है कि सत् का असाधारण गुण विवक्षित होता है और सत् का साधारण गुण अविवक्षित होता है। दूसरे प्रकार नहीं अर्थात् इस नय की प्रवृत्ति में साधारण गुण विवक्षित हो और असाधारण अविवक्षित हो ऐसा कभी नहीं होता । (श्लोक अस्ति नास्ति से लिखा है) ।

भावार्थ–सद्भूत व्यवहार नय का कारण उस द्रव्य के असाधारण गुण जानने का है क्योंकि असाधारण गुणों द्वारा वह द्रव्य दूसरे द्रव्यों से भिन्न पहचाना जा सकता है। वह द्रव्य दूसरे द्रव्यों से जुदा है यह सिद्ध होते दूसरे द्रव्यों की उसमें 'नास्ति' है ऐसी निषेध बुद्धि उत्पन्न होती है। साधारण गुण से उस द्रव्य की सिद्धि तो हो जाय पर उस द्रव्य को दूसरे द्रव्यों से भिन्न नहीं जाना जा सकता। इसलिये साधारण गुण की विवक्षा होवे तो उस समय उसको सामान्यपने व्यवहार नय तो कह सकते हैं पर सद्भूतव्यवहार नय नहीं कह सकते।

सद्भूत व्यवहार नय के जानने का फल ५२७, ५२८

अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात् ।
इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः ॥ ५२७ ॥

अर्थ–इस नय का फल है कि इससे विवक्षित वस्तु के सिवाय अन्य वस्तु में यह वह नहीं है' इस प्रकार निषेध बुद्धि हो जाती है क्योंकि विवक्षित एक वस्तु को दूसरी वस्तुओं से भिन्न प्रगट करने वाला यह नय है किन्तु एक ही पदार्थ में भेद को प्रगट करने वाला यह नय नहीं है।

भावार्थ–सद्भूतव्यवहारनय वस्तु के विशेष गुणों का विवेचन करता है। इस नय के ज्ञान द्वारा वस्तु अपने विशेष गुणों द्वारा दूसरी वस्तुओं से भिन्न ही प्रतीत होने लगती है। जैसे कि जीव का ज्ञान गुण इस नय द्वारा विवक्षित होता है। वह जीव को दूसरे पुद्गलादि द्रव्यों से भिन्न सिद्ध करता है परन्तु यह नहीं कि जीव को ही अपने गुणों से भिन्न सिद्ध करता हो अथवा जीव और ज्ञान में भेद करता हो (देखिये पूर्व श्लोक ५१५)।

अस्तमितसर्वसङ्करदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा ।
अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणमिदम् ॥ ५२८ ॥

अर्थ–सद्भूतव्यवहारनय से वस्तु का यथार्थ परिज्ञान होने पर वह सब प्रकार के संकर दोषों से रहित–सब से जुदी, सब प्रकार के शून्यता–अभाव आदि दोषों से रहित, समस्त ही वस्तु बिना दूसरे की अपेक्षा किए हुये एक परमाणु के समान स्व से अखण्ड तथा पर से भिन्न ज्ञात होने लगती है। ऐसी अवस्था में वह उसका शरण वही दीखती है।

भावार्थ–इस नय द्वारा जब वस्तु उसके विशेष गुणों से दूसरों से भिन्न सिद्ध हो जाती है, फिर उसमें संकर दोष नहीं आ सकता है तथा गुणों का परिज्ञान होने पर उसमें शून्यता अर्थात् अभाव आदि दोष भी नहीं आ सकते हैं क्योंकि उसके गुणों की सत्ता और उनकी नित्यता का परिज्ञान उक्त दोनों दोषों का विरोधी है तथा जब वस्तु के सामान्य भी गुण उसमें ही दीखते हैं उससे बाहर नहीं दीखते तब वस्तु परमाणु के समान उसके गुणों से अखण्ड, अभिन्न और पर से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। इतने बोध होने पर ही वस्तु अनन्यशरण (अपनी शरण आप-कोई वस्तु कोई वस्तु की शरण नहीं) प्रतीत होती है।

असद्भूत व्यवहार नय का वर्णन (५२९ से ५३३ तक)

असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण

अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा ।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः संयोज्यन्ते बलात्तदन्यत्र ॥ ५२९ ॥

अर्थ–असद्भूत है आदि में जिसके और व्यवहार है अन्त में जिसके ऐसा ये असद्भूतव्यवहार नय है। इस नय द्वारा अन्य द्रव्य के गुण बलपूर्वक (कारणवश-विभाव परिणमन के कारण) उससे अन्य द्रव्य के कहे जाते हैं जैसे पुदगल का क्रोध, जीव में क्रोधरूप विभाव परिणमन होने के कारण, जीव का कहना।

भावार्थ–इस नय द्वारा अन्य द्रव्य के गुण अन्य द्रव्य के कहे जाते हैं क्योंकि वे गुण वास्तविक रूप से उसमें नहीं है इसलिये असद्भूत किन्तु वे भाव उसमें प्रवर्तते हैं पर्याय में पाये जाते हैं इसलिये व्यवहार । जैसे राग वास्तव में पुद्गल द्रव्य का गुण है उसे आत्मा का गुण कहना ये असद्भूतव्यवहार नय है। इस नय से राग को आत्मा का कहा जाता है। राग आत्मा का त्रिकाली गुण नहीं है इसलिये तो असद्भूत किन्तु वैभाविक शक्ति के कारण आत्मा की पर्याय में राग पाय जाता है इसलिये व्यवहार । इस प्रकार असद्भूत व्यवहारनय है।

असद्भूतव्यवहारन्य का उदाहरण

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम् ।
तत्संयोगत्वादिह मूर्त्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ॥ ५३० ॥

अर्थ–वह इस प्रकारः– वर्णादिमान मूर्त द्रव्य का बना हुआ कर्म निश्चय से एक मूर्त पदार्थ है। उसका संयोग (निमित्त मात्र उदय) होने से ये मूर्तिक क्रोधादिक जीव में उत्पन्न होते हैं। फिर उन क्रोधादिकों को जीव के गुण कहना असद्भूतव्यवहार है।

भावार्थ–मोहनीय कार्मण वर्गणा में जो क्रोधादि शक्ति है वह शक्ति वास्तव में उस पुद्गल कर्म का गुण है और वह शक्ति निश्चय से मूर्त है। उसके उदय रूप निमित्त मात्र की सन्निधि होने पर जीव अपनी वैभाविक शक्ति के कारण भाव क्रोधादि रूप पर्याय में स्वयं परिणमन करता है। बस इस कारण के – कारण जीव में उत्पन्न होने वाले उन भाव क्रोधादिकों को जीव के कहना ये असद्भूत व्यवहार नय है। इस प्रकार एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में संयोजित किये जाते हैं – आरोपित किये जाते हैं – कहे जाते हैं। क्या इसी नय से जीव को वर्णमान (गोरा-काला) भी कह सकते हैं ? नहीं। क्रोधी जीव को कहने का तो उसका वैभाविक परिणमन कारण है पर वर्ण तो दूसरे धर्मी का परिणमन (परिणाम) है। उसको जीव का नहीं कह सकते क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। केवल संयोग या निमित्त या

बंध होने से एक धर्मी का धर्म दूसरे धर्मी का संयोजित नहीं किया जाता किन्तु दूसरे द्रव्य का निमित्त मात्र होने पर मूल द्रव्य में यदि विभाव परिणमन हो तो उस निमित्त का धर्म उपादान का कहा जाता है क्योंकि नय एक धर्मी के एक-एक धर्म रूप अंश का नाम है। वह अंश उसी द्रव्य के चतुष्टय में होना चाहिए न कि दूसरे धर्मी के चतुष्टय में। यह इस नय में खास विवेक रखने की बात है अन्यथा नयाभास हो जायेगा। शंका-पर आगम तथा लोकव्यवहार में तो वर्णादिमान जीव कहा जाता है। जीव ने कर्म बांधे, कर्म ने जीव को इष्ट-अनिष्ट सामग्री दी, जीव ने स्त्री को भोगा। क्या वह कथन इस असद्भूतव्यवहार नय से ठीक नहीं है। समाधान नहीं। कदापि नहीं। यद्यपि ऐसा कहने की आगम तथा लोक व्यवहार की रूढ़ि है। वह उपचरित असद्भूत दृष्टि से कह देते हैं पर वह वास्तव में मिथ्या है। नयाभास है। ज्ञानी ऐसे कथनों से डांवाडोल नहीं होते । वे समझ लेते हैं कि यह मात्र निमित्त के कथन हैं। वास्तव में मिथ्या हैं। नयाभास है क्योंकि दोनों धर्मी भिन्न-भिन्न हैं। विशेष स्पष्टीकरण के लिए आगे देखिये न. ५५२ से ५८७ तक । सार यही है कि मूल द्रव्य में केवल वैभाविक परिणमन के कारण ही अन्य द्रव्य के गुण अन्य द्रव्य में संयोजित करना असद्भूत व्यवहार नय है अन्यथा नहीं । इसी को अब अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

असद्भूतव्यवहार नय की प्रवृत्ति में कारण

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात् ।
सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ॥ ५३१ ॥

अर्थ-असद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति क्यों होती है ? इसका कारण द्रव्य में रहने वाली (अन्तर्लीन-तादातमरूप) वैभाविक शक्ति है । उसका नाम वैभाविकी है पर वह है स्वाभाविकी (स्वतः सिद्ध) क्योंकि वह केवल जीव और पुद्गल में स्वतः सिद्ध है।

भावार्थ-जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में एक वैभाविक नामा गुण हैं। यह उक्त दोनों द्रव्यों का स्वाभाविक गुण है। उस गुण का पर (कर्म) के निमित्त की सन्निधि में वैभाविक परिणमन होता है। निमित्त का सम्बन्ध न करे तो उसका स्वाभाविक परिणमन होता है। उसी वैभाविक शक्ति के विभाव परिणमन से असद्भूत व्यवहार नय के विषयभूत जीव के क्रोधादिक भाव बनते हैं (इस शक्ति का विशद विवेचन श्लोक नं. ८२० से ९३० तक किया गया है) वैभाविक शक्ति केवल जीव और पुद्गल में होने के कारण ये नय इन्हीं दो द्रव्यों पर लागू होगी। शेष चार द्रव्यों पर नहीं।

असद्भूतव्यवहारनय के जानने का फल

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह ।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥ ५३२ ॥

अर्थ-आगन्तुक (आगमनशील-महमान) भाव होने के कारण क्रोधादिक उपाधिमात्र भाव हैं। उसको छोड़कर जो कुछ शेष बचता है वह जीव का शुद्ध गुण है। ऐसा मानकर (श्रद्धा करके-प्रतीति करके यहाँ कोई जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह इस नय के जानने का फल है।

भावार्थ-इस असद्भूत व्यवहार नय का प्रयोजन यह है कि रागादिक भाव को जीव का कहा है वह असद्भूत व्यवहार से है पर निश्चय से नहीं। इससे कोई भव्यात्मा उपाधि मात्र अंश को छोड़कर निश्चय तत्त्व को ग्रहण करने का इच्छुक बन कर सम्यग्दृष्टि हो सकता है कारण कि सब नयों में निश्चय नय ही उपादेय है पर बाकी का कोई नय नहीं। बाकी के नय तो मात्र परिस्थतिवश प्रतिपाद्य विषय का निरूपण मात्र करते हैं। इसलिये एक निश्चय नय ही कल्याणकारी है। यद्यपि इस असद्भूत व्यवहार नय का व्यवहार-व्यवहार है परन्तु वह उपादेय नहीं है। ऐसा समझकर इस नय के विषय को समझ लेने के बाद निश्चय नय के विषयभूत निश्चय तत्त्व को निरूपाधि रूप जान कर उसको अंगीकार करके कोई भव्यात्मा सम्यग्दृष्टि हो सकता है। यही इन नय के दिखलाने का मुख्य प्रयोजन है।

असद्भूतव्यवहार नय का दृष्टांत

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३३ ॥

अर्थ-इसमें दृष्टांत भी है। जैसे सोना दूसरे पदार्थ के गुणों के सम्बन्ध से कुछ सफेदी को लिये हुये पीला हो जाता है तब असद्भूत व्यवहार नय से सोना सफेद कहा जाता है, पर, परगुण के सम्बन्ध को छोड़कर वही सोना (उसी समय

मिली हुई अवस्था में भी) किन्हीं के द्वारा शुद्ध अनुभव किया जाता है 'उसी प्रकार' द्रव्य कर्म के क्रोधादिक मूर्तिक गुणों के सम्बन्ध से 'आत्मा क्रोधी इत्यादि' असद्भूत व्यवहार नय से कहा जाता है पर वही आत्मा उसी समय उसी राग सहित मिली हुई अवस्था में पर गुण के सम्बन्ध को छोड़कर किन्हीं निकट भव्यों के द्वारा शुद्ध अनुभव किया जाता है। इसका नाम सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार इस नय के द्वारा कोई सम्यग्दृष्टि हो सकता है। दृष्टांत में ग्रंथकार ने परसंयोग नहीं लिखा किन्तु परगुणसंयोग लिखा है। अर्थात् चांदी से उनका भाव नहीं है किन्तु चांदी का गुण जो सफेद और वह सफेदी जो सोने में झलकने लगती है उसको सोने का वैभाविक परिणमन बनाकर दृष्टांत बनाया है। उसी प्रकार जीव में कर्म संयोग नहीं किन्तु कर्मगुणसंयोगकर्म का गुण जो क्रोधादि भाव उसका जीव में संयोग होने पर–उस से रहित जीव को शुद्ध अनुभव करना क्योंकि असद्भूत व्यवहार में ग्रंथकार दूसरे धर्मी को नहीं लेता किन्तु उसके निमित्त से अपने विभाव को लेता है। दूसरे धर्मी को लेना तो नयाभास है। यह दृष्टांत और दार्ष्टान्त में बराबर ध्यान रहे।

नोट–व्यवहारनय के मूल भेदों का वर्णन समाप्त हुआ। अब प्रभेदों का अर्थात् भेदों का वर्णन करते हैं–

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोऽस्ति च तथोपचरितश्च ।
अपि चासद्भूतः सोऽनुपचरितोऽस्ति च तथोपचरितश्च ॥ ५३४ ॥

अर्थ–सद्भूतव्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित भी होता है तथा वह असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है।

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का वर्णन ५३५ से ५३९

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय का लक्षण

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः ।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥

अर्थ–जिस पदार्थ के भीतर जो शक्ति है वह उसकी यदि विशेष निरपेक्ष सामान्य रूप से निरूपण की जाती है तो पहली अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है।

भावार्थ–द्रव्य की निजशक्ति पर से उपचरित नहीं की जाती किन्तु स्व से उपचरित की जाती है जैसे ज्ञान ज्ञेय का नहीं किन्तु ज्ञानी (आत्मा) का कहना यह अनुपचरित, द्रव्य की वास्तविक शक्ति इसलिये सद्भूत और अभेद में भेद करके प्रवृत्ति करना व्यवहार । इस प्रकार अनुपचरितसद्भूत व्यवहार है।

अनुपचरितसद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण ५३६-५३७

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ॥ ५३६ ॥

अर्थ–यह उसका उदाहरण है। ज्ञान-जीव से ही जिसका जीवन है ऐसा जीव का अनुजीवी गुण है। वह ज्ञेय के अवलम्बन काल में भी (अर्थात् पर्याय में ज्ञेय को जानते समय ज्ञेयाकार होने पर भी) ज्ञेयोपजीवी (ज्ञेय के आधार से जीने वाला अथवा ज्ञेय का ही अनुजीवी गुण) नहीं हो जाता अर्थात् किसी पदार्थ को विषय करते समय ज्ञान सदा जीव का अनुजीवी गुण रहेगा वह अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है।

भावार्थ–यद्यपि ज्ञान, जिस समय जिस विषय को विषय करता है उस समय उसको वही कहते हैं जैसे घट को विषय करने से ज्ञान-घटज्ञान कहलाता है तो भी अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय की दृष्टि से यह कथन बराबर नहीं है। इसलिये ज्ञान को ज्ञेयोपजीवी न कह कर केवल आत्मोपजीवी ही कहना अर्थात् ज्ञान को घट ज्ञान न कहकर मात्र ज्ञान कहना ये इस नय का विषय है। ये नय ज्ञान को हर समय गुण रूप से-सामान्य रूप से देखती है। विशेष रूप से नहीं। विशेष रूप से उपचरित सद्भूत देखता है। केवल ज्ञान अवस्था में ज्ञान को क्षायिक अवस्था रूप-लोकालोक रूप देखना उपचरितसद्भूत है। अनुपचरित दृष्टि से तो उस समय भी ज्ञान गुण विशेष निरपेक्ष ज्ञान गुण रूप ही है।

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।
अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥ ५३७ ॥

अर्थ–जिस प्रकार घट के सद्भाव में (घट को विषय करते समय) घट की अपेक्षा न करके केवल चिद् (ज्ञान) ही जीव का गुण है उसी प्रकार घट के अभाव में भी घट निरपेक्ष चित् (ज्ञान) ही जीव का गुण है।

भावार्थ–जिस समय ज्ञान में घट विषय पड़ा है उस समय भी वह घटाकार ज्ञान ज्ञान ही है। घटाकार होने से (घट को विषय करने से) वह ज्ञान घटरूप अथवा घट का गुण नहीं हो जाता है। घटाकार का होना केवल (मात्र) ज्ञान का ही स्वरूप है जैसे दर्पण में किसी पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है। दर्पण का पदार्थाकार होना दर्पण की ही पर्याय है। दर्पण उस प्रतिबिम्बमूलक पदार्थ रूप नहीं हो जाता है तथा जैसे दर्पण पदार्थाकार होने पर भी वह अपने स्वरूप में है वैसा पदार्थाकार न होने पर भी वह अपने स्वरूप में है। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होते समय पदार्थ के कुछ गुण दर्पण में आ जाते हों अथवा दर्पण के कुछ गुण पदार्थ में चले जाते हों। उसी प्रकार ज्ञान भी जैसा पदार्थाकार होते समय जीव का चैतन्य गुण है। वैसा पदार्थाकार बिना भी जीव का चैतन्य गुण है। दोनों अवस्थाओं में वह जीव का ही एक जैसा गुण है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति के उदहरण का फल

एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम् ।
असति घटे न ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यत्वात् ॥ ५३८ ॥

अर्थ–इस कथन द्वारा जो यह सिद्धांत है कि घट की उपस्थिति में घट का ज्ञान होता है तथा घट की अनुपस्थिति में न तो ज्ञान होता है तथा न घटज्ञान होता है खण्डित हो गया क्योंकि वह मान्यता प्रमाणशून्य है।

भावार्थ–बौद्ध सिद्धांत है कि पदार्थ ज्ञान में पदार्थ ही कारण है। बिना पदार्थ के उसका ज्ञान नहीं हो सकता, साथ ही ज्ञानमात्र भी नहीं हो सकता क्योंकि जो भी ज्ञान होगा वह पदार्थ से ही उत्पन्न होगा अर्थात् पदार्थ के रहते हुये ही होगा। इस नय का ज्ञान होने पर यह कथन प्रमाण शून्य प्रतिभासित होने लगता है क्योंकि ज्ञान तो जीव का जीवोपजीवी गुण है। वह तो स्वतःसिद्ध है और अपनी योग्यता से जाननशक्ति से स्वयं जानता है। इस नय की दृष्टि स्वतः जानने रूप पर्याय पर भी नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध स्वभाव पर है। केवल अभेद में भेद के कारण इसमें व्यवहारपना आया है।

अनुपचरितसद्भूत व्यवहारनय के जानने का फल

फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात् ।
भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात् ॥ ५३९ ॥

अर्थ–इस नय का फल आस्तिक्यता का कारण बनता है क्योंकि सत् द्रव्य में वास्तव प्रतीति हो जाती है तथा क्षणिकादिमत् (बौद्धादिमत) में बिना किसी प्रयास के परम उपेक्षा हो जाती है।

भावार्थ–घटज्ञान अवस्था में भी ज्ञान को जीव का ही गुण समझना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है और यही पदार्थ की यथार्थ प्रतीति का बीज है।

उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का वर्णन ५४० से ५४५ तक

उपचरितसद्भूत व्यवहार नय का लक्षण

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम ।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यतः स्वगुणः ॥ ५४० ॥

अर्थ–अविरुद्धतापूर्वक किसी हेतु से उस वस्तु के गुण का उसी में पर की अपेक्षा से भी जहाँ पर उपचरित किया जाता है वहाँ पर उपचरितसद्भूतव्यवहारनय प्रवर्तित होता है।

भावार्थ–यहाँ पर उसी वस्तु का गुण उसी में विवक्षित किया जाता है इतना अंश तो सद्भूत का स्वरूप है। गुणी से गुण का भेद किया गया है, इतना अंश व्यवहार का स्वरूप है तथा वह गुण उस वस्तु में पर से उपचरित किया जाता है इतना उपचरित अंश है। इसलिए ऐसे ज्ञानवाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहलाता है अथवा ऐसा उपचरित प्रयोग भी इसी नय का विषय है।

उपचरितसद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा ।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारं ॥ ५४१ ॥

अर्थ–जैसे अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाण का लक्षण है सो यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण है। यहाँ पर अर्थ नाम ज्ञान और परपदार्थों के समुदाय का है। विकल्प नाम ज्ञान का उस आकार रूप होना है अर्थात् स्व पर का ज्ञान होना ही प्रमाण है।

भावार्थ–ज्ञान अपने स्वरूप को जानता हुआ ही पर पदार्थों को जानता है यह उसकी प्रमाणता का हेतु है। स्व पर पदार्थों का निश्चयात्मक बोध ही प्रमाण कहलाता है और यह ज्ञान की विकल्पात्मक (ज्ञेयाकार) अवस्था है। यहाँ पर ज्ञान का स्वरूप उसके विषयभूत पदार्थों के उपचार से सिद्ध किया जाता है परन्तु ज्ञेयाकार रूप ज्ञान को जीव का ही गुण बतलाया गया है। इसलिये यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। ज्ञान का यह लक्षण पर्याय की मुख्यता से है। गुण की अपेक्षा तो 'शुद्ध ज्ञान' कहा जाता है। इस लक्षण में क्योंकि ज्ञेयाकार ज्ञान का लक्षण कहा जाता है। उसे सुनकर ऐसा प्रतिभास सा होता है कि ज्ञान पराश्रित हो। वास्तव में ऐसा है नहीं क्योंकि यहाँ तो केवल पर से उपचार किया है और उपचार करने का कारण भी यह है कि बिना विषय के ज्ञान का निरूपण कैसे करें। इस उदाहरण के अनुसार ''ज्ञानप्रमाण है'' इतना तो सद्भूत व्यवहार का उदाहरण ठहरता है और उसे अर्थविकल्पात्मक कहना यह उपचार ठहरता है। यद्यपि ज्ञान स्वरूपसिद्ध है तथापि उसे अर्थविकल्पात्मक बतलाया जाता है इसलिये वह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण हुआ।

उपचरितसद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति में कारण ५४२-४३-४४

असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात् ।
तदपि न बिनालम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ॥ ५४२ ॥

अर्थ–ज्ञान यद्यपि निर्विकल्पक होने से सन्मात्र है इसलिये उपर्युक्त विकल्प स्वरूप लक्षण उसमें नहीं जाता है तथापि वह बिना अवलम्बन के निर्विषय नहीं कहा जा सकता है इसलिए इस नय के आश्रय से ऐसा कहना पड़ता है।

तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञान तदन्यशरणमिव ॥ ५४३ ॥

अर्थ–इसलिये यद्यपि ज्ञान दूसरों की अपेक्षा किये बिना ही स्वरूप सिद्ध होने से सत् रूप है अर्थात् ज्ञान अपने स्वरूप से स्वयं सिद्ध है। अतएव वह अनन्यशरण (उसका वही अवलम्बन) है तो भी हेतु वश वह ज्ञान अन्यशरण के समान उपचरित होता है परतः सिद्ध वही हो सकता है जो स्वतः सिद्ध है किन्तु निरूपण करने में ज्ञान को अन्य सापेक्ष जैसा दिखाना पड़ता है। अनन्य शरण बताना है।

हेतुः स्वरूपसिद्धि बिना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।
तदपि च शक्तिविशेषाद् द्रव्यविशेषे यथाप्रमाणं स्यात् ॥ ५४४ ॥

अर्थ–ऐसा होने में कारण भी यह है कि स्व-रूप सिद्धि के बिना पर रूप से सिद्धि अप्रमाण ही है अर्थात् ज्ञान स्वरूप से सिद्ध है तभी वह पर से भी सिद्ध माना जाता है। ज्ञान स्वरूप से सिद्ध है इसमें कारण यह है कि वह द्रव्य विशेष (जीव द्रव्य) में गुण विशेष है। यह बात प्रमाणपूर्वक सिद्ध है।

भावार्थ–'अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणं'' अर्थात् स्व-पर पदार्थ का बोध ही प्रमाण है। ऐसा ऊपर कहा गया है। इस कथन में ज्ञान में प्रमाणता पर से लाई गई है। परन्तु पर से प्रमाणता ज्ञान में तभी आ सकती है जबकि यह अपने स्वरूप से सिद्ध हो, इसी बात को यहाँ पर स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान अपने स्वरूप से स्वयं सिद्ध है कारण कि वह जीव द्रव्य का विशेष गुण है। स्वयं सिद्ध होकर ही वह पर से उपचरित कहा जाता है।

उपचरितसद्भूतव्यवहारनय के जानने का फल

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषभ्रमक्षयो यदि वा ।
अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥ ५४५ ॥

अर्थ–उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का यह फल है कि ज्ञेय और ज्ञायक में अर्थात् ज्ञान और पदार्थों में संकर दोष उत्पन्न हो तथा किसी प्रकार का भ्रम भी इनमें न उत्पन्न हो। यदि पहले ज्ञेय और ज्ञायक में संकर दोष अथवा दोनों

में भ्रम हुआ हो तो इस नय के जानने पर वह दोष तथा वह भ्रम दूर हो जाता है। यहाँ पर अविनाभाव होने से सामान्य साध्य है तथा विशेष उसका साधक है अर्थात् ज्ञान साध्य है और घटज्ञान पटज्ञान आदि (विकल्पात्मकज्ञान ज्ञेयाकार ज्ञान) उसका साधक है अर्थात् गुण साध्य है पर्याय साधक है। दोनों में अविनाभाव है।

भावार्थ–कोई पदार्थ के स्वरूप को नहीं समझने वाले ज्ञान को घटपटादि पदार्थों का धर्म बतलाते हैं तथा कोई कोई ज्ञेय के धर्म ज्ञायक में बतलाते हैं। अथवा विषय विषयी के सम्बन्ध में किन्हीं को भ्रम हो रहा है। उन सबका अज्ञान दूर करना ही इस नय का फल है। इस नय द्वारा यही बात बतलाई गई है कि विकल्पता ज्ञान का साधक है अर्थात् घटज्ञान, पटज्ञान, केवलज्ञान इत्यादि ज्ञान के विशेषण साधक हैं। सामान्य ज्ञान साध्य है। उपर्युक्त विशेषणों से सामान्य ज्ञान की ही सिद्धि होती है। ज्ञान में घटादि धर्मता सिद्ध नहीं होती। ऐसा यथार्थ परिज्ञान होने से ज्ञेय ज्ञायक में संकरता का बोध कभी नहीं हो सकता है। सम्यग्दर्शन का विषय सामान्य ज्ञान है, पर अनुभव में तो विशेष ज्ञान आता है। सामान्यविशेष ज्ञान का अविनाभाव होने से ज्ञानी इस नय द्वारा सामान्य ज्ञान को साध्य बना लेते हैं और विशेष ज्ञान को साधन बना लेते हैं और अपने इष्ट की सिद्धि कर लेते हैं। श्री द्रव्यसंग्रह में कहा है–

अट्ठचदुणाणदंसणसामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥

इसमें आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को (विशेष ज्ञान दर्शन को-पर्याय को) इसी व्यवहार नय से जीव का लक्षण कहा है। यही साधन है और शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शन (सामान्य ज्ञान दर्शन गुण) जो शुद्ध नय (निश्चय नय) का विषय है वह साध्य है।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का वर्णन (५४६ से ५४८ तक)

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण

अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ॥ ५४६ ॥

अर्थ–जो अबुद्धिपूर्वक होने वाले [वर्तमान बुद्धि (ज्ञान) में नहीं पकड़ में आने वाले-अव्यक्त] क्रोधादिक भाव जीव के विवक्षित किये जायें तो जो अनुपचरित नाम का असद्भूत नय है वह हो जाता है अर्थात् अबुद्धिपूर्वक राग को जीव का कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है। इस नय से अबुद्धिपूर्वक राग को जीव का कहना ठीक है।

भावार्थ–क्रोधादिक भावों को जीव के कहना यह असदभूत व्यवहार नय है यह पहले ५२९ में कह आये हैं। ये क्रोधादिक भाव दो प्रकार के होते हैं - (१) अबुद्धिपूर्वक (अव्यक्त), (२) बुद्धिपूर्वक (व्यक्त) उसमें अबुद्धिपूर्वक भावों को जीव के कहना अनुपचरित है और बुद्धिपूर्वक को जीव के कहना उपचरित है ये आगे कहेंगे। यहाँ पर वैभाविक भावों को जीव का कहना इतना अंश तो असद्भूत का है। गुण-गुणी का भेद व्यवहार अंश है। अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिकों को कहना इतना अंश अनुपचरित का है क्योंकि साधक जीव का ज्ञान उनको जुदा पकड़ नहीं सकता है।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति में कारण

कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावभावमयी ।
उपयोगदशाविशिष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी ॥ ५४७ ॥

अर्थ–इस नय की प्रवृत्ति में कारण यह कि जिस पदार्थ की जो शक्ति विभावमयी है और उपयोगदशा विशिष्ट है अर्थात् विभाव रूप कार्य कर रही है उस समय वह शक्ति अपने द्रव्य से ही अनन्यमयी (एकमेक-अभिन्न) है। ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ–यह व्यवहार अनुपचरित इसलिये कहलाया क्योंकि क्रोध चारित्र नामक निज गुण की ही विभाव दशा है। इन क्रोधादिकों की प्रवृत्ति के समय जीव और क्रोधादिक में अनन्यभाव प्रतीत होने लगता है और अभिन्नता का व्यवहार होने लगता है। यह इस नय की प्रवृत्ति में कारण है।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय के जानने का फल

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः ।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् ॥ ५४८ ॥

अर्थ—अपने और पर के निमित्त से होने वाले जितने भी आये हुये भाव (विभाव भाव) हैं वे सब आत्मा के धर्म न होने से क्षणिक हैं और क्षणिक होने से ग्रहण योग्य नहीं है ऐसी बुद्धि का होना ही इस नय का फल है। अर्थात् राग में हेय बुद्धि होना इस का फल है।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का वर्णन (५४९ से ५५१ तक)

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥ ५४९ ॥

अर्थ—जो बुद्धिपूर्वक होने वाले औदयिक क्रोधादिक भाव जीव के विवक्षित किये जायें तो जो उपचरित असद्भूत व्यवहार नाम का नय है वह हो जाता है अर्थात् बुद्धिपूर्वक राग को जीव का कहना उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है।

भावार्थ—वास्तव में औदयिक भाव क्रोधादिक जीव का स्वरूप नहीं इतना अंश तो असद्भूत का है तथा बुद्धि में जानने में आता है—व्यक्त है इसलिये वह उपचार योग्य होने से उपचरित, भेद रूप प्रवृत्ति व्यवहार । इस प्रकार उपचरित असद्भूत व्यवहार नय हुआ।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति में कारण

बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात् ।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ॥ ५५० ॥

अर्थ—और इस की प्रवृत्ति में कारण यह है कि जितना भी विभाव भाव हैं वे नियम से स्व और पर दोनों के कारण से होते हैं क्योंकि द्रव्य में विभाव रूप से परिणमन करने की शक्ति विशेष के रहते हुये भी वे भाव पर निमित्त के आश्रय किए बिना नहीं होते हैं अर्थात् आत्मा के गुणों का पुद्गल कर्म को निमित्त बनाकर वैभाविक रूप होना ही उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का कारण है।

भावार्थ—पर निमित्त बिना विभाव भाव होते नहीं हैं इस नय द्वारा ऐसा ज्ञान होने पर भव्य जीव निमित्त ऊपर की राग को उत्पन्न करने वाली पराश्रित बुद्धि छोड़कर स्वाश्रित दृष्टि कर लेता है। राग निमित्त बिना नहीं होता है इसका यह अर्थ नहीं कि निमित्त जीव को जबरदस्ती राग कराता है किन्तु इसका अर्थ यह कि जब जीव राग करता है तो उसमें कर्म निमित्त पड़ता ही है। आत्मा निमित्त में जुड़े बिना राग नहीं कर सकता।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय के जानने का फल

तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः ।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः ॥ ५५१ ॥

अर्थ—जहाँ बुद्धिपूर्वक राग भाव होता है वहाँ अबुद्धि पूर्वक होता ही है। ऐसा बुद्धिपूर्वक भावों का अबुद्धिपूर्वक भावों के साथ अविनाभाव है। अविनाभाव होने से अबुद्धिपूर्वक भाव साध्य हैं और उनकी सत्ता सिद्ध करने के लिये साधन बुद्धिपूर्वक भाव हैं। इस प्रकार इस बात को बतलाना ही इस नय का फल है। अर्थात् बुद्धिपूर्वक भावों से अबुद्धिपूर्वक भावों का परिज्ञान करना ही इस ज्ञान का फल है।

भावार्थ—इस नय के ज्ञान द्वारा जीव जान लेता है कि अबुद्धिपूर्वक राग की सत्ता आत्मा में है। अबुद्धिपूर्वक अव्यक्त क्रोधादिक भावों की तो केवल सत्ता मात्र की ही प्रतीति होती है परन्तु वे अनुभव में नहीं आते। इनका निर्णय बुद्धिपूर्वक राग से अविनाभाव के कारण ज्ञानी कर लेते हैं। वर्तमान उपयोग में पकड़े हुआ बुद्धिपूर्वक कषाय अंश द्वारा वर्तमान उपयोग में नहीं पकड़ में आने वाले अबुद्धिपूर्वक कषाय अंश को साध्य बनाकर इन दोनों का आत्मा में नकार करना यही इन दोनों नयों के जानने का फल है। उपचरित असद्भूत तथा अनुपचरित असद्भूत ये दोनों एक ही समय के

व्यक्त (लक्ष में आये हुये) और अव्यक्त (लक्ष में नहीं आवे) ऐसे दो प्रकार के विभाव भाव आगमनशील भाव औपपाधिक भाव हैं । इन दोनों नयों द्वारा उन दोनों भावों को ख्याल में लेकर इनको हेय रूप मानना - श्रद्धान करना यही इन दोनों नयों का प्रयोजन है – फल है।

श्लोक नं. ५३५ से ५५१ तक का सार

१. उपचरितसद्भूत व्यवहार नयः– "ज्ञान पर को जानता है" – ऐसा कहना अथवा तो ज्ञान में राग ज्ञात होने से "राग का ज्ञान है" – ऐसा कहना, अथवा ज्ञाता स्वभाव के भानपूर्वक ज्ञानी "विकार को भी जानता है"–ऐसा कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का कथन है।

२. अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयः- ज्ञान और आत्मा इत्यादि गुण-गुणी के भेद से आत्मा को जानना वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है।

३. उपचरित असद्भूत व्यवहार नयः– साधक ऐसा जानता है कि अभी मेरी पर्याय में विकार होता है। उसमें जो व्यक्त रागबुद्धिपूर्वक का राग-प्रकट ख्याल में लिया जा सकता है ऐसे बुद्धिपूर्वक के विकार को आत्मा का जानना यह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

४. अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयः– जिस समय बुद्धिपूर्वक का विकार है उस समय अपने ख्याल में न आ सके–ऐसा अबुद्धिपूर्वक का विकार भी है; उसे जानना वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

शंका–किसी को ऐसी शंका हो सकती है कि व्यवहार नयों का ऐसा स्वरूप किसी अन्य ग्रंथ में (आगम में) नहीं कहा गया है तथा किसी को यह भी शंका हो सकती है कि एक वस्तु में होने वाली नयों को तो निश्चय नय कहते हैं। व्यवहार नय तो दो द्रव्यों में हुआ करती हैं। उस व्यवहार नय को ग्रंथकार ने नयाभास बतलाया है।

समाधान–आपकी दोनों बातें ठीक हैं। उनका समाधान शान्तिपूर्वक सुनिये। निम्न प्रकार हैः–

ये नय दृष्टि खालिस अध्यात्म दृष्टि की है और अध्यात्म के ग्रंथराज श्री समयसारजी में से निकाली गई है। कहाँ और किस प्रकार देखिये श्री समयसारजी गाथा ६ में कहा हैः–

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

अर्थ–जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायक रूप से ज्ञाता हुआ, वह तो वही है, अन्य कोई नहीं। (१) अप्रमत्त को अबुद्धिपूर्वक राग कहते हैं। अबुद्धिपूर्वक राग को आत्मा का जानना यह तो आपकी अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय रही। (२) प्रमत्त को बुद्धिपूर्वक राग कहते हैं। बुद्धिपूर्वक राग को आत्मा का जानना यह आपकी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय रही।

आगे चलिये–गाथा ७ में कहा हैः–

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

अर्थ–ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है। और दर्शन भी नहीं है। ज्ञानी तो एक ज्ञायक शुद्ध ही है। (३) आत्मा, दर्शन, ज्ञान, चारित्र अपूर्ण पर्यायवालाजीव कहना यह आपकी उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। (४) आत्मा अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप है यह आपकी अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। सद्भूत व्यवहार नय के दोनों भेद गाथा नं. ७ में से निकाले हैं और असद्भूत व्यवहार नय के दोनों भेद गाथा ६ में से निकाले हैं।

भावार्थ–गुण भेद से अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय और स्वभाव पर्याय भेद से उपचरित सद्भूत – व्यवहार नय कहना यहाँ मान्य नहीं है; किन्तु गुण और स्वभाव पर्याय दोनों को परनिरपेक्ष स्वसम्बन्धी कहना यहाँ इष्ट हैं। अर्थात् गुण जीव के ही हैं–ऐसा कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है जैसे जीव का ज्ञान गुण और ज्ञान को स्वपर प्रकाशक पर्याय रूप कहना अर्थात् पर सम्बन्ध वाला ज्ञान कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है जैसे ज्ञान क्रोधादिक अथवा घटपट आदिक को जानता है– ऐसा कहना।

अब आप कहेंगे यहाँ तो 'नहीं' रूप की गाथा है आपने 'हां' रूप कैसे अर्थ कर दिया है। इसका उत्तर यह है कि यहाँ निश्चय नय का कथन चला आ रहा है। निश्चय नय ''नेति'' को कहते हैं अर्थात् व्यवहार का प्रतिषेधक निश्चय है और व्यवहार प्रतिषेध्य है। ऐसा लक्षण स्वयं भी समयसारजी गाथा २७२ मूल में कहा है और टीकाकार ने उसका स्पष्टीकरण गाथा २७२ से २७७ तक किया है। वहाँ स्पष्ट यह लक्षण बांधा गया है। इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्द भगवान गाथा ६ में कहते हैं कि असद्भूत व्यवहार नय जो आत्मा को प्रमत्त अप्रमत्त रूप स्थापित करता है पर निश्चय से आत्मा वैसा नहीं है। तथा गाथा ७ में कहते हैं कि सद्भूत व्यवहार नय जो आत्मा को पर्याय स्वभाव वाला कहता है निश्चय से वैसा ही आत्मा नहीं है। श्रीकुन्दकुन्द भगवान के सूत्र ग्रन्थ हैं। उन्होंने दो गाथा में ही व्यवहार का पूर्ण स्वरूप कहकर वह प्रतिषेध्य है, हेय है, मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है यह भी कह दिया और इन्हीं दो गाथाओं में निश्चय नय प्रतिषेधक है, उपादेय है– वह एक ही कार्यकारी है यह भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

ग्रन्थराज के कर्त्ता श्री पंचाध्यायीकार ने वैसे तो सारा ग्रन्थ ही श्रीकुन्दकुन्द भगवान के वक्तव्य से निकाला है पर ये चार नय ही व्यवहार नय हैं ऐसा उपर्युक्त दो गाथा (आगम आधार) से निकाली गई हैं। दो द्रव्य के सम्बन्ध को बतलाने वाली नय नहीं हैं किन्तु नयाभास हैं। इसके श्रीसमयसारजी में निम्न प्रकरण हैं–(१) गाथा ८४ में शंकाकार ने दो द्रव्यों को व्यवहार नय की स्थापना की है। उसको गाथा ८५-८६ में खण्डन किया है। (२) गाथा ९८ में शंकाकार ने दो द्रव्यों को व्यवहार नय की स्थापना की है। उसका ९९ से १०८ तक खण्डन किया है। उपर्युक्त गाथा के आधार पर ही श्री पञ्चाध्यायीकार ने आगे श्लोक ५५२ से ५८७ तक की रचना की है जिसमें दो द्रव्यों का कोई भी संबन्ध मानने वालों का या उन्हें नय कहने वालों का डट कर खण्डन किया है और उन्हें अनन्तसंसारी मिथ्यादृष्टि कहा है। पञ्चाध्यायीकार ने श्रीसमयसारजी में से किस प्रकार ये चार व्यवहार नय निकाले हैं इसके लिए विशेष जानने की इच्छा तो पूर्वप्रकाशित मासिक पत्र आत्मधर्म पढ़िये। सद्गुरुदेव श्री कानजी महाराज ने अपने प्रवचनों में विशद रूप से स्पष्ट किया है। अन्य ग्रन्थों में जो एक द्रव्य के राग परिणमन को निश्चय कहा है वह केवल कथन शैली का अन्तर है, भाव का नहीं, वास्तव में वह व्यवहार नय ही है। निश्चय नय तो सामान्य द्रव्य को दिखाता है। वह एक ही प्रकार का होता है उसमें भेद नहीं है।

अन्य ग्रन्थों में जो दो द्रव्यों के सम्बन्ध में व्यवहार नय का कथन है वह उपचार मात्र है। सिद्धान्त ग्रन्थों की ऐसी ही विवेचन की पद्धति है। इसका कारण यह है कि सिद्धान्त छः द्रव्यों का और उनके परस्पर निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध का कथन करता है। उस निमित्त-नैमित्तक सम्बन्धका पर्यायवाची नाम ही सिद्धान्त में व्यवहारनय है। पर उनका यह कदापि आशय नहीं कि एक द्रव्य का कर्तृत्व कुछ दूसरे द्रव्य में चला जाता है। ग्रन्थकार ने आगे ऐसे नयों के नाम-हेतु-दृष्टान्त कहने की स्वयं श्लोक ५६३ में प्रतिज्ञा करके-उनका निरूपण करके सयुक्तिक नयाभास सिद्ध किया है। आगे यह विषय आपको स्पष्ट हो जायेगा। बड़े ध्यान से पढ़ने का है अन्यथा दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि रूप मिथ्यात्व बना ही रहेगा।

व्यवहार नय का कथन समाप्त हुआ।

तीसरा अवान्तर अधिकार

सम्यक् नय और मिथ्या नय के परखने की कसौटी अथवा नयाभासों की भूमिका ५५२ से ५६५ तक

शंका

ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः ।
दृष्टांतादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत् ॥ ५५२ ॥

शंका–असद्भूत व्यवहार नय वहाँ पर प्रवृत्त होता है जहाँ एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित किये जाते हैं। जैसे जीव को वर्णादिवाला कहना । क्या ऐसा मानें तो ठीक है ?

समाधान ५५३ से ५५५ तक

तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाःसन्ति ।
स्वयमप्यतद्गुणत्वादव्यवहाराविशेषतो न्यायात् ॥ ५५३ ॥

अर्थ–किसी एक वस्तु के गुणों को (अर्थात् भावों को) उसी के कहना तत्गुण है। तत्गुण वाले ही नय होते हैं। उन्हें ही सम्यक् (सच्चे) नय कहते हैं। एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु के कहना यह अतद्गुण है। अतद्गुण वाले सच्चे नय नहीं होते किन्तु नयाभास होते हैं। वे व्यवहार नय जैसे मालूम पड़ते हैं। लोक और आगम में व्यवहार नय के रूप में प्रयोग भी किये जाते हैं पर कसौटी पर कसने से वे नय नहीं किन्तु नयाभास ही सिद्ध होंगे। प्रमाण पूरी वस्तु को ग्रहण करता है। नय वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करता है। यह लक्षण ही स्वयं बताता है कि एक वस्तु के धर्म को दूसरी के कहना नयाभास है (प्रमाण के लिये आगे देखिये ५६१) । तुमने जो जीव को वर्णादिमान् कहा है वह तो अतद्गुण है क्योंकि वर्णादिमान् तो पुद्गल का (शरीर का) धर्म है। आत्मा का भाव नहीं है। अतत्गुण होने से वह व्यवहार नय के योग्य नहीं है। इसलिये वह नय नहीं किन्तु नयाभास है।

भावार्थ–ग्रन्थकार ने पूर्व ५२९ में असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण यह किया है कि "बलपूर्वक एक द्रव्य के गुण जहाँ दूसरे द्रव्य में संयोजित किये जाते हैं" उसको असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं जैसे पुद्गल के क्रोध को जीव का कहना। शिष्य ने उन्हीं शब्दों का आश्रय लेकर पुद्गल के वर्णादिक को जीव के कह दिया। शिष्य ने किया तो सब ठीक है, एक वस्तु के गुण ही दूसरी वस्तु में संयोजित किये हैं पर 'बलात्' शब्द को वह नहीं समझ पाया है। बलात् का अर्थ है–बलपूर्वक-कारणवश-जीव में विभाव परिणमन रूप कारण की सामर्थ्य से। क्रोधादिक वर्णवत् पुद्गल के हैं यह तो ठीक है और वे जीव के आरोपित किये गये हैं यह भी ठीक है पर वे कारणवश अर्थात् जीव में क्रोधादिक का विभाव परिणमन होने के कारण से – इस बल के आधार पर कहे हैं। जिस प्रकार क्रोधादिक जीव के चतुष्टय में होते हैं उस प्रकार वर्णादिक नहीं होते। वे तो प्रकट दूसरे धर्मी के धर्म हैं। एक धर्मी का दूसरे धर्मी से सब सम्बन्ध निषेध किया गया है। अतः एक धर्मी के धर्म को दूसरे धर्मी के कहना व्यवहार नहीं, व्यवहाराभास है। नय नहीं नयाभास है। सम्यक् नय नहीं, मिथ्या नय है। क्रोधादिक जीव के तद्गुण (भाव) हैं। वर्णादिक जीव के अतद्गुण हैं। तद्गुण नय होते हैं। अतद्गुण नयाभास होते हैं यह 'करणसूत्र' नहीं भूलना चाहिये।

व्यवहार नय का यह न्याय–कानून–कायदा है कि वह तदगुण को (उस द्रव्य के गुणों को) ही उसके कहता है। इतना उसमें सच्चापन होना ही चाहिये। फिर भी व्यवहार होने का कारण यह है कि वे हैं अभेद रूप व्यवहार कहता है भेदरूप । जो 'अतद्गुण' हैं वे व्यवहार कोटि में नहीं आते ऐसा "अव्यवहारा विशेषतः न्यायात्" पद का अर्थ है। तद्गुण ही नय होता है इस कसौटी से सोनेवत् आप सब झूठे सच्चे नयों को परख सकते हैं जैसे ग्रंथकार आगे श्लोक ५६६ से ५८७ तक स्वयं कुछ नयों की परीक्षा में इसी करण सूत्र के आधार पर करेंगे।

जैनधर्म और अन्य मतों में यही अन्तर है कि सब मत एक धर्मी का दूसरे धर्मी में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, असर, प्रभाव इत्यादि मानते हैं किन्तु जैनधर्म प्रत्येक द्रव्य को अनादि अनन्त स्वतन्त्र अनुभव कराता है। इस भूल से तो जैनधर्म का सारा सिद्धांत ही गलत हो जाता है। यदि आप कहें कि जैनधर्म में भी निमित्त तो माना है। ठीक है निमित्त मात्र है। उपस्थिति मात्र है। धर्म द्रव्यवत् सब निमित्त उदासीन कारण मात्र हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे बलात् उपादान में कुछ विलक्षणता करते हैं। जैसे सूर्य के उदय पर सब लोग अपने-अपने कार्य में स्वतः लग जाते हैं उस प्रकार है। जैनधर्म में असर, प्रभाव, कर्ता प्रेरक इत्यादि सब शब्दों का अर्थ निमित्त मात्र ही है। पर्यायवाची शब्द हैं। इसी सिद्धांत के आधार पर नयाभासों का प्रकरण ग्रंथकार ने बड़ा सुन्दर लिखा है। उसकी यह भूमिका चल रही है।

तदभिज्ञानं चैतद्येऽतद्गुणलक्षणा नयाः प्रोक्ताः ।
तन्मिथ्यावादत्वाद् ध्वस्तास्तद्वादिनोऽपि मिथ्याख्याः ॥ ५५४ ॥

अर्थ–उसका स्पष्टीकरण यह है कि जो 'अतद्गुण लक्षण' नय कहे गये हैं वे मिथ्या कथन करने वाले होने से खण्डित हो जाते हैं और उनको सम्यक् नय कहने वाले (मानने वाले) भी मिथ्यावक्ता (मिथ्याकथन करने वाले) हैं।

तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति ।
इत्युक्ते न गुणः स्यात् प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ॥ ५५५ ॥

अर्थ—उस नयाभास का कथन इस प्रकार होता है जैसे ''जीव वर्णवाला है'' अर्थात् गोरा है, काला है ऐसा कहने पर कोई लाभ नहीं है उलटा दोष है क्योंकि उससे जीव और पुद्‌गल में एकत्वबुद्धि होने लगती है (और ऐसी बुद्धि का होना ही मिथ्यात्व है)।

शंका

ननु किल वस्तुविचारे भवतु गुणो वाथ दोष एव यतः ।
न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च ॥ ५५६ ॥

शंका—वस्तु के विचार (समय) में लाभ हो या दोष हो (अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में है वह सिद्ध हो चाहे उसकी यथार्थ सिद्धि में दोष आवे या गुण)! नयों का प्रवाह न्याय बल से प्राप्त हुआ है इसलिये वह दूर नहीं किया जा सकता ?

भावार्थ—जीव को वर्णादिमान् कहना भी एक नय है। इस नय की सिद्धि में जीव और वर्णादि में एकता भले ही प्रतीत हो, परन्तु उसकी सिद्धि आवश्यक है? ऐसा शंकाकार कहता है।

समाधान ५५७ से ५६३ तक

सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथाप्रमाणाद्वा ।
दुर्वारश्च तथा स्यात् सम्यङ् मिथ्येति नयविशेषोऽपि ॥ ५५७ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि नय प्रवाह अनिवार्य है परन्तु साथ ही यह भी अनिवार्य है कि वह प्रमाणाधीन हो तथा कोई नय समीचीन (यथार्थ) होता है कोई मिथ्या होता है यह नयों की विशेषता भी अनिवार्य है । जैसे—

अर्थविकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात् ।
अस्ति च सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं विशेषविषयत्वात् ॥ ५५८ ॥

अर्थ—ज्ञान अर्थविकल्पात्मक होता है इसलिये ज्ञान सामान्य की अपेक्षा से ज्ञान एक ही है। यद्यपि अर्थविकल्पता सभी ज्ञानों में है परन्तु विशेष २ विषयों की अपेक्षा से उसी ज्ञान के दो भेद हो जाते हैं (१) सम्यग्ज्ञान (२) मिथ्याज्ञान।

तत्रापि यथावस्तु ज्ञानं सम्यग्विशेषहेतुः स्यात् ।
अथ चेदयथावस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यातु ॥ ५५९ ॥

अर्थ—उन दोनों ज्ञानों में सम्यग्ज्ञान का कारण वस्तु का यथार्थ ज्ञान है तथा मिथ्याज्ञान का कारण वस्तु का अयथार्थ ज्ञान है।

भावार्थ—जो वस्तु ज्ञान में विषय पड़ी है उस वस्तु का वैसा ही ज्ञान होना जैसी कि वह है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं जैसे किसी के ज्ञान में चांदी विषय पड़ी हो तो चांदी को चांदी ही वह समझे तब तो उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और यदि चांदी को वह ज्ञान सीप समझे तो वह मिथ्याज्ञान है। जिस ज्ञान में वस्तु तो कुछ और ही पड़ी हो और ज्ञान दूसरी ही वस्तु का हो उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। इस प्रकार विषय के भेद से ज्ञान के भी सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद हो जाते हैं उसी प्रकार—

ज्ञानं यथा तथासौ नयोऽस्ति सर्वो विकल्पमात्रत्वात् ।
तत्रापि नयः सम्यक् तदितरथा स्यान्नयाभासः ॥ ५६० ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञान है उसी प्रकार नय भी है अर्थात् जैसे सामान्य ज्ञान एक हैं वैसे सम्पूर्ण नय भी विकल्पमात्र होने से सामान्य रूप से एक है और विशेष की अपेक्षा से ज्ञान के समान नय भी सम्यक्-नय और मिथ्यानय ऐसे दो भेद वाले हैं। जो सम्यक्नय हैं उन्हें नय कहते हैं। जो मिथ्यानय हैं उन्हें नयाभास कहते हैं।

नयों की कसौटी (करणसूत्र)

तद्‌गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान् ।
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥ ५६१ ॥

अर्थ— (१) निश्चय से जो नय तद्‌गुणसंविज्ञान है अर्थात् विवक्षित वस्तु के गुणों को उसी का ज्ञान कराने वाला जीव के भाव वह जीव के तद्‌गुण हैं और पुद्‌गल के भाव वे पुद्‌गल के तद्‌गुण हैं ऐसा ठीक-ठीक ज्ञान कराता

है (२) उदाहरण सहित है। (३) हेतुपूर्वक है। (४) और फल सहित है, वह नय-नय कहलाता है। उपर्युक्त बातों से जो विपरीत हो वह नय नयाभास है।

भावार्थ–जो नय तद्गुणसंविज्ञान अर्थात् तद्गुण का बोधक (वस्तु के अपने भाव का बताने वाला) होता है तथा उदाहरण हेतु और प्रयोजन सहित होता है वह विकलादेशात्मक (वस्तु के एक अंश को बताने वाला) वास्तविक नय कहलाता है तथा उससे विपरीत अर्थात् तद्गुणपणा उदाहरण हेतु और फल का जिसमें अभाव होता है वह नयाभास कहलाता है। ग्रन्थकार ने सम्यक् नयों के उदाहरण, उनकी प्रवृत्ति के कारण और फल इत्यादिक सम्यक् नयों के प्रकरण में पीछे भी लिखे हैं और आगे भी लिखे हैं और मिथ्या नयों के उदाहरण हेतु फलादि मिथ्या नयों के प्रकरण में लिखे हैं। उन्हें बराबर बांच कर परस्पर मैलान करके देखना चाहिए। यह सूत्र सच्चे और मिथ्या नयों को परखने का खास काम देता है। कण्ठस्थ करने योग्य है। पुनः-पुनः विचारने योग्य है। इसी सूत्र के बल पर ग्रन्थकार ने सम्यक्नयों का सम्यक्पना और मिथ्यानयों का मिथ्यापना स्पष्ट दर्पणवत् दिखलाया है। तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान खास समझने की वस्तु है। यह शब्द मूल कसौटी है। गुरुवों ने कमाल किया है। कोई-कोई बात *तो ऐसी कही है कि वाह वाह (२) राग को जीव का कहना यह सम्यक्नय का उदाहरण है।* वर्ण को जीव का कहना यह मिथ्यानय का उदाहरण है। (३) राग जीव का भाव है। उसके वैभाविक गुण के कारण उसी का परिणमन है यह राग को जीव का कहने का हेतु (कारण) है और वर्ण पुद्गल का धर्म है यह इसको नयाभास कहने में हेतु है (४) राग को जीव का असद्भूतव्यवहार नय से जान कर, उसे क्षणिक समझ कर, हेय जानकर स्व सन्मुखता द्वारा नाश करके जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है यह इस नय की प्रवृत्ति का फल है। वर्ण को जीव का मानकर जीव एकत्वबुद्धि का पोषक मिथ्यादृष्टि बन जाता है यह नयाभास की प्रवृत्ति का फल है (५) राग जीव का गुण अर्थात् भाव होने से जीव का तद्गुण है और असद्भूतव्यवहारनय उसे जीव का ही ज्ञान कराती है यह तद्गुणसंविज्ञान है और जो तद्गुणसंविज्ञान है वह सम्यक्नय है। तथा वर्ण जीव का गुण अर्थात् भाव न होने से अतद्गुण है और उसे जीव का गुण रूप ज्ञान कराने वाला अतद्गुणलक्षण नयाभास है। इस प्रकार सम्पूर्ण सम्यक् और मिथ्यानयों पर यह श्लोक आपको लगाना आना चाहिये तथा इसके द्वारा आप सम्यक् और मिथ्या सब नयों की परीक्षा कर सकते हैं। बड़ी होशयारी की जरूरत है *अन्यथा अनादिकालीन मिथ्यात्व का भूत दूर न होगा और वह जीव की गर्दन पकड़ ही रक्खेगा।* इस पापी से बचने के लिए सावधान रहिए। इसमें गुण शब्द गुण, पर्याय, स्वभाव, विभाव अर्थात् जो कुछ एक द्रव्य के चतुष्टय में है उस सब का द्योतक है। यहाँ गुण शब्द प्रसिद्ध गुण शब्द के अर्थ में नहीं है। यहाँ राग जीव का गुण है।

पञ्चाध्यायी के यह ५६१ से ५८७ तक के श्लोक बहुत उपयोगी हैं। मुमुक्ष को उनको बराबर बांचकर उनका भाव यथार्थ समझने की जरूरत है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को यथार्थपने समझे बिना उन सम्बन्धी जो झूठी मान्यतायें चल रही हैं वे इनको समझने से दूर हो जायेंगी। "एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की व्याप्यव्यापक भाव से कर्ता नहीं है यह तो ठीक परन्तु निमित्त-नैमित्तिक भाव से तो कर्ता है? अथवा किसी समय उपादान कारण की मुख्यता से कार्य होता है और किसी समय निमित्त कारण की मुख्यता से कार्य होता है" ऐसा जो मिथ्या अध्यवसाय (एकत्वबुद्धि) जीवों को रहा करता है वह इन श्लोकों को यथार्थपने समझने से दूर हो जायगा। इसलिये इन श्लोकों को सावधानतापूर्वक बांचकर उनका भाव यथार्थपने समझने की प्रार्थना है।

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धि यतः।
स्यादवयवि प्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥ ५६२ ॥

अर्थ–जिस प्रकार प्रमाण फल सहित होता है उस प्रकार नयों का भी फल सहित होना परम आवश्यक है कारण अवयवी प्रमाण कहलाता है। उसी के अवयव नय कहलाते हैं। नय प्रमाण के ही अंश रूप हैं।

भावार्थ–नयों की उत्पत्ति में प्रमाण योनिभूत (मूल कारण) है। प्रमाण से जो पदार्थ कहा जाता है उसके एक अंश को लेकर जो पदार्थ का विवेचन किया जाता है उसे ही नय कहते हैं अथवा सम्पूर्ण पदार्थ को प्रमाण विषय करता है और उसके एक देश को नय विषय करता है। इस प्रकार अंश अंशीरूप होने से प्रमाण के समान नय भी फलविशिष्ट ही होता है।

तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः ।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥ ५६३ ॥

अर्थ–इसलिये जिस वस्तु में जो गुण (भाव) नहीं हैं उस वस्तु में उन गुणों का आरोप करने रूप व्यवहार उपादेय नहीं है क्योंकि ऐसे व्यवहार से इष्ट फल (सम्यग्ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये जीव को वर्णादिवाला कहना नय नहीं है किन्तु नयाभास है क्योंकि इससे उल्टी मिथ्यात्व की पुष्टि होती है।

भावार्थ–शंकाकार ने ऊपर कहा था कि जीव को वर्णादिमान् कहना इसको असद्भूत व्यवहार नय कहना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नय नहीं किन्तु नयाभास है। क्योंकि जीव के वर्णादि गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीव के कहने से जीव और पुद्गल में एकत्व बुद्धि होने लगेगी। यह इष्ट फल की हानि है।

शंका

ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः ।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥ ५६४ ॥

शंका–ऐसा होने पर तो (अर्थात् यदि एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित करने का नाम नयाभास है तो ऐसा मानने से जो ऊपर (५२९ में) असद्भूत व्यवहार नय कहा गया है उसे भी नय नहीं कहना चाहिये किन्तु नयाभास कहना चाहिये। कारण क्रोधादिक जीव के गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीव के कहा गया है। यह भी तो अतद्गुणारोप ही है। इसलिये आप (ग्रंथकार) का कहा हुआ भी असद्भूत व्यवहार नय नयाभास ही है ?

भावार्थ–शंकाकार का कहना है कि जिस प्रकार अतद्गुणारोप से आप क्रोधादि को जीव का कहकर नय कहते हैं उसी प्रकार मैं वर्णादि को जीव का कहकर नय कहता हूँ। यदि आपका सम्यक् नय है तो मेरा भी सम्यक् नय है। यदि मेरा नयाभास हैं तो आपका भी नयाभास होना चाहिये ?

समाधान

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसंभवा भावाः ।
न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥ ५६५ ॥

अर्थ–शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार क्रोधादिक भाव जीव में उत्पन्न होते हैं अथवा जीव के हैं। उस प्रकार पुद्गलमय वर्णादिक जीव के भाव नहीं हैं।

भावार्थ–पुद्गल कर्म के निमित्त से आत्मा के चारित्र गुण का जो विकार है उसे ही क्रोध, मान, माया लोभादिक के नाम से कहा जाता है। इसलिये क्रोधादिक आत्मा के ही वैभाविक भाव हैं। अतः जीव में उनको आरोप करना अतद्गुणारोप नहीं कहा जा सकता किन्तु तद्गुणारोप ही है। वे भाव शुद्धात्मा के नहीं है किन्तु पर के निमित्त मात्र से होते हैं इसलिये उन्हें असद्भूत नय का विषय कहा जाता है। चाहे सद्भूत हो अथवा असद्भूत हो तद्गुणारोपी ही नय है अन्यथा वह नयाभास है। रूप रस गन्धादिक पुद्गल के ही गुण हैं, वे जीव के किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते हैं। रूप रसादि को जीव के भाव कहना, यह अतद्गुणारोप है इसलिये यह नयाभास है।

पुनःभावार्थ–ऊपर कही हुई शंका ठीक नहीं है कारण कि वे क्रोधादिक भाव तो जीव में होने वाले औदयिक भाव रूप हैं इसलिये वे जीव के तद्गुण हैं और वे जीव के नैमित्तिक भाव होने से उनको सर्वथा पुद्गल के नहीं कह सकते पर जो जीव को वर्णादि वाला कहने में आवे वहाँ तो वर्णादिक सर्वथा पुद्गल के ही होने से वे जीव के किस प्रकार हो सके ? तथा क्रोधादिकभाव को जीव का कहने में तो यह प्रयोजन है कि परलक्ष से होने वाले क्रोधादिभाव क्षणिक होने से और आत्मा का स्वभाव नहीं होने से वे उपादेय नहीं हैं इसलिये उनको टालना चाहिये, ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है इसलिये क्रोध को जीव का कहना-इसमें तो उपर्युक्त सम्यक् नय लागु पड़ सकता है परन्तु जीव को वर्णादि वाला कहने में तो कुछ भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिये जीव को क्रोधादिवाला कहने वाले असद्भूत व्यवहार नय में तो नयाभासपने का दोष नहीं आता है पर जीव को वर्णादिवाला कहने में तो एकत्वबुद्धि का दोष आता अतः वह नयाभास है।

५५२ से ५६५ तक का सार

यहाँ समीचीन नय और मिथ्या नय में क्या अन्तर है यह स्पष्ट करके बतलाया गया है। सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान में यह भेद माना गया है कि सम्यग्ज्ञान से स्व और पर का भेद प्राप्त होता है किन्तु यह भेद मिथ्याज्ञान से नहीं प्राप्त होता। नय सम्यग्ज्ञान का एक भेद है। अतः समीचीन नय वही कहला सकता है जिसके द्वारा विवक्षित वस्तु के गुण धर्म उसी के कहे जावें। इस नियमानुसार विचार करने पर जो नय जीव को वर्णादिवाला बतलाता है अथवा जिस नय की दृष्टि से यह सिद्ध किया जाता है कि "शरीर मेरा है या घर, स्त्री और पुत्रादिक मेरे हैं" वह नय मिथ्या ठहरता है। क्योंकि जबकि उक्त प्रकार का ज्ञान मिथ्या माना गया है तब ऐसे नय का मिथ्या रूप सुतरां सिद्ध है।

यद्यपि क्रोधादिक औपाधिक भाव आत्मा के नहीं कहे जा सकते, क्योंकि शुद्ध आत्मा में इनकी उपलब्धि नहीं होती। तथापि इनका उपादान कारण जीव ही है। अतः ये असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा जीव के कहे गये हैं। पर वर्णादिक (शरीरादिक) के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती, अतः उन्हें जीव का कहना समीचीन नय का विषय नहीं माना जा सकता ।

चौथा अवान्तर अधिकार

नयाभासों का निरूपण ५६६ से ५८७ तक

प्रतिज्ञा

अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः ।
अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्ध्यर्थम् ॥ ५६६ ॥

अर्थ–उपचार के अनुकूल है संज्ञा हेतु और दृष्टांत जिन्हों के ऐसे जो नयाभास हैं। अर्थात् जो आगम तथा लोक व्यवहार में रूढ़िवश नय रूप से प्रचलित हैं किन्तु है नयाभास, जिनमें नयों का वस्तविक लक्षण तो घटता नहीं परन्तु संज्ञा हेतु दृष्टांत द्वारा वे नयों जैसे प्रतिभासित होते हैं। उनमें से यहाँ पर कुछ नयाभासों का उल्लेख किया जाता है। वह इसलिये कि उन नयाभासों को समझकर उन्हें छोड़ दिया जाये अथवा उन नयाभासों के जानने से शुद्ध नयों का परिज्ञान हो जाय। जो नय के समान तो मालूम पड़ते हों परन्तु जिनमें ५६१ के अनुसार 'तद्गुणसंविज्ञान' इत्यादि नय का लक्षण नहीं घटता हो उन्हें नयाभास कहते हैं।

पहला नयाभास ५६७ से ५७१ तक

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति स जीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात् ॥ ५६७ ॥

अर्थ–भेदविज्ञान की प्राप्ति न होने से लोकों का यह व्यवहार होता है कि जो यह मनुष्यादि का शरीर है वह जीव है क्योंकि वह जीव से अभिन्न है।

सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥ ५६८ ॥

अर्थ–शरीर में जीव का व्यवहार जो लोक में तथा आगम में होता है वह व्यवहार अयोग्य व्यवहार है कारण कि वह सिद्धान्त विरुद्ध है। सिद्धान्त विरुद्धता इस व्यवहार में असिद्ध नहीं है किन्तु शरीर और जीव भिन्न-भिन्न धर्मी होने से प्रसिद्ध ही है।

भावार्थ–शरीर पुद्गल द्रव्य भिन्न पदार्थ है और जीव चैतन्य द्रव्य भिन्न पदार्थ है फिर भी जो लोग शरीर में जीव व्यवहार करते हैं वे अवश्य सिद्धान्त विरुद्ध कहते हैं।

नाशंक्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥ ५६९ ॥

अर्थ–शरीर और जीव दोनों का एकक्षेत्र में अवगाहन (स्थिति) है, इसलिये जो यह एकक्षेत्रावगाहित्व है वह मनुष्यादि शरीर को जीव कहने रूप व्यवहार में कारण हो जायगा ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि एकक्षेत्र

में तो सम्पूर्ण द्रव्यों का अवगाहन हो रहा है। यदि एकक्षेत्र में अवगाहन होना ही एकता का कारण हो तो सभी पदार्थों में अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा।

अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदिवानयोर्न शंक्यमिति ।
तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् ॥ ५७० ॥

अर्थ–कदाचित् मनुष्यादि शरीर में जीवत्वबुद्धि का कारण यह कहा जाये कि जीव और शरीर में परस्पर वन्ध्य बन्धक भाव है इसलिए ऐसा व्यवहार होता है ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि नियम से उन दोनों में अनेकपना होने से अर्थात् शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न धर्मी होने से उन दोनों का बंध भी स्वयं असिद्ध है अर्थात् बंध ही नहीं है।

अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः ।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥ ५७१ ॥

अर्थ–कदाचित् मनुष्यादि शरीर में जीवत्व बुद्धि का कारण शरीर और जीव का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कारण कि जो अपने आप परिणमनशील है उसके लिये निमित्तपने से क्या प्रयोजन ? (इसमें ठीक वही भाव है जो श्रीसमयसारजी में गाथा ११६ से १२५ तथा कलश नं. ६४, ६५ में है)।

दूसरा नयाभास ५७२ से ५७९ तक

अपरोऽपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः ।
कर्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः ॥ ५७२ ॥

अर्थ– (आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा - ये चार वर्गणायें जब आत्मा से सम्बन्धित होती हैं तब वे नोकर्म के नाम से कही जाती हैं और कार्मण वर्गणायें जब आत्मा से सम्बन्धित होकर कर्मरूप-ज्ञानावरणादिरूप परिणत होती हैं तब वे कर्म के नाम से कही जाती हैं। ये कर्म और नोकर्म पुद्गल की पर्यायें हैं। अतएव वे मूर्त हैं) उस मूर्त कर्म नोकर्म का जीव कर्त्ता तथा भोक्ता है ऐसा कहना दूसरा नयाभास है।

भावार्थ–जीव अमूर्तस्वरूप वाला है। वह अपने रागादिभावों का कर्ता तथा वैषयिक सुख-दुःख का भोक्ता भी व्यवहार से है परन्तु जो उसे मूर्त कर्म नोकर्म का कर्त्ता-भोक्ता बतलाते हैं उस विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि वह नय नहीं किन्तु नयाभास है। श्री द्रव्यसंग्रह में जो व्यवहार से कर्त्ता कहा है वह केवल निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने के लिए लिखा है। उसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि जीव कर्म्र नोकर्म का कर्त्ता है। ऐसा अर्थ समझना अपनी बुद्धि का अपराध है या गुरुगम से तत्त्व का अभ्यास न होने के कारण विपरीत धारणा है। आचार्य देव की इसमें कोई खता नहीं है।

नाभासत्त्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्ततो नयस्यास्य ।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रान्तिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥ ५७३ ॥

अर्थ–मूर्त कर्मों का जीव को कर्त्ता-भोक्ता बतलाने वाला व्यवहार नय नयाभास है यह बात असिद्ध नहीं है कारण ऐसा व्यवहार नय सिद्धान्त विरुद्ध है। सिद्धान्त विरुद्धता का भी कारण यह है कि जब कर्म और जीव दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं तब उनमें गुणसंक्रमण किस प्रमाण से होगा ? अर्थात् नहीं होगा।

गुणसंक्रान्तिमृते यदि कर्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा ।
सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥ ५७४ ॥

अर्थ–तथा बिना गुणों के परिवर्तन हुये जीव, कर्म का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो सकता। यदि बिना गुणों की संक्रान्ति के ही जीव कर्म का कर्त्ता-भोक्ता हो जाय तो सब पदार्थों में सर्वसंकरदोष उत्पन्न होगा तथा सर्वशून्य दोष भी उत्पन्न होगा।

भावार्थ ५७३-५७४–यदि जीव के गुण पुद्गल में चले जायें तभी जीव पुद्गल का कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। कपड़ा बुनने वाले के कुछ गुण या सब गुण उस कपड़े में आयें तभी वह बुनने वाला उस कपड़े का कर्त्ता कहा जा सकता है अन्यथा कपड़े में उसकी कर्तृता क्या आई ? कुछ भी नहीं। यदि बिना गुणों का संक्रमण होवे ही जीव में

पुद्गल का कर्तृत्व माना जाय तो सभी एक-दूसरे के कर्त्ता हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में धर्मादि द्रव्यों का भी जीव में कर्तृत्व सिद्ध होगा।

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरिणतिं प्राप्य ।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ–जीव कर्मों का कर्त्ता है इस भ्रम का कारण भी यह है कि जीव की अशुद्ध परिणति के निमित्त से पुद्गलद्रव्य-कार्मण वर्गणा स्वयं (उपादान) कर्मरूप परिणत हो जाती हैं।

भावार्थ–जीव के राग-द्वेष-मोह भावों के निमित्त से कार्मण वर्गणा स्वयं कर्मपर्याय को धारण करती हैं इसलिये उनमें जीवकर्तृता का भ्रम होता है। भाव यह है कि कार्मण वर्गणायें कर्मरूप परिणमन तो अपनी परिणमन शक्ति के कारण स्वकाल की योग्यता से करती हैं। इसलिये जीव उनका रंचमात्र कर्त्ता नहीं है पर क्योंकि जीव का राग उनको निमित्त रूप से उपस्थित है इसलिये अज्ञानी जीवों को ऐसा भ्रम होने लगता है कि यह जीव के राग ने बनाई या स्वयं जीव ने बनाई।

इदमत्र समाधानं कर्ता यः कोपि सः स्वभावस्य ।
परभावस्य न कर्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेऽपि ॥ ५७६ ॥

अर्थ–उस भ्रम का समाधान यह है कि जो कोई भी कर्त्ता होगा वह अपने भाव का ही कर्त्ता होगा। परभाव का निमित्तमात्र होने पर भी कोई परभाव का कर्त्ता अथवा भोक्ता नहीं हो सकता है।

भावार्थ–भाव यह है कि जीव को उसे अपने राग भाव का कर्त्ता कह भी सकते हैं पर कर्मों का कर्त्ता तो उसे भी नहीं कह सकते हैं। उस प्रकार दुःख-सुख भावों का भोगता तो कह सकते हैं पर कर्म का या परवस्तु का भोगता तो नहीं कह सकते ।

दृष्टान्त

भवति स यथा कुलालः कर्ता भोक्ता यथात्मभावस्य ।
न तथा परभावस्य च कर्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥ ५७७ ॥

अर्थ–कुम्हार सदा अपने भाव का ही कर्त्ता-भोक्ता होता है वह पर भाव रूप कलश का कर्त्ता-भोक्ता कभी नहीं होता।

तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन ।
अति मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः ॥ ५७८ ॥

अर्थ–कुम्हार कलश का कर्त्ता क्यों नहीं है इस विषय में यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष है कि घट मिट्टी के स्वभाव वाला होता है अथवा मिट्टी स्वरूप ही वह होता है परन्तु घट कभी कुम्हार के स्वभाव वाला अथवा कुम्हार स्वरूप नहीं होता।

भावार्थ–जब घट के भीतर कुम्हार का एक भी गुण नहीं पाया जाता तब कुम्हार ने घट का क्या किया ? कुछ नहीं।

अथ चेद्घटकर्त्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोऽयम् ।
दुर्वारो भवतु तदा का नो हानिर्यदा नयाभासः ॥ ५७९ ॥

अर्थ–यदि यह कहा जाय कि लोक में यह व्यवहार होता है कि घटकार (कुम्हार) घट का बनाने वाला है; सो क्यों ? ग्रन्थकार कहते हैं कि उस व्यवहार को होने दो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है परन्तु उसे नयाभास समझो।

तीसरा नयाभास ५८० से ५८४ तक

अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः ।
यदबद्धेऽपि परस्मिन् कर्ता भोक्त परोऽपि भवति यथा ॥ ५८० ॥

अर्थ–और भी खोटी बुद्धि के धारण करने वाले मिथ्यादृष्टि पुरुष मिथ्या बातें कहते हैं जैसे–जो पर पदार्थ सर्वथा दूर है। जीव के साथ जो बंधा हुआ भी नहीं है उसका भी जीव कर्त्ता-भोक्ता होता है, ऐसा वे कहते हैं।

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ॥ ५८१ ॥

अर्थ–जैसे सातावेदनीय कर्म के उदय से होने वाले जो घर, धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि सजीव-निर्जीव पदार्थ हैं उनको जीव ही स्वयं कर्त्ता है और वही जीव उनको भोक्ता है।

शंका

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्त्ता स एव तद्भोक्ता ॥ ५८२ ॥

शंका–यह बात प्रत्यक्ष देखते हैं कि घर स्त्री आदि के होने पर ही जीवों को सुख होता है। उनके अभाव में उन्हें सुख भी नहीं होता । इसलिये जीव ही उनका कर्त्ता है और वही उनका भोक्ता है ?

भावार्थ–अपनी सुख सामग्री को यह जीव स्वयं करता है और स्वयं उसको भोगता है। ऐसा शंकाकार कहता है।

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम् ।
सति बहिरर्थेऽपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात् ॥ ५८३ ॥

अर्थ–ठीक है इस जगत में यह संसारिक सुख केवल वैषयिक है अर्थात् विषयों में सुख की मात्र कल्पना अज्ञानियों ने करी है तो भी वह कल्पित सुख परविषयों की अपेक्षा से नहीं उत्पन्न होता है कारण कि निश्चय से वे बाह्य पदार्थ उपस्थित होने पर भी किसी के घर स्त्री वगैरह में दुःखादिक के कारण की कल्पना होती है। अतः व्यभिचार दोष है।

भावार्थ–क्योंकि धन, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों के रहने पर भी वे किन्हीं के लिये दुःख के कारण भी देखे जाते हैं। वह व्यभिचारी दोष आने से तुम्हारी बात ठीक नहीं है।

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्ताथ वा च मा भवतु ।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चिच्चिदात्मको जीवः ॥ ५८४ ॥

अर्थ–वह जीव स्व का कि पर का कर्त्ता तथा भोक्ता हो कि न हो, परन्तु यहाँ तात्पर्य यह है कि जीव कोई भी प्रकार से ज्ञान स्वरूप ही है इसलिये ज्ञान सिवाय दूसरा कोई उसका कर्तव्य नहीं है।

भावार्थ–सारांश यह है कि अज्ञानियों की व्यवहार में जीव पर पदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता कहलाय या न कहलाय, उससे हमको कुछ प्रयोजन नहीं है, परन्तु यहाँ भेदविज्ञान कराने का प्रयोजन होने से हमको तो मात्र इतना ही कहना है कि जीव हर प्रकार से ज्ञान स्वरूप ही है। जीव की सब पर्यायें कभी अपने चैतन्यपने को छोड़ती नहीं है। इसलिये वास्तविकपने आत्मा के निज भावों का कर्त्ता आत्मा ही है और कर्त्ता की तरह निज भावों का भोक्ता भी आत्मा ही है। पर का न कर्त्ता है न भोगता है। जीव परपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता हो कि न हो ऐसा कहा है। इससे यह बात शंका में छोड़ी है यह न समझना। यहाँ तो जीव को ज्ञान स्वरूप कह कर स्व के व पर के कर्त्ता-भोक्तापने का विकल्प तक भी छुड़ाया है। ग्रन्थकार ने यह श्लोक श्री समयसारजी कलश नं. २०१ पर से लिया है ठीक ज्यों का त्यों वही भाव है। अधिक जानने की इच्छा हो तो उस कलश को देखिये। विशेषतया पं. राजमल कृत हिन्दी कलश टीका देखिये।

नोट–दूसरे-तीसरे नयाभास का उपादेय तत्त्व निम्नलिखित हरिगीत में पाठकों के विनोदार्थ लिखा गया है–

अज्ञान तक तो आत्मा अज्ञानमय भावो करे।
अरु उन हि निज अज्ञानकृत भावों को भोगा भी करे॥
ज्ञानी हुवा जब आत्मा तब ज्ञानमय भावो करे।
अरु उन हि निज के ज्ञानकृत भावों को भोगा भी करे॥
दोनों दशा में आत्मा निज को करे अरु भोगवे।
परद्रव्यकृत तो कोई भावों को करे ना भोगवे॥
वस्तु का ऐसा धर्म है इसको ही निश्चय जिन कहें।
है अटल वस्तु नियम ये, रे शिष्य यूं तू जान ले॥

चौथा नयाभास ५८५-५८६

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥ ५८५ ॥

अर्थ—यह भी नयाभास है कि ज्ञान और ज्ञेय का परस्पर बोध्य-बोधक सम्बन्ध है अर्थात् ज्ञान ज्ञेयगत है और यह ज्ञेय भी ज्ञानगत है (ज्ञान ज्ञेय में चला जाता है या ज्ञेय ज्ञान में आ आता है ऐसा मानना नयाभास है)।

भावार्थ—ज्ञान का स्वभाव है कि वह हरएक पदार्थ को जाने परन्तु किसी पदार्थ को जानता हुवा भी वह सदा अपने ही स्वरूप में स्थिर रहता है। वह पदार्थों में नहीं चला जाता है और न वह उनका धर्म ही हो जाता है। तथा न पदार्थ का कुछ अंश ही ज्ञान में आता है। जो कोई इसमें विरुद्ध मानते हैं वे नयाभास अर्थात् मिथ्याज्ञान से ग्रसित हैं।

चक्षु रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥ ५८६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चक्षु रूप को देखता है परन्तु वह रूप में चला नहीं जाता है अथवा रूप का वह धर्म नहीं हो जाता है किन्तु चक्षु चक्षु ही रहता है। उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयपदार्थ को जानता है परन्तु वह ज्ञान ज्ञेय में नहीं जाता है अथवा उसका धर्म नहीं हो जाता है किन्तु ज्ञान ज्ञान ही रहता है। उसी प्रकार ज्ञेय भी कहीं आँख में नहीं आ जाता है अथवा आँख का धर्म नहीं बन जाता है। ज्ञेय का फोटो भी नहीं आता है फिर ज्ञेय का आना तो कहाँ रहा। वह तो अपने स्वकाल की योग्यता से जानता है।

इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः ।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥ ५८७ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये चार नयाभास कहे। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से नयाभास हैं जोकि वैसे ही लक्षणों वाले हैं। उन सब नयाभासों का उद्देश्य (आशय) नय से विरुद्ध है। इसलिये वे नयाभास कहे जाते हैं। अर्थात् जीव का पर-द्रव्यों के साथ एक रूप सम्बन्ध बतलाने वाले सब कथन नयाभास हैं।

भावार्थ—नयों का जो स्वरूप कहा गया है उससे नयाभासों का स्वरूप विरुद्ध है। इसलिये जो समीचीन नय है उसे नय कहते हैं और मिथ्या नय को नयाभास कहते हैं।

नोट—५६५ से ५८७ तक नयाभासों का विषय ग्रन्थकार ने ज्यों का त्यों श्री समयसारजी गाथा ८४ से ८६ तक तथा गाथा ९८ से १०८ तथा उनके कलशों पर से लिया है।

५६६से ५८७ तक का सार

प्रथम नयाभास

(१) जीव को वर्णादियुक्त मानना (५६३) ।

(२) मनुष्यादि शरीर हैं—वह ही जीव हैं, ऐसा मानना (५६७-६८) ।

(३) मनुष्य शरीर जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप से है, इसलिये एक है—ऐसा मानना (५६९) ।

(४) शरीर और आत्मा को बंध्य-बंधक भाव मानना (५७०)

(५) शरीर और आत्मा को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध प्रयोजनवान् नहीं हैं क्योंकि स्वयं और स्वतः परिणमित होने वाली वस्तु को पर के निमित्त से क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं (५७१)।

दूसरा नयाभास

(१) जीव और जड़ कर्म भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से तथा उनके परस्पर गुणों का (पर्यायों का) संक्रमण न हो सकने से जीव कर्म नोकर्म (शारीरिक ज्ञानावरणादिक या किसी मूर्तिक वस्तु का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो सकता, तथापि उसमें नय लागू करना वह नयाभास है — मिथ्या नय है (५७२) ।

(२) गुण संक्रमण बिना ही यदि आत्मा कर्मादि का कर्त्ता-भोक्ता हो तो सर्व पदार्थों में सर्वसंकर दोष तथा सर्वशून्य दोष आवेगा। (५७३-५७४)

(३) मूर्तिमान ऐसा पुद्‌गल द्रव्य अपने आप ही जीव की अशुद्ध परिणति की उपस्थिति में कर्मरूप परिणमित हो जाता है, यही इस विषय में भ्रम का कारण है (५७५)

(४) जो कोई भी कर्त्ता-भोक्ता होता है वह अपने भाव का होता है। जिस प्रकार कुम्हार वास्तव में अपने भाव का कर्त्ता-भोक्ता है किन्तु परभाव रूप जो घड़ा-उसका कर्त्ता-भोक्ता वह कदापि नहीं हो सकता (५७७)।

(५) कुम्हार घड़े का कर्त्ता है-ऐसा लोक व्यवहार नयाभास है (५७९)।

तीसरे नयाभास का स्वरूप

(१) जो बंध को भी प्राप्त नहीं है ऐसे पर पदार्थों में भी अन्य पदार्थ को अन्य पदार्थ का कर्त्ता-भोक्ता मानना वह नयाभास है।

(२) गृह, धन, धान्य, स्त्री, पुत्रादि को जीव स्वयं करता है और उनका उपभोग करता है-ऐसा मानना वह नयाभास है (५८०-८१)।

नोट-जीव का व्यवहार पर पदार्थों में नहीं होता, किन्तु अपने में ही होता है। जीव का परद्रव्य के साथ सम्बन्ध बतलाने वाले सभी कथन नयाभास हैं।

चौथे नयाभास का स्वरूप

(१) ज्ञेय-ज्ञायक उपचार सम्बन्ध के कारण ज्ञान को ज्ञेयगत कहना तथा ज्ञेय को ज्ञानगत कहना भी नयाभास है। (५८५)

नयाभासों का निरूपण पूरा हुवा

वोट-इस प्रकार प्रकरणवश कुछ नयाभासों को बताकर ग्रन्थकार अब फिर से अपने प्रकृत विषय पर आते हैं और (सम्यक्) व्यवहार नयों को वतलाते हैं:-

पांचवां अवान्तर अधिकार

वास्तविक व्यवहार नयों का स्वरूप (५८८ से ५९६ तक)

शंका

ननु सर्वतो नयास्ते किं नामानोऽथ वा कियन्तश्च ।
कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेश्याः ॥ ५८८ ॥

अर्थ-सम्पूर्ण नयों के क्या-क्या नाम हैं और वे कितने हैं तथा कैसे वे मिथ्या अर्थ को विषय करने वाले हो जाते हैं और कैसे यथार्थ पदार्थ को विषय करने वाले होते हैं ?

नय कितने हैं इसका उत्तर

सत्यं यावदनन्ताः सन्ति गुणा वस्तुतो विशेषाख्याः ।
तावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाढ्याः ॥ ५८९ ॥

अर्थ-ठीक है। परमार्थ से जितने भी वस्तु के विशेष संज्ञा वाले अनन्त गुण हैं उतने ही नयवाद हैं अर्थात् उतने ही वचनविवक्षा हैं (द्रव्यनय) और उतने ही विकल्प के स्थान हैं (भावनय)। (जैसे जीव में अस्तित्व गुण को कहने वाला अस्तित्व नय, ज्ञान गुण को कहने वाला ज्ञान नय है। इत्यादि अनन्त पर्यन्त जानना)।

भावार्थ-यहाँ पर केवल गुणों का उल्लेख इसलिए किया गया है कि यहाँ पर केवल शुद्ध पदार्थ का प्रकरण है और शुद्ध पदार्थ के प्रकरण में गुण को ही नय कहते हैं। पर्याय के विभाव का प्रसंग ही नहीं है। उसको नय कहने का प्रश्न ही नहीं है। स्वभाव पर्याय गुण में समाविष्ट है और पर द्रव्य की तो नयाभास होती हैं यह पहले कह ही आये। विशेष आगे सार में देखिये।

ये सम्यक् मिथ्या कैसे होते हैं इसका उत्तर ५९०-९१

अपि निरपेक्षा मिथ्यास्ते एव सापेक्षका नयाः सम्यक् ।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात् ॥ ५९० ॥

अर्थ–वे परस्पर निरक्षेप रूप से विवक्षित होने पर मिथ्यानय कहे जाते हैं और वे ही परस्पर सापेक्ष रूप से विवक्षित होने पर सम्यक् (सच्चे-समीचीन) नय कहे जाते हैं (क्योंकि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है) अतः सामान्य और विशेष इन दोनों में अविनाभाव होने से परस्पर सापेक्षता हैं।

सापेक्षत्वं नियमादविनाभावस्त्वनन्यथासिद्धः ।
अविनाभावोऽपि यथा येन विना जायते न तत्सिद्धिः ॥ ५९१ ॥

अर्थ–सापेक्षपना नियम से अविनाभाव को कहते हैं क्योंकि अविनाभाव के बिना सापेक्षत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। अविनाभाव उसे कहते हैं कि जिसके बिना उसकी सिद्धि न हो।

भावार्थ–सामान्य के बिना विशेष नहीं सिद्ध होता है और विशेष के बिना सामान्य नहीं सिद्ध होता है। अतएव इन दोनों में अविनाभाव है। परस्पर अविनाभाव होने के कारण ही दोनों में सापेक्षता है।

नयों के नाम क्या हैं इसका उत्तर ५९२ से ५९५ तक

अस्त्युक्तो यस्य सतो यन्नामा यो गुणो विशेषात्मा ।
तत्पर्यायविशिष्टास्तन्नामानो नया यथाम्नायात् ॥ ५९२ ॥

अर्थ–जिस द्रव्य का जिस-जिस नाम वाला जो-जो विशेष गुण कहा गया है उस-उस अंशविशिष्ट अर्थात् उस-उस गुण को विषय करने वाला नय भी आगम के अनुसार उसी-उसी नाम से कहा जाता है।

भावार्थ–इस प्रकार एक द्रव्य में जितने भी गुण रूप अंश विवक्षित किये जाते हैं वे जिस-जिस नाम वाले हैं उन-उन को प्रतिपादन करनेवाले या जाननेवाले नय भी उन्हीं-उन्हीं नामों से कहे जाते हैं।

दृष्टान्त-१

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य ।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोऽस्तित्वनय इति वा ॥ ५९३ ॥

अर्थ–जैसे उस सत् का अस्तित्व नाम का साधारण गुण है। इसलिये उस सत् के उस अस्तित्व अंश को विषय करने वाला नय भी संक्षेप से अस्तित्व नय कहलाता है।

दृष्टांत-२

कर्तृत्वं जीवगुणोऽस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः ।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ॥ ५९४ ॥

अर्थ–अब दूसरा उदाहरण दर्शाते हैं कि कर्तृत्व नाम के जीव का गुण है अथवा वैभाविक नाम के जीव का गुण है - इसलिए उस-उस गुण को विषय करने के कारण अपने-अपने नामानुसार कर्तृत्व नय अथवा वैभाविक नय कहा जाता है।

अनया परिपाट्या किल नयचक्रं यावदस्ति बोद्धव्यं ।
एकैकं धर्मं प्रति नयोऽपि चैकैकं एव भवति यतः ॥ ५९५ ॥

अर्थ–इसी परिपाटी से जितना भी नयचक्र है उसे जान लेना चाहिये; क्योंकि वस्तु के एक-एक धर्म (गुण) की अपेक्षा एक-एक ही नय होता है।

ये सब व्यवहार नय ही हैं ।

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात् ।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥ ५९६ ॥

अर्थ–(ऊपर कहा हुआ) उदाहरण सहित जितना भी विशेषण विशेष्य रूप नय है वह सब पर्यायार्थिक नय है। उसी का दूसरा नाम व्यवहार नय है। उसको द्रव्यार्थिक नय नहीं कहते ।

५८८ से ५९६ तक का सार

द्रव्य किसे कहते हैं ? उत्तर यही है कि अनन्त गुणों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं। बस अनन्त गुणों का समुदाय रूप जो अखण्ड वह एक वस्तु है; उसी को सामान्य कहते हैं। उसको विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और जिन अनन्त गुणों का वह समुदाय है उन अनन्त गुणों को निरूपण करने वाले अनन्त नय हैं। एक-एक गुण को विषय करने वाला एक-एक नय है। जो गुण का नाम है वही नय का नाम है। ये सब नय पर्यायार्थिक नय या व्यवहार नय कहलाते हैं; क्योंकि ये एक एक अंश को विषय करते हैं। अब क्योंकि ये निरूपण तो अपने-अपने गुण को भिन्न-भिन्न करते हैं और हैं वे सब गुण अभिन्न। अतः वे नय परस्पर सापेक्ष अर्थात् उसी प्रकार जुड़े हुये हैं जैसे द्रव्य में गुण हैं। इसलिये सापेक्ष कहने वाले हैं तो सम्यक् (सच्चे) हैं अन्यथा मिथ्या हैं क्योंकि वे कहते भिन्न-भिन्न हैं और वस्तु अभिन्न है।

जो अखण्ड समुदाय है वही तो भिन्न-भिन्न अनन्त गुण हैं। और जो भिन्न-भिन्न अनन्त गुण हैं वही तो अखण्ड समुदाय है। समुदाय अर्थात् सामान्य द्रव्य, गुण अर्थात् विशेष-पर्याय इसी का नाम सामान्य विशेष में सापेक्षता-अविनाभाव-परस्पर अनन्यथा सिद्धि है। ये एक-दूसरे के बिना सिद्ध नहीं हो सकते ।

छठा अवान्तर अधिकार

प्रतिज्ञा

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात् ।
कोऽसौ द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तच्चिन्हमाहुराचार्याः ॥ ५९७ ॥

अर्थ–यदि उपर्युक्त लक्षण वाला द्रव्यार्थिक नय वास्तव में नहीं है तो फिर द्रव्यार्थिक नय कौन है ? इस प्रकार किसी ने आचार्य से प्रश्न किया। सो अब आचार्य उस द्रव्यार्थिक नय का लक्षण कहते हैं।

भावार्थ–यदि सोदाहरण विशेषण विशेष्य रूप सब ही नय नियम से पर्यायार्थिक नय (व्यवहार नय) हैं - द्रव्यार्थिक नहीं (निश्चय नय नहीं) तो बतलाइये द्रव्यार्थिक नय (निश्चय नय) किसे कहते हैं ?

निश्चय नय का लक्षण तथा वाच्य पदार्थ

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥ ५९८ ॥

अर्थ–व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है और उसका प्रतिषेधक अर्थात् निषेध करने वाला निश्चय है। जो व्यवहार का निषेध है वह भी निश्चय नय का वाच्य-अर्थ है। अन्तर इतना है कि वह भेद रूप नहीं अभेद रूप है।

भावार्थ–द्रव्य शब्द का शब्दार्थ अन्वय या सामान्य होता है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यार्थिक नय सत् में किसी प्रकार का भेद किये बिना उसे सामान्य रूप से ही ग्रहण करता है। यदि वस्तु का विधिमुखेन कथन किया जाता है तो वह धर्म विशेष द्वारा ही हो सकता है किन्तु धर्मविशेष द्वारा वस्तु का वाचक द्रव्यार्थिक नय न होकर पर्यायार्थिक नय है। इससे ग्रन्थकार ने पर्यायार्थिक नय को विशेषण विशेष्य रूप और द्रव्यार्थिक नय को इसका निषेधक बतलाया है। इस प्रकार से विचार करने पर 'जीव है या जीव चैतन्य गुणवाला है'' व्यवहार नय के उदाहरण ठहरते हैं और 'न तथा' यह निश्चय नय का उदाहरण ठहरता है क्योंकि इसके सिवाय अन्य प्रकार से निश्चय नय के विषय का निर्देश नहीं किया जा सकता ।

इसी का स्पष्टीकरण

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा।
नेत्येतावान्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥ ५९९ ॥

अर्थ–व्यवहार नय इस प्रकार विवेचन करता है अथवा जानता है कि द्रव्य सत् रूप है। निश्चय नय बतलाता है कि नहीं। व्यवहारनय बतलाता है कि जीव ज्ञानवान है निश्चय नय बतलाता है कि नहीं। इस प्रकार जो ''नेति'' ऐसा ...ी है अर्थात् निषेध को विषय करने वाला है वह निश्चय नय है और वही सब नयों का शिरोमणि है।

भावार्थ–व्यवहार नय ने द्रव्य को सत्स्वरूप बतलाया है परन्तु निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं अर्थात् पदार्थ ऐसा नहीं है कारण कि सत् नाम अस्तित्व गुण का है। पदार्थ केवल अस्तित्व गुण स्वरूप तो नहीं है किन्तु अनन्त गुणात्मक है। इसलिये पदार्थ को 'सत' बतलाना ठीक नहीं है। इसलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। इसी प्रकार जीव को ज्ञानवान् कहना यह भी व्यवहार नय का विषय है। निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं अर्थात् जीव ऐसा नहीं है क्योंकि जीव अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है। इसलिये वे अनन्त गुण अभिन्न प्रदेशी हैं। अभिन्नता में गुण-गुणी का भेद करना ही मिथ्या है। इसलिए निश्चय नय उसका निषेध करता है। निश्चय नय व्यवहार के समान किसी पदार्थ का विवेचन नहीं करता है किन्तु जो कुछ व्यवहार नय से विवेचन किया जाता है अथवा भेद रूप जाना जाता है उस का निषेध करता है। इस प्रकार उसका वाच्यार्थ अभेद का समर्थन बैठता है। इसको नयाधिपति इसलिये कहा है कि भेद रूप कहने वाले सब झूठे हैं और सच्चा तो यह एक ही है जो अभेद रूप को अभेद रूप दर्शाता है तथा मोक्षमार्ग इसी के अधीन है।

निश्चय नय विकल्पात्मक है इसकी सिद्धि ६०० से ६१० तक

शंका

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोऽस्ति सर्वोऽपि किल विकल्पात्मा।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥ ६०० ॥

अर्थ–यह बात पहले (५०६ में) कही जा चुकी है कि सभी नय विकल्पात्मक ही होते हैं क्योंकि नय का लक्षण ही विकल्प है (फिर इस निश्चय नय में विकल्प तो कुछ पड़ता ही नहीं है क्योंकि उक्त नय केवल निषेधात्मक है) इसलिये विकल्प का अभाव होने से इस नय को नयपना ही कैसे आवेगा ? अर्थात् इस नय में नय का लक्षण न होने से नयपना कैसे है ?

समाधान ६०१ से ६१० तक

तन्न यतोऽस्ति नयत्वं 'नेति' यथा लक्षितस्य पक्षत्वात् ।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥ ६०१ ॥

अर्थ–उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। निश्चय नय में नयपना है क्योंकि निश्चय नय में भी "नेति" (निषेधात्मक) यह पक्ष आता ही है वह निषेध ही उसका एक पक्ष है और पक्ष का ग्राहक ही नय होता है और पक्ष विकल्पात्मक (राग सहित) ही होता है। इसलिये विकल्प का अभाव बतलाकर निश्चय नय को नय नहीं मानना युक्त नहीं है।

भावार्थ–नय का लक्षण विकल्प बतलाया गया है। द्रव्यार्थिक नय में निषेध रूप विकल्प पड़ता ही है। अथवा किसी एक पक्ष के ग्रहण करने वाले ज्ञान को अथवा उसके वाचक वाच्य को भी नय कहते हैं। निश्चय नय में निषेध रूप पक्ष का ग्रहण होता है। जिस प्रकार व्यवहार नय किसी धर्म का प्रतिपादन करने से विकल्पात्मक है उसी प्रकार व्यवहार नय के विषयभूत पदार्थ को निषेध करने रूप का प्रतिपादन करने से निश्चय नय भी विकल्पात्मक ही है। इसलिये नय का लक्षण निश्चय नय में सुघटित ही है।

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात् ।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ॥ ६०२ ॥

अर्थ–जिस प्रकार प्रतिषेध्य अर्थात् व्यवहार नय स्वयं विकल्पात्मक होने से विधि रूप विकल्प है। उसी प्रकार वह प्रतिषेधक अर्थात् निश्चय नय भी स्वयं निषेध रूप विकल्प है।

भावार्थ–जैसे प्रतिषेध्य में विधिरूप पक्ष होने से वह विकल्पात्मक है वैसे प्रतिषेधक में निषेधरूप पक्ष होने से वह भी विकल्पात्मक है।

इसी का स्पष्टीकरण ६०३, ६०४, ६०५ तीन इकट्ठे

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति।
अर्थानुपयोगः किल वाचकं इह निर्विकल्पस्य ॥ ६०३ ॥

अर्थ–प्रतिषेधक भी विकल्पात्मक है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:–पदार्थ का उपयोग ही तो विकल्प कहा जाता है तथा पदार्थ का अनुपयोग निर्विकल्प कहा जाता है।

अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति।
नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा॥ ६०४॥

अर्थ–तथा ज्ञान का पदार्थाकार परिणमन होना ही उपयोग कहलाता है और उस ज्ञान का पदार्थाकार परिणमन न होना अनुपयोग कहलाता है।

'नेति' निषेधात्मा यो नानुपयोगः सबोधपक्षत्वात्।
अर्थाकारेण बिना 'नेति' निषेधावबोधशून्यत्वात्॥ ६०५॥

अर्थ–जब उपयोग अनुपयोग की ऐसी व्यवस्था है तब द्रव्यार्थिक नय में 'नेति' इत्याकारक जो निषेधात्मक बोध है वह भी निषेध ज्ञानरूप पक्ष से विशिष्ट होने से अनुपयोग नहीं कहा जा सकता किन्तु उपयोग ही है क्योंकि उपयोग उसी को कहते हैं कि जिस ज्ञान में पदार्थाकार परिणमन हो। यहाँ पर भी अर्थाकार परिणमन के बिना "नेति" इत्याकारक निषेधात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। परन्तु द्रव्यार्थिक नय में निषेधरूप बोध होता है। इसलिये निषेधाकार परिणमन होने से द्रव्यार्थिक नय भी उपयोगात्मक है और उपयोग को ही विकल्प कहते हैं।

भावार्थ ६०३, ६०४, ६०५–यहाँ रागसहित के ज्ञानव्यापार को उपयोग तथा निर्विकल्प (रागरहित) ज्ञान व्यापार को अनुपयोग कहा है। "जीव का गुण ज्ञान है" यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। ऐसा श्लोक ५३६ में कहा है। वहाँ वह विधिरूप विकल्पात्मक रागसहित ज्ञान है। व्यवहार नय प्रतिषेध्य है और निश्चय नय प्रतिषेधक है। इसलिए निश्चय नय "ज्ञान जीव का गुण है" इस विधि वाक्य का निषेध करके कहता है कि "जीव ज्ञान गुण जितना ही नहीं है।" उपयोग का अर्थ 'अर्थाकार अर्थात् राग सहित पदार्थ का जानने वाला ज्ञान व्यापार" यहाँ समझना। निश्चय नय के विषय का राग सहित ज्ञान करते "जीव ज्ञान गुण जितना ही नहीं है" ऐसा विकल्प उठता है। इसलिये यह नय निर्विकल्प नहीं है। उपयोग का अर्थ यह है कि एक पदार्थ से खिसक कर दूसरे पदार्थ की तरफ जो चैतन्य का व्यापार जाता है 'उपयोग' कहते हैं। इसलिये उपयोग के समय राग अवश्य होता ही है। एक पदार्थ से खिसक कर दूसरे पदार्थ की तरफ (जाननेपने रूप) चैतन्य का व्यापार केवली भगवान के होता नहीं है इसलिये उनके उपयोग होता नहीं है। उनके 'उपयोग' मात्र उपचार से कहने में आता है। रागसहित ज्ञान व्यापार को सविकल्प उपयोग तथा रागरहित ज्ञान व्यापार को अनुपयोग यहाँ कहा है। निर्विकल्प ज्ञान छद्मस्थ को धर्म और शुक्लध्यान में होता है।

जीवो ज्ञानगुणः स्यादर्थालोक बिना नयो नासौ ।
नेति निधेषात्मत्वादर्थालोक बिना नयो नासौ ॥ ६०६ ॥

अर्थ–जिस प्रकार जीव ज्ञान गुणवाला है, यह नय पदार्थ का प्रतिभास हुये बिना नहीं हो सकता, इसी प्रकार निषेधात्मक होने से 'नेति' ऐसे आकार वाला यह नय भी पदार्थ का प्रतिभास हुये बिना नहीं हो सकता ।

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः ।
न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिन्नदेशादिकं समीक्ष्य पुनः ॥ ६०७॥

अर्थ–उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:– जीव की विशेष शक्ति को अर्थात् ज्ञान शक्ति को देखकर यह कहना या समझना कि "जीव चिदात्मक है" जिस प्रकार यह पक्ष है उसी प्रकार अभिन्न-देशादिक को देखकर अर्थात् जीव के अकेले ज्ञान गुण पर ध्यान न देकर सर्व गुणों को देखकर यह कहना या समझना "कि वैसा नहीं है" अर्थात् जीव अकेला मात्र ज्ञानगुणवाला ही नहीं है, यह भी तो पक्ष है। (पक्षग्राहिता उभयत्र समान है अतः दोनों नय हैं और विकल्पात्मक हैं)।

भावार्थ–सारांश यह है कि "जीव ज्ञानगुणवाला है" इस व्यवहार नय में जिस प्रकार जीव के ज्ञान गुण के अवलम्बन से जीव को चिदात्मक कहा - यह पक्ष है उसी प्रकार निश्चय नय में "जीव अकेला मात्र ज्ञानगुणवाला ही नहीं है" इसलिये जीव के ज्ञान रूप विशेष गुण सिवाय 'सामान्य धर्म' को अवलम्बन करके जीव की मात्र ज्ञानात्मकता का निषेध करना-यह भी पक्ष है। जो अखण्ड का समर्थक है।

अर्थालोकविकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोऽपि यतः ।
न तथेत्यस्य नयत्वं स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च ॥ ६०८॥

अर्थ–क्योंकि दोनों नयों में सामान्य रूप से अर्थ प्रतिभास रूप विकल्प है इसलिये "वैसा नहीं है" इत्याकारक
 पक्ष को विषय करने से निश्चय नय में नयपना है ही कारण उसने एक निषेध पक्ष का अवलम्बन किया है।

भावार्थ–व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों में अर्थालोकविकल्प (अर्थ प्रतिभास रूप विकल्प) समान है। इसलिये 'न तथा' इस आकार वाला निश्चय नय भी पक्ष का ग्राही ज्ञान का रागांश होने से उसमें नयपना सिद्ध हो जाता है।

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम् ।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोऽस्ति मूलं यथा नयत्वस्य ॥ ६०९ ॥

अर्थ–पक्ष उसी को कहते हैं जो एक अंग को ग्रहण करता है। इसलिये 'न तथा' इस पक्ष में भी अंशधर्मता है ही। अतएव 'न तथा' को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय एक अंश को विषय करने से पक्षात्मक है जोकि नयपने का मूल है।

भावार्थ–नय सामान्य का लक्षण विकल्प है और निश्चय नय में 'नेति' विकल्प अखण्ड पक्ष का सूचक मौजूद है इसलिये उसमें नय का लक्षण होने से नयपना है।

एकाङ्गत्वमसिद्धं न 'नेति' निश्चयनयस्य तस्य पुनः ।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात् ॥ ६१० ॥

अर्थ–'नेति' इस निषेध को विषय करने वाले निश्चय नय में एकांगता असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है। जिस प्रकार वस्तु में विशेष (भेद) शक्ति एक शक्ति होती है, उसी प्रकार उसमें उस विशेष को नकार करती सामान्य शक्ति (अभेद शक्ति) भी उसका एक अंग है अर्थात् वस्तु भेदाभेदात्मक है। जिस प्रकार भेद एक अंग है उसी प्रकार अभेद भी एक अंग है।

भावार्थ–पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। वही प्रमाण का विषय है तथा सामान्यांश द्रव्यार्थिक नय का विषय है। विशेषांश पर्यायार्थिकनय का विषय है। इसलिये विशेष के निषेध रूप सामान्यांश को विषय करने वाला निश्चय नय में एकांगता सिद्ध ही है।

५९७ से ६१० तक का सार

पहले ५८८ से ५९६ तक यह सिद्ध किया जा चुका है कि किसी एक शुद्ध द्रव्य को एक-एक गुण भेद से निरूपण करने वाले वास्तविक व्यवहार नय है! अब यह कहते हैं कि उसको भेद रूप निरूपण न करके अभेदरूप निरूपण करने वाला निश्चय नय है। जगत् में अभेद अखण्ड पूर्ण वस्तु के स्वरूप को दिखलाने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः जो कुछ शब्द कहता है, वह भेद करके उदाहरण सहित विशेषण विशेष्य सहित निरूपण करता है। वस्तु का स्वरूप तो ठीक वैसा ही है अन्तर केवल इतना ही है कि वह भेद करके निरूपण करता है और वस्तु अभेद है। इसलिये व्यवहार नय जो कुछ कहता है, उसके समक्ष निश्चय कहता है कि है तो ऐसी ही पर भेद रूप नहीं-अभेद रूप है इसको ''न इति = नेति ऐसा नहीं है – भेद रूप नहीं है अर्थात् अभेद अखण्ड शुद्ध हैं'' यह निश्चय का लक्षण है यह ''नेति'' इस निषेध रूप विकल्प को लिये हुये है। सामान्य पक्ष का-अभेद पक्ष का सूचक है–भेद का-विशेष का–व्यवहार का निषेधक हैं।

अगली भूमिका–इस प्रकार श्लोक ६०० से ६१० तक निश्चय नय में 'नेति' विकल्पपने की सिद्धि करके आगे ६२५ तक ऊहापोह पूर्वक निश्चय नय को उदाहरण रहित सिद्ध करते हैं।

निश्चय नय उदाहरण रहित है–६११ से ६२५ तक

शंका ६११ से ६१२ तक

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथाऽयमपि ।
भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥ ६११ ॥

शंका–जिस प्रकार व्यवहार नय उदाहरण सहित होता है। उस प्रकार यह निश्चय नय भी उदाहरण सहित होता है। उस प्रकार यह निश्चय नय भी उदाहरण सहित माना जाय तो क्या दोष आता है ? क्योंकि ज्ञान विकल्प दोनों में समान रूप से पाया जाता है (जब दोनों में विकल्प है तो दोनों उदाहरण सहित होने ही चाहिये) ?

शंका चालू

स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः।
तदितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मवत्त्विति चेत् ॥ ६१२ ॥

अर्थ–स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिस प्रकार व्यवहार नय सत् को अनेक बतलाता है। जीव को चिदात्मक बतलाता है (यह व्यवहार नय का उदाहरण है) उसी प्रकार निश्चय नय भी 'सत् एक है, जीव चित् ही है' इस प्रकार अपने पक्ष को कहे (यह निश्चय का उदाहरण है)। (ऐसा कहने से निश्चय नय उदाहरण सहित भी हो जाता है और व्यवहार नय से भिन्न भी हो जाता है) यदि ऐसा माने तो ?

समाधान ६१३ से ६१८ तक

न यतः सङ्करदोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्यविभागोऽस्त्यनन्यथासिद्धः ॥ ६१३ ॥

अर्थ–शंकाकार का ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में संकर दोष और सर्वशून्य दोष आता है क्योंकि लक्षण के भेद से लक्ष्य का भेद अवश्यंभावी है।

भावार्थ–सत् को एक कहने पर भी सत् लक्ष्य और उसका 'एक' लक्षण सिद्ध होता है। इसी प्रकार जीव को चित्स्वरूप कहने पर भी जीव लक्ष्य और उसका चित् लक्षण सिद्ध होता है। ऐसा लक्ष्य लक्षण रूप भेद व्यवहार नय का ही विषय हो सकता है निश्चय का नहीं। यदि निश्चय का भी भेद विषय माना जाय तो दोनों का एक विषय होने से संकरता हो जायेगी। तथा इस प्रकार निश्चय नय का अभाव होने से एक व्यवहार नय शेष रहता है। निरपेक्ष नय मिथ्या है अर्थात् निरपेक्ष नय कोई नय ही नहीं होता इस प्रकार व्यवहार का भी अभाव प्राप्त होने से सर्वशून्यता प्राप्त होती है।

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथञ्चिद्यथा द्विधाकरणम्।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥ ६१४ ॥

अर्थ–व्यवहार नय का लक्षण यह है कि एक ही सत् का जिस किसी प्रकार दो रूप करना अर्थात् सत् में भेद बतलाना व्यवहार नय का लक्षण है ठीक इससे उलटा अर्थात् एक सत् को जिस किसी प्रकार दो रूप न करना निश्चय नय का लक्षण है अर्थात् सत् में अभेद बतलाना निश्चय नय का लक्षण है। इसलिए निश्चय नय को व्यवहार नय के समान उदाहरण सहित बतलाना ठीक नहीं है।

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोऽथ निश्चयो वदति।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥ ६१५ ॥

अर्थ–फिर भी यदि शंकाकार के कथनानुसार सत् को एक माना जाय अथवा चित् ही जीव माना जाय और इनको निश्चय नय का उदाहरण कहा जाय तो इस प्रकार एक सत् को द्वैत भाव का प्रसंग आने से वह निश्चय नय व्यवहार में ही अन्तर्भाव (समावेश) हो जायेगा (व्यवहार नय से निश्चय नय में कुछ भी भेद नहीं रहेगा क्योंकि ये दोनों ही उदाहरण व्यवहार नय में ही गर्भित हो जाते हैं।

सत् को एक कहने से भी सत् में भेद ही सिद्ध होता है अथवा जीव को चित्स्वरूप कहने से भी जीव में भेद ही सिद्ध होता है। किस प्रकार ? सो कहते हैं:–

एकं सदुदाहरणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति।
लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ ६१६ ॥

अर्थ–शंकाकार ने निश्चय नय का उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है, इसमें ग्रन्थकार दोष दिखलाते हैं–सत् एक है यहाँ पर सत् तो लक्ष्य ठहरता है और उसका एक यह लक्षण ठहरता है किन्तु इस प्रकार लक्ष्य लक्षण का भेद [illegible] नय में ही होता है निश्चय नय में नहीं होता।

अथ चिदेव जीवो यदुदाह्रियतेऽप्यभेदबुद्धिमता।
उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७ ॥

अर्थ–जिस प्रकार सत् और एक में लक्षण लक्ष्य का भेद होता है उसी प्रकार "चित् ही जीव है" यह जो उदाहरण अभेद बुद्धि से निश्चय नय का दिया जाता है वहाँ भी उपर्युक्तानुसार जीव लक्ष्य और चित् उसका लक्षण है इससे वह भी व्यवहार नय सिद्ध होता है निश्चय नय सिद्ध नहीं होता। अतः यह उदाहरण भी व्यवहार नय है निश्चय नय नहीं।

एवं सुसिद्धसंकरदोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात् ।
निरपेक्षस्य नयत्वाभावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥ ६१८ ॥

अर्थ–इस प्रकार दोनों ही नयों में संकरता आती है। संकरता आने से सर्वशून्य दोष आता है। वह इस प्रकार कि दोनों व्यवहार के उदाहरण बनने से एक व्यवहार नय ही बचता है। निश्चय नय नहीं रहता यह संकरता हुई। एक नय निरपेक्ष है। जो निरपेक्ष है उसमें नयपना ही नहीं आता क्योंकि निरपेक्षता नय का लक्षण ही नहीं है। इस प्रकार व्यवहार नय का भी अभाव प्राप्त होने से दोनों का अभाव होता है वही सर्वशून्यता है। भावार्थ के लिये पूर्व ६१३ देखिये।

शंका ६१९–६२०

ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः ।
भवति च तदुदाहरणं भेदाभावस्तदा हि को दोषः ॥ ६१९ ॥

शंका–यदि सत् को एक कहने से और जीव को चित् रूप कहने से भी व्यवहार नय का ही विषय आजाता है तो निश्चय नय का उदाहरण विशेष निरपेक्ष (भेद की अपेक्षा बिना) केवल सत् ही कहना चाहिए अथवा जीव ही कहना चाहिये। सत् का एकत्व विशेष और जीव का चित् विशेष नहीं कहना चाहिये। सत् मात्र कहने से अथवा जीव मात्र कहने से भेद का अभाव होने से उस निश्चय का उदाहरण बन जाता है। फिर कोई दोष नहीं रहता है क्योंकि सत्-मात्र और जीव-मात्र कहने से भेदबुद्धि नहीं रहती।

शंका चालू

अपि चैवं प्रतिनियतो व्यवहारस्यावकाश एव यथा ।
सदनेकं च सदेकं जीवश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ॥ ६२० ॥

अर्थ–और ऐसा मानने पर व्यवहार का अवकाश निश्चित रूप से रह ही जाता है। जैसे यह कहना कि सत् एक है, सत् अनेक है, जीव चिद्द्रव्य है, जीव आत्मवान् है। यद भेद रूप ज्ञान ही व्यवहार नय का लक्षण है। निश्चय नय में केवल सत् अथवा जीव ही उदाहरण मान लेने चाहियें। निश्चय को उदाहरण रहित मानना ठीक नहीं है, यदि ऐसा मानें तो ?

समाधान ६२१ से ६२५ तक

न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च ।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तद्वानुपचर्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अर्थ–शंकाकार का उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि सत् यह विकल्प और जीव यह विकल्प दोनों ही काल्पनिक हैं क्योंकि उस-उस धर्म से विशिष्ट (सहित) होने से अर्थात् जिसमें जो धर्म रहता है उस-उस धर्म वाला उपचार नय से वह कहने में आता है जैसे–

जीवः प्राणादिमतः संज्ञाकरणं तदेतदेवेति ।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ–जो प्राणों का धारण करने वाला है उसी को जीव इस नाम से कहा जाता है अथवा जो जीवन गुण की अपेक्षा रखने वाला है उसे ही जीव कहते हैं। इसलिये जीवमात्र कहने से भी प्राण विशिष्ट और जीवत्वगुण विशिष्ट का ही बोध होता है। इसी प्रकारः–

यदि वा सदिति सतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात् ।
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ–अथवा सत्ता गुण की अपेक्षा सहित होने से 'सत्' ये द्रव्य की संज्ञा है। इसलिये सत् इतना कहने से ही बिना कहे हुये भी अस्तित्व गुण अथवा अस्तित्व गुण विशिष्ट द्रव्य का बोध होता है।

भावार्थ–सत्ता गुण की अपेक्षा से 'सत् को' सत् कहते हैं। इसलिये बिना कहे ही सतपने से 'सत्' यह गुण अथवा द्रव्य कहा जाता है अर्थात् सत् शब्द का अर्थ उपचार से सत्वगुणवान् (सत्वगुण वाला द्रव्य) हो जाता है। इसलिये सत् का अर्थ गुण तथा सत्वयुक्त द्रव्य तथा जीव का अर्थ जीवयुक्त (प्राणदिवान) हो जाता है। अतः सत् लक्ष्य और सत्वादिक उसका लक्षण और जीव लक्ष्य तथा जीवत्व उसका लक्षण मानकर उसमें लक्ष्य लक्षण भाव रूप भेद कल्पना होने से इनका भी व्यवहार में ही अन्तर्भाव (समावेश) हो जाता है। अतः विशेष निरपेक्ष (भेद को अपेक्षा बिना) केवल सत् और जीव को निश्चय नय का उदाहरण मानने में उक्त दोष आते हैं ऐसा समझना चाहिए।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः ।
द्रव्यं गुणों न पर्यय इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ॥ ६२४ ॥

अर्थ–यदि विशेषण रहित विशेष्य ही केवल निश्चय नय का विषय (उदाहरण) माना जाय तो द्रव्य गुण और पर्याय ये कुछ भी नहीं बनने से व्यवहार के लोप का प्रसंग प्राप्त होता है।

भावार्थ–जो विशेषण शून्य विशेष्य मात्र को निश्चय नय का विषय मानोगे तो विशेषण मात्र का सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा तथा विशेषण मात्र के अभाव में द्रव्य, गुण या पर्याय का व्यवहार भी नहीं किया जा सकेगा। इसलिए विशेषण शून्य केवल विशेष्य को निश्चय नय का विषय (उदाहरण) मानने से 'व्यवहार लोप' का प्रसंग दोष आता है।

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः ।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः ॥ ६२५ ॥

अर्थ–इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि जितना भी उदाहरण पूर्वक कथन है उतना सब व्यवहार नय है। उस व्यवहार का निषेधक ही निश्चय नय है। 'नेति' इस विकल्प से वह कहा जाता है। विशेषण विशेष्य का विभाग उसमें नहीं होता और उसका कोई उदाहरण भी नहीं होता ।

अगली भूमिका – इस प्रकार ६११ से ६२५ तक निश्चय नय को उदाहरण रहित सिद्ध करके अब ६२६ से ६३६ तक व्यवहार नय प्रतिषेध्य क्यों है और निश्चय नय प्रतिषेधक क्यों है इसको समझाते हैं।

व्यवहार प्रतिषेध्य है, निश्चय प्रतिषेधक है ६२६ से ६३६ तक।

शंका

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा ।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत् ॥ ६२६ ॥

शंका–व्यवहार नय भी विकल्पात्मक है और निश्चयनय भी विकल्पात्मक है फिर पहली व्यवहार नय क्यों निषेध करने योग्य है तथा दूसरी निश्चय नय क्यों उसका निषेध करने वाला है ? अर्थात् जब दोनों ही नय विकल्पात्मक हैं तो एक निषेध्य और दूसरा निषेधक उनमें कैसा ?

समाधान ६२७ से ६३० तक

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु ।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ॥ ६२७ ॥

अर्थ–उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि हरएक वस्तु में उस वस्तु के अनुरूप अर्थाकार परिणमन करने वाले ज्ञान को ही विकल्प कहते हैं। वह विकल्प (राग सहित ज्ञान का अंश) प्रतिषेध्य का कारण नहीं है क्योंकि वह विकल्पात्मक ज्ञान तो व्यवहार निश्चय दोनों में होता है। उसके प्रतिषेध्य का कारण तो अयथार्थता है (क्योंकि व्यवहार नय द्वारा जो वस्तु का स्वरूप कहा जाता है वह यथार्थ नहीं होता है अर्थात् व्यवहार नय मिथ्या स्वरूप की प्ररूपणा करता है इसलिये प्रतिषेध्य है।

भावार्थ–व्यवहार नय के निषेध का कारण विकल्पात्मक बोध नहीं है। विकल्पात्मक बोध तो निश्चय नय में भी है किन्तु उसका कारण अयथार्थ बोध है अर्थात् व्यवहार नय जो वस्तु का स्वरूप कहता है वह मिथ्या है इसलिए वह निषेध करने योग्य है। इसी बात को नीचे स्पष्ट करते हैं।

व्यवहार किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः ।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदार्थदृष्टिश्च ॥ ६२८ ॥

अर्थ.–व्यवहार नय मिथ्या है क्योंकि वह स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है इसलिये वह प्रतिषेध्य (निषेध करने योग्य) है और इसीलिये उस व्यवहार नय के अनुसार पदार्थ को देखने वाला (श्रद्धान करने वाला) भी मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ–व्यवहार नय विकल्पात्मक होने से मिथ्या नहीं है परन्तु वह मिथ्या पदार्थ का कथन करने वाला होने से मिथ्या है।

स्वयमपि भूतार्थत्वाद् भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम् ।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥ ६२९ ॥

अर्थ–वह निश्चय नय यथार्थ विषय का प्रतिपादन करने वाला है इसलिये वह सम्यक्रूप (सच्चा और सम्यकत्व का विषय है)। यद्यपि निश्चय नय भी विकल्पात्मक है तो भी वह विकल्प रहित सा प्रतीत होता है। यद्यपि यह "न" इत्याकारक वचन से कहा जाता है तो भी उसमें भेदजनक कोई प्रकार का विकल्प न होने से वचन अगोचर ही जैसा प्रतीत होता है। निश्चय नय का क्या वाच्य है यह बात अनुभवगम्य ही है अर्थात् निश्चय नय के विषय का बोध अनुभव से ही जाना जाता है। वचन से वह नहीं कहा जाता क्योंकि जो कुछ वचन से विवेचन किया जायेगा वह सब भेद रूप होने से व्यवहार नय का ही विषय हो जाता है इसलिये वचन से तो वह "न" निषेध रूप ही वक्तव्य है। पर उसका विषय वक्तव्य नहीं है।

यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात् ।
तस्मात् स उपादेयो नोपादेयस्तदन्यनयवादः ॥ ६३० ॥

अर्थ–अथवा उस निश्चय नय के विषय पर श्रद्धान करने वाला ही सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। इसलिए निश्चय नय ही उपादेय (ग्राह्य) है। अन्य जितना भी व्यवहार नयवाद है कोई ग्राह्य नहीं है (हेय है)।

भावार्थ–यहाँ विकल्प सहित के निश्चय नय को सम्यक्त्व कहा है और उसके विषय पर दृष्टि रखने वाले को ही सम्यग्दृष्टि कहा है उसका कारण यह है कि निश्चय नय के विषय पर दृष्टि रखने वाला थोड़े समय में ही बुद्धिपूर्वक विकल्प (राग) को हटाकर स्वात्मानुभूति प्रगट कर सकता है। भेद में अटकने वाले को यह अवकाश नहीं है।

शंका ६३१-६३२

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोऽपि कथमभूतार्थः ।
गुणपर्ययवद् द्रव्यं तथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ॥ ६३१ ॥

शंका–सम्पूर्ण ही व्यवहार नय किस प्रकार मिथ्या हो सकता है ? क्योंकि 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं ये जो द्रव्य को आगम उपदेश से गुणपर्यायवाला कहा है वैसे ही वह अनुभव से भी गुणपर्यायवाला ही प्रतीत होता है।

शंका चालू

अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथ वा गुणाभावः ।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभावसादिति चेत् ॥ ६३२ ॥

अर्थ–शंकाकार पूछता है कि 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं' यहाँ पर क्या अभूतार्थपना है ? द्रव्य का अभाव है अथवा गुण का अभाव है अथवा दोनों का अभाव है अथवा उन दोनों के योग (मेल) का अभाव है। किसका अभाव है जिससे कि 'गुणपर्ययवद् द्रव्य' यह कथन अभूतार्थ समझा जाय । यदि किसी का अभाव नहीं है तो फिर व्यवहार नय मिथ्या क्यों ?

समाधान ६३३ से ६३६ तक

सत्यं न गुणाभावो द्रव्याभावो न नोभयाभावः ।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥ ६३३ ॥

अर्थ–ठीक है। न गुण का अभाव है, न द्रव्य का अभाव है, न दोनों का अभाव है और न उन दोनों के योग का अभाव है तो भी व्यवहार नय मिथ्या ही है। क्या मिथ्या है ? इसी को स्पष्ट करते हैं:–

इदमत्र निदानं किल गुणवद्द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे ।
अस्ति गुणोऽस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात् ॥ ६३४ ॥

अर्थ–व्यवहार नय मिथ्या है इसमें यह कारण है कि जो सूत्र में 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' कहा गया है उसका यह अर्थ निकलता है कि एक कोई गुण पदार्थ जुदा है। एक द्रव्य पदार्थ जुदा है। उन दोनों के योग से द्रव्य सिद्ध होता है।

तदसन्न गुणोऽस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः ।
केवलमद्वैतं सद्भवतु गुणो वा तदेव सद्द्रव्यम् ॥ ६३५ ॥

अर्थ–परन्तु ऐसा कथन ही मिथ्या है क्योंकि न कोई गुण है न द्रव्य है, न दोनों है और न उनका योग ही है किन्तु केवल अद्वैत सत् है। इस सत् को चाहे गुण मानो अथवा द्रव्य मानो परन्तु ये भिन्न नहीं है अर्थात् निश्चय से अभिन्न ही हैं, एक ही हैं।

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः ।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ॥ ६३६ ॥

अर्थ–इसलिये यह बात न्याय से प्राप्त हो चुकी कि व्यवहार नय अभूतार्थ है। जो लोग केवल उसी व्यवहार नय के अनुभव करने वाले हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं वे भी यहाँ खण्डित हो चुके ।

भावार्थ–गाथा में जो 'केवल' शब्द का प्रयोग किया गया है वह यह सूचना देता है कि व्यवहार करते-करते कभी भी निश्चय प्रगट नहीं होता । व्यवहार नय उक्त प्रकार के भेद को विषय करता है कारण कि विधिपूर्वक भेद करना ही 'व्यवहार' शब्द का अर्थ है। इसलिये सिद्ध होता है कि व्यवहार नय अभूतार्थ ही है।

अगली भूमिका– इस प्रकार निश्चय को प्रतिषेधक और व्यवहार को प्रतिषेध्य सिद्ध किया। अब ६३७ से ६४१ तक यह समझाते हैं कि व्यवहार नय प्रतिषेध्य है, हेय है, उपादेय नहीं है फिर भी वह है जरूर । कुछ प्रयोजन के लिए स्थापन करने योग्य जरूर है। सर्वथा अभाव करने योग्य नहीं है क्योंकि वह परमार्थ का प्रतिपादक है।

(श्री समयसार गाथा १० की टीका)

व्यवहारनय की स्थापना ६३७ से ६४१ तक

शंका

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः ।
किमकिञ्चित्कारित्वाद् व्यवहारेण तथाविधेन यतः ॥ ६३७ ॥

शंका–यदि व्यवहार नय मिथ्या ही है तो केवल निश्चय नय ही आदरणीय होना चाहिये। व्यवहार नय मिथ्या है इसलिये कुछ भी करने में असमर्थ है। फिर उसे सर्वथा कहना ही क्यों चाहिये ?

समाधान ६३८-६३९

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयालम्बि तज्ज्ञानम् ॥ ६३८ ॥

अर्थ–ऊपर की शंका ठीक नहीं है कारण कि किसी विषय में विवाद होने पर अथवा किसी विषय में संदेह होने पर अथवा वस्तु के विचार करने में व्यवहार नय का अवलम्बन बलपूर्वक (अवश्य ही) प्रवृत्त होता है। वस्तु की मर्यादा ...का निर्णय करने के लिए जो ज्ञान निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों का अवलम्बन करता है वही ज्ञान प्रमाण ज्ञान ...। जाता है।

भावार्थ—गाथा में 'बलात्' शब्द डाला है वह खास लक्ष में रखने योग्य है। मुमुक्षु जीव को व्यवहार नय की भावना नहीं है फिर भी अपने में राग होने से वह बलपूर्वक आये बिना रहता नहीं। यह भाव दर्शाने के लिये 'बलात्' शब्द डाला है।

तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसङ्गत्वात् ।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥ ६३९ ॥

अर्थ—इसलिये प्रसंगवश (ऊपर के कार्यो के लिये) किन्हीं-किन्हीं को व्यवहार नय भी आश्रयणीय (आश्रय करने योग्य) है। वह किन्हीं सविकल्प बोधवालों के लिये ही आश्रय करने योग्य है। सविकल्पक बोधवालों के समान निर्विकल्पक बोधवालों के लिये वह नय हितकारी नहीं है।

भावार्थ—निर्विकल्प ज्ञान में प्रमाण नय निक्षेप का उदय नहीं रहता इसलिये निर्विकल्पकों को व्यवहार नय से क्या प्रयोजन ।

(२) जहाँ तक निश्चय नय द्वारा प्ररूपित वस्तु को न पहचाने वहाँ तक व्यवहार नय द्वारा वस्तु का निश्चय करता है। इसलिये नीचे की दशा में 'व्यवहार नय आदरणीय नहीं है' ऐसी हेयबुद्धि को लक्ष में रखकर वह व्यवहार नय वस्तु स्वरूप समझने के लिये कार्यकारी है, अर्थात् जो व्यवहार नय को उपचार मात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु का निर्णय करे तो वहाँ व्यवहार के प्रति हेय बुद्धि होने से वह कार्यकारी कहलाये पर जो निश्चय की माफिक व्यवहार नय को जरा भी परमार्थभूत माने तो वह व्यवहार नय उलटा अकार्यकारी हो जाये।

शंका

ननु च समीहितसिद्धि किल चैकस्माद्राश्रयात्कथं न स्यात् ।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥ ६४० ॥

अर्थ—अपने अभीष्ट की सिद्धि एक ही नय (निश्चय) से क्यों नहीं हो जाती है ? विवाद का परिहार और वस्तु का विचार भी निश्चय से ही हो जायगा। इसलिये केवल निश्चय नय ही मान लो ? व्यवहार नय के मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान

नैवं यतोऽस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः ।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोऽपि ॥ ६४१ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि दोनों नयों में भेद है। वह निश्चय नय अनिर्वचनीय है। उसके द्वारा पदार्थ का विवेचन नहीं किया जा सकता । इसलिये तीर्थ की स्थिति के लिये कोई बोलने वाला भी नय (व्यवहार नय) चाहिये।

भावार्थ—इन कामों के लिये निश्चय नय उपयोगी नहीं है इसलिये एक निश्चय नय ही मानना ठीक नहीं है। तीर्थस्थिति अर्थात् (१) जैनदर्शन के विषय में विप्रतिपत्ति तथा संशय के दूर करने के लिये (२) वस्तु स्वरूप के सम्बन्ध में कोई विरुद्ध प्रतिपादन करता हो तो उसको हटाने के लिये। (३) अपने को संशय होवे तो उसका विचार करके निर्णय करने के लिये अथवा विशेष ज्ञान की प्राप्ति अर्थ विचार करने के लिये और (४) गुरु शिष्य की समझने-समझाने की पद्धति के लिये व्यवहार नय भी उपयोगी है।

अगली भूमिका—६३७ से ६४१ तक व्यवहार नय ही स्थापना करके अब ६४२ से ६४४ तक यह समझाते हैं कि विषय व्यवहार और निश्चय का एक द्रव्य ही है अर्थात् द्रव्याश्रित है। अन्तर केवल इतना है कि व्यवहार में वह भेदरूप है, निश्चय में अभेदरूप है। व्यवहार का विषय शब्द और विकल्प में प्रकट कर दिया जाता है। निश्चय का विषय शब्द और विकल्प में प्रकट नहीं किया जा सकता है किन्तु अनुभवगम्य है। 'नेति' रूप जो सूक्ष्म शब्द या विकल्प है वह केवल अनुभवगम्य अखण्ड विषय का संकेत मात्र है। विषय इसका अखण्ड अनिर्वचनीय ही है।

निश्चय नय का वाच्य विषय ६४२ से ६४४ तक

शंका

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालम्ब्य वर्तते ज्ञानम् ।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६४२ ॥

शंका–निश्चय नय का क्या वाच्य (विषय) है जिसको अवलम्बन करके निश्चयात्मक ज्ञान प्रवर्तता है क्योंकि सम्पूर्ण विशेषों के अभाव में निश्चय से अत्यन्ताभाव की ही प्रतीति होती है ?

समाधान ६४३–६४४

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम् ।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थ–ऊपर की शंका का यहाँ पर समाधान किया जाता है कि जो कुछ व्यवहार नय का वाच्य है उसमें से सम्पूर्ण विकल्पों (भेदों) को दूर करने पर जो वाच्य रहता है वही निश्चय नय का वाच्य है।

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः ।
सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशीतत्वम् ॥ ६४४ ॥

अर्थ–निश्चय नय के वाच्य के विषय में दृष्टान्त भी है। जिस समय तृण की अग्नि (कण्डे की अग्नि-कोयले की अग्नि) अथवा उष्ण ही अग्नि ऐसा सविकल्प व्यवहार होता है, उस समय तृणाग्नि-उष्णाग्नि आदि विशेष रूप उन सब विकल्पों के अभाव में भी संस्पर्शनादि के द्वारा वह अग्नि उष्णात्मक है ऐसा जाना जा सकता है।

भावार्थ–उष्णात्मक धर्म की अपेक्षा अग्नि को उष्ण कहना तथा तृण के निमित्त से होने वाली अग्नि तो तृणाग्नि कहना यह व्यवहार नय है तथा व्यवहार का प्रतिषेधक निश्चय नय है। व्यवहार नय द्वारा प्रतिपाद्य विषय एक-एक धर्म रूप पड़ता है परन्तु व्यवहार के संपूर्ण भेदों का जो प्रतिषेध है वह निश्चय नय का वाच्य है और यह निश्चय नय का विषय व्यवहार नय के विकल्प के अभाव रूप होने से उसमें भेद नही पड़ता । जैसे अग्नि स्पर्शनादिज्ञान द्वारा जानी जा सकती है उसी प्रकार निश्चय नय का विषय अनिर्वचनीय होने पर भी ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। निषेध कहने से उसका अभावात्मक वाच्य नहीं समझना चाहिये किन्तु शुद्ध (अखण्ड) द्रव्य समझना चाहिये।

अगली भूमिका–इस प्रकार निश्चय नय का विषय बतलाकर अब एक सूक्ष्म रहस्य की बात यह समझाते हैं कि यहाँ तक आने पर भी जब तक निश्चय नय का अवलम्बन है तब तक भी परसमयी अर्थात् मिथ्यादृष्टि है। जब उस निश्चय के भी अवलम्बन को छोड़कर नयातीत अवस्था में अर्थात् स्वात्मानुभूति में प्रवेश करता है तब सम्यग्दृष्टि है। यह विषय ज्यों का त्यों श्रीसमयसारजी गाथा १४३, १४४ तथा उनके कलशों का है।

निश्चयनयावलम्बी भी परसमयी है केवल नयातीत पुरुष
स्वात्मानुभूति रूप है। इसकी सिद्धि ६४५ से ६५३ तक ।

शंका

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलम्बी स्यात् ।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलम्बी यः ॥ ६४५ ॥

शंका–जो व्यवहार नय का अवलम्बन करने वाला है वह जिस प्रकार सामान्य रीति से परसमयी अर्थात् मिथ्यादृष्टि है, स्वात्मानुभूति से रहित है, उसी प्रकार जो निश्चय नय का अवलम्बन करने वाला है वह परसमयी अर्थात् मिथ्यादृष्टि-स्वात्मानुभूति से रहित कैसे है? हमारा पूछने का भाव यह है कि व्यवहार नय के अवलम्बन करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा गया सो तो ठीक परन्तु निश्चयनयावलम्बी को भी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है सो क्यों ?

भावार्थ–शंकाकार कहता है कि पहले श्लोक ५०६ से ५१० तक सब नयों को अपरमार्थरूप और हेय कहा है। उससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि व्यवहारनयावलम्बी और निश्चयनयावलम्बी दोनों परसमयी (मिथ्यादृष्टि) हैं। उनमें व्यवहारनयावलम्बी को परसमयी कहा वह तो ठीक है परन्तु निश्चयनयावलम्बी को परसमयी कहा है वह ठीक नहीं है? शंकाकार के पेट की बात यह है कि जो व्यवहार के छोड़कर निश्चय में आया है उसे भी स्वसमयी मानना चाहिये

तथा जो निश्चय से भी ऊपर निर्विकल्प स्थिति में लीन हैं उसको भी स्वसमयी मानना चाहिये और जो व्यवहार नयावलम्बी ही है उसको ही परसमयी अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहना चाहिये परन्तु निश्चय नयावलम्बी को परसमयी अर्थात् मिथ्यादृष्टि नहीं कहना चाहिये। आचार्य महाराज दोनों को परसमयी (मिथ्यादृष्टि) कहना चाहते।

समाधान ६४६ से ६५३ तक

सत्यं किन्तु विशेषो भवति स सूक्ष्मो गुरूपदेश्यत्वात् ।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूति महिमा स्यात् ॥ ६४६ ॥

अर्थ—आपकी शंका ठीक है। इसमें कुछ विशेषता है। वह विशेषता सूक्ष्म है क्योंकि वह विशेषता गुरु के द्वारा उपदेश करने योग्य है। निश्चय नय के पक्ष से स्वात्मानुभूति की महिमा भिन्न है।

भावार्थ—व्यवहार नय मिथ्या अर्थ का उपदेश करने वाला है इसलिये वह तो मिथ्या और प्रतिषेध्य है तथा इस व्यवहार के विषय पर दृष्टि रखने वाला भी मिथ्यादृष्टि है (६२८) निश्चय नय सम्यकक्त्व है—निर्विकल्प जैसा है तथा उसके ऊपर दृष्टि रखने वाला ही सम्यग्दृष्टि है (६२९-६३०)। इसलिये निश्चय नयवाली परसमयी (मिथ्यादृष्टि) नहीं है। ऐसा शंकाकार ने कहा वह तो सत्य है परन्तु इतना विशेष है कि— जो कि-निश्चयनयावलम्बी आत्मज्ञानी गुरु के उपदेशानुसार थोड़े समय में विकल्प (राग) से अतिक्रांत होकर स्वात्मानुभूति प्रगट करके सम्यग्दृष्टि अवश्य होगा तो भी स्वात्मानुभूति होने से पहले जब तक उस निश्चयावलम्बी को विकल्प (बुद्धिपूर्वक का राग) रहता है तब तक उसको भी परसमयीपना रहता है। वह गुरु का उपदेश इस प्रकार है:—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥ १४३ ॥

समयसार

द्वयोः अपि नययोः भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।
न तु नयपक्षं गृह्णति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥ १४३ ॥

अर्थ—नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ), दोनों ही नयों के कथन को मात्र जानता ही है परन्तु नयपक्ष को किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता है।

टीका—जैसे केवली भगवान्, विश्व के साक्षीपने के कारण, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार, निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को ही मात्र जानते हैं, परन्तु निरंतर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुवा होने से, श्रुतज्ञान की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण) समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसी प्रकार (श्रुतज्ञानी आत्मा), क्षयोपशम से जो उत्पन्न होते हैं, ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुवा होने से, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को ही केवल जानते हैं, परन्तु तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गए निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय, समय से प्रतिबद्धता के द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्मा के अनुभवन द्वारा) अनुभव के समय स्वयं ही विज्ञानघन हुये होने से श्रुतज्ञानात्मक समस्त अंतर्जल्प तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुवे होने से, किसी भी नय पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तव में समस्त विकल्पों से पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूति मात्र समयसार है।

भावार्थ—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञाता दृष्टा) हैं उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करते हैं तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही हैं, यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है; प्रयोजन वश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्र मोह का राग रहता है और जब नय पक्ष को छोड़कर वस्तु स्वरूप को मात्र जानते ही है तब श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं ऐसा जानना। अब यह कहते हैं कि नियम से यह सिद्ध है कि पक्षातिक्रान्त समयसार है—

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥ (समयसार)
सम्यग्दर्शनज्ञानं एषः लभते इति केवलं व्यपदेशम् ।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः सः समयसारः ॥ १४४ ॥

अर्थ–जो सर्व नयपक्षों से रहित कहा गया है वह समयसार है; इसी (समयसार) को ही केवल समयग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ऐसी संज्ञा (नाम) मिलती है (नामों के भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है)।

टीका–वास्तव में समस्त नय पक्षों के द्वारा खण्डित न होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है ऐसा समयसार है; वास्तव में इस एक को ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम प्राप्त है (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसार से अलग नहीं है, एक ही है)।

प्रथम, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निश्चय करके, और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, पर पदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को (मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्मसन्मुख किया है, तथा जो नाना प्रकार के नयपक्षों के अवलम्बन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को (श्रुतज्ञान के स्वरूप को) भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरस से ही प्रकट होता हुआ, आदि, मध्य और अन्त से रहित अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मारूप समयसार का जब अनुभव करता है तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ–पहले आत्मा का आगम ज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय करके, फिर इन्द्रिय बुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही मिलाकर तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके एक अखंड प्रतिभास का अनुभव करना ही "सम्यग्दर्शन" और "सम्यग्ज्ञान" के नाम को प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं है। गुरु उपदेश समाप्त हुआ।

इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च ।
सर्वोऽपि नयो यावान् परसमयः स च नयावलम्बी ॥ ६४७ ॥

अर्थ–(१) ऊपर कहे हुवे सूत्र से अर्थात् गुरु उपदेश से (आगम प्रमाण से) तथा (२) सविकल्प होने से (इस युक्ति से) तथा (२) उसी के अनुसार अनुभव होने से जितना कोई नय है वह सब परसमय है तथा उनका अवलम्बन करने वाला जो है, वह सब परसमयी अर्थात् मिथ्यादृष्टि है, स्वात्मानुभूति से रहित है।

भावार्थ–सब नय विकल्पात्मक है इसलिये वे रागमिश्रित है। तथा व्यवहारनय के विषय ऊपर की दृष्टि तथा निश्चय के विषय ऊपर की दृष्टि में जोकि ऊपर ६२८-६२९-६३० में कहे अनुसार अन्तर है फिर भी सब नयों में राग का अंश उठता है। इसलिये नयों के विकल्प रूप राग से जीव जबतक अतिक्रान्त होकर निर्विकल्प नहीं होता तब तक परसमयी है।

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा ।
न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥ ६४८ ॥

अर्थ–वह स्वात्मानुभूति की महिमा इस प्रकार है कि व्यवहार नय में वस्तु के अंशों को दिखलाने वाले विकल्प उठते हैं और निश्चय नय में अखण्ड वस्तु का ग्रहण होने के कारण उसमें निषेधात्मक विकल्प उठता है तथा स्वसमयस्थिति में न व्यवहार नय की विषयभूत विधि है कि न निश्चयनय का विषयभूत निषेध है परन्तु केवल चैतन्यमात्र आत्मा की अनुभूति है।

भावार्थ–उपर्युक्त स्वानुभूति की महिमा की प्रकाशक स्वसमय-प्रतिबद्ध अवस्था का खुलासा इस प्रकार से है कि [illegible] भेद का उपदेशक है इसलिये उसमें भेदसूचक विधिरूप विकल्प उठते हैं और निश्चय नय उसका निषेध

करता है इसलिये यह भी निषेधरूप विकल्प है। इस प्रकार दोनों नय विकल्पात्मक है। इसलिये निश्चय नय के विषय का रागमिश्रित ही विचार है। उससे भी ऊपर विकल्पों से पार जो निर्विकल्प स्वात्मानुभूति मात्र है वह स्वसमय प्रतिबद्ध दशा है और उसकी प्राप्ति से पहले की अवस्था को परसमय कहने में आता है। यहाँ कहने का हेतु यह है कि व्यवहार नय के आश्रय से तो कभी स्वानुभूति प्रगट होती ही नहीं है परन्तु निश्चय नय के आश्रय से भी प्रारम्भ में जो विकल्प (राग) उठता है उस राग से भी पार जाकर पवित्र आत्म दशा प्रगट करने के लिये पुरुषार्थ करने का ज्ञानी श्रीगुरुओं का उपदेश है।

दृष्टान्तोऽपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोऽपि नरः ।
महिषोऽयमहं तस्योपासक इति नयावलम्बी स्यात् ॥ ६४९ ॥

अर्थ–दृष्टान्त भी है जैसे कोई पुरुष महिष (भैंसे) के ध्यान में आरूढ़ है। ध्यान करते हुए वह यह समझता है कि यह महिष है और मैं उसकी उपासना (सेवा-ध्यान) करने वाला हूँ। इस प्रकार के विकल्प को लिये हुए जब तक उसका ज्ञान है तब तक वह नय का अवलम्बन करने वाला है।

चिरमिचरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा ।
महिषस्यैकस्य यथा भवनान्महिषानुभूतिमात्रं स्यात् ॥ ६५० ॥

अर्थ–बहुत काल तक अथवा जल्दी ही ध्यान करते-करते जिस समय वह दैव वश (स्वकाल की योग्यतावश) स्वयं भैंसा रूप बन जाता है तो उस समय वह केवल एक महिष रूप होने से अर्थात् एक महिष का ही अनुभव करने से केवल महिषानुभूति कहने में आती है।

स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोऽपि किल यावत् ।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभवितास्मस्य नयपक्षः ॥ ६५१ ॥

अर्थ–उसी प्रकार जैसे कोई पुरुष अपने आत्मा के ध्यान करने में आरूढ़ है। ध्यान करते हुए विकल्प उठाता है कि मैं यह आत्मा हूँ और मैं ही स्वयं उसका अनुभव करने वाला हूँ। जब तक उसके ऐसा विकल्पात्मक बोध है तब तक उसके नयपक्ष है।

चिरमाचिरं वा दैवात्* स एव यदि निर्विकल्पश्च स्यात् ।
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत् ॥ ६५२ ॥

अर्थ–बहुत काल तक अथवा जल्दी ही दैववश (स्वकाल की योग्यता अनुसार) वही आत्मा जब निर्विकल्प हो जाता है अर्थात् मैं उपासक हूँ और मैं ही स्वयं उपास्य हूँ इस उपास्य-उपासक विकल्पको दूर कर स्वयं आत्मा निजात्मा में तन्मय हो जाता है) तब वह स्वयं आत्मा का ही अनुभव करता है, इसलिये उस समय एक आत्मानुभूति मात्र होती है।

भावार्थ - दृष्टान्त - जिस प्रकार महिष के ध्यान में मग्न हुवा मनुष्य पहले "मैं महिष का उपासक हूँ - महिष होना चाहता हूँ" इस प्रकार की कल्पनायें करता है तब तक वह कल्पनाओं-भेदों का ग्राहक होने से वह मनुष्य (लौकिक) व्यवहारनयावलंबी है। जब उन कल्पनाओं को मिटाकर "मैं महिष हूँ" ऐसा विकल्प करता है तब तक वह (लौकिक) निश्चयनयावलम्बी है, पर ध्यान करते-करते जब वह लीन हो जाता है। स्वयंमहिषपने का निर्विकल्प अनुभव करने लगता है उस समय उसके मात्र महिषानुभूति है ऐसा कहने में आता है दृष्टान्त - उसी प्रकार स्वानुभूति में तत्पर व्यक्ति जब तक "यह आत्मा हमारा है - मैं उसका अनुभव करने वाला हूँ" इत्यादिक कल्पनाएं करता है तब तक वह व्यवहार नयावलम्बी है। जब उन कल्पनाओं से आगे जाकर निश्चयनयावलम्बी होता है। उस समय उसके "मैं अखण्ड शुद्धचैतन्यस्वभाव आत्मा हूँ" ऐसा अभेद विकल्प उठता है। यह निश्चयनयावलम्बी दशा है। पर जब

* दैवात् - उपादान कारण की अपेक्षा से 'दैवात्' शब्द का अर्थ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की योग्यता होता है। तथा निमित्त की अपेक्षा से 'दैवात्' शब्द का अर्थ द्रव्य कर्म की उस समय की अवस्था की योग्यता होता है। कर्म की अवस्था जीव को किसी प्रकार का नुकसान, सहाय के असर करता नहीं है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में कुछ भी कर सके ऐसा मानना वह नयाभास है ऐसा पहले कह आये हैं।

वह स्वात्मध्यान में तल्लीन होकर तन्मय हो जाता है और बुद्धिपूर्वक के विकल्पों से पार हो जाता है तब जो निर्विकल्प अवस्था होती है उस अवस्था को स्वात्मानुभूति कहते हैं। यह निश्चय नय से पार है।

तस्मात् व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतुः स्यात्।
अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भाविनो विकल्पत्वात्॥ ६५३॥

अर्थ–इसलिये व्यवहार नय के समान निश्चयनय भी आत्मानुभूति का कारण नहीं है क्योंकि उसमें भी 'यह आत्मा है। मैं इसका स्वामी हूँ।' ऐसा सत् पदार्थ में (आत्मा में) अवश्यंभावी विकल्प उठता ही है।

भावार्थ-व्यवहार नय का विषय तो मिथ्या है कारण कि उसके आश्रय स्वात्मानुभूति होती ही नहीं है परन्तु निश्चयनय भी विकल्पात्मक होने से तथा निश्चयनय से भी आगे स्वात्मानुभूति होने से ये निश्चय नय भी वास्तव में निर्विकल्पस्वात्मानुभूति का साक्षात् कारण नहीं है कारण कि निश्चयनय में भी 'यह आत्मा का स्वरूप है और मैं उसका स्वामी हूँ' इस प्रकार का विकल्प (राग) होता है।

अगली भूमिका - अब यह कहते हैं कि जब तक निश्चयनय का अवलम्बन है तब तक व्यवहार का भी अवलम्बन अवश्य है क्योंकि एक नय अकेला कभी नहीं रहता। दोनों परस्पर सापेक्ष रहते हैं। विधि रूप विकल्प होगा तभी तो निषेधात्मक विकल्प की आवश्यकता पड़ेगी।

दोनों नयों की परस्पर सापेक्षता तथा उनके अवलम्बन करने वाले मिथ्यादृष्टि ६५४, ६५५

शंका

ननु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विवक्षितो भवति।
व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिहेतुः सः॥ ६५४॥

शंका – यदि यहाँ पर व्यवहार नय से निरपेक्ष केवल निश्चय नय का पक्ष ही विवक्षित किया जाय तो वह स्वात्मानुभूति का कारण होगा। जो ऐसा मानें तो ?

समाधान

नैवमसम्भवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः।
सति च विधौ प्रतिषेधः सति विधेः प्रसिद्धत्वात्॥ ६५५॥

अर्थ – ऐसा नहीं है कारण वैसा मानने में असम्भव दोष आता है। कोई भी नय निरपेक्ष नहीं हुआ करती है, न हो सकती है। क्योंकि विधि के होने पर प्रतिषेध का होना भी अवश्यभावी है और प्रतिषेध के होने पर विधि का होना भी प्रसिद्ध है।

भावार्थ – नयों को निरपेक्ष कहने में यह असम्भव दोष है कारण कि – जब विधि की मुख्यता में गौणरूप से निषेध का तथा निषेध की मुख्यता में गौणरूप से विधि का ग्रहण हो जाता है। तब ही नय, नयपद के योग्य ठहरता है। इसलिये सब नय परस्पर सापेक्ष होने से उक्त शंका ठीक नहीं है। नय वस्तु के एक अंश को विषय करता है। इसलिये वह एक-विवक्षित अंश का विवेचन करता हुआ दूसरे अंश की अपेक्षा अवश्य रखता है। अन्यथा निरपेक्ष अवस्था में उसे नय ही नहीं कह सकते। विधि की विवक्षा में प्रतिषेध की सापेक्षता और प्रतिषेध की विवक्षा में विधि की सापेक्षता का होना आवश्यक है। इसलिये व्यवहार और निश्चय नय में परस्पर सापेक्षता ही है।

अगली भूमिका – निश्चयनय अखण्ड द्रव्य को विषय करता है और व्यवहारनय उसके प्रत्येक अंग को विषय करता है। इस नियमानुसार निश्चयनय एक ही हो सकता है और व्यवहार नय अनेक ही होंगे। सो इसी को ऊहापोह पूर्वक समझाते हैं।

निश्चय नय अनेक नहीं है - एक है ६५६ से ६६१ तक

शंका

ननु च व्यवहारनयो भवति यथानेक एव सांशत्वात्।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैकैकरस्त्विति चेत्॥ ६५६॥

शंका – जिस प्रकार व्यवहार नय एक-एक अंश को ग्रहण करने वाली होने से अनेक ही है, उसी प्रकार व्यवहार के समान निश्चय नय भी एक-एक मिलाकर नियम से अनेक है यदि ऐसा माना जाय तो ?

भावार्थ – जिस प्रकार भिन्न-भिन्न एक-एक अंश को ग्रहण करने वाली होने से व्यवहार नय अनेक हैं उसी प्रकार भिन्न २ व्यवहार का निषेध करने से निश्चय नय भी अनेक होने चाहिये। इसलिये निश्चय नय का पूर्व नं. ५१८ के अनुसार एक मानना ठीक नहीं है।

समाधान ६५७ से ६६१ तक

नैवं यतोऽस्त्यनेको नैकः प्रथमोऽप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥ ६५७ ॥

अर्थ – ऐसा नहीं है कारण कि पहली व्यवहार नय तो अनन्त धर्मों को एक-एक करके ग्रहण करने वाली होने से अनेक है, वह तो जरूर एक नहीं है परन्तु निश्चय नय एक है, अनेक नहीं है क्योंकि उसका लक्षण "न तथा" है। (अर्थात् जो कुछ व्यवहार नय कहता है उसका निषेध करना कि पदार्थ वैसा नहीं है यही निश्चय नय का लक्षण है। इसलिये कितने ही धर्मों के विवेचन क्यों न किये जायें सभी का निषेध करना मात्र ही निश्चय नय का एक कार्य है। अतएव वह एक ही है, अनेक नहीं हैं)।

भावार्थ – शंकाकार का कहना युक्ति संगत नहीं है कारण कि - पदार्थ में, अनन्त धर्म हैं उनमें से एक-एक धर्म को विषय करने वाला व्यवहार तो अनेक है इसमें कोई संशय की बात नहीं है परन्तु एक-एक व्यवहार के निषेध से निश्चय नय एक-एक होकर अनेक होवे ऐसा नहीं बन सकता कारण कि 'न तथा' (ऐसा नहीं है) इस रूप से व्यवहार मात्र का प्रतिषेधक निश्चय नय सदा एक ही प्रकार का होने से एक ही होता है पर भिन्न-भिन्न व्यवहार के निषेध से एक-एक होकर अनेक होता नहीं है अर्थात् सदा यावत् (सम्पूर्ण) व्यवहार का प्रतिषेधक होने से निश्चय नय एक ही है। इसलिये निश्चय नय का सूचक 'न तथा' ऐसा माना है तथा वह सदा एक ही प्रकार का रहता है अर्थात् अनेक व्यवहार के प्रतिषेध को विषय करने से निश्चय नय के विषय में नानापना (भिन्न-भिन्नपना) आता नहीं है। इसलिये वह नानारूप हो ही नहीं सकता।

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक् ।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ॥ ६५८ ॥

अर्थ – निश्चय नय क्यों एक है इस विषय में सोने का दृष्टांत भी है। सोना तांबे की उपाधि की निवृत्ति से जिस प्रकार का भिन्न स्वर्णत्व है - वह जैसा है वैसा ही चांदी की उपाधि की निवृत्ति से भी उसी प्रकार का भिन्न स्वर्णपना है अथवा और २ अनेक उपाधियों की निवृत्ति से भी वैसा ही सोना है अर्थात् सोने में जो तांबा, पीतल, चांदी, कालिमा आदि उपाधियाँ हैं वे अनेक है परन्तु उनका अभाव होना अनेक नहीं है। किसी उपाधि का अभाव क्यों न हो वह अभाव एक ही रहेगा। हर एक उपाधि की निवृत्ति में सोना सदा सोना ही रहेगा।

भावार्थ – जिस प्रकार सुवर्णपना तांबे की उपाधि के अभाव से विवक्षित होता है वैसा ही चांदी आदि की उपाधि के अभाव से भी विवक्षित होता है अर्थात् जिस प्रकार पर-उपाधि के अभाव से शुद्ध-सुवर्णत्वसामान्य में अनेकता नहीं आती है उसी प्रकार भेद कल्पना रूप उपाधि के अभाव से, द्रव्यत्व सामान्य में भी अनेकता आ सकती नहीं है। इसलिये निश्चय नय में अनेकता कही नहीं जा सकती।

एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित् ।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ॥ ६५९ ॥

अर्थ – इस कथन से वे पुरुष खण्डित किये गये हैं जो कि अपने ज्ञान के दोष से एक निश्चय नय को अनेक समझते हैं जैसे -

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम ।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥ ६६० ॥

अर्थ – एक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। उसी का नाम शुद्ध निश्चय नय है। दूसरा अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसका नाम अशुद्ध निश्चय नय है। ऐसे निश्चय नय के दो भेद हैं।

इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते ।
स हि मिथ्यादृष्टिः स्यात् सर्वज्ञावमानितो नियमात् ॥ ६६१ ॥

अर्थ – और भी बहुत से भेद निश्चय नय के जिसके मत में है वह मिथ्यादृष्टि है और वह नियम से सर्वज्ञ की आज्ञा का उलङ्घन करता है।

भावार्थ – निश्चय नय के शुद्ध-अशुद्ध आदि भेद कुछ भी नहीं है ऐसा जैन सिद्धान्त है। यह केवल निषेधात्मक एक है और अखण्ड सामान्य वस्तु का द्योतक है जो उसके भेद करता है वह सर्वज्ञ की आज्ञा का उलङ्घन करता है। अतएव वह मिथ्यादृष्टि है। अखण्ड सामान्य के एक-एक अंश का द्योतक तो व्यवहार नय है वह अवश्य अनेक है।

पुनः भावार्थ – श्री द्रव्यसंग्रहादि दूसरे ग्रन्थों में जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय-अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय आदि भेद मिलते हैं वे पर्यायार्थिक नय (व्यवहार नय) के ही नामान्तर हैं ऐसा समझना - केवल शब्द का भेद है। आशय एक ही है तथा दूसरे ग्रन्थों में जो निमित्त के लिये अर्थात् पर वस्तु के लिये व्यवहार नय लिखा है उन्हें निमित्त का कथन समझना। भाव उन आचार्यों का भी ऐसा ही है केवल कथन शैली का भेद है और उसका रहस्य यह है कि जिन आचार्य को सामान्य भिन्न दिखलाना था, स्वभाव पर्याय भिन्न दिखलानी भी, विभाव पर्याय भिन्न दिखलानी थी, निमित्त का पर द्रव्य भिन्न दिखलाना था। उन आचार्यों को प्राथमिक शिष्य की पकड़ के लिये प्रयोजनवश करुणा बुद्धि से इतने नयों के भेद-प्रभेद करने पड़े। मंथन करने पर अन्त में उनका भी आशय वही निकलता है जो श्रीपंचाध्यायीकार ने वस्तु का स्वरूप नग्नरूप में उपस्थित किया है। गुरुगम से समझने पर सबका समन्वय सरल हो जाता है। इन भेदों को मानने वाले मिथ्यादृष्टि है इसका आशय यह है कि जो उन शब्दों का भाव ठीक पकड़ता है जैसे जिनने राग को अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहा उसका भाव उन्हीं के वक्तव्य अनुसार राग को कहने वाली होने से असद्भूत व्यवहार नय समझे, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय को स्वभाव पर्यायवाली कहने वाली होने से उपचरित सद्भूतव्यवहार नय समझें, व्यवहार नय का एक वस्तु का कर्तृत्व दूसरी में बतलाने के कारण से निमित्त का कथन समझे तो मिथ्यादृष्टि नहीं है क्योंकि उसने उन आचार्यों के आशय को ठीक पकड़ा है पर जो परवस्तु की व्यवहार नय को दूसरी वस्तु में कर्तृत्व रूप जिन शब्दों में लिखा है उन्हीं शब्दों में उसका अर्थ सत्यार्थ समझ ले तो मिथ्यादृष्टि है। द्रव्यार्थिक नय के अनेक भेद लिखने से सामान्य अनेक प्रकार का समझ ले तो मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि आशय के अनुसार है। शब्द तो वक्ता का अभिप्राय है। यदि अभिप्राय गलत पकड़ा गया तो मिथ्यादृष्टि है। यदि अभिप्राय ठीक पकड़ा गया तो मिथ्यादृष्टि नहीं है। ऐसा ग्रंथकार का आशय है। कहीं दूसरे आचार्यों को या किसी को मिथ्यादृष्टि कहने का नहीं है। वस्तु का निरूपण कड़े शब्दों में जरूर किया है किन्तु नग्न सत्यरूप में।

अगली भूमिका - अब वह समझाते हैं कि वस्तु उभयरूप है। अतः पहले वह दोनों नयों की परस्पर सापेक्षता से भलीभाँति जान लेनी चाहिये और जानकर फिर ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' द्वारा आत्मशुद्धि करनी चाहिये। उनके विकल्पों में अर्थात् पण्डिताई में ही नहीं अटके रहना चाहिये। कोरी पण्डिताई या केवल दूसरों को सुना देने में तो मान का पोषण है आत्महित नहीं है। ऐसा शिक्षात्मक उपदेश देते हैं।

दोनों नयों की सापेक्षता और उनके जानने का फल

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु ।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं तथात्मशुद्ध्यर्थम् ॥ ६६२ ॥

अर्थ – यहाँ पर इतना ही तात्पर्य है कि जीवादिक जो भी पदार्थ हैं उनको व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा अविरुद्ध रीति से अर्थात् परस्पर सापेक्ष (निरपेक्ष नहीं) जानना चाहिए और इस प्रकार जाने हुये वे पदार्थ आत्मशुद्धि के लिये निमित्त हो सकते हैं।

भावार्थ – सारांश यह है कि जिस प्रकार से निश्चय और व्यवहार में विरोध नहीं आवे उस प्रकार से परस्पर में अविरोध पूर्वक जीवादिक पदार्थों को निश्चय तथा व्यवहार द्वारा जानना कि जिससे वह ज्ञान ही आत्मा की शुद्धि के लिये उपयुक्त हो सके पर यह ध्यान रखें कि जीवादिक पदार्थों में व्यवहार निश्चय नयों को एक ही पदार्थ के चतुष्टय लगाये। तब वस्तु का वास्तविक ज्ञान आत्मा की शुद्धि के लिये प्रयुक्त होगा अन्यथा विपरीत हो जायेगा जैसे -

राग क्या है किस नय का विषय है तो समझे कि यह आत्मा का भाव है। आत्मा के चतुष्टय में है। इसलिये इस पर नय लागू हो सकती है। नयभास नहीं - तथा क्योंकि वह नैमित्तिकभाव है - आगन्तुक है - क्षणिक है अतः व्यवहार नय लागू होगी। जब ऐसा समझेगा तो यह समझ लेगा कि यह भाव पुरुषार्थ द्वारा आत्मा से निकालकर आत्मा शुद्ध किया जाता है और सामान्य शुद्ध आत्मा जो निश्चय का विषय है वह शेष रह जायेगा। इस प्रकार दोनों नयों का ज्ञान परस्पर सापेक्ष आत्मशुद्धि के लिये सफल हो सकता है। किन्तु यदि स्ववस्तु के सब चतुष्टय को निश्चय समझे और परवस्तु के कथनों को सद्व्यवहार समझे। एक वस्तु का दूसरी में कर्तृत्वपना यही परस्पर सापेक्षता समझे तो वह नय ज्ञान नयाभास रूप में परिणत होकर दो द्रव्यों की चली आई एकत्वबुद्धि के दृढ़ अध्यास को ही सिद्ध करेगा और मिथ्यात्व की पुष्टि में कारण होगा। अतः ग्रन्थकार ने इस श्लोक द्वारा मुमुक्षु को चेतावनी दी है कि वह बहुत जागृत होकर नयों का प्रयोग करे। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में कहा है कि इस नय रूपी गहन बन को समझने के लिये गुरु ही शरण है। अन्यथा जिस प्रकार बनी में जीव खोया जाता है इस प्रकार नय का दुरुपयोग होने से उल्टा आत्मअहित हो जाता है।

अगली भूमिका - पिछले श्लोक में ज्ञान की अपेक्षा उपदेश दिया था। अब श्रद्धा की अपेक्षा उपदेश देते हैं कि ज्ञान से दोनों नयों के विषय को जानकर व्यवहार के विषय को हेय करना चाहिये और निश्चय के विषय को उपादेय करना चाहिये क्योंकि निश्चय का विषय सामान्यमात्र वस्तु है। उसके अवलम्बन से ही निर्विकल्प होकर आत्मसिद्धि होगी।

निश्चय नय की सफलता

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलङ्कावमुक्तबोधात्मा ॥ ६६३ ॥

अर्थ — निश्चय नय का कारण नियम से सामान्यमात्र वस्तु है और सब कर्म कलंक से रहित ज्ञानमय आत्मा की सिद्धि होना यह निश्चय नय का फल है।

प्रमाण — जीवों को यह शंका हो सकती है कि सब ग्रन्थों में तो परवस्तु पर व्यवहारनय और स्वचतुष्टय पर निश्चय नय लगाया है। पंचाध्यायीकार अपनी अलग की डुगडुगी बजाता है। इसी कारण बहुत से लोग इसे आगम प्रमाण न मानकर अप्रमाणिक ग्रन्थ कहते हैं पर यह उनकी बुद्धि का दोष है। कठिन और सूक्ष्म होने के कारण तथा गुरुगम न मिलने के कारण वे इसके रहस्य को नहीं समझ सके। इस ग्रन्थ का एक अक्षर भी अप्रमाणिक नहीं है। सबका सब श्री कुन्दकुन्द तथा श्री अमृतचन्द्रजी के अक्षरशः वक्तव्यानुसार है। देखिये परवस्तु पर लगाने वाले व्यवहार नय नहीं किन्तु नयाभास हैं इसका निरूपण स्वयं श्री समयसारजी में इसी पद्धति से है। गाथा ८४ में शिष्य ने दो द्रव्यों पर व्यवहार नय लगाया है। गुरुजी ने गाथा ८५-८६ में उसका खंडन किया है। उसी प्रकार गाथा ९८ में शिष्य ने फिर दो द्रव्यों पर व्यवहार नय लगाया है। उसका खण्डन गुरु महाराज ने ९९ से १०८ तक किया है। ज्यों का त्यों वही भाव श्रीपञ्चाध्यायीकार ने यहाँ केवल कथन शैली बदलकर लिखा है। (२) अब यह जो आपका कहना है कि निश्चय का ऐसा कथन कहीं देखने में नहीं आया या निश्चय नय का 'नेति' लक्षण कहीं देखने में नहीं आया। श्रीसमयसारजी गाथा २७२ मूल में स्पष्ट ''नेति'' लक्षण लिखा है तथा २७५ की टीका के अन्तिम वाक्य में स्पष्ट लिखा है - तथा २७६-७७ के शीर्षक पर स्पष्ट लिखा है। वही शब्द और वही भाव ज्यों का त्यों श्रीपंचाध्यायीकार ने लिया है, केवल अधिक स्पष्टता के कारण कथन शैली बदली है। श्रीसमयसारजी गाथा ६ में प्रमत्त-अप्रमत्त का निषेध ''नेति'' नहीं तो और क्या है ? तथा गाथा ७ में स्वाभाविक गुणपर्यायों के भेद का निषेध ''नेति'' लक्षण नहीं तो और क्या है ? इस प्रकार यह निश्चयनय सब श्रीसमयसार मूल आगम की देन है। (३) राग आत्मा के चतुष्टय में है इसे निश्चय कहना चाहिये - व्यवहार नहीं। इस शंका का उत्तर श्री कुन्दकुन्द भगवान ने श्रीसमयसार गाथा ५० से ५५ तक सब २९ भावों को आत्मा में कूड़ा-कर्कट बताकर आत्ममहल से बाहर फेंका है। इस प्रकरण में स्पष्ट राग को व्यवहार कहा है। मूल द्रव्य में न पाये जाने वाली चीज को निश्चय कैसे कहा जा सकता है ? वह तो व्यवहार ही है। (४) अरे राग तो राग हम तो क्षायिक भाव तक को व्यवहार कहते हैं तू तो राग से ही डर गया है। श्री नियमसार गा. ४१ और उसकी टीका में चारों भावों को व्यवहार कहकर आत्मा में निषेध किया है। श्रीसमयसार तथा नियमसारजी तो केवल त्रिकाली सामान्य को जो स्वतः सिद्ध वस्तु है उसी को निश्चय कहते हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक

सब नैमित्तिक भावों को व्यवहार कहा है। यह परमागम है। (५) अब आपको यह शंका हो सकती है कि हजारों आगमों में तो परवस्तु को व्यवहार कहा है, एक में नहीं कहा तो क्या ? ऐसा भी नहीं है। वे सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। छः द्रव्यों का निरूपण करते हैं। उन्हें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक बतलाना होता है। वहाँ निमित्त-नैमित्तिक का नाम व्यवहार है। वहाँ भी एक द्रव्य का दूसरे में कर्त्तृत्व व्यवहार नहीं है। यह भूल है। भाव सब जैन ग्रन्थों का एक ही है। गुरुगम से फिट बिठाने की बात है।

भाई जिस प्रकार दुकान पर रात को बिध मिलाते वक्त कैश में फर्क नहीं होता, बही के जमा-खर्च में फर्क होता है। उसी प्रकार यह ग्रन्थ तो कैश है। इसमें फर्क नहीं है। तेरी परस्पर की मिलान की भूल है। उसे ठीक करके ग्रन्थ पर आस्था बुद्धि रखकर ढूंढ तो मिलेगा। जिन्होंने ढूंढा है उन्होंने पाया है और जो विवाद में पड़ गये, उन्होंने खोया है। अच्छा हम एक बात और पूछते हैं कि यह ग्रन्थ तो सभी जैन विद्यालयों में पढ़ाया जाता है और कोर्स का निर्णय भारत के सब पण्डित मिलकर करते हैं तो क्या सबने ऐसे अप्रमाणिक ग्रन्थ को कोर्स में और वह भी शास्त्री तथा आचार्य के कोर्स में रख दिया। राजकीय संस्कृत कॉलेज बनारस यूनिवर्सिटी में भी यह ग्रन्थ कोर्स में नियुक्त है। ग्रन्थ अप्रमाणिक नहीं है। किन्तु *Pure* (खालिस) अध्यात्मिक है और सूक्ष्म विवेचन होने से हरएक इसका पार तो पा नहीं सकता। झट अप्रमाणिक कह देता है। जगत् में ऐसी लोकरूढ़ि है कि आधी बुद्धि मुझमें है, आधी सारे जगत में। हर एक जीव अपने को सबसे अधिक बुद्धिमान समझता है। भाई शान्त हो, धीरज रख, मान छोड़, गुरुगम को प्राप्त कर, सब सरल हो जायेगा। अगर अपने आप तत्त्व की प्राप्ति हो जाया करती तो सारा जगत ही ज्ञानी हो जाता। सम्यक्त्व कभी ज्ञानी गुरु की सान्निध्य बिना नहीं होता और क्षायिक तो साक्षात् केवली या श्रुतकेवली गुरु के निकट होता है। चाबी गुरुओं ने अपने ही हाथ में रखी है।

सातवाँ अवान्तर अधिकार

प्रमाण का स्वरूप ६६४ से ६९५ तक

प्रतिज्ञा

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयो निश्चयः पृथक् पृथक् ।
युगपद् द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये ॥ ६६४ ॥

अर्थ – व्यवहार नय का स्वरूप कहा। उसके पीछे निश्चय नय का भी स्वरूप कहा। दोनों ही नय भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले हैं। जब एक साथ दोनों नय मिल जाते हैं तभी वह प्रमाण का स्वरूप कहलाता है। उस प्रमाण के लक्षण को कहूँगा।

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः ।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥ ६६५ ॥

अर्थ – विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है। (अर्थात् विधि सापेक्ष निषेधात्मक ज्ञान को निश्चय नय कहते हैं) प्रतिषेध पूर्वक विधि होता है (अर्थात् निषेध सापेक्ष विधि ज्ञान को व्यवहार नय कहते हैं) विधि और प्रतिषेध इन दोनों की जो मैत्री है (अर्थात् दोनों नयों का एक साथ रहना है) वही प्रमाण कहलाता है अथवा स्व पर के आकार (स्वरूप) को जानने वाला (निश्चय करने वाला) जो ज्ञान है, वह प्रमाण कहलाता है।

उसी का स्पष्टीकरण

अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य ।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥ ६६६ ॥

अर्थ – ऊपर जो कहा गया है उसका खुलासा इस प्रकार है कि 'अर्थविकल्प ज्ञान' उस प्रमाण का स्वतः सिद्ध लक्षण है अर्थात् अर्थ के आकार रूप परिणमन करने वाला जो ज्ञान है वह प्रमाण का स्वयं सिद्ध स्वरूप है। अर्थ शब्द का अर्थ स्व पर विषय तथा विकल्प शब्द का अर्थ व्यवसाय है। इसलिये अर्थ विकल्प का अर्थ स्वपर व्यवसायात्मक भी होता है। स्व पर के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। तथा जब एक विकल्पात्मक ज्ञान

होता है अर्थात् सामान्य या विशेष किसी एक अंश को विषय करने वाला ज्ञान होता है तब वह नयाधीन (नयात्मक) ज्ञान कहलाता है। और जब वह ज्ञान उभय विकल्पात्मक (सामान्यविशेषात्मक) होता है अर्थात् पदार्थ के दोनों अंशों को विषय करता है तब वह प्रमाण रूप ज्ञान कहलाता है।

भावार्थ – मिथ्याज्ञान में स्व पर का व्यवसाय (निश्चय) नहीं होता, अतः मिथ्याज्ञानों को प्रमाण नहीं कहते। केवल सम्यग्ज्ञानियों के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। वे ज्ञान पांच हैं। नय ये श्रुतज्ञान का भेद है। इसलिये वह श्रुतज्ञान में ही गर्भित हो सकता है पर मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान में तो वह गर्भित नहीं हो सकता। मतिज्ञानादि चार ज्ञान स्वार्थ होते हैं और श्रुतज्ञान स्वार्थ तथा परार्थ दोनों प्रकार का होता है। ज्ञानात्मक को स्वार्थ तथा वचनात्मक को परार्थ कहते हैं। नय परार्थश्रुतज्ञान के भेद में गर्भित होता है अर्थात् जो परार्थश्रुत ज्ञान एक देश को विषय करने वाला हुआ तो उसको नय ज्ञान कहते हैं तथा जो वह परार्थश्रुत ज्ञान सर्वदेश को विषय करने वाला हुआ तो उसको प्रमाण ज्ञान कहते हैं। अब इसी को शंका समाधानों द्वारा पीसते हैं।

शंका (६६७ से ६६९ तक)

ननु चास्त्येकविकल्पोऽप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति ।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥ ६६७ ॥

शंका – एक विकल्प भी हो सकता है और अविरुद्ध दो धर्मवाला भी एक विकल्प हो सकता है अर्थात् अविरोधी दो धर्म तो एक साथ रह सकते हैं। उनका तो विकल्प भी हो सकता है। परन्तु एक समय में परस्पर विरुद्ध विधि निषेध रूप दो भावों का विकल्प किस प्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता जैसे सत् नित्य-अनित्य हैं ये तो परस्पर विरोधी हैं। ये दोनों बात एक साथ कैसे बन सकती है ?

शंका चालू

अथ चेदस्ति, विकल्पो क्रमेण, युगपद्वा बलाद्वाच्यः।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमिति दोषः ॥ ६६८ ॥

अर्थ – यदि कहो कि एक साथ विरुद्ध दो भावों का विकल्प हो सकता है तो हम पूछते हैं कि वह क्रम से हो सकता है या एक साथ ऐसा यहाँ आपको बताना होगा ? यदि कहा जाय कि विरोधी दो धर्म क्रम से हो सकते हैं तो वह क्रम से होने वाला तो अस्ति-नास्ति नामा नय ही कहा जायेगा, प्रमाण वह नियम से नहीं कहा जा सकता। यह दोष है।

शंका चालू

युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात्।
दृष्टिविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥ ६६९ ॥

अर्थ – यदि कहा जाय कि वे दोनों धर्म एक साथ हो सकते हैं तो यह बात बनती नहीं है कारण विरोधी धर्म एक साथ दो नहीं रह सकते। दो विरोधी धर्म एक साथ रहें इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध आता है। जैसे प्रकाश और अंधकार दोनों ही विरोधी हैं। वे क्या एक साथ रहते हुये कभी किसी ने देखे हैं ?

शंकाकार का आशय

हम दूसरी पुस्तक में आपको यह बता चुके हैं कि सत् परस्पर दो विरोधी धर्मों वाले चार युगलों से गुँथा हुआ है और उनमें से प्रत्येक धर्म को कहने वाला एक-एक नय है और अविरुद्ध रीति से दोनों धर्म रूप वस्तु को बताने वाला प्रमाण है। यहाँ प्रमाण के स्वरूप का प्रकरण है। प्रमाण का कहना है कि जो नित्य है वही अनित्य है। अब शंकाकार कहता है कि सत् नित्य है यह एक विकल्प तो ठीक या सत् अनित्य है यह एक विकल्प भी ठीक क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं एक जगह तो नहीं रह सकते, हाँ, अलग-अलग रह सकते हैं। दूसरी बात वह कहता है कि जो अविरुद्ध दो धर्म हों वे भी एक जगह रह जाते हैं जैसे पानी मीठा भी है द्रवत्व भी है। पर जो परस्पर विरोधी धर्म हैं वे एक जगह कैसे रहेंगे? जैसे पानी ठंडा है यह एक विकल्प ठीक है। कोई कहता है पानी गरम है यह भी एक विकल्प ठीक है। कोई कहता है पानी मीठा भी है द्रवत्व भी है, यह भी ठीक है। पर कोई यह कहे कि पानी ठंडा भी है गरम भी है यह

कैसे हो सकता है ? ये तो दोनों विरोधी हैं। दोनों में से एक ही रहेगा। कहीं अन्धकार है सो ठीक है, कहीं प्रकाश है सो ठीक है। पर एक ही जगह अंधकार और प्रकाश परस्पर विरोधी कैसे रह सकते हैं ? इस प्रकार सत् नित्य-अनित्य है, एक-अनेक है, तत-अतत् है, भेदाभेद है, ये चारों बातें तो परस्पर विरोधी हैं। ये कैसे बन सकती हैं ? ऐसा शंकाकार पूछता है ?

समाधान (६७० से ६७३ तक)

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति।
सदसदनेकेकषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणां न ॥ ६७० ॥

अर्थ – ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है। कारण कि युक्ति विशेष से विरोधी धर्मों की भी एक साथ वृत्ति रह सकती है। सत्-असत् (अस्ति-नास्ति) एक अनेक, भाव-अभाव (तत्-अतत्), नित्य-अनित्य धर्मों की एक पदार्थ में एक साथ वृत्ति रहती हैं।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम् ।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोऽयं बलाद् द्वयामर्शि ॥ ६७१ ॥

अर्थ – ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ है कि जीवादिक पदार्थो में उपर्युक्त चार युगलों के विचार पूर्वक (परस्पर अनुसंधान पूर्वक) जो ज्ञान है वह प्रमाण ज्ञान है। अथवा जैसे पदार्थ में जो प्रत्यभिज्ञान है वह बलपूर्वक सामान्य विशेष दोनों को ग्रहण करने वाला है। उसी प्रकार यह प्रमाण ज्ञान है। जैसे "यह वही है" इस प्रकार का ज्ञान एक वस्तु की सामान्य विशेष दोनों अवस्थाओं को ठीक एक समय में ग्रहण करता है।

सोऽयं जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः ।
संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेषजं भवेज्ज्ञानम् ॥ ६७२ ॥

अर्थ – यह वही जीव विशेष है जो सामान्यता से सत्-मात्र वस्तुरूप है। इस प्रकार संस्कार के वश से सामान्यविशेषात्मक ज्ञान हो जाता है।

अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्य विशेषयोः समं सम्यक् ।
आदर्श स्थानीयात् तस्य प्रतिबिम्बमात्रतोऽन्यस्य ॥ ६७३ ॥

अर्थ – सामान्य विशेष को एक साथ विषय करने वाला उपयोगात्मक ज्ञान भले प्रकार हो सकता है क्योंकि सामान्य दर्पण के समान है तथा विशेष प्रतिबिम्ब समान है। जिस प्रकार दर्पण और प्रतिबिम्ब इकट्ठे रहते हैं उसी प्रकार सामान्य विशेष मैत्रीपूर्वक इकट्ठे रहते हैं और जिस प्रकार दर्पण और दर्पण में रहने वाला प्रतिबिम्ब एक साथ जाना जाता है उसी प्रकार सामान्य विशेष एक साथ जाना जाता है।

समाधान का सार

समाधान में शिष्य को यह समझाते हैं कि भाई वस्तु स्वभाव में किसी का वश नहीं (१) सत् जैसे स्वभाव से स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणमनशील भी है। स्वभाव के कारण उसमें नित्य धर्म है और परिणमन स्वभाव के कारण उसमें अनित्य धर्म है। मोटी दृष्टि से देखने पर विरोध दीखता है पर वास्तव में विरोध नहीं है। पदार्थ उभयात्मक है (२) उसी प्रकार प्रदेशों की अपेक्षा अखण्ड निरंशदेश है किन्तु गुण पर्यायादि लक्षण भेद से भिन्न-भिन्न है अतः अनेक भी है (३) उसी प्रकार स्वभाव से वही का वही रहता है और परिणाम स्वभाव से दूसरा ही दीखता है इस प्रकार तत्-अतत् दोनों विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं। (४) सामान्य दृष्टि से वह प्रत्येक द्रव्य सत् रूप दीखता है और विशेष दृष्टि से वही जीवादि रूप दीखता है। यद्यपि चारों युगल बोलने में विरोधी से हैं पर भाई तू ही अपने अनुभव से देख ! तुझे तू सत् रूप भी अनुभव में आयेगा और जीव रूप भी, वस्तु रूप भी अनुभव में आयेगा, परिणाम रूप भी वही का वही भी अनुभव में आयेगा दूसरा भी। अखण्ड एक रूप भी अनुभव में आयेगा, गुण भेद रूप भी। ये जो परस्पर उभयात्मक वस्तु है यह वस्तु ही कुछ ऐसी है और ऐसा ही प्रमाण से उसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है।

शंका

ननु चैवं नय युग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात् ।
तदिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥ ६७४ ॥

शंका – उपर्युक्त उत्तर सुनकर शिष्य कहता है कि इस कथन से तो यह अर्थ निकला कि दोनों ही नय जब भिन्न-भिन्न प्रयुक्त किये जाते हैं तब वे नय ही हैं जैसे सत् नित्य है या सत् अनित्य है प्रमाण नहीं। और वे ही दोनों नय जब मिलाकर एक साथ प्रयोग में लाये जाते हैं जैसे सत् नित्यानित्य है तब वह केवल प्रमाण कहलाता है नय नहीं। क्या यह ठीक है।

भावार्थ – जिस प्रकार एक-एक पैसा भिन्न-भिन्न होता है और उनको मिलाकर एक रुपया हो जाता है। उसी प्रकार द्रव्य के प्रत्येक अवयव को एक-एक नय जानता है। यदि उन सब अवयवों के ज्ञान को मिलाकर इकट्ठा कर दिया जाय तो क्या प्रमाणज्ञान हो जायेगा ? ऐसा शिष्य पूछता है। उसके उत्तर में उसे समझाते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि नय प्रत्येक अंग को स्वतन्त्र विरोध रूप से जानता है जैसे स्वभाव को जानने वाली नय द्रव्य को नित्य ही ज्ञान कराती है। परिणाम को जानने वाली नय द्रव्य को अनित्य ही ज्ञान कराती है। प्रदेशों की जानने वाली नय एक-एक प्रदेश की भिन्नता का ज्ञान कराती है। इस प्रकार अनन्त धर्मों का ज्ञान अनन्त नय कराते हैं पर वे सब मिलकर भी प्रमाण ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाण ज्ञान की दृष्टि में अवयव भेद ही नहीं है। वह तो ज्ञान ही एक भिन्न जाति का है। वह तो सम्पूर्ण वस्तु को सब धर्मों की मैत्रीपूर्वक एकदम इकट्ठा जान लेता है। नयज्ञान चीज ही और है। प्रमाण ज्ञान चीज ही और है। दोनों के नाम, लक्षण, फल इत्यादि सब भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार अब उसे समझाते हैं :-

समाधान ६७५ से ६८२ तक

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम् ।
लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात् ॥ ६७५ ॥

अर्थ – ऐसा नहीं है क्योंकि नयों के मिलने से यह प्रमाण ज्ञान भिन्न जाति का ज्ञान है। लक्षण[१], विषय[२], उदाहरण[३], हेतु[४], फल[५], नाम[६], भेद[७] आदिक से प्रमाण में नयों से भेद की भिन्नता है। (नयों के लक्षण आदि पहले कह ही आये हैं। प्रमाण के अब नीचे क्रमशः दिखलाते हैं।)

प्रमाण का (१) लक्षण (२) विषय (३) उदाहरण

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति ।
विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम् ॥ ६७६ ॥

अर्थ – ऊपर कहे हुवों में से प्रमाण का लक्षण 'सब अंशों को ग्रहण करना' है। प्रमाण का विषय समस्त वस्तु है। प्रमाण का उदाहरण भेद रहित देशादियुक्त पृथ्वी है।

प्रमाण का (४) हेतु

हेतुस्तत्त्वबुभुत्सा संदिग्धस्याथवा च बालस्य ।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवदवेतुकामस्य ॥ ६७७ ॥

अर्थ – परस्पर विरोधी अनेक धर्मविशिष्ट द्रव्य को हाथ में रखे हुये आमले के समान भले प्रकार से जानने की इच्छा रखने वाले संदिग्ध अथवा अज्ञात पुरुष के जानने की इच्छा का होना – प्रमाण की प्रवृत्ति में कारण है।

प्रमाण का (५) फल (६) नाम (७) भेद

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तुजातस्य ।
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ॥ ६७८ ॥

अर्थ – सम्पूर्ण वस्तु मात्र का प्रत्यक्ष के समान अनुभव होना ही प्रमाण का फल है। प्रमाण का नाम प्रमाण है। प्रत्यक्ष और परोक्ष उसके दो भेद हैं।

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात् ।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥ ६७९ ॥

अर्थ – नियम से नय भी ज्ञान विशेष है। प्रमाण भी ज्ञान विशेष है। दोनों में विषय विशेष की अपेक्षा से ही भेद है। जानने योग्य वस्तु में भेद नहीं है। (अर्थात् जिस वस्तु को नय जानता है उसी वस्तु को प्रमाण जानता है। उस वस्तु के एक अंश को नय जानता है, सम्पूर्ण वस्तु को प्रमाण जानता है यह अन्तर है)।

स यथा विषयविशेषो, द्रव्यैकांशो नयस्य, योऽन्यतमः ।
सोऽप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजालस्य ॥ ६८० ॥

अर्थ – प्रमाण और नय में विषय भेद इस प्रकार हैः – द्रव्य के अनन्त अंशों में से कोई सा विवक्षित अंश नय का विषय है। वह अंश, उससे दूसरा अंश, उससे भी दूसरा अंश, उससे भी दूसरा अंश, अर्थात् सब अंश अथवा अनन्त गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाण का विषय है।

यदनेकनयसमूहे संग्रहकरणादनेकधर्मत्वम् ।
तत्सदपि न सदिव यतस्तदनेकत्वं विरुद्धधर्ममयम् ॥ ६८१ ॥

भूमिका – शंकाकार ने श्लोक ६७४ में कहा था कि जब वस्तु के एक-एक अंश को विषय करने वाला नय है तो अनेक नयों का समूह होने पर उससे ही अनेकधर्मता प्रमाण में आ जायेगी अर्थात् प्रमाण स्वतन्त्र कोई ज्ञान विशेष न माना जाय। अनेक नयों के सामूहिक ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाय तो क्या हानि है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि :-

अर्थ – जो अनेक नयों के समूह में संग्रह करने से अनेकधर्मपना प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण सत् होता हुआ भी अखण्ड सत् नहीं है क्योंकि वह अनेकता विरुद्ध धर्ममय होगी–[कारण नय सभी एक-दूसरे से प्रतिपक्ष धर्मों को ग्रहण करते हैं किन्तु सत् तो सब धर्मों का मैत्री रूप से अखण्ड पिण्ड है। प्रमाण ही उन अनेक धर्मों को अविरुद्ध रूप से ग्रहण करता है। अतः वह भिन्न जाति का ज्ञान ही है॥ सोई कहते हैं–]

यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया ।
प्रत्युतमैत्रीभावादिति नयभेदाददः प्रभिन्नं स्यात् ॥ ६८२ ॥

अर्थ – किन्तु प्रमाण जो अनेक अंशों का ग्रहण करता है सो वह विरुद्ध रीति से नहीं करता है किन्तु परस्पर मैत्रीभाव पूर्वक ही उन धर्मों को ग्रहण करता है। इसलिये नय भेद से (नय ज्ञान से) यह प्रमाण भेद (प्रमाण ज्ञान) भिन्न ही है।

प्रमाण ज्ञान और नय ज्ञान में अन्तर

प्रमाण ज्ञान और नय ज्ञान में इस प्रकार अन्तर है (१) प्रमाण वस्तु के सब धर्मो का ग्राहक है – नय वस्तु के एक धर्म का ग्राहक है। (२) प्रमाण का विषय समस्त वस्तु है – नय का विषय वस्तु का एक अंश है (३) प्रमाण का उदाहरण देशादियुक्त अखण्ड पृथ्वी है – नय का दृष्टान्त उसका एक देश है। (४) प्रमाण का हेतु सम्पूर्ण वस्तु के जानने की इच्छा है – नय का हेतु एक अंश के जानने की इच्छा है। (५) प्रमाण का फल समस्त वस्तु बोध है – नय का फल वस्तु का एक देश बोध है। (६) प्रमाण नय शब्द भी जुदा-जुदा हैं। (७) प्रमाण के प्रत्यक्ष परोक्ष भेद-प्रभेद हैं – नय के द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक भेद-प्रभेद हैं। (८) प्रमाण सब धर्मो को परस्पर मैत्री भाव से – अविरुद्धपने से युगपत ग्रहण करता है। नय सब धर्मों को परस्पर विरुद्धपने से क्रमशः ग्रहण करता है। इसलिये प्रमाण और नय दोनों ज्ञान जुदा-जुदा हैं। उनमें से किसी एक का लोप करना सर्व लोप के प्रसंग का हेतु है। नय के अभाव में प्रमाण व्यवस्था नहीं बन सकती और प्रमाण के अभाव में नय व्यवस्था भी नहीं बन सकती। प्रत्येक नय एक-एक धर्म को विरुद्ध रीति से ग्रहण करता है परन्तु प्रमाण वस्तु के सर्वांशों को अविरुद्धता से ग्रहण करता है। इसका कारण यह है कि प्रमाण सब अंशों को विषय करने वाला एकाकी ज्ञान है। भिन्न-भिन्न ज्ञान ही प्रत्येक अंश को विवक्षता से ग्रहण कर सकते हैं। जैसे एक ज्ञान रूप को ही जानता है। दूसरा रस को ही जानता है। तीसरा गंध को ही जानता है। चौथा स्पर्श को ही जानता है। ये चारों ही ज्ञान परस्पर विरुद्ध है क्योंकि विरुद्ध विषयों को विषय करते हैं परन्तु रूप, रस, गंध, स्पर्श, चारों का समुदायात्मक जो एक ज्ञान होगा वह अविरुद्ध ही होगा। यही दृष्टान्त प्रमाण नय में सुघटित कर लेना

चाहिए। तथा पदार्थ का नित्यांश उसके अनित्यांश का विरोधी है, उसी प्रकार अनित्यांश उसके नित्यांश का विरोधी है, परन्तु दोनों मिलकर ही पदार्थ स्वरूप के साधक हैं। इसका कारण यही है कि प्रत्येक पक्ष का स्वतन्त्र ज्ञान द्वितीय पक्ष का विरोधी है परन्तु उभय पक्ष का समुदायात्मक ज्ञान परस्पर विरुद्ध दीखता हुआ भी अविरुद्ध है। अतः नय ज्ञान और प्रमाण ज्ञान भिन्न-भिन्न जाति के ज्ञान है।

अगली भूमिका - वस्तु सामान्य स्वरूप से है यह एक अस्ति भंग है। वस्तु विशेष रूप से नहीं है यह एक नास्ति भंग है और जब दोनों स्वरूप को वक्ता को क्रम से कहना होता है तो तीसरा भंग 'अस्ति-नास्ति' प्रयोग करते हैं। ध्यान रखिये यह अस्तिनास्ति शब्द तो एक साथ बोला जाता है पर सूचक दोनों स्वभावों का क्रमशः है और जब वक्ता को दोनों धर्मों को युगपत कहना होता है तो दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते अतः अवक्तव्य शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। यह चौथा नय है। ये चारों भंग वस्तु के एक-एक अंश को कहते हैं। सारी वस्तु को नहीं कह सकते। प्रमाण सारी वस्तु को जोड़ रूप से कहता है जैसे जो स्वरूप से अस्ति है वही पररूप से नास्ति है। प्रमाण दोनों विरोधी धर्मों को युगपत् ग्रहण भी करता है, कहता भी है और एक वस्तु में अविरोध पूर्वक स्थापना भी करता है। इस प्रकार इन चारों भंगों में और प्रमाण में अन्तर है। शंकाकार इस अन्तर को न समझता हुआ गुरु से इनका अन्तर जानना चाहता है। वह पूछता है कि यह नियम है कि नय तो वस्तु के एक धर्म को ही कहता है और प्रमाण दोनों धर्मों को कहता है। फिर यह अस्ति-नास्ति भंग नय कहाँ रहा ? यह तो प्रमाण होना चाहिये। यदि यह नय है तो इसमें एक अंगता सिद्ध करें। यदि यह दोनों धर्मों को कहने वाला है तो फिर यही प्रमाण हो गया। प्रमाण इससे भिन्न क्या वस्तु है अर्थात् फिर इसमें और प्रमाण में क्या अन्तर है। यदि यह दोनों स्वरूपों को क्रमशः कहता है तो क्रमशः तो पहला अस्ति भंग और दूसरा नास्ति भंग कहते ही हैं। उनके अतिरिक्त इसमें और क्या विशेषता आई तथा यदि वह अस्ति-नास्ति भंग दोनों धर्मों को क्रमशः कहने के कारण प्रमाण ज्ञान नहीं है तो चौथा अवक्तव्य भंग तो दोनों धर्मों को इकट्ठा कहता है वह प्रमाण हो गया। उसमें और प्रमाण में क्या अन्तर रहा। इस प्रकार शंकाकार अगली शंकाओं में चारों नयों के स्वरूप को, प्रमाण के स्वरूप को तथा उनके अन्तर को जानना चाहता है।

शंका ६८३ से ६८६ तक

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति।
एको भंगः, कथमयमेकांशग्राहको नयो नान्यत् ? ॥ ६८३ ॥

शंका - जहाँ दो नय एक साथ बोले जाते हैं जैसे 'अस्ति-नास्ति' ये अस्ति-नास्ति शब्द दोनों नय के विषय को एक साथ सूचित करता है। फिर यह एक भंग एक अंश का ग्रहण करने वाला नय कैसे कहा जा सकता है (क्योंकि इसमें अस्ति-नास्ति ऐसे दो अंश आ चुके हैं) ? इसे प्रमाण क्यों नहीं कहा जाता ?

शंका चालू

अपि चास्ति न चास्ति सममेकोक्त्या प्रमाणनाशः स्यात् ।
अथ च क्रमेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय ॥ ६८४ ॥

अर्थ – दूसरी बात यह भी है कि 'अस्ति और नास्ति' यह एक साथ कहे जाते हैं तो फिर प्रमाण का नाश ही हो जायेगा (कारण अस्ति-नास्ति को एक साथ कहने वाला एक भंग ही है, उसी से कार्य चल जाता है, फिर प्रमाण का लोप ही समझना चाहिये अथवा यह कहा जाये कि अस्ति-नास्ति भंग तो स्वरूप को क्रम से कहता है इसलिये यह नय है प्रमाण नहीं तो यह कहना अपने नाश के लिये स्वयं अपना शत्रु है (कारण क्रम से तो आप पहले एक अस्ति भंग जुदा कह आये हैं और एक नास्ति भंग भी जुदा कह आये हैं। यह अस्ति-नास्ति क्रम से कहने पर तो कोई नई बात नहीं बनती) या उन दोनों नयों को मान लो या इस एक को मान लो ।

शंका चालू

अथवावक्तव्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भंगः ।
पूर्वापरबाधायाः कुतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत् ॥ ६८५ ॥

अर्थ – अथवा यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते इसलिये अवक्तव्यमय भंग है तो ऐसा मानने में पूर्वापर बाधा है। फिर किस प्रमाण से प्रमाण की सिद्धि हो सकती है ? अर्थात् प्रमाण तो दोनों धर्मों

को इकट्ठा ही मानता है और इकट्ठा ही कहता है और आप कहते हैं कि दोनों धर्म अवक्तव्य हैं इसलिये अवक्तव्यमय नय बना है तो जब प्रमाण में दोनों धर्मों को एक साथ कह ही नहीं सकते तो प्रमाण का अस्तित्व ही नहीं रहता है। फिर उसको सिद्ध ही कैसे करोगे ?

शंका

इदमपि वस्तुमयुक्तं वक्ता नय एव न प्रमाणमिह ।
मूलविनाशाय यतोऽवक्तरि किल चेदवाच्यता दोषः ॥ ६८६ ॥

अर्थ – यदि उसके उत्तर में यह कहा जाय कि बोलने वाला नय ही होता है प्रमाण नहीं तो ऐसा कथन भी मूल का विघात करने वाला है क्योंकि प्रमाण को अवक्तव्य (नहीं बोलने वाला) मान लेने पर अवाच्यता का दोष आता है (जब प्रमाण अवक्तव्य है तो उसके अंश नय भी सब अवक्तव्य हुये फिर तो कुछ कथन ही न हो सकेगा) ?

समाधान ६८७ से ६९५ तक

नैवं यतः प्रमाणं भंगाध्वंसादभंगबोधवपु ।
भङ्गात्मको नय यावानिह तदशंधर्मत्वात् ॥ ६८७ ॥

अर्थ – यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाण भंगों के नाश से अभंगज्ञानमय है (प्रमाण ज्ञान भंगमय नहीं होता है। अभंग ज्ञानमय होता है) हाँ जितना भी नय है वे अवश्य भंगात्मक ही होते हैं क्योंकि वे उस प्रमाण के अंश हैं।

स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्च वानयोर्भंगः ।
अपि वाऽवक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव ॥ ६८८ ॥

अर्थ – खुलासा इस प्रकार है - एक 'अस्ति' भंग, और एक नास्ति भंग। एक इन दोनों के स्वरूप को क्रम से बताने वाला किन्तु उच्चारण एक साथ किया गया संयोग रूप 'अस्तिनास्ति', भंग, एक दोनों धर्मो को युगपत कहने वाला 'अवक्तव्य' भंग-भंग ही हैं। ये सभी भंग नय रूप हैं क्योंकि इन सब भंगों में एक-एक विकल्प का उल्लङ्घन नहीं है।

तत्रास्ति च नास्ति समं भङ्गस्यास्यैकधर्मता नियमात् ।
न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधिरूढत्वम् ॥ ६८९ ॥

अर्थ – उन भंगों में 'अस्ति-नास्ति' एक साथ बोले हुये इस एक भंग के नियम से एक धर्मता है। वह प्रमाण के समान नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रमाण एक ही समय में दो विरुद्ध धर्मों को मैत्रीभाव से ग्रहण करता है (उस प्रकार यह भंग विरुद्ध दो धर्मों का मैत्रीभाव से ग्रहण नहीं करता है किन्तु पहले दूसरे भंग की मिली हुई तीसरी ही अवस्था का प्रतिपादन क्रम से करता है। इसलिए वह ज्ञान भी अंशरूप ही है प्रमाण रूप नहीं है।

अयमर्थश्चार्थवशादथ च विवक्षावशात्तदंशत्वम् ।
युगपदिदं कथ्यमानं क्रमाज्ज्ञेयं तथापि तत्स यथा ॥ ६९० ॥

अर्थ – ऊपर कहे हुए कथन का यह आशय है कि प्रयोजनवश अथवा विवक्षावश युगपत बोला हुआ भी यह भंग (स्वरूप का ग्राहक) क्रम से ही जानना चाहिए वह इस प्रकार ('अस्ति-नास्ति' यह शब्द एक साथ बोला जाता है पर स्वरूप इसमें क्रम से ही कहा गया है वही अब दिखलाते हैं) -

अस्ति स्वरूपसिद्धेर्नास्ति च पररूपसिद्ध्यभावाच्च ।
अपरस्योभयरूपादितस्ततः कथितमस्ति नास्तीति ॥ ६९१ ॥

अर्थ – वस्तु निजरूप के सद्‌भाव की अपेक्षा से 'अस्ति' है यह पहला भंग है। वस्तु पररूप के सद्‌भाव के अभाव की अपेक्षा से 'नास्ति' है यह दूसरा भंग है। तीसरे भंग की अपेक्षा से क्रम से वस्तु स्वरूप से है और पर रूप से नहीं है अर्थात् वस्तु क्रम से दोनों रूप से है। इसलिये यह शब्द क्रम से 'अस्ति-नास्ति' रूप कहा गया है।

भावार्थ – अर्थात् (१) स्यात् अस्ति (२) स्यात् नास्ति (३) स्यात् अस्ति-नास्ति ये तीन भंग स्वरूप, पररूप, क्रम रूप. पररूप की अपेक्षा से जानने चाहिये। प्रमाण का स्वरूप इन भंगों से जुदा ही है।

उक्तं प्रमाणदर्शनमस्ति स योऽयं हि नास्तिमानार्थः ।
भवतीदमुदाहरणं न कथञ्चित्तद्धि प्रमाणतोऽन्यत्र ॥ ६९२ ॥

अर्थ – प्रमाण का दृष्टान्त इस प्रकार कहा गया है कि 'जो पदार्थ अस्ति रूप है वही पदार्थ यह नास्ति रूप है' देखिये तीसरे भंग में स्वरूप से अस्ति और पर रूप से नास्ति क्रम से कहा गया था यहाँ प्रमाण में दोनों धर्मों का प्रतिपादन समकाल में किया है।) ''जो अस्ति रूप है वही नास्ति रूप है'' यह उदाहरण प्रमाण को छोड़कर अन्यत्र किसी नय में किसी प्रकार भी घटित नहीं होता है अर्थात् नयों द्वारा ऐसा विवेचन नहीं किया जा सकता है। अब नयों से युगपत ऐसा विवेचन क्यों नहीं किया जा सकता है उसी को स्पष्ट करते हैं –

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः ।
अपि तुर्यो नयभंगस्तत्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ॥ ६९३ ॥

अर्थ – इसका खुलासा (कारण) यह है कि नय एक साथ दो विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन करने में असमर्थ है। इसलिये एक साथ दो धर्मो के कहने की विवक्षा में 'अवक्तव्य' नामक चौथा भंग होता है (यह भंग भी एक अशांत्मक है। जो नहीं बोला जा सके उसे अवक्तव्य कहते हैं। एक समय में एक ही धर्म का विवेचन हो सकता है, दो का नहीं)।

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य ।
क्रमवर्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात् ॥ ६९४ ॥

अर्थ – किन्तु प्रमाण एक साथ विरुद्ध दो धर्मों का कथन करने में असमर्थ नहीं है क्योंकि क्रमवर्ती केवल नय है। नय के समान प्रमाण क्रमवर्ती नहीं है (अर्थात् प्रमाण चतुर्थ नय के समान अवक्तव्य भी नहीं है और तृतीय नय के समान वह क्रम से भी दो धर्मों का प्रतिपादन नहीं करता है किन्तु दोनों धर्मो का समकाल ही प्रतिपादन करता है। इसलिये नय से प्रमाण भिन्न ही है)।

उपसंहार

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत् ।
सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥ ६९५ ॥

अर्थ – तथा जो प्रमाण है वह सत्-असत् (अस्ति-नास्ति), एक-अनेक, नित्य-अनित्य, तत्-अतत् (भाव-अभाव), वस्तु के सम्पूर्ण धर्मो को एक साथ कहने में समर्थ हैं।

शंका समाधान का सार

शंकाकार ने श्लोक ६८३ से ६८६ में जो शंका की थी उसके उत्तर में ग्रन्थकार ने अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य चारों नयों का विषय समझाया तथा उनसे भिन्न प्रमाण का विषय समझाया। सार यह है कि नय वस्तु के धर्मो को क्रम से विरुद्ध रूप से ग्रहण करने के कारण एक-एक भंग ही है और प्रमाण उन सब धर्मों को अविरुद्ध रूप से एक समय में ग्रहण करने वाला भिन्न जाति का ज्ञान है। यह दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। अस्ति, नास्ति आदि भंगों से वस्तु के एक-एक अंश का ज्ञान होता है। प्रमाण से सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान होता है।

नोट – यहाँ तक प्रमाण का स्वरूप कह कर अब उसके भेदों पर विचार करते हैं :-

आठवाँ अवान्तर अधिकार

प्रमाण के भेदों का निरूपण (६९६ से ७१९ तक)

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ॥ ६९६ ॥

अर्थ – प्रमाण रूप ज्ञान के दो भेद हैं (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष। जो ज्ञान किसी की सहायता* की अपेक्षा नहीं रखता वह प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान दूसरों की सहायता की अपेक्षा रखता है वह परोक्ष है।

---

* सहाय का अर्थ निमित्त मात्र है। सहाय-असर-प्रभाव, बलाधान, प्रेरक कर्त्ता आदि शब्दों का अर्थ जैनधर्म में निमित्तमात्र होता है – देखिये इष्टोपदेश श्लोक ३५ तथा तत्वार्थसार तीसरा अजीव अधिकार श्लोक नम्बर ४३।

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम्।
क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च ॥ ६९७ ॥

अर्थ – प्रत्यक्ष दो प्रकार है (१) सकल प्रत्यक्ष (२) दूसरा विकल प्रत्यक्ष। जो अविनाशी (केवल) ज्ञान है वह सकल प्रत्यक्ष है। दूसरा विकल प्रत्यक्ष अर्थात् देश प्रत्यक्ष कर्मों के क्षयोपशम से होता है किन्तु कर्मों के क्षय से नहीं होता तथा विनाशीक भी है (अस्ति-नास्ति से निरूपण करने की ग्रन्थकार की प्रकृति है तथा अध्यात्म ग्रंथ है अतः अक्षयं क्षयि का अप्रतिपाती तथा प्रतिपाती अर्थ नहीं है तथा उसका प्रकरण भी नहीं है)।

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात् ।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदक्षातीतं सुखं तदक्षयिकम् ॥ ६९८ ॥

अर्थ – इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो ज्ञान समस्त (द्रव्य तथा भाव) कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है, साक्षात् अर्थात् आत्ममात्र सापेक्ष है, अतीन्द्रिय सुख रूप है, अविनाशी है, वह क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष है।

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनः पर्ययं च यज्ज्ञानम् ।
देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ॥ ६९९ ॥

अर्थ – जो अवधि और मनःपर्यय ज्ञान हैं वे देश प्रत्यक्ष हैं। देश प्रत्यक्ष उन्हें क्यों कहते हैं ? देश तो इसलिये कहते हैं कि ये नोइन्द्रिय रूप मन से उत्पन्न होते हैं और प्रत्यक्ष इसलिये कहते हैं कि ये दूसरी इन्द्रियों की सहायता से निरपेक्ष हैं। (मन का अवलम्बन बारहवें गुणस्थान तक हर समय रहता ही है अन्यथा केवली हो जाय - यही तो छद्मस्थ और केवली में अन्तर है)।

आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात् ।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम् ॥ ७०० ॥

अर्थ – मति ज्ञान विषय और विषयी के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। इसलिये वह नियम से परोक्ष है और मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है अतः वह भी परोक्ष है।

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम् ।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिव वाच्यम् ॥ ७०१ ॥

अर्थ – अल्पज्ञ अवस्था में जितने भी ज्ञान हैं - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय चारों ही आवरण और इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं इसलिये इन चारों ही ज्ञानों को वास्तव में परोक्ष के समान ही कहना चाहिये (अर्थात् मति, श्रुत तो परोक्ष कहे ही गये हैं परन्तु अवधि, मनःपर्यय भी इन्द्रिय और आवरण की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये वे भी परोक्ष तुल्य ही हैं - सहाय अर्थात् निमित्तमात्र) ।

अवधिमनःपर्ययचिद्द्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात् ।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात् ॥ ७०२ ॥

अर्थ – अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये दो ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष कहे गये हैं परन्तु इसमें यह प्रत्यक्षता केवल उपचार से और विवक्षावश ही घटती है। वास्तव में ये प्रत्यक्ष नहीं हैं। (अध्यात्मदृष्टि में निश्चय से ये परोक्ष कहे जाते हैं। श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने प्रत्यक्ष तो एक स्वभाव ज्ञान को ही कहा है। सिद्धान्त में व्यवहार से एक देश आत्मप्रत्यक्ष भी कहे जाते हैं। जैनधर्म जो विवक्षाधीन है। व्यवहार अपेक्षाओं को सिद्धान्त कहते हैं। निश्चय अपेक्षाओं को अध्यात्म कहते हैं।

भावार्थ – अवधि और मनःपर्यय ज्ञान को जो एक देश प्रत्यक्ष कहा है वह केवल उपचार से अथवा विवक्षावश कहा है कारण कि मतिश्रुत की तरह ये दोनों इन्द्रियसापेक्ष नहीं हैं परन्तु अतीन्द्रिय है तथा अपने-अपने विषय को एक देश से जितना जानते हैं उतना सकल प्रत्यक्ष की तरह ही जानते हैं इस विवक्षावश से उनको देशप्रत्यक्ष कहा है परन्तु वास्तव में वे क्षायोपशमिक ज्ञान ही हैं इसलिये प्रत्यक्षता का श्रीकुन्दकुन्दकृत असहाय लक्षण न घटने से उन दोनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। उपचार से इनको एकदेश प्रत्यक्ष क्यों कहा है यह अब अगले तीन श्लोकों में स्पष्ट करते हैं -

उपचार का कारण ७०३ से ७०५ तक

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात् ।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम् ॥ ७०३ ॥

अर्थ – उपचार का कारण भी यह है कि जिस प्रकार मतिज्ञान नियम से इन्द्रियजन्य ज्ञान है और उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान भी इन्द्रियजन्य है। उस प्रकार अवधि और मनःपर्यय ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। तथा –

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम् ।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चान्तिमं द्वैतम् ॥ ७०४ ॥

अर्थ – अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के पराधीन जिस प्रकार आदि के दो ज्ञान होते हैं उस प्रकार अन्त के दो नहीं होते। तथा –

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात् ।
केवलमेव मनःसादवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥ ७०५ ॥

अर्थ – अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान दो ज्ञान केवल मन की सहायता से दूरवर्ती पदार्थों को कौतुक के समान सकल प्रत्यक्षवत् जान लेते हैं। इन तीनों कारणों से इन दोनों ज्ञानों को उपचार से एक देश प्रत्यक्ष कहा है। वास्तव में ये परोक्ष हैं।

भावार्थ – ये दोनों ज्ञान (अवधि मनःपर्यय) युगपत्, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से दूरवर्ती पदार्थों को भी लीलामात्र में (क्षणमात्र में उपयोग लगाते ही) जान लेते हैं इसलिये इनको देशप्रत्यक्ष कहते हैं। मन सम्बन्धी विशेष चर्चा आगे श्लोक ७११ से ७१८ में है वहाँ से मन का स्वरूप जानना। अब मतिश्रुत की कुछ विशेषता बतलाते हैं।

अपि किञ्चाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत् ।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥ ७०६ ॥

अर्थ – विशेष बात यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये आदि के दो ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय प्रत्यक्ष ज्ञान के समान प्रत्यक्ष हो जाते हैं और समय में नहीं (केवल स्वात्मानुभव के समय जो ज्ञान होता है वह यद्यपि मतिश्रुतज्ञान है तो भी वह वैसा ही प्रत्यक्ष है जैसा कि आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष होता है)।

भावार्थ – इन मति और श्रुतज्ञानों में भी इतनी विशेषता है कि जिस समय इन द्वारा स्वात्मानुभूति होती है उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रियस्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं इसलिये ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्ष रूप हैं पर परोक्ष नहीं।

किन्तु

तदिह द्वैतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे ।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात् ॥ ७०७ ॥

अर्थ – यह ही दोनों मतिश्रुत ज्ञान स्पर्शादि इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में तथा आकाश आदि के जानते समय नियम से परोक्ष है (परन्तु स्वात्मानुभूति के समयवत्) प्रत्यक्ष नहीं हैं।

शंका

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृतः समुद्देशः ।
अपि तल्लक्षणयोगात् परोक्षमिह सम्भवत्येतत् ॥ ७०८ ॥

शंका – (यदि स्वात्मानुभूति के समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं तो फिर) तत्त्वार्थ सूत्र में "आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं" ऐसा निर्देश क्यों किया है ? दूसरे इनमें परोक्ष का लक्षण "परसहाय सापेक्ष" घटित हो जाता है। इसलिये भी ये ज्ञान परोक्ष ही प्रतीत होते हैं।

भावार्थ – आगम प्रमाण से भी दोनों ज्ञान परोक्ष हैं तथा इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने के कारण भी मतिश्रुत परोक्ष हैं फिर ग्रन्थकार स्वात्मानुभूति काल में निरपेक्ष ज्ञान के समान उन्हें प्रत्यक्ष कैसे बतलाते हैं ?

समाधान ७०९ से ७११ तक

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविसंवादात् ।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥ ७०९ ॥

अर्थ – ठीक है परन्तु जहाँ कोई विसंवाद नहीं होता है वहाँ वस्तु का विचार अतिशय रहित होता है। इसलिये ये दोनों ज्ञान साधारण रूप से इस सूत्र में कही हुई प्रतिज्ञानुसार परोक्ष हैं।

इह सम्यग्दृष्टे किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः ।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यया ॥ ७१० ॥

अर्थ – परन्तु सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व कर्मोदय के नाश होने से कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रगट हो जाती है कि जिस शक्ति के द्वारा नियम से स्वात्मप्रत्यक्ष होता है।

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेऽस्मिन् ।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च नोपयोगि मतम् ॥ ७११ ॥

अर्थ – इसका खुलासा (कारण) इस प्रकार है कि इस शुद्ध स्वात्मानुभूति के समय में स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ उपयोगात्मक नहीं मानी गई हैं अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूति के समय इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता किन्तु -

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा ।
द्रव्यमनो भावमनो नोइन्द्रियनाम किल स्वार्थात् ॥ ७१२ ॥

अर्थ – केवल मन ही उस समय उपयुक्त होता है। वह मन दो प्रकार हैं (१) द्रव्यमन (२) भावमन। मन का ही उसके अर्थानुसार दूसरा नाम नोइन्द्रिय है।

द्रव्यमनो हृत्कमले घनांगुलासंख्यभागमात्रं यत् ।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥ ७१३ ॥

अर्थ – द्रव्य मन हृदय कमल में होता है। वह घनांगुल के असंख्यात् मात्र भाग प्रमाण होता है। यद्यपि वह अचेतन है - जड़ है तथापि भाव मन जिस समय पदार्थों को विषय करता है उस समय द्रव्य मन उसकी सहायता करता है (सहायता का अर्थ निमित्त मात्र समझना)।

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा ।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयात् क्रमाच्च स्यात् ॥ ७१४ ॥

अर्थ – भावमन आत्मा का ज्ञानात्मक परिणाम विशेष है। वह अपने प्रतिपक्षी-आवरण कर्मों के क्षय होने से लब्ध और उपयोग सहित क्रम से होता है।

स्पर्शनरसघ्राणं चक्षुश्रोत्रं च पञ्चकं यावत् ।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्तामूर्तस्य वेदकं च मनः ॥ ७१५ ॥

अर्थ – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये जितनी भी पाँचों इन्द्रियाँ है सभी एक मूर्त पदार्थ को ग्रहण करने वाली हैं परन्तु मन मूर्त-अमूर्त दोनों को जानने वाला है।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः ।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥ ७१६ ॥

अर्थ – इसलिये यह बात निर्दोष रीति से सिद्ध हो चुकी कि स्वात्मा के ग्रहण करने में नियम से मन ही उपयोगी है किन्तु इतना विशेष है कि वह मन विशेष अवस्था में अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूति के समय में स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है।

भावार्थ – पहले कहा गया है कि स्वात्मानुभूति यद्यपि मतिज्ञान स्वरूप है अथवा तत्पूर्वक श्रुतज्ञान स्वरूप भी है तथापि वह निरपेक्ष ज्ञान के समान प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है। इसी बात को यहाँ पर स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि मतिश्रुत परोक्ष होते हैं और वे इन्द्रिय और मन से होते हैं, मन अमूर्त का भी जानने वाला है। जिस समय वह केवल स्वात्मा का ही ग्रहण कर रहा है उस समय वह मन रूप ज्ञान भी अमूर्त ही है। इसलिये वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रियाँ मूर्त पदार्थ का ही ग्रहण करती हैं इसलिये स्वात्म प्रत्यक्ष में उनका उपयोग ही नहीं है। इसी को पुनः दो पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं -

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात् ।
स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥ ७१७ ॥

अर्थ – यह बात असिद्ध भी नहीं है और सूत्र द्वारा भी यह बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान और उस मतिपूर्वक श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होते हैं।

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्त्तम् ।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥ ७१८ ॥

अर्थ – भाव यह है कि भाव मन जब विशेष ज्ञान विशिष्ट (अमूर्त्त अपनी आत्मा को जानने वाला) होता है तब वह स्वयं अमूर्त्त स्वरूप हो जाता है। उस अमूर्त्त मन रूप ज्ञान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। इसलिये यह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय क्यों न होगा ? अर्थात् केवल स्वात्मा को जानने वाला जो मानसिक ज्ञान है वह अवश्य अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

अगली भूमिका – इस मतिश्रुतज्ञानात्मक भाव मन को स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्ष मानने में आया है और इसी के कारण केवल ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। अवधि, मनःपर्यय, ज्ञान, केवलज्ञान उत्पत्ति में कारण नहीं है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतु मतिश्रुतज्ञाने ।
प्रान्त्यद्वयं बिना स्यान्मोक्षो न स्याद् ऋते मतिद्वैतम् ॥ ७१९ ॥

अर्थ – तथा आत्मा की भले प्रकार सिद्धि के लिये मतिश्रुत ये दो ही ज्ञान नियत कारण है। कारण इनका यह है कि अवधि और मनःपर्यय ज्ञानों के बिना तो मोक्ष हो जाता है परन्तु मतिश्रुत के बिना कदापि नहीं होता।

नोट – (१) मति श्रुत ज्ञान शुद्ध स्वात्मानुभूति के समय में निरपेक्ष ज्ञानवत् प्रत्यक्ष हैं यह बात केवल श्री समयसारजी अध्यात्म ग्रंथ में मिल सकती है, सिद्धान्त ग्रंथों में नहीं मिलेगी क्योंकि यह उनका विषय नहीं है। अतः सिद्धांत ग्रंथों में न मिलने के कारण संदिग्ध नहीं है।

(२) साथ ही अवधि, मनःपर्यय ज्ञान निश्चय से परोक्ष है। उपचार से एकदेश प्रत्यक्ष हैं यह भाव श्री प्रवचनसार तथा नियमसारजी में झलकता है। यह भी अध्यात्म का विषय है। सिद्धान्त शास्त्रों में तो केवल एक देश प्रत्यक्ष ही लिखा मिलेगा। पर सिद्धान्त शास्त्रों में ऐसा न मिलने के कारण यह भी शंकास्पद नहीं है। अध्यात्म के मर्मज्ञ को बराबर अनुभव में आयेगा। यह कहना भी किसी हद तक उचित है कि अध्यात्म और सिद्धान्त की लाइन ही कुछ भिन्न है पर इसका यह मतलब नहीं कि दोनों का मेल नहीं है। गुरु गम से दोनों के अभ्यसित को बराबर अनुसंधान बैठता है। पर चाबी गुरु के हाथ है यह निस्सन्देह है।

प्रमाण के भेदों का कथन पूरा हुआ।

नवां अवान्तर अधिकार

प्रमाणाभास का निरूपण (७२० से ७३७ तक)

ननु जैनानामेतन्मतं मतेष्वेवं नापरेषां हि ।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यथा ॥ ७२० ॥

अर्थ – जैनों के मत में ही प्रमाण की ऐसी व्यवस्था है। दूसरे मतों में ऐसा नहीं है। यह विषय विवादग्रस्त है क्योंकि बहुत से मत प्रमाण का स्वरूप दूसरे ही प्रकार कहते हैं जैसे :-

भावार्थ – जैनियों ने ही ज्ञान को प्रमाण माना है। अन्यमती अन्य-अन्य वस्तुओं को प्रमाण मानते हैं जैसे -

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः ।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः ॥ ७२१ ॥

अर्थ – मिथ्याज्ञानी वेदान्त मत वाले कहते हैं कि वेद ही प्रमाण हैं क्योंकि वे पुरुष के बनाए हुए नहीं हैं किन्तु वे आकाश के समान स्वतः सिद्ध हैं।

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः ।
समयन्ति सम्यगनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित् ॥ ७२२ ॥

अर्थ – दूसरे मतवाले (नैयायिक) अपने आपको पण्डित मानते हुवे प्रमाण का स्वरूप यह कहते हैं कि जो प्रमाण का निदान (कारण) है वह प्रमाण है। (प्रमा नाम प्रमाण के फल का है। उस फल का जो साधकतम कारण है वह प्रमाण है ऐसा नैयायिक कहते हैं)। दूसरे कोई ऐसा भी कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञान में कारण पड़ता हो वही प्रमाण हैं। ऐसा प्रमाण का स्वरूप मानने वालों में वैशेषिक बौद्ध आदि कई मतवाले आ जाते हैं जो कि आलोक, पदार्थ, सन्निकर्षादि को प्रमाण मानते हैं।

इत्यादिवादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत् ।
आप्ताभिमानदग्धैरलब्धमानैरतीन्द्रियं वस्तु ॥ ७२३ ॥

अर्थ – जिन्होंने अतीन्द्रिय वस्तु (आत्मा) के स्वरूप को नहीं प्राप्त किया है और जो वृथा ही अपने आपको आप्तपने के अभिमान से जला रहे हैं ऐसे अनेक वादिगण उस प्रमाण के स्वरूप को अपनी इच्छानुसार कहते हैं।

प्रकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात् ।
स्यादविचारितरम्य विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्वम् ॥ ७२४ ॥

अर्थ – जिन प्रमाणों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब दूषित (अलक्षण) हैं (कारण कि जो प्रमाण का लक्षण होना चाहिये वह उनमें आता ही नहीं है) और जो कुछ उनका लक्षण किया गया है वह लक्षण के दोषों सहित हैं तथा अविचारितरम्य है। उन समस्त प्रमाणों के लक्षणों पर विचार किया जाय तो वे आकाश के पुष्पों के समान मालूम होते हैं अर्थात् विरुद्ध ठहरते हैं। क्यों ? सो आगे कहते हैं:-

अर्थाद्यथाकथञ्चिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्त्वम् ।
करणादि विना ज्ञानादचेतनं कः प्रमाणयति ॥ ७२५ ॥

अर्थ – अर्थात् किसी भी प्रकार ज्ञान को छोड़कर अन्य किसी जड़ पदार्थ में प्रमाणता आ नहीं सकती है। विना ज्ञान के अचेतन करण, सन्निकर्ष, इन्द्रिय आदि को कौन प्रमाण समझेगा ? कोई नहीं।

भावार्थ – प्रमाण का फल प्रमा-अज्ञान निवृत्ति रूप है। उसका कारण भी अज्ञान निवृत्ति रूप होना आवश्यक है इसलिए प्रमाण भी अज्ञान निवृत्ति ज्ञानस्वरूप होना चाहिए। जड़, पदार्थ प्रमेय हैं। वे प्रमाण नहीं हो सकते हैं अपने आपको जानने वाला ही पर का ज्ञाता हो सकता है। जो स्वयं अज्ञानरूप है वह स्वपर किसी को नहीं जान सकता है। इसलिये करण आदि जड़ हैं वे प्रमाण नहीं हो सकते किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

तत्रान्तर्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदमिति चेत् ।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृते न कथं प्रतीयेत ॥ ७२६ ॥

अर्थ – यदि यह कहा जाय कि करण आदि बाह्य कारण हैं उसमें भीतर जानने वाला ज्ञान ही है इसलिये उनमें ज्ञान अन्तर्लीन होने से ज्ञान सहित करण आदि प्रमाण हैं तो ऐसा कहने से वही बात सिद्ध हो चुकी जो प्रकृत में हम (जैन) कह रहे हैं कि ज्ञान ही प्रमाण है। वही क्यों नहीं मान लिया जाता।

शंका

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य तु करणं भवेत्प्रमाणमिति ।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलवत्त्वमसिद्धमिदमितिचेत् ॥ ७२७ ॥

अर्थ – शंकाकार का कहना है कि ज्ञान फल स्वरूप है अर्थात् ज्ञान को प्रमाण का फल मानना चाहिये। उस ज्ञान के करण को प्रमाण मानना चाहिये। यदि ज्ञान को ही प्रमाण माना जाय तो ज्ञान का प्रयोजन तो हो चुका – प्रमाण का फलवानपना असिद्ध होगा ?

भावार्थ – शंकाकार का यह अभिप्राय है कि प्रमाण और प्रमाण का फल दोनों ही जुदे-जुदे होने चाहिये और प्रमाण फल सहित ही होना चाहिये। ऐसी अवस्था में ज्ञान को प्रमाण का फल और उस ज्ञान के कारण (करण-जड़ इन्द्रियां वगैरह) को प्रमाण मानना ही ठीक है। यदि ऐसा नहीं माना जाय और ज्ञान को ही प्रमाण माना जाय तो फिर प्रमाण का फल क्या ठहरेगा ? उसका अभाव ही हो जायेगा ?

समाधान ७२८ से ७३७ तक

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥ ७२८ ॥

अर्थ – ऐसा नहीं है क्योंकि प्रमाण, उसका फल और उसका कारण वह स्वयं ज्ञान ही है। दृष्टांत - जैसे दीपक दूसरों का भी प्रकाश करता है और स्वयं अपना भी प्रकाश करता है अर्थात् दीपक स्वयं प्रकाश्य (जिसका प्रकाश किया जाय) भी है और वही प्रकाशक है।

भावार्थ – दीपक के दृष्टान्त के समान प्रमाण भी ज्ञान ही है। प्रमाण का कारण भी ज्ञान ही है और प्रमाण का फल भी ज्ञान ही है ज्ञान से भिन्न न कोई प्रमाण है और न उसका फल ही है। यहाँ पर यह शंका अभी खड़ी ही रहती है कि दोनों को ज्ञान रूप मानने से दोनों एक ही हो जायेंगे अथवा फलशून्य प्रमाण और प्रमाणशून्य फल हो जायेगा परन्तु विचार करने पर यह शंका भी निर्मूल ठहरती है। जैन सिद्धान्त में प्रमाण और प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु कथंचित् भिन्न है। कथंचित् भेद में ज्ञान की पूर्व पर्याय प्रमाण रूप पड़ती है उसकी उत्तर पर्याय फल रूप पड़ती है क्योंकि प्रमाण का फल अज्ञान निवृत्ति माना है तथा हेयोपादेय और उपेक्षा भी प्रमाण का फल है। जो प्रमाण रूप ज्ञान है वही ज्ञान-अज्ञान से निवृत्त होता है और उसी में हेयोपादेय तथा उपेक्षा रूप बुद्धि होती है। इसलिये ज्ञान ही प्रमाण और ज्ञान ही फल सिद्ध हो चुका। साथ ही प्रमाण और प्रमाण का फल दोनों एक हो जायेंगे अथवा फलशून्य प्रमाण हो जायेगा इस शंका का परिहार भी हो चुका।

उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम् ।
भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥

अर्थ – कभी इन्द्रिय को, कभी अपने विषय के सन्निकर्ष सहित इन्द्रिय को और कभी ज्ञान को, इस प्रकार तीन प्रकार प्रमा (प्रमाण का फल) का करण वैशेषिकों के यहाँ कहा है।

पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम् ।
न्यायात्सिद्धमिदं चित्फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥ ७३० ॥

अर्थ – इन तीनों में पहला-पहला कारण और आगे-आगे का फल उनके कहे अनुसार जानना चाहिये। इस न्याय से तो यह स्वयं सिद्ध हो गया कि वह ज्ञान ही स्वयं फल है और ज्ञान ही स्वयं फलवान (प्रमाण) है।

भावार्थ – ७२९-७३० (१) कभी इन्द्रियों को प्रमाण कहा गया है। कभी इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को प्रमाण कहा गया है। कभी ज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है। इस प्रकार तीन प्रकार प्रमा का करण अर्थात् प्रमाण का परम साधक कारण कहा गया है। ये तीनों ही आत्मा की अवस्थायें हैं। पहली इन्द्रियरूप अवस्था भी आत्मावस्था है। दूसरी सन्निकर्ष विशिष्ट अवस्था भी आत्मावस्था है। तथा ज्ञानावस्था भी आत्मावस्था है अर्थात् तीनों ही ज्ञानरूप हैं। इन तीनों में पहला-पहला करण पड़ता है और आगे-आगे का फल पड़ता है। इसलिये यह बात न्याय से सिद्ध हो चुकी कि ज्ञान ही फल है और ज्ञान ही प्रमाण है। (२) वैशेषिकों के यहाँ प्रमा के करण तीन माने हैं। १. इन्द्रिय २. सन्निकर्ष सहित इन्द्रिय और ज्ञान। इनमें से इन्द्रिय का फल सन्निकर्ष सहित इन्द्रिय और सन्निकर्ष सहित इन्द्रिय का फल प्रमाण माना है। इस प्रकार जैसे वैशेषिकों के यहाँ मध्यवर्ती करण, पूववर्ती करण की अपेक्षा से फलरूप, अपने उत्तरवर्ती करण की अपेक्षा से करणरूप पड़ जाने के कारण वह मध्यवर्ती करण, स्वयं करण वा फल रूप माना जाता है वैसे ही ज्ञान भी अज्ञान निवृत्ति की अपेक्षा से फलरूप और प्रामाण्य की उत्पत्ति की अपेक्षा से प्रमाणरूप हो जाता है इसलिये प्रमाणात्मक ज्ञान ही स्वयं फल वा फलवान है ऐसा मानना युक्तियुक्त है।

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धिरस्ति नाम तदा ।
अविनाभावेन चितो हानोपादानबुद्धिसिद्धत्वात् ॥ ७३१ ॥

अर्थ – उनमें भी जिस समय ज्ञान करण पड़ता है उस समय फल सिद्धि है क्योंकि अविनाभाव से चेतना (आत्मा) की हान उपादान बुद्धि की सिद्धि देखी जाती है और यही ज्ञान का फल है (अर्थात् पूर्वज्ञान करण और उत्तरज्ञान फल पड़ता है और यह बात असिद्ध भी नहीं है)।

भावार्थ – जिस समय ज्ञान करण रूप में प्रमाण है उस समय उस ज्ञान के अविनाभाव रखने वाला हेय का त्याग, उपादेय का ग्रहण और अज्ञान की निवृत्ति-प्रमाण का फल सिद्ध हो जाता है।

नाप्येतदप्रसिद्धं साधनसाध्यद्वयोः सदृष्टान्तात् ।
न विना ज्ञानात् त्यागो भुजगादेर्वा स्त्रगाद्युपादानम् ॥ ७३२ ॥

अर्थ – साधन भी ज्ञान पड़ता है और साध्य भी ज्ञान पड़ता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु दृष्टान्त से सुप्रसिद्ध है। यह बात प्रसिद्ध है कि ज्ञान के विना सर्पादि अनिष्ट पदार्थों का त्याग और माला आदि इष्ट पदार्थों का ग्रहण नहीं होता है।

भावार्थ – प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार कहा है "जो हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है वह प्रमाण है अतः वह ज्ञान ही हो सकता है अन्य सन्निकर्षादिक नहीं"। हित नाम सुख और सुख के कारणों का है। अहित नाम दुःख और दुःख के कारणों का है। जो हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ है वही प्रमाण होता है ऐसा प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है क्योंकि सुख और सुख के कारणों का परिज्ञान तथा दुःख और दुःख के कारणों का परिज्ञान सिवाय ज्ञान के जड़ पदार्थों से नहीं हो सकता है। ज्ञान में ही यह सामर्थ्य है कि वह सर्पादि अनिष्ट पदार्थों में त्यागरूप बुद्धि और माला आदि इष्ट पदार्थों में ग्रहण रूप बुद्धि करावे। इसलिए प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है तथा फल भी ज्ञान रूप ही होता है यह बात प्रायः सर्वसिद्ध है कारण प्रमाण का फल अज्ञान निवृत्ति रूप होता है। ऐसा फल ज्ञान ही हो सकता है, जड़ नहीं।

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यदनार्हतं कुवादिभिः स्वैरम् ।
तल्लक्षणदोषत्वात्तसर्वं लक्षणाभासम् ॥ ७३३ ॥

अर्थ – जो कुछ प्रमाण का लक्षण कुवादियों ने स्व-इच्छा-पूर्वक कहा है वह आर्हत (जैन) लक्षण नहीं है। उसमें लक्षण के दोष आते हैं। अतः वह (लक्षण नहीं किन्तु) लक्षणाभास हैं।

भावार्थ – अन्य वादियों के द्वारा माने गये प्रमाण के लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव रूप लक्षण के दोषों से दूषित हैं। यही बात नीचे स्पष्ट करते हैं:-

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥ ७३४ ॥

अर्थ – उसका खुलासा इस प्रकार है – यदि प्रमाण लक्ष्य है और उसका प्रमाकरण लक्षण है तो अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि प्रमाणभूत ईश्वर के सदैव रहने पर भी उसमें 'प्रमाकरणं प्रमाणं' यह प्रमाण का लक्षण नहीं घटता है।

भावार्थ – नैयायिक ईश्वर को प्रमाण तो मानते हैं। वे कहते हैं "ईश्वर मुझे प्रमाण है" परन्तु वे उस ईश्वर को प्रमा का करण नहीं मानते हैं किन्तु उसका उसे अधिकरण मानते हैं। उनके मत से ईश्वर प्रमाण है तो भी उसमें प्रमाकरण रूप प्रमाण का लक्षण नहीं रहता। इसलिये लक्ष्य के एक देश-ईश्वर में प्रमाण का लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष बना रहा।

योगिज्ञानेऽपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सन्निकर्षश्च ॥ ७३५ ॥

अर्थ – इसी प्रकार जो लोग प्रमाकरण प्रमाण का लक्षण करते हैं उनके यहाँ योगियों के ज्ञान में भी उक्त लक्षण नहीं जाता है क्योंकि उन्हीं लोगों ने योगियों के ज्ञान को दिव्य ज्ञान माना है। वह सूक्ष्म और अमूर्त्त पदार्थों का भी प्रत्यक्ष करता है ऐसा वे स्वीकार करते हैं परन्तु परमाणु आदि पदार्थों में इन्द्रिय सन्निकर्ष नियम से नहीं हो सकता है।

भावार्थ – इन्द्रिय सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय व्यापार ही को वे प्रमाकरण वतलाते हैं। यह सन्निकर्ष और व्यापार स्थूल मूर्त पदार्थों के साथ ही हो सकता है। सूक्ष्म परमाणु तथा अमूर्त्त और दूरवर्ती पदार्थों का वह नहीं हो सकता है। इसलिये सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय व्यापार प्रमाकरण को प्रमाण मानने से योगीजन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते परन्तु वे करते हैं ऐसा वे मानते हैं। इसलिये योगिजनों में उनके मत से ही प्रमाकरण लक्षण नहीं जाता है। यदि वे योगियों को प्रमा का करण स्वयं नहीं मानते हैं तो उनके मत से ही प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हो गया क्योंकि उन्होंने योगियों के ज्ञान को प्रमाण माना है।

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरतया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥ ७३६ ॥

अर्थ – "वेद प्रमाण है" (ऐसा वेदान्ती मानते हैं) और उसमें केवल अपौरुषेयत्व हेतु द्वारा प्रमाणता लाते हैं किन्तु अपौरुषेयत्व रूप हेतु के आगम गोचरता होने से अन्याश्रितपना है। इसलिये वह हेतु अहेतु हो जाता है।

भावार्थ – वेदों को प्रमाण मानने वाले वेदों की प्रमाणता में अपौरुषेयत्व हेतु बतलाते हैं अर्थात् उनका यह कहना है कि पुरुष राग-द्वेष से दूषित होते हैं। अतः पुरुषों के द्वारा निरूपित पदार्थ का स्वरूप प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता है किन्तु जो पुरुषों के द्वारा प्रतिपादित न हो वही प्रमाणिक हो सकता है। वेद अपौरुषेय है इसलिये वही प्रमाण है इस प्रकार अपौरुषेयत्व हेतु से वेद में प्रमाणता सिद्ध करते हैं परन्तु यहाँ पर वेद की प्रमाणिकता में जो अपौरुषेयत्व हेतु दिया है वह उनके आगम से ही सिद्ध है युक्ति से नहीं। इसलिये वह अपौरुषेयत्व हेतु आगम के आश्रित होने से अन्याश्रित (आगमाश्रित) है और अन्याश्रित होने से समीचीन हेतु नहीं कहा जा सकता है कारण कि अपने-अपने अनुयायी वर्ग ही आगम प्रमाण को प्रमाण मानने के लिये बाध्य होते हैं इतर नहीं क्योंकि सर्व साधारण तो युक्ति सिद्धि कथन को ही प्रमाण मानने के लिये बाध्य किये जा सकते हैं। सारांश यह है कि अपौरुषेयत्व हेतु आगमाश्रित होने से स्याद्वादियों के प्रति असिद्ध है।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामत कदम्बकं यावत् ।
अनुपादेयमसारं वृद्धैः स्याद्वादवेदिभिः यावत् ॥ ७३७ ॥

भावार्थ – इस प्रकार जितना भी अनेक विध प्रचलित मिथ्या मतों का समूह है वह सब असार है इसलिये वह शास्त्रानुसार स्याद्वाद वेदी वृद्ध (अनुभवी) पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

प्रमाणाभास का निरूपण समाप्त हुआ ।

दसवां अवान्तर अधिकार

निक्षेपों का वर्णन (७३८ से ७४५ तक)

प्रतिज्ञा

उक्तं प्रमाणलक्षमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात् ।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाल्लक्ष्यते यथालक्ष्म ॥ ७३८ ॥

अर्थ – आगम ज्ञान के अनुसार, अनुभव में आने योग्य प्रमाण का लक्षण कहा। अब संक्षेप से निक्षेपों का स्वरूप उसके लक्षणानुसार कहा जाता है।

शंका

ननु निक्षेपो न नयो न च प्रमाणं न चांशकं तस्य ।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादिति चेत् ॥ ७३९ ॥

अर्थ – निक्षेप न नय है और न प्रमाण है और न उसका अंश है। नय प्रमाण से निक्षेप का उद्देश्य (निर्देश) ही जुदा है। उद्देश्य जुदा होने से उसका लक्षण ही जुदा है। इसलिये लक्ष्य भी स्वतन्त्र होना चाहिये ? अर्थात् निक्षेप प्रमाण नय से सब जुदा है तो उनके समान इसका भी स्वतन्त्र ही उल्लेख करना चाहिये ?

समाधान

सत्यं गुणसापेक्षो सविपक्षः स च नयः स्वपक्षपतिः* ।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ॥ ७४० ॥

अर्थ – जो आपने कहा ठीक है ऐसा ही है। क्योंकि जो गुणों की अपेक्षा से प्रयोग होता है, अपने पक्ष का स्वामी है और विपक्ष सहित है वह नय है (नय जैसा कहता है वस्तु में वैसा गुण पाया जाता है। नय सदा अपने विवक्षित पक्ष

* 'स्वपक्षपति' के स्थान पर 'स्वयंक्षिपति' पाठ भी मिलता है। हमें वह नहीं जंचा है।

का स्वामी है अर्थात् वह सदा विवक्षित पक्ष पर आरूढ़ रहता है और दूसरे प्रतिपक्ष नय की अपेक्षा भी रखता है किन्तु निक्षेप में यह बातें नहीं है)। जो पदार्थ में गुणों का आक्षेप किया जाता है वह निक्षेप है। वह निक्षेप केवल उपचरित (व्यवहार चलाने के लिये) होता है।

भावार्थ – नय और निक्षेप का स्वरूप कहने से ही शंकाकार की शंका का परिहार हो जाता है। सबसे बड़ा भेद तो इनमें यह है कि नय तो वास्तविक ज्ञान विकल्प है और निक्षेप पदार्थों में व्यवहार के लिये किये गये संकेतों का नाम है। इस श्लोक में 'गुणाक्षेपः' पद आया है उसका अर्थ चारों निक्षेप में इस प्रकार घटित होता है – नाम-अतद्गुण पदार्थ में केवल व्यवहारार्थ किया हुआ आक्षेप है। स्थापना में – अतद्गुण पदार्थ में किया हुआ गुणों का आक्षेप है। द्रव्य में – भावि तद्गुण में वर्तमानवत् किया हुआ गुणों का आक्षेप है। भाव में – वर्तमान तद्गुण में किया हुआ वर्तमान गुणों का आक्षेप है। इस प्रकार गुणों का आक्षेप ही निक्षेप है।

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम् ।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्ष्यतेऽधुना चार्थात् ॥ ७४१ ॥

अर्थ – वह निक्षेप चार प्रकार है (१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य (४) भाव। अब अर्थ से इन चारों का लक्षण जिस प्रकार से है उस प्रकार से कहा जाता है।

वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम ।
सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा ॥ ७४२ ॥

अर्थ – (१) किसी वस्तु में उसके नाम के अनुसार गुण तो न हों। केवल व्यवहार चलाने के लिये उसका नाम रख देना नाम निक्षेप है। जैसे किसी पुरुष में कर्मों के जीतने का गुण सर्वथा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसको बुलाने के लिये 'जिन' यह नाम रख दिया जाता है। (२) किसी समान आकारवाले पदार्थ में गुण तो वे न हों परन्तु उसमें उन गुणों की बुद्धि रखना और उसका "यह वही है" ऐसा व्यवहार करना स्थापना निक्षेप है जैसे प्रतिमा। [जैसे पार्श्वनाथ की प्रतिमा को मन्दिरजी में हम पूजते हैं। यद्यपि प्रतिमा पुरुषाकार है परन्तु है पाषाण की। उस पाषाण की प्रतिमा में उन पार्श्वनाथ भगवान के जीव की जो कि अनन्तगुणधारी अरहन्त थे स्थापना करना और व्यवहार करना कि यह प्रतिमा ही पार्श्वनाथ है – स्थापना निक्षेप है]।

ऋजुनयनिरपेक्षतया सापेक्षं भाविनैगमादिनयैः ।
छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यं ॥ ७४३ ॥

अर्थ – जिसमें ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा नहीं है किन्तु जो भाविनैगमादि नयों की अपेक्षा से होता है वह द्रव्य निक्षेप है जैसे छद्मस्थ जिनके जीव को साक्षात् जिनके समान समझना द्रव्य निक्षेप है।

भावार्थ – ऋजुसूत्र नय का विषय वर्तमान है तथा भाविनैगम नय का विषय 'नियम से होने वाला' है। इन दोनों नयों में से ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा न करके भाविनैगम नय की अपेक्षा से नियम से होने वाले को वर्तमान में कहना द्रव्य निक्षेप है जैसे छद्मस्थ अवस्था में वर्तमान जिनके जीव को 'जिन' कहना – द्रव्य निक्षेप है। भगवान को गर्भ, जन्म, गृहस्थ, अवस्था में भी केवली जिनवत् इसी निक्षेप से मानते हैं।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः ।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥ ७४४ ॥

अर्थ – वर्तमान में जिस पदार्थ की जो पर्याय हो, उसको उसी रूप कहना भावनिक्षेप है। जैसे समवशरण में विराजमान, चार घातिया कर्मों से रहित, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय से युक्त, दिव्य परमौदारिक शरीर में स्थित अरहन्त जिनको 'जिन' कहना भाव निक्षेप है। अब ग्रन्थाकार उक्त कथन में आगम प्रमाण देते हैं।

णामजिणा जिणणामा ठहणजिणा जिणिदपडिमाए।*
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था॥

अर्थ – जिननाम वाला व्यक्ति नाम जिन है, जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा यह स्थापना जिन है, जो आगे जिन होने वाला है वह द्रव्य जिन है और समवशरण में विराजमान भगवान् भावजिन है।

उपसंहार

दिङ्मात्रमत्र कथितं व्यासादपि तच्चतुष्टयं यावत्।
प्रत्येकमुदाहरणं ज्ञेयं जीवादिकेषु चार्थेषु॥ ७४५॥

अर्थ – यहाँ पर चारों निक्षेपों का नाम मात्र (संक्षिप्त) स्वरूप कहा गया है। इनका विस्तार से स्वरूप जैसा है वैसा तथा जीवादि पदार्थों में प्रत्येक का उदाहरण सुघटित करके आगम से जानना चाहिये।

भावार्थ – ग्रन्थकार ने निक्षेपों पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है क्योंकि ये अध्यात्म में अधिक काम नहीं आते। आगम में अधिक काम आते हैं सो ग्रन्थकार ने लिख दिया है कि आगम से यथायोग्य जान लेना।

निक्षेप अधिकार का सार

अर्थ – प्रकृत में निक्षेप का स्वरूप बतलाते हुए नय से उसमें क्या भेद है यह भी बतलाया गया है। निक्षेप शब्द नि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातु से बनता है जिसका व्युत्पत्त्यर्थ निक्षिप्त करता होता है। आशय यह है कि लोक में जितना भी शब्द व्यवहार होता है उसका विभाग द्वारा वर्गीकरण कर देना ही निक्षेप का काम है। नय विषयी हैं किन्तु निक्षेप शब्दादिक विषय विभाग का ही प्रयोजक है। इसलिये इन दोनों में बहुत भेद है। निक्षेप केवल यह बतलाता है कि हमने जिस शब्द या वाक्य का प्रयोग किया है वह किस विभाग में सम्मिलित किया जा सकता है किन्तु नय उस शब्द प्रयोगों में जो आन्तरिक मानस परिणाम कार्य कर रहा है उसका उद्घाटन करता है। वह बतलाता है कि यह शब्द प्रयोग किस दृष्टिकोण से ठीक है। निक्षेप व्यवस्था के अनुसार समस्त वचन प्रयोग नामादि चार भागों में विभक्त किया जा सकता है अतः निक्षेप के चार भेद माने गये हैं। निक्षेप ज्ञेय पर लगते हैं और नय ज्ञान के अंश हैं यह सबसे बड़ा अन्तर है।

निक्षेपों का निरूपण समाप्त हुआ।

ग्यारहवां अवान्तर अधिकार

नय प्रमाण को लगाने की पद्धति ७४६ से ७६८ तक

प्रतिज्ञा

उक्तं गुरूपदेशान्नयनिक्षेपप्रमाणमिति तावत्।
द्रव्यगुणपर्ययाणामुपरि यथासंभवं दधाम्यधुना॥ ७४६॥

अर्थ – पहले गुरु (परमगुरु अरहन्त-अपरगुरु गणधरादि आचार्यों) के उपदेशानुसार नय प्रमाण और निक्षेप का स्वरूप कहा। अब द्रव्य, गुण, पर्यायों के ऊपर इनको यथायोग्य अर्थात् वस्तु स्वभाव के नियमानुसार लगाता हूँ (अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्यायों में से नय और प्रमाण का विषय कौन और किस प्रकार होता है। नय प्रमाण किस-किस को विषय करते हैं यह दर्शाता हूँ) यह प्रतिज्ञा द्रव्य, गुण, पर्याय, एकअनेक, अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, तत्-अतत् सब पर लगाने की है। अब क्रमशः लगाते हैं। पहले

द्रव्य, गुण, पर्याय पर नयप्रमाण लगाने की पद्धति ७४७ से ७५० तक

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम्।
गुणपर्ययवद् द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम्॥ ७४७॥

अर्थ – तत्त्व अर्थात् द्रव्य अनिर्वचनीय (वचन का अविषय-अभेदरूप-अखण्ड-सामान्य) है यह शुद्धद्रव्यार्थिक नय का पक्ष (विषय) है तथा द्रव्य गुणपर्यायवाला है (भेद रूप है) यह पर्यायार्थिक नय की मान्यता है।

* नोट (१) अध्यात्म में मेरे देखने में भाविद्रव्यनिक्षेप तो आया है। भूत द्रव्य निक्षेप नहीं आया है। सर्वार्थसिद्धि में भी नहीं है। श्री अमृतचन्द्रजी ने तत्त्वार्थसार में भी नहीं दिया है। भगवान् कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने भी कहीं नहीं दिया है। (२) अतदाकार स्थापना का स्वरूप भी अध्यात्म शास्त्रों में मेरे देखने में नहीं आया है।

भावार्थ – तत्त्व में अभेद बुद्धि का होना द्रव्यार्थिक नय है और उसमें भेद बुद्धि का होना पर्यायार्थिक नय है। अनिर्वचनीय उसी को कहते हैं जिसका "न इति" (ऐसा नहीं है) ऐसा लक्षण कहकर आये हैं अर्थात् वह अपना स्वरूप शब्द में नहीं बतला सकता। केवल व्यवहार का निषेध कर अखण्डता का संकेत कर देता है। इस दृष्टि से द्रव्य का लक्षण श्लोक नं. ८ में कहा है और ७० तक उसका निरूपण किया है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से द्रव्य का लक्षण ७२, ७३, ७६ में कहा है और ७१ से २६० तक उसका स्पष्टीकरण किया है।

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।
गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ॥ ७४८ ॥

अर्थ – जो द्रव्य अनिर्वचनीय (अखण्ड) है वही द्रव्य, गुण, पर्यायवाला है दूसरा नहीं है तथा जो द्रव्य गुणपर्याय वाला है वही तत्त्व (अनिर्वचनीय-अखण्ड) है। इस प्रकार सामान्य विशेष दोनों का जोड़ रूप-युगपत विषय करने वाला प्रमाण है।

भावार्थ – वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। सामान्य वस्तु (अखंड) द्रव्यार्थिक नय का विषय है। विशेष वस्तु (खंड) पर्यायार्थिक नय का विषय है तथा सामान्यविशेषात्मक-उभयात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है। प्रमाण एक ही समय में अविरुद्ध रीति से दोनों धर्मों को विषय करता है। जो ऐसा है वही ऐसा है यह इसके बोलने की रीति है। श्लोक ७४७-४८ इकट्ठे हैं। ७४७ की पहली पंक्ति में द्रव्यार्थिक नय का, दूसरी पंक्ति में पर्यायार्थिक नय का और ७४८ में प्रमाण का विषय है। प्रमाण की दृष्टि से द्रव्य का लक्षण श्लोक नं. २६१ की प्रथम पंक्ति में कहा है।

सार – व्यवहार प्रतिपादक है, निश्चय 'नेति-निषेधक' है, प्रमाण उभयात्मक है।

यद् द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात् ।
पर्यायोऽपि यथा स्यात् ऋजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥ ७४९ ॥

अर्थ – पदार्थ रूप से जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है। जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है। उसी प्रकार पर्याय भी पर्याय ही है द्रव्य, गुण नहीं है। यह पर्यायार्थिक नय का पक्ष है क्योंकि यह द्रव्य, गुण, पर्यायों को भिन्न-भिन्न मानकर केवल पर्याय-भेद-अंश रूप अपने विषय को कहने वाली है (यहाँ ऋजुसूत्र नय का अर्थ व्यवहार नय है। पद्य बनाने के कारण पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर लिया है। मोक्ष शास्त्र वाला अर्थ नहीं है)।

यदिदं द्रव्यं स गुणो योऽपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात् ।
तदुभयपक्षदक्षो विवक्षितः प्रमाणपक्षोऽयम् ॥ ७५० ॥

अर्थ – क्योंकि द्रव्य, गुण का एक अर्थ (पदार्थ-अभेदवस्तु) अखण्ड है, इसलिये जो द्रव्य है, वही गुण है। जो गुण है, वही द्रव्य है, यह द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है तथा भेद-अभेद इन दोनों पक्षों को विषय करने में समर्थ विवक्षित जो पक्ष है यह प्रमाण का पक्ष है। जैसे जो द्रव्य, गुणपर्यायवाला है। वही द्रव्य, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है तथा वही द्रव्य अनिर्वचनीय (अखण्ड) है।

भावार्थ – ७४९-५० - जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है तथा जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है परन्तु गुण-गुण ही है तथा द्रव्य-द्रव्य ही है। इसी प्रकार जो पर्याय है, वह पर्याय ही है, यह द्रव्य गुण नहीं है। यह पक्ष (विषय) अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय को भिन्न-भिन्न मानकर केवल पर्याय-भेद-अंश मात्र को विषय करना यह व्यवहार नय का विषय है। तथा जो द्रव्य है, वही गुण है और जो गुण है, वही द्रव्य है कारण कि 'गुणसमुदायो द्रव्यं' इस सिद्धान्त में सम्पूर्ण गुणों को ही द्रव्य कहा है। इसलिये गुण और द्रव्य परस्पर भिन्न नहीं हैं परन्तु उक्त प्रकार से एक ही अर्थ वाला है। इसलिये गुण और द्रव्य को एक अखण्ड कहना यह द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है - विषय है तथा इन दोनों नयों के पक्ष को जोड़ रूप युगपत विषय करना यह प्रमाण का विषय है। श्लोक ७४९-५० इकट्ठे हैं। ७४९ में पर्यायार्थिक नय का विषय, ७५० की प्रथम पंक्ति में द्रव्यार्थिक नय का विषय और दूसरी पंक्ति में प्रमाण का विषय है। ८ से २६१ तक जो वस्तु अधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का निरूपण किया है। उस पर यहाँ श्लोक ७४७-४८-४९-५० द्वारा नय प्रमाण को घटित करके दिखलाया है। इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिये परिशिष्ट पेज में दृष्टि परिज्ञान (१) को पुनः पढ़िये।

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेष इव यस्मात् ।
तदुदाहरणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे ॥ ७५१ ॥

अर्थ – क्योंकि निक्षेप नय विशेष के समान है इसलिये इसको पृथक् ग्रहण करके निरूपण करना योग्य नहीं है क्योंकि नयों के निरूपण करते समय नियम से निक्षेपों का उदाहरण रहता है।

भूमिका – अब आगे चार पद्यों द्वारा व्यवहार नय के अन्तर्गत अनेक वा एक नय को, फिर द्रव्यार्थिक नय की, फिर इन दोनों को युगपत ग्रहण करने वाले प्रमाण को लगाकर दिखलाते हैं:-

एक अनेक पर नय प्रमाण लगाने की पद्धति ७५२ से ७५५ तक

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत् त्रयं मिथोऽनेकम् ।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥ ७५२ ॥

अर्थ – द्रव्य, गुण अथवा पर्याय, ये तीनों अपने-अपने स्वरूप से लक्षण से हैं इसलिये ये तीनों परस्पर में भी अनेक हैं – भिन्न हैं। इस प्रकार व्यवहार नयों के अन्तर्गत एक नय है वह न्यायानुसार अनेकता को प्रतिपादन करने के कारण से अनेक नाम वाली एक (व्यवहार) नय है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना ।
इतरद् द्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥ ७५३ ॥

अर्थ – नाम से चाहे द्रव्य कहो, अथवा गुण कहो अथवा पर्याय कहो पर सामान्यपने ये तीनों ही अभिन्न एक सत् है। इसलिये इन तीनों में से किसी एक के कहने से बाकी के दो का बिना कहे हुवे ही ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार जो सत् को एक ही कहता है वह एक नाम वाली एक व्यवहार नय है।

नोट – संग्रह नय तो अनेक द्रव्यों को सदृशता की अपेक्षा से एक रूप ग्रहण करती है वह आगम की नय है जो अनेक द्रव्यों पर लगती है। यह एक नय आध्यात्मिक नय है। यह तो एक ही द्रव्य को अखण्ड रूप से ग्रहण करती है। इसका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

न द्रव्यं नापि गुणो न च पर्यायो निरंशदेशत्वात् ।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥ ७५४ ॥

अर्थ – निरंश देश होने से अर्थात् वस्तु अखण्ड होने से न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और वह वस्तु किसी विकल्प से भी व्यक्त नहीं की जा सकती है (क्योंकि अनिर्वचनीय है)। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की मान्यता है (४३६) ('नेति' -इतना मात्र ही निश्चय नय का लक्षण है और उसी के अनुसार यह लिखा है)।

द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः ।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥ ७५५ ॥

अर्थ – युक्तिवश से जो सत् द्रव्य, गुण, पर्यायों के द्वारा अनेक रूप भेद किया जाता है वही सत् अंश रहित (अखण्ड) होने से अभेद्य एक है यह (एक-अनेकात्मक उभयरूप) प्रमाण पक्ष है।

भावार्थ – युक्ति पूर्वक (लक्षण अपेक्षा) जो सत् द्रव्य, गुण, पर्याय की अपेक्षा से अनेक है। वही सत् अंश रहित होने से अभेद्य एक ही है। इस प्रकार युगपत एक अनेक को विषय करने वाला जोड़ रूप ज्ञान प्रमाण का पक्ष है। जो अनेक है वही एक है –

भावार्थ – ७५२ से ७५५ तक – उदाहरण सहित तथा विशेष्य विशेषण भेद सहित निरूपण करना व्यवहार नय का लक्षण है। अतः सत् अनेक है या सत् एक है यहाँ पर सत् विशेष्य-लक्ष्य है और अनेक या एक उसके विशेषण-लक्षण हैं। अतः दो पद्य तो व्यवहार नय के उदाहरण है। फिर व्यवहार द्वारा विशेष्य विशेषण सहित निरूपण का निषेधक-अर्थात् न एक है – न अनेक है अखण्ड है-अवक्तव्य है – यह एक पद्य निश्चय नय का है। फिर जो अनेक है वही एक है यह जोड़ रूप ज्ञान प्रमाण है। एक पद्य इसका है। इस प्रकार चारों इकट्ठे हैं। वस्तु के अनेकान्तात्मक स्थिति नामा अधिकार में श्लोक ४३४ से ५०८ तक जो सत् को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से एक भी और अनेक भी सिद्ध किया है उस पर इन चार पद्यों द्वारा नय प्रमाण लगाकर दिखलाये गये हैं।

भूमिका – अब आगे चार पद्यों द्वारा व्यवहार अन्तर्गत अस्ति (सत्) तथा नास्ति (असत्) नय के विषय को दर्शाते हुए, साथ-साथ इन दोनों विकल्पों से रहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय को दर्शाकर, नयों के विषय को प्रमाण किस प्रकार विषय करता है, यह बताते हैं:-

अस्ति-नास्ति पर नय प्रमाण लगाने की पद्धति ७५६ से ७५९ तक

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात् ।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्तिनयः ॥ ७५६ ॥

अर्थ – वस्तु सामान्य मात्र से है अथवा विशेष मात्र से है। उसमें जब तक विपक्ष अर्थात् नास्ति पक्ष अविवक्षित (गौण) रहता है तब तक वह एक 'अस्ति नय' है (अनन्यः शब्द का अर्थ एक है)।

भावार्थ – सामान्य विशेषात्मक वस्तु में जिस समय विशेष को गौण करके केवल सामान्य की विवक्षा होती है अथवा सामान्य गौण करके केवल विशेष की विवक्षा होती है, उस समय विपक्ष की विवक्षा न करते केवल सामान्य या केवल विशेष की अपेक्षा से वस्तु के अस्तित्व का जो निरूपण करने में आता है, वह व्यवहार अन्तर्गत नयों में से 'अस्तिनय' का विषय है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्य विवक्षितायां वा ।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्तिनयः ॥ ७५७ ॥

अर्थ – वस्तु सामान्य की विवक्षा में विशेष धर्म की गौणता होते विशेष रूप से नहीं है। अथवा विशेष की विवक्षा में सामान्य धर्म की गौणता होते सामान्य रूप से नहीं है। यह 'नास्ति नय' है।

भावार्थ – वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। इसलिये जिस समय सामान्य की विवक्षा होती है, उस समय विशेष धर्म की गौणता होने से वह वस्तु विशेष की अपेक्षा से 'नहीं है' तथा जिस समय विशेष की विवक्षा होती है, उस समय सामान्य धर्म की गौणता होने से वह वस्तु सामान्य की अपेक्षा से 'नहीं है।' इस प्रकार जो कथन करने में आता है, उसको व्यवहार अन्तर्गत नयों में से 'नास्ति नय' का विषय कहते हैं।

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोऽपि ततः ।
न च नास्ति पररूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥ ७५८ ॥

अर्थ – द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तु स्व रूप से अस्ति रूप हैं – यह नहीं है तथा वस्तु पर रूप से नहीं है – यह भी नहीं है क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सब विकल्पों से रहित ही वस्तु का स्वरूप है। अखण्ड अनिर्वचनीय है।

भावार्थ – शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से तत्त्व न स्वरूप से अस्ति रूप है तथा न पर रूप से नास्ति रूप ही है कारण कि इस नय की अपेक्षा से वस्तु निर्विकल्पक (अनिर्वचनीय) अखण्ड मानी है।

यदिदं नास्ति स्वरूपाभावादस्ति स्वरूपसद्भावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥ ७५९ ॥

अर्थ – जो वस्तु स्वरूपाभाव से (पर स्वरूप के अभाव की अपेक्षा से) नास्ति रूप है, और जो स्वरूप सद्भाव से अस्ति रूप है, वही वस्तु विकल्पातीत (अनिर्वचनीय अखण्ड) है। यह सब प्रमाण पक्ष है।

भावार्थ – वस्तु पर्यायार्थिक नय से अस्तिरूप अथवा नास्ति रूप, द्रव्यार्थिक नय से विकल्पातीत तथा प्रमाण से अस्ति-नास्ति अवक्तव्य सब रूप अविरुद्ध रीति से है।

भावार्थ – ७५६ से ७५९ तक – सत् विशेष्य है। स्व रूप से अस्ति, पर रूप से नास्ति उसके विशेषण हैं। अतः ये दो व्यवहार नय हैं। 'नेति' सब विकल्पों से रहित – अनिर्वचनीय द्रव्यार्थिक नय है। जो व्यवहार से अस्ति तथा नास्ति रूप है और जो निश्चय से अवक्तव्य है, वही प्रमाण से अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य सब रूप है। इस प्रकार चारों इकट्ठे हैं। वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति नामा अधिकार में श्लोक २६२ से ३०८ तक जो सत् को स्व (सामान्य) के द्रव्य, , काल, भाव की अपेक्षा से अस्ति (सत्) और पर (विशेष) के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्ति

(असत्) तथा विशेष के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्ति और सामान्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्ति सिद्ध किया था, उस पर इन ४ पद्यों द्वारा नय प्रमाण घटित करके दिखलाये हैं। अस्ति नय को सत् नय और नास्ति नय को असत् नय भी श्री समयसार आदि आगमों में कहा है। दोनों नाम पर्यायवाची हैं।

भूमिका – अब चार पद्यों द्वारा व्यवहार अन्तर्गत अनित्य, नित्य नय निषेधात्मक निश्चय नय तथा उभयात्मक प्रमाण को लगाकर दिखाते हैं।

अनित्य-नित्य पर नय प्रमाण लगाने की पद्धति ७६० से ७६३ तक

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहारविशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात् ॥ ७६० ॥

अर्थ – सत् पदार्थ प्रतिक्षण अपने आप उत्पन्न होता है और नाश होता है। यह नियम से प्रसिद्ध अनित्य नय है जो व्यवहार नय का एक भेद है।

भावार्थ – अनित्य पर्यायार्थिक नय से ऐसा कहा जाता है कि सत् प्रति समय उत्पन्न होता और नाश होता है - अनित्य है।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहारान्तर्भूतो नयः स नित्योऽप्यनन्यशरणः स्यात् ॥ ७६१ ॥

अर्थ – अन्यथा भाव न होने से अर्थात् त्रिकाली स्वरूप की अपेक्षा सदा एक रूप रहने से सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। वह ध्रुव (नित्य) है। यह अनन्यशरण (स्वपक्ष नियत) एक नित्य नय है जो व्यवहार नय के अन्तर्गत है।

भावार्थ – नित्य पर्यायार्थिक नय से ऐसा कहा जाता है कि सत् ध्रुव एक रूप ही रहता है। वह उत्पाद व्यय नहीं करता।

न विनश्यति वस्तु यथा तथा नैव उत्पद्यते नियमात् ।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ॥ ७६२ ॥

अर्थ – जिस प्रकार वस्तु नष्ट नहीं होती है, उसी प्रकार वह नियम से उत्पन्न भी नहीं होती है, तथा ध्रुव भी नहीं है, यह (निषेधात्मक कथन-अनिर्वचनीय कथन) शुद्ध निश्चय नय का पक्ष है।

भावार्थ – उत्पाद, द्रव्य, ध्रौव्य तीनों ही एक समय में होनेवाली सत् की पर्यायें हैं। इसलिये इन पर्यायों को पर्यायार्थिक नय विषय करता है, परन्तु निश्चय नय सर्व विकल्पों से रहित अखण्ड वस्तु को विषय करता है।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्य विवक्षया तदिदम् ।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥ ७६३ ॥

अर्थ – यह जो (वस्तु) सामान्य (नित्य) की विवक्षा में विशेष रूप से (अनित्यपने से) नहीं है वही विशेष (अनित्य) की विवक्षा होने पर सामान्य (नित्य) रूप से नहीं है। यह जो नित्य है वही अनित्य है इस प्रकार दोनों को सामान्य रूप से विषय करना - किसी को मुख्य गौण किये बिना यह प्रमाण का पक्ष है।(नित्य का पर्यायवाची सामान्य शब्द है। अनित्य का पर्यायवाची विशेष शब्द है क्योंकि विशेष की उत्पत्ति उत्पाद व्यय से होती हैं)।

भावार्थ – ७६० से ७६३ तक - विशेष नाम पर्याय का है। पर्यायें अनित्य होती हैं। इसलिये विशेष की अपेक्षा से वस्तु अनित्य है। सामान्य की अपेक्षा वह नित्य भी है। ये दोनों व्यवहार पक्ष हैं। न नित्य-न अनित्य = अनिर्वचनीय - यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। शुद्ध अर्थात् अखण्ड। एक ही समय में मैत्री रूप से नित्य-नित्यात्मक है यह प्रमाण का पक्ष है। चारों श्लोक इकट्ठे हैं। वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति नामा अधिकार में श्लोक ३३६ से ४३३ तक जो सत् नित्य-अनित्य का निरूपण किया है उस पर इन चार पद्यों द्वारा नय प्रमाण लगाकर दिखलाये हैं।

भूमिका – पूर्ववत् अब चार पद्यों द्वारा व्यवहारनय के भेद रूप तत्-अतत् नय, निषेधात्मक निश्चय नय तथा उभयात्मक प्रमाण को लगाकर दिखाते हैं :-

तत्-अतत् पर नय प्रमाण को लगाने की पद्धति
(७६४ से ७६७ तक)

अभिनवभावपरिणतेर्योऽयं वस्तुन्यपूर्वसमयो यः ।
इति यो वदति स कश्चित्पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥ ७६४ ॥

अर्थ – वस्तु में नवीन भाव रूप परिणमन होने से "यह तो वस्तु ही अपूर्व है" ऐसा जो कोई कहता है वह पर्यायार्थिक नयों में अभाव नय-अतत् नय है (अभाव और अतत् पर्यायवाची शब्द हैं)।

भावार्थ – अतत् दृष्टि से वस्तु ही प्रतिसमय नई-नई उत्पन्न होती है। यह अभाव नय या अतत् नय नाम की पर्यायार्थिक नय है।

परिणममानेऽपि तथा भूतैर्भावैर्विनश्यमानेऽपि ।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥ ७६५ ॥

अर्थ – वस्तु के नवीन भावों से परिणमन करने पर भी तथा पूर्व भावों से विनष्ट होने पर भी – "यह अपूर्व-अपूर्व (नई-नई) वस्तु नहीं है- किन्तु वही की वही है" ऐसा जो कोई कथन करता है, वह पर्यायार्थिक नयों में भाव नय-तत् नय है। (भाव-तत् पर्यायवाची शब्द हैं)।

भावार्थ – तत् दृष्टि से कोई वस्तु नई उत्पन्न नहीं होती है। वही की वही है। यह भाव नय या तत् नय नाम की पर्यायार्थिक नय है।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि ।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा ॥ ७६६ ॥

अर्थ – शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से वस्तु में सर्वथा नवीन भाव भी नहीं होता है तथा प्राचीन भाव का अभाव भी नहीं होता है क्योंकि इस नय की दृष्टि में वस्तु न तो अभूतपूर्व (नई) है और न भूतपूर्व (पुरानी) है (अखण्ड है)।

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत् ।
असदुत्पन्नं न हि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥ ७६७ ॥

अर्थ – जो सत् प्रतिक्षण नवीन-नवीन भावों से परिणमन करता है, वही न तो असत् उत्पन्न होता है और न सत् विनष्ट ही होता है यह प्रमाण का मत है।

भावार्थ – जो वस्तु परिणमन की अपेक्षा प्रति समय नई-नई दीखती है, वही वस्तु तो वस्तु की अपेक्षा वही की वही है। इस प्रकार अतत्-तत् (अभाव-भाव) दोनों धर्मों को मैत्री रूप से एक समय विषय करने वाला जोड़ रूप प्रमाण पक्ष है।

भावार्थ – ७६४ से ७६७ तक - परिणमन पर दृष्टि रखने वाले पर्यायार्थिक नय का कहना है कि प्रति समय वस्तु ही नई-नई उत्पन्न होती है यह अतत् नाम की व्यवहार नय है। वस्तु पर दृष्टि रखने वाली पर्यायार्थिक नय कहता है कि वस्तु वही की वही है, यह तत् नाम की व्यवहार नय है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहता है – न नई है न पुरानी है। अखण्ड है। प्रमाण कहता है कि जो नई-नई है वही-वही की वही है। क्या अनेकान्त का कमाल है। अपनी-अपनी जगह सभी सच्चे हैं। ये चार पद इकट्ठे हैं। वस्तु की अनेकान्तात्मक स्थिति नामा अधिकार में श्लोक ३०९ से ३३५ तक जो सत् को तत्-अतत् सिद्ध किया था उस पर यह नय प्रमाण लगाकर दिखलाये हैं। (७५२ से ७६७ तक के १६ सूत्रों के स्पष्टीकरण के लिये दृष्टि परिज्ञान (२) को पृष्ठ १२७ पर पुनः पढ़िये)।

उपसंहार

इत्यादि यथासंभवमुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम् ।
योज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेकभावयुतम् ॥ ७६८ ॥

अर्थ – इत्यादि रूप से यथा संभव जितना भी नयचक्र यहाँ पर कहा गया है और उसी के समान जितना भी नयचक्र यहाँ पर नहीं कहा गया है उसे भी आगम के अनुसार अनेक भाव युक्त प्रत्येक द्रव्य पर अलग-अलग रूप से घटित कर लेना चाहिये ।

भावार्थ – इस सूत्र का पेट तो सूत्रकार का बहुत बड़ा है फिर भी उस पर कुछ प्रकाश डालना हमारा कर्तव्य है। इसमें वह यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक सत् (जीवादि छहों द्रव्य) अनेक भावात्मक एक वस्तु है। उस पर सर्वज्ञाज्ञानुसार नय प्रमाणों का प्रयोग करना चाहिये। वह किस प्रकार सो कुछ करके आपको दिखलाते हैं।(१) पहले एक अशुद्ध संसारी जीव को लीजिये। उसका आपको ज्ञान करना है तो सबसे पहले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से यह जानने की आवश्यकता है कि वह सत् लक्षण वाला है, अनादि अनन्त है, स्वसहाय है, स्वतः सिद्ध है, किसी ईश्वरादि से उत्पन्न नहीं है और द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से किसी प्रकार भी इसका खण्ड-खण्ड नहीं हो सकता है। इससे जैसी वस्तु अखण्ड है वैसी आपकी पकड़ में आ जायेगा।(२) फिर उसके अंग-प्रत्यंग को जानने के लिये उसमें काल्पनिक भेद (किन्तु विधि पूर्वक) करने होंगे। सबसे पहले उसकी लम्बाई जानने के लिये यह जानने की आवश्यकता है कि वह असंख्यात प्रदेशी है। फिर यह भी दो नय से। शुद्धद्रव्यार्थिक नय से अखण्ड देश है, पर्यायार्थिक नय से एक-एक प्रदेश अपने भिन्न-भिन्न लक्षण से भिन्न-भिन्न है तथा प्रमाण से जो असंख्यात प्रदेश रूप है वह अखण्ड देश है। फिर (३) उस जीव की लम्बाई जानने के लिये यह जानने की आवश्यकता पड़ती है कि वह अनन्त गुणों का बना हुआ एक अखण्ड पिण्ड है। द्रव्य दृष्टि से वह अखण्ड एक है। गुण भेद नहीं है। पर्याय दृष्टि से प्रत्येक गुण भिन्न-भिन्न है। तथा प्रत्येक गुण को जानने की उसी नाम की एक-एक नय है। जो प्रत्येक गुण का भिन्न-भिन्न ज्ञान करा देती है। (५८८ से ५९६ तक)।

फिर प्रत्येक गुण का लक्षण कार्य इत्यादि जानने के बाद यह जानने की आवश्यकता है कि उसके प्रत्येक गुण के अनन्त अविभाग प्रतिछेद हैं। द्रव्य दृष्टि से वह अखण्ड गुण है और पर्याय दृष्टि से उसमें अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। इससे आपको जीव द्रव्य के सर्वस्वसार का परिज्ञान हो जायेगा (४) फिर उन गुणों का परिणमन जानने की आवश्यकता है। प्रत्येक गुण परिणमनशील हैं। प्रत्येक समय हानि-वृद्धि किया करता है। चार द्रव्यों में तो वह हानि-वृद्धि स्वभाव रूप ही होती है किन्तु जीव में सिद्ध होने तक विभाव रूप से भी होती है तथा पुद्गल में स्कन्ध दशा होने पर विभाव रूप होती है और शुद्ध परमाणु दशा होने पर स्वभाव रूप होने लगती है। उसमें फिर यह समझने की आवश्यकता है कि अन्वय दृष्टि से तो गुण त्रिकाल एक रूप रहता है और पर्याय दृष्टि से अपनी योग्यता के कारण हीनाधिक भी होता है। इन दोनों दृष्टियों को बराबर समझ लेने की आवश्यकता है। फिर कुछ गुणों में विभाव परिणमन भी होता है। वह उसी गुण का परिणमन है। उस द्रव्य के चतुष्टय में है। उसी की स्वकाल योग्यता से हुआ है। वह उस द्रव्य में है इसलिये तो नय अवश्य लागू होगी किन्तु वह उसमें क्षणिक है – निकल सकता है इसलिये उसका अस्तित्व उसमें असद्भूत व्यवहार नय से है। इससे उसकी वर्तमान स्थिति भी ख्याल में आयेगी तथा वह त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से असद्भूत होने के कारण निकाला जा सकता है यह भी ख्याल में आ जायेगा।

फिर वह विभाव बुद्धिपूर्वक-अबुद्धिपूर्वक दो प्रकार का है एक उपचरित असदभूत का विषय है दूसरा अनुपचरित का विषय है यह जानना होगा। इससे पुरुषार्थ के द्वारा बुद्धिपूर्वक को नाश करने से अबुद्धिपूर्वक स्वयं नष्ट हो जाता है उनमें अविनाभाव है। साध्यसाधन भाव है। यह जानने की जरूरत है। फिर उसमें केवल स्वभाव रह जायेगा। वह स्वभाव बिना पर के उपचार नहीं हो सकता इसलिये इसको पर से उपचार करना पड़ता है जैसे ज्ञान स्वपर का ज्ञायक है यह उपचरित नाम की सद्भूत नय है क्योंकि ज्ञान उसमें है इसलिये सद्भूत और पर से उपचार किया जाता है इसलिये उपचरित। फिर वह उपचार भी छोड़ना पड़ता है और यह ख्याल आता है कि अरे वह तो द्रव्य की स्वतः सिद्ध अनुजीविनी शक्ति है। अपने कारण से जीती है। ऐसा जानने से पर से उपचरित बुद्धि आपमें से निकल जायेगी और वह स्वतः सिद्ध अनुपचरित वस्तु है यह बराबर ख्याल आयेगा। इस प्रकार प्रत्येक गुण की स्थिति आपके लक्ष्य में आ जायेगी। फिर उस द्रव्य के सब अनन्त गुणों का ज्ञान होने पर यह जानने की जरूरत पड़ेगी कि यह गुण भेद तो व्यवहार नय से है। वास्तव में वह अखण्ड वस्तु है। उसमें गुण भेद कहाँ। ये तो भेद दृष्टि से लक्ष में आ रहे थे। इस प्रकार आप अखण्ड सामान्य सत् वस्तु जैसी है वैसी आपके ज्ञान में आने लगेगी। इस प्रकार इस नय प्रमाण ज्ञान की सहायता से जीव अपने घर में पहुँच जाता है। बस इसी सामान्य जीव वस्तु का जहाँ उपयोग ने आश्रय लिया कि स्वभाव पर्याय रूप सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ। उसके होते ही यह सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जायेगा और उस सामान्यस्वभाव की स्थिरता रूप चारित्र द्वारा थोड़े ही समय में जीव अपने स्वभाव को पाकर सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार सूत्रकार का आशय नयों को यथायोग्य

प्रयोग करके जानने का है। बिना इस नयप्रमाण ज्ञान के जीव अपने को तथा पर को नहीं जान सकता और भेद विज्ञान की सिद्धि नहीं कर सकता। जीव पर प्रमाण को स्वयं लगा लेना तथा अन्य अनन्त नय भी इसी प्रकार लगा लेना। नित्य-अनित्य, तत्-अतत् नय, एक-अनेक नय आदि स्वयं लगा लेना।

अब धर्म द्रव्य पर लगाते हैं (१) पहले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से यह जानने की जरूरत है कि वह स्वतः सिद्ध एक अखण्ड सत् है। (२) फिर द्रव्यार्थिक नय से अखण्ड देश है और पर्यायार्थिक नय से असंख्यात् प्रदेशी है। (३) फिर अनन्त गुणों को विषय करने वाली अनन्त नय उसी नाम से (४) फिर विभाव परिणमन न होने के कारण असद्भूत का प्रयोग इसमें नहीं होगा। (५) फिर वह जीव पुद्गल को गमन सहायी है यह उसका गुण पर से उपचरित किया गया है इसलिये उपचरितसद्भूत किन्तु (६) गतिहेतुत्व स्वतः सिद्ध गुण है यह अनुपचरितसद्भूत (७) फिर गुण और गुणी भेद के कारण व्यवहार (८) फिर वह त्रिकाली स्वभाव को कायम रखता है यह नित्यनय। पर्याय में षट्गुणी स्वाभाविक हानि-वृद्धि करता है यह अनित्य नय (९) सामान्य विशेष रूप है यह अस्ति-नास्ति नय (१०) द्रव्य से वही-वही है तथा पर्याय से नया-नया यह तत्-अतत् नय (११) अखण्ड निरंश देश होने से एक, गुण भेद होने से अनेक इत्यादिक प्रकार से उसका स्वरूप जानने की आवश्यकता है। इसी प्रकार अधर्म, आकाश, काल पर स्वयं लगा लेना।

अब पुद्गल पर लगाकर दिखलाते हैं। (१) वह अखण्ड द्रव्य यह शुद्धद्रव्यार्थिक (२) एक अखण्ड देश यह निश्चय तथा ६ कोण यह व्यवहार (३) अनन्त गुण एक-एक गुण को विषय करने वाला एक-एक नय (४) विभाव परिणमन को बतलाने वाला असद्भूत व्यवहार (५) पर्याय पर से उपचरित के कारण उपचरित सद्भूत (६) गुण स्वतः सिद्ध सद्भूत (७) गुण-गुणी का भेद व्यवहार (८) स्वभाव के कारण नित्य, पर्याय के कारण अनित्य (९) अखण्ड निरंश देश के कारण एक, गुणपर्याय भेद के कारण अनेक इत्यादि प्रकार से जान लेना।

अब सार बात यह है कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उस पर लगने वाली अनन्तनय है। कहाँ तक कहें। आगम तो भाव पकड़ा देता है। नय तो वक्ता का अभिप्राय है। आप कहीं तक नय बनाते जायें। यदि भाव आपके अन्दर पदार्थ का ठीक झलक रहा है तो तीर निशाने पर बैठेगा। वरना सत्-असत् की अविशेषता बिना पागल के समान बकवास होगी। बस सूत्रकार का यही आशय है कि अनेक भाव युक्त जो प्रत्येक सत् है उस पर आप हमारी कही हुई या बिना कही हुई सब नय आगम के नियमानुसार लगा लेगा। नय प्रमाण का ज्ञान परम आवश्यक है। अध्यात्म के चक्रवर्ती श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है कि जैनधर्म की यह तीक्ष्ण नय खड्ग शत्रुओं के मस्तक को काटती हुई पदार्थ की यथार्थ सिद्धि करती है और नय चक्र को चलाने में निपुण गुरुओं की कृपा से ही वह खड्ग चलाई जा सकती है। उसके लिए श्री सद्गुरुदेव की शरण लें। यह बात और जान लेनी चाहिए कि मोक्षशास्त्र में बताई हुई नयों से ग्रन्थकार का बिल्कुल आशय नहीं है क्योंकि वे आगम दृष्टि की नय हैं। छः द्रव्यों के समुच्चय विवेचन पर लगती हैं। दूसरे ये भी जान लेना चाहिये कि यहाँ सब नय एक ही सत् के चतुष्टय पर लगेंगी। दो द्रव्यों पर लगने वाली नय नहीं हैं किन्तु नयाभास हैं। उपर्युक्त सूत्र में नयाभासों का ग्रहण नहीं है।

श्लोक ७४६ से ७६८ तक का सार

प्रकृत में द्रव्य, गुण, पर्याय का अवलम्बन लेकर पर्यायार्थिक, द्रव्यार्थिक नय और प्रमाण पक्ष को समझाने की योजना की गई है। इसी प्रकार एक-अनेक, अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य और भाव-अभाव (तत्-अतत्) इनकी अपेक्षा पर्यायार्थिक नय पक्ष, द्रव्यार्थिक नय पक्ष और प्रमाण पक्ष को बतलाया गया है। इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि किसी एक धर्म द्वारा वस्तु का विवेचन करना पर्यायार्थिक नय है। 'न तथा' इस द्वारा उसका निषेध करना द्रव्यार्थिक नय है और इन सब धर्मों का समुच्चय रूप से ग्रहण करना प्रमाण है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में पर्यायार्थिक नय को व्यवहार नय और द्रव्यार्थिक नय को निश्चय नय कहा गया है। निश्चय दृष्टि अशेष विशेषों से हटाकर चित्त को एक सामान्य तत्त्व की ओर ले जाती है जो द्रव्यार्थिक नय का वाच्य है। यह दृष्टि प्रधान है और स्वरूप सिद्धि के लिये परमावश्यक है। पर्याय दृष्टि अभूतार्थ दृष्टि है निश्चय दृष्टि भूतार्थ दृष्टि है। ज्ञान का विषय तो सब प्रमाण नय हैं किन्तु सम्यक्त्व का विषय एक निर्विकल्प शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय अखण्ड है जो तीनों काल एक रूप शुद्ध चेतन मात्र है। मोक्षमार्ग इसी के आधीन है। यह इस कथन का तात्पर्य है।

नय प्रमाण प्रयोग पद्धति समाप्त

परिशिष्ट

दृष्टि परिज्ञान (३)

पहली पुस्तक में तीन दृष्टियों से काम लिया गया था। अखण्ड को बतलाने वाली द्रव्यदृष्टि, उसके एक-एक गुण, पर्याय आदि अंशों को बतलाने वाली पर्याय दृष्टि, खण्ड-अखण्ड उभयरूप बतलाने वाली प्रमाण दृष्टि। अब चार दृष्टि से काम लिया गया है। वस्तु चार युगलों से गुंफित है। उन युगलों के एक-एक धर्म को बतलाने वाली एक-एक पर्याय दृष्टि, दोनों को इकट्ठा बतलाने वाली प्रमाण दृष्टि तथा अभेद-अखण्ड बतलाने वाली अनुभय दृष्टि या शुद्ध दृष्टि। अब इस तीसरी पुस्तक में अन्य प्रकार की दृष्टियों से काम लिया गया है। पहली व्यवहार दृष्टि, दूसरी निश्चय दृष्टि, तीसरी प्रमाण दृष्टि, चौथी नयातीत आत्मानुभूति दशा। इनकी शुद्धि के लिये नयाभासों का भी परिज्ञान कराया गया है। अब इन पर संक्षेप से कुछ प्रकाश डालते हैं।

(१) सबसे पहले यह समझने की आवश्यकता है कि जैनधर्म एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं मानता। उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध बतलाना नयाभास है चाहे वह कर्त्ता सम्बन्धी हो या भोक्ता सम्बन्धी हो या और कोई प्रकार का भी हो। इतनी बात भली-भांति निर्णीत होनी चाहिये तब आगे गाड़ी चलेगी। (२) फिर वह जानने की आवश्यकता है कि विभाव सहित एक अखण्ड धर्मी का परिज्ञान करना है। बिना भेद के जानने का और कोई साधन नहीं है। अतः उस द्रव्य के चतुष्टय में दो अंश हैं एक विभाव अंश, शेष स्वभाव अंश। विभाव अंश उसमें क्षणिक है, मैल है, आगन्तुक भाव है, बाहर निकल जाने वाली चीज है। उसका नाम असद्भूत है अर्थात् जो द्रव्य का मूल पदार्थ नहीं है। उसको दर्शाने वाली दृष्टि असद्भूत व्यवहार नय है। ये नय विभाव को उस द्रव्य का बतलाती है और असद्भूत बतलाती है। ये नय केवल जीव पुद्गल में ही लगती है क्योंकि विभाव इन्हीं दो में होता है। वह विभाव एक बुद्धिपूर्वक-व्यक्त - अपने ज्ञान की पकड़ में आने वाला। दूसरा अव्यक्त - अपने ज्ञान की पकड़ में न आने वाला। पकड़ में आने वाले को उपचरित असद्भूत कहते हैं। उपचरित का अर्थ ही पकड़ में आने वाला और असद्भूत का अर्थ विभाव। और पकड़ में नहीं आने वाला अनुपचरित असद्भूत। इस नय के परिज्ञान से जीव को मूल मेटर का और मैल का भिन्न-भिन्न परिज्ञान हो जाता है और वह स्वभाव का आश्रय करके मैल को निकाल सकता है।

फिर जो बचा उसको सद्भूत कहते हैं। उसमें पर्याय को उपचरित सद्भूत और गुण को अनुपचरित सद्भूत क्योंकि पर्याय सदा पर से उपचरित की जाती है और गुण पर से उपचरित नहीं होता अतः अनुपचरित। ये नय छहों द्रव्यों पर लगती है जैसे - ज्ञान स्व पर को जानता है। यह तो जीव में सद्भूत उपचरित, पुद्गल में हरा, पीला आदि उपचरित, धर्म द्रव्य में जो जीव पुद्गल को चलने में मदद दे यह स्पष्ट पर से उपचरित किया गया है, अधर्म में जो जीव पुद्गल को ठहरने में मदद करे, आकाश में जो सबको जगह दे और काल में जो सबको परिणमावे। ये सब उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का कथन है। अब पर्याय दृष्टि को गौण करके द्रव्य और गुण का भेद करके कहना अनुपचरित जैसे आत्मा का ज्ञान गुण, पुद्गल का स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुण धर्म का गतिहेतुत्व गुण, अधर्म का स्थितिहेतुत्व गुण, आकाश का अवगाहत्व गुण, काल का परिणमनहेतुत्व गुण। इन गुणों को द्रव्य के उपजीवी गुण बतलाना। स्वतः सिद्ध अपने कारण में रहने वाले, ये अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। अनुपचरित अर्थात् पर से बिल्कुल उपचार नहीं किये गये किन्तु स्व से ही उपचार किये गये।

अब एक दृष्टि और समझने की है वह यह कि दूसरा धर्मी तो दूसरा ही है उसकी तो बात ही क्या। विभाव क्षणिक है। निकल जाता है, वह कोई मूल वस्तु ही नहीं। अतः उसकी भी क्या बात। अब द्रव्य में केवल पूर्ण स्वभाव पर्याय और गुण बचता है क्योंकि एक देश स्वभाव पर्याय भी साथ में विभाव के अस्तित्व के कारण थी। जब विभाव निकल गया तो एक देश स्वभाव पर्याय को कोई अवकाश नहीं रहा। पूर्ण शुद्ध पर्याय द्रव्य का सोलह आने निरपेक्ष स्वतः सिद्ध गुण परिणमन है। गुणों का स्वभाव ही नित्यनित्यात्मक है। जब तक पर्याय में विभाव था तब तक गुण और पर्याय का स्वभाव भेद दिखलाना प्रयोजनवान था। अब पर्याय को गुण से भिन्न कहने का कोई प्रयोजन न रहा। वह गुण में समाविष्ट हो जायेगी। जिन आचार्यों ने केवल गुण समुदाय द्रव्य कहा है वह इसी दृष्टि की मुख्यता से कहा है। अब उस द्रव्य को न असद्भूत नय से कुछ प्रयोजन रहा, और पर्याय भिन्न न रहने से उपचरित सद्भूत से भी प्रयोजन न रहा। अनुपचरित सद्भूत तो उपचरित के मुकाबले में था। जब उपचरित न रहा तो अनुपचरित भी व्यर्थ हो गया।

उसके लिये आचार्यों ने कहा कि अब द्रव्य को भेद करने का और तरीका है और इन नयों की अब आवश्यकता नहीं। अब तो और ही प्रकार से भेद होगा, वह प्रकार है गुण भेद। जितने गुणों का वह अखण्ड पिण्ड है बस केवल उतने ही भेद होंगे और कोई भेद न होगा और न हो सकता है। एक-एक गुण को बतलाने वाली एक-एक नय। जो गुण का नाम, वही नय का नाम जैसे ज्ञान, गुण को बतलाने वाली ज्ञान नय। जहाँ तक गुण-गुणी का भेद है वहाँ तक व्यवहार नय है। वे सब व्यवहार नय का विस्तार है, परिवार है। ये सब काल्पनिक भेद केवल समझाने की दृष्टि से किया गया है। जो अभेद में भेद करे वह सब व्यवहार है।

अब निश्चय नय को समझाते हैं। निश्चय नय का विषय परवस्तु रहित, विभाव रहित, एकदेश स्वभाव पर्याय रहित, पूर्ण स्वभाव पर्याय को गुणों में समाविष्ट करके, गुण भेद को द्रव्य में समाविष्ट करके अखण्ड वस्तु है। ऐसा कुछ वस्तु का नियम है कि पूर्ण अखण्ड द्रव्य का द्योतक कोई शब्द ही जगत में नहीं है। जो कहोगे वह एक गुण भेद का द्योतक होगा जैसे सत्-अस्तित्व गुण का द्योतक है, वस्तु-वस्तुत्व गुण का, जीव-जीवत्व गुण का, द्रव्य-द्रव्यत्व गुण का। अतः लाचार होकर अभेद के लिये आपको यही कहना पड़ेगा कि भेदरूप नहीं अर्थात् 'नेति' शब्द से वह आशय प्रकट किया जायेगा। अर्थ उसका होगा भेद रूप नहीं - अभेद रूप। यह जीव को हर समय ऐसा दिखलाता है जैसा सिद्ध में है। पुद्गल को हर समय एक शुद्ध परमाणु। धर्मादिक तो है ही शुद्ध।

अब प्रमाण दृष्टि समझाते हैं। यह कहती है जो भेद रूप है, वही तो अभेद रूप है। जो नित्य है वही तो अनित्य है। इत्यादि रूप से दोनों विरोधी धर्मों को एकधर्मी में अविरोध पूर्वक स्थापित करती है।

उपर्युक्त तीनों दृष्टियों का ज्ञान होने पर वस्तु का परिज्ञान हर पहलू से हो जाता है। वस्तु स्वतन्त्र पर से निरपेक्ष, ख्याल में आ जाती है। यहाँ तक सब ज्ञान का कार्य है। इससे आगे अब नयातीत दशा को समझाते हैं। जो कोई जीव ऊपर बतलाये हुये सब विकल्प जाल को जानकर वस्तु के परिज्ञान से सन्तुष्ट हो जाता है और अपने को मूलभूत शुद्ध जीवास्तिकाय रूप जानकर उसका श्रद्धान करता है। उपयोग जो अनादि काल से पर की एकत्वबुद्धि, परकर्तृत्व, परभोक्तृत्व में अटका हुआ है, उसको वहाँ से हटा कर अपने सामान्य स्वरूप की ओर मोड़ता है और सब प्रकार के नय प्रमाण निक्षेपों के विकल्प जाल से हटकर सामान्य तत्त्व में लीन होता हुआ अतीन्द्रिय सुख को भोगता है वह पुरुष नयातीत दशा को प्राप्त होता है, उनको आत्मानुभूति, समयसार आत्मख्याति, आत्मदर्शन, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र इत्यादिक अनेक नामों से कहा है। इसका फल कर्म कलङ्क से रहित पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति है।

प्रश्न १३३ - नय किसे कहते हैं ?

उत्तर - नित्य-अनित्य आदि विरुद्ध दो धर्म स्वरूप द्रव्य में किसी एक धर्म का वाचक नय है जैसे सत् नित्य है, या सत् अनित्य है अथवा अनन्त धर्मात्मक-वस्तु को देखकर उसके एक-एक धर्म का नाम रखना नय है जैसे ज्ञान दर्शन इत्यादिक । (५०४, ५१३)

प्रश्न १३४ - नय के औपचारिक भेद लक्षण सहित लिखो ?

उत्तर - (१) द्रव्य नय (१) भाव नय। पौद्गलिक शब्दों को द्रव्य नय कहते हैं और उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले विकल्प सहित जीव के श्रुतज्ञानांश को भाव नय कहते हैं। (५०५)

प्रश्न १३५ - नय क्या करता है ?

उत्तर - वस्तु के अनन्त धर्मों का भिन्न-भिन्न ज्ञान कराकर वस्तु को अनन्त धर्मात्मक सिद्ध करता है तथा उसका अनुभव करा देता है। (५१५)

प्रश्न १३६ - नयों के मूल भेद कितने हैं ?

उत्तर - दो (१) द्रव्यार्थिक या निश्चय नय (२) पर्यायार्थिक या व्यवहार नय। (५१७)

प्रश्न १३७ - द्रव्यार्थिक नय किसे कहते हैं और वे कितने हैं ?

उत्तर - केवल अखण्ड सत् ही जिसका विषय है वह द्रव्यार्थिक है। यह एक ही होता है। इसमें भेद नहीं हैं। (५१८)

प्रश्न १३८ - पर्यायार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर - अंशों को पर्यायें कहते हैं। उन अंशों में से किसी एक विवक्षित अंश को कहने वाली पर्यायार्थिक नय है। (५१९)

प्रश्न १३९ - व्यवहार नय का लक्षण, कारण और फल बताओ ?

उत्तर - अभेद सत् में विधि पूर्वक गुण-गुणी भेद करना व्यवहार नय है। साधारण या असाधारण गुण इसकी प्रवृत्ति में कारण है। अनन्तधर्मात्मक एकधर्मी में आस्तिक्य बुद्धि का होना इसका फल है क्योंकि गुण के सद्भाव में नियम से द्रव्य का अस्तित्व प्रतीति में आ जाता है। (५२२, ५२३, ५२४)

प्रश्न १४० - सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण, कारण, फल बताओ ?

उत्तर - विवक्षित किसी द्रव्य के गुणों को उसी द्रव्य में भेद रूप से प्रवृत्ति कराने वाले नय को सद्भूतव्यवहार नय कहते हैं। सत् का असाधारण गुण इसकी प्रवृत्ति में कारण है। एक वस्तु का अस्तित्व दूसरी वस्तु से सर्वथा भिन्न है तथा प्रत्येक वस्तु पूर्ण स्वतन्त्र और स्वसहाय है ऐसा भेद विज्ञान होना इसका फल है। (५२५ से ५२८)

प्रश्न १४१ - असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण, कारण, फल और दृष्टान्त बताओ ?

उत्तर - मूल द्रव्य में वैभाविक परिणमन के कारण जो एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में संयोजित करना असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है। उसकी वैभाविक शक्ति की उपयोगिता इसका कारण है। विभाव भाव क्षणिक है। उसको छोड़कर जो कुछ बचता है वह मूल द्रव्य है। ऐसा मानकर सम्यग्दृष्टि होना इसका फल है पुद्गल के क्रोध को जीव का क्रोध कहना यह इसका दृष्टान्त है। (५२९ से ५३३)

प्रश्न १४२ - अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण, उदाहरण तथा फल बताओ ?

उत्तर - जिस सत् में जो शक्ति अन्तर्लीन है। उसको उसी की पर्याय निरपेक्ष केवल गुण रूप से कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है जैसे जीव का ज्ञान गुण। इससे द्रव्य की त्रिकाल स्वतन्त्र सत्ता का परिज्ञान होता है। (५३४ से ५३९)

प्रश्न १४३ - उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण, उदाहरण, कारण और फल बताओ ?

उत्तर - अविरुद्धतापूर्वक किसी कारणवश किसी वस्तु का गुण उसी में पर की अपेक्षा से उपचार करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। अर्थ विकल्प ज्ञान प्रमाण है यह इसका उदाहरण है। बिना पर के स्वगुण उपचार नहीं किया जा सकता यह इसकी प्रवृत्ति में कारण है। विशेष को साधन बनाकर सामान्य की सिद्धि करना इसका फल है। (५४० से ५४५)

प्रश्न १४४ - अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण, कारण, फल बताओ ?

उत्तर - अबुद्धिपूर्वक विभाव भावों को जीव का कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। वैभाविक शक्ति का उपयोग दशा में द्रव्य से अनन्यमय होना इसकी प्रवृत्ति में कारण है। विभाव भाव में हेय बुद्धि का होना इसका फल है। (५४६ से ५४८)

प्रश्न १४५ - उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण, कारण फल बताओ ?

उत्तर - बुद्धिपूर्वक विभाव भावों को जीव के कहना उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। इसमें पर निमित्त है यह इसका कारण है। अविनाभाव के कारण अबुद्धिपूर्वक भावों की सत्ता का परिज्ञान होना इसका फल है। (५४९ से ५५१)

प्रश्न १४६ - उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का मर्म क्या है ?

उत्तर - "ज्ञान पर को जानता है" ऐसा कहना अथवा तो ज्ञान में राग ज्ञात होने से "राग का ज्ञान है" ऐसा कहना अथवा ज्ञाता स्वभाव के भावपूर्वक ज्ञानी "विकार को भी जानता है" ऐसा कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का कथन है।

प्रश्न १४७ - अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय का मर्म क्या है ?

उत्तर - ज्ञान और आत्मा इत्यादि गुण-गुणी के भेद से आत्मा को जानना वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है।

प्रश्न १४८ - उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का मर्म बताओ ?

उत्तर - साधक ऐसा जानता है कि अभी मेरी पर्याय में विकार होता है। उसमें व्यक्त राग-बुद्धिपूर्वक का राग-प्रगट ख्याल में लिया जा सकता है ऐसे बुद्धिपूर्वक के विकार को आत्मा का जानना यह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

प्रश्न १४९ - अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का मर्म बताओ ?

उत्तर - जिस समय बुद्धिपूर्वक का विकार है उस समय अपने ख्याल में न आ सके - ऐसा अबुद्धिपूर्वक का विकार भी है; उसे जानना वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

प्रश्न १५० - सम्यक् नय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - जो नय तद्गुणसंविज्ञान सहित (जीव के भाव वे जीव के तद्गुण हैं तथा पुद्गल के भाव वे पुद्गल के तद्गुण हैं - ऐसे विज्ञान सहित हो) उदाहरण सहित हो, हेतु सहित और फलवान् (प्रयोजनवान्) हो वह सम्यक् नय है। जो उससे विपरीत नय है वह नयाभास (मिथ्या नय) है क्योंकि पर भाव को अपना कहने से आत्मा को क्या साध्य (लाभ) है (कुछ नहीं)।

प्रश्न १५१ - नयाभास का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - जीव को पर का कर्त्ता-भोक्ता माना जाय तो भ्रम होता है व्यवहार से भी जीव पर का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। व्यवहार से आत्मा राग का कर्त्ता-भोक्ता है क्योंकि राग वह अपनी पर्याय का भाव है इसलिये उसमें तद्गुण संविज्ञान लक्षण लागू होता है। जो उससे विरुद्ध कहे वह नयाभास (मिथ्या नय) है।

प्रश्न १५२ - सम्यक् नय और मिथ्या नय की क्या पहचान है ?

उत्तर - जो भाव एकधर्मी का हो, उसको उसी का कहना तो सच्चा नय है और एक धर्मी के धर्म को दूसरे धर्मी का धर्म कहना मिथ्या नय है। जैसे राग को आत्मा का कहना तो सम्यक् नय है और वर्ण को आत्मा का कहना मिथ्या नय है।

प्रश्न १५३ - नयाभासों के कुछ दृष्टान्त बताओ ?

उत्तर - (१) शरीर को जीव कहना (२) द्रव्य कर्म नोकर्म का कर्त्ता-भोक्ता आत्मा को कहना (३) घर, धन-धान्य, स्त्री, पुत्रादि बाह्य पदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता जीव को कहना (४) ज्ञान को ज्ञेयगत या ज्ञेय को ज्ञानगत कहना इत्यादि। दो द्रव्य में कुछ भी संबंध मानना नयाभास है।

प्रश्न १५४ - व्यवहार नयों के नाम बताओ ?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य में जितने गुण हैं उनमें हर एक गुण को भेद रूप से विषय करने वाली उसी नाम की नय है। जितने एक वस्तु में गुण हैं उतनी नय है। ये शुद्ध द्रव्य को जानने का तरीका है। जैसे आत्मा के अस्तित्व गुण को बताने वाली अस्ति नय, ज्ञान गुण को बतानेवाली ज्ञान नय।

प्रश्न १५५ - उपर्युक्त नयों के पहचानने का क्या तरीका है ?

उत्तर - विशेषण विशेष्य रूप से उदाहरण सहित जितना भी कथन है वह सब व्यवहार नय है यही इसके जानने का गुर है।

प्रश्न १५६ - निश्चय नय का लक्षण क्या है ?

उत्तर - जो व्यवहार का प्रतिषेधक हो, वह निश्चय नय है। 'नेति' से इसका प्रयोग होता है। यह उदाहरण रहित है।

प्रश्न १५७ - व्यवहार प्रतिषेध्य क्यों है ?

उत्तर - क्योंकि वह मिथ्या विषय का उपदेश करता है। वह इस प्रकार द्रव्य में गुण पर्यायों के टुकड़े करता है जैसे परशु से लकड़ी के टुकड़े कर दिये जाते हैं किन्तु द्रव्य अखण्ड एक है उसमें ऐसे टुकड़े नहीं हैं। अतः व्यवहार नय मिथ्या है। व्यवहार नय के कथनानुसार श्रद्धान करने वाले मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न १५८ - जब वह मिथ्या है तो उसके मानने की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर - निश्चय नय अनिर्वचनीय है। अतः वस्तु समझने-समझाने के लिये व्यवहार नय की आवश्यकता है। यह केवल वस्तु को पकड़ा देता है। इतना ही इसमें कार्यकारीपना है क्योंकि वस्तु को पकड़ने का और कोई साधन नहीं है।

प्रश्न १५९ - निश्चय नय का विषय क्या है ?

उत्तर - जो व्यवहार नय का विषय है वही निश्चय नय का विषय है। व्यवहार नय में से भेद विकल्प निकाल देने पर निश्चय नय का ही विषय बचता है।

प्रश्न १६० - निश्चयनयावलम्बी स्वसमयी है या परसमयी ?

उत्तर - निश्चयनयावलम्बी भी पर समयी है क्योंकि इसमें निषेध रूप विकल्प है। दूसरे दोनों नय सापेक्ष है। जहाँ विधि रूप विकल्प होगा वहाँ निषेधरूप विकल्प भी अवश्य होगा।

प्रश्न १६१ - स्वसमयी जीव कौन है ?

उत्तर - जो निश्चयनय के विकल्प को भी पार करके स्वात्मानुभूति में प्रवेश कर गया है। नयातीत अवस्था को स्वसमय प्रतिबद्ध अवस्था कहते हैं।

प्रश्न १६२ - निश्चयनय के कितने भेद हैं। कारण सहित बताओ ?

उत्तर - निश्चयनय का कोई भेद नहीं क्योंकि वह अखण्ड सामान्य को विषय करती है अतः उसमें भेद हो ही नहीं सकता। वह केवल एक ही है।

प्रश्न १६३ - निश्चयनय के शुद्ध निश्चय, अशुद्ध निश्चय आदि भेद हैं या नहीं ?

उत्तर - नहीं। वे व्यवहार नय के ही नामान्तर हैं। केवल कथनशैली का अन्तर है। जो उन कथनों को वास्तव में ही कोई सामान्य की द्योतक निश्चय नय मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न १६४ - व्यवहार नय और निश्चय नय का क्या फल है ?

उत्तर - व्यवहार नय को हेय श्रद्धान करना चाहिये। यदि उसे उपादेय माने तो उसका फल अनन्त संसार है। निश्चय नय का विषय उपादेय है। निश्चय नय का विषय जो सामान्य मात्र वस्तु है, यदि उसका आश्रय करे और निश्चय नय का विकल्प भी छोड़े तो स्वसमयी है। उसका फल आत्मसिद्धि है।

प्रश्न १६५ - निश्चय और व्यवहार के जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर - व्यवहार भेद को कहते हैं। भेद में राग, आस्रव, बंध, संसार है। निश्चय अभेद को कहते हैं। अभेद में मोक्षमार्ग, वीतरागता, संवर और निर्जरा है।

प्रश्न १६६ - फिर आचार्यों ने भेद का उपदेश क्यों दिया ?

उत्तर - केवल अभेद को समझने के लिये। भेद में अटकने के लिये नहीं। जो केवल व्यवहार के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं उनके लिये जिनोपदेश ही नहीं है। ऐसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है। श्री समयसारजी में व्यवहार को म्लेच्छभाषा और व्यवहारावलम्बी को म्लेच्छ कहा है क्योंकि म्लेच्छों के धर्म नहीं होता।

प्रश्न १६७ - व्यवहार तो ज्ञानियों के भी होता है ना ?

उत्तर - ज्ञानियों के व्यवहार का अवलम्बन, आश्रय श्रद्धा में कदापि नहीं होता किन्तु वे तो व्यवहार के केवल ज्ञाता होते हैं। व्यवहार का अस्तित्व वस्तु स्वभाव के नियमानुसार उनके होता अवश्य है पर ज्ञेय रूप से।

प्रश्न १६८ - व्यवहार को श्री समयसारजी में प्रयोजनवान कहा है ना ?

उत्तर - तुमने ध्यान से नहीं पढ़ा वहाँ लिखा है। "जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है।" इसका अर्थ गुरुगम अनुसार यह है कि व्यवहार ज्ञानी की पर्याय में उस समय मात्र के लिये ज्ञेय रूप से मौजूद है न कि इसका यह अर्थ है कि ज्ञानी को उसका आश्रय होता है (श्रीसमयसारजी गाथा १२ टीका)। श्री पंचास्तिकाय गाथा ७० टीका में लिखा है। "कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधिकार को समाप्त करके सम्यक्पने प्रकट प्रभुत्व शक्तिवाला होता हुआ ज्ञान को ही अनुसरण करने वाले मार्ग में चलता है - प्रवर्तता है - परिणमता है - आचरण करता है तब वह विशुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि रूप अपवर्गनगर को पाता है।" तीन काल और तीन लोक में यही एक मोक्षप्राप्ति का उपाय है। श्री प्रवचनसार अन्तिम पंचरत्न में शुद्ध के ही मुनिपना, ज्ञान, दर्शन निर्वाण कहा है और नवमें ग्रीवक में जाने वाले पूर्ण शुद्ध व्यवहारी मुनि को संसार तत्त्व अर्थात् विभाव का राजा या मिथ्यादृष्टियों का सरताज कहा है। ऐसी रहस्य की बातें बिना सद्गुरु समागम नहीं आतीं। ऐसा मालूम होता है कि आपने बिना गुरुगम अभ्यास किया है। यदि बिना गुरुगम तत्त्व हाथ लग जाया करता तो सम्यक्त्व में देशनालब्धि की आवश्यकता न रहती। केवल शास्त्रों से काम चल जाता।

प्रश्न १६९ - प्रमाण ज्ञान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - जो ज्ञान सामान्य विशेष दोनों स्वरूपों को मैत्रीपूर्वक जानता है वह प्रमाण है अर्थात् वस्तु के सम्पूर्ण अंशों को अविरोधपूर्वक ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है इसका विषय संपूर्ण वस्तु है। इसके द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का अनुभव एक साथ हो जाता है। (६६५, ६७६)

प्रश्न १७० - प्रमाण ज्ञान के भेद बताओ ?

उत्तर - प्रमाण के दो भेद हैं (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष। असहाय ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और सहाय सापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं। सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। अवधि मनःपर्यय विकल प्रत्यक्ष है। मतिश्रुत परोक्ष है किन्तु इनमें इतनी विशेषता है कि अवधि मनःपर्याय निश्चय से परोक्ष हैं उपचार से प्रत्यक्ष हैं। मतिश्रुतज्ञान स्वात्मानुभूति में प्रत्यक्ष हैं। परपदार्थ को जानते समय परोक्ष हैं। इतनी विशेषता और है कि आत्मसिद्धि में दो मतिश्रुतज्ञान ही उपयोगी है। अवधि मनःपर्यय नहीं।

प्रश्न १७१ - निक्षेपों का स्वरूप बताओ ?

उत्तर - गुणों के आक्षेप को निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं। नाम स्थापना, द्रव्य और भाव। अतद्गुण वस्तु में व्यवहार चलाने के लिये जो नाम रखा जाता है वह नाम निक्षेप है। जैसे किसी व्यक्ति में 'जिन' के गुण नहीं है पर उसका नाम 'जिन' रखना उसी के आकार वाली वस्तु में यह वही है ऐसी बुद्धि का होना स्थापना निक्षेप है जैसे प्रतिमा। वर्तमान में वैसा न हो किन्तु भावि में नियम से वैसा होने वाले को द्रव्य निक्षेप कहते हैं जैसे गर्भ जन्म में ही भगवान को जिन कहना। जिस शब्द से कहा जाय, उसी पर्याय में होनेवाली वस्तु को भाव निक्षेप कहते हैं जैसे साक्षात् केवली को जिन कहना।

नय प्रमाण प्रयोग पद्धति

प्रश्न १७२ - द्रव्य, गुण, पर्याय पर पर्यायार्थिक नय का प्रयोग करके दिखाओ ?

उत्तर - द्रव्य, गुण, पर्यायवाला है अर्थात् जो द्रव्य को भेद रूप कहे जैसे गुण है, पर्याय है और उनका समूह द्रव्य है। उस द्रव्य में जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण वह द्रव्य नहीं है, पर्याय भी द्रव्य, गुण नहीं है। यह पर्यायार्थिक नय का कहना है। (७४७ दूसरी पंक्ति, ७४९)

प्रश्न १७३ - द्रव्य, गुण, पर्याय पर शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रयोग करो ?

उत्तर - तत्त्व अनिर्वचनीय है अर्थात् जो द्रव्य है वही गुण पर्याय है। जो गुण पर्याय है वही द्रव्य है क्योंकि पदार्थ अखण्ड है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का कहना है। (७४७ प्र. पंक्ति, ७५० प्र. पं.)

प्रश्न १७४ - द्रव्य, गुण, पर्याय पर प्रमाण का प्रयोग करो ?

उत्तर - जो अनिर्वचनीय है, वही गुण पर्यायवाला है, दूसरा नहीं है अथवा जो गुण पर्यायवाला है वही अनिर्वचनीय है इस प्रकार जो व्यवहार निश्चय दोनों के पक्ष को मैत्रीपूर्वक कहे, वह प्रमाण है। (७४८, ७५० दूसरी पंक्ति)

प्रश्न १७५ - अनेक नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, तीनों अनेक हैं। अपने-अपने लक्षण से भिन्न-भिन्न हैं। यह अनेक नामा व्यवहार नय का पक्ष है। ७५२

प्रश्न १७६ - एक नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - नाम से चाहे द्रव्य कहो अथवा गुण कहो अथवा पर्याय कहो पर सामान्यपने ये तीनों ही अभिन्न एक सत् है इसलिये इन तीनों में से किसी एक के कहने से बाकी के दो भी बिना कहे ग्रहण होते ही हैं यह एक नामा व्यवहार नय है। ७५३

प्रश्न १७७ - शुद्धद्रव्यार्थिकनय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - निरंश देश होने से न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न विकल्प से प्रगट है यह शुद्धद्रव्यार्थिकनय का पक्ष है। ७५४

प्रश्न १७८ - प्रमाण का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - पर्यायार्थिक नय से जो सत् द्रव्य, गुण, पर्यायों के द्वारा अनेक रूप भेद किया जाता है, वही सत् अंशरहित (अखण्ड) होने से अभेद्य एक है यह प्रमाण का पक्ष है। ७५५

प्रश्न १७९ - अस्ति नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - विपक्ष की अविवक्षा रहते वस्तु सामान्य अथवा विशेष जिसकी विवक्षा हो, उस रूप से है। यह कहना एक अस्ति नामा व्यवहार नय है। ७५६

प्रश्न १८० - नास्तिनय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - विपक्ष की विवक्षा रहते वस्तु सामान्य अथवा विशेष जिस रूप से नहीं है वह नास्ति पक्ष है। ७५७

प्रश्न १८१ - अस्ति-नास्ति पर द्रव्यार्थिक नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - तत्त्व स्व रूप से है यह भी नहीं है तत्त्व पर रूप से नहीं है यह भी नहीं है। क्योंकि वस्तु सब विकल्पों से रहित है यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। ७५८

प्रश्न १८२ - अस्ति-नास्ति पर प्रमाण का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - जो पर स्वरूप के अभाव से नहीं है, वही स्व रूप के सद्भाव से है, तथा वही अनिर्वचनीय है यह सब प्रमाण पक्ष है। ७५९

प्रश्न १८३ - अनित्य नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - सत् प्रत्येक समय उत्पन्न होता है और नाश होता है यह अनित्य नामा व्यवहार नय है। ७६०

प्रश्न १८४ - नित्य नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - सत् न उत्पन्न होता है न नाश होता है, वह सदा एक रूप ध्रुव रहता है यह नित्य नामा व्यवहार नय है। ७६१

प्रश्न १८५ - निश्चय नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - सत् न नाश होता न उत्पन्न होता है न ध्रुव है, वह तो निर्विकल्प है यह निश्चय नय का पक्ष है। ७६२

प्रश्न १८६ - प्रमाण का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - जो अनित्य की विवक्षा में नित्य रूप से नहीं है वही नित्य की विवक्षा में अनित्य रूप से नहीं है। इस प्रकार तत्त्व नित्यानित्य है यह प्रमाण पक्ष है। ७६३

प्रश्न १८७ - अतत् नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - वस्तु के नवीन भाव रूप परिणमन होने से "यह तो वस्तु ही अपूर्व-अपूर्व है" यह अतत् नामा व्यवहार नय का पक्ष है। ७६४

प्रश्न १८८ - तत् नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - वस्तु के नवीन भावों से परिणमन करने पर भी तथा पूर्व भावों से नष्ट होने पर भी यह अन्य वस्तु नहीं है किन्तु वही की वही है यह तत् नय नामा व्यवहार नय का पक्ष है। ७६५

प्रश्न १८९ - शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - वस्तु में न नवीन भाव होता है न प्राचीन भाव का नाश होता है, क्योंकि न वस्तु अन्य है न वही है किन्तु अनिर्वचनीय अखंड है यह शुद्धद्रव्यार्थिकनय का पक्ष है। ७६६

प्रश्न १९० - प्रमाण का प्रयोग बताओ ?

उत्तर - जो सत् प्रतिक्षण नवीन-नवीन भावों से परिणमन कर रहा है वह न तो असत् उत्पन्न है और न सत् विनष्ट है यह प्रमाण पक्ष है। ७६७

नोट - हमने केवल अस्तिपक्ष के प्रश्नोत्तर दिए हैं नास्ति पक्ष के छोड़ दिये हैं। जैसे प्रमाण के दिए हैं। प्रमाणाभास के छोड़ दिए हैं। शंका समाधान द्वारा जो पाठ पीसा गया है, उसके प्रश्नोत्तर भी नहीं दिए हैं।

हरिगीत

वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से रचना बनी।
हम तो रमते रूप में, हमको जरूरत क्या पड़ी॥

ग्रन्थराज श्री पञ्चाध्यायी

द्वितीय खण्ड/चतुर्थ पुस्तक

विशेष वस्तु निरुपण

श्लोक न. ७६९ से ११४२ तक

प्रकृत विषय पूर्व श्लोक नं. ७ से चालू

प्रतिज्ञा-विशेष वस्तु की सिद्धि ७६९-७७०

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा ।
नासिद्धो धातुसंज्ञोऽपि कश्चित्पीतः सितोऽपरः ॥ ७६९ ॥

अर्थ–जिस प्रकार वस्तु सामान्य सत् रूप स्वयं सिद्ध है उसी प्रकार वही वस्तु विशेष धर्मों वाली भी स्वतः सिद्ध है क्योंकि जिसमें सामान्य धर्म पाया जाता है उसी में तो विशेष धर्म भी पाये जाते हैं। यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु प्रसिद्ध दृष्टांत से सिद्ध है जैसे किसी वस्तु की धातु संज्ञा है यह तो सामान्य है। धातु सामान्य की अपेक्षा एक होने पर भी कोई धातु पीली होने के कारण सोना कही जाती है तो कोई धातु सफेद होने के कारण चांदी। यह जो उस धातु में पीला धर्म और सफेद धर्म है यह विशेष है। जो धातु है, वही पीली है। जो पीली है, वही धातु है क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक एक ही है। इस प्रकार सत् रूप तो छहों सामान्य हैं किन्तु कोई सत् चेतन होने के कारण जीव है तो कोई सत् अचेतन होने के कारण अजीव है। यह उस वस्तु में विशेषपने का सूचक है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है।

भावार्थ–पहली पुस्तक के श्लोक नं. ७ में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार ७६८ तक सामान्य वस्तु का निरूपण किया। अब उस वस्तु में क्या-क्या विशेषतायें हैं इसकी सिद्धि करेंगे। भाव यह है कि छहों द्रव्यों में द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व, उत्पाद व्यय ध्रुवत्व आदि धर्म तो सामान्य रूप से पाया जाता है जो प्रथम पुस्तक में कहा। फिर वे छहों द्रव्य अनेकान्तात्मक है। 'अस्ति-नास्ति' आदि चार युगलों से गुम्फित हैं, ये दूसरी पुस्तक में कहा। फिर उन छहों द्रव्यों के परिज्ञान करने के लिये नय प्रमाण निक्षेप तथा इनकी प्रयोग पद्धति तीसरी पुस्तक में दिखलाई। किन्तु अब तक जितना विवेचन किया वह छहों द्रव्यों पर बराबर लागू होता है। अब यह समझाना चाहते हैं कि कुछ ऐसी बातें भी हैं जो छहों में नहीं पाई जातीं किन्तु कोई बात किसी सत् में पाई जाती है तथा कोई बात किसी सत् में पाई जाती है। कोई बात एक में ही पाई जाती है जैसे चेतनपना जीव सत् में ही है मूर्तिकपना पुद्गल सत् में ही है। कोई बात दो में पाई जाती है जैसे वैभाविक शक्ति जीव पुद्गल में है। कोई बात तीन में पाई जाती है जैसे असंख्यात प्रदेशपना जीव धर्म अधर्म में पाया जाता है। कोई बात पाँच में पाई जाती है जैसे जड़पना जीव को छोड़कर पाँच में पाया जाता है अथवा अमूर्तिकपना पुद्गल को छोड़ कर पाँच में पाया जाता है। इनको कहते हैं विशेष धर्म। जैसे सामान्य वस्तु का जानना परमावश्यक है उसी प्रकार उसकी विशेषताओं का जानना भी परमावश्यक है क्योंकि वस्तु उभयधर्मात्मक है। जो वस्तु सत् सामान्य है वही तो सत् विशेष जीवादि है। अब इस चौथी पुस्तक में सत् की विशेषताओं का ही ज्ञान कराया जायेगा। ऐसा यह ग्रन्थकार का प्रतिज्ञासूत्र है। सो इसी बात को अब ग्रन्थकार स्वयं दूसरे सूत्र में कहेंगे कि जो बात सब में पाई जाये वह सामान्य और जो सबमें न पाई जाकर कुछों में पाई जावे वह विशेष और फिर तीसरे सूत्र से उन विशेषताओं का क्रमशः कथन प्रारम्भ कर देंगे।

सामान्य विशेष का लक्षण

बहुव्यापकमेवैतत्सामान्यं सदृशत्वतः ।
अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः ॥ ७७० ॥

अर्थ–जो सदृशपने से बहुत में व्यापक है (अर्थात् जो धर्म छहों द्रव्यों में पाया जाता है) वह सामान्य धर्म है और जो धर्म विसदृश अल्पव्यापक है (अर्थात् कुछ में पाया जाता है सब में नहीं पाया जाता वह विशेष है। जैसे–द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व, उत्पादव्ययध्रुवत्व अनेकान्तात्मकत्व आदि सब में पाया जाता है यह सामान्य है और चेतनत्व-अचेतनत्व, मूर्तत्व-अमूर्तत्व, क्रियात्व, अलोकत्व, वैभाविकत्व, इत्यादि कुछ में पाया जाता है। यह विशेष है ।

सामान्य कथन समाप्त हुआ।

पहला अवान्तर अधिकार

सत् की चार विशेषतायें ७७१ से ७९५ तक २५

(क) जीव-अजीव की विशेषता ७७१ से ७७४ तक

जीवाजीवविशेषोऽस्ति द्रव्याणां शब्दतोऽर्थतः ।
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोऽप्यचेतनः ॥ ७७१ ॥

अर्थ–द्रव्यों में (सतों में) शब्द से और अर्थ से जीव-अजीव की विशेषता है। जीव चेतना लक्षण है और अजीव अचेतन लक्षण है।

भावार्थ–सामान्य दृष्टि से छहों द्रव्यों को अपने सामने रखिये और देखिये कि सामान्य रूप से छहों सत् दीखने पर भी एक सत् तो उनमें चेतन नज़र आयेगा और शेष अचेतन। जो चेतन है उसको शब्द से भी जीव कहते हैं और भाव से भी वह जीव ही है क्योंकि जीवपना चेतना का ही नाम है। शेष पाँच में चेतना नहीं है अतः वे शब्द से अजीव हैं और भाव से भी अजीव हैं। आचार्य महाराज ने सत् की विशेषतायें बतलाते हुये सबसे पहले भेद विज्ञान रूपी कुलहाड़ा मारा ताकि जीव को यह सूझ पड़े कि वह तो चेतन सत् है और शरीर धन धान्यादि जिनमें उसकी बुद्धि अपनेपने की अटकी हुई है वह अचेत सत् है। चेतन सत् अचेतन सत् को छू भी नहीं सकता फिर अपना कैसा? कितनी स्पष्ट बात है फिर बड़े-बड़े दिगम्बर तक त्यागी और धुरन्धर विद्वान शास्त्रों के पोथे के पोथे पढ़कर भी इस चेतन-अचेतन की एकत्वबुद्धि को न मिटा सके। आश्चर्य है। अब कोई जीव को ही न मानता हो तो उसके लिये जीव-अजीव दोनों की सिद्धि करते हैं–

नासिद्धं सिद्धदृष्टांताच्चेतनाचेतनद्वयम् ।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥ ७७२ ॥

अर्थ–चेतन और अचेतन ये दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु प्रसिद्ध दृष्टांत से सिद्ध है। यदि चेतन-अचेतन दोनों को जुदे-जुदे न मानकर एक ही माना जाय तो जीव सहित शरीर में और घट वस्त्र आदिक में जो प्रत्यक्ष अन्तर दीखता है वह नहीं दीखना चाहिये। किन्तु भेद दीखता है। इससे जीव-अजीव भिन्न-भिन्न सिद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ–यदि शरीर में जीव न होता तो यह भी घड़े की तरह मुरदावत पड़ा रहता किन्तु इसमें घड़े आदि के अतिरिक्त जो जानना देखना, सुख चाहना, दुःख से डरना राग द्वेष मोह का करना और सुख-दुःख का भोगना (श्री पञ्चास्तिकाय गा. १२२) आदि ऐसी क्रियायें प्रत्यक्ष दीखती हैं जो शरीर में घट पट आदि से भिन्न चेतन पदार्थ की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध करती हैं। बहुत से नास्तिक लोग हैं जो जीव का अस्तित्व ही नहीं मानते, उनके लिये ग्रन्थकार ने जीव सिद्धि का प्रयास किया है। अब ग्रन्थकार स्वयं अनुमान प्रयोग से जीव की सिद्धि करके दिखलाते हैं–

अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमक्षतः ।
यो नैवं स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥ ७७३ ॥

अर्थ–जीव है क्योंकि सुख-दुःखादि का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। जो सुख-दुःखादि का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं करता वह जीव भी नहीं है जैसे सुप्रसिद्ध घड़ा (यहाँ सुख-दुःख वैभाविक परिणति के लिये आया है)।

भावार्थ–"मैं सुखी हूँ" अथवा "मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार आत्मा में मानसिक स्वयंवेदना ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। सुख-दुःख का अनुभव ही आत्मा को जड़ से भिन्न सिद्ध करता है। घट वस्त्र आदिक जड़ पदार्थों में सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है इसलिये वे जीव भी नहीं हैं। इससे सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला जीव पदार्थ सिद्ध होता है। और व्यतिरेक दृष्टांत से अजीव भी सिद्ध होता है।

इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।
साध्यो जीवः स्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥ ७७४ ॥

अर्थ–इस स्वसंवेदन रूप प्रवल हेतु सहित प्रत्यक्ष प्रमाण से अपनी सिद्धि के लिये साध्य जीव निश्चित हो गया। जो इससे अन्य है अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं है। वह अजीव है। यह भी सिद्ध हो गया।

भावार्थ–"जीवः अस्ति स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात्" – अर्थ जीव है क्योंकि वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव में आता है। इस पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार इस अनुमान प्रयोग से जीव की सिद्धि होती है। इस अनुमान प्रयोग में स्वसंवेदन हेतु प्रत्यक्ष रूप है। जीव का अस्तित्व (सत्ता) साध्य है। अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु है। जिसमें पूर्वोक्त स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप हेतु नहीं है वह जीव से भिन्न अजीव पदार्थ है इस व्यतिरेक दृष्टांत से अजीव भी सिद्ध हो गया। अब कोई यह कहे कि इनकी सिद्धि का प्रयास क्यों किया तो कहते हैं कि अनादि काल से जीव को भेद विज्ञान का अभाव होने के कारण पर की सत्ता का तो निश्चय है। शरीर ही आत्मा है इसका तो निश्चय है किन्तु शरीर (अजीव) से भिन्न चेतन सत् जीव 'मैं' हूँ। इसकी प्रतीति नहीं है। इस जीव को अपनी प्रतीति दिलाने के लिये साध्य जीव सिद्ध किया तथा शरीर धनादि में एकत्व बुद्धि मिटाने के लिये उन में अजीवपना सिद्ध किया एसी 'स्वसिद्धयर्थ' पद की ध्वनि है। इस प्रकार ७७१ में सत् में जो जीव अजीव की पहली विशेषता कही गई थी उसकी सिद्धि ७७२-७३-७४ द्वारा की गई।

प्रमाण–सत् की पहली विशेषता का निरूपण पूरा हुआ। यह ज्यों का त्यों श्री प्रवचनसारजी गाथा १२७ तथा उसकी टीका से लिया उसमें और भी अधिक मार्मिक निरूपण किया है। उसे भी पढ़िये ।

(ख) मूर्त अमूर्त की विशेषता ७७५ से ७८९ तक १५

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः ।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥ ७७५ ॥

अर्थ–द्रव्यों में (सतों में) स्वभाव से ही मूर्त-अमूर्त की विशेषता है। जो इंद्रियों के ग्रहण योग्य है वह मूर्त और जो इंद्रियों के ग्रहण योग्य नहीं है वह अमूर्त है।

भावार्थ–अब सत् की दूसरी विशेषता बतलाते हैं। कोई सत् मूर्त है तो कोई अमूर्त है। सतों में यह मूर्त अमूर्त का भेद स्वतःसिद्ध स्वभाव से है किसी का बनाया हुआ नहीं है। जिसमें स्पर्श-रस-गंध वर्ण पाया जावे उसे मूर्त कहते हैं अथवा जो इन्द्रियों के ग्रहण योग्य हो वह मूर्त है। दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है क्योंकि जो स्पर्श-रस-गंध वर्ण वाला होगा वही इन्द्रियों के ग्रहण योग्य होगा अथवा जो इन्द्रियों के ग्रहण योग्य होगा वह मूर्त ही होगा। क्योंकि परमाणु तब तक इंद्रियों से ग्रहण नहीं होता जब तक कि वह स्कन्ध की अवस्था में न आ जाये, अतः ग्रंथकार ने इस दोष को बचाने के लिये "जो इन्द्रियों के ग्रहण योग्य हो वह मूर्त है" ऐसा लक्षण बांधा है। छः सतों में केवल एक पुद्गल सत् मूर्त है शेष अमूर्त हैं। आत्मा को जो उपचार से मूर्त कह देते हैं वह विवक्षा यहाँ नहीं है क्योंकि यहाँ शुद्ध जीवास्तिकाय (शुद्ध जीव सत्) का प्रकरण है। अब कोई मूर्त पदार्थ ही माने और अमूर्त न माने इसलिये दोनों की सिद्धि करके दिखलाते हैं–

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम् ।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति ॥ ७७६ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है कि मूर्त पदार्थ ही वास्तविक है और अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं है। ऐसा होने पर अर्थात् अमूर्तिक पदार्थ न होने पर सर्व शून्यादि दोषों का प्रसंग आता है।

भावार्थ–मूल में छः सत् हैं। धर्मादि चार का ज्ञान तो आगम ज्ञाताओं को ही होता है। उनका तो कोई चिह्न प्रत्यक्ष है ही नहीं। अब रही दो की वात, उनमें क्योंकि जीव अज्ञानियों को प्रत्यक्ष नहीं दिखता अतः कोई मूर्ख यह कहे कि जो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दीख रहा है बस यही एक मूर्त पदार्थ जगत में है। अमूर्त सत् कोई है ही नहीं। तो उसको समझाते हैं कि भाई यदि अमूर्त नहीं तो आत्मा तो खत्म हो गया। अब रहा पुद्गल-आत्मा के बिना उसे जानेगा कौन। अतः वह भी न रहा। आत्मा यदि है तो वही तो स्व पर को बतलायेगा। यदि वही नहीं है तो कुछ भी नहीं रहता। सर्वशून्य हो जाता है ऐसा ग्रन्थकार का आशय है। अब मूर्त पदार्थ किसे कहते हैं और अमूर्त किसे कहते हैं उनका भेद जानने के लिये दोनों का लक्षण बतलाते हैं।

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः ।
तद्योगान्मूर्तिमद् द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ॥ ७७७ ॥

अर्थ–स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण का नाम ही मूर्ति है। जिसमें मूर्ति पाई जाय वही मूर्त द्रव्य कहलाता है और जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रूप मूर्ति नहीं पाई जाय वही अमूर्त द्रव्य कहलाता है।

भावार्थ–पुद्गल सत् में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रूप मूर्ति पाई जाती है इसलिये वह मूर्त कहलाता है। शेष पाँच सतों में उपर्युक्त मूर्ति नहीं पाई जाती, इसलिये वे अमूर्त हैं। अब मूर्त-अमूर्त दोनों की सिद्धि करते हैं:–

नासम्भवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा ।
सन्निकर्षोऽस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः ॥ ७७८ ॥

अर्थ–(वर्णादिक के योग से द्रव्य मूर्तिक है और वर्णादिक के अयोग से द्रव्य अमूर्तिक है) यह असंभव नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है कि इन्द्रियों का सन्निकर्ष वर्णादिक के साथ ही होता है और इतर (अमूर्तिक गुणों) के साथ (इन्द्रियों का सन्निकर्ष) नहीं होता ।

नोट–यहां तक मूर्त-अमूर्त पदार्थ की सिद्धि की। अब इसी को विशेष स्पष्ट करने के लिये शिष्य के मुख से शंका उठवाते हैं कि अमूर्त पदार्थ कोई है ही नहीं–केवल मूर्त ही है ताकि युक्ति आगम और अनुभव से मूर्त और अमूर्त की विशेषता सिद्ध कर सके ।

शंका

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः ।
यद्विनापीन्द्रियार्थाणां सन्निकर्षात् खपुष्पवत् ॥ ७७९ ॥

शंका–अमूर्तिक पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है? यह आज हमसे कहिये; क्योंकि हमारी राय में तो इंद्रिय और पदार्थों के सन्निकर्ष के बिना जो कुछ पदार्थ है वह आकाश पुष्प के समान शून्य है।

भावार्थ–यहाँ पर शंकाकार कहता है कि अमूर्त पदार्थ भी हैं इसमें क्या प्रमाण है क्योंकि जितने भी पदार्थ हैं उन सबका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। अमूर्त पदार्थ का इंद्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। इसलिये उसका मानना ऐसा ही है जिस प्रकार कि आकाश के फूलों का मानना। जिस प्रकार आकाश के फूल वास्तव में कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये उनका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नहीं होता, इसी प्रकार अमूर्त पदार्थ भी कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। यदि अमूर्त पदार्थ वास्तव में होता तो घट वस्त्र आदि पदार्थों की तरह उसका भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता यहाँ पर शंकाकार का आशय यही है कि जिन पदार्थों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है वे ही तो वास्तव में हैं, उनसे अलग कोई पदार्थ नहीं है। अमूर्तिक पदार्थ की सत्ता को ही उड़ा दिया है।

समाधान ७८० से ७८४

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किन्त्वसिद्धं रसादिमत् ॥ ७८० ॥

अर्थ–अमूर्त पदार्थ नहीं है या उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है ऐसा शंकाकार का कहना ठीक नहीं है क्योंकि सुख दुःखादिक का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने से आत्मा भले प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इससे सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष करने वाला आत्मा वास्तविक पदार्थ है यह बात तो असिद्ध नहीं है किन्तु उसमें स्पर्श, रस, गन्ध वर्णपना असिद्ध है जिससे वह इन्द्रिय सन्निकर्ष का विषय नहीं है। इसी को अब सयुक्तिक सिद्ध करते हैं:–

तद्यथा यद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥ ७८१ ॥

अर्थ–ऊपर के श्लोक में रसादिक आत्मा से भिन्न ही बतलाये हैं। उसी बात को यहाँ पर खुलासा करते हैं। आत्मा में जो रस का ज्ञान होता है वह ज्ञान ही है। रस ज्ञान होने से ज्ञान रसवाला नहीं हो जाता है क्योंकि रस पुद्गल का गुण है वह जीव में किस तरह आ सकता है। यदि रस भी आत्मा में पाया जाय तो जिस प्रकार आत्मा में ज्ञान, सुख, दुःख का अनुभव होने से आत्मा ज्ञानी सुखी दुःखी बन जाता है उसी प्रकार रसमयी भी हो जाता परन्तु ऐसा नहीं है। (ज्ञान कहो या आत्मा एक ही बात है सो ध्यान रखिए।)

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥ ७८२ ॥

अर्थ–सुख-दुःख आदिक जो भाव हैं वे ज्ञान से अभिन्न हैं अर्थात् ज्ञान स्वरूप ही हैं यह बात असिद्ध नहीं है क्योंकि चेतन भावों में ही सुख-दुःख का अनुभव होता है। ज्ञान को छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख दुःखादिक का अनुभव नहीं होता है।

न पुनः स्वैरसंचारि सुखं दुःखं चिदात्मनि ।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसंभवात् ॥ ७८३ ॥

अर्थ–ऐसा भी नहीं है कि सुख-दुःख भाव चिदात्मा (जीव) में और अचिदात्मा (अजीव) में भी व्याप्त होकर स्वतन्त्रपने से रहते हों क्योंकि ये भाव जीव के ही हैं वर्णादिक में उन भावों का होना असम्भव है।

भावार्थ–द्रव्यों में दो प्रकार के गुण होते हैं सामान्य और विशेष। सामान्य गुण समान रीति से सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं परन्तु विशेष गुणों में यह बात नहीं है। वे जिस द्रव्य के होते हैं उसी में असाधारण रीति से रहते हैं दूसरे में कदापि नहीं पाये जाते। सुख-दुःखादिक जीव द्रव्य के ही असाधारण भाव हैं इसलिये वे जीव द्रव्य को छोड़कर अन्य पुद्गल आदिक में नहीं पाये जा सकते।

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत् ।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथानुपपत्तितः ॥ ७८४ ॥

अर्थ–इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि चिदात्मा (जीव) आदि अमूर्तिक पदार्थ भी वास्तविक हैं। इनको न मानने से स्वानुभव सिद्ध सुख-दुःख आदिक की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ तक अमूर्त पदार्थ की सिद्धि की। अब इसी को विशेष स्पष्ट करने के लिये शंका समाधान द्वारा पीसते हैं–

शंका ७८५-७८६

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत् ।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥ ७८५ ॥

अर्थ–सुख-दुःख आदि मूर्त हैं इसलिये उनको अमूर्त मानना असिद्ध है। वह इस प्रकार कि जो रस का ज्ञान होता है वह स्वयं रस स्वरूप ही है क्योंकि वह ज्ञान रसमय है (भावार्थ आगे हैं।)

शंका चालू

तन्मूर्तत्त्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना ।
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥ ७८६ ॥

अर्थ–उस ज्ञान के मूर्तिक सिद्ध होने पर सुख-दुःख आदिक भी मूर्त सिद्ध होंगे। बिना कारण उन सुख-दुःखादिक में अमूर्तता किस तरह आ सकती है क्योंकि अविनाभावी साधन से ही साध्य की सिद्धि होती है ऐसा न्याय का सिद्धान्त है। जब साधन रूप ज्ञान मूर्तिक सिद्ध हो गया तो साध्य सुख-दुःखादि भी मूर्तिक ही सिद्ध होंगे अमूर्तिक नहीं।

भावार्थ ७८५–७८६–ज्ञान का दो प्रकार का परिणमन होता है एक स्वाभाविक परिणमन जैसे केवल ज्ञान, एक वैभाविक परिणमन जैसे मतिश्रुत ज्ञान। अवधि मनःपर्यय का अध्यात्म में विषय नहीं आता है। स्वभाविक क्षायिक ज्ञान को आगम में अमूर्तिक कहा गया है और वैभाविक क्षायोपशमिक ज्ञान को आगम में मूर्तिक कहा गया है। उसके मूर्तिक कहने का कारण मूर्तिक कर्म में जुड़कर विभाव परिणमन करने का है अर्थात मूर्तिक कर्म में जुड़े हुए विभाव रूप परिणत ज्ञान को आगम में मूर्तिक कहा है। आगम का वह कथन था तो औपचारिक। वहाँ तो केवल विभाव परिणमन के कारण उसे उपचार से मूर्तिक कहा था किन्तु शिष्य गुरुगम बिना उसका रहस्य न पा सका और उसने उस कथन का आशय यह समझ लिया कि मूर्तिक पदार्थ को जानते समय क्षायोपशमिक ज्ञान स्वयं मूर्तिक अर्थात् जड़ ही हो जाता है। उसी अपनी धारणा के आधार पर वह कहता है कि रस नामा मूर्तिक पदार्थ को जानते समय ज्ञान तो ऐसा मूर्तिक बन जाता है जैसे आम में रस मूर्तिक है अर्थात् ज्ञान रसमय या रस रूप ही हो जाता है। और सुख-दुःख तो ज्ञान में होते हैं जब ज्ञान मूर्त हो गया तो सुख-दुःख भी मूर्त हो गये क्योंकि जैसा साधन होता है वैसा साध्य होता है।

ज्ञान साधन है, सुख-दुःख साध्य हैं। जब ज्ञान मूर्त हुआ तो वे भी मूर्त हुये। जब सुख-दुःख मूर्त हुये तो सुख-दुःख तो आत्मा में होते हैं वह भी मूर्त हुआ। इस प्रकार केवल एक मूर्तिक पदार्थ ही जगत में सिद्ध होता है। अमूर्तिक पदार्थ कोई सिद्ध ही नहीं होता ऐसा वह कहना चाहता है। उसने फिर अमूर्त पदार्थ की सत्ता को उड़ाया है। उसके उत्तर में उसे समझाते हैं कि मूर्तिक तो ज्ञान को उपचार से कहा है। वास्तव में वह अमूर्त है। अतः उसमें पाये जाने वाले सुख-दुःख भी अमूर्त हैं और उन सुख-दुःखमय आत्मा भी अमूर्त है। इस प्रकार जैसे एक अमूर्तिक पदार्थ की सत्ता सिद्ध हुई, वैसे ही चार पदार्थ और भी अमूर्त हैं। इस प्रकार युक्ति आगम और अनुभव से यही निर्णय होता है कि एक पुद्गल पदार्थ तो मूर्त है। शेष अमूर्त हैं।

समाधान ७८७ से ७८८ तक

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम् ।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥ ७८७ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका उठाई गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि जो रसादि पदार्थ को विषय करने वाला क्षायोपशमिक ज्ञान होता है वह स्वयं रसमय अर्थात् रसरूप नहीं हो जाता किन्तु पदार्थपने से वह ज्ञान ज्ञान ही रहता है और वह ज्ञान अमूर्त ही है। वह तो क्योंकि मूर्त कर्म के उदय में जुड़कर वैभाविक (क्षायोपशमिक) दशा में है और वर्तमान में मूर्त पदार्थ को विषय कर रहा है इस कारण से मात्र उपचार से आगम में मूर्त कहा गया है। इससे कुछ ज्ञान में मूर्तपना नहीं आ जाता।

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमद्यतः ।
स्वसंवेद्याद्यभावः स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥ ७८८ ॥

अर्थ—कारणवश उसे उपचार से मूर्त कह दिया है पर उससे कहीं ज्ञान सर्वथा मूर्त स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाला नहीं बन जाता। यदि सर्वथा ज्ञान मूर्त हो जाय तो पुद्गल की तरह ज्ञान में जड़पना आ जायेगा और ऐसी अवस्था में स्वसंवेदन आदि का अभाव ही हो जायेगा फिर तो वह घड़ेवत् या मुरदावत् हो जायेगा। इस प्रकार उसकी शंका का निराकरण किया। अब विषय को संकोचते हैं।

उपसंहार

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोऽस्त्यमूर्तिमान् ।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात् ॥ ७८९ ॥

अर्थ—क्योंकि यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान अमूर्तिक ही है और ज्ञान है सो आत्मा है। इसलिये वर्णादि से रहित है स्वरूप जिनका ऐसे जीवादिक पदार्थ अमूर्तिक हैं ऐसा उपर्युक्त प्रमाण से और स्वानुभव से स्वीकार करना चाहिए। आगम भी इसी बात को बतलाता है कि वर्णादिक पुद्गल के गुण हैं। केवल वही एक मूर्त है और बाकी के जीवादिक पाँच द्रव्य अमूर्त हैं।

नोट—सत् की दूसरी विशेषता का निरूपण पूरा हुआ। यह श्री प्रवचनसार गाथा १३० से १३४ पर से लिया गया है।

(ग) लोक-अलोक की विशेषता ७९०-७९१

लोकालोकविशेषोऽस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा ।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोऽस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥ ७९० ॥

अर्थ—द्रव्यों में लोक-अलोक की विशेषता भी है। उसका लक्षण इस प्रकार है कि जो छः द्रव्य स्वरूप है वह लोक है और उससे विपरीत अर्थात् जो छह द्रव्य स्वरूप नहीं है वह अलोक है।

सोऽप्यलोको न शून्योऽस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः ।
व्योममात्रावशेषत्वात् व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥ ७९१ ॥

अर्थ—वह अलोक भी संपूर्णतया छः द्रव्यों से शून्य नहीं है। आकाश मात्र अवशेष रहने से केवल आकाश स्वरूप है।

प्रमाण–सत् की तीसरी विशेषता का निरूपण पूरा हुआ। यह श्री प्रवचनसार गा. १२८ पर से लिया गया है।

(घ) क्रिया और भाव की विशेषता ७९२ से ७९५ तक ४

क्रियाभावविशेषोऽस्ति तेषामन्वर्थतो यतः ।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥ ७९२ ॥

अर्थ–उन द्रव्यों में अर्थ अनुसार क्रिया और भाव से भी विशेषता है क्योंकि कोई भाव और क्रिया दोनों से युक्त हैं और कोई भाववान् है।

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥ ७९३ ॥

अर्थ–यह दो जीव और पुद्गल भाववान् भी हैं और क्रियावान् भी हैं, और वे दोनों तथा शेष चार ये छः भावयुक्त हैं।

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मकः ।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥ ७९४ ॥

अर्थ–उनमें प्रदेशों का हलन-चलन रूप परिस्पन्द क्रिया है और एक वस्तु में धारावाही होने वाला वह परिणाम भाव है। अब दोनों की सिद्धि करते हैं–

दोनों की सिद्धि रूप उपसंहार

नासम्भवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशम् ।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥ ७९५ ॥

अर्थ–ये दोनों बातें असम्भव नहीं हैं क्योंकि पदार्थ निरन्तर परिणमनशील हैं तथा उनमें कोई-कोई कभी-कभी प्रदेश परिस्पन्दात्मक भी हैं यह भी प्रत्यक्ष है।

प्रमाण–सत् की चौथी विशेषता का निरूपण पूरा हुआ । यह श्री प्रवचन सार गा. १२९ पर से लिया गया है।

दूसरा अवान्तर अधिकार

जीव और कर्म के अस्तित्त्व और उनके बन्ध का निरूपण ७९६ से ८१९ तक २४

भूमिका–पहली तीन पुस्तकों में सामान्य सत् का निरूपण ७६८ तक किया फिर ७६९ से ७९५ तक उस सत् के विशेष धर्मों को समझाया। इस प्रकार सामान्य विशेषात्मक द्रव्य (वस्तु) की सिद्धि की अर्थात् पहली तीन पुस्तकों में वस्तु के विशेष धर्मों को गौण करके सामान्य सत् धर्म का निरूपण किया था, यहाँ उस सत् धर्म को गौण करके विशेष धर्मों का निरूपण किया। अब उन छः विशेष सतों में से एक चेतन सत् को मुख्य करके उसका उपदेश प्रारम्भ करते हैं। यह ध्यान रहे कि जो सामान्य सत् था वही यह विशेष सत् जीव है। पहला सामान्य निरूपण तो सब इस पर लागू होता ही है पर अब विशेष धर्मों की मुख्यता से जीव का विशेष कथन करते हैं:–

प्रतिज्ञा

तद्यथा चाधिचिद्द्रव्यं देशनारभ्यते मया ।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्याननतिक्रमात् ॥ ७९६ ॥

अर्थ–युक्ति, आगम, अनुभव और पूर्व आचार्यों की परिपाटी के अनुसार अब चेतन द्रव्य का उपदेश मेरे द्वारा प्रारम्भ किया जाता है। वह इस प्रकार है:–

प्रागुद्देश्यः स जीवोऽस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात् ।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोऽधिष्ठानमन्वयात् ॥ ७९७ ॥

अर्थ–पहले वह जीव कथन करने योग्य है। फिर अजीव । फिर क्रम से आस्रवादिक; क्योंकि उन आस्रवादिक का जीव अन्वय रूप से आधार है। यहाँ जीव-अजीव सामान्य द्रव्य के द्योतक हैं और आस्रवादिक उनकी विशेष पर्यायों के द्योतक हैं। नौ पदार्थों में सामान्य जीव एक है वह विवक्षा यहाँ नहीं है। वह विवक्षा आगे ९५५-५६-५७ में है।

जीव का सामान्य स्वरूप ७९८ से ८०० तक

अस्ति जीवः स्वतः सिद्धोऽनाद्यनन्तोऽप्यमूर्तिमान् ।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादिरूढत्वाद् द्रव्यमव्ययम् ॥ ७९८ ॥

अर्थ–जीव स्वतःसिद्ध, अनादि अनन्त और अमूर्तिक है तथा ज्ञानादिक अनन्त धर्मों से युक्त होने के कारण अविनाशी द्रव्य है।

भावार्थ–स्वतः सिद्ध, अनादि अनन्त की सिद्धि तो पहले ८ से १४ तक कर आये हैं। अमूर्तिकपने की सिद्धि ७७५ से ७८९ तक अभी की है। ज्ञानादिक अनन्त विशेष गुणों की सिद्धि आगे १७०८ से करेंगे।

साधारणगुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक् ।
विश्वरूपोऽप्यविश्वस्थः सर्वोपेक्षोऽपि सर्ववित् ॥ ७९९ ॥

अर्थ–वह जीव साधारण गुणों से युक्त होता हुआ भी असाधारण धर्मो को धारण करने वाला है अर्थात् जीव में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण हैं। ज्ञान की अपेक्षा से विश्वरूप होकर भी प्रदेशों की अपेक्षा विश्वरूप नहीं है। अर्थात् विश्व के पदार्थों में फैला हुआ नहीं है किन्तु अपने में स्थित है। सबसे उपेक्षा रखने वाला होने पर भी सब को जानने वाला है अर्थात् किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रखता फिर भी उन्हें जान जरूर लेता है।

असंख्यातप्रदेशोऽपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोऽपि तन्मध्ये संस्थितोऽपि च ॥ ८०० ॥

अर्थ–वही जीव असंख्यात प्रदेशी होकर भी अखण्डप्रदेशवाला है। सब द्रव्यों से भिन्न होता हुआ भी उनके मध्य में ठहरा हुआ है।

भावार्थ ७९९-८००– ये विरोधाभास रूप अलंकार से युक्त पद्य हैं जहाँ परस्पर दो धर्म विरोधी तो मालूम पड़ते हों पर वास्तव में विरोधी न हों। जैसे जो साधारणगुणों वाला है वह असाधारण गुणों वाला कैसे हो सकता है ? विरोधी शब्द दीखता हुआ भी जीव में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्त साधारण गुण भी हैं और ज्ञान, दर्शन, सम्यकत्व, चारित्र सुखादि अनन्त असाधारण गुण भी हैं (२) विश्वरूप और अविश्वरूप दोनों विरोधी शब्द दीखते हुए भी जीव ज्ञेयाकार की अपेक्षा विश्वरूप है और अपने प्रदेशों में ही स्थित रहने के कारण अविश्वरूप है (३) जो सब से उपेक्षा रखने वाला होगा अर्थात् कुछ सम्बन्ध न रखने वाला होगा वह सब के साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध कैसे रक्खेगा किन्तु जीव पर के स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की अपेक्षा सबसे उपेक्षित है किन्तु जानने में सब की अपेक्षा रखता है (४) जो असंख्यात्प्रदेशी होगा वह एकप्रदेशी कैसे होगा यह शब्द से विरोध दीखता है किन्तु जीव प्रदेशों से असंख्यात प्रदेशी होता हुआ भी अखण्डदेशी है। (५) जो सब द्रव्यों से भिन्न होगा वह उनमें ही कैसे रहेगा यह शब्द से विरोध दीखते हुए भी जीव स्वरूप की अपेक्षा सब से भिन्न है किन्तु आकाश क्षेत्र की अपेक्षा छहों द्रव्यों के बीच में ठहरा हुआ है। यह काव्य की सुन्दरतापूर्वक जीव के सामान्य स्वरूप का निरूपण है। एक खास बात यह ध्यान रखने की है कि उपर्युक्त तीन पद्यों में सामान्य जीव का निरूपण है। इस निरूपण अपेक्षा संसारी सिद्ध में अन्तर नहीं है। यह जीव के त्रिकाली स्वरूप का निरूपण है जो अनादि अनन्त एक रूप है। सबसे पहले इस सामान्य स्वरूप द्वारा ही जीव वस्तु की सिद्धि की जाती है और इसी के द्वारा जीव को पकड़ा जाता है। पर्याय की विशेषता बाद की बात है।

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोऽपि यः ।
स्याद् द्विधा सोऽपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥ ८०१ ॥

अर्थ–जो जीव उपर्युक्त कथनानुसार शुद्ध नय के आदेश से शुद्ध और एक रूप है वह ही जीव पर्याय से मुक्त और बद्ध के भेद से दो प्रकार का है।

भावार्थ– (A) औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भावों को (पर्यायों के परिणमन को) गौण करके यदि त्रिकाली सामान्य स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो सब जीव शुद्ध हैं और एक रूप हैं। शुद्ध शब्द का एक तो अर्थ है कि औदयिक भावों को अशुद्ध कहते हैं और क्षायिक भावों को शुद्ध कहते हैं औपशमिक, क्षायोपशमिक

अध्यात्म में गौण रहते हैं। ये पर्याय में शुद्ध-अशुद्ध अर्थ है। यह अर्थ यहाँ इष्ट नहीं है। दूसरा शुद्ध का अर्थ यह है कि औदयिक आदि चारों भावों को विभाव भाव, विशेष भाव, नैमित्तिक भाव अथवा अशुद्ध भाव कहते हैं और इनकी अपेक्षा सामान्य स्वरूप को शुद्ध कहा जाता है। इस दृष्टि में चारों भाव अशुद्ध कहलाते हैं। सामान्य शुद्ध कहलाता है। प्रमाण के लिये देखिये श्री नियमसार गा. ४१ क्योंकि यह प्रचलित अर्थ नहीं है। अध्यात्म का खास रहस्य है। यह अर्थ यहाँ इष्ट है। इस प्रकार सब जीव शुद्ध हैं (२) जीवों में भेद तो औदयिक आदि चार भावों की अपेक्षा है। इन भावों की अपेक्षा जीव नाना विध कहा जाता है किन्तु इनको गौण करके सामान्य की अपेक्षा सब जीव एक विध ही हैं। यह सूत्रकार का प्रथम पंक्ति का पेट है। (B) दूसरी पंक्ति का रहस्य यह है कि अब सामान्य स्वभाव को गौण करिये और पर्याय को मुख्य करिये। पर्याय में जीव का परिणमन चार भाव रूप है। अध्यात्म में औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव गौण रहते हैं ऐसा नियम है। अध्यात्म में प्रायः औदयिक और क्षायिक भावों की अपेक्षा ही आपको निरूपण मिलेगा। सो औदयिक भाव वाले अमुक्त (बद्ध) हैं। और सर्वथा क्षायिक भावों वाले मुक्त हैं यह दूसरी पंक्ति का पेट है (C) अब इन दोनों दृष्टियों को गौण करिये और प्रमाण दृष्टि की मुख्यता से परस्पर सापेक्ष अविरोध पूर्वक देखिये तो जो सामान्य की अपेक्षा शुद्ध और एक प्रकार का है वही विशेष की अपेक्षा मुक्त-अमुक्त है। ऐसा उपर्युक्त सूत्र का पेट है। अब यह बताते हैं कि उपर्युक्त सामान्य स्वरूप को धारण करने वाला जीव ही अनादि से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से बन्धा हुआ है, संसारी है, उनके निमित्त में जुड़ता चला आ रहा है। अतः अपने स्वरूप को सामान्य में धारण किये रखता हुआ भी विशेष में अपने उस स्वरूप को प्राप्त नहीं है भूला हुआ है।

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
मूर्छितोऽनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यवृतिकर्मभिः ॥ ८०२ ॥

अर्थ–जो बद्ध है वह संसारी है और वह अनादि से आठ ज्ञानावरणादि कर्मों से मूर्च्छित होने के कारण स्वरूप को प्राप्त नहीं है।

भावार्थ–ऊपर कह कर आये हैं कि जीव शुद्ध नय से एक प्रकार का होने पर भी पर्याय दृष्टि से मुक्त और बद्ध दो प्रकार का है। उनमें से अब बद्ध का स्वरूप बतलाते हुवे कहते हैं कि जो बद्ध है उसकी संसारी संज्ञा है। उसके साथ अनादि से निमित्त रूप से आठ कर्म भी परम्परा दृष्टि से बन्धे हुये हैं। वस्तु स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि यह जीव अनादि का अज्ञानी है और भेद विज्ञान को प्राप्त नहीं है। अतः अपनी अज्ञानता के कारण स्वरूप को भूलकर उन कर्मों के उदय में जुड़ जाता है जिससे पर्याय में राग, द्वेष, मोह की उत्पत्ति होने के कारण स्वरूप का भोग नहीं करता है किन्तु राग, द्वेष, मोह का कर्ता और सुख-दुःख का भोक्ता बना हुआ है। अब कहते हैं कि इन निमित्त रूप कर्मों का सम्बन्ध इसके साथ कब से हुआ।

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्‌गलः ।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥ ८०३ ॥

अर्थ–जैसे वह जीवात्मा अनादि है वैसे ही वह पुद्‌गल कर्म भी अनादि है तथा जीव और पुद्‌गल कर्म दोनों का सम्बन्ध रूप बंध भी अनादि है।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।
अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः ॥ ८०४ ॥

अर्थ–जीव और कर्म दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कनक पाषाण का सम्बन्ध अनादि कालीन होता है। यदि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि से न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः ।
बन्धाभावोऽथ शुद्धेऽपि बन्धश्चेन्निर्वृतिः कथम् ॥ ८०५ ॥

अर्थ–वह अन्योन्याश्रय दोष इस प्रकार है कि यदि जीव पहले ही कर्म रहित शुद्ध है तो बन्ध नहीं हो सकता है और यदि शुद्ध होने पर भी बन्ध माना जाय तो फिर मोक्ष किस प्रकार हो सकती है? नहीं हो सकती ।

भावार्थ– (१) आत्मा का कर्मों के साथ जो बन्ध होता है वह अशुद्ध अवस्था में होता है। यदि कर्मबंध से पहले आत्मा को शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता (२) इसके उत्तर में यदि कोई हटपूर्वक कहे कि नहीं शुद्ध के भी बन्ध हो जाता है तो उत्तर में कहते हैं कि मोक्ष किस प्रकार होगा ? फिर तो जीव सदा संसारी ही बना रहेगा क्योंकि जीव शुद्ध भाव करता है और शुद्ध भावों से कर्म नहीं बन्धता तथा पहला खिर जाता है तो मोक्ष हो जाती है। यदि शुद्ध के भी बंध होने लगे तो कभी फिर जीव का मोक्ष हो ही नहीं सकता। धर्म का पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो गया। इससे सिद्ध होता है कि जीव अनादि से कर्म से बद्ध है और अशुद्ध है। अब कहते हैं कि पुद्गल की भी यही दशा है वह भी अनादि से अशुद्ध है।

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः ।
हेतोर्बिना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥ ८०६ ॥

अर्थ–और यदि पुद्गल पहले से ही अनादि से सर्वथा शुद्ध होवे तो जैसे बिना कारण ज्ञान आत्मा का स्वभाव है वैसे ही क्रोधादि विभाव भाव भी आत्मा के स्वभाव ठहरेंगे।

भावार्थ–पुद्गल की कर्म रूप अशुद्ध पर्याय के निमित्त से ही आत्मा में क्रोधादिक होते हैं। ऐसा मानने से तो क्रोधादिक आत्मा के स्वभाव नहीं ठहरते हैं किन्तु विभाव ठहरते हैं। परन्तु पुद्गल को अनादि से सर्वथा शुद्ध मानने पर तो आत्मा में विकार के लिये निमित्त रूप कोई पदार्थ नहीं रहता। ऐसी अवस्था में क्रोधादिक का हेतु सर्वथा आत्मा ही पड़ेगा और क्रोध, मान, माया, लोभ आत्मा के कारण रहित ऐसे स्वभाव समझे जावेंगे जैसे ज्ञान दर्शन आदि। इस पर शिष्य कहता है कि समझे जाने दो हमें क्या है ? तो उत्तर देते हैं कि सारा वस्तु स्वभाव ही बिगड़ जायेगा वह इस प्रकारः–

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा ।
द्रव्याभावो गुणाभावो क्रोधादीनामदर्शनात् ॥ ८०७ ॥

अर्थ–इस प्रकार क्रोधादि आत्मा का स्वभाव होने पर बन्ध के नित्यपना ठहरता है क्योंकि बन्ध के कारण क्रोधादिक का सद्भाव सदा बना रहेगा यह दोष आता है। दूसरा दोष यह आता है कि क्रोधादिक का तो अभाव देखा जाता है और क्रोधादिक तो आत्मा के स्वभाव अर्थात् गुण थे। इस प्रकार गुण का अभाव ठहरा और गुणों का समूह द्रव्य है। गुणों का अभाव होने पर द्रव्य का अभाव स्वतः प्राप्त हुआ इस प्रकार सब खेल ही बिगड़ जाता है।

तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः ।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥ ८०८ ॥

अर्थ–इसलिये जीव कर्म दोनों का परस्पर में अनादि सिद्ध सम्बन्ध सिद्ध हो गया क्योंकि सादि सम्बन्ध (किसी समय विशेष से होने वाला सम्बन्ध) सिद्ध न हो सका और उस सादि सम्बन्ध को सिद्ध करने वाला कोई दृष्टांत भी नहीं मिलता है। अब वह अनादि सिद्ध सम्बन्ध परिपाटी से किस प्रकार चला आ रहा है यह खोलकर स्पष्ट रूप से समझाते हैं।

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणं ।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥ ८०९ ॥

अर्थ–जीव के अशुद्ध रागादि भावों को पूर्वबद्ध कर्म का उदय निमित्त मात्र कारण है और आगामी बंधने वाले कर्म को उस आत्मा के रागादि भाव निमित्त मात्र कारण हैं। परस्पर उपकार करने वालों की तरह। इसी को स्वयं स्पष्ट करते हैंः–

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः ।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः ॥ ८१० ॥

अर्थ–पूर्व कर्म के उदय से राग भाव होता है राग भाव से नया कर्म संचय होता है। उसके उदय से फिर राग भाव होता है। राग भाव से फिर बन्ध होता है। इसी प्रकार पुनः पुनः ।

एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः ।
संसारः स च दुर्मोच्यो बिना सम्यग्दृगादिना ॥ ८११ ॥

अर्थ–इस प्रकार सन्तान क्रम से जीव और कर्म दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादि से चला आ रहा है वही संसार है और वह संसार बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के नहीं छूटता है।

प्रमाण–उपर्युक्त श्लोकों का भाव श्री पंचास्तिकाय गाथा १२८, १२९, १३० का है। अब यह कहते हैं कि जीव और कर्म का एक क्षेत्र में स्थित रहने का नाम बन्ध नहीं है किन्तु वह एक दूसरे के साथ वैभाविक भावों के कारण निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहित बन्धे हुये हैं इसका नाम बंध है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः ।
सोऽपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्‌द्वयोरिति ॥ ८१२ ॥

अर्थ–केवल प्रदेशों के सम्बन्ध मात्र से बन्ध नहीं है किन्तु वह बन्ध उन दोनों के अशुद्ध भावों की अपेक्षा रखने वाला है।

भावार्थ–केवल आकाश के एक क्षेत्र में रहने को बंध नहीं कहते । एक आकाश क्षेत्र में तो छहों द्रव्य रहते हैं। सिद्ध भी रहते हैं किन्तु जिनमें अशुद्ध भावों के कारण परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक शक्ति है वे ही बंध रूप कहलाते हैं पर बंध का यह भी अर्थ नहीं कि एक द्रव्य दूसरे में कुछ करता है। परिणमन सब अपने-अपने स्वचतुष्टय में स्वतन्त्र करते हैं बहुत विवेकपूर्वक अध्ययन करने की बात है। इधर भी भूल न हो जाय, उधर भी भूल न हो जाय ।

अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्‌द्वयोः पृथक् ।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ८१३ ॥

अर्थ–चुम्बक पत्थर से खैंची हुई सुई की तरह उन दोनों में भिन्न-भिन्न वैभाविकी नाम की शक्ति है जो परस्पर बन्ध की करने वाली है।

भावार्थ–आशय यह है कि जीव के प्रदेशों का और कर्म परमाणुओं का मिलकर एक क्षेत्रावगाही हो जाना ही बन्ध नहीं है किन्तु जीव की अशुद्धता का निमित्त पाकर पुद्‌गल परमाणुओं में आगामी काल में इस अशुद्धता के निमित्त बनने की योग्यता का आना और ऐसी योग्यता वाले निमित्तों को पाकर जीव का अशुद्ध बनते रहना इस तरह मिलकर इन दोनों में जो निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध होने की योग्यता को लिये हुये सम्बन्ध होता है वही वास्तव में बन्ध है। ऐसी योग्यता के आने पर ही जीव और कर्म परमाणुओं का संश्लेष रूप सम्बन्ध होता है अन्यथा नहीं। जीव और पुद्‌गल ही अपनी शुद्ध अवस्था को छोड़कर बन्ध रूप अशुद्ध अवस्था में क्यों आते हैं ? धर्म-अधर्म आदि द्रव्य क्यों नहीं अशुद्ध होते ? इसका उत्तर यही है कि दोनों द्रव्यों में विभाव परिणमन का मूल कारण उनके निज द्रव्य में स्वतः सिद्ध पाई जाने वाली वैभाविकी शक्ति है। उसके कारण ही वे विभाव रूप परिणमन करते हैं। फिर वह विभाव दूसरे द्रव्य के लिये निमित्त मात्र कारण बन जाता है। यही खिंचने और खेंचने का अर्थ है। कहीं लौकिक अर्थवत् एक द्रव्य दूसरे को खींचता नहीं है न खींच ही सकता है। दोनों में अत्यन्ताभाव है तथा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। निमित्त भी एक द्रव्य दूसरे को स्वयं अपने अपराध के कारण बना लेता है। श्री समयसार में कलश नं. २०० तथा २०१ में दो द्रव्यों के परस्पर सब प्रकार के सम्बन्ध का स्पष्ट निषेध किया है।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ।
प्रत्येकंतद्‌द्वयं यावत् तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ८१४ ॥

अर्थ–पदार्थपने से तीन प्रकार का बन्ध है, भावबन्ध, द्रव्यबंध, उभयबन्ध । क्रम से पहले दो तो भिन्न-भिन्न द्रव्य में होते हैं। और तीसरा दो द्रव्यों के मिलने से उत्पन्न होता है। अब ग्रन्थकार स्वयं इनको स्पष्ट करते हैं:–

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्‌गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ८१५ ॥

अर्थ–जो रागादि रूप है वह भावबन्ध है। वह जीव बन्ध भी माना गया है। 'द्रव्यबंध' इस पद में पड़ा हुआ जो द्रव्य शब्द है उसका अर्थ तो पुद्‌गल पिण्ड है अर्थात् कार्माण वर्गणायें हैं और बन्ध शब्द का अर्थ उनमें जो ज्ञानादि घातक कर्मत्व शक्ति है वह है। जिस प्रकार जीव में राग को भाव बन्ध कहते हैं उसी प्रकार पुद्‌गल में कर्मत्व शक्ति को बन्ध कहते हैं। यहाँ केवल कर्म रूप परिणत कार्माण वर्गणा लेनी हैं। आहारादि वर्गणाओं से कोई प्रयोजन नहीं है।

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ॥ ८१६ ॥

अर्थ–भावबन्धक के निमित्त से उन दोनों (जीव पुद्गल) के प्रदेशों का परस्पर में जो बन्ध्य बन्धक भाव है वह उभय बन्ध है।

भावार्थ–८१४, १५, १६–यहाँ बन्ध के तीन भेद किये गये हैं। उनमें से दो वस्तुगत योग्यता की अपेक्षा स्वीकार किये गये हैं और अन्तिम कार्य रूप हैं। (१) ज्ञान में राग के उत्पन्न होने को भावबंध कहते हैं। इसको जीव बन्ध भी कहते हैं। भावबन्ध या जीवबन्ध दोनों पर्यायवाची हैं। यह बंध केवल एक जीवद्रव्य में होता है। (२) कर्म रूप परिणमित कार्माणवर्गणाओं को द्रव्य बन्ध कहते हैं अथवा उन वर्गणाओं में जो कर्मत्वशक्ति है, उस पौद्गलिक शक्ति को द्रव्य बन्ध कहते हैं। यह बन्ध केवल एक पुद्गल द्रव्य में होता है । अतः ये दो बन्ध तो भिन्न-भिन्न द्रव्य में स्वतन्त्र हैं (३) इन दोनों के अशुद्ध भावों के कारण जो जीव और कर्म का परस्पर में बंध्य बंधक भाव है अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की सामर्थ्य है वह उभय बंध है। उभय बन्ध का यह अर्थ नहीं है कि चेतन का कुछ अचेतन हो गया हो या अचेतन का चेतन हो गया हो या हल्दी चूनेवत् एकमेक मिल गये हों । स्वतन्त्र अपने-अपने चतुष्टय में रहते हैं। स्वतन्त्र स्वभाव या विभाव रूप अपना कार्य करते हैं। केवल विभाव करते समय एक दूसरे को निमित्त बना लेते हैं बस यही उभय बन्ध है (प्रमाण के लिये श्री प्रवचनसार गाथा १७३, १७४ अवश्य देखिये । पूर्ण संतोष होगा)।

जीव और कर्म के अस्तित्व और उनके बंध की सिद्धिरूप

उपसंहार ८१७-१८-१९

नाप्यसिद्धं स्वतः सिद्धेरस्तित्त्वं जीवकर्मणोः ।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा चित्समक्षोपलब्धितः ॥ ८१७ ॥

अर्थ–जीव और कर्म का अस्तित्व स्वतःसिद्ध होने से असिद्ध नहीं है किन्तु स्वानुभव गर्भ युक्ति (जो युक्ति अपने अनुभव में आती है) से अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष (प्रमाण) से दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न स्वतःसिद्ध है। जीव भी स्वतः सिद्ध है। कर्म भी स्वतःसिद्ध है।

अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्त्वमन्वयात् ।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥ ८१८ ॥

अर्थ–"मैं हूँ" इस प्रकार का स्वसंवेदन होने से जीव का अस्तित्व अन्वय रूप से प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। एक दरिद्र और एक धनवान है इससे कर्म का अस्तित्त्व भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।

भावार्थ–इस शरीर के भीतर "मैं हूं, मैं हूं" ऐसा जो एक प्रकार का ज्ञान होता रहता है उस ज्ञान से जाना जाता है कि इस शरीर के भीतर जीव रूप एक वस्तु स्वतन्त्र है। अथवा मैं–मैं इस बोध से ही जीवात्मा का मानसिक प्रत्यक्ष स्वयं होता है। यदि आत्मा शरीर से भिन्न स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र पदार्थ न होता तो शरीर से भिन्न "मैं -मैं" ऐसी अन्तर्मुखाकार प्रतीति कभी न होती। आत्मा की तरतमरूप विविध अवस्थाओं के देखने से कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि कर्म कोई पदार्थ जीव के साथ न होता तो सिद्धवत् सब आत्मायें समान होतीं। किन्तु कोई कम जानता है कोई अधिक जानता है। कोई मायावी है तो कोई क्रोधी है। कोई दुःखी है तो कोई सुखी है। किसी के निमित्त रूप से धनादि का अधिक संयोग है किसके कम। यह जो भिन्नता है यह बिना कारण नहीं हो सकती। इससे दूसरे पदार्थ का अनुमान होता है कि कर्म भी कोई वस्तु जीव के साथ अनादि से है। यहाँ जीव को धन का स्वामी-अस्वामी न समझना। एकत्व बुद्धि का दोष आयेगा। केवल निमित्त रूप से उपस्थिति की बात है और उसी की उपस्थिति से उसके मूल कारण कर्म को सिद्ध किया है।

यथास्तित्त्वं स्वतःसिद्धं संयोगोऽपि तथानयोः ।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः ॥ ८१९ ॥

अर्थ–जैसे उन दोनों का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है वैसे ही उन दोनों का संयोग भी स्वतःसिद्ध है। यदि उनका संयोग जाय तो कर्तृत्व भावों (राग द्वेष मोह रूप कर्म चेतना) और भोक्तृत्व भावों सुख-दुःख रूप कर्मफल चेतना)

की उत्पत्ति जीव में नहीं बन सकती है। फिर तो वह सिद्धवत् शुद्ध भाव ही करता। अशुद्ध भाव की उत्पत्ति तो होती जब ही है तब जीव अपने स्वभाव को भूल कर संयोगी पदार्थ पर लक्ष्य करता है और इसी से संयोग सिद्ध हो जाता है।

भावार्थ–ऊपर के श्लोक में जीव और कर्म का भिन्न-भिन्न अस्तित्व सिद्ध किया। अब यह कहते हैं कि उनके अस्तित्व का केवल यह अर्थ नहीं कि जिस प्रकार एक क्षेत्र में छहों द्रव्य रहते हैं। इस प्रकार वे रहते होंगे। किन्तु वे परस्पर में बन्धे हैं अर्थात् उनका परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और इसका सबूत यह है कि जीव अपने स्वरूप को भूलकर निमित्त के लक्ष में जुड़ता है और उसके फलस्वरूप अपने में राग, द्वेष, मोह रूप कर्तृत्व भावों की तथा सुख-दुःख रूप भोक्तृत्व भावों की उत्पत्ति करता है। यदि बंध न होता तो जीव सिद्धवत् इनकी उत्पत्ति न कर सकता किन्तु इनकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से यह पता चलता है कि जैसे यह दोनों पदार्थ अनादि से स्वतः सिद्ध हैं वैसे उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी अनादि से है। बंध्य बंधक का अर्थ निमित्त-नैमित्तिक है ऐसा स्वयं ग्रन्थकार आगे कहेंगे। बंध्य बंधक का यही अर्थ श्री कुन्द कुन्द भगवान ने श्री प्रवचनसार गाथा १७४ में स्पष्ट लिखा है और श्री अमृतचन्द्रजी ने टीका में उस पर मुहर लगा दी है। वह अवश्य पढ़ें। बंध्य बंधक का यह कदापि अर्थ नहीं कि उनके स्वतन्त्र चतुष्टय में कुछ फर्क आ जाता हो या वे एक दूसरे में कुछ असर करते-धरते हों।

जीव और कर्म का अस्तित्व और उनके बंध का निरूपण करने वाला।

दूसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ।

तीसरा अवान्तर अधिकार

आत्मा और कर्म के बंध की सिद्धि ८२० से ८३८ तक १९

शंका

ननु मूर्तिमता मूर्तो वध्यते द्व्यणुकादिवत्।
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः ॥ ८२० ॥

शंका–यह तो प्रगट है कि मूर्तिक पदार्थ से बंध जाता है जैसे दो परमाणु आपस में बंध होकर द्वि-अणुक बनता है। इसी प्रकार त्रि-अणुक आदिक बनते हैं। पर आत्मा तो अमूर्तिक है और कर्म मूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मों के साथ बंध कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता ? (यह शंका तथा ८२१ से ८३८ तक दिया गया समाधान-ज्यों का त्यों श्री प्रवचनसार गाथा १७३, १७४ के आधार पर है)।

समाधान

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोऽतर्कगोचरः।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोऽर्हति ॥ ८२१ ॥

अर्थ–अमूर्तिक आत्मा का मूर्त कर्मों से बन्ध नहीं है ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि वह बन्ध स्वतः सिद्ध है और स्वभाव तर्क के अगोचर है। इसलिये वह बंध आक्षेप के योग्य नहीं है। यदि चाहो तो वह बंध परीक्षा के योग्य है।

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत्।
एवंविधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥ ८२२ ॥

अर्थ–जैसे अग्नि का उष्णता लक्षण (स्वभाव-धर्म) किसी के द्वारा नहीं बनाया गया है। वह स्वभाव से ही इस प्रकार ही है। यदि नहीं तो स्पर्शन इन्द्रिय से छू कर देखो।

तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत् ॥ ८२३ ॥

अर्थ–जिस प्रकार अग्नि में स्वयं सिद्ध उष्णता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्मो का बन्ध स्वतः अनादि से है। जिस प्रकार अग्नि के ऊष्णपने में किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती है। उसी प्रकार जीव और कर्म के बन्ध में भी किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती है। फिर यह बन्ध कहां से हुआ ? किसने किया ? कहाँ किया ? आदि

प्रश्न आकाश के पुष्प की तरह सर्वथा निष्फल है। जिस प्रकार आकाश के पुष्प नहीं ठहरते उसी प्रकार यह प्रश्न भी नहीं ठहरते ।

चेत् बुभुत्सास्ति चित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा ।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥ ८२४ ॥

अर्थ–हाँ ! यदि तुम्हारे हृदय में यह जानने की इच्छा है कि अमूर्तिक आत्मा का मूर्त कर्मों से बन्ध है या नहीं तो स्वानुभव सहित प्रत्यक्ष प्रमाण से विचार करो ।

भावार्थ ८२१ से ८२४ तक का–आचार्य उत्तर देते हैं कि अमूर्त का मूर्त से बंध है तो जरूर आश्चर्यजनक पर भाई वस्तु स्वभाव में किसी का चारा नहीं। जो चीज प्रत्यक्ष है उसमें दलील का अवकाश नहीं है। स्वभाव में तर्क काम नहीं करता । कोई किसी से पूछे कि अग्नि गरम क्यों है तो उसका उत्तर यही मिलेगा कि छू कर देख लो, है कि नहीं। इसी प्रकार आत्मा कर्म से बद्ध है यह तो प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है। अब उसमें ये प्रश्न कि वह बंध कैसे हुआ व्यर्थ प्रतीत होता है। हाँ आगे ग्रन्थकार एक बहुत ईमानदारी की बात कहते हैं कि वह बंध है या नहीं यह हम तुझे प्रत्यक्ष दिखला सकते हैं। तेरे अनुभव में आ सकता है। यदि चाहो तो ऐसा हो सकता है। इस पर शिष्य सन्तुष्ट होकर कहता है कि अच्छा ऐसा ही करिये। उनका बंध ऐसा सिद्ध कीजिए जो मेरे अनुभव में प्रत्यक्ष आ जाय। सो अब ग्रन्थकार अनुभव प्रत्यक्ष बंध की सिद्धि ८२५ से ८३८ तक करते हैं।

आत्मा और कर्म के बंध की सिद्धि ८२५ से ८३८ तक

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः ।
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥ ८२५ ॥

अर्थ–मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पदार्थपने से अमूर्त है किन्तु मद्यादिक मूर्तिक पदार्थ के निमित्त से वह उसके पाक के अनुसार मूर्च्छित हो जाता है अर्थात् मद्य के निमित्त से उन ज्ञानों का परिणमन बदल जाता है। विकारी हो जाता है।

भावार्थ–मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही आत्मा के ज्ञान गुण की पर्याय रूप हैं। आत्मा अमूर्त है। इसलिये ये दोनों भी अमूर्त ही हैं, परन्तु जब कोई मनुष्य मदिरा भंग आदि मादक पदार्थों का पान कर लेता है तो उस आत्मा का ज्ञान गुण विकार रूप परिणमन कर जाता है। यह विकार उस मूर्त मदिरा के निमित्त से होता है। इस कथन से अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म से किस प्रकार बन्ध है इस प्रश्न का अच्छी तरह निराकरण हो जाता है। आगे इसी को स्पष्ट करते हैं:–

नासिद्धं तत्तथा योगाद् यथा दृष्टोपलब्धितः ।
बिना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद् द्वयम् ॥ ८२६ ॥

अर्थ–उस (मतिश्रुतज्ञान) का उस (मद्यादि) के योग से वैसा विकारी हो जाना असिद्ध नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष वैसा दीखता है। तथा मद्यादि के बिना वह दोनों ज्ञान मद्यादि युक्त (विकारी) नहीं होते । इससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ बंध अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध है।

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत् ।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ८२७ ॥

अर्थ–और जो आगम में मतिश्रुत दोनों ज्ञान मूर्त कहे गये हैं वह मूर्तपना उपचार से है। तत्त्व दृष्टि (पदार्थ दृष्टि) से नहीं है। तत्त्व दृष्टि से तो ज्ञान अमूर्त ही है क्योंकि वस्तु की सीमा का उल्लंघन कभी नहीं हो सकता अर्थात् जो मूर्त पदार्थ है वह सदा मूर्त ही रहता है जो अमूर्त है वह सदा अमूर्त ही रहता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान आत्मा के गुण हैं वे वास्तव में अमूर्त ही हैं। केवल उपचार से मूर्त कहलाते हैं। क्यों ? इसकी चर्चा पहले ७८६ में कर आये हैं तथा अगले श्लोक में की है।

नासिद्धश्चोपचारोऽयं मूर्तं यत्तत्त्वतोऽपि च ।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥ ८२८ ॥

अर्थ—और जो मति श्रुत ज्ञान उपचार से मूर्त कहा गया है वह उपचार भी असिद्ध नहीं है क्योंकि मति श्रुत ज्ञान उपचार दृष्टि से वास्तव में मूर्त है क्योंकि वस्तु की शक्तियों की स्वतः अपने अपराध के कारण विचित्रता देखी जाती है (अर्थात् अपनी वैभाविक शक्ति के कारण वह स्वयं मूर्त द्रव्य के निमित्त में जुड़कर विकारी हो जाता है। अतः मूर्तिक निमित्त में स्वतः जुड़कर विभाव परिणमन करने के कारण उसे भी उपचार से मूर्तिक ठीक कहा है। आगे इसी का स्पष्टीकरण है।

भावार्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान को वास्तव में अमूर्त कहा गया है और उपचार से मूर्त कहा गया है। उस उपचार को कुछ न समझकर या असिद्ध समझकर जो कोई उक्त ज्ञानों को सर्वथा अमूर्त ही समझते हों, उनके लिये कहा जाता है कि वह उपचार सकारण है। वास्तविक है। पहले ७८६ के भावार्थ में कह आये हैं। फिर भी वह इस प्रकार है:—वस्तु अपनी सीमा को उल्लङ्घन नहीं करती यह तो ठीक ही है इसलिये तो आत्मा हर अवस्था में अमूर्त ही रहता है किन्तु जहाँ यह वस्तु स्वभाव है कि पदार्थ अपनी सीमा को नहीं छोड़ता वहाँ उसमें अनेक प्रकार की विचित्र-विचित्र शक्तियाँ भी होती हैं। आत्मा में निमित्त जुड़कर विभाव रूप परिणमन करने वाली शक्ति स्वतःसिद्ध स्वभाव से है। जब वह शक्ति स्वयं अपने अपराध के कारण मूर्तिक निमित्त में जुड़कर अपने में विभाव परिणमन कर लेती है और उसके कारण आत्मा अपने मूल स्वभाव को छोड़कर अशुद्ध अवस्था को धारण कर लेती है। उस अशुद्धता के कारण उसे भी उपचार से मूर्त कहा जाता है जो वास्तव में ठीक है। धर्म द्रव्य में कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि किसी निमित्त में जुड़कर विभाव परिणमन करे अतः उस पर मूर्तपने का उपचार नहीं किया जा सकता ।

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया ।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥ ८२९ ॥

अर्थ—पारिणामिक शक्ति से (स्वतः सिद्ध परिणमन स्वभाव से) अनादि सिद्ध सत् की स्वाभाविकी क्रिया भी है और वैभाविकी क्रिया भी है। अर्थात् सत् स्वभाव रूप और विभाव रूप दोनों रूप स्वतः अनादि से परिणमता है।

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया ।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥ ८३० ॥

अर्थ—सत् की वैभाविकी क्रिया केवल पराधीन (परकृत) नहीं है क्योंकि सत् की असती (अविद्यमान) शक्ति दूसरों के द्वारा (निमित्त द्वारा) नहीं की जा सकती है।

भावार्थ—कोई यह समझे कि आत्मा का कुछ दोष नहीं । विभाव रूप तो उसे निमित्त परिणमाता है तो उससे कहते हैं कि जो शक्ति उपादान में न हो वह उसे निमित्त नहीं दे सकता। किसी द्रव्य की शक्ति दूसरे द्रव्य में काम नहीं करती। आत्मा में स्वतः सिद्ध वैभाविकी गुण है और वह स्वयं अपने अपराध के कारण निमित्त में जुड़ कर विभाव परिणमन करता है। निमित्त तो मात्र उदासीन कारण है। उसकी तो उपस्थिति मात्र है। आत्मा में अन्य गुणों की तरह एक वैभाविक गुण भी है उस वैभाविक गुण का विभाव परिणमन और स्वभाव परिणमन होता है। यदि वैभाविक गुण आत्मा का निज गुण न होता तो आत्मा में विभाव रूप परिणमन भी नहीं हो सकता था।

शंका ८३१ से ८३३ तक

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी ।
स्वभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥ ८३१ ॥

शंका—यदि वैभाविक भाव नाम की क्रिया पारिणामिकी (स्वतःसिद्ध) है तो स्वाभाविकी क्रिया से विशेष (अन्तर) को धारण करने वाली इसमें क्या विशेषता है ?

भावार्थ—शंकाकार कहता है कि यदि द्रव्य की विभाव रूप क्रिया (परिणति-भाव) भी स्वतःसिद्ध है और स्वभाव रूप क्रिया भी स्वतःसिद्ध है तो फिर स्वभाव रूप क्रिया से विभाव रूप क्रिया में क्या विशेषता है अर्थात् आप दोनों को अलग-अलग समझाइये क्योंकि हमारे विचार से तो स्वभाव क्रिया तो है। विभाव क्रिया कोई वस्तु नहीं है। यदि द्रव्य स्वभाव क्रिया में अपने रूप परिणमन करता और विभाव क्रिया में निमित्त रूप हो जाया करता तब तो दोनों क्रियायें बन जातीं पर ऐसा होता नहीं है। अतः स्वभाव रूप क्रिया तो है। विभाव रूप क्रिया कोई चीज़ नहीं है अब शंकाकार अपनी इसी शंका को स्वयं दो श्लोकों द्वारा दृष्टान्त देकर स्पष्ट करता है:—

अपि चार्थपरिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः ।
ज्ञेयाकारक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥ ८३२ ॥

शंका चालू–जैसे पदार्थ को जानने वाला ज्ञान आत्मा का स्व लक्षण (गुण) है और ज्ञेयाकार (जानना) उसकी क्रिया है फिर वैभाविकी क्रिया उसमें और कौन-सी ?

भावार्थ–शंकाकार कहता है कि पदार्थ को जानने वाला जो ज्ञान है वह इस जीवात्मा का निज लक्षण है। उस ज्ञान में जो ज्ञेय के आकार रूप क्रिया होती है वह क्रिया अर्थात् जानना ज्ञान का पर्याय रूप स्वभाव है। फिर वैभाविकी क्रिया ज्ञान में और कौन-सी है ? कोई नहीं क्योंकि और क्रिया तो ज्ञान में कोई होती ही नहीं। हाँ अगर ज्ञान ज्ञेय रूप भी हो जाया करता तो वैभाविक क्रिया भी बन जाती सो होता नहीं।

तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद् घटः ।
मद्याकृत्या तथा ज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥ ८३३ ॥

शंका चालू–शंकाकार कहता है कि जिस समय ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है, उस समय ज्ञान ज्ञान ही रहता है, वह ज्ञेय नहीं हो जाता। दृष्टांत के लिये घटज्ञान को ही ले लीजिये। जिस समय ज्ञान घटाकार होता है उस समय घटज्ञान ज्ञान ही तो है, वह घटज्ञान घट नहीं बन जाता। इसी प्रकार मदिरा के निमित्त से जो ज्ञान मद्याकार अर्थात् मलिन तथा मूर्च्छित हो जाता है, वह भी ज्ञान ही है, ज्ञान मदिरामय (मदिरारूप) कभी नहीं हो सकता। यदि ज्ञान घटरूप तथा मदिरारूप भी हो जाया करता तो वह उसकी वैभाविकी क्रिया बन जाती । सो होता नहीं। अतः ज्ञान की स्वाभाविकी क्रिया तो है वैभाविकी क्रिया कोई नहीं।

शंकाकार का आशय–वह अपनी शंका को स्पष्ट करता है कि देखिये ज्ञान आत्मा का गुण है। जानना उसका कार्य है। घट को जानते समय घटाकार होना उसकी स्वभाव क्रिया है। अगर वह घट रूप भी हो जाया करता तो वह उसकी विभाव क्रिया बन जाती पर ऐसा होता नहीं है अतः विभाव क्रिया और कुछ नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान आत्मा का गुण है। जानना उसका कार्य है। मद्य को जानते समय मद्याकार होना उसकी स्वभाव क्रिया है। अगर वह मद्य रूप हो जाया करता तो वह उसकी विभाव क्रिया बन जाती किन्तु ऐसा होता नहीं है अतः आपने ऊपर ८२९ में यह कैसे कह दिया कि सत् की स्वभाव क्रिया भी है और विभाव क्रिया भी है तथा स्वभाव क्रिया के कारण उसे अमूर्त कहते हैं और विभाव क्रिया के कारण उसे मूर्त कहते हैं।

समाधान–आप समझ गये होंगे उसने क्या भूल की है। ज्ञान आत्मा का गुण है। घट को जानते समय वह अपना जानने का ठीक-ठीक कार्य करता है। इसलिये यह तो उसकी स्वभाव क्रिया का दृष्टान्त था और मद्य के निमित्त में जुड़ा हुआ ज्ञान उसको जानने का काम तो नहीं करता उलटा जाननापना खो बैठता है या यद्वा तद्वा माँ बहिन को स्त्री या स्त्री को माँ बहिनवत् जानने लगता है यह उसकी विभाव क्रिया का दृष्टान्त था। भाई विभाव क्रिया का यह अर्थ नहीं कि वह द्रव्य ही निमित्तरूप हो जाता है किन्तु यह अर्थ है कि वह अपने असली कार्य को भूलकर (छोड़कर) विपरीत कार्य करने लगता है। शंकाकार ने स्वभाव और विभाव क्रिया के दोनों दृष्टान्तों को एक स्वभावरूप में सम्मिलित करके विभाव क्रिया को उड़ा ही दिया है। सो अब उसके उत्तर में उसे आचार्य महाराज समझाते हैं कि भाई मद्यपदार्थवत् अनादि से आत्मा के साथ एक मोहनीय कर्म निमित्तरूप है। मद्यवत् उसमें जुड़ा हुआ ज्ञान स्व पर के भेद को भूल कर माँ को स्त्री कहने की तरह पर को ही स्व रूप जानने लगता है यह तो उसकी विभाव क्रिया है और मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश होने पर केवली होकर सम्पूर्ण स्व पर को जानता ही है किसी को अपना-पराया नहीं मानता यह उसकी स्वभाव क्रिया है। सो अनादि से आत्मा उसी मोहकर्म में जुड़कर विभाव परिणमन कर रहा है इसलिये तो उसे मूर्त कहते हैं और कर्मों से बंधा हुआ है यह कहते हैं और उस निमित्त के जुड़ने का अभाव होने पर अर्थात् केवली होने पर उसे ही अमूर्त कहते हैं। इससे प्रत्यक्ष है कि आत्मा और कर्म का बंध है। अध्यात्म का ऐसा नियम है कि जव विभाव दिखाना होता है तो अज्ञानी का दृष्टान्त लेते हैं और जव स्वभाव दिखाना होता है तो केवली का दृष्टान्त लेते हैं। चौथे से बारहवें तक की दशा गौण रूप से छोड़ देते हैं। क्यों ? उत्तर यह है कि पहले में पूरा विभाव है और केवली में पूरा स्वभाव है। अतः इस कथन से पदार्थ निर्दोष निरूपित होता है और विषय बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। व्यभिचार ४५ नहीं आता। चौथे से बारहवें तक एकदेश स्वभाव और एकदेश विभाव रहने से उसका कथन ही नहीं करते। दूसरे

अध्यात्म का ऐसा भी नियम है कि ज्ञानी के विभाव क्रिया तो कहते ही नहीं और स्वभाव क्रिया अभी अधूरी है अत: उसे गौण रखकर मौन ही रहते हैं ऐसा ही अध्यात्म में गुरुओं का नियम चला आ रहा है क्योंकि ज्ञानी ने पर में एकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व का भाव तो बिल्कुल छोड़ दिया है। ज्ञान मार्ग पर आरूढ़ है (श्री पंचास्तिकाय गा. ७०)। उसे विभाव क्रिया का कर्ता कैसे कहें ? अतः विभाव में तो अध्यात्म में उसका दृष्टान्त आता ही नहीं। औरु स्वभाव क्रिया है आत्मा की केवल ज्ञान। अतः उपर्युक्त गुरु परम्परा ही ठीक है। बस इसी बात को आचार्य महाराज अब स्वयं उत्तर रूप में शिष्य को ८३४ से ८३८ तक समझा कर आत्मा और कर्म का बंध सिद्ध करते हैं:-

समाधान ८३४ से ८३८ तक

नैव यतो विशेषोऽस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः ।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥ ८३४ ॥

अर्थ-आत्मा की स्वभाव क्रिया और विभाव क्रिया दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं ऐसा नहीं है क्योंकि बद्ध-अबद्ध ज्ञानों में विशेषता है। मोहकर्म से ढका हुआ अर्थात् उसमें जुड़ा हुआ ज्ञान तो बद्ध है और उस (मोहकर्म) के नाश से अबद्ध है। अब इसी को स्वयं स्पष्ट करते हैं:-

भावार्थ-जो पहले शंकाकार की तरफ से यह कह गया था कि ज्ञेयाकार होने वाला भी ज्ञान ही है तथा मदिरा के निमित्त से बदला हुआ ज्ञान भी ज्ञान ही है, ज्ञानपना दोनों में समान है, उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं है क्योंकि बिना किसी अन्य निमित्त के (केवल ज्ञेय के निमित्त से) ज्ञेयाकार होने वाले ज्ञान में और मदिरा के निमित्त से बदलने वाले ज्ञान में बहुत अन्तर है। मदिरा के निमित्त से जो ज्ञान बदला है वह मलिन है, उस ज्ञान में यथार्थता नहीं है। यथार्थता उसी ज्ञान में है जो वस्तु को यथार्थ रीति से ग्रहण करता है। जो ज्ञान केवल ज्ञेय के निमित्त से ज्ञेयाकार होता है वह वस्तु को यथार्थ ग्रहण करता है। मदिरा के निमित्त वाला नहीं। इसलिये दोनों ज्ञानों में बड़ा अन्तर है।

इसी प्रकार जीवों का ज्ञान दो प्रकार का है, एक बद्धज्ञान, दूसरा अबद्धज्ञान। जो मोहनीय कर्म से ढका हुआ है उसे तो बद्ध अर्थात् बंधा हुआ ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान मोहनीय कर्म से रहित हो चुका है वह ज्ञान अबद्ध कहलाता है। बद्ध और अबद्ध ज्ञान में बड़ा अन्तर है। अब इसी को स्वयं स्पष्ट करते हैं:-

बद्ध ज्ञान का लक्षण

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद् द्विषद् यथा ॥ ८३५ ॥

अर्थ-जो ज्ञान मोह कर्म से आच्छादित है वह प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमनशील है। वह इस प्रकार कि - इष्ट-अनिष्ट पदार्थ के संयोग से स्वयं रागी द्वेषी हो जाता है अर्थात् जिस पदार्थ को वह जानता है उसमें अच्छे-बुरे की कल्पना करके राग-द्वेष करने लगता है यह तो ज्ञान की विभाव क्रिया है और

अबद्ध ज्ञान का लक्षण

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा ।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥ ८३६ ॥

अर्थ-और जो मोहकर्म से रहित ज्ञान है वह अबद्ध है। वह क्षायिक, शुद्ध और लोक-अलोक का प्रकाशक है अर्थात् जो ज्ञान सब पदार्थों को मात्र जानता ही है। किसी में राग द्वेष नहीं करता वह उसकी स्वभाव क्रिया है।

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद् दृष्टोपलब्धितः ।
शीतोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥ ८३७ ॥

अर्थ-यह (ज्ञान का बद्ध अबद्धपना) असिद्ध नहीं है किन्तु प्रसिद्ध दृष्टांत से सिद्ध है और प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि शीत उष्ण का अनुभव अपने में तो होता है पर उस शीत-उष्ण को जानने वाले परमात्मा में नहीं होता अर्थात् हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ठण्डी-गरम वस्तु का संयोग होने पर हम तो अपने को ही गरम या ठण्डा मानने लगते हैं लेकिन केवली ऐसा नहीं मानता। अभी मकान में आग लग जाये तो हम रोने लगते हैं कि अरे मैं जला, कोई बचाओ, भाई

गरम तो पुद्गल है आत्मा तो अमूर्त है, वह तो छू भी नहीं सकता किन्तु यह निमित्त में जुड़कर होने वाली हमारे ज्ञान की प्रत्यक्ष विभाव क्रिया है किन्तु जहाँ केवली भगवान विराजमान है वहाँ ठण्डी-ठण्डी वायु चलती है किन्तु उनका ज्ञान उसमें जरा भी नहीं जुड़ता, मात्र जानता ही रहता है। यह प्रत्यक्ष आत्मा की स्वभाव क्रिया का दृष्टांत है।

उपसंहार

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तं ज्ञानद्वयं यथा ।
अस्त्यमूर्तोऽपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥ ८३८ ॥

अर्थ–इसलिये यह दृष्टान्त से सिद्ध हो गया कि जैसे मतिश्रुत ज्ञान दोनों अमूर्त होकर भी मूर्त हैं उसी प्रकार अमूर्त जीवात्मा भी मूर्त कर्मों से बंधा हुआ है।

भावार्थ–केवल ज्ञान अमूर्त है और मतिश्रुत मूर्त हैं यही तो बताता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों से बन्ध हुआ है क्योंकि ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है। आत्मा मूर्त है इसका अर्थ बस इतना ही है कि जब तक वह निमित्त में जुड़कर विभाव रूप अपने में परिणमता है तब तक 'मूर्त है' – कहो, या 'कर्मों से बन्धा हुआ है' – कहो एक ही बात है। कहीं आत्मा स्वयं मूर्त नहीं हो जाता। जीव से पुद्गल नहीं हो जाता।

प्रमाण–यही शंका और यही समाधान और यही मूर्त-अमूर्त, बद्ध-अवद्ध का अर्थ श्री कुन्दकुन्द तथा श्री अमृतचन्द्र देव ने श्री प्रवचनसार गा. १७३, १७४ में लिखा है। वहीं से ही श्री पंचाध्यायीकार ने लेकर विशद स्पष्ट कर दिया है। वह इस प्रकार हैः–

अब, अमूर्त आत्मा के, स्निग्धरूक्षत्व का अभाव होने से बंध कैसे हो सकता है? ऐसा पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैंः–

शंका

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहि अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ १७३ ॥

शंका – मूर्त (पुद्गल) रूपादिगुणयुक्त होने से परस्पर (बन्ध-योग्य) स्पर्शों से बंधता है, (परन्तु) उससे विपरीत (अमूर्त) आत्मा पौद्गलिक कर्म को कैसे बाँधता है अब यह सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्मा के अमूर्त होने पर भी इस प्रकार बन्ध होता हैः–

समाधान

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ १७४ ॥

अर्थ–जैसे रूपादि रहित (जीव) रूपादि को–द्रव्यों को तथा गुणों को (रूपी द्रव्यों को और उनके गुणों को)–देखता है और जानता है उसी प्रकार उसके साथ (अरूपी का रूपी के साथ) बंध जानो।

टीका–जैसे रूपादिरहित (जीव) रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को देखता है तथा जानता है, उसी प्रकार रूपादिरहित (जीव) रूपी कर्मपुद्गलों के साथ बंधता है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यहाँ भी (देखने-जानने के सम्बन्ध में भी) यह प्रश्न अनिवार्य है कि अमूर्त मूर्त को कैसे देखता-जानता है। और ऐसा भी नहीं है कि यह (अरूपी का रूपी के साथ बंध होने की) बात अत्यन्त दुर्घट है इसलिये उसे दार्ष्टान्तरूप बनाया है, परन्तु आबालगोपाल सभी को प्रगट (ज्ञात) हो जाय इसलिये दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यथाः–बाल-गोपाल का पृथक् रहने वाले मिट्टी के बैल को अथवा (सच्चे) बैल को देखने और जानने पर बैल के साथ संबंध नहीं है तथापि विषयरूप से रहने वाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ़, वृषभाकर दर्शन ज्ञान के साथ का सम्बन्ध बैल के साथ के संबंध रूप व्यवहार का साधक अवश्य है, इसी प्रकार आत्मा अरूपित्व के कारण स्पर्शशून्य है, इसलिये उसका कर्म पुद्गलों के साथ संबंध नहीं है, तथापि एकावगाहरूप से रहने वाले कर्म पुद्गल जिनके निमित्त हैं ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादि भावों का सम्बन्ध कर्म पुद्गलों के साथ के बंध रूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

भावार्थ—आत्मा के अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिककर्म-पुद्गलों के साथ कैसे बंधता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि-आत्मा के अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिक पदार्थों को कैसे जानता है? जैसे वह मूर्तिक पदार्थों को जानता है उसी प्रकार मूर्तिक कर्म पुद्गलों के साथ बंधता है।

वास्तव में अरूपी आत्मा का रूपी पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध न होने पर भी अरूपी का रूपी के साथ सम्बन्ध होने का व्यवहार भी विरोध को प्राप्त नहीं होता। जहाँ यह कहा जाता है कि "आत्मा मूर्तिक पदार्थों को जानता है वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उसका तो मात्र उस मूर्तिक पदार्थ के आकाररूप होने वाले ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध है, और उस पदार्थाकार ज्ञान के साथ के सम्बन्ध के कारण ही 'अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का सम्बन्ध रूप व्यवहार सिद्ध होता है। इसी प्रकार जहाँ यह कहा जाता है कि 'अमुक आत्मा का मूर्तिक कर्म पुद्गलों के साथ बंध है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्म पुद्गलों के साथ कोई सम्वन्ध नहीं है। आत्मा का तो कर्म-पुद्गल जिसमें निमित्त हैं ऐसे रागद्वेषादि भावों के साथ ही सम्बन्ध (बंध) है, और उन कर्म-निमित्तक रागद्वेषादि भावों के साथ सम्बन्ध होने से ही इस आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बंध है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का बंधरूप व्यवहार सिद्ध होता है।

यद्यपि मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, वे उस मनुष्य से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि स्त्री-पुत्र-धनादि के प्रति राग करने वाले मनुष्य को राग का बंधन होने से, और उस राग में स्त्री-पुत्र-धनादिक के निमित्त होने से व्यवहार से यह अवश्य कहा जाता है कि 'इस मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि का बंधन है, इसी प्रकार, यद्यपि आत्मा का कर्म पुद्गलों के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि रागद्वेषादि भाव करने वाले आत्मा को रागद्वेषादि भावों का वंधन होने से और उन भावों में कर्म पुद्गल निमित्त होने से व्यवहार से यह अवश्य कहा जा सकता है कि "इस आत्मा को कर्म पुद्गलों का बंधन है।"

आत्मा और कर्म के वंध की सिद्धि समाप्त

चौथा अवान्तर अधिकार

(१) बद्धत्व (२) अशुद्धत्व (३) और दोनों का अन्तर ८३९ से ९०० तक ६२

विषय परिचय—पहले ८३९ से ८७९ तक बद्धत्व का निरूपण करेंगे। फिर ८८० से ८९५ तक अशुद्धत्व का निरूपण करेंगे। फिर ८९६ से ९०० तक बद्धत्व और अशुद्धत्व का अन्तर बतलायेंगे । इसका सार यह है कि (१) द्रव्य की परगुणाकार रूप निज क्रिया अर्थात् विभाव परिणमन को बद्धत्व या बंध कहते हैं, जैसे—ज्ञान का राग रूप परिणमना बद्धत्व है। इसके लक्षण सूत्र ८४०, ८४४ तथा ८९८ की प्रथम पंक्ति है। द्रव्य कर्म को या द्रव्यकर्म से जीव के बंधने को बद्धत्व नहीं कहते ।(२) उस बंध अर्थात् विभाव के कारण मूल द्रव्य के निज गुण का अपने स्वभाव कार्य से च्युत होना अशुद्धत्व है जैसे ज्ञान का अज्ञानरूप होना अशुद्धत्व है। ज्ञान का स्वभाव एक समय में लोक-अलोक को जानने का था। अशुद्ध दशा में आकर वह प्रत्यर्थ परिणमनशील हो गया अर्थात् जिस पदार्थ को जानने लगा उसीके प्रति रागी-द्वेषी-मोही हो गया। यह उसकी अशुद्ध दशा है। इसके लक्षण सूत्र ८८० तथा ८९८ की दूसरी पंक्ति है। अशुद्धत्व में दूसरा द्रव्य नहीं लिया जाता है। (३) एक अन्तर तो यह है कि बंध कारण है और अशुद्धत्व कार्य है क्योंकि बंध के विना अशुद्धता नहीं होती अर्थात् विभाव परिणमन किये बिना ज्ञान की अज्ञानरूप दशा नहीं होती। ज्ञान का विभाव परिणमन बद्धत्व है और उसकी अज्ञान दशा अशुद्धत्व है। समय दोनों का एक ही है। यहाँ बद्धत्व कारण है और अशुद्धत्व कार्य है। इसका लक्षणसूत्र ८९९ है। दूसरा अन्तर यह है कि बंध कार्य है क्योंकि बंध अर्थात् विभाव पूर्वबद्ध कर्मो के उदय से होता है और अशुद्धत्व कारण है क्योंकि वह नएकर्मों को खींचती है अर्थात् उनके बन्धने के लिये निमित्त मात्र कारण हो जाती है। इसका लक्षण सूत्र ९०० है। पहले अन्तर में बंध कारण है दूसरे में बन्ध कार्य है। पहले अन्तर में अशुद्धत्व कार्य है दूसरे में कारण है यही बद्धत्व और अशुद्धत्व दोनों में अन्तर है। इसका सूत्र ८९७ है। ये लक्षण सूत्र पुनः पुनः विचारने तथा कण्ठस्थ करने योग्य हैं। फिर विषय के समझने में सरलता हो जायेगी। सार इतना ही है कि ज्ञान का रागरूप परिणमना बन्ध है और उस राग के कारण ज्ञान की अज्ञान अवस्था होना अशुद्धत्व है। बद्धत्व यही भावकर्म का नाम है— द्रव्यकर्म का नहीं। अन्तर दोनों में कारण कार्य भाव है।

प्रतिज्ञा

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः ।
वावदूकोऽथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमात् ॥ ८३९ ॥

अर्थ–पदार्थ रूप से बद्धपना क्या है और अशुद्धपना क्या है ऐसा कोई वावदूक (पदार्थ को सूक्ष्मता से समझने वाला) और संदिग्ध (संदेह रखने वाला) पूछता है। अब क्रम से पहले बद्धता फिर अशुद्धता उसे समझाते हैं।

बद्धत्व का निरूपण ८४० से ८७९ तक ४०

बन्ध का लक्षण

अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी ।
तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्बन्ध स्यादन्यहेतुकः ॥ ८४० ॥

अर्थ–पदार्थ में एक वैभाविकी शक्ति है। वह यदि उपयोगी होते अर्थात् निमित्त में जुड़कर विभाव रूप कार्य करती होवे तो उस पदार्थ की अपने गुण के आकार की अर्थात् असली स्वरूप की जो उस निमित्त के आधार रूप (जुड़ान रूप) संक्रान्ति-च्युति-विभाव परिणति है वह संक्रान्ति ही अन्य (द्रव्य कर्म का उदय) है निमित्त जिसमें ऐसा बंध है। यहाँ एक द्रव्य के विभाव परिणमन को बन्ध कहा गया है। यह बन्ध का लक्षण है। जैसे ज्ञान का राग रूप परिणमना बन्ध है। द्रव्य कर्म को बंध या बद्धत्व यहाँ नहीं कहते।

भावार्थ–छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल दो में वैभाविकी नाम की शक्ति है। यह एक स्वतःसिद्ध गुण है। यह बन्ध का कारण नहीं है यह तो सिद्धों में भी है। जो-जो शक्ति होनी है उसका स्वभाव परिणमन भी अवश्य होता है। अतः इस शक्ति का सिद्ध में और परमाणु में शुद्ध स्वभाविक परिणमन है। वह परिणमन भी बंध का कारण नहीं है किन्तु निमित्त की उपस्थिति में जब यह शक्ति निमित्त से जुड़कर विभाव रूप परिणमती है। यह विभाव रूप परिणमना ही बंध है। यह जीव और पुद्गल दो में ही होता है जैसे ज्ञान का राग रूप परिणमना ही बंध है। पुद्गल का कर्म रूप परिणमना ही बन्ध है। अब इसी को आचार्य देव स्वयं स्पष्ट करते हैं।

तत्र बन्धे न हेतुः स्याच्छक्तिः वैभाविकी परम् ।
नोपयोगोऽपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥ ८४१ ॥

अर्थ–उस बन्ध में अर्थात् विभाव में केवल वैभाविकी शक्ति कारण नहीं है और उसका उपयोगी अर्थात् पूर्ण स्वभाव पर्याय भी कारण नहीं है किन्तु वह पराधीनता कारण है। अर्थात् निमित्ताधीन परिणमना ही कारण है।

भावार्थ–यदि बंध का कारण वैभाविकी शक्ति ही हो तो वह शक्ति नित्य है। सदा आत्मा में रहती है। इसलिये आत्मा में सदा बंध ही होता रहेगा। आत्मा मुक्त कभी न होगा अथवा मुक्त आत्मा भी बंध करने लगेगा। इसलिये केवल शक्ति ही बंध का कारण नहीं है। तथा केवल उपयोग भी नहीं है। उपयोग नाम शक्ति के परिणमन का है। वह उपयोग शक्ति स्वभाव अवस्था में भी होता है और विभाव अवस्था में भी होता है। यदि शक्ति का शुद्ध उपयोग भी बंध का कारण हो तो भी वही दोष आता है जोकि ऊपर कहा जा चुका है। इसलिये पुद्गल है निमित्त जिसमें ऐसा जो वैभाविकी शक्ति का विभाव रूप उपयोग है वही बंध का कारण है।

अगली भूमिका – बन्ध में वैभाविकी शक्ति अर्थात् गुण कारण नहीं है क्योंकि गुण तो त्रिकाल रहता है । यह आगे ८४२ में भी कहा है। उस शक्ति का स्वभाव परिणमन भी कारण नहीं है क्योंकि स्वभाव परिणमन तो सिद्धों में तथा शुद्ध पुद्गल परमाणु में भी रहता है । यह आगे ८४३ में भी कहा है किन्तु वह शक्ति अपने योग्य निमित्त में जुड़कर अपने विभाव उत्पन्न कर लेती है। उस विभाव रूप पराधीनता से वह पदार्थ बन्ध जाता है । यह आगे ८४४ में भी कहा है। वह विभाव रूप पराधीनता ही बंध में कारण है।

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।
सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ॥ ८४२ ॥

अर्थ–वैभाविकी शक्ति उस-उस (जीव पुद्गल) द्रव्य का अनुजीवी गुण है। वह (शक्ति) ही यदि बन्ध का कारण ` तो जीव की कभी मुक्ति ही नहीं हो सकती क्योंकि गुण तो उसमें त्रिकाल रहेगा ।

भावार्थ–जिस प्रकार जीव में ज्ञान दर्शन, चरित्र आदि अनन्त गुण हैं। उसकी वैभाविकी शक्ति भी एक शुद्ध गुण है। जिस प्रकार पुद्‌गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण हैं उसी प्रकार वैभाविकी शक्ति भी एक गुण है। जो-जो गुण हुवा करता है वह त्रिकाल रहता है अतः जीव में वह वैभाविकी शक्ति तो त्रिकाल रहेगी और जब वह बंध का कारण होगी तो बंध करती ही रहेगी। अतः जीव के मोक्ष होने का अवकाश ही खत्म हो जायेगा। शक्ति को बंध का कारण मानने में यह दोप है। अतः शक्ति बंध का कारण नहीं है।

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी ।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत् सर्वो बन्धः समस्यताम् ॥ ८४३ ॥

अर्थ–उपयोग शक्ति की अपने स्वतः सिद्ध स्वभाव से होने वाली अभिव्यक्ति स्वभाव की पूर्ण प्रगटता है। वह अभिव्यक्ति यदि बंध का कारण हो जावे तो सभी पदार्थ बंध विशिष्ट हो जावेंगे (क्योंकि पर्याय की प्रगटता रूप स्वभाव तो सभी द्रव्यों में स्वतः सिद्ध स्वभाव से है)। अतः वैभाविकी शक्ति का स्वभाव परिणमन भी बंध का कारण नहीं है।

भावार्थ–वैभाविकी शक्ति का अपने स्वरूप को लिये हुवे प्रगटपना शुद्ध अवस्था में होता है। वह उक्त शक्ति का स्वभाव परिणमन कहलाता है। वह स्वभाव परिणमन बंध का कारण नहीं है। वह यदि बंध का कारण हो जाय तो सिद्धों के सदैव बंध होने लगोगा। यह दोष आता है। जब गुण कारण नहीं है, उसकी स्वभाव पर्याय कारण नहीं है फिर क्या कारण है यह अब बताते हैं:–

बंध का स्पष्टीकरण

तस्मात्तद्धेतुसामग्रीसान्निध्ये तद्‌गुणाकृतिः ।
स्वाकारस्य परायत्ता तथा बद्धोऽपराधवान् ॥ ८४४ ॥

अर्थ–इसलिये उस पराधीनता (विभाव) के योग्य निमित्त कारण रूप सामग्री की सन्निधि (उपस्थिति निकटता) होने पर अपने आकार (स्वरूप) की उस निमित्त के गुण की आकृति रूप जो पराधीनता है अर्थात् निज विभाव परिणति है। उस निज विभाव परिणति से वह अपराधी पदार्थ स्वयं बंधा हुवा है।

भावार्थ–उस पदार्थ में जो विभाव होगा। उसके योग्य निमित्त की उपस्थिति चाहिये। जैसे क्रोध भाव के लिये द्रव्य क्रोध का उदय रूप निमित्त चाहिये। फिर उसकी सन्निधि होने पर मूल द्रव्य का जो मूल गुण जैसे आत्मा का ज्ञान गुण–वह गुण उस निमित्त के गुण की आकृति को धारण करे जैसे वह ज्ञान गुण द्रव्य क्रोध का गुण जो क्रोध उसकी आकृति को अर्थात् भाव क्रोध को धारण करे तो उस भाव क्रोध से वह ज्ञान गुण स्वयं अपने अपराध के कारण अर्थात् स्वयं निमित्त में जुड़कर विभाव परिणमन करने के कारण विभाव से बंध जाता है। इसको बंध कहते हैं। इसी प्रकार कार्माणवर्गणारूप पुद्‌गलों को जब जीव के राग की उपस्थिति मिलती है तो वे भी अपने असली स्वभाव से डिगकर ज्ञानावरणादि कर्म रूप में परिणत हो जाती हैं। उस पुद्‌गल में उस कर्म रूप परिणति का होना ही उसकी बद्धत्व अवस्था है। अव इसको से स्पष्ट करते हैं:–

नासिद्धं तत् परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा ।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥ ८४५ ॥

अर्थ–वह पराधीनता असिद्ध नहीं है किन्तु प्रसिद्ध दृष्टांत से सिद्ध है जैसे अज्ञानी आत्मा-शीत-उष्ण पदार्थ का निमित्त होने पर अपने को ही शीत-उष्ण मान लेता है (यह शीत-उष्ण मानने रूपविकार परिणति ही बद्धत्व है)। उसी प्रकार सभी जीव राग-द्वेष-मोह रूप द्रव्य कर्म का निमित्त मिलने पर अपने को ही रागी-द्वेषी-मोही मान लेता है।
(श्री समयसारजी गा. ९२ टीका)

तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोऽखिलः ।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित् ॥ ८४६ ॥

अर्थ–वह इस प्रकार कि शीत-उष्ण सम्पूर्ण गुण पुद्‌गल द्रव्य का है। फिर भी अमूर्तिक आत्मा के शीत-उष्ण का अनुभव बद्धत्व अवस्था में होता है यह, प्रत्यक्ष देखा जाता है। क्वचित् शब्द का अर्थ बद्धत्व अवस्था अर्थात् अज्ञान

अवस्था है यह अर्थ श्री समयसार गा. ८२ की संस्कृत टीका में है। वहाँ से लिया है। अध्यात्म में बद्धत्व अशुद्धत्व में अज्ञानी का निरूपण होता है। अबद्धत्व शुद्धत्त्व में केवली का। ऐसी ही गुरु परम्परा है। यहाँ तक बंध का स्वरूप कहा। अब इसी को शंका समाधान द्वारा पीसते हैं।

शंका

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः ।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥ ८४७ ॥

शंका–यह तो ठीक है कि वैभाविकी शक्ति अन्य के योग से अर्थात् निमित्त कारण की उपस्थिति में ऐसी हो जाती है अर्थात् बद्ध हो जाती है विभाव परिणमन करती है किन्तु (१) क्या वह परयोग के बिना नहीं रहती है अर्थात् निमित्त के हटने पर क्या इस शक्ति की सत्ता का ही अभाव हो जाता है? या (२) पर्याय में शुद्ध रहती है अथवा अशुद्ध रहती है?

भावार्थ–शिष्य जब यह समझ गया कि वैभाविकी शक्ति निमित्त में जुड़कर विभाव परिणमन करती है तो अब वह पूछता है कि निमित्त हटने पर क्या निमित्त के साथ उस शक्ति का भी नाश हो जाता है। यदि नाश हो जाता है तो ठीक है। यदि नाश नहीं हो जाता तो फिर उस शक्ति का शुद्ध परिणमन रहता है या अशुद्ध रहता है यह जानना चाहता है।

समाधान ८४८ से ८५० तक

सत्यं नित्या तथाशक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत् ।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात् ॥ ८४८ ॥

अर्थ–ठीक है पहली शंका का उत्तर तो यह है कि वैभाविकी शक्ति नित्य है क्योंकि वह शक्ति (गुण) है अन्य शुद्ध शक्तियों की तरह । अन्यथा क्रम से शक्तियों का नाश होने से सत् का ही नाश हो जायगा। अर्थात् अन्य शक्तियों की तरह वैभाविकी शक्ति एक त्रिकाली शक्ति है । निमित्त के हटने पर उसका नाश नहीं होता क्योंकि गुण का कभी नाश नहीं होता । यदि गुण का नाश होने लगे तो द्रव्य का ही नाश हो जायेगा क्योंकि गुणों का समूह ही तो द्रव्य है।

भावार्थ–आचार्य कहते हैं कि वैभाविक शक्ति वास्तव में है और वह नित्य है क्योंकि जो-जो शक्तियाँ होती हैं वे सब नित्य ही हुआ करती हैं। जिस प्रकार आत्मा की शुद्ध शक्तियाँ ज्ञान, दर्शनादिक नित्य हैं। इस प्रकार यह भी नित्य है। यदि इस वैभाविक शक्ति को नित्य नहीं माना जाय तो सत् पदार्थ का ही नाश हो जायगा क्योंकि शक्तियों (गुणों का समूह ही तो पदार्थ है। जब शक्तियों का ही क्रम-क्रम से नाश होने लगेगा तो पदार्थ भी अवश्य नष्ट हो जायेगा। अंश नाश से अंशी का नाश अवश्यंभावी है। इसलिये वैभाविकी शक्ति आत्मा का नित्य गुण है। यह पहली शंका का उत्तर दिया । अब दूसरी का देते हैं:–

किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः ।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥ ८४९ ॥

अर्थ–दूसरी शंका का उत्तर यह है कि उसका शुद्ध से अन्य भाव अर्थात् विभाव भाव अन्य हेतुक अर्थात् निमित्त की उपस्थिति में होता है। उस निमित्त के बिना स्वतः केवल शुद्ध भाव होता है।

भावार्थ–जब शक्ति नित्य है तो उसका एक परिणमन तो अवश्य रहेगा। निमित्त की उपस्थिति तक विभाव परिणमन फिर स्वभाव परिणमन ।

नासिद्धोऽसौ हि सिद्धांतः सिद्धः संदृष्टितो यथा ।
बह्नियोगाज्जलं चोष्णं शीतं तत्तदयोगतः ॥ ८५० ॥

अर्थ–निमित्त की उपस्थिति में वैभाविकी शक्ति का विभाव परिणमन होता है और निमित्त की अनुपस्थिति में स्वभाव परिणमन होता है यह सिद्धांत असिद्ध नहीं है। यह बात तो प्रसिद्ध दृष्टांत से भले प्रकार सिद्ध है जैसे जल आग के योग (निमित्त मात्र) से उष्ण होता है और वही जल उस निमित्त रूप अग्नि के आश्रय के बिना शीतल होता है।

भावार्थ—जल रूप द्रव्य या गुण नित्य रहता है। अग्नि रूप निमित्त की उपस्थिति में गरम रूप विभाव परिणमन करता है, अनुपस्थिति में शीतल रूप स्वभाव परिणमन करता है। निमित्त रूप अग्नि हटने पर न जल का नाश होता है और न परिणमन का अभाव होता है उसी प्रकार वैभाविकी शक्ति रूप गुण नित्य रहता है। द्रव्य कर्म के उदय रूप उपस्थिति में विभाव परिणमन करती है। अनुपस्थिति में स्वभाव परिणमन करती है। ऐसा शिष्य की शंका का समाधान दृष्टांतपूर्वक किया।

भावार्थ ८४७ से ८५० तक—८४६ तक यह सिद्ध करके आये थे कि वैभाविकी शक्ति योग्य निमित्त की उपस्थिति में निमित्त के गुणाकार रूप परिणमन कर जाती है जो उसकी बद्धत्व अवस्था है। उस पर शंकाकार दो प्रश्न पूछता है कि (२) जब निमित्त नहीं रहता तो क्या वह शक्ति ही मूल द्रव्य में से नाश हो जाती है। यदि नाश हो जाती है तब तो मुझे कुछ नहीं कहना है और यदि निमित्त के हटने पर भी वह शक्ति द्रव्य में विद्यमान रहती है तो (२) फिर उसका शुद्ध परिणमन होता है या अशुद्ध परिणमन होता है। उत्तर में आचार्य देव समझाते हैं कि निमित्त की अनुपस्थिति में शक्ति का तो नाश नहीं होता क्योंकि वह त्रिकाली गुण है। अन्य ज्ञान दर्शन आदि गुणों की तरह। यदि शक्ति का नाश कहोगे तो आज एक शक्ति का नाश, कल दूसरी का, फिर तीसरी का, इसी प्रकार द्रव्य का ही नाश हो जायेगा। अतः शक्ति का नाश तो होता ही नहीं। दूसरी बात का उत्तर यह है कि जब तक निमित्त का आश्रय करता है तब तक विभाव परिणमन होता है। निमित्त हटने पर स्वभाव परिणमन होता है। एक ही शक्ति के दो परिणमन हैं। एक परिणमन जरूर रहता है क्योंकि परिणमन तो पर्याय है पर्याय बिना गुण नहीं रहेगा। गुण बिना द्रव्य नहीं रहेगा। इस प्रकार उसकी शंका का समाधान किया।

शंका ८५१ से ८५५ तक

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत् ।
एकः स्वभाविको भावो भावो वैभाविकोऽपरः ॥ ८५१ ॥

शंका— महाराज! आपके ऊपर कहे अनुसार तो एक शक्ति हुई उसका भाव (परिणमन) दो प्रकार का हुआ — एक स्वभाविक भाव, दूसरा वैभाविक भाव। (यह शिष्य ने ऊपर की बात को ही दोहराया है)।

चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतःस्तः का क्षतिः सताम् ।
स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा ॥ ८५२ ॥

शंका चालू—यदि अवश्य ऐसा ही है अर्थात् पदार्थ में स्वभाव-विभाव दोनों प्रकार के परिणमन होते हैं तो फिर वे दोनों परिणमन एक शक्ति के न मानकर पदार्थ में दो मूल शक्तियाँ ही क्यों न मान ली जावें—इसमें सतों (द्रव्यों) की क्या हानि है? स्वाभाविकी अपने स्वभाव भावों से परिणमन करे और वैभाविकी अपने विभाव भावों से परिणमन करे।

भावार्थ—शिष्य कहता है कि महाराज आप एक शक्ति मानकर उसके स्वभाव-विभाव दो प्रकार के परिणमन मान रहे हैं। इसकी बजाय शक्तियाँ ही दो स्वतन्त्र मान लो और उन दोनों का परिणमन भी स्वतन्त्र मान लो। स्वाभाविकी शक्ति अपने स्वभाव भावों में परिणमन करे और वैभाविक शक्ति अपने विभाव भावों में परिणमन करे। इससे द्रव्य स्वभाव में कुछ आपत्ति नहीं आती तथा—

सद्भावेऽथाप्यसद्भावे कर्मणां पुद्गलात्मनाम् ।
अस्तु स्वाभाविकी शक्तिः शुद्धैर्भावैर्विराजिता ॥ ८५३ ॥

शंका चालू — पौद्गलिक कर्मों के सद्भाव अथवा असद्भाव में (उदय या अनुदय में) स्वाभाविकी शक्ति तो शुद्ध भावों से परिणमन करती रहे (क्योंकि उसे तो निमित्त से कुछ प्रयोजन ही नहीं) और—

अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ॥ ८५४ ॥

शंका चालू—और बैभाविकी शक्ति कर्मों के संयोग से तो परिणमनशील रहे और कर्मों के उदय के अभाव में वह परिणमनशील न रहे (कूटस्थ बनकर द्रव्य में पड़ी रहे) अर्थात् कर्मों का जब तक आत्मा में सम्बन्ध रहेगा तब तक

वैभाविकी शक्ति का परिणमन होता रहेगा। जब कर्मो का उदय न रहेगा, उस समय उस वैभाविकी शक्ति का परिणमन भी न होगा। कूटस्थ बनकर द्रव्य में पड़ी रहेगी।

दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।
दण्डयोगाद्विना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते ॥ ८५५ ॥

शंका चालू–अब शंकाकार अपनी बात को दृष्टांत द्वारा पुष्ट करता है कि जैसे चाक दण्ड के योग से अपने द्वारा अपने में घूमता है और दण्ड के योग के बिना वही चित्रवत् ठहर जाता है उसी प्रकार जब तक निमित्त की उपस्थिति रहे तव तक तो वैभाविकी शक्ति अपने द्वारा अपने में परिणमन करती रहे और निमित्त हटने पर चाक की तरह कूटस्थ होकर द्रव्य में पड़ी रहे क्योंकि यह तो आप ऊपर कह ही चुके हैं कि निमित्त के हटने पर शक्ति का नाश तो होता ही नहीं। फिर उसका कूटस्थ हो जाना ही ठीक है क्योंकि फिर उसके परिणमन की तो कुछ आवश्यकता रही नहीं।

शंकाकार का आशय–गुरु महाराज ने यह सिद्धांत समझाया था कि वैभाविकी शक्ति है। निमित्त की उपस्थिति में यह विभाव परिणमन करती है और निमित्त की अनुपस्थिति में स्वभाव परिणमन करती है अर्थात् एक शक्ति है और उसके दो प्रकार के परिणमन हैं। इस पर शिष्य कहता है कि महाराज ऐसा न मानकर आत्मा में एक स्वाभाविकी और एक वैभाविकी दो स्वतन्त्र शक्तियाँ मानें। ये दोनों शक्तियाँ नित्य रहें। स्वाभाविक शक्ति का परिणमन तो सदा होता ही रहे और वैभाविकी शक्ति का परिणमन कर्मों की उपस्थिति में होता रहे परन्तु कर्मों के नाश होने पर या अनुदय होने पर वैभाविकी शक्ति का परिणमन नहीं होवे। इस प्रकार शिष्य दो शक्तियाँ मानकर उन्हें नित्य मानता है तथापि उनमें परिणमन वह सदा नहीं मानता। उसके सिद्धान्तानुसार अब दो शंकायें हो गईं। एक तो एक शक्ति के स्थान में दो शक्तियें स्वीकार करना, दूसरे शक्तियों को नित्य मानते हुये भी उनमें सदा परिणमन नहीं मानना। इन्हीं दोनों शंकाओं का परिहार नीचे किया जाता है।

समाधान ८५६ से ८६१ तक

नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम् ।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥ ८५६ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है अर्थात् निमित्त के हटने पर वैभाविकी शक्ति कूटस्थ नहीं होती है क्योंकि सत् का सम्पूर्ण शक्ति समूह (गुण समुदाय) परिणमनशील है। फिर वैभाविकी शक्ति परिणामी क्यों नहीं रहेगी। उसे यह उत्तर दिया गया है कि सम्पूर्ण, द्रव्यों के सम्पूर्ण गुण स्वतः सिद्ध स्वभाव से प्रति समय परिणमन करते ही है। फिर वैभाविकी शक्ति भी तो एक गुण है। वह निमित्त हटने पर परिणमन रहित कैसे हो जायेगी? नहीं हो सकती। और ऐसा भी नहीं है कि कोई शक्ति परिणमन वाली हो और कोई न हो, सभी शक्तियाँ परिणमनशील हैं तथा ऐसा भी नहीं है कि कोई शक्ति कुछ समय तक तो परिणमन करे और फिर परिणमन रहित हो जाय। सोई अब उसे समझाते हैं:–

परिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चापारिणामिकी ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याभावात् संदृष्ट्यभा वतः ॥ ८५७ ॥

अर्थ–कोई शक्ति परिणामी औ र कोई शक्ति अपरिणामी नहीं है क्योंकि ऐसा सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है और दृष्टान्त का भी अभाव है अर्थात् सब शक्तियाँ स्वतः सिद्ध स्वभाव से परिणमनशील हैं।

भावार्थ–द्रव्य में जितनी शक्तियाँ हैं। सभी प्रतिक्षण परिणमन करती रहती हैं। किसी शक्ति को परिणमनशील माना जाय और किसी को नहीं माना जाय या कुछ काल के लिये परिणमनशील माना जाये, इसमें कोई प्रमाण नहीं है और न कोई दृष्टान्त ही है।

तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभविकी भवेत् ।
परिणमात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥ ८५८ ॥

अर्थ–इसलिये परिणमनशील वैभाविकी शक्ति सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने पर स्वयं अपने भावों के द्वारा वाभाविक परिणमन करने लग जाती है।

भावार्थ–जब उपर्युक्त कंथनानुसार सभी शक्तियों का परिणमन होता है तब वैभाविकी शक्ति का भी प्रतिक्षण परिणमन सिद्ध हो चुका। इसलिये फलितार्थ यह हुआ कि वैभाविकी शक्ति ही अवस्था भेद से स्वभाव विभाव में आया करती है। जब तक कर्मों का सम्बन्ध रहता है तब तक तो उस वैभाविकी शक्ति का विभाव रूप परिणमन होता है और जब सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाता है उस समय उस वैभाविकी शक्ति का परिणमन स्वभाव रूप होता है। इस प्रकार केवल एक वैभाविकी शक्ति के ही स्वाभाविक और वैभाविक ऐसे दो अवस्था भेद हैं।

ततः सिद्धं सतोऽश्वयं न्यायात् शक्तिद्वयं यतः ।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥ ८५९ ॥

अर्थ–इसलिये उपर्युक्त न्याय से यह सिद्ध हुआ कि सत् की स्वाभाविकी और वैभाविकी दो शक्तियाँ तो जरूर हैं किन्तु वह अवस्था के भेद से हैं (परिणमन की दृष्टि से हैं–पर्याय दृष्टि से हैं) किन्तु ऐसा नहीं है कि मूल में वे दो शक्तियाँ इकट्ठी हैं और उनके स्वभाव विभाव दोनों प्रकार के परिणमन भी साथ-साथ चलते हैं।

भावार्थ–वस्तु में एक समय में एक ही पर्याय होती है इस नियम से वैभाविकी शक्ति की क्रम से होने वाली दोनों अवस्थायें वस्तु में रहती हैं परन्तु कोई कहे कि स्वाभाविक और वैभाविक दोनों एक साथ रह जायें यह कभी नहीं हो सकता। क्योंकि यदि एक साथ एक काल में दोनों रह जाएँ तो वे दो गुण कहे जायेंगे, पर्याय नहीं कही जायेंगी। पर्याय तो एक समय में एक ही होती है। इसलिये अवस्था भेद से क्रम से ही वैभाविक और स्वाभाविक दोनों अवस्थायें पाई जाती हैं एक काल में नहीं।

यौगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वयस्य नयादपि ।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः ॥ ८६० ॥

अर्थ–उन दोनों स्वाभाविकी और वैभाविकी शक्ति के युगपत रहने में न्याय से भी महान दोष आता है क्योंकि कार्यकारण का नाश होता है और बंध मोक्ष का नाश होता है।

भावार्थ–यद्यपि वैभाविकी शक्ति एक ही है और उसकी दो अवस्थायें क्रम से होती हैं यह सिद्धान्त है तथापि अवस्था भेद से जो द्वैत है अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से जो स्वाभाविक और वैभाविक दो भेद हैं; उन भेदों को एक साथ ही कोई स्वीकार करे तो भी ठीक नहीं है। ऐसा मानने से अनेक दोष आते हैं। एक तो कारण कार्य भाव इनमें नहीं रहेगा क्योंकि वैभाविक अवस्था पूर्वक ही स्वाभाविक अवस्था होती है। जिस प्रकार संसार पूर्वक ही मोक्ष होती है। इसलिये संसार मोक्ष प्राप्ति में कारण है। इसी प्रकार वैभाविक अवस्था के बिना स्वाभाविक अवस्था भी नहीं हो सकती है। एक साथ मानने में यह कारण कार्य भाव नहीं बनेगा। दूसरे बंध और मोक्ष की भी व्यवस्था नहीं बनेगी क्योंकि वैभाविक अवस्था को पहले मानने से तो बंध पूर्वक मोक्ष का होना सिद्ध होता है परन्तु एक साथ दोनों अवस्थाओं की सत्ता स्वीकार करने से बन्ध और मोक्ष एक साथ ही प्राप्त होंगे अथवा बन्ध की सत्ता होते हुये मोक्ष कभी हो नहीं सकती, इसलिये इस आत्मा की कभी भी मोक्ष नहीं होगी।

सार–यदि एक ही शक्ति मानकर उसी का विभाव और स्वभाव परिणमन क्रम से माना जाय तब तो ठीक बैठता है क्योंकि विभाव परिणमन का नाम बंध है और स्वभाव परिणमन का नाम मोक्ष है। बंध के समय मोक्ष नहीं है। मोक्ष के समय बन्ध नहीं है। यदि दोनों शक्तियाँ और उनका स्वभाव-विभाव दोनों प्रकार का परिणमन एक साथ मान लिया जाये तो बंध मोक्ष सदा इकट्ठे रहेंगे यह विरुद्ध है। कार्य कारण इस प्रकार नहीं बनता है कि पहले किसी में अशुद्धता हो तो उसके नाश से शुद्धता प्रगट करे । इस प्रकार अशुद्धता कारण और शुद्धता कार्य बैठता है। जब शुद्धता पहले से ही है तो अशुद्धता को नाश करके शुद्धता प्रगट करने का प्रश्न ही न रहा और जब वैभाविक शक्ति का विभाव परिणमन नित्य रहेगा तो अशुद्धता के नाश का प्रश्न ही नहीं होता। भाव यही है कि दोनों शक्तियाँ और उनका दोनों प्रकार का परिणमन एक साथ मानकर तो बंध मोक्ष और कार्य कारण आदि की सब व्यवस्था बिगड़ जाती है और एक के क्रमशः विभाव-स्वभाव परिणमन मानने से ही सब व्यवस्था बनती है। कारण कार्य का अर्थ केवल इतना ही है कि अशुद्धता मिटकर शुद्धता होती है और कुछ नहीं। इस पर शिष्य कहता है कि अच्छा शक्ति तो एक ही मानलो पर उसका परिणमन दोनों प्रकार का एक साथ मान लो फिर तो ठीक रहेगा उत्तर देते हैं:–

नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः ।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम् ॥ ८६१ ॥

अर्थ–तथा एक शक्ति के युगपत् दो प्रकार के परिणमन भी नहीं हो सकते क्योंकि एक शक्ति के युगपत दो परिणमन मानने से युगपत् दोनों प्रकार के परिणमन के सद्भाव का प्रसंग आता है तथा ऐसा होने पर विभाव परिणमन में भी नित्यपना अबाधित ठहरता है (जो प्रत्यक्ष बाधित है तथा फिर बंध मोक्ष आदि की कुछ भी व्यवस्था नहीं रहती है)।

भावार्थ–यद्यपि एक शक्ति (वैभाविकी) के ही दो भेद होते हैं अर्थात् एक ही शक्ति दो रूप धारण करती है परन्तु एक साथ ही एक शक्ति के दो भेद नहीं हो सकते। यदि दोनों भेद बराबर एक साथ ही होने लगे तो वैभाविक अवस्था भी नियम से सदा बनी रहेंगी और वैभाविक अवस्था की नित्यता में आत्मा का मोक्ष प्रयास व्यर्थ हो जायगा। इसलिये एक गुण की वैभाविक और स्वाभाविक अवस्थायें क्रम से ही होती हैं। एक काल में नहीं होती।

सार ८५१ से ८६१ तक का– जिस प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त शक्तियाँ हैं उसी प्रकार एक वैभाविक शक्ति भी हैं। वैभाविकी अर्थात् विशेष भाव वाली शक्ति। इसका नाम वैभाविकी है किन्तु है यह शुद्ध शक्ति (८४८) त्रिकाल स्थायी। जिस प्रकार उपर्युक्त शक्तियों का क्रमशः विभाव-स्वभाव दोनों प्रकार का परिणमन होता है उसी प्रकार इस शक्ति का भी विभाव-स्वभाव दोनों प्रकार का परिणमन क्रमशः होता है [आत्मा में अन्य जितने गुण विभाव रूप परिणमन करते हैं वे करते तो अपनी अपनी योग्यता से हैं पर यह वैभाविकी शक्ति सबके लिये निमित्त है] यदि यह शक्ति न होती तो धर्म द्रव्यवत् जीव पुद्गल विभाव रूप न परिणमते और संसार मोक्ष की व्यवस्था न बनती। फिर तो जीव धर्म द्रव्यवत् सदा शुद्ध ही रहता। अतः जीव में एक वैभाविकी नामा त्रिकाली शुद्ध शक्ति है। संसार दशा में उसका विभाव परिणमन है और सिद्ध दशा में उसका स्वभाव परिणमन है तथा उसका विभाव परिणमन बंध का कारण है और स्वभाव परिणमन मोक्ष का कारण है तथा जब विभाव परिणमन करती है तो पुद्गल द्रव्य (द्रव्य कर्म का उदय) निमित्त पड़ता है अन्यथा नहीं। इस पर अब शिष्य पूछता है कि जब दो द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है तथा जीव पुद्गल में कर्त्ता-कर्म संबंध भी नहीं है फिर यह अत्यन्त भिन्न पड़ा हुआ पुद्गल मेटर जीव के विभाव में कारण कैसे बन जाता है तथा वही क्यों कारण बनता है और कोई क्यों नहीं:–

शंका ८६२ से ८६७ तक

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।
तथा जातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥ ८६२ ॥

शंका–वस्तु समूह (छःद्रव्य) अहेतुक (बिना किसी कारण के) अनादि से सिद्ध है और उसका परिणमन भी अहेतुक स्वतः सिद्ध है। अर्थात् जैसे द्रव्य अनादि अनन्त स्वभाव से स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वभाव से अनादि अनन्त स्वतः परिणमनशील भी है।

तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥ ८६३ ॥

शंका चालू–स्वतः सिद्ध वस्तु और उसका स्वतः सिद्ध परिणमन अवश्य है अवश्य है अन्यथा सर्वसंकर और सर्वशून्यादि दोष आते हैं तथा निग्रहास्पद निवारण करना कठिन है। अर्थात् अन्यथा द्रव्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व ही न रहेगा।

ततः सिद्धं यथा वस्तु यत् किंचिच्चिज्जडात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ८६४ ॥

शंका चालू–इसलिये यह सिद्ध हो गया कि जो कोई भी चेतन अथवा जड़ स्वरूप वस्तु है, वह सब अपने स्वरूपादिक से स्वतः अनन्यगति है अर्थात् प्रत्येक वस्तु त्रिकाल अपने प्रदेशों में ही अपना कार्य करती है। दूसरे द्रव्य में हस्ताक्षेप नहीं करती।

अयमर्थः कोऽपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ८६५ ॥

शंका चालू–भाव यह है कि कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु की लेशमात्र भी नहीं लगती है क्योंकि द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से वस्तु अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करती है। अर्थात् वस्तु त्रिकाल अपने चतुष्टय में रहती हुई कार्य करती है। पर के चतुष्टय को छूती भी नहीं है।

व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेऽपिमूर्तिमत् ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥ ८६६ ॥

अर्थ–जब उपर्युक्त अनुसार वस्तु स्वभाव है तथा जीव पुद्गल में कर्त्ता-कर्म भाव का सम्बन्ध भी नहीं है फिर मूर्तिक द्रव्य (अर्थात् द्रव्य कर्म का उदय) जीव के विभाव का कारण कैसे हो जाता है? तथा उस विभाव में भी वह कर्म ही कारण क्यों हैं उसी स्थल पर रहने वाली धर्मादि दूसरा द्रव्य क्यों कारण नहीं है ?

भावार्थ–शिष्य पूछता है कि जब दो द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है और सब अपने-अपने चतुष्टय में कार्य करते हैं, पर को छूते भी नहीं हैं तो एक द्रव्य के लिये दूसरा द्रव्य कारण कैसे हो जाता है? आप जो विभाव परिणमन में पुद्गल को कारण कहते हैं तो जीव और पुद्गल का तो कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं हैं। वे एक-दूसरे के भाव के कर्त्ता नहीं हैं। जीव चेतन है, पुद्गल जड़ है। जड़ चेतन के भाव को उत्पन्न करं भी कैसे सकता है ? अतः कर्म का उदय जीव के भाव को कैसे बनाता है? और यदि कारण है ही तो फिर वह कर्म का उदय ही क्यों कारण है ? यदि कहो कि आत्मा और कर्म एक स्थल पर रहते हैं इसलिये वह कारण है तो एक स्थल पर तो छहों द्रव्य रहते हैं धर्मादिक कोई भी कारण हो सकता है। यदि इसके उत्तर में यह कहो कि आत्मा का पुद्गल के साथ सन्निकर्ष विशिष्ट सम्बन्ध है (स्पष्ट है) इसलिये पुद्गल ही कारण हो सकता है धर्मादिक नहीं, तो महाराज सन्निकर्ष संबंध तो जीव का उसी स्थल पर रहने वाली विस्त्रसोपचय(कर्म वर्गणा विशेष् के साथ भी हैं। वह भी कारण हो जावेंगी पर उन्हें भी आप कारण नहीं मानते, सोई कहता है।

वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात् सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोऽप्यपरो* हेतुर्न स्यात्किं वा बतेति चेत् ॥ ८६७ ॥

शंका चालू–यदि यह कहो कि वह मूर्तिक कर्म उस वैभाविक भाव का कारण सन्निकर्ष विशिष्ट सम्बन्ध के कारण से है धर्मादि नहीं तो खेद है कि वहाँ ही ठहरा हुआ दूसरा मूर्त द्रव्य (विस्त्रसोपचय) क्यों कारण नहीं होती हैं क्योंकि वे भी तो सन्निकर्ष सम्बन्ध विशिष्ट उसी स्थल पर रहती है। अतः महाराज बैभाविकी शक्ति के विभाव परिणमन में अत्यन्त भिन्न पड़ा हुआ वह पुद्गल कर्म (का उदय) कैसे कारण हो जाता है। यह मेरी समझ में नहीं आया । कृपया समझाइये।

भावार्थ ८६२ से ८६७ तक–शिष्य कहता है कि आप मुझे पहले नं. ८१ तथा १७८ में यह बताकर आये हैं कि वस्तु जैसे स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणमन शील भी है तथा स्वभाव वा विभाव रूप स्वयं अपनी योग्यता से परिणमन करती है। एक द्रव्य के चतुष्टय का दूसरे द्रव्य के चतुष्टय से कुछ सम्बन्ध नहीं है। अब आप कहते हैं कि जब आत्मा विभाव रूप परिणमन करता है तो द्रव्य कर्म का उदय उसमें निमित्त होता है। मैं पूछता हूँ कि वह कैसे निमित्त हो जाता है तथा यदि निमित्त होता ही है तो निमित्त तो छः द्रव्य में से कोई भी हो सकता है। द्रव्य कर्म ही क्यों निमित्त है। यदि कहो कि और द्रव्य तो निमित्त नहीं केवल पुद्गल कर्म निमित्त है क्योंकि आत्मा से स्पृष्ट है और सन्निकर्ष

---

* नोट–सूत्र में अपरः शब्द का अर्थ विस्त्रसोपचय है। विस्त्रसोपचय उन्हें कहते हैं कि जो पुद्गल परमाणु (कार्माण स्कन्ध) कर्मरूप परिणत तो नहीं हुए हों किन्तु आत्मा से स्पृष्ट हों और कर्मरूप परिणत होने के लिये सन्मुख हों। इन पुद्गल परमाणुओं की सन्निकर्षरूप अवस्था है। जिस समय आत्मा रागद्वेषादि कषाय भावों को धारण करता है उसी समय उसी स्थान में ठहरी हुई अन्य कार्मण वर्गणायें अथवा ये विस्त्रसोपचय संज्ञा धारण करने वाले परमाणु झट कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं और उनकी कर्म संज्ञा हो जाती है। उससे पहले-पहले कार्मण (कर्म होने के योग्य) संज्ञा है। ये विस्त्रसोपचय आत्मा से बंधे हुये कर्मों से भी अनन्त गुणे हैं और जीव राशि से भी अनन्त गुणे हैं। क्योंकि पहले तो आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म परमाणु ही अनन्तानन्त है। उन कर्म रूप परमाणुओं में से प्रत्येक परमाणु के साथ अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु (विस्त्रसोपचय) लगे हुए हैं।

को प्राप्त है तो मैं कहता हूं कि स्पष्ट और सन्निकर्ष को प्राप्त तो विस्त्रसोपचय वर्गणा भी हैं वे क्यों कारण नहीं है? इसके उत्तर में उसे समझावेंगे कि आत्मा ने राग करके जिन कर्मों को बांध लिया था वे ही निमित्त पड़ेंगे क्योंकि बद्धसंज्ञा केवल उन्हीं की है और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध उन्हीं के साथ है। जगत के अन्य द्रव्य या विस्त्रसोपचय न बंध रूप हैं और न उनके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध समझाने के उद्देश्य से ही यह शंका कराई गई है।

समाधान ८६८ से ८७९ तक

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥ ८६८ ॥

अर्थ-तुम्हारी शंका ठीक है। चेतन द्रव्य और मूर्तिक द्रव्य बद्ध भी हैं और अबद्ध भी है। अपने सम्बन्धियों से बद्ध हैं और परबन्धियों से अबद्ध हैं (जिनके साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक संबंध हैं वे ही उसके सम्बन्धी हैं और उन्हीं से वह बद्ध है। शेषों से अबद्ध है)।

भावार्थ-भाई यह तो ठीक है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। उसका परिणमन भी स्वतन्त्र है। वह कार्य भी अपने स्व-चतुष्टय में करता है तथा पर के क्षेत्र को छूता भी नहीं है। इतना होने पर भी कुछ विशेषता है जो कर्म का उदय जीव के विकार में निमित्त पड़ता है। वह यह है कि यह संसारी जीव अनादिकाल से कुछ ज्ञानावरणादि कर्म परमाणुओं से बंधा हुआ है। जो जीव जिन कर्मो से बंधा है उन दोनों की तो परस्पर बद्धसंज्ञा है और शेष सब द्रव्यों की तथा विस्त्रसोपचय की उसके लिये अबद्ध संज्ञा हैं। जिनके साथ वह बंधा है उनके साथ उसका कार्यकारण भाव है। शेषों के साथ नहीं है। [कार्यकारण का अर्थ निमित्त-नैमित्तिक है। और कुछ नहीं] । तथा

बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेऽपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥ ८६९ ॥

अर्थ-बद्धों और अबद्धों में वास्तविक भेद है। उन दोनों (बद्धों) में भिन्न जातिपना होने पर भी कार्य कारण शक्ति से भेद है।

भावार्थ-जीव और उसके साथ बंधे हुये ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म ये दोनों परस्पर बद्ध हैं। इनके लिये शेष सब पदार्थ अबद्ध हैं। यद्यपि जीव चेतन है कर्म जड़ है फिर भी उस जीव में और उन कर्मों में परस्पर कार्य कारण शक्ति है ।कार्य कारण शक्ति का भाव यह है कि कर्म का उदय निमित्त कारण और जीव का भाव कार्य । यह कार्य कारण भाव परस्पर बद्धों में ही है। अबद्धों में नहीं है (कार्य-कारण और निमित्त-नैमित्तिक का एक ही अर्थ है) ।

बद्धः स्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोऽप्यबद्धयोः ।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥ ८७० ॥

अर्थ-बद्धों में बद्धभाव होता है और अबद्धों में अबद्ध भाव होता है। सानुकूलता से बन्ध है। प्रतिकूलों में बन्ध नहीं है।

भावार्थ-बद्धों में बद्धभाव होता है इसका अर्थ यह है कि जो जीव और कर्म परस्पर बंधे हैं उनमें ही परस्पर उपर्युक्त बतलाया हुआ कार्य कारण भाव है। अबद्धों में अबद्ध भाव होता है का अर्थ यह है कि अबद्धों का परस्पर कार्य कारण सम्बन्ध नहीं है। सानुकूलता से बंध होता है का भाव यह है कि जिनका परस्पर कार्य कारण सम्बन्ध है उनमें ही बंध होता है। प्रतिकूलों का बन्ध नहीं होता का भाव यह है कि जिनका परस्पर कार्य कारण सम्बन्ध नहीं है उनमें बन्ध नहीं होता है।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम् ।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत् तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥ ८७१ ॥

अर्थ-पदार्थ रूप से तीन प्रकार का बन्ध है। उन तीनों का लक्षण तीन प्रकार से कहने योग्य है। पहले दो तो भिन्न-भिन्न द्रव्य में पहले श्लोक नं. ८१५ में) कहे गये हैं। तीसरा (उभय बन्ध) अब कहा जाता है (पूर्व नं. ८१६ का भावार्थ भी देखिये)।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः ।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥ ८७२ ॥

अर्थ–जीव और कर्म दोनों का बन्ध परस्पर सापेक्ष होता है। जीव कर्म से बद्ध होता है और वह कर्म जीव से बद्ध होता है।

भावार्थ–कोई मात्र इतना कहे कि जीव कर्म से बंधता है तो ठीक नहीं है। कोई मात्र इतना कहे कि कर्म जीव से बंधता है तो ठीक नहीं है। फिर क्या ठीक है? ठीक यह है कि जीव कर्म से बंधता है और कर्म जीव से बंधता है क्योंकि कार्य कारण केवल एक का नहीं किन्तु दोनों का परस्पर में है।

तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भावो वैभाविकश्चितः ।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथासामर्थ्यकारणम् ॥ ८७३ ॥

अर्थ–(चेतना का) उस निमित्त के गुणाकार रूप परिणमन करना चेतना का वैभाविक भाव है। वह भाव है निमित्त जिसमें ऐसा वह द्रव्य कर्म उसी भाव के उत्पन्न होने में निमित्त कारण की सामर्थ्य रखता है।

भावार्थ–आत्मा स्वतन्त्र विभाव भाव करता है। वह विभाव भाव क्या वस्तु है तो कहते हैं कि आत्मा दो प्रकार से परिणमन किया करता है। एक तो अपने गुण के आकार रूप उसे तो स्वाभाविक भाव कहते हैं वह तो बंध का कारण नहीं है किन्तु एक निमित्त के आकार (स्वरूप) रूप परिणमन करता है वह वैभाविक भाव है। जैसे सम्यक्त्व आत्मा का गुण है तो सम्यग्दर्शन रूप परिणमन करना तो उसका स्वाभाविक परिणमन है और दर्शन मोह के उदय में जुड़कर उसका आकार जो मिथ्यात्व उस रूप परिणमन करना वह आत्मा का वैभाविक भाव है। वह स्वाभाविक भाव तो बंध में निमित्त नहीं पड़ता किन्तु वैभाविक भाव बंध में निमित्त पड़ता है यह प्रथम पंक्ति का अर्थ है। अब नीचे की पंक्ति का अर्थ यह है कि वैभाविक भाव का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणायें कर्म रूप में परिणमन कर जाती हैं और वह कर्म अपनी पाक अवस्था में पुनः आत्मा के लिये उसी वैभाविक भाव की उत्पत्ति के लिये निमित्त कारण बनता है। जैसे आत्मा के मिथ्यात्व रूप वैभाविक भाव से मिथ्यात्व कर्म बंधा और फिर वही मिथ्यात्व कर्म मिथ्यादृष्टि आत्मा के आगामी मिथ्यात्व भाव का निमित्त मात्र कारण बन जाता है। विषय क्या चल रहा है यह आपके ध्यान में होगा। शिष्य ने यह प्रश्न किया था कि आत्मा के विभाव परिणमन में अत्यन्ताभाव का द्रव्य कर्म का उदय कैसे कारण हो जाता है सो उसके उत्तर में उसे समझाते चले आ रहे हैं कि आत्मा विभाव भाव करता है। उससे उसी जाति का कर्म बंधता है फिर वह कर्म आगामी उसी भाव की पुनः उत्पत्ति करे तो निमित्त कारण बनता है। इस प्रकार अत्यन्त भिन्न भी वह कर्म कारण बन जाता है तथा वही कारण बनता है अन्य कोई द्रव्य नहीं क्योंकि आत्मा की उसी के साथ बद्ध संज्ञा है। दूसरे से नहीं और उन्हीं को उभय बंध कहते हैं दूसरों को नहीं।

अर्थोऽयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोऽयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥ ८७४ ॥

शब्दार्थ-१ तत्-नपुन्सक लिंगद्रव्य कर्म का द्योतक है। यह कर्त्ता है। इसका अर्थ वैभाविक भाव नहीं है।

२–कर्मणः शब्द का अर्थ यहाँ भाव कर्म अर्थात् वैभाविक भाव है। द्रव्य कर्म नहीं है।

अर्थ–भाव यह है कि वह द्रव्य कर्म जिस वैभाविक भाव का कार्य है। उसी वैभाविक भाव का कारण भी है। एक भाव और एक कर्म यही दोनों से होने वाला (उभय बंध) माना गया है।

भावार्थ–आत्मा ने विभाव भाव किया वह कारण हुआ। उससे कर्म बना वह कार्य हुआ और पुनः जब आत्मा ने विभाव किया उसके लिये वही कर्म कारण बना। इस प्रकार एक ही कर्म पहले वैभाविक भाव का कार्य हुआ और दूसरे वैभाविक भाव में कारण हुआ अर्थात् एक ही कर्म कार्य भी हुआ और कारण भी हुआ। तो कहते हैं कि बस यह जो आत्मा का विभाव और कर्म का कार्य कारण भाव है। यही उभय बंध है। इसको निमित्त-नैमित्तिक भी कहते हैं। इस प्रकार शिष्य ने जो यह प्रश्न किया था कि आत्मा के विभाव का पृथक् पड़ा हुआ द्रव्य कर्म कैसे कारण हो जाता है अन्य पदार्थ क्यों नहीं तो उसे समझाया कि आत्मा ने अपने विभाव भाव से जिस कर्म को बांधा था उसकी उसके साथ बद्ध संज्ञा है और वही उसके विभाव का इस प्रकार कारण बनता है। अब यहाँ पर यह शंका उपस्थित

हो सकती है कि एक ही कर्म वैभाविक भाव का कार्य भी है और उसी वैभाविक भाव का कारण भी है वही कार्य वही कारण यह बात एक अनबन-सी प्रतीत होती है सो उत्तर में कहते हैं कि वह कर्म पहले वैभाविक भाव का कार्य है और वही कर्म उसी जाति के अगले वैभाविक भाव की उत्पत्ति में कारण है इसप्रकार वह कर्म एक ही है वही कार्य भी है और कारण भी है। अब यहाँ कोई शंका उठावे कि एक ही कर्म स्वयं कार्य और वही कर्म स्वयं कारण-एक ही वस्तु में कार्य कारण दोनों भाव कैसे हो सकते हैं सो इस शंका का उत्तर भी एक ही पदार्थ में कार्य कारण भाव दिखलाने वाले दृष्टांत द्वारा स्फुट करते हैं:-

तथादर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।
स्वाकाराकारसंक्रान्तं कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥ ८७५ ॥*

अर्थ-जिस प्रकार दर्पण में चक्षु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। सो चक्षु के आकार रूप में संक्रांत हुआ वह प्रतिबिम्ब कार्य भी है और स्वयं कारण भी है। उसी प्रकार आत्मा के वैभाविक भाव से बंधने वाला द्रव्य कर्म कार्य भी है और फिर उसी जाति के भाव के उत्पन्न होने में कारण पड़ता है। इसलिये स्वयं कारण भी है।

भावार्थ-चक्षु का आकार दर्पण में पड़ता है इसलिये तो वह आकार 'कार्य' हुआ क्योंकि चक्षु से उत्पन्न हुआ है। परन्तु उसी आकार को जब देखते हैं तब अपने दिखाने में वह आकार कारण भी होता है। इसलिये एक ही पदार्थ में कार्य कारण भाव भी उपर्युक्त दृष्टांत द्वारा सुघटित हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा के वैभाविक भाव से कर्म बंधता है इसलिये तो वह कार्य हुआ और जब पुनः आत्मा विभाव करता है तब वही उसमें निमित्त कारण बनता है। इसलिये वही स्वयं कारण भी हुआ। इस प्रकार एक ही कर्म कार्य भी हुआ और कारण भी हुआ।

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद् द्रव्यकर्म तत् ।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥ ८७७ ॥

अर्थ-जीव के विकारी भाव का कारण वह द्रव्य कर्म है और द्रव्य कर्म का कारण जीव का विकार है जिस प्रकार दो आदमी एक-दूसरे का उपकार करते हैं।

भावार्थ-मेरी लड़की की शादी हुई आपने मेरी मदद कर दी फिर आपकी लड़की की शादी हुई मैंने आपकी मदद कर दी इस प्रकार आप मेरे कार्य में कारण हुए और मैं आपके कार्य में कारण हुआ इसको परस्पर उपकार कहते हैं। जीव के विकार के लिये द्रव्य कर्म ने कारणपने का काम किया तो जीव ने द्रव्य कर्म बनने के लिये राग करके कारण का काम किया। इस प्रकार उसने भी कारण का उपकार किया और उसने भी कारण का उपकार किया। इस प्रकार उभय बंध रूप में दोनों एक-दूसरे का कारण रूप से उपकार करते रहते हैं। अब उस शिष्य को आचार्य महाराज कहते हैं कि भाई इस प्रकार अत्यन्त भिन्न भी वह द्रव्यकर्म का उदय ही जीव के विकार का कारण बनता है। अन्य पदार्थ नहीं।

उपसंहार ८७८, ८७९ खास

चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः ।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोऽप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥ ८७८ ॥

अर्थ-(इस प्रकार) चेतना की विकार रूप आकृति उसका वैभाविक भाव माना गया है। उस वैभाविक भाव के कारण से पृथक् पड़ा हुआ भी पदार्थ (द्रव्य कर्म का उदय) उस विकारी भाव का निमित्तक (निमित्त कारण) होता है।

---

* श्लोक नं. ८७६ की ऊपर की एक पंक्ति पं. श्री मक्खनलालजी की टीका में है जो इस प्रकार है:-

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा ।
.... ॥ ८७६/१०८ ॥

अर्थ : अचेतन, पौद्गलिक, मूर्त द्रव्य कर्म कारण वह वैभाविक भाव है।
तथा यही श्लोक नं. ८७६/१०८ पं. श्री देवकीनन्दनजी की टीका में इसप्रकार है -

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा ।
आत्मना बध्यते नित्यं भित्तौ क्षिप्त कनक गर्दवत्‌ ॥ ८७६/१०८ ॥

अर्थ : इनमें से कर्म यह अचेतन, मूर्त और पौद्गलिक होता है जो भित्ति पर फेंके गये रज कण के समान आत्मा से बंध जाता

भावार्थ–इस प्रकार जीव के भाव में मूर्तिक द्रव्य कारण होता है और वह बद्ध रूप द्रव्य कर्म ही कारण होता है अन्य पदार्थ नहीं–यह शिष्य की श्लोक नं. ८६६ में की गई शंका का समाधान किया गया। यह बहुत मार्मिक श्लोक है। अर्थ अच्छी तरह विचारिये–जल्दी न करिये अन्यथा पदार्थ रह जायेगा। अर्थ को मूल से भी अच्छी तरह मिलाइये। इसमें खास बात यह है कि निमित्तक का अर्थ अगला बंधने वाला कर्म नहीं है किन्तु पूर्वबद्ध कर्म का उदय है। सो ध्यान रहे अन्यथा अर्थ का अनर्थ तो हो ही जायेगा पर पाठक उसके रहस्य से भी कोरा रह जायेगा। यहाँ लाकर उपसंहार में ग्रन्थकार ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि जब-जब आत्मा भाव कर्म अपनी स्वतन्त्रता से करता है तब-तब पूर्वबद्ध कर्म निमित्तक बनता है। सारा जगत उदय को निमित्त और जीव भाव को नैमित्तिक कह कर द्रव्य कर्म के उदय में जीव को राग करना ही पड़ता है यह सिद्ध करता है; किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि उदय निमित्त तो है पर जीव जब स्वतन्त्र अपनी योग्यता से विभाव करेगा तो कर्म का उदय निमित्तक बनेगा अन्यथा किसका नैमित्तिक। जो बात आज हमारे गुरुदेव ढिंडोरा पीटकर कह रहे हैं वही बात एक हजार वर्ष पहले श्री अमृतचन्द्रजी ने उपर्युक्त श्लोक में कही है। यही बात उन्होंने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक नं. १३ में कही है। वहाँ भी जीव की ओर से लिया है, कर्म की ओर से नहीं। विद्वान उसे भी ध्यान से देखें और मिलान करें। यहाँ शिष्य की शंका ही यह थी कि पूर्वबद्ध कर्म विकार का कारण कैसे बनता हैं उसका समाधान किया। कर्म का उदय उपस्थिति मात्र उदासीन कारण है यह भी स्पष्ट हो गया।

प्रमाण–वह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की खास गाथा इस प्रकार है:–

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति ही निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥

अर्थ–चेतना (जीव) के स्वयं अपने चैतन्यस्वरूप (विभाव) भावों द्वारा परिणमन करते हुए के – उसके भी वह पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होता है । ऊपर के सब विवरण में कारण शब्द निमित्त मात्र के लिये आया है यह भी इससे स्पष्ट हो गया। अब इसी उत्तर को नास्ति से देते हैं:–

तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाश्चिरादपि ।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्था अप्यबद्धवत् ॥ ८७९ ॥

अर्थ–इसी कारण से ही उभय बन्ध के बिना चिरकाल से बंधा हुआ भी ओर एक क्षेत्र में ठहरा हुआ भी अन्य मूर्त द्रव्य (विस्त्रसोपचय) कारण नहीं होता है जैस बिना बंधा हुआ अत्यन्त भिन्न 'अबद्ध' पदार्थ धर्मादि कारण नहीं होता है। (यह शिष्य की श्लोक नम्बर ८६७ में की गई शंका का समाधान है)। मूल में बहिर शब्द का अर्थ बिना है।

भावार्थ ८६२ से ८७९ तक–शंकाकार द्वारा ८६२ से ८६७ तक की गई शंका का भाव है कि अनादि अनन्त प्रत्येक द्रव्य स्वभाव या विभाव रूप अपने चतुष्टय में स्वतन्त्र कार्य करता है। फिर जो आपने बद्धत्व के निरूपण में यह कहा है कि निमित्त कारण की सन्निधि में आत्मा उसके गुणाकार रूप विभाव उत्पन्न करके उस विभाव से स्वयं अपने अपराध के कारण बंध जाता है तो मैं पूछता हूँ कि मूर्त द्रव्य कर्म का उदय ही उसमें निमित्त कारण क्यों है? और कोई जगत का धर्मादि द्रव्य कारण क्यों नहीं है? या उसी जीव से बंधी हुई विस्त्रसोपचय कारण क्यों नहीं है? उसके उत्तर में यह समझाया गया है कि भाई आत्मा जब विभाव करता है तो उसका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणायें स्वयं कर्म रूप में परिणमन हो जाती हैं और वे कर्म आत्मा से बंध जाते हैं। वे जो आत्मा के विभाव के कारण आत्मा में कर्म बंधे थे। उन्हीं कर्मों का उदय आत्मा के नये विभाव में कारण पड़ता है और कोई जगत् का पदार्थ कारण नहीं पड़ सकता। ऐसा उनमें कार्य कारण सम्बन्ध है उपर्युक्त सब श्लोकों में आत्मा के विभाव का और कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध किया है इतनी ही सार बात है। वह इस प्रकार है। पहला आत्मा का विभाव कारण और द्रव्य कर्मों का बनना कार्य। इस प्रकार तो कर्म कार्य है और फिर जब पुनः आत्मा विभाव करता है तो वह बंध हुआ द्रव्य कर्म उसमें कारण पड़ता है इस प्रकार वह कर्म कारण बनता है। इस प्रकार एक ही कर्म पहले विभाव का कार्य है और वही कर्म अगले विभाव के लिये कारण भी है। ये जो कार्य कारण भाव है इसी को निमित्त-नैमित्तिक बंध्य बंधक या उभय बंध कहते हैं। ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। कर्म जबरदस्ती राग नहीं कराता या उदय में आत्मा को राग करना ही पड़े यह अर्थ इसका रंचमात्र मात्र नहीं है किन्तु जब आत्मा स्वतन्त्र राग करता है तो उसकी सन्निधि निमित्त मात्र कारण है। बस यही इसका अर्थ है। और इसी प्रकार ''जीव का राग कर्मों को बनाता है या जीव के राग के कारण कर्मों को बनना ही पड़ता है'' यह अर्थ नहीं है किन्तु जब कार्मण वर्गणायें स्वतः अपनी योग्यता से कर्मरूप परिणमती हैं तो जीव का राग निमित्त मात्र रूप से उपस्थित रहता ही है और उसके साथ ही उसका निमित्त-नैमित्तिक है। बिल्कुल यही श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में उसी अमृतचन्दजी ने कहा है वह इस प्रकार है:–

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

अर्थ–जीव के किये हुवे परिणाम का निमित्त मात्र पाकर फिर दूसरे पुद्गल (कार्मण वर्गणायें) स्वयं ही कर्म भाव से परिणमती हैं। इसे भी विद्वान विचारें।

बद्धत्व निरूपण समाप्त

अशुद्धता का निरूपण ८८० से ८९५ तक

भूमिका–अशुद्धता क्या है यह आपको दृष्टांत से भली-भांति समझ में आ जायेगा। आत्मा का एक ज्ञान गुण है। उसका स्वभाव है जानना और एक समय में लोकालोक का जानना। इस स्वभाव से च्युत होकर उस ज्ञान की अज्ञान अवस्था का होना अशुद्धता है। अशुद्ध अवस्था में ज्ञान अपने स्वाभाविक कार्य को छोड़ देता है और एक समय में एक पदार्थ को ही जानता हुआ उसी को इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके उसके अनुसार राग-द्वेष रूप परिणमन करने लगता है। ज्ञान की इस अवस्था को अशुद्धता कहते हैं। इस अशुद्धता का कारण 'बंध' है अर्थात् ज्ञान में राग का आना है या यों कहिये कि ज्ञान का मोह के उदय में जुड़कर उसके आकार रूप विभाव परिणमन करना है। बद्धत्व कारण है। अशुद्धता कार्य है। समय दोनों का एक है।

अशुद्धता का स्वरूप ८८०-८८१

तद्बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्यादद्वै तात स्वतोऽन्यतः ॥ ८८० ॥

अर्थ–उस बद्धत्व से अविनाभावी अशुद्धता उसी समय होती है। उसका लक्षण इस प्रकार है कि स्वतः अद्वैत से अन्य (विभाव) है निमित्त जिसमें ऐसा द्वैतपना अशुद्धता है जैसे ज्ञान में राग आ जाने से ज्ञान अशुद्ध है। ज्ञान की अशुद्ध अवस्था अर्थात् अज्ञान अवस्था ही अशुद्धता है।

भावार्थ–जिस समय ज्ञान निमित्त में जुड़कर विभाव उत्पन्न करता है, उसी समय स्वाभाविक अवस्था से च्युत होकर अशुद्ध अवस्था में आ जाता है। ज्ञान एक वस्तु है उसमें राग रूप दूसरी वस्तु आने से अद्वैत से द्वैत हो गया। शुद्ध से अशुद्ध हो गया। यह अशुद्धता है। इस अशुद्धता के कारण अपना एक समय में लोक-अलोक को जानने का कार्य छोड़ प्रत्यर्थ परिणमन क्रिया करने लगा। यह अशुद्धता का फल हुआ।

तत्राद्वैतेऽपि यद्द्वैतं तद् द्विधाप्यौपचारिकम् ।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत् सोपाधि द्वितीयकम् ॥ ८८१ ॥

अर्थ–उस अशुद्धता में अद्वैत होने पर भी जो द्वैत है वह दोपना भी औपचारिक है। उनमें पहला स्व अंश का संकल्प है और दूसरा सोपाधि संकल्प है जैसे विकारी ज्ञान में ज्ञान अंश स्व अंश कल्पना है और राग पर अंश कल्पना है।

भावार्थ–वास्तव में तो ज्ञान की अज्ञान रूप एक अखण्ड अवस्था है। वह वस्तु ही वास्तव में अखण्ड है। पर बिना भेद के समझ नहीं आती। सो अशुद्धता को समझाने के लिये आचार्य कहते हैं कि कल्पना करो एक ज्ञान अंश है, एक राग अंश है। ज्ञान अंश को निरुपाधि अंश कहते हैं और राग को उपाधि अंश कहते हैं। सो किसी वस्तु की निरुपाधि अवस्था से सोपाधि अवस्था का हो जाना ही अशुद्धता है। इस अशुद्धता को समझाने के लिये दो अंश कल्पना करने पड़े। इससे अशुद्धता ठीक पकड़ में आ जाती है।

नोट–अशुद्धता का निरूपण समाप्त हुआ। अब शंका समाधान द्वारा इसी को विशेष स्पष्ट करने के लिये शिष्य से यह शंका करवाते हैं कि अशुद्धता कोई वस्तु ही नहीं।

शंका ८८२-८३

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।
तद्विशेषेऽपि सोपाधि निरुपाधि कुतोऽर्थतः ॥ ८८२ ॥

शंका–एक सत् सामान्यपने से है अर्थात् गुण रूप से है और एक सत् विशेषपने से है। अर्थात् पर्याय रूप से है। विशेष में भी 'सोपाधि विशेष' और 'निरूपाधि विशेष' पदार्थ में यह भेद कहाँ है ? नहीं है। अर्थात् शिष्य सोपाधि नि रू दो प्रकार की पर्याय नहीं मानता है।

भावार्थ–शिष्य गुण मानता है। उसकी पर्याय मानता है। उस पर्याय में जो स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय का भेद है वह वह नहीं मानता है। जैसे ज्ञान गुण मानता है। जानना उसका कार्य मानता है पर ज्ञान की अज्ञान अवस्था और केवल अवस्था यह वह नहीं मानता । अब अपनी बात को दृष्टांत द्वारा पुष्ट करता है:–

अपि चाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः ।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥ ८८३ ॥

शंका चालू–इस विषय में दृष्टांत भी है जो रस और रूप का ज्ञान है वह रूपमय या रसमय नहीं है। पदार्थ रूप से ज्ञान तो ज्ञान मात्र ही है। अतः ज्ञान सोपाधि नहीं है केवल निरुपाधि है। यदि ज्ञान रस रूपमय हो जाता तो सोपाधि हो जाता सो होता नहीं। अतः ज्ञान सामान्य है और ज्ञान विशेष भी है पर सोपाधि विशेष और निरुपाधि विशेष यह भेद ज्ञान में नहीं है।

भावार्थ ८८२–८३–शंकाकार गुण मानता है। उसका परिणमन (पर्याय) भी मानता है। फिर उस पर्याय में जो सोपाधि पर्याय और निरुपाधि पर्याय का भेद है उसे वह नही मानता है। वह दृष्टांत भी देता है कि ज्ञान एक गुण है यह सामान्य है। रूप रस आदि को जानना यह उसकी पर्याय है–विशेष है। इसके अतिरिक्त सोपाधि निरुपाधि ज्ञान और क्या है? यह मेरी समझ में नहीं आता है। साथ ही कहता है कि यदि ज्ञान रस को जानते समय स्वयं रस रूप ही हो जाया करता तो सोपाधि बन जाता किन्तु ऐसा तो होता नहीं। अतः ज्ञान में सोपाधि निरुपाधि भेद नहीं है बस ज्ञान है और उसकी पर्याय है ऐसा उसका आशय है अर्थात् उसने उपाधि रूप जो अशुद्धता है उसको ही खत्म कर दिया है। वह ज्ञान के ज्ञेय रूप होने को सोपाधि ज्ञान समझता है किन्तु ज्ञान के विकारी होने को सोपाधि नहीं समझता। अब जब ज्ञान ज्ञेय रूप नहीं होता तो उसका कहना है कि बस ज्ञान केवल निरुपाधि ही है। सोपाधि शब्द का अर्थ वह इस प्रकार समझ गया है। उपाधि अर्थात् परवस्तु सह अर्थात् उस समय होना और निरुपाधि का अर्थ वह समझा है परवस्तु रूप नहीं होना। यही भूल उसकी शंका का आधार है। परवस्तु को भी उपाधि कहते हैं और राग को या विभाव को भी उपाधि कहते हैं। यहाँ राग या विभाव का नाम उपाधि था वह परवस्तु अर्थ समझ गया।

समाधान ८८४ से ८९२ तक

नैवं यतो विशेषोऽस्ति सद्विशेषेऽपि वस्तुतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात् ॥ ८८४ ॥

अर्थ– सोपाधि निरुपाधि विशेष नहीं है ऐसा नहीं है क्योंकि सत् विशेष में भी वस्तुपने से विशेषता है। वह विशेषता अन्वय व्यतिरेक दोनों साधनों से वास्तव में सिद्ध है।

भावार्थ–सत् विशेष पर्याय को कहते हैं। सो आचार्य समझाते हैं कि भाई पर्याय तो है ही किन्तु पर्याय में भी अन्तर है और वह अन्तर वास्तविक है अर्थात् वस्तु ही वास्तव में स्वाभाविक और वैभाविक पर्याय रूप है। स्वाभाविक पर्याय को निरुपाधि पर्याय कहते हैं और वैभाविक पर्याय को सोपाधि पर्याय कहते हैं। सोपाधि पर्याय भी जगत में प्रत्यक्ष है वह अन्वय रूप कही जाती है क्योंकि जिसके होने पर जो हो उसको अन्वय कहते हैं। विभाव के होने पर अशुद्धता होना यह अन्वय है और जिसके न होने पर जो न हो उसे व्यतिरेक कहते हैं। विभाव के न होने पर अशुद्धता का न होना (केवल शुद्धता का होना) यह व्यतिरेक है। सो अन्वय और व्यतिरेक दोनों पर्यायें प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जैसे–

ज्ञान की अज्ञान अवस्था विभाव अवस्था है उसको यहाँ अन्वय शब्द से कहा है। ज्ञान की केवल ज्ञान अवस्था स्वभाव अवस्था है। उसको यहाँ व्यतिरेक कहा है दोनों प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिये भाई सोपाधि विशेष भी है और निरुपाधि विशेष भी है। अब दोनों का स्वरूप क्रमशः कहते हैं। पहले दो में अन्वय दृष्टांत कहते हैं:–

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः ।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वन्हियोगद्धि वारिवत् ॥ ८८५ ॥

अर्थ–उनमें अन्वय (साधन) इस प्रकार है कि ज्ञान पर निमित्त से अज्ञान रूप हो जाता है जैसे ठण्डा पदार्थ आग के निमित्त से गरम हो जाता है जैसे पानी। अर्थात् ज्ञान की अज्ञान अवस्था सोपाधि विशेष है। जैसे गरम जल सोपाधि जल है।

नासिद्धोऽसौ दृष्टांतो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः ।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्वतः ॥ ८८६ ॥

अर्थ–वह दृष्टांत असिद्ध नहीं है क्योंकि सत् रूप ज्ञान की अज्ञानपने से प्राप्ति है। उसकी स्वभाव से उत्पन्न प्रमिति से (एक समय लोक-अलोक को सम्पूर्णतया जानने रूप स्वभाव से) दूसरे प्रकार की अवस्था (अज्ञान अवस्था-प्रत्यर्थ परिणमन अवस्था-रागी-द्वेषी अवस्था) देखी जाती है।

भावार्थ ८८५-८८६–शिष्य ज्ञान तो मानता था और उसकी पर्याय भी मानता था किन्तु सोपाधि पर्याय नहीं मानता था सो उसे कहते हैं कि भाई अज्ञान अवस्था में सोपाधि ज्ञान तो प्रत्यक्ष है। ज्ञान का स्वभाव एक समय में लोक-अलोक के सब पदार्थों को जानने का है उस स्वभाव को छोड़कर जो ज्ञान एक समय में एक पदार्थ को जानता है और जानता ही नहीं है किन्तु उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके उसके अनुसार राग या द्वेष रूप परिणमन करता है। बस यह जो ज्ञेय पदार्थ के अनुसार राग-द्वेष-मोह रूप ज्ञान का परिणमन है। अरे ! यही तो सोपाधि ज्ञान है। अरे ! कहीं ज्ञान के ज्ञेय रूप होने को सोपाधि नहीं कहते और यह सोपाधि ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसलिये भाई ज्ञान सामान्य भी है। केवल ज्ञान रूप निरुपाधि ज्ञान विशेष भी है और अज्ञान अवस्था में सोपाधि ज्ञान विशेष भी है। वह जो सोपाधि ज्ञान है वही अशुद्धता है। ज्ञान में जो राग-द्वेष-मोह है उस राग-द्वेष-मोह का नाम बद्धत्व है। अतः सोपाधि ज्ञान बद्धत्व ही होता है और निरुपाधि अबद्धत्व ही होता है। ऐसा अविनाभाव है। अब दो में व्यतिरेक दृष्टांत कहते हैं:–

व्यतिरेकोऽस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद् यन्नैवं शुद्धमेव तत् ॥ ८८७ ॥

अर्थ–व्यतिरेक (साधन) यह है कि स्वाभाविक प्रमिति से उत्पन्न आत्मा का ज्ञान पर के निमित्त से मिथ्या अवस्था युक्त हो जाता है। जो ऐसा (परहेतुक) नहीं है वह (अशुद्ध भी नहीं है अर्थात्) शुद्ध ही है। (जो निमित्त में जुड़ता है वह ज्ञान अशुद्ध हो जाता है, जो नहीं जुड़ा वह अशुद्ध भी नहीं होता, शुद्ध ही रहता है। जैसे–

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वादबद्धं निरुपाधितः ॥ ८८८ ॥

अर्थ–वह इस प्रकार कि क्षायिक ज्ञान युगपत सब पदार्थों को विषय करने वाला है। अपनी जाति मात्र होने से अर्थात् स्वभाव रूप होने से शुद्ध है और उपाधि रहित होने से अबद्ध है।

भावार्थ–क्षायिक (केवल) ज्ञान में दो बातें हैं । शुद्धता और अबद्धता। ज्ञान का स्वभाव एक समय में सबको जानना है। यही उसकी निज जाति है और वस्तु का निज जाति रूप होना ही शुद्धता है जैसे ठण्डा पानी। और ज्ञान में राग का न होना अबद्धता है। राग को उपाधि भी कहते हैं। अतः केवलज्ञान निरूपाधि होने से अबद्ध हैं। जैसे पानी में गर्मी न होने से अबद्ध है। अब इसकी फिर नास्ति कहते हैं कि सोपाधि ज्ञान अशुद्ध भी है और बद्ध भी है ताकि सोपाधि ज्ञान और निरुपाधि ज्ञान दोनों शिष्य को प्रत्यक्ष ख्याल आवेः–

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात् कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥ ८८९ ॥

अर्थ–क्षायोपशमिक ज्ञान सत्तात्मक कर्मों के नाश न होने से बद्ध है [अर्थात् मोह के उदय में जुड़कर विभाव परिणमन करने के कारण बद्ध है] और अपनी जाति से च्युत होने के कारण उसी समय अशुद्ध भी है [अर्थात् ज्ञान की जाति एक समय में लोकालोक को जानने की थी। उस अपनी जाति से गिर गया और गिर कर एक समय में एक ही पदार्थ को जानता हुआ उसमें इष्टानिष्ट कल्पना करता हुआ, रागी-द्वेषी होता है। यह जो उसकी अवस्था हो गई है यह अशुद्धता है] । इस प्रकार बद्धता और अशुद्धता का एक ही समय है। अविनाभाव है। अज्ञानी की अपेक्षा समझना ऐसा अध्यात्म का नियम है जैसे पहले (८३३ भावार्थ में बता आये हैं।)

भावार्थ–जैसे एक ब्राह्मण एक भंगण के घर में जाकर रहने लगा तो उस भंगण से जुड़कर जो उसमें विकार आया यह तो उसकी बद्धत्व अवस्था है और फिर ब्राह्मण का कार्य छोड़कर भंगी का कार्य करने लगा यह उसकी अशुद्धत्व अवस्था है। इसी प्रकार ज्ञान मोह के उदय में जुड़कर रागी हुआ यह उसकी बद्ध अवस्था है और अज्ञान रूप कार्य

करने लगा यह उसकी अशुद्ध अवस्था है। अब नास्ति से समझाते हैं कि यदि ज्ञान की शुद्ध-अशुद्ध दोनों अवस्था न मानी जावे तो क्या-क्या आपत्तियाँ आती हैं। यदि ज्ञान की अशुद्ध अवस्था न मानी जावे तो अशुद्धता का अभाव हो जायेगा। अशुद्धता का अभाव होने से अशुद्धता के कारण जो बंध होता था उसका अभाव होगा और बंध का अभाव होने पर उसका फल जो संसारकार्य में विपरीतता उसका अभाव होगा। यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि संसार कार्य में विपरीतता तो प्रत्यक्ष है (८९०) अब यदि इसके उत्तर में यह कहो कि हम तो बिना अशुद्धता रूप कारण के ही बंध मान लेंगे तो फिर बन्ध सदा बना रहेगा क्योंकि बिना कारण की वस्तु तो सदा रहती है और जो बंधा हुआ है वह सदा बंधा ही रहेगा क्योंकि वह बन्ध तो अकारण था। दूसरी बात यह है कि अशुद्ध ज्ञान मानते हो तो उस अशुद्धता के अभाव से शुद्ध ज्ञान भी बनता है। यदि ज्ञान के शुद्ध-अशुद्ध भेद नहीं मानते हो और एक ही प्रकार का मानते हो तो एक प्रकार का ज्ञान तो हम लोगों का प्रत्यक्ष है ही। बस यही रह जायेगा। शुद्ध ज्ञान जो केवलज्ञान है उसका अभाव हो जायेगा (८९१) इसलिए तात्पर्य यही है कि ज्ञान का एक रूप मानना ठीक नहीं है। सर्वथा बंध रूप तो मानना इसलिये ठीक नहीं हैं क्योंकि भगवान का केवलज्ञान तो प्रसिद्ध वस्तु है और सर्वथा अबद्ध (केवल) ज्ञान मानना भी ठीक नहीं हैं क्योंकि बद्ध ज्ञान तो हम लोगों का प्रत्यक्ष है (८९२) सोई समझाते हैं।

न स्याच्छुद्धं तथाशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं बन्धहेतोरसंभवात् ॥ ८९० ॥

अर्थ–यदि ज्ञान सर्वथा शुद्ध तथा अशुद्ध न होवे तो बंध की कारण (अशुद्धता) की असम्भवता होने से न बंध रहेगा और न उस (बंध) का फल (संसार कार्य में विपरीतता) रहेगी। भावार्थ ऊपर समझाकर आये हैं।

अथ चेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाबन्ध एव यः ।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥ ८९१ ॥

अर्थ–यदि बिना अशुद्धता रूप कारण के ही बंध मानते हो तो बन्ध सदा रहेगा। जो बंध है वह बंध ही रहेगा कभी अबंध नहीं होगा क्योंकि बिना कारण की वस्तु मिटती नहीं। तथा ज्ञान की पर्यायों में सोपाधि निरुपधि रूप किसी प्रकार का अन्तर न मानने से अर्थात् एक ही प्रकार का ज्ञान मानने से हम लोगों का यह ज्ञान तो रहेगा क्यों कि यह तो प्रत्यक्ष है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। हाँ केवली का जो अबद्ध ज्ञान है वह न रहेगा क्योंकि ज्ञान का दूसरा भेद तुम मानते नहीं हो। तुम तो गुण की एक ही पर्याय मानते हो। सोपाधि निरुपाधि पर्याय का भेद तुम नहीं मानते हो। भावार्थ ऊपर समझा आये हैं । अब कहते हैं कि ऐसा मानना दोष युक्त है क्योंकि दोनों ज्ञान पाये जाते हैं:–

माभूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥ ८९२ ॥

अर्थ–इसलिये सर्वथा बंध न होवे अर्थात् मात्र हम लोगों का बद्धज्ञान ही न माना जाय क्योंकि अबद्ध ज्ञान की प्रसिद्धि है अर्थात् केवलज्ञान प्रसिद्ध है। सर्वथा अबंध भी श्रेयस्कर नहीं है अर्थात् मात्र केवल ज्ञान भी मानना ठीक नहीं है क्योंकि बंध के कार्य की उपलब्धि है अर्थात् हम लोगों के बद्ध ज्ञान का विपरीत कार्य प्रत्यक्ष है। ज्ञान का काम एक समय में लोक-अलोक जानने का था। उसकी बजाय एक पदार्थ को जानकर उसके प्रति रागी, द्वेषी, मोही हो रहा है यह इसका विपरीत कार्य प्रत्यक्ष है। अतः भाई सोपाधि भी है, निरुपाधि भी है। शिष्य ने जो ८८२, ८८३ में सोपाधि-निरुपाधि दो प्रकार की पर्याय मानने से इन्कार किया था। उसका समाधान यहाँ तक किया और शुद्ध-अशुद्ध दोनों पर्यायें दिखलाई और यह कहा कि परवस्तु रूप होने को ही सोपाधि नहीं कहते किन्तु निज के विभाव परिणमन को सोपाधि कहते हैं। अब विषय को संकोचते हैं और उपसंहार रूप में पहले निरुपाधि अर्थात् अबद्ध का स्वरूप कहते हैं फिर सोपाधि अर्थात् बद्ध का स्वरूप कहते हैं फिर यह कहते हैं कि बस निरुपाधि को ही शुद्ध कहते हैं और सोपाधि को ही अशुद्ध कहते हैं। इस प्रकार अपने अभीष्ट शुद्ध-अशुद्ध भेद की सिद्धिध करते हुये विषय को समाप्त करते हैं:–

साध्य की सिद्धिरूप उपसंहार ८९३-९४-९५

निरुपाधि (अबद्ध) ज्ञान की सिद्धि

अस्ति चित् सार्थं सर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥ ८९३ ॥

अर्थ–इसलिये यह सिद्ध हुआ कि युगपत् सब पदार्थों को साक्षात् करने वाला विकार को न धारण करने वाला नाश न होने वाला क्षायिक ज्ञान है जो बंधका नाश होने से साक्षात् अबद्ध है। अबद्ध को ही निरुपाधि कहते हैं।

सोपाधि (बद्ध) ज्ञान की सिद्धि

बद्धः सर्वोऽपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः ।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥ ८९४ ॥

अर्थ–बद्ध तो सब हैं ही क्योंकि संसार कार्य में विपरीतता तो प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसलिये सोपाधि (बद्ध ज्ञान) सिद्ध हो गया। यदि संसारियों के ज्ञान को सोपाधि न माना जाय तो उसमें विपरीतता रूप हेतु नहीं बन सकता।

भावार्थ–बद्ध सोपाधि ज्ञान तो हम लोगों का प्रत्यक्ष है ही क्योंकि इसके कार्य में विपरीतता है। ज्ञान का कार्य एक समय में लोक-अलोक सबको जानने का था, उस स्वभाव को छोड़कर एक पदार्थ को ही जानता हुआ रागी, द्वेषी, मोही हो रहा है। यह ज्ञान की विपरीत क्रिया उसके बद्धत्व को सिद्ध करती है। बद्धत्व को ही सोपाधि कहते हैं।

अशुद्धत्व और शुद्धत्व की सिद्धि

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च ।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥ ८९५ ॥

अर्थ–इस ऊपर के कथन से ज्ञान सोपाधि (बद्ध) और निरुपाधि (अबद्ध) सिद्ध हो गया। उनमें जो सोपाधि है वह अशुद्ध है और जो निरुपाधि है वह शुद्ध है। इस प्रकार शुद्ध-अशुद्ध भी सिद्ध हो गया।

अशुद्धत्व का निरुपण समाप्त हुआ।

बद्धत्व और अशुद्धत्व में अन्तर ८९६ से ९०० तक ५

शंका

ननु कस्को विशेषोऽस्ति बद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादैक्योपलब्धितः ॥ ८९६ ॥

शंका–बद्धपना और अशुद्धपना इन दोनों में क्या-क्या विशेषता है क्योंकि पदार्थरूप से एक पदार्थ की प्राप्ति होने से अभिन्न पदार्थपना है अर्थात् मेरी समझ में दोनों एक ही है कुछ अन्तर हो तो समझाइये।

समाधान ८९७ से ९०० तक

नैवं यतो विशेषोऽस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥ ८९७ ॥

अर्थ–वद्धता और अशुद्धता में कुछ अन्तर नहीं है ऐसा नहीं है अर्थात् अन्तर है क्योंकि एक दृष्टि से बंध कारण है और अशुद्धता कार्य है यह विशेषता है। इसका स्पष्टीकरण ८९८, ८९९ में है। अथवा दूसरी दृष्टि से बंध कार्य है और अशुद्धता कारण है यह विशेषता है। इसका स्पष्टीकरण ९०० में है। इस प्रकार दोनों में अन्तर है।

बद्धत्व और अशुद्धत्व में कारण कार्य भाव

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥ ८९८ ॥

अर्थ–बन्ध पारिणामिकी परगुणाकार क्रिया है और उसके होने पर उन दोनों का अपने अपने गुण से च्युत होना अशुद्धता है।

भावार्थ–पारिणामिकी का अर्थ है परिणमनशील। परका अर्थ है निमित्त अर्थात् कर्म का उदय, गुण का अर्थ है उसकी जाति जैसे क्रोध, आकार रूप क्रिया का अर्थ है उस रूप आत्मा का परिणमन करना। भाव यह हुआ कि निमित्त के आकार रूप जो आत्मा का अपनी वैभाविक शक्ति के कारण स्वतः अपने अपराध से परिणमना है, यह बंध है जैसे ज्ञान का राग रूप परिणमना बंध है और ज्ञान में उस राग के आने पर जो ज्ञान का लोकालोक प्रकाशक अपने स्वभावसे च्युत होकर अज्ञान रूप होना यह अशुद्धता है। इसी प्रकार कार्मणवर्गणाओं का ज्ञानावरणादि रूप परिणमना बद्धत्व है और उनका अपने स्वभाव से डिगकर कर्म अवस्था में आना अशुद्धत्व है। यहाँ बद्धत्व कारण है। अशुद्धत्व कार्य है। क्योंकि बंध के होने पर नियम से स्वभाव की च्युति होती ही है जो अशुद्धता है।

बंध कारण और अशुद्धता कार्य

बंधः हेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः ।
यस्माद्बन्धं बिना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥ ८९९ ॥

अर्थ–इस प्रकार बन्ध कारण है और अशुद्धता कार्य है ऐसा निर्णय है क्योंकि बन्ध के बिना अशुद्धता कभी नहीं होती है।

भावार्थ–ज्ञान में राग का आना या ज्ञान का राग रूप परिणमन करना यह तो बंध है और ज्ञान का अज्ञान रूप परिणमित होना यह अशुद्धत्व है। बद्धत्व कारण है और अशुद्धत्व कार्य है। इसका अर्थ यह है कि ज्ञान निमित्त में जुड़कर रागी हुआ तभी तो अपने स्वभाव से च्युत होकर अज्ञान बना अन्यथा नहीं बन सकता था। इस प्रकार बद्धत्व कारण है और अशुद्धत्व कार्य है और यही कारण है कि बद्धत्व के बिना अशुद्धत्व नहीं होता। समय दोनों का एक ही है। किस द्रृष्टि से बद्ध कहते हैं और किस दृष्टि से अशुद्ध कहते हैं बस यह समझने की बात है और यही रहस्य है।

बंध कार्य और अशुद्धता कारण

कार्यरूपः स बन्धोऽस्ति कर्मणां पाकसम्भवात् ।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः ॥ ९०० ॥

अर्थ–वह बन्ध कार्य रूप है क्योंकि वह पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से होता है। अशुद्धता कारण रूप है क्योंकि वह आगे बंधने वाले नये कर्मों को खींचती है अर्थात् नये कर्मों के बंधन में निमित्त मात्र कारण है।

भावार्थ–पूर्वबद्ध कर्म का उदय कारण और राग कार्य। इस प्रकार तो बंध कार्य हुआ। केवल राग को बंध कहते हैं। आगामी कर्म कब बंधते हैं ? जब जीव अज्ञान रूप परिणमता है। अतः अज्ञान रूप अशुद्धता कारण और नया बंध कार्य। इस प्रकार अशुद्धता कारण हुई। यह ध्यान रहे कि यहाँ आचार्य नवीन बंध का कारण केवल राग को नहीं कहना चाहते किन्तु ज्ञान की अज्ञान रूप अशुद्ध अवस्था को कहना चाहते हैं। ज्ञान और राग का भेद करके राग को बंध का कारण नहीं कहना चाहते किन्तु ज्ञान की राग मिश्रित अज्ञान रूप अशुद्ध अवस्था को बंध का कारण कहना चाहते हैं। अशुद्धत्व केवल राग का या केवल ज्ञान का नाम नहीं है किन्तु ज्ञान की अज्ञान रूप परिणत अवस्था का नाम है।

बद्धत्व और अशुधत्व का अन्तर समाप्त हुआ।

पांचवां अवान्तर अधिकार

नौ पदार्थों की सिद्धि ९०१ से ९५७ तक

प्रतिज्ञा

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोऽपि तत्त्वतः ।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोऽपि बद्धाबद्धनयादिह ॥ ९०१ ॥*

* शुद्ध-अशुद्ध शब्द जहाँ पर्याय के द्योतक होते हैं वहाँ रागी पर्याय को अशुद्ध कहते हैं और वीतरागी पर्याय को शुद्ध कहते हैं। वह अर्थ यहाँ नहीं है। शुद्ध-अशुद्ध का दूसरा अर्थ यह है कि विशेष को परिणमन को–पर्याय मात्र को–नौ तत्त्वों को–अशुद्ध कहते हैं और उन नौ तत्त्वों में रहने वाले सामान्य को शुद्ध कहते हैं। यह अर्थ यहाँ इष्ट है। यह सामान्य (शुद्ध) निश्चय नय का विषय है। विशेष (अशुद्ध) व्यवहार नय का विषय है।

अर्थ–तत्त्वपने से अर्थात् वस्तुपने से जीव शुद्ध है अर्थात् सामान्य स्वरूप को धारण करने वाला है यह तो शुद्ध नय से सिद्ध है ही पर वही जीव बद्धाबद्ध नय से अर्थात् पर्याय दृष्टि से अशुद्ध है अर्थात् नौ तत्त्वरूप है यह भी असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध ही है।

भावार्थ–(१) हम आपको नित्यानित्य अधिकार में यह बता चुके हैं कि वस्तु जैसे स्वभाव से स्वतः सिद्ध है वैसे ही वस्तु स्वभाव से परिणमनशील भी है । उसी नियम के आधार से जीव वस्तु भी है और परिणामी भी है। जीव वस्तु है यह यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ है। (२) वस्तु को शुद्ध कहते हैं–परिणाम को अशुद्ध कहते हैं, यह यहाँ शुद्ध अशुद्ध शब्द का अर्थ है (३) शुद्ध नय यहाँ त्रिकाली सामान्य की द्योतक है और बद्धाबद्ध नय यहाँ शुद्ध-अशुद्ध दोनों परिणामों की अर्थात् जीव के परिणमन मात्र की द्योतक है। बद्ध रागी पर्याय को कहते हैं अबद्ध वीतरागी पर्याय को कहते हैं। जो नय बद्ध-अबद्ध अर्थात् रागी वीतरागी अर्थात् शुद्ध-अशुद्ध दोनों पर्यायों को विषय करे अर्थात् पर्याय मात्र को विषय करे उसको बद्धाबद्ध नय कहते हैं। बद्ध-अबद्ध का यह अर्थ महाराज स्वयं पहले करके आये हैं। श्री अमृतचन्द्रजी की बुद्धि का कमाल है क्या बद्धाबद्ध शब्द दिया है जो सब पर्यायों को स्पष्ट पकड़ लेता है। यदि व्यवहार नय शब्द देते तो समझने वाले को शायद सन्देह हो जाता कि शुद्ध पर्यायें भी लेनी हैं या नहीं । (४) जीव का शुद्ध (सामान्य) स्वरूप पहले ७९८ से ८०० तक सिद्ध कर आये हैं और उसके अशुद्ध स्वरूप अर्थात् नौ तत्त्वों को अब वर्णन करेंगे। आचार्य महाराज का भाव यह है कि जीव एक वस्तु है। सामान्य स्वरूप को धारण किये हुये है यह तो सिद्ध है ही अर्थात् हम पहले निरूपण कर ही आये हैं पर जीव अशुद्ध भी है अर्थात् शुद्ध- अशुद्ध परिणमन भी करता है अर्थात् नौ तत्त्व रूप भी है यह भी असिद्ध नहीं है अर्थात् उसी अशुद्ध अवस्था को अर्थात् ९ तत्त्वों को अब हमें बतलाना है, सिद्ध करना है। इस प्रकार यह ९ तत्त्वों के कथन का भूमिका रूप प्रतिज्ञा सूत्र है। दूसरी बात वह कहना चाहते हैं कि नय भी दो प्रकार के हैं एक शुद्ध नय अर्थात् निश्चय नय। एक बद्धाबद्ध नय अर्थात् व्यवहार नय। शुद्ध नय का विषय सामान्य है, अभेद है, एक है और व्यवहार नय का विषय विशेष है, भेद है, अनेक है, ९ तत्त्व हैं। एक बात यह भी है कि भेद दृष्टि से सामान्य वाच्य है शुद्ध नय वाचक है तथा विशेष वाच्य है व्यवहार नय वाचक है। पर अभेद दृष्टि से जो सामान्य है वही शुद्ध नय है और जो विशेष है वही व्यवहार नय है। गुरु महाराज अगले कथन की भूमिका रूप इतनी बातें इस सूत्र से कहना चाहते हैं। अब विषय के कथन को प्रारम्भ करते हैं। पहले नयों का लक्षण कहते हैं।

नयों का लक्षण

एक शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पकः ।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्द्वः सविकल्पकः ॥ ९०२ ॥

अर्थ–सम्पूर्ण शुद्ध नय एक है, भेद रहित है और विकल्प (राग) रहित है। व्यवहार नय अनेक है, भेद सहित है, और विकल्प (राग) सहित है।

भावार्थ–मोक्षमार्ग में नय के दो भेद हैं। (A) एक निश्चय (B) दूसरा व्यवहार (१) निश्चय नय एक ही होती है उसके शुद्ध निश्चय, अशुद्ध निश्चय आदि भेद नहीं होते। (२) भेद को द्वन्द्व कहते हैं। अभेद को निर्द्वन्द्व कहते हैं। निश्चयनय का विषय सामान्य है और उसमें भेद नहीं है अतः निश्चय नय को भी निर्द्वन्द्व कहा है। (३) विकल्प शब्द का अर्थ राग भी होता है और भेद भी होता है। यहाँ क्योंकि भेद अर्थ तो द्वन्द्व शब्द में आ चुका, अतः राग अर्थ है। निर्विकल्पक का अर्थ राग रहित है। निश्चय नय राग रहित होती है क्योंकि इसका विषय सामान्य हैं। सामान्य शब्द के अगोचर है। जो कुछ आप कहेंगे वह भेद रूप पड़ेगा। सामान्य को कहने वाला कोई शब्द नहीं और राग को शब्द का आधार चाहिये। अतः यह निर्विकल्पक है। उसका विषय अनुभव गोचर हैं। यह तो प्रथम पंक्ति का पेट है। (B) (१) विधि पूर्वक भेद करने को व्यवहार कहते हैं। अतः भेद को विषय करने वाली नय को व्यवहार नय कहते [illegible] २) व्यवहार नय के सद्भूत असद्भूत आदि भेद प्रभेद हैं अतः वह अनेक है। (३) इसका विषय पर्याय है। परिणाम [illegible] तत्त्व हैं और नौ तत्त्व भेद रूप हैं। अतः इसको भी भेद सहित होने वाली होने से सद्वन्द्व कहा है। (४) जिस [illegible] पाय जाये, उसे सविकल्पक कहते हैं। व्यवहार नय में राग होता ही है। कोई भी व्यवहार नय राग रहित नहीं

है। अंतः इसको सविकल्पक कहा है। यह दूसरी पंक्ति का पेट है। इस सूत्र में दोनों नयों का स्वरूप है—लक्षण है क्योंकि लक्षण का परिज्ञान हुये बिना किसी वस्तु का प्रयोग नहीं कर सकते। अब इन नयों का वाच्य बतलाते हैं:-

नयों का वाच्य ९०३ से ९०९

वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः ।
शुद्धादन्यत्रं जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः ॥ ९०३ ॥

अर्थ—इस शुद्ध नय का वाच्य चैतन्य (गुण) स्वरूप शुद्ध जीव (सामान्य) है। शुद्ध से अन्य में (अर्थात् व्यवहार नय के विषय में) वे जीवादिक नव पदार्थ (जीव की विशेष दशायें) विषय माने गये हैं।

भावार्थ—आध्यात्म में एक वस्तु का दूसरी वस्तु में कुछ कार्य बतलाने को तो नयाभास कहते हैं। केवल एक द्रव्य के सामान्य को बताने वाली को निश्चय नय कहते हैं और उसी द्रव्य के परिणमन को बताने वाली नय को व्यवहार नय कहते हैं। जिनको इस नियम का ही विश्वास नहीं वे तो अध्यात्म के पात्र ही नहीं। दो द्रव्यों की नयों में ही चक्कर काटते रहें—वे तो केवल निमित्त-नैमित्तिक का ज्ञान कराने के लिये थीं। मोक्षमार्ग से उनका कुछ प्रयोजन नहीं। शुद्ध शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक पर्याय में शुद्ध-अशुद्ध। दूसरा सामान्य शुद्ध, पर्यायें सब अशुद्ध। यहाँ शुद्ध शब्द सामान्य अर्थ में है। सो कहते हैं कि निश्चय का विषय तो सामान्य जीव है जो शुद्ध है । अब कुछ उस का स्वरूप भी बताना चाहिये था। सो कहते हैं बस चेतन-चेतन-चेतन शुद्धज्ञानदर्शनआत्मक जीव उसका वाच्य है। यहाँ शुद्ध का अर्थ गुण है और अन्य सब गुण चेतन होने के कारण इन दो गुणों में ही अन्तर्भूत हैं। (शुद्ध का अर्थ गुण है इसके लिये श्री द्रव्य संग्रह गाथा ६ की नीचे की पंक्ति देखिये और चेतन का अर्थ ज्ञान दर्शन है और शेष सब गुण उसमें अन्तर्भूत हैं इसके लिये श्री समयसार (गा. २९८, २९९ देखिये)। इस ग्रंथ में जीव का सामान्य स्वरूप जो पहले नं. ७९८ से ८०० तक निरूपण हो चुका वही इस निश्चय नय का वाच्य है । यह प्रथम पंक्ति का पेट है (B) 'शुद्धात् अन्यत्र' शब्द का अर्थ व्यवहार नय है। 'जीवाद्याः' का अर्थ नौ पदार्थ हैं। यहाँ नौ के नौ पदार्थ जीव की पर्याय रूप ग्रहण करते हैं। यह अर्थ नहीं है जो पहले नं. ७१७ में किया था कि जीव-अजीव सामान्य, शेष विशेष । किन्तु नौ की नौ जीव की पर्यायें हैं। यहाँ नौ का वह अर्थ है जो श्री समयसारजी में है या श्री पंचास्तिकाय गा. १०९ से १५३ में है। हमारे यहाँ सात या नौ तत्त्व के अर्थ करने की दो पद्धतियां हैं। एक तो जीव-अजीव सामान्य द्रव्य और शेष उनकी पर्यायें। यह अर्थ श्री द्रव्य संग्रहकार ने तथा श्री सर्वार्थसिद्धिकार आदि ने किया है तथा दूसरा अर्थ यह है कि नौ की नौ पर्यायें हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने इस अर्थ की प्रधानता रक्खी है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य देव ने दोनों अर्थों को जहाँ जो योग्य था—अर्थ किया है। सो गुरुगम से जहाँ जो अर्थ हो वह भली-भांति जान लेना चाहिये अन्यथा अर्थ का अनर्थ तो हो ही जायेगा किन्तु जीव भी उसके मर्म से कोरा रह जायेगा। यहाँ 'जीवाद्याः' पद का वह अर्थ है जो श्री पंचास्तिकाय में विस्तार से निरुपित है। 'पदार्थाः' पद का अर्थ पर्यायें हैं। तत्व कहो या पदार्थ कहो या पर्याय कहो एक ही बात है क्योंकि यहाँ नौ के नौ पदार्थ पर्याय रूप हैं। 'नव' का अर्थ नौ होता है। जीव का परिणमन तो अनन्तों प्रकार का होता है पर जाति भेद से नौ रूप ही होता है। 'स्मृताः' पद का अर्थ माने गये हैं। आगम में कहे गये हैं यह है। इस प्रकार व्यवहार नय का विषय जीवादिक नौ तत्व हैं अर्थात् जीव की नौ पर्यायें हैं यह दूसरी पंक्ति का पेट है। इस प्रकार इस सूत्र में दोनों नयों का वाच्य बतलाया गया है। भेद दृष्टि से वाच्य-वाचक भेद है। अभेद दृष्टि से दोनों एक हैं। यह इस प्रकरण में बराबर ध्यान रहे।

९०२, ९०३ का सार—पर्याय वह द्रव्य की ही अवस्था (भेद) है। कहीं अवस्तु तो नहीं है। उसको व्यवहार कहने का कारण यह है कि भेद दृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती। सरागी को विकल्प, रहा करता है। इसलिये इस श्लोक में ''व्यवहार नय को भेद रूप और विकल्प उत्पन्न करने वाली होने से सविकल्पक कहा है। जहाँ तक रागादिक मिटें नहीं वहाँ तक भेद को गौण करके अभेद जो निश्चय नय है उसको आश्रय करके निर्विकल्प अनुभव करने को ज्ञानी पुरुषों ने कहा है। इसलिये निश्चय नय को अभेद तथा निर्विकल्प कहा है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार का स्वरूप जानकर व्यवहार नय का आश्रय विकल्प उत्पन्न करने वाली होने से छोड़कर-निश्चय नय जो अभेद तथा निर्विकल्पक है— उसका आश्रय करने से शुद्धता रूप कार्य होता है। दूसरे किसी प्रकार से नहीं। दूसरे वह सामान्य जो शुद्ध नय

का विषय है जीव की विशेष रूप नौ पर्यायों में ही पाया जाता है। इसलिये इन ९ पदार्थों का ज्ञान भी कार्यकारी है। अत: वे भी वाच्य हैं। हाँ उनका आश्रय कार्यकारी नहीं है। सामान्य का निरूपण पहले कर आये हैं। इन नव पदार्थों का निरूपण अब करेंगे। उसके लिये श्री अमृतचन्द्रजी महाराज भूमिका तैयार कर रहे हैं।

शंका

ननु शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः ।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥ ९०४ ॥

शंका–शुद्ध नय साक्षात् सम्यक्त्व का विषय करने वाला है। वह एक ही कहना चाहिये अर्थात् सामान्य को ही मानना चाहिये। दूसरी व्यवहार नय अर्थात् उसके विषय भूत नौ पदार्थों के मानने से क्या लाभ ? यहाँ शिष्य जीव की विशेष रूप नौ पर्यायों का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता । सर्वथा सामान्य को अर्थात् विशेष निरपेक्ष शुद्ध आत्मा की कल्पना करके प्रश्न कर रहा है।

भावार्थ–हम आपको यह कह आये हैं कि भेद दृष्टि से शुद्ध नय वाचक है और सामान्य वाच्य है। अभेद दृष्टि से दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार भेद दृष्टि से व्यवहार नय वाचक और नौ पदार्थ वाच्य हैं किन्तु अभेद दृष्टि से एक ही हैं। इस नियम को ध्यान में रखकर अर्थ समझ में आयेगा। सांख्यमत विशेष निरपेक्ष सामान्य मानता है। उसके यहाँ पर्याय कोई चीज नहीं। उस सामान्य को सर्वथा शुद्ध त्रिकाल मुक्त मानता है और उसको सम्यक्त्व का विषय मानता है। यहाँ शिष्य उन विचारों से मिलता-जुलता है। निश्चयाभासी है। कहता है कि एक शुद्ध नय अर्थात् सामान्य ही मानना ठीक है। व्यवहार नय अर्थात् नौ पदार्थ के मानने से क्या लाभ ? अपनी बात में युक्ति भी देता है कि श्री समयसार परमागम में सामान्य को ही सम्यक्त्व का विषय माना है नौ पदार्थों को तो अभूतार्थ कहा ही है। अभूतार्थ शब्द के अर्थ को उसने दुरुपयोग किया है। अभूतार्थ का अर्थ उसने अभाव कर दिया है। अभूतार्थ का अर्थ अभाव नहीं है किन्तु गौण है क्योंकि नौ पदार्थों के लक्ष से राग की उत्पत्ति होती है जो रत्नत्रय में बाधक है इसलिये उन्हें सम्यक्त्व का विषय नहीं माना है। उसी आधार से उसने नौ पदार्थों को उड़ा ही दिया है। आचार्य महाराज को नौ पदार्थों की सिद्धि करनी थी क्योंकि विशेष जीव का कथन करना इष्ट है। अत: शिष्य के मुख से नौ तत्त्वों के अभावरूप शंका उपस्थित कराई है ताकि विषय सुन्दरता से प्रारम्भ हो सके।

समाधान ९०५ से ९०९ तक

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः ।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः ॥ ९०५ ॥

अर्थ–शुद्धनय कल्याणकारी है। उपादेय है। सम्यक्त्व का विषय है और दूसरी व्यवहार नय कल्याणकारी नहीं है। हेय है। सम्यक्त्व का विषय नहीं है यह तो सत्य है पर युक्ति के आधार पर दूसरी व्यवहार नय निश्चय नय की तरह विद्यमान तो है, उसका अस्तित्व तो है। अर्थात् जिस प्रकार सामान्य है उसी प्रकार विशेष भी है।

भावार्थ–आचार्य कहते हैं कि शुद्ध नय सम्यक्त्व है और नौ पदार्थ अभूतार्थ हैं यह तो ठीक है पर भाई अभूतार्थ का यह अर्थ तो नहीं कि उनका अस्तित्व ही नहीं है। 'अर्पितानर्पितसिद्धेः'। व्यवहार नय अर्थात् नौ पदार्थ जीव की पर्यायें हैं। वास्तविक चीज़ है कोई अवस्तु तो नहीं। इस युक्ति से वे हैं जरूर । अभूतार्थ तो इसलिये कहा कि उस दृष्टि में राग होता है। सम्यक्त्व की बाधक है पर उसके अस्तित्व से तो इंकार नहीं किया जा सकता। यहाँ व्यवहार नय को 'श्रेयान् इव अस्ति' कहकर उपादेय नहीं कहा है किन्तु उसके विषयभूत नौ पदार्थों के अस्तित्व को निश्चय के अस्तित्ववत् स्वीकार किया है। जोर 'श्रेयान्' शब्द पर नहीं है किन्तु 'अस्ति' शब्द पर है। उपादेय तो परमार्थ को विषय करने वाला मात्र शुद्ध नय ही है। व्यवहार नय नहीं यह तो श्लोक के प्रथम चरण में ही कहा जा चुका है। ऊपर के श्रेयान् शब्द का अर्थ उपादेय है। नीचे के श्रेयान् शब्द का अर्थ निश्चय नय है। यद्यपि व्यवहार नय जो पर्याय की द्योतक है वह उपादेय तो नहीं है पर पर्याय भी अवस्तु तो नहीं है। द्रव्य की ही अवस्थायें हैं। इसलिये उनका ज्ञान भी कार्यकारी है–अकार्यकारी नहीं। हाँ उसका आश्रय कार्यकारी नहीं है। वे ज्ञानी के ज्ञान का विषय है। ज्ञेय हैं। उपादेय न होने के कारण सम्यक्त्व का विषय नहीं है। क्योंकि वे तो निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध से होने वाली वस्तु है। शुद्ध द्रव्य में

उनका अस्तित्व कहाँ ? सम्यक्त्व का विषय तो Pure माल है। यहाँ सम्यक्त्व की या उसके विषय की बात नहीं चल रही है। किन्तु व्यवहार नय और उसके अस्तित्व सिद्धि की बात चल रही है। शंका में शिष्य ने नौ पदार्थों के अस्तित्व से इन्कार किया था उनकी सिद्धि कर रहे हैं और उसकी सिद्धि के अनुसंधान में यह कह रहे हैं कि व्यवहार नय या नौ पदार्थ सम्यक्त्व का विषय नहीं पर वे हैं जरूर । उनका ज्ञान जरूर करना है। सम्यक्त्व का विषय न होने से उन्हें उड़ाया नहीं जा सकता। यह विषय चल रहा है। विषय क्या चल रहा है इसका बराबर ध्यान रखना चाहिये। अब वह व्यवहार नय अर्थात् नौ पदार्थ किस प्रकार विद्यमान हैं यह बताते हैं–

तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः ।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥ १०६ ॥

अर्थ–वह व्यवहार नय इस प्रकार विद्यमान है कि जब एक ही जीव अनादि बन्ध पर्याय मात्र से विवक्षित होता है, तब यह नौ पद जीव रूप ही माने गये हैं।

भावार्थ–द्रव्य दृष्टि का विषयभूत जो शुद्ध जीव है। वह यदि शुद्ध दृष्टि की विवक्षा न रखकर अनादि सन्तान रूप से चली आई नैमित्तिक पर्याय की दृष्टि से देखा जाता है तो फिर वही जीव इन नौ भेष रूप कहा गया है। अतः इस दृष्टि से वही जीव इन नौ रूप भी है। अतः जिस प्रकार वह निश्चय सामान्य सत् रूप है उसी प्रकार यह व्यवहार भी तो विशेष सत् रूप है। अतः अभूतार्थ होने पर भी इसका सर्वथा लोप तो नहीं किया जा सकता।

किञ्च पर्यायधर्माणो नवामी पदसंज्ञकाः ।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥ १०७ ॥

अर्थ–और यह नौ पदार्थ पर्याय धर्म हैं। इनकी उत्पत्ति में पर्याय मात्रता कारण नहीं है किन्तु उपरक्ति रूप उपाधि (राग) कारण है।

भावार्थ–धर्म द्रव्य है। उसकी स्वभाव पर्याय भी है किन्तु उसमें नौ तत्त्व नहीं हैं। इसी प्रकार धर्म द्रव्यवत् यदि जीव अनादि से सर्वथा शुद्ध ही होता तो फिर इसमें भी नौ पदार्थ न बनते । इसलिये नौ पदार्थ बनने का कारण पर्याय मात्र का होना नहीं है किन्तु इन नौ पर्यायों की उत्पत्ति में उपरक्ति कारण है। उपरक्ति राग को कहते हैं। राग के कारण, नौ में कुछ पर्यायें राग के सद्भाव रूप कारण से बनी हैं और कुछ पर्यायें राग के अभाव रूप कारण से बनी हैं। इसलिये इन नौ की उत्पत्ति में उपरिक्त कारण है। उपाधि का अर्थ होता है परिग्रह अर्थात् जो चीज मूल वस्तु की तो न हो बाहर से आई हुई हो। उपरक्ति (राग) को उपाधि इसलिये कहते हैं क्योंकि यह मूल जीवास्तिकाय में नहीं है किन्तु आगन्तुक भाव है। क्षणिक है। आई हुई है। जभी तो इसका नाश हो जाता है। इस प्रकार ऊपर की पंक्ति में नौ पदार्थ सिद्ध किये और नीचे की पंक्ति में उनकी उत्पत्ति का कारण उपरक्ति (राग) बतलाया। उपरक्ति कारण है और नौ पद कार्य है यह आगे भी सर्वत्र ध्यान रहे। अब कोई उपरक्ति (राग) का ही अस्तित्व न माने तो उसके लिये उपरक्ति का अस्तित्व सिद्ध करते हैंः–

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः ।
यतो नवपदव्यासमव्याप्तं पर्ययेषु तत् ॥ १०८ ॥*

अर्थ–उन नौ तत्त्वों में उपरक्ति का उपाधिपना असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध है क्योंकि वह उपरक्ति रूप उपाधि जीव की नौ पर्यायों में से कुछ पर्यायों (जीव, अजीव, आस्रव-बन्ध-पुण्य-पाप) में व्याप्त है और कुछ पर्यायों (संवर-निर्जरा-मोक्ष) में अव्यास है।

भावार्थ–इसमें उपरक्ति (राग) और उसका उपाधिपना सिद्ध किया गया है। उपरक्ति है यह तो प्रत्यक्ष ही है। वह उपाधि है इसमें यह युक्ति है कि जो चीज़ मूल की नहीं होती वह नाश हो जाया करती है। सो आचार्य कहते हैं कि देखो यह उपरक्ति ९ पर्यायों में से कुछ में तो पाई जाती है कुछ में नहीं पाई जाती इससे इसका अस्तित्व तथा उपाधिपना

* मूल श्लोक में कुछ अशुद्धि मालूम पड़ती है पर अर्थ हमने पूर्व अपर अनुसंधान के आधार पर ठीक खेंच लिया है। संस्कृत जानने वाले श्लोक की शुद्धि पर विचार करें।

भली-भांति सिद्ध होता है और उपरक्ति रूप उपाधि के सिद्ध होने से इसके सद्भाव और असद्भाव से नौ पदार्थ भी सिद्ध होते हैं। गुरुदेव का प्रयोजन केवल उपरक्ति की सत्ता मात्र या उसका उपाधिपना सिद्ध करने का नहीं था किन्तु इस युक्ति के आधार से नौ पदार्थों की सत्ता सिद्ध हो जाय यह प्रयोजन था जो सिद्ध हो गये।

अब विषय को संकोचते हैं:—

साध्य की सिद्धि रूप उपसंहार

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोऽनुभूयते ॥ १०९ ॥

अर्थ—यदि उपरक्ति की उपाधि होने से आदर ही न किया जाय अर्थात् अस्तित्व ही न माना जाय तो ये नौ पदार्थ कहाँ रहेंगे अर्थात् इनका भी अस्तित्व सिद्ध न होगा और इनका अस्तित्व सिद्ध न होने पर शुद्ध जीव का अनुभव कहाँ होगा ? क्योंकि इन नौ विशेषों में ही तो सामान्य रहता है। अर्थात् उपरक्ति न मानने पर नौ पद रूप विशेष नहीं बनेगा और उसके न बनने पर सामान्य भी न रहेगा फिर सामान्य का अनुभव रूप सम्यक्त्व कैसे होगा। अतः नौ तत्व अवश्य स्वीकार करने चाहिये अर्थात् व्यवहार नय अवश्य मानना चाहिये। शिष्य ने १०४ में जो निश्चय का अस्तित्व मानकर व्यवहार के अस्तित्व से ही इन्कार किया था सो यहाँ तक व्यवहार का अस्तित्व सिद्ध किया।

भावार्थ—उपरक्ति कारण है और नौ पद कार्य हैं क्योंकि उपरक्ति के अस्तित्व में ही उसके सद्भाव और असद्भाव से होने वाले ९ पदार्थ सिद्ध होंगे (देखिये आगे ११३) इस प्रकार उपरक्ति की सत्ता रूप कारण से ९ पदार्थों की कार्य रूप सत्ता सिद्ध की और उनकी सत्ता क्योंकि विशेष रूप पड़ती है और विशेष विना सामान्य के रह नहीं सकता। इसलिये शिष्य से कह रहे हैं कि अरे जिस शुद्ध को तू सम्यक्त्व का विषय मानता है वह तो विशेष निरपेक्ष शून्य हो जायेगा। अतः भाई नौ पद भी मान। तभी इनको गौण करके सामान्य का अनुभव हो सकेगा। सामान्य के अनुभव रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये भी इनका मानना जरूरी है। नौ पदार्थों की सिद्धि हो गई।

अगली भूमिका—१०१ से १०३ तक नौ पदार्थों का अस्तित्व कहा। उस पर शिष्य ने १०४ में उन नौ तत्वों के अस्तित्व को मानने से इन्कार कर दिया। गुरुदेव ने १०५ से १०९ तक उन नौ तत्वों की सिद्धि की। अब शिष्य फिर कहता है कि वे नौ तत्व कोई वास्तविक चीज है भी या नहीं । वे वास्तविक तो हैं नहीं क्योंकि वे नाशवान् हैं। सम्यक्त्व का विषय नहीं हैं। यदि अवास्तविक हैं—अभूतार्थ हैं तो उनके कहने से क्या लाभ ? भूतार्थ को तो कहना चाहिये क्योंकि उसके आश्रय से धर्म होता है। व्यर्थ की चीज की कथन करने से क्या लाभ ? पहले १०४ की शंका में तो उसने उनके अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया था। अब उनको कुछ संदिग्ध-सा, अभूतार्थ-सा मानकर उनकी वाच्यता को खत्म करके अवाच्यता सिद्ध करना चाहता है:—

शंकाकार द्वारा नौ पदार्थों में अवाच्यता की सिद्धि ११० से ११७ तक

ननूपरक्तिरस्तीति किं वा नास्तीति तत्त्वतः ।
उभयं नोभयं किं वा तत् क्रमेणाक्रमेण किं ॥ ११० ॥

शंका—(१) क्या उपरक्ति (राग) वास्तव में (सत्तारूप) है ? या (२) क्या उपरक्ति वास्तव में सत्तारूप नहीं है । या (३) क्या वह उपरक्ति क्रम से उभय रूप है। पहले उपरक्ति फिर शुद्ध तत्त्व, फिर उपरक्ति फिर शुद्ध तत्व-ऐसे हैं ? या (४) क्या वह उपरक्ति अक्रम से अनुभय रूप है (अर्थात् एक साथ उपरक्ति तथा शुद्ध तत्व अत्यन्त भिन्न-भिन्न रूप से दोनों हैं ? [उपरक्ति का अर्थ राग है जैसे पहले कह कर आये हैं]।

अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादर ।
नास्तीति चेदसत्त्वेऽस्याः सिद्धो नानादरो नयात् ॥ १११ ॥

शंका चालू आधे का अर्थ—यदि उपरक्ति (राग) है तो उस उपरक्ति रूप कारण के होने पर नौ पदार्थ रूप कार्य तो अवश्य रहेगा फिर उन नौ पदार्थों में अनादर-अग्राह्यता-अस्वीकारता-अनुपादेयता हेयता कैसी ?

भावार्थ—यदि उपरक्ति रूप कारण है तो उसके कार्यभूत नौ पदार्थ भी सदा रहेंगे। फिर उन्हें सम्यक्त्व का विषय क्यों नहीं मानते हो 'हेय' क्यों कहते हो ? अभूतार्थ क्यों कहते हो ?

दूसरे आधे का अर्थ–यदि उपरक्ति रूप कारण नहीं है तो उसके कार्य भूत नौ तत्वों का अस्तित्व भी सिद्ध न होने पर अनादर न्याय से ही सिद्ध नहीं होता।

भावार्थ–जब उपरक्ति कोई वस्तु नहीं तो फिर उसके कार्य भूत ९ तत्व भी कोई वस्तु नहीं रहते, फिर यह कहना कि ये हेय हैं। सम्यक्त्व का विषय नहीं है– नहीं बनता क्योंकि जो है ही नहीं, उनके विषय में हेयपना कैसा?

सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः ॥ ११२ ॥

शंका चालू – अब अपनी पहली बात का समर्थन करता हुआ कहता है कि यदि उपरक्ति रूप कारण है और उसके रहने पर ये कार्य भूत नौ पद भी हैं तो भी उनको परमागम में उपादेय तो कहा नहीं है क्योंकि शुद्ध नय का शुद्ध से अन्यत्र सर्वत्र (उपरक्ति अथवा नौ पदार्थों में) अधिकार नहीं कहा गया है।

भावार्थ–यदि उपरक्ति है और उसके कार्य भूत नौ पद भी हैं तो भी सम्यक्त्व का विषय न होने से उनका कहना तो निरर्थक ही है। इस प्रकार उसने ९ तत्वों के होने पर भी उनमें अवाच्यता सिद्ध की।

असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात् ॥ ११३ ॥

शंका चालू–अब अपनी दूसरी बात के समर्थन में कहता है कि यदि उपरक्ति रूप कारण नहीं है तो उसके नहीं रहने पर तो ये कार्य भूत नव पदार्थ ही नहीं बनते क्योंकि कारण के अभाव में उसके अविनाभूत कार्य का भी अभाव देखा जाता है और जो नहीं है उसके कहने से भी क्या? इस प्रकार उसने फिर नौ तत्त्वों में अवाच्यता सिद्ध की।

उभयं चेत् क्रमेणेह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम्।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ ११४ ॥

शंका चालू–यदि उपरक्ति रूप कारण के कार्यभूत नौ पदार्थ और शुद्ध तत्त्व दोनों क्रम से हैं तो न्याय से हमारा इष्ट सिद्ध हो गया क्योंकि शुद्धमात्र उपादेय है और शुद्ध से भिन्न (उपरक्ति अथवा नव पदार्थ) हेय हैं।

भावार्थ–जब दोनों क्रम से उत्पन्न होंगे तो जिस समय शुद्ध उत्पन्न होगा उस समय सम्यक्त्व का विषय होने से ग्राह्य होगा और जिस समय उपरक्ति वा नौ तत्त्व उत्पन्न होंगे वह हेय होगा-फिर उस हेय के कहने से क्या लाभ? इस प्रकार उसने नौ पदार्थों में फिर अवाच्यता सिद्ध की।

यौगपद्येऽपि तद्द्वैतं न समीहितसिद्धये।
केवल शुद्धमादेयं नादेयं तत् परं यतः ॥ ११५ ॥

शंका चालू–यदि शुद्धतत्त्व तथा उपरक्ति के कार्यभूत नौ पदार्थ दोनों इकट्ठे हैं तो भी इष्ट सिद्धि के लिये नहीं हैं अर्थात् फिर भी नौ पदार्थों में वाच्यता सिद्ध नहीं होती है क्योंकि केवल शुद्ध उपादेय है और उससे भिन्न उपरक्ति तथा नौ पदार्थ उपादेय नहीं हैं–हेय हैं।

भावार्थ–जब वे एक साथ दोनों भिन्न-भिन्न हैं तो सम्यक्त्व का विषय शुद्ध ले लेंगे। उपरक्ति अथवा नौ तत्त्व हेय होने से छोड़ देंगे फिर उनके कहने की क्या आवश्यकता है। उसने फिर नव पदार्थों में अवाच्यता सिद्ध की।

नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद् द्वै ताद्वैतस्य का कथा ॥ ११६ ॥

शंका चालू– (दूसरी बात यह है कि) एक (पदार्थ) के एक पर्याय में दो क्रिया अथवा दो कर्म (कार्य) ही नहीं बनते हैं (एक नौ पदार्थ रूप कार्य-एक शुद्ध तत्त्व रूप कार्य)। जब उन दोनों का युगपत्पना ही असिद्ध है फिर द्वैत (नौ पदार्थ हेय हैं) और अद्वैत (शुद्ध तत्त्व उपादेय हैं) इनकी क्या चर्चा? अर्थात् जब दोनों का एक साथ अस्तित्व ही नहीं बनता फिर वाच्यता का प्रश्न ही क्या? उसने फिर अवाच्यता सिद्ध की।

ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः।
तद्वाचकश्च यः कोऽपि वाच्यः शुद्धनयोऽपि सः ॥ ११७ ॥

शंका उपसंहार – इसलिये न्याय से अर्थात् उपर्युक्त युक्तियों से अन्य गति न होने से अर्थात् और कोई मार्ग न रहने से यही सार निकलता है कि शुद्ध सम्यक्त्व का विषय है। उस शुद्ध का वाचक जो कोई भी (शुद्ध) नय है वह ही कहने योग्य है। व्यवहार नय और उस विषय भूत नौ पदार्थों के कहने से क्या लाभ ? आखिर घुमा-फिराकर उसने वही बात कही कि एक शुद्ध का ही उपदेश करो–इन नौ के उपदेश से क्या लाभ ?

भावार्थ ९१० से ९१७ तक – जीव जैसे अनादि से स्वतः सिद्ध स्वभाव (सामान्य) को धारण किये हुये है। वैसे ही वह अनादि से नौ पदार्थ रूप भी परिणमन कर रहा है (विशेष) इस प्रकार एक ही साथ जीव में दो पडखे–(पहलू-धर्म) हैं। अध्यात्मक में सामान्य को शुद्ध कहते हैं। नौ पदार्थों को अशुद्ध कहते हैं। इस प्रकार नहीं समझने वाले शंकाकार ने नीचे के चार प्रश्न उपस्थित किये हैंः–

(१) क्या जीव में उपरक्ति (अशुद्धता) है ? (२) क्या जीव में अनुपरक्ति (शुद्धता) है ? (३) क्या जीव में क्रमपूर्वक शुद्धता-अशुद्धता है ? (४) क्या अक्रमपूर्वक शुद्धता-अशुद्धता है ? इन चार शंकाओं की पुष्टि के लिये वह नीचे प्रमाण दलीलें (युक्तियाँ) करता है। (१) यदि अशुद्धता है तो वह सदा रहनी चाहिये और उसके कार्यभूत नव पद भी सदा रहने चाहिये फिर उन्हें 'हेय' क्यों कहते हो, और उन्हें हेय तो कहा ही है क्योंकि सम्यक्त्व का विषय केवल शुद्ध तत्त्व है। (२) जो जीव में अशुद्धता का असद्भाव मानने में आवे अर्थात् सर्वथा शुद्धता मानने में आवे तो वहाँ अशुद्धता तो है ही नहीं फिर जो न होय उसका अनादर कैसे बन सके ? कारण कि जो होय उसका अनादर हो सके। तथा जीव में सर्वथा शुद्धता मानने से नव पदार्थ ही नहीं बन सकते फिर यह कहना है कि ''नौ पद हेय हैं; सम्यक्त्व का विषय नहीं हैं'' कैसे बनेगा? (३) जो जीव में क्रम पूर्वक शुद्धता-अशुद्धता है। जैसे पहले अज्ञानी फिर केवली ऐसा कहोगे तो जिस समय वह शुद्ध है उस समय उपादेय होगा और जिस समय अशुद्ध है उस समय स्वयं हेय होगा फिर उस अशुद्धता के कहने से क्या (४) जो अक्रमपूर्वक (एक साथ) शुद्धता-अशुद्धता दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं तो भी शुद्धता उपादेय है। अशुद्धता हेय है-उस हेय के कहने से क्या लाभ ? दूसरी बात यह है कि एक वस्तु के शुद्ध-अशुद्ध दोनों परिणमन एक साथ नहीं हो सकते फिर शुद्ध उपादेय-अशुद्ध हेय-यह चर्चा ही व्यर्थ है। इसलिये ''द्रव्य शुद्ध ही है'' ऐसा कहो और उसकी वाचक 'अकेली शुद्ध नय' को ही स्वीकारो। अशुद्ध द्रव्य रूप नौ पदार्थ और उसका वाचक व्यवहार नय नहीं कहना चाहिये। पहले शंकाकार ने ९०४ में व्यवहार नय अर्थात् नौ पदार्थों का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया था। ग्रन्थकार ने ९०५ से ९०९ तक उनका अस्तित्व सिद्ध किया। अब उसने उस व्यवहार नय को तथा उसके विषयभूत नौ पदार्थों को अवाच्य (न कहने योग्य) कहा । अब ग्रंथकार उसके उत्तर में आगे ९१८ से ९४१ तक (तथा और आगे ९४२ से ९५६ तक प्रश्नोत्तर रूप में) उसे यह समझायेंगे कि नौ पदार्थ वास्तव में हैं पर विशेष रूप जीव की पर्यायें होने से वे सम्यक्त्व का विषय नहीं है और वह शुद्ध भी जो सम्यक्त्व का विषय है सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु उन्हीं में अन्वय रूप से पाया जाता है। नव तत्त्वों को सर्वथा छोड़कर उसका अनुभव नहीं किया जाता किन्तु इनको गौण करके शुद्ध जीव का अनुभव किया जाता है। इसलिये हेय रूप होने पर भी उनमें वाच्यता सिद्ध है। उनका ज्ञान कार्यकारी है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य गुरुदेव ने पहले उनका अस्तित्व सिद्ध किया था। अब उनमें वाच्यता सिद्ध करेंगे अर्थात् वे व्यर्थ नहीं हैं किन्तु कथन करने योग्य हैं, जानने योग्य है। जीव की पर्याय हैं अभूतार्थ होने पर भी, सम्यक्त्व का विषय न होने पर भी गधे के सींगवत् नहीं हैं किन्तु ज्ञानियों के ज्ञान के ज्ञेय हैंः–

समाधान नौ पदार्थों में वाच्यता की सिद्धि ९१८ से ९४१ तक

नैवं त्वनन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
विरोधेऽप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥ ९१८ ॥

अर्थ–जैसा आप कहते हैं वैसा नहीं है किन्तु शुद्ध (सामान्य) और अशुद्ध (विशेष रूप नौ तत्त्व) दोनों की अनन्यथा सिद्धि है अर्थात् एक-दूसरे के बिना सिद्ध नहीं होते हैं अर्थात् परस्पर सापेक्ष ही दोनों सिद्ध होते हैं। शुद्ध-अशुद्ध दोनों में विरोध दीखने पर भी अविरोध है क्योंकि सत् की परस्पर सापेक्षता है अर्थात् सत् शुद्धाशुद्ध है अर्थात् सामान्यविशेषात्मक है।

भावार्थ–शिष्य का पहला प्रश्न था कि क्या ९ तत्त्व हैं तो कहते हैं कि हैं । दूसरा प्रश्न था कि क्या नौ तत्त्व नहीं हैं तो कहते हैं कि ऐसा नहीं है। तीसरा प्रश्न था कि क्या नौ तत्त्व क्रम से हैं तो कहते हैं कि ऐसा भी नहीं है। चौथा प्रश्न था कि क्या नौ तत्त्व और शुद्ध इकट्ठे हैं तो कहते हैं कि हाँ इकट्ठे हैं पर वे सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रदेश रूप नहीं है जो एक को ग्रहण कर लिया जाय और दूसरे को छोड़ दिया जाय तथा जो तुमने यह कहा था कि शुद्ध-अशुद्ध एक ही पदार्थ के दो परिणमन इकट्ठे नहीं रह सकते उसका उत्तर यह है कि हम शुद्ध-अशुद्ध परिणमन की बात ही नहीं कहते। शुद्ध-अशुद्ध परिणमन तो हम भी एक पदार्थ में एक साथ नहीं मानते–क्रमशः ही मानते हैं पहले अशुद्ध फिर शुद्ध। पर भाई यहाँ पर्याय की शुद्धता-अशुद्धता का प्रश्न ही कहाँ है यहाँ तो वस्तु द्रव्य दृष्टि से शुद्ध है। पर्यायदृष्टि से अशुद्ध है। उस पर्याय की अशुद्धता में शुद्ध-अशुद्ध दोनों पर्यायें गर्भित हैं। तत्त्व सामान्य रूप से शुद्ध है और उसका परिणमन नौ तत्त्व रूप हो रहा है यह विशेष है। अशुद्ध है। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं द्रव्य बिना नौ पदार्थ नहीं। नौ पदार्थ बिना द्रव्य नहीं। शुद्ध-अशुद्ध शब्द परस्पर विरोधी दीखते हैं पर विरोध नहीं है क्योंकि एक द्रव्य रूप है दूसरा पर्याय रूप है। सत् परस्पर सापेक्ष है। वस्तु दोनों की एक है।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः ।
यद्विशेषेऽपि सामान्यमेकंमात्रं प्रतीयते ॥ ११९ ॥

अर्थ–उन दोनों में अनन्यथा सिद्धि असिद्ध नहीं हैं अर्थात् उन दोनों की परस्पर सिद्धि सिद्ध ही है क्योंकि उन दोनों की एक वस्तु है जिससे विशेष में सामान्य त्रिकाल एक रूप शुद्ध स्वरूप को धारण करने वाला प्रतीत किया जाता है।

भावार्थ–शुद्ध कहीं नौ तत्त्वों से सर्वथा भिन्न नहीं है। वस्तु तो दोनों की एक ही है। बात यह है कि उसका विशेष रूप अनुभव न करके सामान्यमात्र एक रूप अनुभव किया जाता है तो वही शुद्ध रूप से प्रतीति में आने लगती है। विशेष को गौण कर देते हैं।

तद्यथा नवतत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ ।
स्वद्रव्याद्यैरन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥ १२० ॥

अर्थ–वह इस प्रकार कि नौ तत्त्व केवल जीव और पुद्गल हैं। अपने द्रव्यादिकों (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) द्वारा वस्तुपने से कर्त्ता और कर्म में अनन्यत्व है (अभिन्नता) है अर्थात् वस्तु स्वयं कर्त्ता है और नौ तत्त्व उसके कार्य हैं।

भावार्थ–अब उसे यह समझाते हैं कि एक जीव भिन्न द्रव्य हैं। एक पुद्गल भिन्न द्रव्य है। दोनों अनादि से भिन्न-भिन्न हैं। उनका परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे को निमित्त मात्र बनाकर स्वयं विकार रूप अर्थात् नैमित्तिक भाव रूप–नौ तत्त्व रूप परिणमन करते हैं। स्वयं कर्त्ता बनते हैं और अपने उस नौ प्रकार के परिणमन को कर्म बनाते हैं। दोनों, द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से अपने-अपने चतुष्टय में काम करते हैं। दोनों स्वयं अपने-अपने परिणामों से अभिन्न हैं। एकमेक है। ऐसा नहीं है कि एक द्रव्य का कुछ अंश शुद्धभाग रूप है और कुछ अंश नौ तत्त्व रूप है या ऐसा भी नहीं है कि जीव तो शुद्ध रूप है और नौ तत्त्व माया रूप या पुद्गल रूप या अन्य द्रव्य के अंश रूप हैं किन्तु जीव और पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी नौ तत्त्व रूप पर्यायों के स्वयं कर्त्ता स्वयं कर्मपने से हैं।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किंचिद् द्रव्यान्तरं पृथक् ।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥ १२१ ॥

अर्थ–उन दोनों जीव और पुद्गल से भिन्न इन नौ पदार्थों में कोई अन्य द्रव्य जुदा नहीं है और सर्वथा भिन्न अकेले शुद्ध जीव और सर्वथा भिन्न अकेले शुद्ध पुद्गल के भी यह नौ तत्त्व नहीं हैं।

भावार्थ–(१) एक तो ऐसा होता है कि जैसे दो कागज भिन्न-भिन्न हैं और उन्हें गोंद से जोड़कर इकट्ठा कर दिया जाता है। सो उस प्रकार जीव शुद्ध भिन्न रक्खा हो, पुद्गल शुद्ध भिन्न रक्खा हो, किसी तीसरे द्रव्य से दोनों को मिलाकर नौ तत्त्व उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं है और (२) जैसे सिद्ध में एकला शुद्ध जीव रक्खा है और पुद्गल में एक शुद्ध पुद्गल परमाणु रक्खा है इस प्रकार ये दोनों सर्वथा शुद्ध हों और नौ तत्त्व उत्पन्न कर देते हों ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो धर्म द्रव्य भी नौ तत्त्व उत्पन्न कर देता। तो फिर ये नौ तत्त्व कैसे उत्पन्न होते हैं उसका उत्तर अगले श्लोक में देते हैं–

किन्तु सम्बद्धयोरेवे तद्द्वयोरितरेतरम् ।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥ १२२ ।

अर्थ–किन्तु बद्ध रूप उन दोनों के परस्पर निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध से ही ये नौ पदार्थ उत्पन्न होते हैं–

भावार्थ–अनादि से जीव भी स्वतः सिद्ध है। पुद्गल भी स्वतः सिद्ध है। दोनों का बंध भी स्वतः सिद्ध है। एक-दूसरे को निमित्त मात्र कारण बनाकर और स्वयं नैमित्तिक बनकर अपने में भिन्न-भिन्न रूप से नौ तत्त्व रूप परिणमन कर रहे हैं। इस प्रकार से वे स्वयं कर्त्ता हैं और ये नौ पदार्थ उनके कर्म हैं। वस्तु एक ही है। जीव के नौ पद जीव में हैं। पुद्गल के नौ तत्व पुद्गल में हैं। (श्री द्रव्यसंग्रह में दोनों के नौ तत्व भिन्न-भिन्न निरूपित हैं)।

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते ।
तदात्वेऽपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥ १२३ ॥

अर्थ–पदार्थ रूप से नव पदी होकर अर्थात् (उन नव पदार्थों में परिणमन करता हुआ) एक जीव ही विराज रहा है। उन नौ पदों में भी उन नौ दशाओं के बिना केवल शुद्ध है (यदि जीव की अशुद्धि रूप नौ पर्यायों को गौण करके देखा जाये तो मात्र एक शुद्ध जीव ही अनुभव में आता है। उनसे सर्वथा भिन्न कोई शुद्ध जीव नहीं है)।

भावार्थ–(पुद्गल तो वैसे ही बीच में प्रकरणवश आ गया था सो उसको छोड़ कर समझाते हैं) इस प्रकार पुद्गल को निमित्त बनाकर यह जीव स्वयं नौ तत्त्व रूप परिणमन कर रहा है। यदि उसके नैमित्तिक नौ प्रकार के परिणमन पर दृष्टि न देकर उसके स्वभाव को देखा जाय तो स्वभाव से वह उस समय भी शुद्ध ही है। बस यही वह शुद्ध है जो नौ तत्त्वों में रहता है और सम्यक्त्व का विषय है। कहीं उनसे सर्वथा भिन्न नहीं है। इसलिये यदि नौ मानते हो तभी तो उनमें सामान्य शुद्ध है। इसलिये नौ मानने ही चाहिये।

नासम्भवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः ।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥ १२४ ॥

अर्थ–यह असम्भव नहीं है (अर्थात् नौ तत्वों में शुद्ध जीव का अन्वय पाया जाने से उनको गौण करके शुद्ध जीव का अनुभव करना कठिन नहीं है) क्योंकि इस प्रकार की विधि आगे कहे जाने वाले नौ दृष्टांतों अनुसार जगत में पाई जाती है। (इसलिये यह नौ पद जरूर कहने चाहिये क्योंकि उन्हीं में तो शुद्ध जीव का अनुभव होगा) और उपरक्ति (राग) का तो अभूतार्थ होने से त्रिकाली चीज न होने से न्याय से अदर्शन (उपेक्षा) सिद्ध है। (इस प्रकार जब उपरक्ति की उपेक्षा हो सकती है तो उपरक्ति के सद्भाव अथवा असद्भाव से उत्पन्न होने वाले नौ तत्वों की उपेक्षा भी न्याय से की जा सकती है)।

भावार्थ–यह तो आपको पहले ही कह चुके हैं कि उपरक्ति (राग) उपाधि है। अभूतार्थ वस्तु है। नाश होने वाली चीज है। बस यदि उस उपरक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा देखें तो नौ तत्व हैं अन्यथा कुछ नहीं। इसलिये उनको मानकर फिर दृष्टि में उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया जा सकता है। उनको उड़ाकर शुद्ध का अनुभव नहीं होता। अब जीव क्या है। पुद्गल क्या है। उपरक्ति क्या है उसके कार्य नौ तत्व क्या हैं। शुद्ध क्या है। वह शुद्ध उन नौ में कैसे पाया जाता है तथा उन नौ की उपेक्षा करके कैसे शुद्ध का अनुभव किया जाता है यह सब विधि नौ दृष्टांतों द्वारा दिखलाते हैं। आप प्रत्येक पर दृष्टांत दार्ष्टान्त की सब विधि बराबर मिलाकर देख लें।

सन्त्यनेकेऽत्र दृष्टांता हेमपद्मजलानलाः ।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः ॥ १२५ ॥

अर्थ–इस विषय में अनेक दृष्टांत हैं १-सोना (श्री समयसार गाथा १२ से, २-कमलनी का पत्ता (गाथा १४ से), ३-जल (गाथा ११ से), ४-आग (गाथा ६ से), ५-दर्पण (गाथा ८७ से), ६-स्फटिक पत्थर (गाथा २४-२५-८९ से), ७-ज्ञान (गाथा १५ से), ८-समुद्र (गाथा ८३ से), ९-नमक (गाथा १५ तथा कलश १४ पर से उद्धृत किये हैं।) इससे आपको यह भी अनुमान होना चाहिये कि यह ग्रंथ किस प्रकार श्री समयसारजी से निकाला गया है।

एकं हेम यथा नेकवर्णं स्यात्परयोगतः ।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥ १२६ ॥

अर्थ–जैसे एक ही सोना पर के सम्बन्ध से अनेक वर्ण रूप हो जाता है। उस (पर योग) को नहीं हुये के समान उपेक्षा करके केवल उस सोने को देख तो वह शुद्ध ही है।

भावार्थ–जिस प्रकार अन्य धातुओं के संयोग से सुवर्ण में अनेक प्रकार के रूप दीखते हैं परन्तु जो परसंयोग पर तथा उस पर संयोग से होने वाली सुवर्ण की अवस्थाओं पर ध्यान न देते हुए जो उस सुवर्ण को ही देखने में आवे तो वह सुवर्ण उसी समय शुद्ध सुवर्ण ही प्रतीत होता है। उसी प्रकार सोने की जगह जीव समझे, संयोगी धातु की जगह कर्म का उदय समझें। स्वर्ण की रङ्गबरङ्गी दशाओं की जगह जीव की विसदृश नौ पर्यायें समझें। अब यदि उन दशाओं को देखें तो जीव नौ रूप है पर जो उस कर्म तथा उससे होने वाली नौ नैमित्तिक अवस्थाओं को गौण करके देखें तो शुद्ध जीव उस समय प्रतीति में आता है। अनुभव में आता है। इसलिए भाई तेरे माने हुए शुद्ध जीव का अनुभव इस प्रकार इन्हीं नौ में होता है। ये भी अवश्य मान तभी शुद्ध-अशुद्ध दोनों की व्यवस्था बनेगी।

शंका–अब तक तो शिष्य उन नौ पदार्थो को मान ही नहीं रहा था और अब कहता है कि यदि हैं तो फिर हैं ही। फिर उनकी उपेक्षा कैसे कर दी जाय अर्थात् फिर उन्हें नहीं हुए के समान कैसे मान लिया जाये और फिर तो वह शुद्ध भी अशुद्ध हो जायेगा शुद्ध न रहेगा। फिर शुद्ध का अनुभव कैसे किया जायेगा। अब तक तो आचार्य महाराज उसे नौ का अस्तित्व ही सिद्ध कर रहे थे। खैर वह ज्यूं त्यूं करके इनको मानने को तैयार भी हुआ तो दूसरी अड़चन यह उत्पन्न कर दी कि यदि हैं तो फिर उपेक्षा नहीं हो सकती और शुद्ध का अनुभव नहीं हो सकता सो उत्तर में अब श्री अमृतचन्द्र गुरुदेव उसे यह समझायेंगे कि उनकी उपेक्षा कैसे की जाती है और उनमें ही शुद्ध का अनुभव कैसे किया जाता है। जब इस प्रश्न का समाधान शिष्य को संतोषजनक हो जायेगा तो वह नौ तत्त्वों को स्वीकार करेगा क्योंकि उसको जो शुद्ध इष्ट है अभी तो वह ही खत्म हुआ जाता है जिसकी उसे चिन्ता है।

न चाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात् ।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत् सत्त्वं न कुतोऽपि वा ॥ १२७ ॥

अर्थ–भाई तुझे ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये कि उस (संयोगरूप) सत् की उपेक्षा जल्दी से कैसे कर दी जावे क्योंकि उसका सत्त्व ही किस प्रमाण से सिद्ध है– किसी प्रमाण से भी नहीं। (एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अत्यन्ताभाव होने से सत्त्व किस प्रकार सिद्ध होगा ? अन्यथा दो वस्तुयें एक हो जायेंगी)।

भावार्थ–शिष्य कहता है कि गुरु महाराज आपके कहे अनुसार सोने के साथ खोट रूप से दूसरी धातु है तभी तो उसमें ऐसी रंगी-बिरंगी नाना प्रकार की अवस्थायें हो रही हैं। उसी प्रकार जीव के साथ कर्म है तभी तो उसकी विसदृश रूप नौ दशायें हो रही हैं। इस पर मैं पूछता हूं कि वह खोट रूप वस्तु और उससे होने वाली अवस्थायें तो प्रत्यक्ष हैं, उनकी उपेक्षा कैसे कर दी जाय अर्थात् उसे कैसे न देखा जाय तथा उनके रहते तो मूल वस्तु अशुद्ध है उसे शुद्ध रूप कैसे अनुभव किया ज़ाय तो उसके उत्तर में आचार्य देव कहते हैं कि जब तक तू संयोग दृष्टि से देख रहा है तभी तक तुझे वह सब कुछ दीख रहा है। अरे वस्तु स्वभाव की दृष्टि से देख। एक वस्तु में दूसरी का अत्यन्ताभाव है। एक में दूसरी की सत्ता तो किसी भी प्रमाण से नहीं हैं। यदि होती तो वह निकल कैसे भागती। दोनों द्रव्य एक हो जाते।

नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत् ।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥ १२८ ॥

अर्थ–भाई उपरक्ति के कारण उपाधिवाला वह सोना उपादेय नहीं है ऐसा नहीं है क्योंकि उस (अशुद्ध सोने) के त्यागने पर सर्व शून्यादि दोषों का प्रसंग आता है। (शुद्ध सोना ही हाथ न लगेगा)।

भावार्थ–भाई तू जो यह कहता है कि मैली अवस्था के कारण खोट वाला सोना शुद्ध स्वर्ण रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता तो कहते हैं कि यदि इसमें अभी शुद्ध स्वर्ण की प्रतीति करके इसे ग्रहण करेगा तो खोट निकलने पर यह शुद्ध ही है और यदि इसे स्वीकार नहीं करता तो बिना खोट का सर्वथा शुद्ध सोना तो अनादि शुद्ध कोई है ही नहीं। बस तो जा तुझे सोना ही न मिलेगा तू कोरा ही रह जायेगा। उसी प्रकार यदि तू यह कहे कि विकार के कारण प्रत्यक्ष इस संसारी आत्मा की शुद्ध रूप से कैसे श्रद्धा कर ली जाय तो भाई सर्वथा अनादि शुद्ध तो कोई है

ही नहीं, इसको तू शुद्ध रूप से श्रद्धा करना चाहता नहीं, बस तो जा तू अभव्य है तुझे आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी। अरे द्रव्य दृष्टि से देख यह शुद्ध ही है। इसी को शुद्ध की श्रद्धा करके ग्रहण कर अन्यथा कोरा रह जायेगा। तुझे आत्मा ही न मिलेगा।

न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥ १२९ ॥

अर्थ–यह बात भी परीक्षा करने से सिद्ध नहीं हो सकती कि जिस समय सुवर्ण, पर्याय से शुद्ध है, उस समय ही वह शुद्ध है और अब द्रव्य रूप से शुद्ध नहीं है कारण कि शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति न होते उसकी प्राप्ति के कारण का भी अदर्शन सिद्ध होता है।

भावार्थ–यह बात भी परीक्षा के योग्य नहीं है कि जिस समय सोना पर्याय में शुद्ध है उस समय ही वह शुद्ध है अब नहीं। ऐसा मानने से शुद्ध सोने का प्रतिभास भी न हो सकेगा क्योंकि शुद्धता में कारण अशुद्धता है। अशुद्धता में ही शुद्धता का प्रतिभास होता है। *अशुद्धता का अदर्शन (लोप) होने पर शुद्ध का भी लोप हो जायेगा।* खान में से जो सोना निकलता है वह पर्याय से शुद्ध होता नहीं है किन्तु मिट्टी के संयोग सहित होता है, फिर भी ''उसमें शुद्ध स्वर्ण सदा शक्तिपने रहता है'' ऐसा जो न स्वीकारे उसको शुद्ध पर्याय वाला सोना नहीं मिल सकेगा। इसी को शुद्ध सोना प्रतीति करने से खोट निकाल कर शुद्ध किया जा सकता है। और कोई उपाय नहीं है। उसी प्रकार यदि तू यह कहे कि शुद्ध तो सिद्ध आत्मा ही है। यह तो सर्वथा अशुद्ध है। उसे मैं ग्रहण नहीं कर सकता। बस भाई सर्वथा शुद्ध तो है नहीं और शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का कारण जो यह आत्मा है इसे तू द्रव्य रूप से अभी शुद्ध श्रद्धान करना चाहता नहीं बस तो भाई जा तुझे आत्मा ही न मिलेगा। अरे इसी को स्वभाव से शुद्ध श्रद्धा कर फिर देख इसमें से अशुद्धता कैसे निकल भागेगी और यही शुद्ध हो जायेगा। अशुद्धता तो संयोगी हैं। अभूतार्थ हैं। मूल मेटर शुद्ध हैं। अभूतार्थ का अस्तित्व मूल मेटर में किसी प्रमाण से नहीं है।

यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥ १३० ॥

अर्थ–जब उसकी वर्णमाला में केवल सोना लक्ष में लिया जाता है। पर उपाधि लक्ष में नहीं ली जाती तो प्रत्यक्ष प्रमाण से अपना इष्ट वह शुद्ध सोना तुरन्त प्रतीति में आ जाता है।

भावार्थ–भाई तू जो यह कह रहा है कि अशुद्ध की शुद्ध रूप कैसे श्रद्धा कर लूं तो हम कहते हैं कि तू सोने में उपाधि से होने वाली पर्यायों को क्यूं देख रहा है। पर्यायदृष्टि से मत देख, वस्तु दृष्टि से देख तो तुझे सब की सब वर्णमाला में उसी शुद्ध सोने का प्रत्यक्ष अनुभव होगा। अरे उसी प्रकार इस जीव को बद्धावद्ध दृष्टि से मत देख, द्रव्य दृष्टि से देख, पारिणामिक स्वभाव को देख, तुझे अभी शुद्ध के दर्शन होंगे।

ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेऽपि वस्तुतः ॥ १३१ ॥

अर्थ–इसलिये यह सिद्ध हो गया कि जैसे सोना पर योग के बिना (पर्याय में) शुद्ध है वैसे ही उसकी वर्णमाला में भी अन्य का योग होने पर भी वस्तुपने से अब भी वैसा ही शुद्ध है यह भी सिद्ध हो गया।

भावार्थ–अरे जैसा सौ टंच का सोना सराफ की अलमारी में रखा है ठीक वैसा ही पर वस्तु का संयोग होने पर भी यह भी सौ टंच का ही है। न होता तो वैसा हो कैसे जाता। उसी प्रकार भाई जैसा शुद्ध आत्मा सिद्ध में है। वैसा ही तू अब भी है। अरे है। नौ के नौ परिणामों में यह सदा एक जैसा शुद्ध ही है। न होता तो हो कैसे जाता। होना तो केवल पर्याय दृष्टि से है। वस्तु तो अभी मुक्त रूप ही है। शुद्ध ही है।

प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टांतभूमिषु ।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥ १३२ ॥

अर्थ–यह ही प्रक्रिया साध्य अर्थ के अविरोधपने से साधन से सुशोभित सब दृष्टांत भूमियों में लगा लेनी चाहिये।

भावार्थ–और जो आठ दृष्टांत हैं उनमें भी एकमूल पदार्थ है। एक संयोगी पदार्थ है। उस संयोग के कारण मूल पदार्थ की बिगड़ी हुई दशायें हैं। इसी प्रकार उन सब दशाओं की उपेक्षा करके वह मूल पदार्थ देखा जाता है। अर्थात् उन पदार्थों की बिगड़ी दशायें भी हैं और उनमें ही वह मूल शुद्ध पदार्थ भी है। दोनों हैं। जिस प्रकार सोने के दृष्टांत के साथ आत्मा को दृष्टान्त बनाकर घटाया था उसी प्रकार इन आठ दृष्टांतों में भी घटा लेना चाहिये क्योंकि हमारा साध्य जो नौ पदार्थ और शुद्ध आत्मा है उनके लिये ये दृष्टांत बराबर अनुकूल साधन हैं। इनसे नौ पदार्थों की और उनमें रहने वाले शुद्ध आत्मा की सिद्धि तेरी समझ में बराबर आ जायेगी जिसके लिये इतने दृष्टांतों का प्रयोग किया गया है।

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रलः ॥ १३३ ॥

अर्थ–जैसे कमलनी का पत्ता पानी में ही पाया जाता है। पानी में डूबा हुआ होने पर भी कमलनी का पत्ता पानी रूप नहीं है। उससे अस्पृश्य स्वभाव होने से वस्तु रूप से पत्ते में पानी नहीं है। उसी प्रकार यद्यपि जीव नौ तत्त्व में ही पाया जाता है पर परसंयोग-वियोग पूर्वक होने वाले व्यवहार नय के विषयभूत नौ पदार्थों से शुद्ध दृष्टि की अपेक्षा से जीव तत्व भिन्न है इसलिये नौ को मानकर फिर उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया जाता है।

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम् ।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥ १३४ ॥

अर्थ–जैसे पानी कीचड़ में ही पाया जाता है तो भी कीचड़ सहित पानी में पानी देख, कीचड़ नहीं। उस अवस्था में भी कीचड़ रहित पानी शुद्ध देखा जाता है। उसी प्रकार यद्यपि जीव नौ तत्वों में ही पाया जाता है तथा नव तत्वों में एकमेक जैसा मालूम पड़ता है परन्तु शुद्ध जीव इन नौ तत्वों से भिन्न है। इसलिये नौ को मानकर फिर उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया जाता है।

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन् ।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥ १३५ ॥

अर्थ–जैसे अग्नि तृण, कण्डा, कोयला, लकड़ी आदि आकारों में ही पाई जाती है तथा अग्नि तृण आदि (तिनके) को जलाती हुई उपचार से 'तृणाग्नि' कहलाती है। वास्तव में तो अग्नि तृण नहीं है, तृण अग्नि नहीं है। अग्नि अग्नि है–तृण तृण है। इसी प्रकार जीव भी नव तत्वों में देखने में आता है परन्तु वह वस्तुतः नव तत्वरूप नहीं हो जाता है। जीव जीवरूप है। नौ तत्व नौ तत्व रूप हैं। इसलिये नौ को मानकर फिर उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया जाता है।

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥ १३६ ॥

अर्थ–जैसे दर्पण में मोर की निकटता से प्रतिबिम्ब है। उस समय उस अवस्था में भी दर्पण में मोर कहाँ ? उसी प्रकार जीवादिक नौ तत्व जीव की नव अवस्थायें हैं पर वे वास्तविक त्रिकालिक जीव स्वरूप नहीं हैं। इसलिये नौ को मानकर फिर उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया जाता है।

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि ।
अर्थात्सोऽपि विकारश्चावास्तवस्तत्र वस्तुतः ॥ १३७ ॥

अर्थ–जपा पुष्प की निकटता से स्फटिक पत्थर में विकार होता है। वास्तव में उस पत्थर में वस्तुपने से वह विकार अवास्तविक है। उसी प्रकार जीवादिक नौ तत्वों में जीव का प्रतिभास होता है पर वह वास्तविक नहीं है परन्तु केवल व्यवहार दृष्टि से है–शुद्ध दृष्टि से नहीं है। शुद्ध दृष्टि से तो जीव तत्व अद्वैतरूप ही है। उसमें इन नौ अवस्थाओं का प्रतिभास प्रतीत नहीं होता। इसलिये नौ को मानकर फिर उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया जाता है।

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम् ।
नार्थाज्ज्ञानं घटोऽयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥ १३८ ॥

अर्थ– ज्ञान ज्ञेयाकारों में ही पाया जाता है। और ज्ञान घट को जानता हुआ घट ज्ञान कहलाता है पर पदार्थ रूप से ज्ञान इस घड़े रूप नहीं हो जाता है। ज्ञान ज्ञानरूप है। घड़ा घड़ा रूप है। उसी प्रकार जीव, व्यवहार नय से नव पदार्थमय कहलाता है। परन्तु शुद्ध दृष्टि से वह नव पदार्थमय नहीं है। नौ पदार्थ नौ पदार्थ रूप है, जीव-जीव रूप है। इसलिये नौ को मानकर फिर उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया है।

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा ।
नार्थदैक्यं तदात्वेऽपि पारावारसमीरयोः ॥ १३९ ॥

अर्थ–जैसे वायु से प्रेरित लहरों वाला समुद्र है। उस समय भी पदार्थरूप से समुद्र और वायु में एक पदार्थपना नहीं है। उसी प्रकार जो कि जीव परद्रव्य के संयोग-वियोग पूर्वक होने वाले नव पदार्थमय कहलाता है तो भी वह परद्रव्यमय नहीं हो जाता परन्तु शुद्धनय से वह शुद्ध ही रहता है। इसलिये नौ को मान कर फिर उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया जाता है।

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयं ।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यन्नानेकरसं यतः ॥ १४० ॥

अर्थ–नमक की डली पदार्थ रूप से स्वयं सम्पूर्णतया एक रस है वह नाना प्रकार के शाकों में मिली हुई वस्तुरूप से अनेक रस रूप नहीं हो जाती। उसी प्रकार जीव स्वयं ही अद्वैतरूप होकर सब अवस्थाओं में चिदात्मक ही है। वह पर द्रव्य के संयोग-वियोग पूर्वक होने वाले जीवादिक नौ तत्वों में विमिश्रित होकर भी अशुद्ध-द्वैतरूप नहीं हो जाता इसलिये नौ को मानकर फिर उनकी उपेक्षा करके शुद्ध का अनुभव किया जाता है।

इति दृष्टांतसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत् ।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥ १४१ ॥

अर्थ–ऐसे दृष्टांत युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से अपना इष्ट सिद्ध हो गया कि ये नौ पदार्थ-पदार्थ रूप से अवश्य कहने चाहिये। अर्थात् आत्मा की इन नौ पर्यायों का अवश्य निरूपण करना चाहिये। क्योंकि इन्हीं में तो सम्यक्त्व का विषयभूत सामान्य जीव का अनुभव किया जाता है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने नौ पदार्थों में वाच्यता सिद्ध की।

अगली भूमिका–पहले १०१ से १०३ तक नौ पदार्थों का अस्तित्व बतलाया। १०४ में शिष्य ने उसे मानने से इन्कार कर दिया तो १०५ से १०९ तक उनका अस्तित्व सिद्ध किया। फिर शिष्य ने ११० से ११७ तक संदिग्ध रूप से उनका अस्तित्व स्वीकार करते हुये उनमें अवाच्यता सिद्ध की। उसके उत्तर में ११८ से १४१ तक उन में वाच्यता सिद्ध की तथा उनकी सार्थकता भी बतलाई कि ये जीव के विशेष हैं। इन्हीं में वह सामान्य पाया जाता है जो सम्यक्त्व का विषय है। उपादेय तो वही है यह हेय है यह तो ठीक पर वह उपादेय रहता तो इन्हीं में है। अतः मानना तो इन्हें भी पड़ेगा। सम्यक्त्व का विषय न सही, ज्ञान का विषय तो है ही। ज्ञानियों के ज्ञेय तो हैं ही। अतः भाई इन्हें अवश्य मान। आचार्य अमृतचन्द्रजी नौ पदार्थों में वाच्यता सिद्ध कर रहे हैं क्योंकि उन्हें विशेष जीव का कथन करना इष्ट है। यह विषय चल रहा है। विषय लम्बा-लम्बा चलने के कारण अनुसंधान को कभी नहीं भूलना चाहिये अन्यथा आप तत्त्व का रहस्य न पा सकेंगे। यहाँ तक तो पिछली बात पूरी हुई। अब शिष्य कहता है कि अच्छा महाराज यह है भी और इनमें शुद्ध रहता भी है यह तो ठीक पर श्रीसमयसारजी में इनको हेय तो कहा है। आप भी पहले नं. १०५ की प्रथम पंक्ति में इनकी हेयता स्वीकार कर चुके हैं। और अब भी कर रहे हैं। जिस प्रकार हवेली में से कूड़ा बाहर फेंकते हैं उसी प्रकार ये तो शुद्ध जीव में कूड़ा है। हमें हवेली में तो रहना है। कूड़े को जानकर क्या करेंगे। पहले जानें फिर इनकी उपेक्षा करें यह व्यर्थ की सरदर्दी नहीं तो और क्या है ? अतः मेरी राय में तो इनका कहना व्यर्थ-सा ही है। इस प्रकार वह पुनः इनमें अवाच्यता कहेगा और गुरुदेव फिर इनमें वाच्यता सिद्ध करेंगे। शिष्य पक्का निश्चयाभासी है। ऐसा शुद्ध का नशा चढ़ा हुआ है कि नौ पदार्थों की बात सुनना ही नहीं चाहता। कहता है शुद्ध की बात करो -अशुद्धता की क्या कथा ?

दूसरी बार नौ पदार्थों में वाच्यता की सिद्धि १४२ से १४४ तक

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहद्वक्तव्यानि पदानि न ।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥ १४२ ॥

अर्थ–किन्हीं के द्वारा मोह से ऐसी कल्पना की जाती है कि ये नव पद कथन करने योग्य नहीं हैं क्योंकि ये (सर्वथा) हेय हैं और उनसे सर्वथा भिन्न शुद्ध है।

भावार्थ–(१) आचार्य महाराज ने जो नौ पदार्थों को और शुद्ध तत्त्व को कथंचित् भिन्न कहा, शिष्य ने उनको सर्वथा प्रदेश भेद से ही भिन्न समझ लिया (२) दूसरी भूल उसने यह की कि आचार्य महाराज ने दृष्टि की अपेक्षा हेय कहा था। ज्ञान के ज्ञेय की अपेक्षा नहीं उसने सर्वथा हेय समझ लिया और इन दो भूलों के आधार पर वह कहता है कि वे नौ पद सर्वथा भिन्न हैं तथा सर्वथा हेय हैं। उनको कह कर क्या करोगे ? अर्थात् उसने नौ पद में फिर अवाच्यता सिद्ध की।

तदसत् सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः ।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥ १४३ ॥

अर्थ–यह ठीक नहीं है। इनका सर्वथा त्याग प्रमाण से असिद्ध है क्योंकि उनसे सर्वथा भिन्न शुद्ध की अनुपलब्धि है।

भावार्थ–आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि उनका प्रदेश भेद नहीं है जो सर्वथा त्याग हो सके और शुद्ध का भी उनसे भिन्न प्रदेश नहीं है जो वह ग्रहण किया जाय। वस्तु एक ही है केवल मुख्य गौण की बात है।

नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत् सर्वतो हेयवस्तुनि ।
नांधकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥ १४४ ॥

अर्थ–दूसरी बात यह है कि सर्वथा हेय वस्तु में तो अवश्य वाच्यता सिद्ध नहीं होती किन्तु ये नव पदार्थ सर्वथा हेय नहीं हैं। जिसने कभी अन्धकार में प्रवेश नहीं किया उसको प्रकाश का अनुभव लेशमात्र भी नहीं हो सकता। उसी प्रकार जिसको नौ तत्त्व का ज्ञान नहीं है; उसको शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि वह इन नौ में ही तो पाया जाता है।

भावार्थ–आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि सर्वथा हेय नहीं हैं। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा हेय हैं। ज्ञान के ज्ञेय हैं। जानने योग्य हैं क्योंकि नौ तत्त्वों के ज्ञान बिना शुद्ध तत्त्व का किसी को भान नहीं हो सकता ऐसा अविनाभाव है। और जाने बिना शुद्ध का श्रद्धान गधे के सींगवत् है। इसी बात में दृष्टांत भी देते हैं कि जिसको अन्धकार का ज्ञान नहीं, उसे प्रकाश का ज्ञान तीन काल में नहीं हो सकता। अतः ये तत्व अवश्य जानने योग्य हैं अतः कथन करने योग्य भी अवश्य हैं। इस प्रकार दूसरी बार गुरुदेव ने उनमें वाच्यता सिद्ध की।

१४२ से १४४ तक का सार– सर्वथा हेय पदार्थ के कहने से अवश्य कोई भी प्रयोजन नहीं सरता । जो जीवादिक नौ पदार्थ सर्वथा हेय होते तो उनमें अवश्य वाच्यता (कथनयोग्यपना) सिद्ध न होता, परन्तु वे सर्वथा हेय नहीं हैं पर 'भावसापेक्ष अनुपादेय' हैं अर्थात् शुद्धता से विरुद्ध जीव की अशुद्ध पर्याय रूप जीवादिक नौ पदार्थ हैं इसलिए जैसे अन्धकार बिना प्रकाश का अनुभव नहीं होता है उसी प्रकार अशुद्धता की अपेक्षा बिना शुद्धता की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। इसलिये जीवादिक नौ पदार्थों में वाच्यता अवश्य सिद्ध होती है। सारांश यह है कि जैसे प्रकाश का अनुभव अंधकार के अनुभव की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार शुद्धात्म का अनुभव नव तत्त्वरूप अशुद्ध आत्मा की दशा के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। इसलिए नौ पदार्थ में सर्वथा हेयता नहीं है। इन नौ पदार्थों को त्यागने योग्य कहा है और शुद्ध आत्मा उपादेय कहा है। अब जो ये नौ पदार्थ सर्वथा हेय हैं यह मानने में आवे तो उसका आश्रय छोड़कर अर्थात् उनका अनादर करके आत्मा के त्रैकालिक शुद्धस्वरूप का आश्रय-आदर करने का उपदेश किस प्रकार बन सकेगा? जो मनुष्य अन्धकार में ही न होवे उसको प्रकाश में आने को नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जो अशुद्ध नौ पदार्थों के आश्रय रूप अज्ञान अंधकार में जीव अनादि काल से न होवे तो जीव को उन नौ पदार्थों में रहने वाले सामान्य शुद्ध जीव रूप प्रकाश का आश्रय लेने का उपदेश नहीं दिया जा सकता। इसलिये ये नौ पदार्थ सर्वथा हेय नहीं हैं किन्तु ज्ञान करने योग्य हैं। इसलिये वे अवश्य कहने योग्य हैं।

शंका–अब शिष्य कहता है कि अच्छा यह तो आप भी मानते हैं कि ये सम्यक्त्व का विषय नहीं है। अतः अकिंचित्कर हैं [जो वस्तु कुछ काम न आये । अप्रयोजनभूत हो उसे अकिंचित्कर कहते हैं] अकिंचित्कर वस्तु हो

भी, फिर भी उसके उपदेश से क्या लाभ ? उसने फिर नौ तत्त्वों में अवाच्यता सिद्ध की। उत्तर देते हैं कि ये सर्वथा अकिंचित्कर नहीं हैं किन्तु ये नौ साधन हैं शुद्ध तत्व साध्य है। साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती। इनके बिना माने तुझे शुद्ध की भी प्राप्ति न होगी। क्योंकि वह इन्हीं नौ में तो रहता है। यही तो उसकी प्राप्ति के साधन हैं। पर्याय के ज्ञान बिना पर्यायी को कोई नहीं जान सकता।

तीसरी बार नौ पदार्थों में वाच्यता की सिद्धि १४५-४६

शंका समाधान १४५-१४६

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिंचित्करत्वतः ।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥ १४५ ॥

अर्थ–इन नौ पदार्थों में अकिंचित्करपने से अवाच्यता नहीं है क्योंकि वे सार्थक (प्रयोजनभूत) हैं। और नौ के नौ पदार्थपने से अवश्य कहने योग्य हैं। क्योंकि

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥ १४६ ॥

अर्थ–उनसे सर्वथा भिन्न शुद्ध की सिद्धि नहीं है। वह इस प्रकार के उस (शुद्ध) के साधन का अभाव होने से अप्राप्ति है अर्थात् ये नव पदार्थ साधन हैं, शुद्ध साध्य हैं क्योंकि इन नौ पदार्थों में ही वह अन्वय रूप से पाया जाता है। इसलिये ये प्रयोजनभूत होने से वाच्य हैं। जानने और कहने योग्य हैं अन्यथा तुझे शुद्ध की भी प्राप्ति न होगी । कोरा रह जायेगा।

अगली भूमिका–अब तक तो शिष्य शुद्ध और नौ तत्त्व दोनों के प्रदेश ही भिन्न मान रहा था। अब एक मानता है पर फिर भी भूल करता है। वह इस प्रकार कि हम तो द्रव्य में शुद्ध मानते हैं पर्याय में वर्तमान अज्ञान रूप परिणमित मानते हैं। वह इस सापेक्षता को न समझ कर शुद्ध को भी व्यक्त मानता है और अशुद्धता को भी व्यक्त मानता है अर्थात् शुद्ध-अशुद्ध दोनों द्रव्य और पर्याय में एक समय न मानकर शुद्ध-अशुद्ध दोनों एक साथ व्यक्त (प्रकट) पर्याय रूप सर्वथा भिन्न-भिन्न मानता है। सामान्य शुद्धता को समझा ही नहीं। श्री समयसारजी में आया है कि विकार रूप नौ तत्त्व स्वभाव के ऊपर तरते हैं। वहाँ से शिष्य को भूल हुई है। उसका अर्थ तो यह था कि मूल पदार्थ में विकार होने पर भी, वह विकार उस मूल वस्तु से ऐकमेक नहीं हो जाता। मूल वस्तु का मूल स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता । दोनों का एक द्रव्य नहीं हो जाता। तादात्म्य नहीं हो जाता किन्तु विकार रूप एक समय के लिये वस्तु का परिणमन है, स्वभाव के आश्रय से तुरन्त नष्ट हो जाता है, क्षणिक है, यह ऊपर तरने का अर्थ है न कि केवल ज्ञान दर्पणवत् है और विकार ऊपर धूलीवत् पड़ा है। या पानी पर काईवत् सर्वथा भिन्न है ऐसा नहीं है किन्तु जैसे स्फटिक मणि का कालापन है या पानी में गर्मी है ऐसा है, गर्मी हटते ही पानी ठण्डे रूप परिणमता है। वैसे विकार मिटते ही केवल ज्ञान रूप परिणमता है यह ऊपर तरने का अर्थ है। जैसे स्वभाव से स्फटिक माणि उसी समय शुद्ध है, पानी उसी समय ठण्डा है, उस प्रकार स्वभाव से आत्मा उसी समय केवल ज्ञानी है, शुद्ध है। यह शुद्धता का और विकार का अर्थ है। इसी भूल के आधार पर उसकी शंका है।

चौथी बार नौ पदार्थों में वाच्यता की सिद्धि १४७ से १५७ तक

शंका १४७-१४८

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योतं निरामयम् ॥ १४७ ॥

शंका–उन नौ पदार्थों से सर्वथा भिन्न शुद्ध तत्त्व है। वह सम्यक्त्व का विषय है। जीव का निज स्वरूप है। नित्य प्रकाशमान (प्रगट) है और निरामय अर्थात् सब प्रकार के विकार से रहित है।

भावार्थ–हम तो ऐसा मानते हैं कि केवल ज्ञान इस समय शक्ति रूप से है। पर्याय में उसी का अज्ञान रूप परिणमन है पर श्वेताम्बर आम्नायवाले या कुछ दिगम्बर निश्चयाभासी ऐसा मानते हैं कि केवल ज्ञान अभी मौजूद है।

शास्त्र में बादल का दृष्टांत आता है। हम तो समझते हैं कि वह ज्ञान की शक्ति को रोकने का दृष्टांत आता है। पर वे लोग ऐसा समझते हैं कि वह केवल ज्ञान साक्षात् विद्यमान है ऊपर बादलवत् कर्म है। हम तो कहते हैं कि कर्म हटते ही केवल ज्ञान रूप परिणत हो जाता है। वे कहते हैं कि कर्म हटते ही दीखने लगता है। पर यह भूल है केवल ज्ञान तो पर्याय है। कहीं एक समय में दो पर्यायें नहीं होतीं। यहाँ शंकाकार इसी अभिप्राय का है वह कहता है कि सम्यक्त्व का विषय जो शुद्ध (केवल ज्ञान) है वह सर्वथा शुद्ध है। विकार उसमें रंचमात्र नहीं है। अज्ञान से - विकार से - वह बिल्कुल भिन्न है। जीव का स्वभाव है। निज स्वरूप है और जीव में सदा प्रकट प्रकाशमान रहता है। प्रकाशमान होने पर भी दीखता क्यों नहीं उसके लिये आगे और कहता है कि –

न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥ १४८ ॥

शंका चालू–उस शुद्ध स्वरूप को जगत् तब तक नहीं देख पाता है जब तक मिथ्यात्व रूप अन्धकार से व्याप्त है। ज्यों ही मिथ्या अन्धकार नाश होता है। जगत् इसको तुरन्त देख लेता है।

भावार्थ–जिस प्रकार सूर्य विद्यमान है। उसका प्रकाश भी विद्यमान है वह शुद्ध भी है। उसमें कोई विकार भी नहीं है पर जब तक ऊपर बादल है तब तक दीखता नहीं है। ज्यों ही बादल हटता है तुरन्त दीखने लगता है। उसी प्रकार वह शुद्ध तत्त्व विद्यमान है। उसका प्रकाश भी विद्यमान है वह शुद्ध भी है। उसमें कोई विकार भी नहीं है। पर उस पर मिथ्यात्व अन्धकार रूप अज्ञान का बादल छाया हुआ है उसके हटते ही तुरन्त वह शुद्ध तत्त्व दीखने लगता है। आप को मालूम होना चाहिये कि सांख्य मत द्रव्य और पर्याय की भिन्न-भिन्न शुद्धता के स्वरूप को नहीं समझता किन्तु वह सदा जीव को सर्वथा शुद्ध प्रकट-व्यक्त-प्रकाशमान मानता है और ऊपर माया का परदा मानता है। हमारा शंकाकार भी कुछ ऐसे ही विचारों का जान पड़ता है। श्वेताम्बर भी ऐसा मानता है। कुछ दिगम्बर निश्चयाभासी भी ऐसा ही मानते हैं उन सब के अज्ञान को दूर करने के लिये तथा यह स्पष्ट करने के लिये कि हमें सम्यक्त्व का विषय भूत शुद्ध स्वभाव रूप से सामान्य रूप से इष्ट है। विशेष में उसी का परिणमन नौ रूप है, इस शंका को उपस्थित किया है। द्रव्य इस समय शक्ति रूप से शुद्ध है। पर्याय में अशुद्ध परिणत है। पर्याय में तो जब शुद्ध परिणमन करेगा। तब शुद्ध होगा। एक साथ शुद्ध-अशुद्ध दोनों परिणमन नहीं रहा करते। यहाँ तो पर्याय के विशेष परिणमन को गौण करके शुद्ध अनुभव की बात है और उसी शुद्ध अनुभव का नाम सम्यक्त्व है। श्री अमृतचन्द्र गुरुदेव की बुद्धि की विचक्षणता का कमाल है। हम तो उस लेखक पर मुग्ध हैं। प्रत्येक विषय को ऐसी विद्वतापूर्वक पीसा है कि कमाल किया है। अब इसका उत्तर उसे १४९ से १५७ तक समझायेंगे।

-समाधान १४९ से १५७ तक

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्यैकपदे द्वे स्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेऽर्थतः ॥ १४९ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है अर्थात् शुद्ध-अशुद्ध दोनों एक पदार्थ के एक समय में नहीं हैं क्योंकि शुद्धत्व और अशुद्धत्व इन दोनों में विरुद्ध धर्मपना है। एक पदार्थ के एक पर्याय में शुद्ध क्रिया और अशुद्ध क्रिया दोनों एक साथ युगपत नहीं हो सकती हैं।

भावार्थ–हम आपको पहले यह समझा चुके हैं कि आत्मा में एक वैभाविक शक्ति है और उसके अशुद्ध तथा शुद्ध दोनों परिणमन क्रमशः होते हैं पहले अशुद्ध फिर शुद्ध तथा दोनों परिणमन एक साथ नहीं होते यह भी पहले बता चुके हैं। इसलिये तुम्हारी मान्यता के अनुसार शुद्ध-अशुद्ध दोनों परिणमन तो एक साथ हो ही नहीं सकते और न उनका यहाँ प्रकरण है। यहाँ द्रव्य शुद्ध पर्याय अशुद्ध से आशय है।

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥ १५० ॥

अर्थ–आत्मा की पर्याय में शुद्ध क्रिया परिणमन रूप होने पर उसी समय अशुद्ध क्रिया कैसे हो सकती है ? यदि हो सकती है तो फिर वह (शुद्ध क्रिया) नित्य क्यों न होवे ?

भावार्थ–एक शक्ति की एक समय में एक ही पर्याय तो होगी चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध। शुद्ध क्रिया तो अशुद्ध क्रिया के नाश से होती है। यदि शुद्ध क्रिया होने पर भी अशुद्ध क्रिया रहेगी तो फिर वह नित्य हो जायगी क्योंकि शुद्ध से अशुद्ध का नाश होता है पर तुम शुद्ध परिणमन होने पर भी अशुद्ध मानते हो। फिर तो वह अशुद्धता नित्य हो जायेगी।

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक् ।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसम्भवः ॥ ९५१ ॥

अर्थ–और अशुद्ध क्रिया के रहने पर बन्ध का अभाव विरुद्ध ठहरता है और उसके नित्य रहने पर मुक्ति की असम्भवता है।

भावार्थ–जब अशुद्धता नित्य रहेगी तो उसका कार्य बंध भी होता रहेगा। और बन्ध का फल संसार भी होता रहेगा फिर आप बंध का अभाव या मोक्ष का होना नहीं कह सकते। धर्म करना निष्फल हो जायेगा। सब खेल ही बिगड़ जायेगा।

ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदानन्यगतिस्तेन भावेनात्मास्ति तन्मयः ॥ ९५२ ॥

अर्थ–इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आत्मा जिस समय जिस भाव से युक्त है उस समय दूसरे भाव से युक्त न रहता हुआ आत्मा उसी भाव से तन्मय है।

भावार्थ–इसलिये आत्मा शुद्ध होगा या अशुद्ध । एक समय में एक रूप ही होगा। तथा जिस रूप होगा वह उसी का परिणमन, पर्याय, कार्य, कर्म होगा। और वह स्वयं उसका कर्ता होगा । कर्ता कर्म में अनन्यपना होगा। (श्री प्रवचनसार गाथा ८) ।

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥ ९५३ ॥

अर्थ–इसलिये जो (आत्मा) शुभ भाव से परिणत है वह शुभ ही है, जो अशुभ भाव से परिणत है वह अशुभ ही है और जो शुद्ध भाव से परिणत है वह शुद्ध ही है क्योंकि उस समय उसी भाव से तन्मय है।

भावार्थ–जैसा ऊपर कहा है आत्मा का वह परिणमन दो प्रकार का होता है। शुद्ध या अशुद्ध । अशुद्ध परिणमन के दो अवान्तर भेद हैं – (१) शुभ (२) अशुभ। शुभ में पुण्य भाव से तन्मय होता है। अशुभ में पाप भाव से तन्मय होता है। शुद्ध में निजभाव से तन्मय होता है। जिस समय जो भाव होता है आत्मा स्वयं उस समय उस भाव से परिणमित होता है । कर्ता कर्मपना है। अनन्यत्त्व है। पर्याय दृष्टि से वैसा ही है। (श्री प्रवचनसार गाथा ९)।

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम् ।
शुद्धं नवपदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥ ९५४ ॥

अर्थ–इसलिए उन नौ पदार्थों से कोई अनुपम शुद्ध भिन्न पदार्थ नहीं है किन्तु उस विकार के बिना नौ पद ही परं शुद्ध हैं। यदि नौ पदार्थ रूप परिणत आत्मा के नौ पदों को गौण करके अनुभव किया जावे तो वे नौ पद ही शुद्ध आत्मा हैं।

भावार्थ–इसलिये भाई जैसा तू कहता है कि शुद्ध व्यक्त (प्रगट) है और अशुद्धता उसके ऊपर परदेवत् है तथा शुद्धत्व अशुद्धत्व दोनों सर्वथा भिन्न हैं ऐसा नहीं है। तो फिर कैसे है? ऐसे है कि उसके शुद्ध-अशुद्ध सब परिणामों को मिलाकर जाति भेद से नौ कहे हैं। उन्हीं के नाम नौ तत्व हैं। उन्हीं का नाम अशुद्धता है। वे जीव के कर्म हैं। और यदि उन शुद्ध-अशुद्ध सब नैमित्तिक भावों को लक्ष्य में न लेकर केवल वस्तु का स्वभाव लक्ष में लिया जावे तो इस मि... क विकार (परिणमन) के विना वह वर्तमान में ही शुद्ध है अर्थात् वह इन नौ तत्त्व रूप दृष्टि में न आकर शुद्ध

रूप ही दृष्टि में आयेगा। जो नौ तत्व रूप है वही तो शुद्ध है। इसलिये वैभाविक परिणमन की अपेक्षा जीव नौ रूप है। स्वभाव की अपेक्षा से नौ ही शुद्ध जीव रूप है क्योंकि चाहे जिस पर्याय में उसका पर्याय रूप अनुभव न करके द्रव्य रूप अनुभव कर लिया जाय। इस प्रकार नौ पदार्थों की भले प्रकार सिद्धि करके अब उनसे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है यह कहते हुये विषय को संकोचते हैं:-

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम् ।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥ १५५ ॥

अर्थ-इसलिये श्री समयसारजी सूत्र १३ में तत्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन माना गया है। वे तत्व नौ जीवादिक हैं और क्रम से कथन करने योग्य हैं।

भावार्थ-यहाँ सूत्र शब्द मोक्षशास्त्र का सूचक नहीं है क्योंकि उसमें सात तत्व माने गये हैं किन्तु श्री समयसार के सूत्र १३ से आशय है जिसको ग्रन्थकार ने स्वयं अगले १५७ में स्पष्ट कर दिया है। मोक्षशास्त्र का सूत्र भी अर्थ करने से कुछ हानि तो है नहीं पर ग्रन्थकार का आशय उससे नहीं है।

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥ १५६ ॥

अर्थ-उसका कथन इस प्रकार है। पहला जीव, फिर अजीव फिर आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। ये सब पर्याय रूप हैं। जीव अजीव सामान्य, शेष विशेष, ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है।

सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥ १५७ ॥

अर्थ-ये सात पुण्य-पाप सहित वे नौ पदार्थ माने गये हैं भूतार्थ आश्रित वे वास्तव में सम्यग्दर्शन के विषय हैं।

भावार्थ १५५-५६-५७-उपर्युक्त तीनों सूत्र अक्षरशः श्री समयसार का सूत्र १३ है। अतः जो अर्थ श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने उसका किया है वह ही यहाँ लागू होता है। सो हम स्वयं अर्थ न लिख कर उसी के आधार से लिखते हैं। श्री समयसारजी में यह विषय गाथा ११ से चालू हुआ है। वह गाथा इस प्रकार है:-

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

अर्थ-व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है; ऐसा ऋषीश्वरों ने बताया है; जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से (वास्तव में) सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ-व्यवहार कहो, अभूतार्थ कहो, विशेष कहो या नौ तत्त्व कहो एक ही बात है। निश्चय कहो, शुद्ध कहो, भूतार्थ कहो, सामान्य कहो, एक ही बात है। अब आचार्य कहते हैं कि नौ तत्त्व भेद रूप हैं। इनके विचार में राग होता है। अतः इनका आश्रय सम्यग्दर्शन नहीं है किन्तु इनमें अन्वय रूप से पाये जाने वाला जो सामान्य है उसको जो कोई आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि है। क्योंकि वह अभेद रूप है। उसके आश्रय से राग नहीं होता किन्तु शुद्धभाव होता है। और सम्यदर्शन शुद्ध भाव का नाम है। यह तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव की गाथा का अर्थ है। अपने पञ्चाध्यायी के प्रकृत विषय पर आइये जिसको समझाने के लिये यह गाथा ली है (१) इस गाथा से यह स्पष्ट हो गया कि जीव सामान्य विशेषात्मक है। अतः शिष्य ने जो चार प्रश्न किये थे उनका उत्तर यह आया कि दोनों इकट्ठे हैं। फिर जो उसने यह कहा था कि शुद्ध सर्वथा भिन्न है, अशुद्ध (नौ तत्व) सर्वथा भिन्न हैं। एक को ले लिया जाय एक को छोड़ दिया जाय उसका उत्तर यह है कि प्रदेश एक ही हैं। वस्तु एक ही है अतः ऐसा नहीं हो सकता किन्तु ऐसा है कि नौ तत्त्व अभूतार्थ हैं उनका आश्रय न किया जाय किन्तु उनकी उपेक्षा करके सामान्य का आश्रय किया जाय। इस प्रकार हे शिष्य जिस शुद्ध को सम्यक्त्व का विषय माना है वह विधि इस प्रकार है। श्री पञ्चाध्यायीकार ने १०१ से १४१ तक का सब विषय इस एक सूत्र पर से निकाला है। यह सब कथन इस श्री समयसार के एक सूत्र का भाष्य है। वह इसप्रकार

कि इस श्री समयसार गाथा ११ में (१) व्यवहार की स्थापना की (२) निश्चय की स्थापना की (३) दोनों की परस्पर सापेक्षता बतलाई (४) व्यवहार को अभूतार्थ कहा (५) निश्चय को भूतार्थ कहा (६) व्यवहार के आश्रय वाले को मिथ्या दृष्टि कहा (७) निश्चय के आश्रय वाले को सम्यग्दृष्टि कहा (८) खलु लिखकर इसको नियम का रूप दिया कि सम्यग्दृष्टि तीन काल और तीन लोक में इसी प्रकार होता है। अन्य प्रकार नहीं। टीकाकार ने उस पर इस प्रकार मुहर लगाई। यहाँ शुद्ध नय कतकफल के स्थान पर है। इसलिये जो शुद्ध नय का आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये नौ तत्वों से भिन्न आत्मा के देखने वालों को व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है।" इतनी बातों का उल्लेख श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने एक सूत्र में कर दिया। इसी एक सूत्र के पेट को खोलने के लिये श्री पञ्चाध्यायीकार ने ९०१ से ९४१ तक रचना की। आप मिलाकर देख लें। इस पर शिष्य कहता है कि फिर ये नौ तत्व तो अप्रयोजनभूत हैं, अकिंचित्कर हैं, हेय हैं, अभूतार्थ हैं, व्यर्थ हैं। इसके उत्तर में श्री कुन्दकुन्द भगवान सूत्र १२ की रचना करते हैं:-

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥ १२ ॥

अर्थ-जो शुद्ध नय तक पहुंच कर श्रद्धावान हुये तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान हो गये, उन्हें तो शुद्ध का उपदेश करने वाला शुद्ध नय जानने योग्य है; और जो जीव अपरमभाव में अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

भावार्थ-आचार्य देव के उत्तर का सार यह है कि वे नौ तत्त्व आश्रय योग्य तो नहीं हैं यह तो हम तुझे सूत्र ११ में बतला ही चुके हैं पर जब तक जीव श्रुतज्ञानी है। नयों का आश्रय है तब तक जानने योग्य जरूर हैं। इतना प्रयोजन उनसे अवश्य है। केवली होने पर उनसे प्रयोजन न रहेगा। टीकाकार ने इस अर्थ पर मुहुर लगा दी है। कहते हैं "ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान् है क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्थिति है" अर्थात् केवली होने तक ही शुद्धनय का आश्रय और नौ तत्त्व ज्ञेय रूप हैं। तीर्थ का फल प्राप्त होने पर अर्थात् केवली होने पर फिर इनसे कुछ प्रयोजन न रहेगा। ठीक यही शंका समाधान हमारे नायक श्री पंचाध्यायीकार ने नं. ९४२ से ९४७ तक की है। आप मिला लें। फिर श्री कुन्दकुन्ददेव व्यवहार निश्चय अर्थात् सामान्यविशेष की सापेक्षता रखते हुए गाथा सूत्र १३ रचते हैं:-

भूयत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

अर्थ-भूतार्थ नय से ज्ञात जीव, अजीव और पुण्य-पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

भावार्थ-भाव यह है कि मुमुक्षु को दोनों धर्मों का ज्ञान हो, सामान्य का आश्रय हो और नौ पदार्थ ज्ञेय हों तो सम्यग्दृष्टि है। यह सूत्र तो हमारे नायक ग्रन्थराज के कर्ता ने अक्षरशः ज्यों का त्यों अपने पद्य नं. ९५५-९५६-९५७ में रख दिया है। इस सूत्र का अर्थ भी अमृतचन्द्र आचार्य देव ने जो किया है वह ही यहाँ समझ लें। वह इस प्रकार है-"ये जीवादिक नवतत्त्व भूतार्थनय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही है (यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थ की (व्यवहार धर्म की-नौ तत्त्वों) की प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थ (व्यवहार) नय से कहा जाता है ऐसे नवतत्त्व-जिनके लक्षण जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष हैं उनमें एकत्व प्रगट करने वाले भूतार्थ नय से एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनय रूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति जिसका लक्षण आतमख्याति वह प्राप्त होती है (शुद्ध नय से नव तत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है)। सार इस अर्थ का यही है कि नौ का नौ रूप विचार न करके उनमें अन्वय रूप से पाये जाने वाले सामान्य स्वरूप का अनुभव सम्यग्दर्शन है और ये नौ ज्ञेय हैं। ज्ञान में तत्त्व का सामान्य विशेषपना बराबर रहना चाहिये। मान्यता दोनों की रहनी चाहिये। आश्रय सामान्य का ही रहना चाहिए साथ में नौ का ज्ञान भी रहना चाहिये।"

यह खास ध्यान रखने योग्य है कि नौ पदार्थों की केवल राग सहित श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व नहीं है। इनकी राग सहित श्रद्धा तो मिथ्यादृष्टि को भी होती है। देखें हिन्दी कलश टीका पन्ना १३ की चौथी-पांचवीं लाइन ! किन्तु जब निश्चय से इन ९ पदार्थों में रहने वाले शुद्ध सामान्य का अनुभव रूप निश्चय सम्यक्त्व होता है तब व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि ९ पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यह भूतार्थाश्रित पद का पेट है। यही बात श्री समयसारजी के कलश नं. ६ में कही है कि नव तत्वों की सन्तति को छोड़कर अर्थात् 'इनकी राग सहित श्रद्धा को छोड़कर' एक (आत्मानुभव) ही हमको प्राप्त होवे ।

शंका–श्री तत्त्वार्थसूत्रजी में तो 'तत्त्वार्थश्रद्धानं' सम्यग्दर्शन कहा है?

समाधान–हाँ वह भी निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण है और उसका अर्थ भी ९ तत्त्वों में रहने वाला आत्मानुभव है। सम्पूर्ण शास्त्रों की यही एक पद्धति है और उन सब का एक ही अर्थ है।

प्रश्न – फिर केवल शुद्ध आत्मा की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहना चाहिये था। नौ को नहीं ?

उत्तर – फिर सांख्य का तत्त्व सिद्ध हो जाता। वह शुद्ध नौ तत्त्वों से सर्वथा भिन्न हो जाता । गौण मुख्य की व्यवस्था खत्म हो जाती । द्रव्य पर्याय की सापेक्षता न रहती। फिर तो जो बात शिष्य ९०४ से कहता आ रहा है वह ही सिद्ध हो जाता। उन नौ तत्त्व का मानना उतना ही जरूरी है जितना कि शुद्धता का । पर बिना शुद्ध के केवल नौ तत्त्व भी व्यर्थ है। पर्याय निरपेक्ष द्रव्य, द्रव्य निरपेक्ष पर्याय दोनों व्यर्थ हैं। श्री कुन्दकुन्द भगवान तो साक्षात् केवली के शिष्य थे। क्या कमाल से सूत्र बनाया "भूतार्थ से जाने हुये नौ सम्यक्त्व है।" नौ पर्याय का द्योतक है। भूतार्थ सामान्य शुद्ध का पर्यायवाची है। अर्थ यह है कि शुद्ध का आश्रय हो और नौ तत्त्वों का ज्ञेय रूप से ज्ञान हो तो सम्यग्दृष्टि है। वह श्री समयसार का सूत्र नं. १३ ही तो है। श्री अमृतचन्द्रजी ने यही तो अर्थ किया है।

प्रश्न – यह अर्थ श्री समयसार का है। मोक्षशास्त्र का नहीं ?

उत्तर – (१) तो क्या तुम्हारी राय में मोक्षशास्त्रकार ने द्रव्य निरपेक्ष नौ पदार्थ की पर्यायों की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है। द्रव्य निरपेक्ष पर्याय तो गधे के सींगवत् हुई। (२) नौ की श्रद्धा तो रागवाली ही होती है। सम्यक्त्व में राग का निषेध पहले निश्चय नय के प्रकरण में किया जा चुका है कि आत्मानुभूति दोनों नयों से पार है। जब तक दोनों नयों का आश्रय है तब तक मिथ्यादृष्टि है। उसका सर्वथा आश्रय छूटने पर सम्यग्दृष्टि है। मात्र नौ पदार्थों की श्रद्धा तो मिथ्यादृष्टि को भी होती है। (३) सम्यक्त्व में राग अंश का निषेध है जिसका यह आगम प्रमाण है–श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय नं. २१२।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२ ॥

अर्थ–एक अखण्ड पर्याय के जितने अंश से सम्यग्दर्शन है, उतने अंश से इस साधक के बंध नहीं है किन्तु जितने अंश से राग है (शुभ-अशुभ विकल्प है) उतने अंश से इस साधक के बन्ध होता है। सम्यक्त्व में राग मानने से वह बंध का कारण होगा और फिर रत्नत्रय मोक्ष का नहीं संसार का कारण हो जायेगा। (४) क्या किसी शास्त्र में मोक्ष मार्ग और प्रकार का है। किसी में और प्रकार है? किसी में रत्नत्रय से मुक्ति है तो क्या किसी में राग से मुक्ति है? नहीं। सब जैन शास्त्रों में चाहे वे किसी अनुयोग के क्यों न हों, मात्र शुद्ध भाव को ही रत्नत्रय कहा है। राग को नहीं। (५) जिस शास्त्र में राग को रत्नत्रय कहा हो वह जैन शास्त्र नहीं है। सर्वज्ञ भाषित नहीं है। अज्ञानियों की कल्पना मात्र है।

प्रश्न – अध्यात्म में शुद्ध भाव को रत्नत्रय कहते हैं किन्तु चरणानुयोग में तो शुभ राग को रत्नत्रय कहते हैं ?

उत्तर – यह भी आपकी धारणा सोलह आने मिथ्या है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तो चरणानुयोग का ग्रंथ है। उसमें स्पष्ट लिखा है–

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत् ॥ २२ ॥

अर्थ–जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों का श्रद्धान सदा करना चाहिये। वह श्रद्धान विपरीत अभिप्राय से रहित है और वह आत्मरूप है। आत्मरूप राग को नहीं कहते। शुद्ध भाव को ही कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञान में कहा है:–

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ ३५ ॥

अर्थ–सत् अनेकान्तात्मक तत्त्वों में जानपना करना चाहिये। वह जानपना संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित आत्मरूप है। आत्मरूप शुद्धभाव को कहते हैं। ज्ञान में भी विकल्प (राग) अंश का स्वीकार नहीं किया है। मात्र शुद्ध ज्ञान अंश को सम्यग्ज्ञान कहा है। इसी प्रकार चारित्र का लक्षण कहा है:–

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ३९ ॥

अर्थ–क्योंकि समस्त सावद्य योग के त्याग से चारित्र होता है। अतः वह सम्पूर्ण कषाय से रहित है। विशद है। उदासीन अर्थात् वीतरागता रूप है और आत्मरूप है। आत्मरूप शुद्ध भाव को कहते हैं। इसमें भी राग अंश की स्वीकारता रंचमात्र नहीं है। राग को रत्नत्रय कहीं कहा ही नहीं है।

प्रश्न – रत्नत्रय तो अखण्ड पर्याय को कहते हैं। चौथे-पाँचवें-छठे गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग भी रहता है। तो क्या एक पर्याय के खण्ड-खण्ड करके शुद्ध अंश को रत्नत्रय कहते हैं राग को नहीं ?

उत्तर – हाँ, यही बात है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक नं. २१२ से २२१ तक में स्पष्ट लिखा है कि जितने अंश में शुद्ध भाव है उतने अंश में रत्नत्रय है। जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है। पर्याय के टुकड़े करके शुद्ध अंश को ही रत्नत्रय कहा जाता है।

प्रश्न – हमने सुना है आत्मा के श्रद्धान को शुद्ध या निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं और नौ तत्त्वों के श्रद्धान को अशुद्ध या व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं ?

उत्तर – यह भी तुमने गलत सुना है। सम्यग्दर्शन में दो भेद ही नहीं हैं। वह एक ही होता है। शुद्ध ही होता है। उसके लक्षण निम्न प्रकार कई हैं; पर शुद्ध भाव के हैं। पर्यायवाची हैं।

(१) स्वपर का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है या सात तत्त्व का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है या नौ पदार्थों की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। ये पर्यायवाची लक्षण हैं। शुद्धभाव के द्योतक हैं (श्री द्रव्य संग्रह गा. ४१) में यह आत्मा का रूप है इस शब्द से स्पष्ट शुद्ध भाव लिखा है। श्री पुरुषार्थ सिद्धि. नं २२ में आत्मरूप कहा है। श्री समयसार पुण्य-पाप अधिकार में शिष्य इसे शुभ विकल्प रूप मान रहा था। श्री कुन्दकुन्ददेव ने गा. १५५ में इसे शुद्ध भाव कहा। टीकाकार ने अर्थ स्पष्ट कर दिया। एक क्या कोई जैन शास्त्र ऐसा नहीं जिसमें राग को सम्यक्त्व कहा हो) (२) आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यह शुद्ध भाव है। (श्री पुरुषार्थसिद्धि. नं. २१६)। नास्ति से श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय नं. २१५ में लिखा है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥ २१५ ॥

अर्थ–योग से प्रदेशबन्ध होता है और जो स्थिति बन्ध है वह कषाय से होता है। 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र न योग रूप है और न कषाय रूप है।' योगरूप से मन-वचन-काय की क्रियाओं का निषेध किया है क्योंकि कथन शैली चरणानुयोग की ऐसी है कि शरीर क्रियाओं का मोक्ष मार्ग में निरूपण हो जाता है। उस भूल पर कुलहाड़ा मारने के लिये नियम रूप से निषेध कर दिया है और कषाय रूप में शुभ-अशुभ विकल्पमात्र का निषेध किया है क्योंकि चरणानुयोग में शुभ विकल्पों का मोक्ष रूप से निरूपण हो जाता है उस भूल को जड़मूल से खोने के लिये नियम कर दिया है कि रत्नत्रय किसी कषाय रूप नहीं है। आचार्य देव चरणानुयोग का ग्रंथ लिख रहे थे उसमें जो-जो भूल होती थी उनके स्पष्टीकरण के लिये अन्त में २०९ से २२५ तक सब स्पष्ट कर दिया है। यह प्रकरण बड़े काम का है। बुद्धिमानों के लिये संकेत रूप से इतना लिखना पर्याप्त है बाकी मोह की बिडम्बना को कौन मिटा सकता है ? फारसी में कहा है– "अकल मन्दांरा इशारा काफी अस्त।"

नौ पदार्थों की सिद्धि समाप्त

छठा अवान्तर अधिकार

नौ तत्त्वों की सिद्धि हो चुकी। अब पहला जो जीव तत्त्व है उसका व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं क्योंकि आचार्य देव को विशेष जीव का कथन करना इष्ट है –

पर्यायवाची शब्द–(१) चेतना, उपलब्धि, प्राप्ति, संवेदन, संचेतन, अनुभवन, अनुभूति अथवा आत्मोपलब्धि इन शब्दों का एक अर्थ है चाहे वह संवेदन ज्ञान रूप हो या अज्ञान रूप हो। ये दोनों में प्रयोग होते हैं (२) शुद्ध चेतना, ज्ञान चेतना, शुद्धात्मोपलब्धि – ये पर्यायवाची हैं। ज्ञानी के ही होती है (३) अशुद्धचेतना, अज्ञानचेतना, अशुद्धात्मोपलब्धि, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना, ये पर्यायवाची हैं। अज्ञानी के ही होती है।

इस अधिकार को समझने के लिए निम्नलिखित शब्दों का परिचय आवश्यक है:

चेतना–अनन्त गुणों के अखण्ड पिण्ड को जीव या आत्मा या चेतना कहते हैं। उसके दो भेद हैं – (१) सामान्य चेतना (२) विशेष चेतना। सामान्य चेतना तो अखण्ड गुण समुदाय को कहते हैं और विशेष चेतना उसके अखण्ड परिणमन को कहते हैं। द्रव्य दृष्टि या गुण दृष्टि से जीव का लक्षण सामान्य चेतना है। इस अपेक्षा सब जीव एक प्रकार के हैं। सामान्य चेतना के अखण्ड परिणमन को विशेष चेतना या पर्याय रूप चेतना या आत्मोपलब्धि भी कहते हैं। सो जहाँ-जहाँ चेतना होगी वहाँ-वहाँ उसका विशेष परिणमन भी अवश्य होगा अर्थात् आत्मोपलब्धि प्रत्येक जीव को होगी ही होगी। पर्यायदृष्टि से यह विशेष चेतना या आत्मोपलब्धि ही जीव का लक्षण है। इस अपेक्षा जीव तत्त्व का निरूपण करना है। वह चेतना रूप परिणमन दो प्रकार का होता है अर्थात् आत्मोपलब्धि के जो भेद हैं। एक शुद्धात्मोपलब्धि दूसरी अशुद्धात्मोपलब्धि।

शुद्धात्मोपलब्धि–इसको ज्ञान चेतना भी कहते हैं। आत्मा का ज्ञान स्वभाव है। उसके ज्ञान रूप परिणमन को ही ज्ञान चेतना कहते हैं। अनादि कालीन जो ज्ञान की विपरीत अवस्था हो रही है इसकी यह बदली हुई स्वभाव रूप अवस्था है। चौथे से सिद्ध तक ये सब ज्ञानियों के पाई जाती है। इससे कर्म बन्ध रंचमात्र भी नहीं होता उल्टा पूर्वबद्धकर्मों की निर्जरा तथा आगामी बन्ध का संवर होता है। अतीन्द्रिय सुख का भोग इसका फल है। सामान्य आत्मा के संवेदन से यह प्रगट होती है।

अशुद्धात्मोपलब्धि–इसको अज्ञान चेतना भी कहते हैं। ये चेतना के विभाव परिणमनरूप है। इसमें ज्ञान का (स्वभाव का) संवेदन रंचमात्र भी नहीं होता है। आत्मा सारा का सारा उल्टा होकर विभाव परिणमन करता है और उसी विभाव का पूर्णतया तन्मयरूप संवेदन करता है। ये अज्ञानी के ही होती है तथा सब अज्ञानियों के नियम से हर समय होती है चाहे वह ग्यारह अंग तक पढ़ जाये या मुनि भी क्यों न हो जाये । इसमें अपने को विशेष रूप, पर्यायरूप अशुद्धरूप, नौ तत्त्व रूप ही संवेदन करता है। इसका फल कर्मबन्ध ही है। इसके जो अवान्तर भेद हैं – (१) कर्मचेतना (२) कर्मफलचेतना ।

कर्म चेतना–राग द्वेष मोह भाव को कर्मचेतना कहते हैं। पर की एकत्वबुद्धि को मोह कहते हैं अर्थात् द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म ही आत्मा है इस प्रकार के संवेदन को मोहभाव कहते हैं। साता के उदय से प्राप्त पदार्थों में इष्ट की कल्पना राग भाव है। असाता के उदय से प्राप्त पदार्थों में अनिष्ट की कल्पना द्वेष भाव है। इस राग-द्वेष-मोह में आत्मा अपने को सर्वस्व इसी रूप अनुभव करता है। ज्ञान स्वभाव को पूर्णतया भूला हुआ है।

कर्मफल चेतना–जीव जब-जब कर्मचेतना का भाव करता है तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से कर्म बन्ध जाते हैं। उनके फलस्वरूप जीव को इष्ट-अनिष्ट वस्तु संयोग रूप से प्राप्त होती है। उनमें किसी को अपने लिये लाभदायक मानकर सुखी होने लगता है तथा किसी को हानिकारक मानकर दुःखी होने लगता है। और उस दुःख-सुख भाव से ऐसा तन्मय होता है कि आत्मा के ज्ञान स्वभाव को पूर्णतया भूल जाता है और मैं मात्र सुख-दुःख जितना ही पदार्थ हूँ ऐसा अपने को अनुभव करने लग जाता है। सर्वांग में उस रूप का संवेदन करने लगता है। इसको कर्म फल चेतना कहते हैं।

प्रतिज्ञा ९५८-९५९

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥ ९५८ ॥

शब्दार्थ–पूर्व=सामान्य, अपर=विशेष, आयत्त=अधीन-स्वरूप, पर्यालोच=विचार, विचक्षणः=चतुर।

अर्थ–पूर्व (सामान्य) अपर (विशेष) स्वरूप के विचार में चतुर कवि (अर्थात् जीव के सामान्य विशेष स्वरूप को भली प्रकार जानने वाला आचार्य) उन नौ तत्त्वों में से अब जीव तत्त्व का व्याख्यान करता है। वह इस प्रकार है–

भावार्थ–आचार्य को अपने को चतुर कवि कहने का आशय इतना ही है कि पहले ८९६ में जीव के स्वरूप के कथन की प्रतिज्ञा की थी अब फिर उसी जीव के स्वरूप कथन की प्रतिज्ञा है। यह क्या बात है इसका उत्तर यह कि पहले जीव को द्रव्य दृष्टि से कथन का उद्देश्य था जो ८९८ से ९०० तक किया था। अब नौ तत्त्वों का प्रकरण है। नौ तत्त्वों में जीव का स्वरूप पर्याय दृष्टि से कहना है जिसकी यहाँ प्रतिज्ञा की है। उसके लिये आचार्य अमृतचन्द्रजी कह रहे हैं कि हम जीव के सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के स्वरूप को भली-भांति जानते हैं। उसमें भूल करने वाले नहीं हैं तथा कहाँ सामान्य स्वरूप का निरूपण करना है तथा कहाँ विशेष स्वरूप का निरूपण करना है इसको भी भली-भाँति जानते हैं और प्रकरण अनुसार ही निरूपण करते हैं–

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा ।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ॥ ८५९ ॥

अर्थ–पहले स्वतः सिद्ध सत् रूप जीव (सामान्य जीव) की सिद्धि भले प्रकार सिद्ध की गई अर्थात् पहले जीव का सामान्य स्वरूप कहा । अब पर्याय में उसकी साक्षात् प्राप्ति के लिये उसके प्रसिद्ध लक्षण को कहूँगा। अर्थात् द्रव्य रूप से तो जीव पहले सिद्ध किया है। अब पर्याय में वह साक्षात् कैसे प्राप्त होता है यह कहते हैं।

भावार्थ–पहले जीव तत्त्व का निरूपण प्रारम्भ करते हैं पर्यायार्थिक नय से – क्योंकि ये नौ तो पर्याय हैं। द्रव्यार्थिक नय से तो जीव पहले सिद्ध कर आये हैं। पहले सिद्ध किया गया जीव तो शक्ति रूप है। प्राप्ति-संवेदन तो पर्याय में ही होता है। इसलिये आगे कहे जाने वाले उसकी साक्षात् लक्षण द्वारा वह सब जीवों के साक्षात् अनुभव में आ रहा है। ज्ञानियों को शुद्धात्मोपलब्धि रूप से (ज्ञान चेतना रूप से) और अज्ञानियों को अशुद्धात्म उपलब्धि रूप से (अर्थात् कर्म चेतना राग द्वेष मोह रूप से और कर्मफल चेतना सुख-दुःख रूप से)।

जीव का लक्षण 'चेतना'

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात् सदेकधा ।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात् सा नाक्रमादिह ॥ ९६० ॥

अर्थ–जीव का स्वरूप चेतना है। वह सत्सामान्य की अपेक्षा से एक प्रकार की है और सत् विशेष की अपेक्षा से दो प्रकार की है। वह विशेष चेतना क्रम से है; अक्रम (युगपत) से नहीं अर्थात् अज्ञान अवस्था में अशुद्ध चेतना और ज्ञान अवस्था में शुद्ध चेतना इस प्रकार क्रमशः एक जीव के एक ही चेतना होगी। किसी भी जीव के शुद्ध-अशुद्ध दोनों चेतनायें एक साथ नहीं होतीं।

भावार्थ–चेतना ज्ञान दर्शन को कहते हैं। शेष सब गुण इस में अन्तर्भूत रहते हैं (देखिये श्री समयसारजी गाथा २९८, २९९) । वह चेतना दो प्रकार की होती है – एक गुण रूप, दूसरी पर्याय रूप । गुण चेतना को सत् सामान्य कहते हैं। इसकी अपेक्षा सब जीव एक प्रकार के हैं। इसकी अपेक्षा जीव का कथन हो चुका। उस चेतना का परिणमन दो प्रकार का होता है। अशुद्ध चेतना रूप तथा शुद्ध चेतना रूप । वह दोनों प्रकार का परिणमन क्रम से होता है। अनादि से अज्ञानी के अशुद्ध चेतना रूप परिणमन है और उसके ज्ञानी होने पर शुद्ध चेतना रूप परिणमन प्रारम्भ हो जाता है। चेतना का यह दो प्रकार का परिणमन क्रमशः होता है। एक साथ नहीं। यहाँ जीव का लक्षण पर्याय रूप चेतना है क्योंकि पर्याय दृष्टि से जीव का लक्षण कह रहे हैं। अब इन दोनों चेतनाओं का स्वरूप बताते हैं।

चेतना के भेद तथा उन भेदों का स्वरूप

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः ।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धात्मकर्मजा ॥ १९१ ॥

अर्थ–एक शुद्ध चेतना है और उससे दूसरी अशुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना आत्मा का तत्त्व है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्म से उत्पन्न होने वाली है।

भावार्थ–अनादि काल से जीव के साथ संयोग रूप द्रव्य कर्म है तथा शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादि नोकर्म भी है । जीव अनादि काल का अज्ञानी है और भेदविज्ञान को प्राप्त नहीं है। अतः उन कर्मों में जुड़ कर अपने को ही उन रूप या उनको अपने रूप समझ कर एकत्व बुद्धि कर रहा है। यह मोह भाव है। और फिर उनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है कि यह मुझे लाभदायक है, यह मुझे हानिकारक है। ऐसी कल्पना होते ही इष्ट में राग और अनिष्ट में द्वेष प्रारम्भ करता है। यह मोह राग द्वेष रूप जो चेतना का विपरीत परिणमन है। इसको कर्म चेतना कहते हैं। कर्म शब्द का अर्थ कार्य अर्थात् राग-द्वेष-मोह भाव है। तथा इन्हीं पदार्थों को अपना भोग्य कल्पना करके किसी में सुख की; किसी में दुःख की कल्पना करता है। यह सुख-दुःख का भाव कर्मफल चेतना है। कर्मफल अर्थात् कर्म के उदय से होने वाली संयोग रूप सामग्री और चेतना का अर्थ है उस सामग्री के लक्ष से सुख-दुःख रूप परिणमन । इन कर्म चेतना और कर्मफल चेतना दोनों को अशुद्ध चेतना कहते हैं। ये अज्ञानी के ही होती हैं क्योंकि मिथ्यात्व इनका मूल है। यह आत्मा और कर्म से उत्पन्न होती है इसका भाव यह है कि जब जीव अपने स्वरूप को भूल कर द्रव्य कर्म और नोकर्म में जुड़ता है तभी उपादान रूप मूल चेतना का अशुद्ध परिणमन होता है। इनमें विना जुड़े अशुद्ध परिणमन नहीं हो सकता । अतः यह चेतना आत्मा और कर्म से उत्पन्न कहलाती है। इस प्रकार अशुद्ध चेतना को करते-करते जीव का अनन्त काल बीत गया है। कोई निकट भव्य जीव सद्गुरु का समागम पाकर स्वपर का भेदविज्ञान करता है और नौ तत्त्वों में अन्वय रूप से पाये जाने वाले सामान्य का आश्रय करता है तो इस चेतना का परिणमन बदल कर रागरहित हो जाता है अर्थात् ज्ञान दर्शन का ज्ञान दर्शन रूप ही परिणमन होने लगता है। उसको शुद्ध चेतना कहते हैं। यहाँ शुद्ध का अर्थ सामान्य नहीं है किन्तु नास्ति से रागद्वेष मोह के मैल से रहित अर्थ है और अस्ति से ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन अर्थ है। इसमें कर्म का आश्रय नहीं है क्योंकि कर्म में जुड़ने की बजाए अपने पारणामिक स्वभाव में जुड़ने से यह उत्पन्न होती है। जैसा सामान्य का स्वरूप है अर्थात् जैसा आत्मा का स्वभाव है वैसा पर्याय में प्रगट हो जाता है। अतः इसको आत्मा का तत्त्व कहते हैं। क्योंकि दोनों चेतनाओं में शुद्ध चेतना पूज्य है। पर्याय अपेक्षा उपादेय है अतः पहले उसी का स्वरूप कहते हैं।

शुद्ध चेतना में भेद नहीं है इसकी सहेतुक सिद्धि

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः ।
शुद्धा शुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥ १९२ ॥

अर्थ–शुद्ध चेतना एक प्रकार की है क्योंकि शुद्ध एक प्रकार ही है। शुद्धता की उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्ध है और वह शुद्धोपलब्धि ज्ञानरूप है इसलिये उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

भावार्थ–जैसे ऊपर अशुद्ध चेतना के दो भेद बतलाये हैं उस प्रकार शुद्ध चेतना का कोई भेद नहीं है। वह चौथे से सिद्ध तक सब के एक प्रकार की ही होती है। उसमें दूसरा भेद यूं नहीं है कि स्वभाव सदा एक ही प्रकार का होता है। उसे शुद्ध इसलिये कहते हैं कि पर्याय में उसकी प्राप्ति शुद्ध रूप ही है। रागादि की तरह किसी विभाव से मिश्रित नहीं है क्योंकि वह ज्ञान का ज्ञान रूप परिणमन ही है। इसलिये एक रूप होने से शुद्ध चेतना या ज्ञान रूप होने से ज्ञान चेतना भी इसी का नामान्तर है।

अशुद्ध चेतना के दो भेद हैं इसकी सहेतुक सिद्धि

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ।
चेतनत्वात् फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥ १९३ ॥

अर्थ–अशुद्ध चेतना दो प्रकार है। वह इस प्रकार। एक कर्मचेतना। दूसरी कर्म चेतना जन्य फल का अनुभव करने के कारण कर्मफल चेतना।

भावार्थ–अशुद्ध चेतना के दो भेद तो ऊपर कह ही आये हैं। पहले जीव कर्मचेतना को जन्म देता है। उसके निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध से द्रव्यकर्म बंधते हैं। उनके फलस्वरूप इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलती है। वह सामग्री कर्म चेतना जन्य फल है। उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके अपने को सुख-दुःख रूप अनुभव करना कर्मफल चेतना है। सामान्यतया पर को करूं-करूं-करूं यह कर्मचेतना का भाव है तथा पर को भोगूं-भोगूं-भोगूं यह कर्मफल चेतना का भाव है।

शुद्ध चेतना का निरूपण १६४ से १७३ तक

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम् ।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥ १६४ ॥

अर्थ–इस ज्ञान चेतना में ज्ञान शब्द से आत्मा समझना चाहिये क्योंकि वह (आत्मा) स्वयं ज्ञानरूप ही है। और वह आत्मा इस चेतना के द्वारा शुद्ध अनुभव किया जाता है इसलिये वह ज्ञानचेतना शुद्ध कहलाती है।

भावार्थ–गुण-गुणी के भेद से आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है। अभेद से जो गुण है वह गुणी है। जो ज्ञान है वह आत्मा है। दूसरे वेदन तो अखण्ड का ही होता है। अब कहते हैं कि शुद्ध चेतना का पर्यायवाची नाम ज्ञान चेतना है। इसमें ज्ञान शब्द का अर्थ अभेद दृष्टि से आत्मा है। और वह आत्मा जैसा शुद्ध मूल जीवास्तिकाय पदार्थ है वैसा ही वह अनुभव किया जाता है। विभाव रूप मैल का लेश मात्र संवेदन नहीं है। अतः इसको शुद्ध चेतना अर्थात् अकेली आत्मा का संवेदन कहते हैं। अब बताते हैं कि यह वास्तव में क्या है–

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा ।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥ १६५ ॥

अर्थ–अर्थात् जिस समय आत्मा का ज्ञान गुण, सम्यक्त्व युक्त प्राप्त की है अवस्थान्तर जिसने, ऐसा होकर आत्मोपलब्धि रूप होता है उस समय वह 'ज्ञानचेतना' कहा जाता है।

भावार्थ–वह ज्ञान चेतना क्या चीज़ है। कोई कहता है सामान्यरूप है। कोई कहता है सामान्य के अनुभव रूप है पर वास्तव में वह द्रव्य है, गुण है, पर्याय है क्या है उसका सरल शब्दों में क्या स्वरूप है तो कहते हैं कि यह जो ज्ञान का अनादि काल का राग-द्वेष-मोह और सुख-दुःख रूप परिणमन हो रहा है यही पर्याय बदल कर ज्ञान रूप कार्य करने लगती हैं अर्थात् स्व पर को मात्र जानता ही है किसी में राग-द्वेष-मोह या सुख-दुःख नहीं करता है। केवल जैसा ज्ञानरूप आत्मा का स्वतः सिद्ध स्वभाव है बस, मात्र वही कार्य करने लगता है यही उसकी शुद्धचेतना या ज्ञानचेतना या आत्मा की प्राप्ति है। ज्ञान की यह अवस्थान्तर है अर्थात् अनादिकालीन अवस्था से भिन्न प्रकार की अवस्था है। ज्ञान की यह अवस्था सम्यक्त्व से अविनाभावी है। अतः सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय से ही प्रारंभ होती है। स्वभाव पर्याय रूप है।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥ १६६ ॥

अर्थ–वह ज्ञान चेतना निश्चय से सम्यग्दृष्टि जीव के होती है। मिथ्यादृष्टि जीव के किसी भी अवस्था में नहीं होती क्योंकि उस (मिथ्यात्व) अवस्था में उस (ज्ञान चेतना) की असंभवता है।

भावार्थ–यह नियमरूप सूत्र है और यह बताता है कि ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टि के ही होती है मिथ्यादृष्टि के कभी नहीं होती। सम्यग्दृष्टियों में भी चौथे से सिद्ध तक सब के होती है। किसी के न हो ऐसा नहीं है। ज्ञान चेतना सम्यक्तवी का प्राण है इसके बिना सम्यग्दृष्टि नहीं होता। दोनों ओर से व्याप्ति है। जो-जो समयग्दृष्टि होता है उसके ज्ञान चेतना होती ही है तथा जहाँ-जहाँ ज्ञान चेतना होती है वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व होता ही है। ऐसा नूनं शब्द का अभिप्राय है। इसमें

कुछ लोगों की ऐसी भी धारणा है-कि चौथे, पाँचवें, छठे में ज्ञानचेतना नहीं होती। सातवें से होती है वह धारणा गलत है। प्रमाणशून्य है। नीचे की पंक्ति में इसी नियम को नास्ति से पुष्ट किया है कि किसी भी मिथ्यादृष्टि के किसी भी अवस्था में ज्ञान चेतना नहीं होती यह भी नियम है। मिथ्यादृष्टि का होना - ज्ञान चेतना का न होना तथा ज्ञानचेतना का न होना - मिथ्यादृष्टि का होना दोनों ओर से व्याप्ति है। इसमें यह भूल होती है कि मिथ्यादृष्टि को ग्यारह अंग तक का ज्ञान तो हो जाता है पर ज्ञानचेतना नहीं होती। परलक्षी शास्त्र ज्ञान से या ज्ञानावरण के अधिक क्षयोपशम से ज्ञानचेतना का कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्यग्दृष्टि मेण्डक के भी ज्ञानचेतना होती है। अतः ज्ञान के क्षयोपशम से इसका कोई सम्बंध नहीं है। दूसरे यह भूल होती है कि मिथ्यादृष्टि महाव्रती मुनि भी हो जाता है। निरतिचार व्यवहार चारित्र भी पालता है। नववें ग्रीवक तक भी जाता है पर ज्ञानचेतना नहीं होती। बहिरंग चारित्र से भी ज्ञान चेतना का कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्यग्दृष्टि अविरत तिर्यंच तक के भी यह होती है। मिथ्यादृष्टि के इसका होना ही असम्भव है क्योंकि सम्यक्त्व के साथ ही इसका अविनाभाव है। फिर यह क्या है? जब जीव अपने ज्ञानोपयोग को पर से मोड़कर स्वभाव में जोड़ता है और ज्ञान का, मोह और अनन्तानुबंधी राग-द्वेष छोड़कर, ज्ञान रूप परिणमन होता है वह ज्ञानचेतना है। ऐसा भी नहीं कि ज्ञानियों को समाधि में होती हो, अन्य समय न होती हो किन्तु हर समय हर ज्ञानी के रहती ही है।

अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोऽपि यत् ।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥ १६७ ॥

अर्थ-यद्यपि मिथ्यादृष्टि के ग्यारह अंगों तक का ज्ञान होता है फिर भी इसके शुद्ध आत्मोपलब्धि नहीं है क्योंकि मिथ्यात्व कर्म का उदय है।

भावार्थ-यहाँ निमित्त रूप से यह बताया है कि ज्ञानवरणीय के परलक्षी क्षयोपशम से इसका सम्बन्ध नहीं है किन्तु दर्शनमोहकर्म से इसका सम्बन्ध है। दर्शनमोह का अभाव होने पर तो नारकी और तिर्यंच तक के हो जाती है और यदि दर्शनमोह का अभाव न हो तो ग्यारह अंग के पाठी और महाब्रती मुनि के भी नहीं होती। ज्ञान का उघाड़ ज्ञान चेतना नहीं है किन्तु जो चेतना आत्मा को विषय करती है वह ज्ञानचेतना है। इसकी दृष्टि बाहर शास्त्र व्रत इत्यादि पर रहती है। अन्तर की ओर नहीं जाती।

अवान्तर शंका

ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः ।
तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोऽन्यत्र तत्क्षतिः ॥ १६८ ॥

शंका-शुद्धात्मोपलब्धि में उपलब्धि शब्द से ज्ञान वाच्य है। यह शब्दार्थ से प्रत्यक्ष अर्थात् स्पष्ट है। इसलिए ज्ञान चेतना का घातक उसका प्रतिपक्षी ज्ञानावरणीय कर्म मानना चाहिये मिथ्यात्व कर्म को नहीं किन्तु पहले पद्य में मिथ्यात्व के उदय को उसका घातक माना है तो क्या ज्ञानचेतना में ज्ञान के अपने प्रतिपक्षी ज्ञानघातक ज्ञानावरण कर्म के सिवाय कोई दूसरे कर्म द्वारा उस ज्ञान चेतना का घात होता है?

भावार्थ-शिष्य का यह कहना कि ज्ञान चेतना शब्द तो यह बताता है कि ज्ञानावरणीय से उसका सम्बन्ध है। जितना अधिक ज्ञान का क्षयोपशम हो उतनी अधिक ज्ञानचेतना होनी चाहिये। फिर आपने पहले सूत्र में दर्शनमोहनीय के साथ उसका अविनाभाव क्यों बतलाया है?

समाधान - १६९ से १७१ तक

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः ।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥ १६९ ॥

अर्थ-ठीक है जैसे अपने-अपने घात में अपने-अपने आवरण का उदय वास्तव में मूल कारण है वैसी ही दूसरे कर्म के उदय की अपेक्षा भी कार्यकारी है यह भी असिद्ध नहीं है। वह इस प्रकार-

भावार्थ–बात असल यह है कि जब ज्ञान चेतना होती है तो ज्ञानावरणीय का भी एक खास प्रकार का क्षयोपशम होता है और दर्शन मोह का भी अनुदय होता है और उन दोनों कर्मों का अविनाभाव है तो आचार्य उत्तर देते हैं कि भाई ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम तो इसमें कारण है ही पर दर्शनमोह का अनुदय भी कारण है। दोनों बातें हैं। इस पर फिर शिष्य कहता है कि प्रत्येक गुण का आवरण भिन्न-भिन्न है। ज्ञानवरणीय ही कारण होना चाहिये दर्शनमोह नहीं, तो उत्तर दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं।

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्त्युदयक्षतेः ।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥ १७० ॥

अर्थ–जैसे जो मति-आदि ज्ञान-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं वैसे ही वह (मति-आदि ज्ञान) वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से भी होती है।

भावार्थ–जैसे ज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है वैसे ही वह वीर्यान्तराय के भी क्षयोपशम से होता है। ऐसा नियम है कि यदि इन दोनों में से एक का क्षयोपशम न हो तो ज्ञान नहीं हो सकता ।

मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा ।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥ १७१ ॥

अर्थ–जैसे आत्मा की शुद्धोपलब्धि स्व योग्य मतिज्ञानावरण आदि कर्म के अभाव से होती है वैसे ही दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के अभाव से भी होती है। अर्थात् दोनों के अभाव से होती है।

पुनः प्रकृत विषय (शुद्धोपलब्धि) चालू

किं चोपलब्धिशब्दोऽपि स्यादनेकार्थवाचकः ।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥ १७२ ॥

अर्थ–और उपलब्धि शब्द भी अनेक अर्थों का वाचक है। इसलिये ऊपर अशुद्धता के अभाव को प्रगट करने के लिये शुद्धउपलब्धि" ऐसा कहा गया है।

भावार्थ–उपलब्धि शब्द सामान्य है। उपलब्धि अशुद्धोपलब्धि भी होती है। शुद्धोपलब्धि भी होती है। अतः सम्यग्दृष्टि के उपलब्धि की बजाय शुद्धोपलब्धि कहा जाता है ताकि अशुद्धोपलब्धि का ग्रहण न हो सके।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम् ।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन ॥ १७३ ॥

अर्थ–और अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टियों के होती है। सम्यग्दृष्टियों के तो कभी-कभी (अर्थात् नीचे की भूमिकाओं में) गौणरूप से (अर्थात् ज्ञेयरूप से) उसकी सत्ता मात्र होती है (पर वे उसके स्वामी नहीं होते) और कभी-कभी (अर्थात् ऊपर की भूमिकाओं में) होती ही नहीं है।

भावार्थ–(१) सम्यग्दृष्टियों के अशुद्धोपलब्धि ऊपर की भूमिकाओं में तो होती ही नहीं। नीचे की भूमिकाओं में भी समाधि के समय में नहीं होती है। केवल असमाधि के समय में होती है वह भी ज्ञेयरूप से। यह ध्यान रहे कि ज्ञानी अशुद्धोपलब्धि के कर्ता भोक्ता कभी नहीं होते - केवल ज्ञाता ही रहते हैं। अशुद्धोपलब्धि का स्वामी तो केवल मिथ्यादृष्टि ही होता है सम्यग्दृष्टि उसका स्वामी पने से कभी नहीं होता और न सूत्र में सम्यग्दृष्टि को उसका स्वामी बताने की बात है। केवल अस्तित्व की बात है कि नीचे की भूमिकाओं में ज्ञानियों के भी उसका अस्तित्वमात्र पाया जाता है वह भी गौण रूप से अर्थात् ज्ञेयरूप से । यह खास ध्यान रखने की बात है। अशुद्धोपलब्धि का कर्ता भोक्ता स्वामीपने से तो ज्ञानी कभी होता ही नहीं। इसमें भूल न हो जाये मात्र अशुद्धोपलब्धि का अस्तित्व कहाँ तक है इसकी बात कही है।

(२) मिथ्यादृष्टि के तो ग्यारह अङ्ग के ज्ञान तक होने पर भी, महाव्रतों को धारण करने पर भी, नववें ग्रीवक जाने योग्य विशुद्ध (शुभ) परिणाम होने पर भी, एक मात्र अशुद्धोपलब्धि (अर्थात् कर्म चेतना और कर्मफलचेतना) ही होती है। और वह उसका स्वामी ही होता है । कर्ता भोक्ता ही होता है। आपको यह शंका हो सकती है कि ग्यारह अंग

पढ़ पर भी, महाव्रतों की धारण करने पर ऐसा क्यों है तो उसका उत्तर यह है कि वह पर में एकत्वबुद्धि तथा इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं छोड़ता है। अशुभ निमित्तों में छोड़ कर शुभ निमित्तों में करने लगता है। देव-शास्त्र-गुरु में करने लगता है। साधर्मियों में करने लगता है। मैं दिगम्बर मुनि हूँ । इसप्रकार शरीर की क्रियाओं में करने लगता है। अच्छा प्रवचन देता हूँ । इस प्रकार वचन क्रियाओं में करने लगता है। जीवों को मोक्षमार्ग पर लगा दूं इस प्रकार पर में करने लगता है। मैं महाव्रतों को पालने वाला हूँ इस प्रकार शुभविकल्पों में करने लगता है। मैंने शास्त्र लिखा, प्रतिमा मन्दिर बनवाए, इतने शिष्यों को ज्ञानी बना दिया । इस प्रकार देव-शास्त्र-गुरु में करने लगता है। मिथ्यात्व के रंग बहुत हैं। यह पापी अन्दर ही अन्दर किसी न किसी भेष में अपना काम करता रहता है। और जीव अज्ञानी बना रहता है। इसके अनन्तों टाइप हैं। कहाँ तक कहें। इस पापी से बहुत सावधान रहना चाहिये। मान से जीव इसमें जल्दी फंस जाता है। समाज कार्य के चक्कर में फंस कर या व्यवहार में फंस कर भी जीव इसी का रूपान्तर धारण कर लेता है। इस मिथ्यात्व का बहुत बड़ा पेटा है। एक्टर की तरह ये रूप बदला करता है और किसी न किसी रूप में जीव को लुभा लेता है। देखो तो जिनवाणी के ग्यारह अंग के पाठी और मुनि तक का पीछा नहीं छोड़ता। जीव अपने को सम्यग्दृष्टि समझता रहता है और यह पापी अन्दर ही अन्दर सूक्ष्मता से अपना काम करता रहता है। बड़ी विचित्रता है।

प्रमाण–मिथ्यादृष्टि अज्ञानचेतना का कर्ता भोक्ता ही है । इसकी प्रमाण रूप गाथा ६९ तथा सम्यग्दृष्टि ज्ञानचेतना का कर्ता भोक्ता ही है । इसकी प्रमाण रूप गाथा ७० उपस्थित करते हैं:–

श्री पंचास्तिकाय में कहा है

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं आप्पा सगेहिं कम्मेहिं ।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ६९ ॥

अर्थ–इसप्रकार अपने कर्मों से कर्त्ता भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता सान्त अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

टीका–यह, कर्मसंयुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्व गुण का व्याख्यान है। इसप्रकार प्रगट प्रभुत्वशक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा (निश्चय से भावकर्मों और व्यवहार से द्रव्यकर्मों द्वारा) कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्मा के, अनादि मोहाच्छादितपने के कारण से विपरीताभिनिवेश उत्पन्न होने से सम्यग्ज्ञान ज्योति अस्त हो गई है इसलिये वह सांत अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।(इस प्रकार जीव के कर्मसहितपने की मुख्यता पूर्वक प्रभुत्वगुण का व्याख्यान करने में आया)।

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो ।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥ ७० ॥

अर्थ–जो (पुरुष) जिनवचन से मार्ग को पाकर उपशांतक्षीणमोह होता हुआ (अर्थात् दर्शनमोह का जिसके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो गया है ऐसा होता हुआ) ज्ञानानुमार्ग में आचरण करता है (ज्ञान के अनुसरनेवाले मार्ग में प्रवर्तता है), वह धीर पुरुष निर्वाणपुर को पाता है।

टीका–यह, कर्मवियुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्वगुण का व्याख्यान है। जब यही आत्मा (जो पहले अज्ञानी था) जिनाज्ञा द्वारा मार्ग को पाकर, उपशांतक्षीणमोहपने के कारण से (दर्शनमोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के कारण) जिसको विपरीताभिनिवेश नष्ट हो गया होने से सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट हो गई है ऐसा होता हुआ, कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधिकार को समाप्त करके सम्यकपने प्रगट प्रभुत्व शक्तिवाला होता हुआ ज्ञान के ही अनुसरनेवाले मार्ग में आचरता है (प्रवर्तता है, परिणमता है, आचरण करता है), तब वह विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धिरूप अपवर्गनगर को (मोक्षपुर को) पाता है।(इसप्रकार जीव के कर्मरहितपने की मुख्यतापूर्वक प्रभुत्व गुण का व्याख्यान करने में आया)।

अशुद्ध चेतना का निरूपण सूत्र १७४ से १८२ तक ९

कर्मफलचेतना का स्वरूप

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः ।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥ १७४ ॥

अर्थ–वह अशुद्धोपलब्धि इस प्रकार है कि–उस अशुद्धोपलब्धि के समय में आत्मा सुख-दुःख आदि रूप से तन्मय (सुख-दुःखमय) हो जाता है। इस समय सब अज्ञानी जीव लोक सम्पूर्णरूप से, 'मैं सुखी हूं' 'मैं दुःखी हूँ', ऐसा मानता है।

भावार्थ–आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है। जानना उसका कार्य है। आत्मा में सुख-दुःख भाव, विकार है। यह सुख-दुःख उत्पन्न तो ज्ञानी में भी हो जाता है पर उसे आत्मस्वभाव का भान होने के कारण वह उससे तन्मय नहीं होता। ज्ञान के स्वाद को नहीं छोड़ता और उस सुख-दुःख भाव को ज्ञेय रूप से जानता रहता है। अज्ञानी की यह बात नहीं है। वह आत्मा के ज्ञान स्वभाव को भूला हुआ है। उस सुख-दुःख भाव को ही सर्वस्व समझता है। और उसमें ही अपने को ऐसा सुखी या दुःखी मानता है कि मानों सारी आत्मा ज्ञान से बदल कर उसी रूप हो गया हो। वह सोलह आने अपने को वैसा ही मानता है। सारे जगत की यही दशा है। इसका दृष्टान्त ऐसे है कि जैसे कोई बरफ के डले पर बैठकर अपने को ठण्डा रूप ही अनुभव करने लगता है या गरम वस्तु के संयोग से अपने को गरम ही मानता है। यद्यपि ठण्डा-गरम पुद्गल है, आत्मा अमूर्तिक है ऐसा नहीं हो सकता। उसी प्रकार आत्माज्ञान स्वभावी है। वह सुखी-दुःखी नहीं हो सकता पर अज्ञानी अनादि स्वभाव और विभाव के भेदविज्ञान के अभाव के कारण एकत्वरूप से ही अनुभव करता है। यह कर्मफल चेतना का वर्णन है।

कर्मचेतना का स्वरूप

यद्वा क्रुद्धोऽयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद् द्विषम् ।
न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चैतत् सुखादिवत् ॥ १७५ ॥

अर्थ–अथवा यह (मैं) क्रोधी (मानी-मायावी-लोभी) इत्यादि हूँ। इस शत्रु को अवश्य मारूंगा और अपने मित्र को नहीं मारूंगा। यह भी अशुद्धोपलब्धि में सुख-दुःखादि की तरह सिद्ध है।

भावार्थ–'मैं क्रोधी हूँ' यह पद मोह का द्योतक है क्योंकि आत्मा ज्ञायक है उसे क्रोधी मानना यह तत्त्व की भूल है। 'मारूंगा' यह द्वेष का द्योतक है, 'नहीं मारूंगा' - यह राग का द्योतक है। इस प्रकार अशुद्धोपलब्धि में मोह-राग-द्वेष का सम्पूर्णतया संचेतन होता है। इसको कर्म चेतना कहते हैं। इसमें अज्ञानी आत्मा सम्पूर्णतया राग-द्वेष-मोह से तन्मय हो जाता है। जीव को सातावेदनीय के उदय से इष्ट सामग्री का और असाता के उदय से अनिष्ट सामग्री का संयोग होता है। ज्ञानी तो वस्तु स्वभाव को जानने के कारण उसके ज्ञाता रहते हैं किन्तु अज्ञानी को भेदविज्ञान का अभाव है। वह अनिष्ट सामग्री को अपने लिये हानिकारक मानता है। और इष्ट सामग्री को अपने लिये लाभदायक मानता है। जैसे यह मेरा शत्रु है यह मेरा मित्र है यह उसका मोह भाव है। फिर जिसको अनिष्ट मानता है उसके प्रति द्वेष भाव करता है जैसे इस शत्रू को मारूंगा और जिसको इष्ट मानता है उससे राग भाव करता है जैसे इस अपने मित्र को बचाऊँगा। इसप्रकार अपने ज्ञान में मोह-राग-द्वेष के विकल्प उत्पन्न करके अपने ज्ञान स्वभाव को भूलकर उस विकल्प से ऐसा एकमेक होता है कि सोलह आने अपने को सर्वथा उसी रूप समझता है। मात्र राग-द्वेष-मोह रूप ही मैं हूँ। सर्वत्र ऐसा अनुभव करता है। मैं ज्ञायक हूँ। इसका अस्तित्व ही लोप कर देता है। यह कर्म चेतना है (श्रीसमयसार गा. ९२ टीका)। अब ये दोनों – कर्मचेतना और कर्मफल चेतना - अज्ञान चेतना रूप क्यों हैं– अशुद्धोपलब्धिरूप क्यों हैं इसका सयुक्तिक अनुभव में आने वाला कारण बताते हैं।

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात् स वेदकः ।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥ १७६ ॥

अर्थ–यह सूत्र अशुद्धोपलब्धि का है। शुद्धोपलब्धि का नहीं है। खास सूत्र है क्योंकि इस अशुद्धोपलब्धि में जो ज्ञान स्वरूप आत्मा संवेद्य (संवेदन करने योग्य) है वह ही स्वयं (सुख-दुःख का और राग-द्वेष-मोह का) वेदक (कर्ता-भोक्ता) हो जाता है। इसलिए यह उपलब्धि स्मृति ज्ञान (स्वसंवेदन ज्ञान) से भिन्न है (अर्थात् अज्ञान के संवेदन रूप है)।

भावार्थ–ज्ञायक आत्मा ही वेदक होकर अज्ञान का भोग करता है। ऐसा क्यों है ? उसका उत्तर बताते हैं कि आत्मा स्वभाव से ज्ञायक है। उसे अपना संवेदन ज्ञानरूप करना चाहिए था किन्तु वह अपने ज्ञायक स्वभाव को तथा ज्ञान संवेदन

को भूलकर राग-द्वेष-मोह और सुख-दुःख का सम्पूर्णतया तन्मय रूप से संवेदन प्रारम्भ कर देता है। इसलिये यह संवेदन ज्ञान की बजाय अज्ञान के संवेदन रूप हुआ। शुद्ध की बजाय अशुद्ध रूप हुआ, आत्मा की बजाए अनात्मा का संवेदन हुआ। आत्मा, ज्ञायक की बजाय कर्मचेतना में कर्ता बनता है और ज्ञान की बजाय राग को अपना कर्म बनाता है और कर्मफल चेतना में आत्मा ज्ञायक की बजाय भोक्ता बनता है और ज्ञान की बजाय सुख-दुःख को अपना कर्म बनता है। अतः यह चेतना ज्ञान चेतना से भिन्न प्रकार की है। यह प्रत्यक्ष है। अब इसका कारण बताते हैं–

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात् स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥ १७७ ॥

अर्थ–इस अज्ञानी जगत के यह अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है क्योंकि यह (अज्ञानी जगत्) स्वयं अपने में सुख-दुःख और राग-द्वेष-मोह के स्वाद का भले प्रकार (तन्मय रूप से) संवेदन करता है और दूसरी निश्चय नय के उपदेश (ज्ञान) के संस्कार बिना देखा जाता है।

भावार्थ–वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि यह जगत् अनादि काल से स्वयं अज्ञानी हो रहा है और अज्ञान चेतना का संवेदन करता है। वह संवेदन तब तक नहीं मिटता जब तक कि इसको किसी ज्ञानी के द्वारा निश्चय नय की देशना प्राप्त न हो और यह उस रूप परिणमन न करे। इस श्लोक में वस्तु स्वभाव से सब जगत् के अशुद्धोपलब्धि होती है यह सिद्ध किया है। अतः उपर्युक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष का परिहार किया है क्योंकि एक भी अज्ञानी जीव ऐसा नहीं जिसको इसका संवेदन न हो। अब अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है यह बताते हैं–

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः ।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥ १७८ ॥

अर्थ–छद्मस्थ ज्ञानी के ज्ञान में अथवा केवली के ज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि उन दोनों ज्ञानियों के इस अशुद्धोपलब्धि के संवेदन का अभाव है और वह भी इसलिए कि उनके केवल, ज्ञान मात्र का संवेदन है।

भावार्थ–हम पहले कह आये हैं कि चौथे गुणस्थान से सिद्ध तक किसी भी ज्ञानी के अशुद्धोपलब्धि (कर्म चेतना और कर्मफल चेतना की संवेदना) नहीं होती इसलिए उपर्युक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है क्योंकि वे सब ज्ञान चेतना मात्र का ही संवेदन करते हैं अल्प कलुषता चारित्र अपेक्षा सम्यक्दृष्टि के नीचे की भूमिका में होती है किन्तु वह उसका स्वामी नहीं है। इसलिए उसको यहाँ अत्यन्त गौण कर दिया है। अब असंभव दोष भी नहीं है यह बताते हैं।

व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥ १७९ ॥

अर्थ–व्याप्यव्यापक भाव तत्स्वरूप में ही होता है अतत्स्वरूप में नहीं होता (अर्थात् अपने में ही होता है दूसरे द्रव्य में नहीं होता) क्योंकि यह व्याप्यव्यापकपना सर्वत्र सब पदार्थों में स्वभाव से इसी प्रकार पाया जाता है।

भावार्थ–सांख्यमतियों की तरह या निश्चयाभासियों की तरह कोई ऐसा मानता हो कि अशुद्धोपलब्धि (राग-द्वेष-मोह सुख-दुःख) का संवेदन पुद्गल कर्मों में होता है अथवा आत्मा में तन्मयरूप से नहीं होता तो उसको समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि भाई ये भाव (राग-द्वेष-मोह, सुख-दुःख) चेतन रूप हैं अतः इनकी व्यापकता उसी चेतन पदार्थ में ही होती है जड़ में नहीं, क्योंकि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध उसी पदार्थ में होता है दूसरे में नहीं और उसमें तन्मयरूप से ही होता है अतन्मयरूप से नहीं। यह नियम जगत में सर्वत्र सब पदार्थों में पाया जाता है और यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है। इसमें यह सिद्ध किया कि उपर्युक्त लक्षण में असंभव दोष भी नहीं है (देखिये श्री समयसारजी कलश नं. ४९ यह ज्यों का त्यों वही कलश है।

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥ १८० ॥

अर्थ–जो (राग-द्वेष-मोह) परिणाम से तन्मय रूप क्रिया है वह अशुद्ध-उपलब्धि है। वह वास्तव में औदयिकी (कर्मों के उदय में जुड़ने से होने वाली) है इसलिये वह सदैव बन्ध करने वाली मानी गई है।

भावार्थ– ज्ञानचेतना तो स्वभाव रूप है उससे तो बंध नहीं किन्तु संवर निर्जरा होती है। कर्मचेतना से सदैव बन्ध होता रहता है।

अस्त्यंशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥ ९८१ ॥

अर्थ–यद्यपि वह अशुद्धोपलब्धि ज्ञान के आभास रूप है क्योंकि उसमें चेतन अन्वय रूप से पाया जाता है फिर भी वह ज्ञानचेतना रूप नहीं है किन्तु कर्मचेतना रूप और कर्मफल चेतनारूप है।

भावार्थ–कर्मचेतना और कर्मफल चेतना ज्ञान का ही अज्ञानरूप परिणमन है इसलिये कोई यह कहे कि उसमें ज्ञान तो है ही। बिना ज्ञान तो जड़ हो जायेगा। आचार्य कहते हैं कि ज्ञान का अज्ञान रूप परिणमन होने पर फिर उस का राग-द्वेष-मोह या सुख-दुःख रूप ही संवेदन होता है। ज्ञानरूप बिलकुल नहीं होता। वह ज्ञान नहीं ज्ञानाभास है। फिर उसको ज्ञान बिलकुल नहीं कहते किन्तु राग-द्वेष-मोह या सुख-दुःख ही कहते हैं कारण कि संवेदन पर्याय का होता है और पर्याय में वह सर्वथा अज्ञानरूप ही हो रहा है। किसी को अशुद्धोपलब्धि में ज्ञान के संवेदन का भ्रम न हो जाय अतः यह सूत्र रचा गया है।

उपसंहार

इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः ।
अस्ति साधारणी वृत्तिर्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥ ९८२ ॥

अर्थ–यह साधारण वृत्ति (अर्थात् अपने को रागी-द्वेषी-मोही और सुखी-दुःखी मानने रूप परिणति) सब संसारी जीवों के सम्पूर्णतया पाई जाती है। अतः सम्यक्त्व की कारण नहीं है। (अर्थात् सम्यक्त्व के अस्तित्व की द्योतक नहीं है किन्तु मिथ्यात्व की द्योतक है)।

अब यह कहते हैं कि शुद्ध चेतना सम्यक्दृष्टि के ही है तथा अबंधफलवाली ही है तथा अशुद्ध चेतना मिथ्यादृष्टि के ही है तथा बंधफलवाली ही है यह नियम है।

सूत्र ९८३ से ९८५ तक ३

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥ ९८३ ॥

अर्थ–केवल 'आत्मोपलब्धि' भी सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं हो सकता किन्तु यदि वह उपलब्धि शुद्ध हो अर्थात् शुद्धोपलब्धि हो) तो सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकता हैं। यदि वह आत्मोपलब्धि शुद्ध न हो (अर्थात् अशुद्ध आत्मोपलब्धि हो) तो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है।

भावार्थ–आत्मोपलब्धि तो सम्यग्दृष्टि के भी होती है, मिथ्यादृष्टि के भी होती है क्योंकि आत्मोपलब्धि के बिना तो जीव जड़ हो जायेगा। उस आत्मोपलब्धि के दो रूप हैं। एक अशुद्धात्मोपलब्धि, एक शुद्धात्मोपलब्धि क्रमशः एक अज्ञानी के होती है, एक ज्ञानी के। जो शुद्धात्मोपलब्धि है वह सम्यक्त्वरूप है। दूसरी मिथ्यात्वरूप है। इसी को अगले दो सूत्रों में शंका-समाधान द्वारा स्पष्ट करते हैं।

शंका

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन ।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥ ९८४ ॥

शंका–(१) क्या यह आत्मोपलब्धि सर्वथा अशुद्ध ही होती है या कथंचित् अशुद्ध होती है ? (२) क्या वह नित्य बन्ध करने वाली है या कहीं बन्ध करने वाली नहीं है।

भावार्थ–जहाँ आत्मा होगी वहाँ उसकी पर्याय तो होगी ही। आत्मा की पर्याय को ही आत्मोपलब्धि कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है एक अशुद्धोपलब्धि रूप पर्याय जो अज्ञानी के होती है। दूसरी शुद्धोपलब्धि रूप पर्याय जो ज्ञानी के होती है। अशुद्धोपलब्धि अशुद्ध ही होती है। उससे बन्ध ही होता है। शुद्धोपलब्धि शुद्ध ही होती है उससे बन्ध नहीं

ही होता है (बल्कि संवर निर्जरा होती है) ऐसा वस्तु स्वभाव है। इस वस्तु स्वभाव को शिष्य को समझाने के लिये उसके मुख से उपर्युक्त दो शंकायें कराई गई हैं। यह ध्यान रहे कि शुद्धाशुद्ध उपलब्धि कोई नहीं होती। ऐसा नहीं है कि मिथ्यादृष्टि के अशुद्धोपलब्धि हो, सातवें गुणस्थान से शुद्धोपलब्धि हो और चौथे-पांचवें-छठे में शुद्धाशुद्धोपलब्धि हो । तथा ऐसा भी नहीं है कि ग्यारह अंग वाले मिथ्यादृष्टि मुनि के या किसी भी पढ़े-लिखे या व्रती मिथ्यादृष्टि के कुछ अंश में अशुद्धोपलब्धि हो और कुछ अंश में शुद्धोपलब्धि हो। यह सब धारणायें गलत हैं। ऐसा भी नहीं है कि अशुद्धोपलब्धि मिथ्यादृष्टि के कथंचित बन्ध कराती है। किन्तु सर्वथा बन्ध कराती है ऐसा भी नहीं है कि सम्यग्दृष्टियों के शुद्धोपलब्धि कथंचित अबंध करने वाली हो किन्तु सर्वथा अबंध करने वाली है। उसको नियमबद्ध करने के लिए ही उपर्युक्त शंकायें कराई गई हैं।

समाधान

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना ।
अस्त्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलान्यथा ॥ ९८५ ॥

अर्थ–ठीक है (१) सम्यक्त्व के होने पर वह आत्मोपलब्धि शुद्ध है और वही आत्मोपलब्धि सम्यक्त्व के बिना अशुद्ध है (२) और उस सम्यक्त्व में बंध करने वाली नहीं है अन्यथा अर्थात् सम्यक्त्व के अभाव में वह ही बंध करने वाली है।

भावार्थ–दोनों शंकाओं के दो उत्तर दे दिये हैं। (१) शुद्धोपलब्धि सम्यक्दृष्टि ही है और बन्ध करने वाली नहीं ही है (२) अशुद्धोपलब्धि मिथ्यादृष्टि के ही है और बन्ध करने वाली ही है। ऐसा नियम कहा। अब इस नियम को शंका-समाधान द्वारा पीसते हैं तथा ऐसा ही क्यों है इसके कारण को भी स्पष्ट करेंगे।

सम्यग्दृष्टि के सामान्य का ही संवेदन है तथा मिथ्यादृष्टि के विशेष का ही संवेदन है सूत्र ९८६ से १००५ तक २०

शंका ९८६-९८७

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः ।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥ ९८६ ॥
यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै सा चेच्छुद्धा कुतो नव ॥ ९८७ ॥

शंका–(१) आपने फरमाया कि सम्यग्दर्शन शुद्धात्मोपलब्धि रूप ही है और मिथ्यादर्शन अशुद्धात्मोपलब्धि रूप ही है। परन्तु जब उन दोनों का विषय एक (आत्मा) ही है तो वह (आत्मा) शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार के विरुद्ध विशेषणों को धारण करने वाला कैसे हो जाता है ? अथवा (२) क्या सम्यग्दृष्टि जीव के नौ तत्त्वों में मात्र आत्मोपलब्धि होती है ? यदि मात्र आत्मोपलब्धि होती है तब तो ठीक है। यदि वह आत्मोपलब्धि शुद्ध है तो नौ पदार्थ कहाँ रहे? अर्थात् ''तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन'' में नौ तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। नौ तत्त्व तो विशेष रूप हैं, पर्याय हैं, अशुद्ध हैं। उनको आत्मोपलब्धि रूप तो कह सकते हैं पर शुद्धात्मोपलब्धि रूप कैसे कह सकते हैं? यदि शुद्ध कहते हैं तो नौ नहीं रहते (शिष्य नौ पदार्थों की राग सहित श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहना चाहता है। सामान्य के संवेदन रूप शुद्ध भाव को नहीं)।

भावार्थ–(१) शंकाकार कहता है कि यदि सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन दोनों का विषय एक आत्मा है तो आत्मा का स्वरूप तो एक प्रकार का है वह सम्यग्दृष्टि को शुद्ध रूप से अनुभव में आये और मिथ्यादृष्टि को अशुद्ध रूप से अनुभव में आये, यह कैसे हो सकता? अथवा यदि (२) सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन दोनों का विषय नौ तत्त्व है तो नौ तत्त्व भेद रूप हैं। अशुद्ध हैं। मिथ्यादृष्टि को वे अशुद्ध रूप से ही अनुभव में आ रहे हैं। सो तो ठीक है। यदि वे सम्यग्दर्शन का भी विषय है और तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा भी है तो महाराज उनका अनुभव मात्र आत्मोपलब्धि रूप या अशुद्ध आत्मोपलब्धि रूप कहो तो ठीक है पर आप तो सम्यग्दृष्टि के शुद्धात्मोपलब्धि कहते हैं यह कैसे हो सकता है ? जिसका विषय अशुद्ध है वह शुद्ध रूप से कैसे अनुभव में आ सकता है ? शिष्य की दोनों शंकाओं का आशय एक ही है। केवल कथनशैली का अन्तर है।

समाधान अगले सूत्र ९८८ से १००५ तक का सार

पहले प्रश्न का समाधान—शिष्य की दोनों शंकाएं मार्मिक हैं। उनका उत्तर इस प्रकार है। सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शन दोनों का विषय एक आत्मा है यह तो ठीक है। पर भाई आत्मा सामान्यविशेषात्मक है सम्यग्दृष्टि विशेष को गौण करके सामान्य का अनुभव करता है सो सामान्य के आश्रय से शुद्धात्मोपलब्धि ही होती है। मिथ्यादृष्टि को सामान्य का तो ज्ञान ही नहीं है। केवल विशेष को जानता है और उसी रूप से (अपने को पर्याय रूप से) अनुभव करता है। विशेष का अनुभव अशुद्धात्मोपलब्धि रूप ही होती है। यही इसमें रहस्य है। आत्मा, एक रूप होकर भी दोनों को भिन्न-भिन्न रूप से अनुभव में आता है। एक को राग रूप से, एक को शुद्धरूप से। तथा एक को दुःख रूप स्वाद आता है। एक को सुख रूप स्वाद आता है।

दूसरे प्रश्न का समाधान—सम्यग्दर्शन का विषय भी नौ पदार्थ है और मिथ्यादर्शन का विषय भी नौ पदार्थ है यह तो आपकी बात ठीक है (आगमप्रमाण श्री पंचास्तिकाय गा. १०७ टीका की अन्तिम पंक्ति) पर भाई सम्यग्दृष्टि उन नौ तत्त्वों को सामान्यरूप से अनुभव करता है अर्थात् उस नौ तत्व रूप विकार को गौण करके उनमें अन्वय रूप से पाये जाने वाले सामान्य शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। इसलिये उसको नौ तत्त्व शुद्ध रूप से अनुभव में आते हैं। और मिथ्यादृष्टि उनका विशेष रूप से अनुभव करता है इसलिये उसको अशुद्धरूप से अनुभव में आते हैं। इसप्रकार सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन का विषय भी एक ही रहा और वह शुद्ध-अशुद्ध भी बन गया। आगम में कहा भी है ''भूतार्थनय आश्रित नौ तत्त्व सम्यग्दर्शन का विषय है और राग सहित नौ पदार्थों की श्रद्धा मिथ्यादर्शन है'' यही उपर्युक्त श्लोकों में की गई शंकाओं का मर्म है। जो ग्रन्थकार ने आगे स्वयं स्पष्ट किया है और पहले सूत्र ९५७ में भी कह आये हैं।

समाधान सूत्र ९८८ से १००५ तक १८

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यञ्जकद्वेधाभावसद्भावतः पृथक् ॥ ९८८ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है क्योंकि सम्यग्ददृष्टि और मिथ्यादृष्टि के सदा ही एक ही आत्मवस्तु में स्वभावतः स्वाद का भेद पाया जाता है क्योंकि वहाँ उनके स्वादभेद के अभिव्यंजक (प्रगट करने वाले) जुदे-जुदे दो प्रकार के हैं वह इस प्रकार..........

भावार्थ—आत्मा सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है। सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शन दोनों का विषय वह एक आत्मा ही है। उसको सामान्यरूप अनुभव करने से वह शुद्धरूप से पर्याय में प्रगट होता है और उसका स्वाद अतीन्द्रिय सुख रूप है और विशेषरूप (नौ पदार्थ रूप) अनुभव करने से वह पर्याय में अशुद्ध रूप प्रगट होता है। उसका स्वाद रागद्वेष मोह और सुख-दुःख रूप है। इस प्रकार विषय एक ही रहते हुए भी उसकी प्रगटता दो प्रकार की है। अब इसको ग्रंथकार स्वयं स्पष्ट करते हैं।

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादुसद्विदाम् ॥ ९८९ ॥

अर्थ—(आत्म) वस्तु सामान्य स्वरूप से शुद्ध है और वही आत्मवस्तु विशेषरूप से अशुद्ध है क्योंकि (वस्तु सामान्यविशेषात्मक है)। सत् को वेदन करने वालों के (सम्यग्दृष्टियों के) वस्तु सामान्य रूप से स्वादु (मधुर-अतीन्द्रिय सुख रूप) अनुभव की जाती है।

भावार्थ—वर्तमान में ही वस्तु सामान्य स्वरूप से शुद्ध है और विशेष स्वरूप से अशुद्ध है। ज्ञानी उसके विशेष स्वरूप को गौण करके सामान्य सत् का वेदन करते हैं जो वेदन निर्विकल्प अतीन्द्रिय सुखरूप है। अज्ञानी को निश्चय नय का संस्कार न होने से तथा निश्चय का उपदेश न मिलने से, वह सामान्य को जानता ही नहीं, मात्र पर्याय रूप से अपने को अनुभव करता है। उसके फलस्वरूप मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और दुःख को भोगता है यही अब कहते हैं —

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेऽप्यनीदृशम् ।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दृङ्मोहदोषतः ॥ ९९० ॥

अर्थ–वह (शुद्ध सामान्य रूप सत्) कि जो विशेष में (अपनी नौ पदार्थ रूप अवस्थाओं में) अनुपम रूप से विद्यमान रहता है (एक-सा बना रहता है) मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अनुभव नहीं किया जाता है क्योंकि उनको भेदविज्ञान की प्राप्ति नहीं है और दृष्टि में (श्रद्धा में) दर्शनमोह का दोष है।

भावार्थ–यद्यपि मिथ्यादृष्टि की आत्मा में भी वह सामान्यस्वरूप अनुपम रूप से विद्यमान है पर विचारे को भेदविज्ञान नहीं है। सामान्य और विशेष दोनों के स्वरूप का परिचय नहीं है। अतः विशेष का ही अनुभव कर दुःखी होता है। इसका कारण भी यह है कि दृष्टि में अनादिकालीन एकत्वबुद्धि का संस्कार है।

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥ ९९१ ॥

अर्थ–अथवा वह (सत्) मिथ्यादृष्टियों के द्वारा विशेष रूप से (पर्याय रूप से–नौ पदार्थ रूप से) स्वाद लिया जाता है। इसलिये वह चेतना निश्चय से कर्मफल में और कर्म में होती है।

भावार्थ–आचार्य महाराज ने नियम बता दिया है कि विशेष का अनुभव राग-द्वेष-मोह रूप और सुख-दुःख रूप ही होता है। उसे आत्मिक सुख का स्वाद आ ही नहीं सकता ।

दृष्टांतः सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम् ।
व्यञ्जनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥ ९९२ ॥

अर्थ–दृष्टान्तः–नमक की खारी डली भोजनों में मिली हुवी है । उन व्यञ्जनों में मोहित अज्ञानियों को वह व्यञ्जन ही खारा रूप स्वाद में आता है (नमक नहीं) । [उसी प्रकार आत्मा रूप ज्ञान डली राग-द्वेष-मोह और सुख-दुःख में मिली हुवी है। अज्ञानियों को वह राग-द्वेष-मोह और सुख-दुःखरूप ही स्वाद में आता है–ज्ञान रूप से नहीं]।

भावार्थ–यह सामान्य विशेष के स्वरूप को स्पष्ट भिन्न-भिन्न दिखलाने वाला दृष्टान्त है। नमक की डली साकों में मिली है। नमक की डली का खारा स्वाद न लेकर अज्ञानी साकों का स्वाद लेता है। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वरूप राग-द्वेष-मोह और सुख-दुःख विकार में मिला है? वह उसे ज्ञान रूप स्वाद न लेकर अज्ञानरूप ही स्वाद लेता है। (श्री समयसार गा. १५)

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यञ्जनेषु वा ।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम् ॥ ९९३ ॥

अर्थ–ज्ञान को वेदन करने वालों के द्वारा, भोजनों में मिली हुवी वह एक ही नमक की डली अथवा भोजनों में नहीं मिली हुवी वह एक ही नमक की डली–खारेरूप स्वाद ली जाती है [उस प्रकार ज्ञानियों के द्वारा राग-द्वेष-मोह सुख-दुःख में मिला हुवा ज्ञान की डली रूप आत्मा या नहीं मिला हुवा शुद्ध आत्मा एक ज्ञान रूप ही स्वाद लिया जाता है]

भावार्थ–नीचे की भूमिकाओं में यद्यपि ज्ञानी का आत्मा राग-द्वेष-मोह और सुख-दुःख से मिला हुआ है फिर भी वह भेदविज्ञान और वैराग्य की शक्ति के बल से उसका उस रूप वेदन न करके ज्ञान रूप वेदन करता है और अतीन्द्रिय सुख रूप फल को भोगता है और ऊपर की भूमिकाओं में तो वह आत्मा ज्ञान के अनुभव रूप ही है। इसमें दृष्टांत भी है कि जो नमक की डली का स्वाद जानता है उसके लिये वह डली डली रूप से खाने में आये या साकों में मिला दी जावे किन्तु उसे डली के खारे स्वाद की परख होने के कारण वह उसे खारे रूप से ही स्वाद लेगा–साक रूप से नहीं।

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना ।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात् ॥ ९९४ ॥

अर्थ–इसप्रकार मिथ्यादृष्टियों के एक अज्ञान चेतना ही सिद्ध होती है क्योंकि वे उस आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुवे सब अज्ञान भावों को उलंघन नहीं करते हैं।

भावार्थ–बस ज्ञानी-अज्ञानी की यही एक विधि है। सामान्य का अनुभव करने वाला ज्ञानी। विशेष का अनुभव करने वाला अज्ञानी । अज्ञानी चाहे ग्यारह अंग तक पढ़ जाये या महाव्रतों को धार कर मुनि भी हो जाये पर जब तक उसे अपने विशेष स्वरूप का अनुभव रहेगा तब तक उनके जितने भी भाव उत्पन्न होंगे वे राग-द्वेष-मोह या दुःख-सुख

अर्थात् अज्ञानरूप ही उत्पन्न होंगे। ज्ञानभाव तो सामान्य के वेदन से ही प्रारम्भ होते हैं चाहे वह कुछ न पढ़ा हुवा नारकी या तिर्यच क्यों न हो। इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टियों के एक अज्ञान चेतना ही होती है और उनके सब भाव अज्ञान जाति के ही होते हैं।

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः ।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥ ९९५ ॥

अर्थ–इससे यह भी सिद्ध हो गया कि जब तक आत्मा के शुद्धोपलब्धि है तब तक ही सम्यक्त्व है और तभी तक ज्ञान चेतना है। यह सब अविनाभाव है।

भावार्थ–इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि जब तक जीव सामान्य का अनुभव करेगा तभी तक वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, तभी तक उसके शुद्धात्मोपलब्धि अर्थात् ज्ञान चेतना है। यदि वह सामान्य का अनुभव छोड़ देगा तो तुरन्त विशेष का अनुभव होने से अज्ञानी हो जायेगा। वस्तु स्वभाव में किसी की रियायत नहीं है। जहाँ आत्मा होगी वहाँ वेदन तो होगा ही चाहे सामान्य का हो या विशेष का। (देखिये श्री समयसारजी गाथा १७९, १८० तथा कलश नं. १२०, १२१)

एकः सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह ।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥ ९९६ ॥

अर्थ–इस जगत में केवल वह एक सम्यग्दृष्टि जीव ही ज्ञानी है उसके अतिरिक्त सब जीव मिथ्यादृष्टि और नित्य अज्ञानी माने गये हैं।

भावार्थ–आचार्य वस्तुस्वभाव का नियम बताते हैं कि बस एक सामान्य का अनुभव करने वाला ही तीन काल और तीन लोक में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है। शेष सब अज्ञानी हैं चाहे वह ग्यारह अंग तक पढ़कर परलक्षी ज्ञान का धुरंधर विद्वान् ही क्यों न हो जाये या महाब्रतों को धारण करके मुनि संज्ञा का धारी क्यों न हो जाये उससे मोक्ष मार्ग में कुछ साध्य की सिद्धि नहीं, केवल मान का पोषण है।

ज्ञान और वैराग्य की शक्ति के कारण ज्ञानियों की कोई भी
क्रिया बंध का कारण नहीं है ९९७ से १००० तक
चार इकट्ठे

क्रिया साधारणी वृत्तिर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा ।
अज्ञानिनः क्रिया बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥ ९९७ ॥

अर्थ–ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया साधारण (सामान्यरूप से) एक जैसी होती है किन्तु अज्ञानी की क्रिया बन्ध का कारण होती है और ज्ञानी की क्रिया किसी अवस्था में भी बंध की कारण नहीं है।

भावार्थ–यहाँ एक रहस्य की बात बताई है कि बहिरंग मन, वचन, काय की क्रिया से ज्ञानी का कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह तो कर्म के उदयानुसार जैसे चलती चले। ज्ञानी तो सामान्य के वेदन के कारण बन्ध रहित ही होता है। उसके उन वहिरंग क्रियाओं से कोई बंध नहीं होता किन्तु सामान्य के वेदन से निरन्तर संवर निर्जरा ही होती है और मोक्ष निकट आता है। यही तो सामान्य वेदन का फल है। बहिरंग में तो कई बार उसके पाँचों इन्द्रियों के भोग भी होते है, हों-वह तो उदय का कार्य है। ज्ञानी उन सबका ज्ञाता है। अतः उनसे उसके बंध नहीं होता और अज्ञानी की विषय कषाय की क्रिया से तो बंध होता ही है किन्तु शास्त्र प्रवचन करते समय, शास्त्र बनाते समय, व्यवहार धर्म पालते समय अर्थात् कोई भी क्रिया करते समय अपने को विशेष रूप से अनुभव करने वाले अज्ञानी के निरन्तर बंध होता ही है। उसकी कोई क्रिया संवर निर्जरा की कारण नहीं है। ऐसा वस्तु का नियम है। इसमें आध्यात्मिक रहस्य की बात यह है कि बहिरंग क्रिया तो परद्रव्य की स्वतन्त्र क्रिया है। उससे बन्ध अबंध का प्रश्न ही नहीं किन्तु फिर भी अज्ञानी की उन क्रियाओं को बंध का कारण कहा है और ज्ञानी की क्रियाओं को बन्ध का कारण नहीं कहा है। इस का रहस्य यह है कि अज्ञानी के परिणाम में उन क्रियाओं को करते हुवे पर के एकत्व, पर के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भाव रहता है। स्वामित्व का भाव रहता है और साथ में अनन्तानुबंधी कषाय की पुट रहती है। अतः बन्ध तो वास्तव में उस मोह और कषाय से होता है पर परद्रव्य पर आरोप करके यह कहा जाता है कि अज्ञानियों की क्रिया बंध का कारण

है। ज्ञानी का पर में एकत्वभाव, स्वाभित्व भाव, कर्तृत्व भोक्तृत्व भाव बिल्कुल खत्म हो चुका है। वह जानता है कि उपादान दृष्टि से वह सब क्रिया उस-उस समय की स्वतन्त्र योग्यता से हो रही है और निमित्त की दृष्टि से अघाति कर्मों का कार्य है। मेरा चेतन अमूर्तिक द्रव्य और उसका चेतन परिणमन इनसे सर्वथा भिन्न है। करना तो दरकिनार; मैं इनको छू भी नहीं सकता। शास्त्रीय भाषा में अज्ञानी की वे क्रियायें अज्ञानभावपूर्वक होती हैं अतः बंध की कारण हैं (वास्तव में वह अज्ञान भाव बंध का कारण है) और ज्ञानी की वे क्रियायें ज्ञानभावपूर्वक होती हैं अतः बंध का कारण नहीं है (वास्तव में वह ज्ञान भाव बंध का कारण नहीं है किन्तु संवर निर्जरा का कारण है ।)

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया ।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणां ॥ ९९८ ॥

अर्थ–ज्ञानियों की कर्मोदय से उत्पन्न होने वाली क्रिया बंध का कारण नहीं होती है यह तो दूर ही रहो किन्तु आश्चर्य तो यह है कि उनकी जो भी क्रिया है वह सब (क्रिया) पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के लिये ही होती है क्योंकि (कारण आगे सूत्र ९९९ में वर्णन किया है)।

भावार्थ–इस सूत्र में आचार्य देव ने सामान्य के वेदन का चमत्कारिक फल दिखलाया है कि सामान्य के वेदन वालों के बहिरंग क्रियाओं से – कर्मजक्रियाओं से आगामी बंध तो दूर रहो उस के तो उलटा ज्ञान और वैराग्य की शक्ति के बल से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हर समय होती है और मोक्ष महल निकट आता जा रहा है। ऐसा क्यों है इसका कारण दो सूत्रों में बतलाते हैं।

क्योंकि

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः ।*
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥ ९९९ ॥

अर्थ–क्योंकि ज्ञानियों के ज्ञानमय भाव ज्ञान निर्मित ही होते हैं इसलिये सम्यग्दृष्टियों की आत्माओं में अज्ञानमय भावों का अवकाश स्थान सत्ता नहीं है।

भावार्थ–आचार्य एक आश्चर्यकारक नियम बताते हैं कि सामान्य का वेदन करने वालों का प्रत्येक भाव ज्ञान जाति को उलंघन नहीं करता। अतः उनके बंध नहीं होता और संवर निर्जरा ही होती है। इसी नियम की नीचे की पंक्ति में नास्ति से और दृढ़ करते हैं कि ज्ञानी के कृष्ण लेश्या होने पर भी पाँचों इन्द्रियों के भोग होने पर भी उसका कोई भाव अज्ञान जाति का नहीं है और न हो सकता है क्योंकि अज्ञान भाव के जन्म का पर से या भोगों से संबन्ध नहीं है किन्तु अपने को विशेषरूप अनुभव करने से सम्बन्ध है और वह ज्ञानी के होता ही नहीं है। क्या कमाल का प्रकृति का नियम है। कितना आश्चर्यकारक है। पर हो, आज्ञानियों को आश्चर्य लगता है। ज्ञानी यथार्थ जानते हैं क्योंकि?

वैराग्यं परमोपेक्षा ज्ञानं स्वानुभवः स्वयम् ।
तद् द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्य जीवन्मुक्तः स एव च ॥ १००० ॥

अर्थ–परम उपेक्षा रूप वैराग्य और स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष ज्ञान – ये दोनों ज्ञानी के लक्षण हैं और वह जीवनमुक्त है।

भावार्थ–(१) परम उपेक्षा वैराग्य और स्वानुभव ज्ञान सामान्य के संवेदन को ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और उसके अविनाभावी चारित्र गुण में अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से जो पर पदार्थों के प्रति परम उपेक्षा भाव उत्पन्न हो जाता है उसको वैराग्य कहते हैं। यह ज्ञान और वैराग्य ही ज्ञानी का लक्षण है जो अनन्त काल से बद्ध कर्मों को अल्प समय में ही काट देता है और आगे बंध नहीं होने देता। इस शक्ति से पूर्व बद्ध कर्म अपना फल दे-देकर निर्जीर्ण होते रहते हैं। और आत्मा हलका-फुलका होकर शीघ्र अपने पूर्ण रूप को प्राप्त कर लेता है।

(२) जीवनमुक्त–परवस्तु को कर और भोग, तो ज्ञानी कि अज्ञानी कोई भी नहीं सकता, पर अनादिकाल से यह जीव अपने अज्ञान के कारण अपने को सदा पर का कर्ता-भोक्ता ही मानता है। और काकतालीय न्यायवत् क्योंकि कभी-

---

* श्री समयसारजी गाथा १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१ तथा कलश नं. ६७ से उद्धृत ।

कभी इसके कर्ता-भोक्ता के विकल्पानुसार परवस्तु का परिणमन भी स्वतः हो जाता है तो उससे इसके पर के कर्ता –भोक्तापने को पुष्टि मिलती रहती है और यह समझता है कि देखो मेरे करने से ही ऐसा हो गया। जैसे – गाड़ी के नीचे चलने वाला कुत्ता स्वयं चलने वाली गाड़ी को भी 'मेरे द्वारा चलती है' ऐसा जानता है। अनादिकालीन यह दृढ़ अज्ञान संस्कार शुद्ध नय के उपदेश बिना और यह जाने बिना कि आत्मा में पर को करने भोगने की तो कोई शक्ति ही नहीं किन्तु पर के अकर्ता-अभोक्तापने की शक्ति है, नहीं मिटता। ज्ञानी को वस्तु का ठीक-ठीक भान हो गया है। वह पदार्थ को इन चरम-चक्षुओं से नहीं देखता किन्तु आगमचक्षु से देखता है कि प्रत्येक पदार्थ पूर्णतया स्वतन्त्ररूप से अपने द्रव्यगुण पर्यायों में असहाय रूप से परिणमन कर रहा है। अतः उसको स्वप्न में भी पर को करने-भोगने का भाव नहीं आता। वह मात्र पर की पर्यायों का ज्ञाता ही है। इसी को जीवन-मुक्तपना कहते हैं। यह भी ज्ञानी का लक्षण है। उपर्युक्त लक्षणों का अविनाभाव है। वे हर एक ज्ञानी में नियम से पाये जाते हैं। ऐसा ही वस्तु स्वभाव है।

नोट–साधारण जीवों को तो क्या, विद्वानों को भी इस विषय में बहुत शंका रहती है। अतः कुछ ज्ञानियों के विचार आपकी सेवा में उपस्थित करते हैं।

१. श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव के विचार

द्रव्य निर्जरा का स्वरूप

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥ समयसार

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियों के द्वारा अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है। (यहाँ उदय की स्वतंत्र क्रिया और उस समय ज्ञानी के ज्ञान और वैराग्य भाव का अस्तित्व और सामान्य का वेदन दिखलाया है।) कमाल है।

भावनिर्जरा का स्वरूप

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहंच दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥ १९४ ॥ समयसार

अर्थ–वस्तु भोगने में आने पर सुख अथवा दुःख नियम से उत्पन्न होता है। उदय को प्राप्त (उत्पन्न हुवे) उस सुख-दुःख का अनुभव करता है, पश्चात् वह (सुख-दुःख रूप भाव) निर्जरा को प्राप्त होता है (यहाँ यह दिखलाया है कि महान से महान् सुख-दुःख को वेदन करते समय भी ज्ञानी के अज्ञान भाव के अभाव के कारण तो बंध नहीं होता तथा ज्ञान और वैराग्य भाव के सद्भाव और उसी समय सामान्य का वेदन रहने से उल्टी संवर निर्जरा होती है)। क्या वस्तु स्वभाव का कमाल है अज्ञानी की समझ नहीं पड़ता पर ज्ञानी बराबर जानते हैं। यह अनुभव से सम्बन्ध रखती हैं। केवल शास्त्र पाठियों को समझ नहीं आ सकती।

२. श्री अमृतचन्द्र आचार्य देव के विचार

इन दो लक्षणों की शक्ति से ही ज्ञानी कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बंधता है। श्री समयसारजी कलश नं. १३४ में कहा है–

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्य च वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥ १३४ ॥

अर्थ–वास्तव में वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्यज्ञान की ही है, अथवा विराग की ही है, कि कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बंधता। (वह अज्ञानी को आश्चर्य उत्पन्न करती है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है। ज्ञानी को 'जीवन्मुक्त' श्री समयसारजी के निम्न कलश नं. १९८ में भी कहा है।

ज्ञानी करोति न, न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा–
च्छुंद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥ १९८ ॥

अर्थ—ज्ञानी कर्म को न तो करता है और न भोगता है। वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। इस प्रकार मात्र जानता हुआ करने और भोगने के अभाव के कारण शुद्ध स्वभाव में निश्चल ऐसा वह वास्तव में मुक्त ही है।

भावार्थ—वास्तव में जीवनमुक्त केवली को कहते हैं और केवली वह है जो पर के कर्ता भोक्तापने का भाव नहीं करता। मात्र ज्ञाता ही रहता है। सो ज्ञानी ने जिस आत्मस्वभाव का आश्रय किया है, स्वभाव से वह त्रिकाल कर्ता भोक्तापने से रहित मात्र ज्ञायक ही है। और उस ज्ञायक का आश्रय करके ज्ञानी पर्याय में भी कर्ता भोक्तापने को समस्त रूप से छोड़ता हुआ ज्ञानमार्गानुचारी होने से ज्ञायक अर्थात् जीवनमुक्त ही है। (श्री पंचास्तिकाय गाथा ७०)

३. पं. राजमलजी के विचार

श्री समयसार जी कलशटीका पन्ना ८२ भावार्थ में कहा है – सम्यग्दृष्टि जीव की–मिथ्यादृष्टि जीव की क्रिया तो एकसी है, क्रिया सम्बन्धी विषय कषाय भी एकसा है; पर, द्रव्य का परिणमन भेद है–स्पष्टीकरण–सम्यग्दृष्टि का द्रव्य शुद्धत्व रूप परिणमा है। इसलिए जो कोई परिणाम बुद्धिपूर्वक अनुभवरूप है अथवा विचार रूप अथवा व्रत क्रिया रूप है अथवा भोगाभिलाष रूप है अथवा चारित्र मोह के उदय क्रोध, मान, माया, लोभ रूप है सो सब ही परिणाम ज्ञानजाति में घटता है। इसलिए जो कोई परिणाम है वह संवर निर्जरा का कारण है। ऐसा ही कोई द्रव्यपरिणमन का विशेष है।

मिथ्यादृष्टि का द्रव्य अशुद्ध रूप परिणमा है। इसलिये जो कोई मिथ्यादृष्टि का परिणाम, अनुभव रूप तो विद्यमान ही नहीं, इसलिए सूत्र सिद्धान्त के पाठ रूप है, अथवा व्रत तपश्चरण रूप है अथवा दान, पूजा, दया, शील, रूप है अथवा भोगाभिलाष रूप है अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ रूप है। ऐसा सब परिणाम अज्ञानजाति का है, इसलिये बंध का कारण है। संवर निर्जरा का कारण नहीं, द्रव्य का ऐसा ही परिणमन विशेष है।

श्री समयसारजी कलश टीका पन्ना १३० के भावार्थ में कहा है–जितने काल तक जीव सम्यक्त्व के भाव रूप परिणमा था, उतने काल चारित्र मोह कर्म कीले हुए सांप की तरह अपना कार्य करने को समर्थ नहीं था। जिस काल वही जीव सम्यक्त्व के भाव से भ्रष्ट हुआ, मिथ्यात्व भाव रूप परिणमा, उस काल उकीले सांप की तरह अपना कार्य करने को समर्थ हुआ।

४. पं. बनारसीदासजी के विचार

प्रश्न

ज्ञानवन्त को भोग निर्जरा हेतु है।
अज्ञानी को भोग बंधफल देतु हैं ॥
यहु अचरज की बात हिय नहिं आवही।
पूछे कोऊ शिष्य गुरु समझावही ॥ २१ ॥

उत्तर

दया दान पूजादिक विषय कषायादिक,
दुहु कर्मभोग पै दुहु को एक खेत है ।
ज्ञानी मूढ कर्म करत दीसे एकसे पै,
परिणाम भेद न्यारो-न्यारो फल देत है ।
ज्ञानवंत करनी करे पै उदासीन रूप,
ममता न धरे ताते निर्जरा को हेतु है ।
वह करतूति मूढ करे पै मगन रूप,
अंध भयो ममतासों बंधफल लेतु है ॥ २२ ॥

५. पं. दीपचन्दजी शाह के विचार

अनुभव प्रकाश पन्ना ७२ में कहा है–तिस सम्यग्दृष्टि के चारित्र अशुद्ध परिणमन सौं बंध होय सकता नाहीं। तिन उपयोग परिणामों ने बंध आस्त्रव तिन अशुद्ध परिणामन की शक्ति कीलि राखी है। तातैं निरास्त्रव निरवन्ध है।

आत्मावलोकन पन्ना ११४ में कहा है–चौथे स्थान तैं सम्यग्दृष्टि के अवरु चारित्र गुण की शक्ति बुद्धिरूप जब विकल्प होइ परनवै है – विषय, कषाय, भोग सेवनरूप, इष्टरुचि, अनिष्ट अरुचि, हिंसारूप रति, अरतिरूप, अविरतिरूप, परिग्रह विकल्परूपादि करि अथवा शुभोपयोग विकल्परूपादिकरि, बुद्धिरूप जे जव शक्ति परनवैं है, (तब) ऐसे परावलंबन चंचलतारूप मैली भी होइ है, तो भी तिन शक्तिनिकर (ज्ञानी) आस्त्रव बंध विकार कौंन उपजइ। काहे ते ? (क्योंकि) सम्यग्दृष्टि अपनी विकल्परूप बुद्धिपूर्वक चारित्र चेष्टा को जानने को समर्थ है, तिस चेष्टा को जानते ही सम्यग्दृष्टि को विषय भोगादिभाव, विकाररूप जुदा ही प्रतिबिंबै है अवरु तिस विषै चेतना स्वभाव भाव जुदा प्रवर्तै हैं। एक ही काल विषैं सम्यक्ज्ञान को जुदे-जुदे प्रतक्ष होइ है। इस कारण से तिस बुद्धिरूप चारित्र शक्तिनि विषै राग-द्वेष-मोह विकार नहीं पोहता (घुस जाता)।

आत्मावलोकन पन्ना १६०-१६१ में कहा है–ऐसे जु मन इन्द्री संज्ञाधारी आचरण अरु स्वाद परिणाम तिस सम्यग्दृष्टि के तिन मन इन्द्री संज्ञाधारी सम्यग् उपयोग परनाम ही के साथ है। परन्तु तिस सम्यग्दृष्टि के मन इन्द्री संज्ञा अशुद्ध चारित्र परनामहि स्यौं वंध आस्त्रव होता नाहीं। सो काहे का गुण है ? तिस सम्यग्दृष्टि के तिन मन इन्द्री संज्ञाधारी अशुद्ध चारित्र परनामन के साधिवे उपयोग ही के परनाम सम्यक् सविकल्प रूप ही है। तातें तिन मन इन्द्री संज्ञाधारी चारित्र अशुद्ध परिणामों से बन्ध आस्त्रव होइ सकता नाहीं। तिन उपयोग सम्यक् परिणामों ने वंध आश्रव तिन अशुद्ध चारित्र परिणाम ही की बन्ध शक्ति कील राखी है। तातैं सम्यग्दृष्टि बुद्धिपूर्वक आचरण करि निरबन्ध निरास्त्रव हुआ है। ऐसैं सम्यग्दृष्टि के मन इन्द्री संज्ञाधारी सम्यक् उपयोग परिणाम अरु मन इन्द्री संज्ञाधारी अशुद्ध चारित्र परिणाम ए जु है दोनूँ परनामहि का प्रवाह चल्या जाइ है सम्यग्दृष्टि के।

नोट–अब अत्मा के उस सामान्य स्वरूप को दिखलाते हैं कि जिस रूप ज्ञानी अपने को अनुभव करता है और जिस अनुभव का यह सब फल है। यह ध्यान रहे शिष्य की ९८६, ९८७ में की गई शंका का समाधान चल रहा है।

आत्मा का वह सामान्य स्वरूप कि जिस रूप ज्ञानी अपने को अनुभव करता है सूत्र १००१ से १००५ तक ५ इकट्ठे

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥ १००१ ॥

अर्थ–आत्म-अनुभवी ज्ञानी अपने को सदा द्रव्यदृष्टि से एक ज्ञान का ही पात्र-स्थान-ज्ञानघन-ज्ञानमय देखता है (अनुभव करता है) और अपने को १-बद्ध (द्रव्यकर्म से बंधा हुआ) २-स्पृष्ट (नोकर्म से छुवा हुआ) ३-अन्य अन्य (नरनारकादि रूप) ४-अनियत (ज्ञान की हानि बृद्धि सहित), ५-सविशेष (गुण भेद सहित), ६-संयुक्त (राग सहित) भावों का अस्थान जानता है क्योंकि ये भाव आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। अर्थात् ये बद्धस्पृष्टादि ५ भाव हैं। ज्ञानी अपने को इनसे रहित अनुभव करता है। भावार्थ १००५ के अन्त में देखिये ।

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम् ।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ॥ १००२ ॥

अर्थ–इसलिए (ज्ञान एकपात्र होने से और बद्धस्पृष्टादिभावों का अस्थान होने से) अपने को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा स्पष्ट रीति से १-अविशिष्ट (गुणभेदरहित), २-असंयुक्त (राग रहित), ३-नियत (अनन्त ज्ञानादिरूप), ४-अनन्यकं (नर-नारकादि पर्यायों रहित) अनुभव करता हुआ अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करता है। भावार्थ १००५ के अंत में।

अथाबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसंगं व्योमवत् सदा ॥ १००३ ॥

अर्थ–और सदा अपने को १-अबद्ध (द्रव्य कर्म के बन्ध रहित) २-अस्पृष्ट (नोकर्म के स्पर्श रहित), ३-शुद्ध (नौपदार्थरूप विशेष परिणमन से रहित), ४-सिद्धसमान (आठ गुण सहित) ५-शुद्ध स्फटिक के समान विकार रहित

६-परिग्रह रहित अर्थात् आकाश के समान सदा मूर्तिक पदार्थों के सम्बन्ध रहित निर्लेप (श्री समयसार गा. ७३ की संस्कृत टीका से उद्धृत) अनुभव करता है। भावार्थ १००५ के अन्त में देखिये।

इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥ १००४ ॥

अर्थ–और सदा अपने को इन्द्रियों से रहित अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन–अनन्तवीर्य की मूर्ति और अतीन्द्रिय सुख-आदि अनन्त स्वाभाविक गुणों से अन्वित (संयुक्त-तन्मय) अनुभव करता है। भावार्थ १००५ के अन्त में देखिये।

पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान् ।
प्रसङ्गादपरं चैच्छेदर्थात् सार्थं कृतार्थवत् ॥ १००५ ॥

अर्थ–इस प्रकार अपनी आत्मा को अनुभव करता हुआ ज्ञानी यद्यपि ज्ञान की ही एक मूर्ति (ज्ञान का डला) है तो भी प्रसंगवश (अर्थात् पुरुषार्थ की निर्बलता से कभी-कभी) परपदार्थ की भी इच्छा कर लेता है (हो जाती है) पर वास्तव में तो वह सब पदार्थों के प्रति कृतार्थसा (परम उपेक्षा भाव को रखने वाला–संतुष्ट-कृत्कृत्य) है।

सूत्र १००१ से १००५ तक का दिग्दर्शन

ज्ञानी अपने को शुद्ध सामान्य रूप अनुभव करता है और सामान्य का स्वरूप वही है जो सिद्ध का स्वरूप है। उस में कर्म के उदय जन्य कोई भी भाव का ग्रहण नहीं होता। उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है:–

१. अबद्धभाव–आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों से बंधा हुआ है। सो यह बंध विशेषदृष्टि से है। सामान्यदृष्टि से तो सदा निर्बंध है। अबद्ध रूप है।

२. अस्पृष्ट भाव–आत्मा मन-वचन-काय रूप नोकर्म वर्गणाओं से छुवा हुआ है। सो यह विशेष दृष्टि से है। सामान्यदृष्टि से तो मात्र चैतन्यरूप है। उसमें मन-वचन-काय कहाँ है ? वह तो उनसे छूता भी नहीं है। जैसे कमल का पत्ता पानी से न बंधा है न छुवा है, उस प्रकार आत्मा न द्रव्यकर्मों से बंधा है न नोकर्मों से छुवा है।

३. अनन्य भाव–आत्मा मनुष्य तिर्यंच देव नारकी रूप नाना प्रकार की असमान जातीय द्रव्यपर्यायों को धारण करता है सो अन्य-अन्य भाव कहलाता है जैसे मिट्टी घड़ा सकोरा चप्पन इत्यादि नानारूप होती है। सामान्य दृष्टि से आत्मा इनसे रहित अन्य रूप है। सदा एकरूप है।

४. नियतभाव–आत्मा ज्ञानावरणीय के निमित्त से मति आदि अनेक क्षायोपशमिक ज्ञानों को धारण करता है। इन ज्ञानों में अविभागप्रतिच्छेदों की हीनाधिकता होने से आत्मा अनियत (अस्थिर) होता है जैसे समुद्र वायु के निमित्त से घटता-बढ़ता है। सामान्य दृष्टि से घटने-बढ़ने से रहित अनन्त ज्ञान स्वरूप है। सदा नियत एक रूप है। इसी प्रकार सब गुणों में समझ लेना।

५. अविशेष भाव–जैसे अखण्ड सोने में पीला चिकना भारी इत्यादि गुण भेद की कल्पना होती है उसी प्रकार आत्मा में भेददृष्टि से ज्ञान-दर्शन-चारित्र सुख आदि अनन्त गुण भेद किये जाते हैं। सो यह भेद भाव भी विशेषदृष्टि-भेददृष्टि-व्यवहारदृष्टि से है। सामान्य दृष्टि से तो आत्मा सदा अविशेष गुणभेदरहित-अखण्ड है। इसको अविशिष्ट भी कहते हैं।

६. असंयुक्त भाव–जैसे संयोगी दृष्टि से पानी गरमी से संयुक्त है पर स्वभाव दृष्टि से पानी ठण्डा है। उसमें गरमी कहाँ है। उसी प्रकार पर्यायदृष्टि से आत्मा राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन करता है पर सामान्य स्वभाव दृष्टि से राग द्वेष मोह से संयुक्त नहीं है। असंयुक्त है।

* यह ध्यान रहे कि विशेष में इन भावों को बद्धस्पृष्ट, अन्य-अन्य, अनियत, सविशेष और संयुक्त कहते हैं और सामान्य को अबद्धस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त कहते हैं। सो इनका प्रयोग सावधानतापूर्वक करना चाहिये । अज्ञानी अपने को विशेष भाव रूप जानता है। ज्ञानी अपने को सामान्य भावरूप जानता है। और उसी प्रकार अनुभव करते हैं।

उपर्युक्त कर्मज भावों को २९ भाव भी कहते हैं जो श्रीसमयसारजी में सूत्र ५० से ५५ तक में वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त कहे गये हैं। इन्हीं को द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म भी कहते हैं। शुद्ध दृष्टि से यह सब संयोगी तत्त्व है । आत्मस्वभाव इनसे त्रिकाल भिन्न है।

७. ज्ञान एक मात्र या ज्ञान एक मूर्ति–आत्मा तो जैसे बर्फ का डला केवल बर्फ रूप है, सरदी का जमा हुआ घी जैसे घी रूप है, उसी प्रकार वह मात्र ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान रूप है। बस ज्ञानी अपने को मात्र ज्ञान घन ही देखता है। सामान्य, मात्र ज्ञानरूप ही है।

८. शुद्ध आत्मा के नौ पदार्थ रूप विशेष परिणमन को अशुद्ध कहते हैं। यह नैमित्तिक परिणमन होने के कारण अशुद्ध कहलाता है। द्रव्यस्वभाव स्वतः सिद्ध शुद्ध है। पर्यायें द्रव्य स्वभाव में प्रवेश नहीं करतीं। ऊपर तरती हैं। ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभवता है।

९. सिद्धपदोपमं–सामान्य स्वरूप सिद्ध समान है। ठीक जो सिद्ध में है वह ही मुझ में है और जो सिद्ध में नहीं है वह मुझ में भी नहीं है। मैं आठ गुण सहित हूं ।

१०. शुद्धस्फटिकसंकाशं–जिस तरह स्फटिक पत्थर में लाल कालापन तो फूल के संयोग से आता है। वास्तव में तो वह शुद्ध निर्लेप है। इस प्रकार आत्मा में सब विकार कर्म निमित्त से है। सामान्य स्वरूप तो शुद्ध पत्थरवत् है।

११. निःसंगं व्योमवत् सदा–जिस तरह आकाश अमूर्तिक है और मूर्तिक वस्तु उसे छू भी नहीं सकती है। इसी प्रकार आत्मा अमूर्तिक वस्तु है। मूर्तिक वस्तु से तो वह कभी छुवा भी नहीं गया है। ऐसा ज्ञानी अपने को भली-भांति जानता है।

१२. इन्द्रियोपक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकं–इस समय जो यह देखने में आता है कि हम इन्दियों से जानते-देखते हैं। सो यह भी कर्मकृत विकार है। आत्मा का स्वभाव तो इन्द्रिय रहित-निरपेक्ष-स्वतन्त्र रूप से जानने का है–देखने का है और वह मर्यादा रहित अनन्त है। इसी प्रकार उसमें आत्म वीर्य भी अनन्त है जिसके आधारस्वरूप टिका हुवा है। शरीर वीर्य से प्रयोजन नहीं है।

१३. अक्षातीतसुखं–आत्मा का स्वभाव इन्द्रियों की सहायता से विषय-सुख भोगने का नहीं है। वह तो अमूर्तिक आत्म प्रदेशों से उत्पन्न स्वाभाविक अनन्त सुखस्वरूप है। ऐसा ज्ञानी अपने को अनुभव करता है।

१४. अनन्तस्वाभाविकगुणान्वितं–जिस प्रकार एक दवाई की गोली अनेक औषधियों का पिण्ड है। उसीप्रकार सामान्य स्वरूप निज अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड है। ऐसा ज्ञानी अपने को अनुभव करता है।

१५. परपदार्थ-इच्छा निरपेक्ष–इस प्रकार शुद्ध वस्तु को ज्ञान श्रद्धान और अनुभव में लेने वाला ज्ञानी जब तक नीचे की भूमिका में है उस समय तक पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता है तो कभी-कभी पर वस्तु की इच्छा रूप विकल्प चारित्र गुण में उत्पन्न हो जाता है किन्तु उसी समय निर्लेप स्वरूप की श्रद्धा के कारण उसमें परम उपेक्षा भाव रहता है। और उसी समय उसकी इच्छा करता हुवा भी उस पदार्थ का वा उस विकल्प का ज्ञानी-ज्ञाता-द्रष्टा ही है। ऐसा ही कोई वस्तु का अद्भुत स्वरूप है। चौथे गुणस्थान से ही ज्ञानियों की ऐसी दशा हो जाती है। यह स्वाभाविक है। कृत्रिम नहीं है। वस्तु का ही कोई ऐसा स्वभाव है। ऐसे ज्ञानियों के चरण-कमल में हमारा कोटिशः नमस्कार है।

प्रमाण–ग्रन्थकार ने उपर्युक्त सब विषय (सूत्र १००१ से १००५ तक का) श्री समयसार की गाथा नं. १४ से लिया है वह इस प्रकार है–

जो परसदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

अर्थ–जो नय आत्मा को १-बंध रहित और पर के स्पर्श से रहित, २-अन्यत्व रहित, ३-चलाचलता रहित, ४-विशेषरहित, ५-अन्य के संयोग से रहित–ऐसे पाँच भाव रूप से देखता है, उसे हे शिष्य ! तू शुद्धनय जान । (इसका विशद स्पष्टीकरण उसी ग्रन्थ की टीका में बहुत किया है। कृपया वहाँ से देखिये। लम्बा होने के भय से यहाँ

नहीं दिया है)। आत्मा तो जैसे बर्फ का डला केवल बर्फ रूप है, घी का डला घी रूप है, उसी प्रकार वह मात्र ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान रूप है। बस ज्ञानी अपने को मात्र ज्ञान घन ही देखता है। उस ज्ञान भाव में उदय जन्य बद्धस्पृष्टादि भावों का अनुभव नहीं करता क्योंकि यह भाव ज्ञानस्वभाव के ऊपर तरते हैं, जैसाकि श्री समयसारजी के कलश नं. ११ में कहा है। श्री पंचाध्यायी के इन सूत्रों का अर्थ वही है जो इस कलश का है:-

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावं ॥ ११ ॥

अर्थ-हे जगत् के प्राणियो ! इस सम्यक् स्वभाव का (ज्ञान मात्र का) अनुभव करो कि जहाँ ये बद्धस्पृष्टादिभाव स्पष्टतया उस भाव के ऊपर तरते हैं, तथापि वे (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्य स्वभाव तो नित्य है, एकरूप है, और यह भाव अनित्य है, अनेकरूप है; पर्यायें द्रव्य स्वभाव में प्रवेश नहीं करतीं, ऊपर ही रहती हैं। यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। ऐसे शुद्ध स्वभाव का, मोह रहित होकर जगत् अनुभव करे क्योंकि मोह कर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता। इसी भाव का दिग्दर्शन हमने निम्न ''हरिगीत'' में कराया है:-

''हरिगीत''

अबद्धस्पृष्ट — कमलनी के पत्रवत जो द्रव्यकर्म से बद्ध ना ।
फर्सित नहीं देहादि नो कर्मों से मेरा आत्मा ॥

अनन्य — मनुष्यादि पर्यायों से भी होता अनेका रूप ना ।
ज्यूं मिट्टि निज स्वभाव से घट आदि पर्यायोही ना ॥

नियत — ज्ञान के अविभाग से भी भेद को वो प्राप्त ना ।
समुद्र निज स्वभाव से लहरों में घटता-बढ़ता ना ॥

अविशेष — सोने में जैसे पीला चिकना भारी पन का भेद ना ।
मम आत्मा में उस तरह गुण भेद होता प्राप्त ना ॥

असंयुक्त — स्वभाव से तो जल कभी अग्नि से गर्माता नहीं ।
त्यों बोध बीज स्वभाव से वो रागमय होता नहीं ॥

ऐसे अपने आत्म की अनुभूति हो भूतार्थ से ।
शुद्ध नय कहवाय वो रे शिष्य यूं तू जान ले ॥

आवश्यक सूचना-सामान्य स्वरूप की विशेष जानकारी के लिये श्री नियमसारजी शुद्ध भाव अधिकार गाथा ३८ से ५० तक का टीका सहित अभ्यास करें। यह विषय सूक्ष्म किन्तु मोक्षमार्ग का प्राण है। विशेषतया यह गाथा खास विचारने योग्य है-

जीव का सामान्य स्वरूप

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं. ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥

अर्थ-हे भव्य ! तू जीव को १-रसरहित, २-रूपरहित, ३-गंध रहित, ४-अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा, ५-चेतना जिसका गुण है ऐसा, ६-शब्दरहित, ७-किसी चिह्न से ग्रहण न होने वाला, ८-और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता, ऐसा जान। यह गाथा श्री समयसारजी में नं. ४९ है, श्री प्रवचनसारजी में नं. १७२ है, श्री पंचास्तिकाय में नं. १२७ है। श्री नियमसारजी में नं. ४६ है तथा श्री भावपाहुड़ में नं. ६४ है। जहाँ-जहाँ जीव और अजीव के भेद विज्ञान की आवश्यकता पड़ी वहाँ-वहाँ श्रीकुन्दकुन्द भगवान ने अक्षरशः इसी गाथा का प्रयोग किया है। यह जीव के सामान्य स्वरूप की प्रकाशक है जो सम्यक्त्व का विषय है। खास समझने योग्य है।

अब सामान्य तत्व का स्वरूप सरल शब्दों में एक लेख द्वारा समझाते हैं। इस सामान्य का आश्रय ही ज्ञानियों को रहता है जिसके आश्रय से सम्यक्त्व चारित्र यहाँ तक कि केवल ज्ञान तथा मोक्ष तक की प्राप्ति करते हैं:–

सामान्य विज्ञान

शिष्य–सबसे पहला धर्म क्या है तथा उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ?

गुरु–सबसे पहला धर्म अपनी आत्मा का जानना है तथा उसका उपाय भेद विज्ञान है।

शिष्य–भेद विज्ञान का स्वरूप क्या है ?

गुरु-भेद विज्ञान का स्वरूप श्रीकुन्दकुन्द आचार्यदेव ने श्री नियमसार जी गाथा नं. १०२ द्वारा निम्न रूप से निरूपण किया है। यह गाथा भाव पाहुड में नं. ५९, इष्टोपदेश में नं. २७, सामयिक पाठ में नं. १० तथा आराधनासार में नं. १०३ है। मूल गाथा–

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १०२ ॥
एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १०२ ॥
मेरा सुशास्वत एक दर्शनज्ञानलक्षण जीव है।
बाकी सभी संयोगलक्षण भाव मुझ से बाह्य है ॥ १०२ ॥

अर्थ–ज्ञानी विचारता है कि ज्ञान दर्शन जिसका लक्षण है ऐसा और शाश्वत (नित्य) ऐसा आत्मा है सो ही एक मेरा है। बाकी भाव हैं वह मुझसे बाह्य हैं। वह सब ही संयोग स्वरूप है। पर द्रव्य है।

सार–परमपारिणामिक एक त्रिकाली ज्ञायक जीव द्रव्य तो मैं हूँ। बाकी द्रव्यकर्म (ज्ञानावर्णादिक) नोकर्म (शरीरादिक) भावकर्म (औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव) परद्रव्य हैं। इसी का नाम भेद विज्ञान है जो केवल ज्ञान ज्योति का उत्पादक है।

व्याख्या–हे भव्य ! यह जो मनुष्य पर्याय है अर्थात् मनुष्य का शरीर है इसपर पहने हुवे कपड़े तथा संयोगी पदार्थ, गहना, स्त्री, पुत्र, पौत्र, माता-पिता, धन-धान्य, देश-कुटुम्ब इत्यादि तो प्रत्यक्ष इससे सब बाह्य हैं ही, इनमें तू "मैं पने की" (अहंकार भाव) तथा अपनेपने की (ममकार भाव) बुद्धि छोड़। इनसे भिन्न नग्न दिगम्बर मनुष्य शरीर को दृष्टि में ले। इसमें से औदारिक शरीर (मन-वचन-काय छः पर्याप्ति ४ प्राण ५ इन्द्रियाँ अर्थात् आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा तथा मनो वर्गणा का बना हुआ सब कुछ) को भिन्न कर। इसके बाद इसमें से तैजस वर्गणा के बने हुवे तैजस शरीर को भिन्न कर। तत्पश्चात् ज्ञानावर्णादिक आठ कर्मो से बने हुवे अर्थात् कार्मण वर्गणा से बने हुवे कार्मण शरीर को भिन्नकर। फिर मोहनीय के उदय में जुड़ने से उत्पन्न होने वाले रागादिक (मिथ्यात्व क्रोध मान माया लोभ हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा वेद) विभाव भावों को भिन्न कर। उसके बाद आत्मा के एक-एक गुण के जो एक देश स्वभाव है उनको भिन्न कर जैसे ज्ञानगुण के मति श्रुत अवधि मनः पर्यय भाव, दर्शन गुण के चक्षु अचक्षु अवधि दर्शन भाव, श्रद्धा गुण के औपशमिक क्षायोपशमिक सम्यकत्व भाव, चारित्रगुण के संयमासंयम, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, भाव इत्यादिक रूप से सब अनुजीवी गुणों की एक देश शुद्ध पर्यायों को भिन्न कर। उसके बाद ९ क्षायिक भावों को भी भिन्न कर। इतना सब कुछ संयोगी पदार्थ है, पर द्रव्य है। अजीव तत्व है। बाह्य तत्व है पर वस्तु है। पुद्गल है। जीव के त्रिकाली स्वभाव के ऊपर तरने वाला परपदार्थ है। इस सब परमैटर को निकालने के बाद जो कुछ बचेगा वह शाश्वत एक जीव द्रव्य है जो "मैं" हूँ। बस इस ही का नाम भेद विज्ञान है।

शिष्य–गुरुदेव आपने और जो कुछ भिन्न किया वह तो ठीक है किन्तु आपने तो क्षायिक भावों को जुदा करने को कहा है जो जीव का विशेष स्वभाव भाव है। इस को जुदा करने से तो वस्तु का ही नाश हो जायगा और विशेष के बिना सामान्य की श्रद्धा गधे के सींगवत निरर्थक हो जायगी।

गुरु–शाबाश ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है। हम स्पष्ट समझायेंगे। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

शिष्य–जैसी आज्ञा !

गुरु–जगत में दो प्रकार का तत्व होता है – एक सत् अहेतुक तत्व, दूसरा असत् अहेतुक तत्व । जो अनादि अनन्त है। स्वतः सिद्ध है । नित्य है। बिना किसी कारण के है वह सत् अहेतुक है और जो सादि सान्त है, पर से सिद्ध है, अनित्य है, किसी कारण से उत्पन्न हुआ है वह असत् सहेतुक तत्व है। स्वतः सिद्ध तत्त्व को जैनागम में पारिणामिक भाव, जीवत्व भाव, ज्ञायक भाव, सामान्य भाव, इत्यादिक अनेक नामों से कहा है और पर से सिद्धतत्व को विभाव भाव, अनित्य भाव, औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक भाव कहा है। जो सत् अहेतुक तत्व है वह "स्व" है और जो असत् सहेतुक भाव है वह "पर" है।

शिष्य–क्षायिक भाव (केवल ज्ञान) आत्मा का विशेष स्वभाव भाव है वह पर से सिद्ध नहीं है।

गुरु–जो चीज़ कर्मो के निमित्त से होती है वह "पर से सिद्ध" है। क्षायिक भाव (केवल ज्ञान) कर्म (ज्ञानवरण) के क्षय से होता है अर्थात् उसे कर्म के अभाव की अपेक्षा है। अतः वह स्वतः सिद्ध नहीं है। स्वतः सिद्ध तो एक पारिणामिक भाव है।

शिष्य–पर से सिद्ध पदार्थ तो अनित्य होता है किन्तु क्षायिक भाव (केवल ज्ञान) तो नित्य है। वह एक बार उत्पन्न होकर राग की तरह फिर नाश नहीं होता।

गुरु–यह बात नहीं है। क्षायिक भाव अनित्य ही है। वह समय-समय में नया-नया ही पैदा होती है।

शिष्य–ऐसा प्रतीत तो नहीं होता ?

गुरु–तो अच्छा बताओ क्षायिक भाव (केवल ज्ञान) गुण है या पर्याय ।

शिष्य–पर्याय ।

गुरु–तो तुमने तो स्वयं अपने मुख से ही स्वीकार कर लिया । पर्याय हमेशा क्षणिक अनित्य एक समय की ही होती है। जगत में कोई पर्याय नित्य नहीं है।

शिष्य–गुरुवर ! पर से सिद्ध पर्याय तो सादि सान्त होती है। केवल ज्ञान तो सादि अनन्त है।

गुरु–इसके उत्तर में पहली बात तो यह है कि इतना तो तुमने मान ही लिया है कि वह सादि अनन्त है। अनादि अनन्त नहीं। सत् अहेतुक चीज़ तो अनादि अनन्त होती है। दूसरी बात यह है कि क्षायिक भाव (केवल ज्ञान) सादि अनन्त नहीं किन्तु सादि सान्त है।

शिष्य–यह किस तरह ? करणानुयोग में तो उसको सादि अनन्त बतलाया है।

गुरु–करणानुयोग पर्याय को स्थूल ऋजसूत्रनय से पकड़ता है। यह स्थूल ऋजुसूत्र का विषय है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र एक समय की शुद्ध पर्याय को ही पकड़ता है।

शिष्य–तो क्या करणानुयोग की बात गलत है ?

गुरु–नहीं ! बात यह है कि करणानुयोग का विषय पर तत्व है। द्रव्यानुयोग का विषय स्वतत्व है। पारिणामिक भाव को समझाना उसका काम नहीं।

शिष्य–क्या इसका कोई दृष्टान्त भी है ?

गुरु–हाँ ! करणानुयोग राग को स्थूल ऋजुसूत्र से विवेचन करके उसकी एक बार की लम्बी स्थिति को पकड़ता है जबकि द्रव्यानुयोग राग को मात्र एक समय का तत्त्व ही स्वीकार करता है।

शिष्य–तो क्या केवल ज्ञान समय-समय में नया-नया उत्पन्न होता है ?

गुरु–हाँ, वास्तविक बात यही है ।

शिष्य–अच्छा अगर ऐसा ही मान लिया जाये तो क्षायिक भाव (केवल ज्ञान) के निकलने से द्रव्य का अभाव हो जायगा। विशेष के बिना सामान्य कैसा ?

गुरु–तुम्हारी बात ठीक है किन्तु हमारा द्रव्य के टुकड़े करने का भाव नहीं है किन्तु बुद्धि में ''पर'' (विशेष) से भिन्न ''स्व'' (सामान्य) का दर्शन कराना है।

शिष्य–किन्तु द्रव्य तो सामान्य विशेषात्मक ही रहेगा।

गुरु–हाँ ! किन्तु सामान्यविशेषात्मक द्रव्य प्रमाण (ज्ञान) का विषय है। भेद विज्ञान सम्यक्त्व को उत्पन्न करने के लिये किया जाता है और सम्यक्त्व का विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु नहीं। मात्र सामान्य वस्तु ही है।

शिष्य–तो क्या सम्यक्त्व खण्ड वस्तु (अवस्तु) को पकड़ता है ?

गुरु–भाई जैन धर्म कहीं सामान्य विशेष के भिन्न-भिन्न प्रदेश नहीं मानता किन्तु स्वरूप भेद मानता है। विशेष को गौण करके (दृष्टि से ओझल करके) सामान्य को लक्ष्य में लेकर देखो ऐसा हमारा भाव है। सम्यक्त्व प्रमाण ज्ञान का विषय नहीं है किन्तु शुद्ध नय का विषय है और शुद्ध नय वस्तु के सामान्य अंश पारिणामिक भाव स्वतः सिद्ध तत्व को पर से निरपेक्ष करके पकड़ती है किन्तु प्रमाण ज्ञान में वह सापेक्षता बनी रहती है। ज्ञान सविकल्पक है (भेदात्मक है) । दर्शन निर्विकल्पक है।

शिष्य–तो क्या वह सामान्य कूटस्थ है ?

गुरु–नहीं ! वह अपने स्वतः सिद्ध षटस्थानपतितहानिवृद्धि परिणाम से युक्त है जैसा धर्म द्रव्य ।

शिष्य–गुरुदेव ! क्षमा करिये ! मैं अभी तक आपकी बात से सहमत नहीं, मुझे तो ऐसी वस्तु पकड़ में नहीं आती। क्या आप कोई आगम प्रमाण देकर यह बात सिद्ध कर सकते हैं कि क्षायिक भाव को भी आचार्यों ने परभाव से निरूपण किया है ? और केवल सामान्य अंश को ही सम्यक्त्व का विषय बताया है ?

गुरु–शाबाश ! जबतक अपनी आत्मा निःशल्य न हो तब तक कभी हाँ नहीं करनी चाहिये। तत्त्व में अंध श्रद्धा से काम नहीं चलता और न सम्यक्त्व ही होता है। प्रमाणरूप गाथा यह है।

श्री नियमसार की शुद्धभावाधिकार गाथा नं. ४१

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमयसहावठाणा वा ।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥ ४१ ॥
न क्षायिकभावस्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा ।
औदयिकभावस्थानानि नोपशमस्वभावस्थानानि वा ॥ ४१ ॥
स्थानो न क्षायिकभावके क्षायोपशमिक के भी नहीं ।
स्थानो न उपशमभावके कि उदयभाव भी हैं नहीं ॥ ४१ ॥

अर्थ–जीव के क्षायिकभाव के स्थान नहीं है, क्षायोपशमिक भाव के स्थान नहीं है। औदयिक भाव के स्थान नहीं है कि उपशमभाव के स्थान नहीं है।

संस्कृत टीका का शीर्षक खास पढ़ने योग्य है।

चतुर्णां विभावस्वभावानां स्वरूपकथनद्वारेण पंचमभावस्वरूपाख्यानमेतत् अर्थात् चार विभावरूपस्वभावों के स्वरूप कथन द्वारा पंचमभाव के स्वरूप का यह कथन है। श्री द्रव्यसंग्रह में कहा है–

अट्ठचदुणाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥

अर्थ–व्यवहार नय से आठ ज्ञान (पर्यायें) और चार दर्शन (पर्यायें) सामान्यरूप से (साधारणतया) जीव का लक्षण कहा गया है; और निश्चय नय से शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शन जीव का लक्षण है। इसमें स्पष्ट केवलज्ञान और केवलदर्शन को व्यवहार अर्थात् परभाव कहा है। सामान्यदृष्टि से क्षायिक भावों को परभाव ही कहते हैं और नीचे की पंक्ति में स्पष्ट सामान्य (शुद्ध) ज्ञान दर्शन को निश्चय से जीव कहा है। बस जो बात हम आपको समझाना चाहते हैं वह उपर्युक्त दो सूत्रों में स्पष्ट है। क्या तुम्हारी संतुष्टि हुई।

शिष्य–गुरुदेव ! कुछ-कुछ ।

गुरु–भाई ! यही बात है जो अनादि काल से इस जीव ने नहीं समझी है। द्वादशांग का सार यही है। सम्यक्त्व का विषय यही है। जो कुछ है यही है। इसके बिना सब आगम ज्ञान तथा क्रिया कांड निरर्थक है। अगर इसको समझ लोगे तो भवसागर से बेड़ा पार हो जायगा। देखो श्री समयसार जी गाथा २०४ की संस्कृत टीका अन्तिम ३ लाइन । उस में कहा है:–इसलिये जिस में समस्त भेद दूर हुवे हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिये। इसके अवलम्बन से ही निजपद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है, और अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है; (ऐसा होने से) कर्म से मूर्च्छित नहीं होता, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, (राग-द्वेष-मोह के बिना) पुनः कर्मास्त्रव नहीं होता (आस्त्रव के बिना) पुनः कर्म बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म छूट कर निर्जरा को प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात मोक्ष होता है ऐसे ज्ञान के अवलम्बन का ऐसा माहात्मय है। भाव यह है कि सब भेदों को गौण करके, एक ज्ञान सामान्य का अवलम्बन लेकर आत्मा को ध्यावना; इसी से सर्वसिद्धि होती है।

शिष्य–इसकी विशेष जानकारी का उपाय क्या है ?

गुरु–सत्समागम और शास्त्रस्वाध्याय ।

शिष्य–प्रभु ! किस आगम में इस मार्मिक तत्व का वर्णन है ?

गुरु–सारी श्री नियमसार टीका इसी बात से भरपूर है। उसमें इसको कारणसमयसार कह कर इसी के गीत गाये हैं। श्री समयसारजी में भी इस ही की मुख्यता है। तुम उन्हें टीका सहित सतसमागम के आश्रय से अभ्यास करो तो अवश्य इस विषय में निःशल्य होकर भेद विज्ञान से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होगी।

प्रश्न–सामान्य के नामान्तर बताओ ?

उत्तर–चेतन, चेतना, गुण, द्रव्य, ज्ञायक, सामान्य, शुद्ध, पारिणामिक, परम पारिणामिक, कारण परमात्मा, स्वतः सिद्ध, ज्ञान, सामान्यज्ञान, जीव, सामान्य जीव, स्वभाव, अन्तस्तत्व, जीवत्वभाव, स्वभाव, अन्वय, सत्, तत्व आदि अनेक नाम हैं।

सातवां अवान्तर अधिकार

सम्यग्दृष्टि के ऐन्द्रिय सुख तथा ऐन्द्रिय ज्ञान में हेयबुद्धि है और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख में उपादेयबुद्धि है।

१००६ से ११४२ तक १३७

विषय परिचय–पर्यायदृष्टि से जीवतत्त्व के निरूपण नामा छठे अवान्तर अधिकार में यह बताया है कि जीव का लक्षण चेतना है। क्योंकि वह चेतना, ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना के भेद से दो प्रकार की है अतः उसके स्वामी भी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के जीव त्रिलोक में है। उनमें मिथ्यादृष्टि सारा जगत अपने को राग-द्वेष-मोह तथा सुखदुःखमय अनुभव करता हुवा दुःख भोगता है और सम्यग्दृष्टि अपने को शुद्ध सामान्य ज्ञानरूप अनुभव करता हुवा अतीन्द्रिय सुख भोगता है। यह छठे अवान्तर अधिकार का सार है। मिथ्यादृष्टि का विवेचन तो जितना उस अधिकार में किया है वह पर्याप्त है क्योंकि इस का अनुभव तो सारे जगत् को स्वयं प्रत्यक्ष ही है किन्तु यहाँ तो मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि बनाने की बात है तथा जीवों को सम्यग्दृष्टि की दशा का परिज्ञान हो। वैसा बनने की इच्छा उत्पन्न हो, इस निकृष्ट दुःख को छोड़ कर उस अलौकिक सुख के भोगने की रुचि जागृत हो अतः सम्यग्दृष्टि की ही दशा का कुछ वर्णन इस अधिकार में करेंगे। इसमें क्या कहेंगे यह तो ऊपर शीर्षक से स्पष्ट ही है। क्योंकि हमें यह कहना है कि सम्यग्दृष्टि की विषयसुख में हेय बुद्धि है अतः पहले उस ऐन्द्रिय सुखाभास का घृणाजनक स्वरूप दिखायेंगे क्योंकि ऐसा नियम है कि 'बिन जाने ते दोष गुणन के कैसे तजिये गहिये'' जब तक किसी वस्तु के दोषों का परिज्ञान नहीं होता तब तक उसमें हेयबुद्धि नहीं होती है। अतः विषयों का स्वरूप क्या है। उन्हें सम्यग्दृष्टि कैसा समझता है, उसकी उनमें दुखरूप तथा हेयबुद्धि क्यों है पहले इसका दिग्दर्शन १००६ से १०२५ तक २० सूत्रों द्वारा करेंगे ताकि जो भव्य आत्मा इनमें रुका

हुवा है उसे ग्लानि उत्पन्न हो और वह मोक्षमार्ग की ओर आये क्योंकि जब तक जीव की विषयों में तन्मयता और सुखबुद्धि है तब तक वीतरागी धर्म नहीं रुचता। ऐन्द्रिय सुखाभास का वर्णन करने के बाद १०२६ से १०४४ तक १९ सूत्रों द्वारा यह सयुक्तिक सिद्ध करेंगे कि सम्यग्दृष्टि के उन विषयों को भोगते हुवे भी उनकी अभिलाषा नहीं है, रुचि नहीं, उपादेयबुद्धि नहीं है, हेयबुद्धि है। फिर क्योंकि आत्मा का स्वभाव अतीन्द्रियज्ञान है वही सुख-रूप है उसी में सम्यग्दृष्टि की उपादेयबुद्धि है। आत्मा के विकृत स्वभाव रूप इस ऐन्द्रियज्ञान में उसकी उपादेयबुद्धि नहीं है हेयबुद्धि है अतः इस ऐन्द्रियज्ञान का तथा उसकी निकृष्टता का दिग्दर्शन विस्तृतरूप से १०४५ से १०७६ तक ३१ सूत्रों से करायेंगे ताकि जीव को अपने स्वभाव की रुचि हो और इस निकृष्ट दशा में अरुचि हो। फिर यह बतलायेंगे कि रे जीव आत्मा का स्वभाव अनन्तचतुष्टय महा सुखरूप है और उसकी पूर्ण विकृत रूप दशा अबुद्धिपूर्वक दुःख है ताकि जीव को अपनी वर्तमान हीन दशा का पूरा ज्ञान हो और उसे पता चले कि वह जो दृष्टि दोष के कारण अपने को सुखी समझ रहा है वह सुखी नहीं किन्तु महान् दुःखी है। उसके सम्पूर्ण स्वभाविक सुख का पूर्णतया नाश हो रहा है ? स्वभाव रूप सुख तो रंचमात्र है ही नहीं। सम्यग्दृष्टि ने इस स्वरूप को जान लिया है अतः उसकी इस वर्तमान कर्मज अवस्था से पर्याय से भी आत्यन्तिक अरुचि हो गई है। अब वह एकसमय मात्र के लिये—क्षण भर के लिये भी इस दशा में रहना नहीं चाहता—अगला अवतार नहीं चाहता इसका पूर्ण ख्याल जीव को आये यही इस अबुद्धिपूर्वक दुःख के वर्णन करने का या जीव की वर्तमान दशा के वर्णन करने का उद्देश्य है। फिर जीव का स्वभाव क्या है "अनुपम सिद्धपद"! जो अनन्त अतीन्द्रिय सुख और अनन्त अतीन्द्रियज्ञान रूप है उसका दर्शन १११३ से ११३८ तक २६ सूत्रों द्वारा कराया गया है। सम्यग्दृष्टि को उसी पद की रुचि है। उसकी ओर उस आत्मा का वीर्य दौड़ रहा है। पुरुषार्थ चालू है। क्योंकि ऐसा नियम है कि वीर्य का गमन रुचि के अनुसार हुवा करता है यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं सम्यग्दृष्टिवत् इन जीव को भी उस पद की रुचि हो— यह इसके निरूपण का उद्देश्य है। यह ध्यान रहे कि यहाँ पर्यायदृष्टि का निरूपण चल रहा है। अतः स्वभाव पर्याय को उपादेय कहा जा रहा है वास्तव में त्रिकाली स्वभाव उपादेय है जिसके आश्रय से यह पर्याय प्रगट होती है। क्योंकि इस स्वभाव पर्याय का और उस सामान्य का एक ही जैसा स्वरूप है। यह उसी की प्रगट दशा है अतः पर्यायदृष्टि से सिद्धपद को भी उपादेय कहने में दोष नहीं है। इस सिद्ध पद के निरूपण से जीव को स्वभाव की रुचि जागृत हो जाती है। वीर्य उसका आश्रय करने के लिये उछल पड़ता है। ११३८ नम्बर के सूत्र तक सिद्धपद के स्वरूप को कहकर इस अधिकार को संकोच लिया है और उपसंहार रूप अन्तिम चार सूत्रों में यह दोहराया गया है कि सम्यग्दृष्टि को अपने आत्मस्वभाव का दर्शन हो गया है, ऐन्द्रिय सुख और ऐन्द्रिय ज्ञान में उसकी अरुचि है। अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान स्वभाव में उसकी रुचि है। वर्तमान कर्मज अवस्था और इस अवस्था के उत्पादक सातासाता आदि सब कर्मों में उसकी हेयबुद्धि है। मात्र कर्मरहित शुद्ध जीवास्तिकाय ही मैं हूँ अर्थात् "सोहं" जो सिद्ध है वह मैं हूँ ऐसी उसे दृढ़ श्रद्धा हो गई है यह कहते हुवे अधिकार को समाप्त किया है। आपकी भी ऐसी दशा हो—आपको भी उस स्वभाव की रुचि हो ऐसा हमारा आशीर्वाद है अथवा इस टीका का उद्देश्य है क्योंकि उसकी रुचि बिना शेष सब थोथा है। दूसरे इस अधिकार में यह कथन बहुत आयेगा कि कर्मों ने जीव को पीस रक्खा है। उसकी शक्ति को नष्ट कर दिया है। कर्म के उदय में ज्ञानी को क्रिया करनी पड़ती है, उन सब कथनों का अर्थ इस प्रकार समझना।

श्री तत्त्वार्थसार अजीव अधिकार सूत्र नं. ४२, ४३

आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः।
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥ ४२ ॥
न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—अपनी पर्यायों से "अपने द्वारा" वर्तते हुवे द्रव्यों के वर्तना करने से (परिणमन करने से) काल द्रव्य कर्तापने का कारण कहा जाता है। निःक्रिय इस कालद्रव्य के कर्तापने का कारण विरोध को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि निमित्तमात्र होने पर भी कर्तापने का कारण कहा जाता है (ऐसी लोक तथा आगम पद्धति है)।

भावार्थ—यहाँ काल द्रव्य का प्रकरण चला आ रहा है। उसका लक्षण वर्तना है अर्थात् जो सब द्रव्यों को परिणमावे उसे काल द्रव्य कहते हैं। अब 'जो सबको परिणमावे' यह शब्द ऐसा है कि वे स्वयं तो नहीं बदलते किन्तु काल द्रव्य

उन्हें जबरदस्ती परिणमाता है। तो उसके लिये आचार्य कहते हैं कि परिणमन तो सब द्रव्य अपने-अपने स्वतः सिद्ध परिणमन स्वभाव से स्वयं करते हैं काल द्रव्य तो उनके परिणमन में निमित्तमात्र है। इसपर शिष्य पूछता है कि महाराज फिर काल द्रव्य का लक्षण यह क्यों कहते हैं कि जो सब द्रव्यों को परिणमाता है किन्तु यह कहो कि जो सब द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है। इस प्रकार तो कालद्रव्य में कर्तापने की स्थापना होती है तो उसे समझाते हैं कि है तो ऐसा ही अर्थात् है तो वह निमित्त मात्र ही किन्तु आगम की ऐसी पद्धति है कि निमित्त मात्र में भी कर्तापना कहा जाता है। ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं है पर अर्थ वही है कि परिणमन अपनी निजशक्ति से करते हैं। यह तो निमित्तमात्र है। इस सूत्र द्वारा आचार्य महाराज ने यह नियम बता दिया है कि निमित्त को कर्ता कहने में कोई विरोध नहीं पर अर्थ निमित्तमात्र समझना। इसी नियम के आधार पर जहाँ-जहाँ यह आये कि कर्म के उदय से ऐसा हो गया, जीव ने कर्म बनाए, पुरुष ने स्त्री को भोगा, जीव ने परिग्रह को छोड़ा, ज्ञानी को चारित्रमोह के उदय से बलात् क्रिया करनी पड़ती है इत्यादिक जितने भी आगम में दो द्रव्यों के कर्तापने के कथन हैं उनका अर्थ निमित्तमात्र करना । यह नियम सर्वत्र ध्यान रखना आपका परम कर्तव्य है अन्यथा दो द्रव्यों की चली आई एकत्वबुद्धि अर्थात् मिथ्यात्व दूर न होगा। आप उपर्युक्त सूत्रों का अर्थ शान्ति से विचारें कि ऐसा है या नहीं। यदि कर्तापने का अर्थ वास्तव में कर्ता कर दिया तो तीसरी पुस्तक में बताए हुवे नियमानुसार वह नयाभास हो जायेगा। (इस पुस्तक में या आगे जहाँ-जहाँ निमित्त के कर्तापने के सूत्र आयें उनका अर्थ इसी नियम के आधार पर समझना।

ऐन्द्रिय सुखाभास का वर्णन सूत्र १००६ से १०२५ तक २०

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ १००६ ॥

अर्थ–जो लौकिक नाम का सुख है, वह सब विषय सम्बन्धी माना गया है, वह सुख नहीं, सुखाभास है, किन्तु निःसंदेह दुःख है।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतु स्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥ १००७ ॥

अर्थ–इसलिये वह सुखाभास (विषय सुख) छोड़ने योग्य है क्योंकि वह स्वयं दुःखरूप है और उसका फल भी दुःख है। तथा वह कर्म भी सब प्रकार से छोड़ने योग्य है जो उस अनिष्ट (सुखाभास) का कारण है क्योंकि

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वंदुःखं विपच्यतः ॥ १००८ ॥

अर्थ–सब कर्म सर्वथा पौद्गलिक है और वह आठ प्रकार का है। उदय को प्राप्त हुवे उस (कर्म) का सब फल विपरीतता के कारण दुःख है (श्री समयसार जी गाथा ४५ तथा १६०) ।

भावार्थ–ऐन्द्रिय सुख को तो सारा जगत सुखरूप मानता है। फिर वह दुःख रूप कैसे है इसको आचार्यदेव सयुक्तिक सिद्ध करते हैं कि जगत में दो पदार्थ हैं एक आत्मा दूसरा पुद्गल कर्म । दोनों परस्पर विरोधी हैं और विपरीत स्वभाव को लिये हुये हैं। आत्मा का स्वभाव निराकुल सुख रूप है। पुद्गल कर्म का स्वभाव आकुल दुःख रूप है। वह आत्मा के लिये सुख का कारण कैसे हो सकता है। उसका विपाक तो जीव के लिये दुःख रूप ही होगा। ऐन्द्रिय सुख सातावेदनीय के विपाक का फल है। अतः वह आत्मा के लिये दुःख रूप ही है। उसमें जो सुख की कल्पना अज्ञानी जगत् ने कर रक्खी है। यह भेद विज्ञान के अभाव के कारण है।

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके ।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः ॥ १००९ ॥

अर्थ–नित्य एक कर्मोदय के कारण होने वाले इस चार गति रूप संसार चक्र में कोई भी जीव अपने पद में (आत्म स्वभाव में) स्थित नहीं है अर्थात् आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप परिणत नहीं है किन्तु कर्म पद में अर्थात् कर्म के उदय से होने वाली सामग्री में स्थित है–जुड़ा हुवा है–रागी-द्वेषी-मोही है–सुखी-दुःखी है–मिथ्या श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप परिणत है। (इसका भाव वही है जो श्री समयसारजी गाथा २ की नीचे की पंक्ति का है।)

भावार्थ–आचार्य महाराज कहना चाहते हैं कि यद्यपि सांसारिक सुख-दुःख रूप है जैसाकि हम ऊपर कह चुके हैं किन्तु अज्ञानी जगत् तो अनादि से अपने अतीन्द्रिय सुख स्वरूप को भूल कर इसी में रत है और इसी को वास्तविक सुख मान रहा है। हम क्या कहें ?

स्वस्वरूपाच्च्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति ॥ १०१० ॥

अर्थ–नाना दुःखों से व्याप्त संसार में घूमता हुआ जीव अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है और स्वरूप को प्राप्त नहीं है।

भावार्थ–ऐन्द्रिय सुख में रत होने का कारण क्या है तो कहते हैं कि अनादि काल से यह जीव आत्मस्वभाव से अर्थात् अतीन्द्रिय सुख के भोग से च्युत हो रहा है। इसको असली सुख का परिचय ही नहीं है। यही सुख जो वास्तव में दुःखरूप है इसी में सच्चे सुख की कल्पना करके यह जीव मस्त हो रहा है।

शंका

ननु किंचिच्छुभं कर्म किंचित् कर्माशुभं ततः ।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुखं तत् किं दुःखं परं नृणाम् ॥ १०११ ॥

शंका–कोई कर्म शुभ है कोई कर्म अशुभ है। इसलिये कहीं पर सुख है कहीं पर दुःख है तो जीवों के केवल दुःख ही कैसे है ?

भावार्थ–संसार में असाता के उदय से होने वाला तो दुःख नाम से प्रसिद्ध है और साता के उदय से होने वाला सुख नाम से प्रसिद्ध है। सच्चे सुख से संसार अनादि से अपरिचित है। उसी के आधार पर शिष्य कहता है कि महाराज कहीं सुख और कहीं दुःख यह तो संसार में प्रत्यक्ष दीख रहा है। आप कैसे कहते हैं कि संसार में दुःख ही है और यह जीव सुख को प्राप्त ही नहीं है।

समाधान सूत्र १०१२ से १०२५ तक १४

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाशुभम् ॥ १०१२ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है क्योंकि यह सुख नहीं है। सुख वह है जहाँ दुःख नहीं है। धर्म वह है जहाँ अधर्म नहीं है। शुभ वह है जहाँ अशुभ नहीं है।

भावार्थ–उत्तर में आचार्य महाराज वस्तु स्वभाव समझाते हैं कि यह भी कुछ सुख है। अभी सुख है तो थोड़ी देर में दुःख है। अरे सुख तो वह है जहाँ फिर अनन्त काल तक दुःख है ही नहीं। वह अतीन्द्रिय सुख है। आत्मा का स्वभाव है और मोक्ष में विद्यमान है। वही धर्म और वही शुभ है। ये यहाँ अतीन्द्रिय सुख के ही पर्यायवाची नाम हैं अधर्म और अशुभ ऐन्द्रिय सुखाभास के नाम हैं जो वहाँ नहीं है।

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम् ।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥ १०१३ ॥

अर्थ–(१) यह सुख पराधीन है (२) बाधा सहित है (३) टूटक है (४) बन्ध का कारण है (५) विषम (हीनाधिक रूप) हैं। इसलिये यह सुख वास्तव में दुःख ही है।

भावार्थ–(१) इन्द्रिय सुख में पाँचों इन्द्रियों के विषय निमित्त पड़ते हैं अतः यह पराधीन है किन्तु अतीन्द्रिय सुख सर्वथा मात्र आत्मा के अधीन है। अतः स्वाधीन होने से वही वास्तव में सुख है (२) इन्द्रिय सुख में बाधा अर्थात् आकुलता है। स्पर्शन के सुख की इच्छा हो तो मैथुन की आकुलता, रसना के सुख की इच्छा हो तो खाने-पीने की आकुलता, गंध के सुख की इच्छा तो सूंघने की आकुलता, देखने के सुख की इच्छा हो तो सिनेमा, स्त्री का रूप इत्यादि देखने की आकुलता, सुनने के सुख की इच्छा तो गाना सुनने या रेडियो इत्यादि बजाने की आकुलता किन्तु अतीन्द्रिय सुख में कोई बाधा नहीं है। वह सर्वथा आत्म-प्रदेशों में आह्लादरूप है (३) इन्द्रिय सुख टूटक है क्योंकि साता का

उदय मर्यादित है। उसकी स्थिति पूरी होते ही असाता प्रारम्भ हो जाती है और इस सुख की धारा टूट जाती है किन्तु अतीन्द्रिय सुख सादि अनन्त है। इसकी धारा कभी नहीं टूटती ।(४) इस सुख में रागभाव रहता ही है। उसके निमित्त से कर्म बंधते ही हैं। उनके उदयकाल में भयानक दुःख होता ही है। अतः यह सुख बंध का कारण है किन्तु अतीन्द्रिय सुख रागरहित होता है। उससे बंध नहीं होता (५) यह सुख कभी घटता है तो कभी बढ़ता है। अस्थिर है। एकरूप नहीं रहता है। अतीन्द्रिय सुख सदा एक रूप रहता है उसमें हानिवृद्धि का दोष नहीं है। अतः यह सुख-दुःख नहीं है। अतः यह सुख-दुःख ही है। असली सुख अतीन्द्रिय सुख ही है।

श्री प्रवचनसार जी में कहा है:-

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदएहि लद्धं तं सुखं दुक्खमेव तहा ॥ ७६ ॥

अर्थ–जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख पर के संबंधवाला, बाधा सहित, विच्छिन्न (टूटक), बंध का कारण और विषम है, इस प्रकार से वह दुःख ही है।

टीका– (१) पर के सम्बन्ध वाला होने से (२) बाधासहित होने से (३) विच्छिन्न (टूटक) होने से (४) बंध का कारण होने से और (५) विषम होने से, इन्द्रिय सुख–पुण्यजन्य होने पर भी–दुःख ही है। अब इनको क्रमशः सहेतुक स्पष्ट करते हैं (१) इन्द्रियसुख 'पर के संबंध वाला' होने से पराश्रितपने के कारण से पराधीन है (२) 'बाधा सहित' होने से खाने की इच्छा, पानी पीने की इच्छा, मैथुन की इच्छा, इत्यादि तृष्णाव्यक्तियों (तृष्णा की प्रगटताओं) सहित होने से अत्यन्त आकुल है (३) 'विच्छिन्न' होता हुवा असातावेदनीय का उदय जिसको च्युत कर देता है ऐसा सातावेदनीय के उदय द्वारा प्रवर्तता अनुभव में आने के कारण से विपक्ष की उत्पत्तिवाला है (४) 'बंध का कारण' होता हुवा विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुवी रागादि दोषों की सेना अनुसार कर्म रज के घनपटल का सम्बन्ध होने के कारण से परिणाम में दुःसह है, और (५) 'विषम' होता हुआ हानिवृद्धि में परिणमता होने के कारण से अत्यन्त अस्थिर है; इसलिये वह इन्द्रिय सुख दुःख ही है। जो ऐसा है अर्थात् जो इन्द्रिय सुख-दुःख ही है । तो पुण्य भी, पाप की तरह, दुःख का साधन है, ऐसा फलित हुआ।

भावार्थ–इन्द्रिय सुख-दुःख ही है कारण कि वह पराधीन है, अत्यन्त आकुल है, विपक्ष की (विरोधी की) उत्पत्तिवाला है, परिणाम में दुःसह है और अत्यन्त अस्थिर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुण्य भी दुःख का ही साधन है।

भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात् ।
बज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै ॥ १०१४ ॥

अर्थ–भाव यह है कि इस संसार में सब कर्मों का उदय प्रतिक्षण वज्र आघात (चोट) की तरह आत्मा को पीस रहा है और यह कर्मोदय बड़ी कठिनता से दूर किया जाता है।

भावार्थ–पीसना तो दूर ही रहो, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छू भी नहीं सकता। यह निमित्त का कथन है। भाव यह है कि जीव अनन्त अतीन्द्रिय सुख स्वभावी होकर भी अपने को भूल कर कर्मों में जुड़ रहा है और फलस्वरूप अनन्त दुःख भोग रहा है। (श्री समयसार गाथा ४५ तथा १६०)

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद् ध्रुवम् ।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः ॥ १०१५ ॥

अर्थ–जीव कर्म के उदय से निश्चित रूप से सब प्रदेशों में व्याकुल हो रहा है जैसे अग्नि के संयोग से जल गरम स्पर्श से प्राप्त है।

भावार्थ–जीव कर्म के उदय में जुड़ कर अपने अतीन्द्रिय सुख स्वभाव को छोड़कर महा दुःखी हो रहा है (श्री समयसार गाथा ४५ तथा १६०)। जैसे पानी आग के निमित्त से ठण्डे से गरम हो रहा है उसी प्रकार जीव भी ठण्डे से गरम हो रहा है।

सातासातोदयाद्दुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात् ।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदात्मनः ॥ १०१६ ॥

अर्थ–साता-असाता के उदय से दुःख होता है यह तो दूर ही रहो क्योंकि यह स्थूल उपलक्षण मात्र है। वास्तव में सब कर्मों के उदय का आघात जीव के ऊपर वज्र की चोट के समान है।

भावार्थ–साता-असाता का तो संयोग जनित ही दुःख है। सब से बड़ा दुःख तो जीव के अनन्त चतुष्टय रूप स्वभाव का घात हो रहा है,यह है। श्री समयसार गा. ४५ तथा १६०)

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः ।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु सन्धयः ॥ १०१७ ॥

अर्थ–प्रदेशों में घात है यह दृष्टान्त से प्रत्यक्ष है जैसे वायु रोग के कारण शरीर के जोड़ प्रत्यक्ष पीड़ा करते हैं।

भावार्थ–जिस प्रकार वायुरोगी का प्रत्येक जोड़ पीड़ा करता है उसी प्रकार जीव कर्म के उदय में जुड़ कर सब प्रदेशों में महान दुःखी है और सब प्रदेश जो स्वभाव से अनन्त अतीन्द्रिय सुख स्वरूप है उसके भोग से वंचित हो रहा है।

न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात् सुखावहः ।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥ १०१८ ॥

अर्थ–ऐसा कोई भी कर्म उदय नहीं है जो जीव के लिये सुख का स्थान हो। क्योंकि सब ही कर्मों के स्वरूप से ही विपरीतता है (अर्थात् आत्मस्वभाव से उलटे हैं। आत्मा का स्वभाव सुख ही देने का है। कर्म का स्वभाव दुःख ही देने का है)।

भावार्थ–सुख तो जीव को अपने सामान्य स्वभाव में जुड़ने से ही मिलेगा । कर्म में जुड़ने से तो दुःख ही होगा क्योंकि ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं।

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाः समनस्काः क्वचित् ।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥ १०१९ ॥

अर्थ–उस (कर्म) के मन्द उदय से कोई जीव कभी संज्ञी होते हैं तो उसके वेग को न सह कर विषयों में रमते हैं।

भावार्थ–जीव मोह में जुड़ कर इच्छा रूप रोग उत्पन्न करता है और फिर उस रोग के इलाज के कारण भ्रम से विषयों में पतन करके महान् दुःखी होता है (श्री प्रवचनसार गाथा ६३, ७१) ।

केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः ।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तुं नार्थानपि क्षमाः ॥ १०२० ॥

अर्थ–कोई जीव (कर्म के) तीव्र उदय के कारण थोड़ी इन्द्रियों वाले असंज्ञी होते हैं वे केवल दुःख के वेग से पीडित रहते हैं और विषयों में रमने के लिये भी समर्थ नहीं हैं।

भावार्थ–कई जीवों के अनन्त चतुष्टय का पहले ही इतना घात हो रहा है कि इतना ज्ञान का और वीर्य का क्षयोपशम ही नहीं जो विषयों में भी रम सके। आत्मा हीन दशा को प्राप्त है।

यद्दुःखं लौकिकी रूढिर्निर्णीतेस्तत्र का कथा ।
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तत्सुखं दुःखमर्थतः ॥ १०२१ ॥

अर्थ–जिसको दुनिया दुःख कहती है उसमें निर्णय होने से कहना ही क्या अर्थात् वह तो दुःख है ही किन्तु जिसको दुनिया सुख कहती है वह सुख भी वास्तव में दुःख है।

कादाचित्कं न तद्दुःखं प्रत्युताच्छिन्नधारया ।
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात् ॥ १०२२ ॥

अर्थ–वह दुःख कभी-कभी होने वाला नहीं है किन्तु प्रवाह रूप से निरन्तर होता रहता है। क्योंकि उन विषयों के सम्बन्ध होने पर अतिशय तृष्णा रूपी रोग देखा जाता है।

भावार्थ–जीव विषयों को भोगता अपना दुःख दूर करने और सुख प्राप्ति के हेतु है किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि हम उनको जितना भोगते हैं उतनी अधिक-अधिक भोगने की इच्छा रूप रोग उत्पन्न होता चला जाता है और जीव का दुःख बढ़ता ही चला जाता है। (श्री प्रवचनसार गा. ७४, ७५)

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः ।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥ १०२३ ॥

अर्थ–इन्द्रियों के विषयों में लोलुपियों के कठोर अन्तरंग जलन पाई जाती है क्योंकि उस (अंतरंग जलन) के बिना उन (जीवों) की विषयों में रति कैसे हो सकती है ?

भावार्थ–विषयों में रति प्रत्यक्ष अन्तरंग इच्छा रूप रोग (जलन) की सूचना है (श्री प्रवचनसार ६४, ७४, ७५)

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥ १०२४ ॥

अर्थ–किन्तु इनके विषयों को हितकर मानने से (उनमें) रति देखी जाती है वह रति तृष्णा की बीज है (अर्थात् तृष्णा की वृद्धि करने वाली है)। जैसे जोकों के खराब खून चूसने से उसमें रति देखी जाती है वह पुनः-पुनः चूसने रूप तृष्णा की वृद्धि करती रहती है।

भावार्थ–यह प्रत्यक्ष है कि खराब खून शरीर का गंदा पदार्थ है तो भी जोंक उसे चूसने में आनन्द मानती है। पुनः पुनः चूसने की इच्छा बढ़ती जाती है यहाँ तक कि अधिक चूसकर पेट फटकर मर भी जाती है। उसी प्रकार विषय प्रत्यक्ष ग्लानिमय हैं । महान् दुःखरूप हैं। फिर भी जीव उनमें सुख मानकर रमता है। पुनः-पुनः भोगने की इच्छा बढ़ती है और जीव महान् दुःखी होता है। फलस्वरूप अनिष्ट कर्मों को बांध कर नरक के खड्डे में गिरता है (श्री प्रवचनसार ६४, ७४, ७५)

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनां ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥ १०२५ ॥

अर्थ–केवल पुण्यशाली इन्द्र, चक्रवर्ती आदिकों के विषयों में) रति पाई जाती है जो तृष्णा की बीज (वृद्धि करने वाली) है। इसलिये उनके सुख की प्राप्ति कैसी ? अर्थात् विषयों से कभी किसी की तृप्ति नहीं होती उलटा रोग बढ़ता ही चला जाता है।

भावार्थ–कोई यह कहे कि यहाँ तो कभी साता है तो कभी असाता है अतः दुःख है किन्तु स्वर्ग में तो निरन्तर साता है वहाँ तो सुख है। आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि बहिरंग दृष्टि से मत देख । वस्तु स्वभाव से देख। उनका विषयों में रमना ही उनकी अन्तरंग इच्छा रूप जलन का सूचक है तथा उन भोगों से उनकी पुनः-पुनः भोगने की इच्छा बढ़ती ही जाती है अर्थात् आकुलता रूप दुःख लगा ही रहता है। शान्त नहीं हो पाता। खैर; कभी संतोष और तृप्ति हो जाती तो उसे ही सुख मान लिया जाता (श्री प्रवचनसार ६४, ७३, ७४, ७५) ।

प्रमाण–१००६ से १०२५ तक का सब विषय श्री प्रवचनसारजी गाथा ५३ से ७७ तक में से लिया गया है।

श्री प्रवचनसारजी में कहा है

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ ६४ ॥

अर्थ–जिनके विषयों में रति है उनके दुःख स्वाभाविक जानो कारण कि जो दुःख (उनका) स्वभाव न होय तो विषयों के लिये व्यापार न होवे ।

टीका–जिनकी हत (निकृष्ट-निंद्य) इन्द्रियाँ जीवित हैं, उन्हें उपाधि के कारण (बाह्य संयोगों के कारण, औपपाधिक) दुःख नहीं है, किन्तु स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनकी विषयों में रति देखी जाती है। जैसे–हाथी हथिनीरूपी कुट्टनी के शरीरस्पर्श की ओर, मछली बंसी में फंसे हुये मांस के स्वाद की ओर, भ्रमर बन्द हो जाने वाले कमल के गंध की ओर, पतंगा दीपक की ज्योति के रूप की ओर, और हिरन शिकारी के संगीत के स्वर की ओर

दौड़ते हुवे दिखाई देते हैं उसीप्रकार दुर्निवार इन्द्रियवेदना के वशीभूत होते हुए वे लोग वास्तव में, जोकि विषयों का नाश अतिनिकट है (अर्थात् विषय क्षणिक है) तो भी विषयों की ओर दौड़ते दिखाई देते हैं। और यदि "उनका दुःख स्वाभाविक है ऐसा स्वीकार न किया जाय तो जैसे–जिसका शीतज्वर उपशान्त हो गया है, वह पसीना आने के लिये उपचार करता तथा जिसका दाह्य ज्वर उतर गया है वह वटाचूर्ण (शंख इत्यादि का चूर्ण) आँजता तथा जिसका कर्णशूल नष्ट हो गया है वह कान में फिर बकरे का मूत्र डालता और जिसका घाव भर जाता है वह फिर लेप करता दिखाई नहीं देता–इसी प्रकार उनके विषय व्यापार देखने में नहीं आना चाहिये; किन्तु उनके वह (विषय प्रवृत्ति) तो देखी जाती है। इससे (सिद्ध हुवा कि) जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं ऐसे परोक्षज्ञानियों के दुःख स्वाभाविक ही हैं।

भावार्थ–परोक्षज्ञानियों के स्वभाव से ही दुःख है क्योंकि उनके विषयों में रति वर्तती है। कभी-कभी तो वे असह्य तृष्णा की दाह से (तीव्र इच्छा रूपी दुःख के कारण) मरने तक की परवाह न करके क्षणिक इन्द्रिय विषयों में कूद पड़ते हैं। यदि उन्हें स्वभाव से ही दुःख न हो तो विषयों में रति ही न होनी चाहिये। जिसके शरीर का दाह–दुःख नष्ट हो गया हो वह बाह्य शीतोपचार में रति क्यों करेगा ? इससे सिद्ध हुवा कि परोक्ष ज्ञानियों के दुःख स्वाभाविक ही हैं। तथा

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७५ ॥

अर्थ–और जिनकी तृष्णा उदित है ऐसे वे जीव तृष्णाओं के द्वारा दुखी होते हुए मरण पर्यन्त विषय सुखों को चाहते हैं और दुखों से संतप्त होते हुए (दुःख दाह को सहन न करते हुए) उन्हें भोगते हैं।

टीका–जिनके तृष्णा उदित है ऐसे देवपर्यन्त समस्त संसारी, तृष्णा दुःख का बीज होने से पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा भी अत्यन्त दुःखी होते हुए मृगतृष्णा में से * जल की भांति विषयों में से सुख चाहते हैं, और उस दुःख-संताप के वेग को सहन न कर सकने से जोंक की भांति विषयों को तब तक भोगते हैं जब तक कि मरण को प्राप्त नहीं होते। जैसे जोंक (गोंच) तृष्ण जिसका बीज है ऐसे विषय को प्राप्त होती हुई दुःखांकुर से क्रमशः आक्रान्त होने से दूषित रक्त को चाहती और उसी को भोगती हुई मरणपर्यन्त क्लेश को पाती है, उसी प्रकार यह पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवों की भांति तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विषय प्राप्त दुःखांकरों के द्वारा क्रमशः आक्रांत होने से विषयों को चाहते हुए और उन्हीं को भोगते हुए विनाश पर्यन्त (मरणपर्यन्त) क्लेश पाते हैं। इससे पुण्य सुखाभासरूप दुःख का ही साधन है।

भावार्थ–जिन्हें समस्त विकल्पजालरहित परमसमाधि से उत्पन्न सुखामृतरूप सर्व आत्म प्रदेशों में परम आह्लादभूतस्वरूप तृप्ति नहीं वर्तती, ऐसे समस्त संसारी जीवों के निरन्तर विषयतृष्णा व्यक्तरूप से या अव्यक्तरूप से अवश्य वर्तती हैं। वे तृष्णारूपी बीज क्रमशः अंकुररूप होकर दुःखवृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होकर इस प्रकार दुःखदाह का वेग असह्य होने पर वे जीव विषयों में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए जिनकी विषयों में प्रवृत्ति देखी जाती है ऐसे देवों तक के समस्त संसारी जीव दुःखी ही हैं। इस प्रकार दुःख भाव ही पुण्यों का–पुण्यजनित सामग्री का आलम्बन करता है इसलिए पुण्य सुखाभासभूत दुःख का ही अवलम्बन साधन है।

अगली भूमिका–इस प्रकार जो विषय सुख का स्वरूप दिखलाया गया है इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि के हृदय में विषयों का ऐसा स्वरूप अङ्कित हो चुका है। अतः उसे स्वभाव से ही उनके प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई है। सो अब कहते हैं:–

सम्यग्दृष्टि के विषय सुख की अभिलाषा नहीं है

सूत्र १०२६ से १०४४ तक १९

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकम् ।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनां ॥ १०२६ ॥

जैसे मृगजल में से जल नहीं मिलता वैसे ही इन्द्रिय विषयों में से सुख प्राप्त नहीं होता ।

अर्थ–उपर्युक्त विषय के कथन करने का सब तात्पर्य यही है कि इस जगत में सुख नाम से कहा जाता है वह दुःख ही है। और उस दुःख के अनात्म धर्म होने से सम्यग्दृष्टियों की उसमें अभिलाषा नहीं है।

भावार्थ–मिथ्यादृष्टि पुण्य-पाप ऐसे दो भेद करते हैं। सम्यग्दृष्टि धर्म और अधर्म ऐसे दो भेद करते हैं। और पुण्य पाप को अधर्म में गिनते हैं। मिथ्यादृष्टि शुभ-अशुभ ऐसे दो भेद करते हैं सम्यग्दृष्टि शुद्ध-अशुद्ध ऐसे दो भेद करते हैं और शुभ-अशुभ दोनों को अशुद्ध में गिनते हैं। मिथ्यादृष्टि सुख-दुःख ऐसे दो भेद करते हैं सम्यग्दृष्टि अतीन्द्रिय सुख और वैषयिक दुःख ऐसे दो भेद करते हैं। ऐसा क्यों है ? मिथ्यादृष्टि को स्वभाव की खबर नहीं है वह केवल अनात्मवस्तु में दो भेद करता है। सम्यग्दृष्टि एक ओर आत्मा को देखते हैं दूसरी ओर अनात्मा को। दोनों की दृष्टि में महान् अन्तर है। क्योंकि इन्द्रियसुख अनात्मधर्म है, कर्म का धर्म है, पुद्गल का धर्म है। विभाव है, वास्तव में दुःख है अतः सम्यग्दृष्टियों को उसमें अभिलाषा नहीं होती। स्वर्ग का भोजन खाने वाला इस लोक के भोजन की इच्छा नहीं करता उसी प्रकार अतीन्द्रिय सुख की कणिका मात्र का भी भोग करने वाला ज्ञानी इसकी अभिलाषा क्या करेगा ?

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनां ।
रागस्याज्ञानभावत्वादस्ति मिथ्यादृशः स्फुटं ॥ १०२७ ॥

अर्थ–सम्यग्दृष्टियों के विषय-सुख में रागभाव (चपक) उपादेयपना नहीं होता है। राग के अज्ञानभाव होने से प्रगट मिथ्यादृष्टि के होता है।

भावार्थ–विषय सुख को वास्तविक सुख मानना तत्त्व की भूल है। इसको मिथ्यात्व या अज्ञान भाव या रागभाव कहते हैं। ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। सम्यग्दृष्टि के विषय सुख में उपादेयता न होने के कारण रागभाव नहीं है।

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः ।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽस्य कर्मणि ॥ १०२८ ॥

अर्थ–सम्यग्दृष्टि के तो सम्यक्त्वरूप आत्मा की अवस्थान्तर है इसलिये सामान्य जीवों (लौकिक जनों) की तरह इसकी कर्म में (कर्मोदय जन्य सामग्री में) अभिलाषा नहीं है।

भावार्थ–पहले नं. ९६५ में बता आये हैं कि सम्यक्त्व आत्मा की ज्ञानचेतना रूप भिन्न जाति की अवस्था है। विषय-सुख की अभिलाषा का अविनाभाव तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के साथ है वह अज्ञानी के होती है। सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना है। ज्ञानचेतना वाले के ज्ञान का आश्रय है। कर्म का आश्रय नहीं है। दूसरे सम्यग्दृष्टि को स्वपर का भेद विज्ञान है। वह सामान्य आत्मा अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकाय को मूल आत्ममेटर समझता है शेष सब कुछ कर्म समझता है। मिथ्यादृष्टि को मूल जीवास्तिकाय का ज्ञान नहीं है। वह कर्मजनितसामग्री को ही 'स्व' समझता है। सम्यग्दृष्टि की मूल जीवास्तिकाय में 'स्व' की श्रद्धा है। शेष सब कुछ पर अर्थात् कर्म मानता हुआ उसमें उसकी अभिलाषा नहीं है। जिसको जो 'स्व' समझेगा। उसी में उसकी अभिलाषा होगी – ऐसा अविनाभाव है।

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत् ।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥ १०२९ ॥

अर्थ–जैसे रोग में सब की उपेक्षा देखी जाती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के सब भोगों में उपेक्षा (अरुचि अचपक-वैराग्य) होती है। उस (सम्यक्त्व) अवस्था का वैसा भाव होना (विषयों में अरुचि होना) अवश्य स्वभाव से ही है।

भावार्थ–मिथ्यात्व का और विषयों में रुचि का अविनाभाव है तथा सम्यक्त्व का और विषयों में अरुचि का अविनाभाव है। ऐसा वस्तु स्वभाव है। स्वाभाविक है। सम्यग्दृष्टि विषयों को रोगवत् समझता है। जैसे रोग में किसी को रुचि नहीं होती । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की विषय में रुचि नहीं होती ।

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुञ्चति ।
अत्रास्त्यावस्थिकः कश्चित्परिणामः सहेतुकः ॥ १०३० ॥

अर्थ–यह तो रूढ़ि है कि ज्ञानी (विषयों की) हेय जानकर त्याग करता है किन्तु इस (त्याग) में उस (सम्यक्त्व) अवस्था का कोई परिणाम ही कारण है (पूर्व श्लोक नं. ९६५ तथा १०२८) ।

भावार्थ–आचार्य कहते हैं कि आगम में तथा लोक में यह कहने में आता है कि ज्ञानी विषयों को हेय जानकर छोड़ता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि का ज्ञानचेतना रूप जो परिणमन हो गया है उस परिणमन का ही कुछ ऐसा कमाल है कि उसके रहते सन्ते विषयों की अभिलाषा ही जागृत नहीं होती । यह वास्तविक कारण है। हेय ज्ञान कर छोड़ना तो मात्र कहने की बात है।

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां रागाभावस्य दर्शनात् ॥ १०३१ ॥

अर्थ–किसी आत्मा के (विषयों में) सर्वथा अभिलाषपने का अभाव सिद्ध है क्योंकि हम लोगों के भी आंशिक रूप से राग (चपक) का अभाव देखने में आता है (इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार स्वयं ज्ञानी थे) ।

भावार्थ–आर्यसमाज इत्यादि कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि किसी के विषय अभिलाषा का अभाव होता ही नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि हम ज्ञानी हैं। हमें अपने अनुभव से प्रत्यक्ष अपने में एक देश विषय सुख की अभिलाषा का अभाव अनुभव में आ रहा है तो इसकी अविनाभाव व्याप्ति से यह सिद्ध है कि बड़े ज्ञानियों के विषय अभिलाषा का सर्वथा अभाव भी हो जाता है। विषय अभिलाषा का ही दूसरा नाम रागभाव श्रीसमयसारजी में कहा है। यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव प्रमाण से सिद्ध किया है। जिनका यह कहना है कि अपने सम्यक्त्व का भी अपने को पता नहीं चलता वे इस सूत्र का अर्थ कैसे सिद्ध करेंगे ?

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः ।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ॥ १०३२ ॥

अर्थ–वह इस प्रकार कि– यह मेरा नहीं है दूसरे का है। इसलिये पर प्रकरण में कोई तृप्त होता हुवा भी तृप्त नहीं होता है। (इसी प्रकार ज्ञानी विषयों को आत्मस्वभाव नहीं मानता इसलिये उनसे तन्मय नहीं होता) ।

भावार्थ–आचार्य महाराज उपर्युक्त बात को सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि एक शाह का खजांची है। लाखों रुपया लेता हैं किन्तु "यह सेठ का है मेरा नहीं है" इस श्रद्धा के कारण उस रुपये से उसकी कुछ तृप्ति नहीं होती। इसी प्रकार किसी-किसी सम्यग्दृष्टि के साता के उदय से सब विषय-सुख प्राप्त हो जाते हैं पर वह जानता है कि यह परकृतवस्तु है, पराधीन है, क्षणिक है, बाधासहित है, बन्ध की कारण है, विषम है। अतः वह उससे तृप्त नहीं होता किन्तु अपने आत्मिक सुख से ही तृप्त होता है (श्रीसमयसार गा. १९७)।

यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियां ।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान् ॥ १०३३ ॥

अर्थ–जैसे कोई पराधीन (पुरुष) अनुचित क्रिया को करता हुवा भी उस क्रिया का कर्ता नहीं होता क्योंकि उनमें उसकी इच्छा नहीं है।

भावार्थ–यहाँ शिष्य पूछता है कि महाराज जब सम्यग्दृष्टि के विषय सुख में अभिलाषा नहीं है तो भोगता क्यों है? तो आचार्य समझाते हैं कि जिस प्रकार बन्दी खाने में कैदी को न चाहते हुवे भी बहुत-सी क्रियायें करनी पड़ती हैं उसी प्रकार ज्ञानी चाहता तो नहीं पर पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण तथा नीची भूमिका होने के कारण वह कर्मज क्रिया हो जाती है या यूं भी कह सकते हैं कि ज्ञानी को करनी पड़ जाती है पर उस क्रिया में उसकी इच्छा और रुचि न होने के कारण वह उसका कर्ता भोगता नहीं होता ।

शङ्का

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम् ।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान् ॥ १०३४ ॥

शंका–सम्यग्दृष्टि इन्द्रियों के विषयसमूह को भोगता है और उन विषयों में उसके लिये इष्ट रुचता भी है फिर वह चाहरहित कैसे हैं ?

भावार्थ–इतना समझाने पर भी शिष्य की संतुष्टि नहीं हुवी । वह वेग में आकर कहता है कि महाराज तीर्थंकर बड़ा तो कोई ज्ञानी नहीं होता। क्षायिक सम्यग्दृष्टि और किसी-किसी सम्यग्दृष्टि ने ९६ हजार स्त्रियों तक से लग्न

किया। उन्होंने विषय भोग भी किया होगा। वह विषय उनको रुचिकर भी हुवा होगा। मैं कैसे मान लूं कि बहिरंग में ये सब क्रियाएँ करते हुवे भी आप यही कहते रहें कि उसके विषय अभिलाषा नहीं है। वह रोगवत् समझता है उसे यह क्रिया करनी पड़ती है। मेरी समझ में ये बातें नहीं आतीं ?

समाधान सूत्र १०३५ से १०४४ तक १०

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं परमाश्रितः ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥ १०३५ ॥

अर्थ–ठीक है। सम्यग्दृष्टि ऐसा है किन्तु तभी तक कि जबतक जघन्य पद में स्थित है और उस जघन्य पद का कारण चारित्रावरण कर्म है।

भावार्थ–तुमने जो कुछ कहा वह कुछ ठीक सा है। हम तुझे इसका कारण खोल कर १०४४ तक समझाते हैं। सुन ! सम्यग्दृष्टि तो चौथे से सिद्ध तक सभी हैं। सब पर यह बात लागू नहीं होती केवल कुछ पर थोड़ी-सी लागू होती है और इसका कारण यह है कि अभी उस ज्ञानी की जघन्य अवस्था है। दृष्टि में भेद विज्ञान है। वस्तु का स्वरूप ठीक झलक रहा है फिर भी अभी चारित्र में निर्बलता है। विकल्प उठता है। स्वरूप में ठहर नहीं सकता है इसकारण चारित्र मोह में जुड़ जाता है और विषयों पर लक्ष चला जाता है।

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात् ।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोऽस्त्यतीन्द्रियः ॥ १०३६ ॥

अर्थ–(वह सम्यग्दृष्टि) जीव चारित्रमोहनीय के उदय से उन इन्द्रियों के विषयों में रत (लगा हुवा)। और उस (चारित्र मोह कर्म के उदय) के बिना सर्वथा शुद्ध, वीतराग, अतीन्द्रिय है।

भावार्थ–भाई, सर्वज्ञ में और छोटे ज्ञानी में इतना ही तो अन्तर है कि उस में राग नहीं है। इसमें चारित्र सम्बन्धी कुछ राग है। इस राग के कारण ही तो इसकी जघन्य दशा बनी हुवी है। यदि इस राग को उसमें से गौण करके देखो तो यह भी केवलीवत् शुद्ध वीतराग अतीन्द्रिय है। उसका लघुनन्दन ही तो है। वैसा होने जा रहा है।

दृग्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगालनिच्छितः ।
हेतुसद्भावतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात् ॥ १०३७ ॥

अर्थ–दर्शनमोहनीय के अभाव से निश्चय करके भोगों की इच्छा नहीं रखने वाले उस सम्यग्दृष्टि के (भोगक्रिया के) कारणभूत कर्म के सद्भाव से (उदय से) अवश्य उपभोग क्रिया बलपूर्वक होती है।

भावार्थ–अब आचार्य सिद्धान्तिक रीति से समझाते हैं कि भाई, आत्मा में श्रद्धा और चारित्र दो भिन्न-भिन्न गुण हैं। उनके कार्य भी सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। उनके आवरण भी भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धा गुण प्रगट होने पर नियम से भोगों की इच्छा का अभाव हो जाता है ऐसा अविनाभाव है क्योंकि भोगों की इच्छा अनन्तानुबन्धी का राग है और उसका उत्पादक दर्शनमोह है जिसका उसके अभाव है। इस अपेक्षा से तो वह ज्ञानी भोगों में निरभिलाषी सिद्ध है। बाकी चारित्रमोह भाव के सद्भाव के कारण भोगों पर लक्ष जाता है। सो इस दोष के कारण आप उसे यह नहीं कह सकते कि उसे भोगों को इच्छा है।

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात् ।
जगतोऽनिच्छतोऽप्यस्ति दारिद्रयं मरणादि च ॥ १०३८ ॥

अर्थ–वह विरागपना अर्थात् भोगों में अनिच्छापना (विषयों में) केवल क्रिया मात्र के देखने से असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध है जैसे जगत के नहीं चाहते हुये भी दरिद्रता और मरण आदि होता है।

भावार्थ–भाई ! आपने जो यह कहा था कि क्योंकि उसके बहिरंग क्रिया है इसलिये इच्छारहितपना नहीं कह सकते सो बात यह है कि किसी बहिरंग क्रिया रहते सन्ते उसके अनुकूल अन्तरंग परिणाम की सिद्ध नहीं हो सकती। बहुत कार्य ऐसे हैं कि हम नहीं चाहते और होते हैं। अभी हमारी दुकान के सामने कोई लड़ाई या खून हो जाय तो गवर्नमेन्ट हमें गवाही में बुला लेती है। नहीं चाहते हुये भी जाना पड़ता है। अन्तरंग परिणाम जाने का बिल्कुल नहीं है। अन्तरंग परिणाम तो व्यापार में है कि नुकसान होगा किन्तु क्रिया कचेहरी जाने की हो रही है। कौन चाहता है मैं दरिद्री रहूँ।

मेरा मरण हो, पर सब कुछ होता ही है। इसलिये इच्छा के अनुकूल ही बहिरंग क्रिया हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। भाई दर्शनमोह राग के अभाव के कारण विषय अभिलाषा तो खत्म होगई है केवल चारित्र में राग रहने के कारण न चाहते हुये भी अभी पर्याय अटकती है और बहिरंग क्रिया दीखती है।

व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥ १०३९ ॥

अर्थ–जैसे कोई रोगी पुरुष रोग की प्रतिक्रिया (इलाज) करता हुवा भी उस रोग अवस्था में रोग अवस्था को नहीं चाहता है फिर रोग के पुनः होने (की इच्छा) के बारे में कहना ही क्या ?

भावार्थ–अब आचार्य एक दृष्टान्त देकर समझाते हैं जिस प्रकार एक रोगी है। रोग को बुरा जानता है। उसको दूर करने का इलाज भी करता है। क्या यह कहा जा सकता है कि वह पुनः रोग की उत्पत्ति चाहता होगा। कदापि नहीं।

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियां ।
नेच्छेत् कर्मपदं किंचित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥ १०४० ॥

अर्थ–उसी प्रकार कर्म के द्वारा पीड़ित ज्ञानी कर्मजन्य क्रिया को करता हुवा भी किसी भी कर्म पद को नहीं चाहता है तो फिर वह इन्द्रियों के विषयों का अभिलाषी किस न्याय से कहा जा सकता है।

भावार्थ–ज्ञानी को निश्चय नय द्वारा अपने शुद्ध स्वभाव का अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकाय का भिन्न ज्ञान है और कर्मज संयोगी पदार्थ का भिन्न ज्ञान है क्योंकि वह भेद विज्ञान को पा चुका है। अब वह केवल अपने शुद्ध तत्त्व को ही चाहता है और शेष संयोगी किसी भी परवस्तु या भाव को नहीं चाहता । ना चाहने पर भी जब तक पूर्वबद्ध कर्मों का उदय है तब तक जैसे केवली में उदयज क्रिया बिना इच्छा के हो-होकर खिर जाती है उसी प्रकार इसमें भी चारित्रमोह की क्रिया हो-होकर खिर रही है किन्तु वह उसे चाहता नहीं है। फिर आगे होने की इच्छा का होना तो रहा ही कहाँ ?

नासिद्धोऽनिच्छतस्य कर्म तस्यामयात्मनः ।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद् भोगादिहेतुकः ॥ १०४१ ॥

अर्थ–कर्म को नहीं चाहने वाले उस सम्यग्दृष्टि के (वेदना का प्रतीकार) असिद्ध नहीं है क्योंकि सरागी उस सम्यग्दृष्टि के वेदना का प्रतीकार नवीन भोगादि के उत्पन्न करने में कारण नहीं कहा जा सकता ।

भावार्थ–उसी प्रकार ज्ञानी इन्द्रिय विषयों को रोगवत् समझता है। रोग नहीं सहा जाता है तो इलाजवत् कुछ रमता भी है पर क्या यह कहा जा सकता है कि वह पुनः इस दुःख उत्पत्ति की इच्छा करता होगा कदापि नहीं। वर्तमान दुःख न सह सकने के कारण से इलाजवत् रमते हुवे को देख कर यह व्याप्ति नहीं लगाई जा सकती कि वह आगामी विषयों को चाहता भी है।

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माकामकृतं यतः ॥ १०४२ ॥

अर्थ–वह सम्यग्दृष्टि भोगों को भोगता हुवा भी नहीं भोगने वाला है क्योंकि राग रहित जीव के बिना इच्छा के किया गया कर्म राग के लिये नहीं होता है।

भावार्थ–केवली भगवान् में उठना, बैठना, चलना, उपदेश देना आदि बहिरंग औदयिक कर्मज क्रियाएं तो होती ही हैं पर उनके रागरहित अवस्था होने से वे उन क्रियाओं के होने पर भी अकर्ता हैं। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के चारित्र मोहवश भोगों की संयोग क्रिया होते हुवे भी वह उनका अभोक्ता है क्योंकि केवली में दोनों प्रकार के रागभाव का अभाव है और इसके दर्शनमोह का अभाव है। दर्शनमोह के अभाव से इच्छा का अभाव हो जाता है, जीव राग रहित हो जाता है और उस वीतरागी के भोग भोग के लिये या राग के लिये या कर्मबन्ध के लिये नहीं होते (श्रीसमयसार गा. १९७)

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना ।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ १०४३ ॥

अर्थ–यद्यपि किसी-किसी उस सम्यग्दृष्टि के (अर्थात् जघन्य पदवर्ती सम्यग्दृष्टि के) कर्म चेतना और कर्मफल में वह चेतना होती है। वास्तव में वह ज्ञानचेतना ही है।

भावार्थ–यद्यपि नीचे की दशा में किसी-किसी सम्यग्दृष्टि के कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का अस्तित्व जरूर है किन्तु वास्तव में वह ज्ञान चेतना ही है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का स्वामी नहीं है। कर्ता भोक्ता नहीं है–ज्ञाता है। और जो ज्ञाता होता है उसके ज्ञान चेतना ही कही जाती है कर्मचेतना और कर्मफल चेतना नहीं क्योंकि (कारण अगले सूत्र में बताते हैं) (देखिये पूर्व श्लोक नं. ९७३)

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि ।
रागाभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥ १०४४ ॥

अर्थ–कर्म में और उस (कर्म) के फल में रहने वाली चेतना का फल बन्ध है परन्तु इस सम्यग्दृष्टि के राग का अभाव होने से बन्ध नहीं होता इसलिये वह ज्ञानचेतना ही है।

भावार्थ–क्योंकि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का फल कर्म बन्ध है अतः जिस चेतना से कर्म बन्ध हो वही तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना कही जायेगी किन्तु जिससे कर्मबन्ध न हो वह काहे की कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। वह तो ज्ञान चेतना ही है। बन्ध वास्तव में बहिर भोगों के संयोग मात्र से नहीं होता किन्तु उन भोगों में एकत्वबुद्धि अर्थात् उन्हें ही आत्मा का स्वरूप समझने से होता है और उसका ज्ञानी के अभाव है। अज्ञानी जगत् की बहिर् दृष्टि है। वह ज्ञानी के भोगों का संयोग मात्र देखकर उसके भोगने की इच्छा और उसे ही उनका कर्ता-भोक्ता समझ लेता है। ज्ञाता की बात उसकी समझ में नहीं आती। वास्तव में ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जाने वह शब्द में नहीं आती। और अज्ञानी ज्ञानी के भाव को नहीं जान सकता वह तो उसे अपने ही पैमाने से नापता है।

प्रमाण–सूत्र १०२६ से १०४४ तक सब विषय ग्रन्थकार ने श्री समयसारजी गा. १९७ से २२७ तक तथा उनके कलशों पर से लिया है। वहाँ पर यह विषय कलश नं. १५३ पर इन शब्दों में समाप्त हुआ है। सोनगढ़ समयसार पन्ना ३३७ ।

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥ १५३ ॥

अर्थ–जिसने कर्म का फल छोड़ दिया है वह कर्म करता है, ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि–उसे (ज्ञानी को) भी किसी कारण के कोई ऐसा कर्म अवशता से (उसके वश बिना) आ पड़ता है। उसके आ पड़ने पर भी, जो अकम्प परम ज्ञानस्वभाव में स्थित है, ऐसा ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ?

भावार्थ–ज्ञानी के परवशता से कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञान से चलायमान नहीं होता। इसलिये ज्ञान से अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ? ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानी के परिणामों को जानने की सामर्थ्य अज्ञानी की नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सभी ज्ञानी ही समझना चाहिये। उनमें से अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहार-विहार करते हुवे मुनियों के बाह्य क्रियाकर्म होते हैं, तथापि ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण निश्चय से वे, बाह्य क्रियाकर्म के कर्ता नहीं हैं, ज्ञान के ही कर्ता हैं। अन्तरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा यथासंभव कषाय के अभाव से उनके परिणाम उज्ज्वल हैं। उस उज्ज्वलता को ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं, वे बाहर से ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा क्या जाने ?

अगली भूमिका–यहाँ तक यह सिद्ध किया है कि सम्यग्दृष्टि की विषयसुख में हेय बुद्धि है। उसकी अतीन्द्रिय सुख में उपादेयबुद्धि है यह आगे १११३ से ११३८ तक सिद्ध करेंगे। अब यह समझाते हैं कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। अतः सम्यग्दृष्टि की स्वाभाविक (अतीन्द्रिय) ज्ञान में रुचि है। ऐन्द्रिय ज्ञान में भी उसकी रुचि नहीं है। क्यों नहीं है इसके लिये इन्द्रिय ज्ञान का निकृष्ट स्वरूप तथा वह दोषों का स्थान है यह भी दिखलाते हैं:–

सुख और ज्ञान के भेद तथा उनमें हेय-उपादेयता

अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम् ।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥ १०४५ ॥

अर्थ–जैसे सुख इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय है वैसे ही ज्ञान भी इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय है। पहले दोनों (इन्द्रिय-जन्य सुख और इन्द्रियजन्य ज्ञान) उपादेय नहीं हैं–हेय हैं किन्तु दूसरे दोनों (अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान) उपादेय हैं। (श्री प्रवचनसार गाथा ५३) [अध्यात्म का ऐसा नियम है कि इन्द्रिय सुख या ज्ञान का वर्णन करना होता है तो प्रथम गुणस्थानवर्ती अज्ञानी का करते हैं और अतीन्द्रिय सुख या ज्ञान का वर्णन करना होता है तो केवली का करते हैं। श्रीप्रवचनसारजी में सब वर्णन इसी नियम के आधार पर है।]

ऐन्द्रिय ज्ञान का वर्णन १०४६ से १०७५ तक ३०

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ॥ १०४६ ॥

अर्थ–निश्चय से जो ज्ञान पर से (इन्द्रियादिक के निमित्त से) होता है और जो ज्ञान प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमनशील है, वह व्याकुल तथा (भाव) मोह युक्त होता है। वास्तव में दुखरूप और निष्प्रयोजन है।

भावार्थ–ज्ञान का काम जानना है किन्तु जव तक जीव मिथ्या दृष्टि है उसके इन्द्रियज्ञान में मिथ्यात्व के कारण ऐसा दोष रहता है कि जिस पदार्थ को भी वह जानता है उसी में अपने पराये की कल्पना करता है, उसे लाभदायक या हानिकारक मानता है और लाभकारक कल्पित में राग और हानिकारक कल्पित में द्वेष प्रारम्भ कर देता है इसको ज्ञान का प्रति-अर्थ परिणमन कहते हैं। फिर उस राग-द्वेष-मोह से व्याकुल होकर दुःखी होने लगता है। इस प्रकार यह इन्द्रियज्ञान दुःख रूप है वास्तव में अनर्थकारक है और एक प्रकार से ज्ञान ही नहीं है। अतः यह हेय है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान सब पदार्थों को एक ही समय में जानने के कारण तथा मोह रहित होने के कारण प्रत्यर्थ परिणमनशील नहीं है अतः व्याकुल भी नहीं है। वही वास्तव में ज्ञान है; सुखरूप है तथा उपादेय है। (श्रीप्रवचनसार गा. ४२, ५५ टीका)

सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः ।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ॥ १०४७ ॥

अर्थ–इस (इन्द्रियज्ञान) के दुःखपना सिद्ध है क्योंकि बहुत व्याकुलता की प्राप्ति है और जाने हुवे पदार्थों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का सद्भाव रहने पर उनके जानने की इच्छा आदि देखी जाती है।

भावार्थ–जिस पदार्थ को यह इन्द्रिय ज्ञान जानता है उस में तो राग-द्वेष-मोह की कल्पना से दुःखी होता है । यह तो पहले सूत्र में बता कर ही आये हैं। अब कहते हैं कि जिस पदार्थ को नहीं जानता है उसमें जानने की इच्छा से दुःखी होता हैं जैसे यह कार्य नामालूम कैसे होगा? इस मुकदमे का नामालूम क्या फैसला होगा ? इत्यादिक कल्पनाओं से न जाने हुवे पदार्थ में दुःखी होने लगता है। (श्री प्रवचनसार गा. २३२ टीका) अतः यह दुःखरूप तथा हेय है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान सकलप्रत्यक्ष होने के कारण किसी पदार्थ का जानना शेष न रहने से उसमें दुःख नहीं है अतः वह उपादेय है।

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः ।
उपयोगि सदर्थेषु ज्ञानं वाऽप्यसुखावहम् ॥ १०४८ ॥

अर्थ–शेष पदार्थों के जानने की इच्छा रखने वाले का अज्ञान से मन व्याकुल रहता है यह तो दूर ही रहो किन्तु जानने वाले पदार्थों में उपयोगी ज्ञान भी दुःखदायक है [यह १०४६ में स्पष्ट कर आये हैं]

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात् ।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात्कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥ १०४९ ॥

अर्थ–वह (इन्द्रियज्ञान) प्रमत्त है क्योंकि मोह से युक्त है। निकृष्ट है क्योंकि अपनी उत्पत्ति में बहुत कारणों की पेक्षा रखता है। व्युच्छिन्न है क्योंकि क्रमपूर्वक जानने वाला है। कृच्छ्र है क्योंकि ईहा–अवाय–आदि ज्ञानों के क्रम-
होता है।

भावार्थ–इन्द्रियज्ञान में निम्नप्रकार के दुःख हैं (१) वह सत् (सच्चे) और असत् (झूठे) की विशेषता बिना शराबी के समान इच्छानुसार जानता है क्योंकि स्व पर का भेदविज्ञान नहीं है किन्तु एकत्वबुद्धि युक्त है (२) इस ज्ञान में बहुत से निमित्तों की आवश्यकता पड़ती है जैसे हमें किसी पदार्थ को जानना है तो आँख ठीक होनी चाहिये, चश्मा चाहिए, रोशनी चाहिये, पुस्तक चाहिये, उसके समझाने-पढ़ाने वाला चाहिये इत्यादिक अनेकों निमित्तों की अपेक्षा रखने वाला है। (३) ज्ञान का स्वभाव एक साथ सबको जानने का है पर यह इन्द्रियज्ञान क्रम से एक-एक पदार्थ को जानता है। (४) निकृष्ट है क्योंकि किसी पदार्थ का ज्ञान होने में पहले अवग्रह ज्ञान होगा, फिर ईहा, फिर अवाय, फिर धारणा। अतः यह दुःख रूप है–हेय है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान मोह रहित होने से ठीक-ठीक जानता है। आत्मसापेक्ष मात्र होने से किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता है। अक्रमवर्ती है क्योंकि सबको एक साथ जान लेता है। अवग्रह ईहादि के क्रम से रहित है। अतः वह सुखरूप तथा उपादेय है।

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ॥ १०५० ॥

अर्थ–(वह) परोक्ष है क्योंकि पराधीन (पर के निमित्त से उत्पन्न होने वाला) है। आक्ष्य है क्योंकि इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। सदोष है क्योंकि उसमें संशय आदि दोषों की संभावना है।

भावार्थ–इन्द्रिय ज्ञान पर निमित्तों की अपेक्षा रखने के कारण पराधीन है। पराधीन को परोक्ष भी कहते हैं। यह ज्ञान इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होता है यह दुःख तो प्रत्यक्ष ही है। फिर इस इन्द्रिय ज्ञान का विश्वास कुछ नहीं क्योंकि इसके द्वारा जाने हुए पदार्थ में संशय विपर्यय और अनध्यवसाय की संभावना है अतः यह दुःख है तथा हेय है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्षं है, स्वाधीन है, इन्द्रियों की अपेक्षा रहित है तथा संशयादि दोषों से रहित है। अतः वह सुखरूप तथा उपादेय है।

विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम् ।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥ १०५१ ॥

अर्थ–विरुद्ध है क्योंकि बन्ध का कारण है। कर्मज है क्योंकि बंध का कार्य है। अश्रेय है क्योंकि अनात्मधर्म है। अशुचि है क्योंकि स्वयं कलुषित है।

भावार्थ–इन्द्रियज्ञान राग-द्वेष-मोह से मिला रहता है अतः बंध का कारण है। कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है अतः बंध (कर्म) का कार्य है। अकल्याणरूप है क्योंकि अनात्मधर्म है। विभाव को अनात्मधर्म कहते हैं। अपवित्र है क्योंकि काईवत् राग-द्वेष-मोह से मलिन है। अतः दुःखरूप तथा हेय है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान बंध का कारण नहीं है क्योंकि राग-द्वेष-मोह से रहित है। बंध का कार्य भी नहीं है क्योंकि कर्म का तो नाश हो चुका है। आत्मा का धर्म है–स्वभाव है। अतः कल्याणरूप है। पवित्र है क्योंकि इसमें राग-द्वेष-मोह की मलीनता नहीं है। अतः सुखरूप तथा उपादेय है।

मूर्च्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्द्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥ १०५२ ॥

अर्थ–मूर्च्छित है क्योंकि जो मृगी रोग के वेग के समान बढ़ जाता है, अथवा क्षण भर में घट जाता है अथवा क्षण भर में लोप हो जाता है।

भावार्थ–इन्द्रिय ज्ञान का कुछ भरोसा नहीं। अभ्यास करने पर बढ़ता दीखता है। सर में कोई चोट आ जाने पर या बुढ़ापे में या शरीरक्षीण होने पर घटता-दीखता है और कई बार मस्तिष्क रोग होने या पागल वगैरह होने पर लोप भी हो जाता है। इसका क्या भरोसा। अतः यह दुःखरूप है–हेय है, किन्तु अतीन्द्रियज्ञान न घटता है, न बढ़ता है, न नाश होता है क्योंकि विरोधी के नाश से उत्पन्न हुवा है अतः सुखरूप तथा उपादेय है।

अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसस्थितिं ॥ १०५३ ॥

अर्थ—अशरण है क्योंकि थोड़ी देर के लिये शान्त हुवे विरोधी कर्म के जीवित अवस्था में रहने से, वह अवश्य अपने रस की स्थिति को (उदय को) प्राप्त होगा (और फिर यह नष्ट हो जायेगा । इसलिये उसकी शरण क्या) ।

भावार्थ—इन्द्रिय ज्ञान कर्म के क्षयोपशम से होता है और वह क्षयोपशम मर्यादित है। उसका समय पूरा होने पर निगोदादि दशा में उसका अभाव हो जाता है। अतः वह आश्रय करने योग्य नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान में विरोधी का नाश होने से अब जाने वाला नहीं है अतः शरणभूत है। उपादेय है।

तीन इकट्ठे

दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलंभकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥ १०५४ ॥

अर्थ—नाममात्र का ज्ञान है क्योंकि छहों द्रव्यों में मूर्त द्रव्य का ही जानने वाला है। उन (मूर्त) में भी सूक्ष्मों में प्रवृत्त नहीं होता है। स्थूलों में भी कुछ में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—जगत् में छः पदार्थ हैं। ५ तो अमूर्त एक मूर्त । अमूर्तिक पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं है अतः यह ज्ञान नाम मात्र का ज्ञान है क्योंकि छः पदार्थों में केवल एक मूर्त पदार्थ को ही जानता है। उस मूर्त में भी परमाणु—आदि सूक्ष्म को नहीं जानता, स्थूल को ही जानता है।

सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेष च ॥ १०५५ ॥

अर्थ—और उन (स्थूलों) में भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण योग्य पदार्थों में ही प्रवर्तता है। अग्राह्य पदार्थों में कभी नहीं प्रवर्तता और उन (ग्राह्यों) में भी वर्तमानों में प्रवर्तता है। भूत भविष्यत् में नहीं प्रवर्तता ।

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च ।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तित्वदर्शनात् ॥ १०५६ ॥

अर्थ—उन (वर्तमान ग्राह्यों) में भी योग्य समीपता होने पर सन्निकर्ष वाले पदार्थों में ही प्रवर्तता है तथा उनमें भी अवग्रह-ईहा आदि के होने पर ही (उस इन्द्रिय) ज्ञान का अस्तित्व देखा जाता है अतः वह दुःखरूप है हेय है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान मूर्तामूर्त सबको जानता है। परमाणु, कालाणु आदि सूक्ष्म को भी जानता है। बिना इन्द्रियों के जानता है। बिना सन्निकर्ष के जानता है। भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालीन पदार्थों को जानता है, समीपवर्ती-दूरवर्ती सबको जानता है। बिना सन्निकर्ष और बिना अवग्रहादि के जानता है। अतः वह सुखरूप और उपादेय है। अब यह बताते हैं कि इस इन्द्रिय ज्ञान का और निमित्त रूप कर्मों का किसप्रकार सम्बन्ध है और यह कैसे उत्पन्न होता है। इसकी अत्यन्त अस्थिरता का लक्ष कराना चाहते हैं।

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ १०५७ ॥

अर्थ—थोड़ों के नहीं किन्तु समस्त कारणों के रहने पर भी कभी-कभी ऊपर-ऊपर में शुद्धि (कर्म के क्षयोपशम) के होने से उत्पन्न होता है।

भावार्थ—बाहर में आँख, पुस्तक, रोशनी, गुरु आदि सब कारणों के उपस्थित रहने पर भी यदि कर्मों का अधिक क्षयोपशम हो तो होता है अन्यथा बहिरंग सब साधन जुटने पर भी नहीं होता। विद्यालय में प्रत्यक्ष सब साधन होने पर किसी-किसी विद्यार्थी को अधिक क्षयोपशम न होने से इन्द्रिय ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। अब उन कर्मों के क्षयोपशम का क्या नियम है यह बताते हैं।

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः ।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ॥ १०५८ ॥

अर्थ—वह कर्म का क्षयोपशम इस प्रकार है कि—सतरूप मति ज्ञान के अथवा श्रुतज्ञान के असंख्यात आलाप हैं और उन आलापों में अनन्त शक्तियाँ हैं।

तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोऽथवा ।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥ १०५९ ॥

अर्थ–उनके आवरणों के आलाप और शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न उतने ही प्रकार के हैं जितने प्रकार के ज्ञान के भिन्न-भिन्न आलाप और भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं क्योंकि वे समानता को उलङ्घन नहीं करते।

भावार्थ–ऐसा ही कोई स्वतः सिद्ध नियम है कि जितनी जीव में इन्द्रिय ज्ञान की लब्धि होती है ठीक उतनी ही डिगरी का ज्ञानावरणीय कर्म का स्वतः अपने कारण से क्षयोपशम होता है अथवा यों भी कह सकते हैं कि स्वतः सिद्ध जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम होता है ठीक वैसा ही स्वतः सिद्ध जीव में ज्ञान का क्षयोपशम भी अपने ही कारण से उतना ही होता है। ऐसा ही कोई वस्तु स्वभाव है। किसी का बनाया हुवा नहीं है। परिणमन दोनों का स्वतः सिद्ध स्वतन्त्र है। एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं।

तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः ।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥ १०६० ॥

अर्थ–उनमें कर्म के (जिस समय) जिस आलाप के अधिक से अधिक जितने अंश का क्षयोपशम होता है ठीक उतने ही अंशों में उस समय ज्ञान की स्वतः अपने कारण से क्षायोपशमिक रूप अवस्थान्तर हो जाती है।

अपि वीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते ।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंशश्च शक्तितः ॥ १०६१ ॥

अर्थ–(जिस समय जितने अंशों वाला मति श्रुत ज्ञानावरण सम्बन्धी आलाप का क्षयोपशम होता है) उसी समय वीर्यान्तराय कर्म का भी वही आलाप उसी शक्ति को धारण करने वाला क्षयोपशम में होता है तब उतनी ही जो इन्द्रिय ज्ञान की क्षयोपशम रूप सत्ता है वह लब्धि कही जाती है। अब यह बताते हैं दैवयोग से लब्धिरूप इतना ज्ञान प्राप्त होने पर भी वह उपयोग द्वारा प्रयोग में तब ही आ सकता है जबकि–

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा ।
अस्ति पंचेन्द्रियं कर्म कर्म स्यान्मानसं तथा ॥ १०६२ ॥

अर्थ–इस (इन्द्रिय ज्ञान) की उपयोग विवक्षा में हेतु है वह इस प्रकार है कि–एक पंचेन्द्रिय नामक कर्म है और एक मानस नामानामकर्म भी होता है।

दैवात्तद्बन्धमायाति कथंचित्कस्यचित्क्वचित् ।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत् ॥ १०६३ ॥

अर्थ–दैवयोग से वह पंचेन्द्रिय तथा मानस कर्म, किसी प्रकार से, किसी जीव के, कभी बंध जाता है और यदि उसका संक्रमण आदि नहीं हो गया हो तो पहले उसका उदय होता है।

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात् ॥ १०६४ ॥

अर्थ–और उसके उदय में दूसरे कर्म का उदय कारण है। वह इस प्रकार कि पर्याप्त नामकर्म का भी उसी समय उसके साथ ही उदय अवश्य होना चाहिये।

सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः ।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥ १०६५ ॥

अर्थ–उनके उदय रहने पर उनके निमित्त से स्वयं सिद्ध नोकर्म वर्गणाएं स्वयं अपने कारण से मन, देह और इन्द्रियों के आकार रूप हो जाती हैं।

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः ।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥ १०६६ ॥

अर्थ–यदि दैवयोग से उन (मन, शरीर और इन्द्रियों) की पूर्णता हो जावे तो लब्धि के स्वार्थोपयोग में बाह्य कारण जड़ इन्द्रियाँ हो जाती हैं।

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः ।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारंपर्यावलोकनम् ॥ १०६७ ॥

अर्थ–उसमें भी सूर्य और दीपक का प्रकाश, अन्यदेशस्थ संस्कार और परम्परा अवलोकन कारण है।

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भानसंभवात् ।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥ १०६८ ॥

अर्थ–इन सब हेतुओं के रहने पर ठीक प्रतिभास होता है (अर्थात् उपयोग हो सकता है) । उन कारणों में से किसी एक कारण के कम रहने पर वह ज्ञान अपने विषय में उपयोगी नहीं हो सकता ।

अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्येन हेतुना ।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥ १०६९ ॥

अर्थ–वहाँ पर यह विशेष है कि बाह्य हेतु के विना ज्ञान अपने विषय को ग्रहण नहीं करता (यद्यपि) लब्धिज्ञान देखा जाता है।

भावार्थ–(१०६२ से ६९ तक) – इन्द्रियज्ञान लब्धि में प्राप्त होने पर भी इतना निकृष्ट है कि उपर्युक्त इतने कारण जुटने पर ही अर्थात् उतने कारणों का अवलम्बन लेकर ही उपयोगात्मक कार्य कर सकता है अन्यथा नहीं। इस कारण से सम्यग्दृष्टि की इस ज्ञान में हेय बुद्धि है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान में लब्ध तथा उपयोग का झगड़ा नहीं है और न ही उस की प्रवृत्ति में कोई बाह्य कारण होता है। वह तो स्वतन्त्र निरपेक्ष कार्य करता है अतः सम्यग्दृष्टि की उसमें उपादेय बुद्धि होती है। अब यह बताते हैं कि लब्धि में होना भी इस ज्ञान का कर्म के क्षयोपशम आधीन है।

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात् ।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥ १०७० ॥

अर्थ–इन्द्रिय ज्ञान में सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय और देशघाति स्पर्द्धकों के उदय होने से ज्ञान की क्षयोपशमिक अवस्था होती है। यदि ज्ञान की ऐसी अवस्था न होवे तो वह लब्धि रूप ज्ञान भी नहीं होता।

ततः प्रकृतार्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम् ।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ॥ १०७१ ॥

अर्थ–इसलिये प्रकृत अर्थ यह ही है कि इन्द्रिय ज्ञान नाममात्र का ज्ञान है क्योंकि उसके विषयभूत सभी पदार्थों का एकदेशरूप से ही ज्ञान होता है।

खण्डितं खण्डशस्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात् ।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ॥ १०७२ ॥

अर्थ–वह (इन्द्रियज्ञान) खण्डित है क्योंकि उन सब विषयों में से अपने-अपने विषयभूत एक-एक ही पदार्थ को खण्डशः विषय करता है। और प्रत्येक है क्योंकि भिन्न-भिन्न विषय होने पर नियत विषय को ही क्रम से जानने वाला है।

भावार्थ–जिस प्रकार केवलज्ञान आत्मा के सर्व प्रदेशों में समान रूप से पाया जाता है तथा सभी प्रदेशों के समान रूप से लोकालोक को जानता है उस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान नहीं है। इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम विकास तो असंख्यप्रदेश में वर्तता है किन्तु विषय ग्रहण जिस इन्द्रिय का है वह उसी स्थान से काम करता है जैसे रूप को जानने वाला आत्मा का ज्ञान चक्षु के स्थान में स्थित प्रदेशों से ही रूप को ग्रहण करेगा, शब्द को जानने वाला कर्ण के स्थान में स्थित आत्मप्रदेशों से ही शब्द को जानेगा। इस प्रकार यह इन्द्रिय ज्ञान पांच स्थानों में खण्डित है और जिस स्थान का जो विषय है वह उसी को जानेगा दूसरे को नहीं जैसे चक्षुःस्थानस्थित प्रदेश रस को नहीं जान सकते और फिर एक और आपत्ति है कि एक समय में एक स्थान का ही कार्य होगा जैसे जिस समय रूप को जानने का कार्य हो रहा है उस समय अन्य इन्द्रिय द्वारा कार्य नहीं लिया जा सकता है। अतः यह इन्द्रिय ज्ञान अपने-अपने विषय को भी क्रमशः ही जानता है। अतः यह हेय है अतीन्द्रियज्ञान सब विषयों को प्रत्येक स्थान से जानता है अतः वह उपादेय है (श्री प्रवचनसार गा. ४७, ५६)।

आस्तामित्यादिदोषाणां सन्निपातास्पदं पदम् ।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ॥ १०७३ ॥

अर्थ–इत्यादिक दोषों की प्राप्ति का स्थान तो है ही पर ये ऐन्द्रिय ज्ञान प्रदेश चलनात्मक भी हैं।

भावार्थ–आत्मा में प्रदेशों के हिलने को प्रदेश परिस्पन्द कहते हैं। यह विकार होता तो केवली में भी है और छद्मस्थ में भी; पर केवली का योगविकार कषायरहित होने से आत्मा के लिए दुःख का निमित्त नहीं रहता। अतः ग्रन्थकार ने केवली के विकार को यहाँ गौण कर दिया है क्योंकि केवली का आत्मा अनन्त सुख को प्राप्त है और योग-विकार होते हुए भी वह रंचमात्र दुःख में निमित्त नहीं है। यहाँ तो इन्द्रिय ज्ञान के दोषों का प्रकरण चल रहा है और वह भी अज्ञानी की अपेक्षा। सो यहाँ यह कहना चाहते हैं कि इन्द्रियज्ञान में कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति भी अविनाभावी है और उसमें कषाय का आकुलतारूप दुःख तो है ही किन्तु उसका अविनाभावी प्रदेशपरिस्पन्द का भी दुःख है कैसे; सो आप अपने अनुभव से देखिये कि जिस समय अज्ञानी का ज्ञान क्रोध रूप प्रवृत्ति करता है तो मन-वचन-काय लाल-पीला होकर कांपने लगता है । उस समय आत्मा के प्रदेश जिनका स्वभाव सिद्ध में स्थिर रहनेवत् है अपने स्वभाव को छोड़कर किस प्रकार कम्पन करने लगते हैं यह सबको प्रत्यक्ष है। सो यह भी आत्मा में एक दुःख है। हमको तो ऐसा ग्रन्थकार का आशय झलकता है। अब इस पर शिष्य कहता है कि कषाय की उत्पत्ति या ज्ञान की कमी या अनन्त चतुष्टय की कमी तो जरूर दुःख रूप है; पर योग का विकार कहाँ दुःख रूप है। यहि होता तो यह विकार तो केवली में भी है उसे भी दुःख रूप होता सो उत्तर सयुक्तिक अगले दो सूत्रों में समझाते हैं।

निष्क्रियस्यात्मनः काचिद्यावदौदयिकी क्रिया ।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना विना ॥ १०७४ ॥

अर्थ–निष्क्रिय आत्मा की जो कोई भी औदयिकी क्रिया तथा प्रदेशों का हलनचलन है वह कर्मोदय रूप उपाधि के बिना नहीं होता।

भावार्थ–देख भाई; आत्मा का स्वभाव निष्क्रिय है और योग परिस्पन्द औदयिक भाव है और चाहे प्रदेश परिस्पन्द हो या कोई भी औदयिक क्रिया हो वह बिना कर्म रूप उपाधि के नहीं होती। आगे और सुन.......

नासिद्धमुदयोपाधेर्दुःखत्वं कर्मणः फलात् ।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ॥ १०७५ ॥

अर्थ–उदय रूप उपाधि से दुःखपना असिद्ध नहीं है क्योंकि वह कर्म का फल है। कर्म का जो फल है वह दुःख है यह परमागम से प्रसिद्ध है (देखिये पूर्व श्लोक १००८ तथा श्रीसमयसार आगम प्रमाण गा. ४५, १६०) ।

भावार्थ–गुरुमहाराज ने इसप्रकार समाधान दिया कि कर्मोपाधि से होने वाली सब चीज आत्मा के लिये दुःख रूप है। यह तो कानून की बात है। दुःख रूप तो वह केवली में भी है और अज्ञानी में भी है किन्तु केवली का योग विकार घातिकर्मों का तथा विशेषतया मोहनीय का नाश होने से दुःख में निमित्त नहीं रहा किन्तु अज्ञानी में मोह-राग-द्वेष होने से सकषायरूप योगप्रवृत्ति दुःख रूप ही है। यह सब जगत् को प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार यहाँ तक यह सिद्ध किया कि ऐन्द्रिय ज्ञान महानिकृष्ट है, दुःखरूप है। उसका ऐसा स्वरूप सम्यग्दृष्टि को निश्चय हो चुका है। अतः उसकी दृष्टि में वह हेय है। यही इस ज्ञान के दोष दिखलाने का प्रयोजन है। उसकी स्वभाव रूप अतीन्द्रिय ज्ञान में उपादेयबुद्धि है। यह आगे १११३ से ११३८ तक निरुपण करेंगे।

अगली भूमिका–अब आचार्य महाराज एक गुप्त बात समझाते हैं जिसकी ओर हम लोगों का लक्ष ही नहीं है वह है अबुद्धिपूर्वक दुःख अर्थात् हमारी आत्मा में हर समय इतना बड़ा महान् दुःख है कि जिसको हमने कभी सोचा ही नहीं क्योंकि उसका कोई दृष्टान्त तो है नहीं मात्र केवली जानते हैं या ज्ञानी जानते हैं। देखिये आत्मा का स्वभाव अनन्त चतुष्टय है और वह अनन्त चतुष्टय अनन्त सुख रूप है। उसका अपने विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा घातिकर्मों में जुड़ने के कारण नाश हो रहा है। यह जो उसका नाश है अर्थात् आत्मा के अनन्त सुख का अनुभव में न आना ही उस महान् दुःख की सिद्धि में दलील है। इसका प्रकरण यहाँ क्या है यह जानने की जरूरत है। आत्मा का स्वभाव सिद्ध दशा है जो सब कर्मों के अभाव स्वरूप अर्थात् पूर्ण स्वभाव के सद्भावरूप है। जिस प्रकार अतीन्द्रिय सुख की नास्ति इन्द्रिय

सुख है। जिस प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान की नास्ति इन्द्रिय ज्ञान है उसी प्रकार सिद्धपद की नास्ति यह अबुद्धिपूर्वक दुःख है। सिद्धपद अनन्त सुखरूप है यह अनन्त दुःख रूप है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि को इन्द्रिय सुख हेय है, इन्द्रिय ज्ञान हेय है, उसी प्रकार यह अबुद्धिपूर्वक दुःख भी हेय है। सम्यग्दृष्टि जीव को इस अबुद्धिपूर्वक दुःख का पता है और इसी कारण सिद्ध से विपरीत जो यह आत्मा की हीन दशा है इसमें भी उसकी अरुचि है। यही यहाँ दिखलाना है सो अब १०७६ से १११२ तक ३७ सूत्रों में इसका वर्णन करेंगे और उसके पश्चात् सिद्ध दशा का वर्णन करेंगे जिसमें सम्यग्दृष्टि की रुचि है। प्रयोजन यह है कि भव्य जीव को अपनी वर्तमान दुःख दशा का अनुभव होकर इसके प्रति अरुचि हो और अपनी स्वभाव रूप सिद्ध दशा का ज्ञान होकर उसके प्रति रुचि हो यही यहाँ तात्पर्य है। रे जीव ! जाग! और देख तेरी कैसी हीन दशा हो रही है और इस पर भी तू इसे सुख रूप समझता है।

अबुद्धिपूर्वक दुःख की सिद्धि सूत्र १०७६ से १११२ तक ३७

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन ।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ॥ १०७६ ॥

अर्थ–बुद्धिपूर्वक दुःखों में कितने ही दृष्टान्त हैं किन्तु एक ज्ञान मात्र गोचर अबुद्धिपूर्वक दुःख में (कोई भी दृष्टान्त) नहीं है। अर्थात् दुःख दो प्रकार का होता है। एक बुद्धिपूर्वक दूसरा अबुद्धिपूर्वक यह जो कभी ज्वर हो गया, सर दर्द हो गया, लड़का मर गया इत्यादिक बुद्धिपूर्वक दुःख कहलाते हैं। और अनन्तचतुष्टय का घात अबुद्धिपूर्वक दुःख है। बस इसका और कोई शब्द या दृष्टांत नहीं है।

अस्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः ।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत्सर्वप्रदेशजम् ॥ १०७७ ॥

अर्थ–कर्मों के द्वारा गाढ़ बंधे हुये इस आत्मा के (अबुद्धिपूर्वक) महा दुःख है जो सब प्रदेशों में उत्पन्न होने वाला निरंतर है; मनपूर्वक (बुद्धिपूर्वक दुःख) तो कभी-कभी होता है अर्थात् बुद्धिपूर्वक दुःख तो कभी-कभी होता है किन्तु अनन्त चतुष्ट्य का घातरूप दुःख तो हर समय है और सब आत्मप्रदेश में निरन्तर विद्यमान है। (श्रीसमयसार गाथा ४५ तथा १६०)।

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात्साधनेनालं वर्जनीयो वृथा श्रमः ॥ १०७८ ॥

अर्थ–आत्मा के बुद्धिजन्य दुःख है क्योंकि अपने अनुभव में आता है। (वह प्रत्यक्ष) सिद्ध होने से पुनः सिद्ध करने से क्या लाभ (क्योंकि) व्यर्थ परिश्रम त्याज्य है। अर्थात् ज्वर इत्यादिक के सांसारिक दुःख तो सबको अनुभव हैं ही उनको क्या सिद्ध करेंगे। हाँ अबुद्धिपूर्वक दुःख की सिद्धि करके दिखलाते हैं।

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥ १०७९ ॥

अर्थ–जो अबुद्धि जन्य छुपा हुआ दुःख है वह सिद्ध करना चाहिये (उसकी सिद्धि के लिये या तो सुखादर्शन रूप) कार्य के अनुमान से (अबुद्धिपूर्वक दुःख का अस्तित्व रूप) कारण वाच्य है या परमागम से वाच्य है।

भावार्थ–अबुद्धिपूर्वक दुःख है इसकी सिद्धि या तो केवली के वचनरूप आगम से है या इस अनुमान प्रमाण से है कि आत्मा के जो अनन्त चतुष्टयरूप सुख का लोप हो रहा है यह ही इसके विरोधी दुःख के अस्तित्व का द्योतक है।

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित् ।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥ १०८० ॥

अर्थ–कहीं-कहीं कार्य के देखने से कारण का ज्ञान होता है जैसे नदी के पूर (रूप कार्य) के देखने से ऊपर बहुत मेघ वर्षा (रूप कारण का ज्ञान होता) है ।

भावार्थ–वह अबुद्धिपूर्वक दुःख प्रत्यक्ष न दीखने पर भी ज्ञानीजन अनुमान से उसका बराबर निर्णय कर लेते हैं। हम देखते हैं कि यदि सूखी नदी में बहाव आ जाय तो हम तुरन्त निश्चय कर लेते हैं कि ऊपर पहाड़ पर बहुत वर्षा

हुई है अन्यथा यह पानी नहीं आ सकता था। यद्यपि वर्षा आँख से देखी नहीं है फिर भी उसका सत्य निश्चय जरूर हो जाता है। पानी का आना कार्य है और वर्षा का होना कारण है। अतः कार्य और कारण में अविनाभाव होने से कार्य द्वारा कारण का निश्चय अवश्यंभावी है। उसी प्रकार आत्मा के अनन्तचतुष्टयरूपसुख का लोप रूप कार्य तो प्रत्यक्ष है। यह कार्य बिना कारण हो नहीं सकता । इसका कारण इसका विरोधी अनन्त दुःख है और वह अबुद्धिपूर्वक दुःख ही हो सकता है। इस कार्यकारण की व्याप्ति से उस अबुद्धिपूर्वक दुःख की भले प्रकार सिद्धि हो जाती है।

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतः सिद्धमनश्वरम् ।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ॥ १०८१ ॥

अर्थ–आत्मा का सुख गुण स्वतः सिद्ध, अविनाशी है। वह घाति कर्मों के द्वारा घात हो जाने से असत् के समान लोप हो गया है।

भावार्थ–आत्मा के अनन्त गुणों में एक सुख नाम का गुण है। आह्लादरूप निराकुलता का अनुभव उसकी स्वभाव पर्याय होती है। घाति कर्मों में जुड़ने से उस सुख की स्वभावपर्याय का जो अभाव हो रहा है यह अभाव उसकी अबुद्धिपूर्वक दुःख रूप विभाव पर्याय के अस्तित्व का सूचक तो है ही। यही अब कहते हैं।

सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत् ।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥ १०८२ ॥

अर्थ–यहाँ (इस अनुमान प्रयोग में) 'सुखका अदर्शन' (रूप हेतु) अन्य हेतुओं की तरह कार्यहेतु है और वह (अबुद्धिपूर्वक दुःख) कारण (रूप साध्य) है। (सुख के अदर्शन रूप हेतु से) उस (सुख) के विपक्षभूत सत्तात्मक दुःख का ज्ञान होता है।

भावार्थ–जैसे नदी में बहाओं का आना कार्यहेतु है ऐसे ही यहाँ अनन्त चतुष्टय रूप सुख का अभाव कार्यहेतु है। जैसे वहाँ वर्षा का होना रूप कारण साध्य है ऐसे यहाँ अबुद्धिपूर्वक दुःख की सत्ता साध्य है। जैसे वहाँ अन्यथानुपपत्ति रूप अविनाभाव से आँख से प्रत्यक्ष न दीखने पर भी ज्ञान द्वारा वर्षा की सिद्धि हो जाती है उसी प्रकार यहाँ अबुद्धिपूर्वक दुःख न दीखने पर भी अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु द्वारा उसकी सिद्धि हो जाती है। इसका कारण व्याप्ति (अविनाभाव) का सद्भाव है। यही अगले दो पद्यों में कहा है।

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥ १०८३ ॥

अर्थ–सब संसारी जीवों के अबुद्धि जन्य दुःख है। हेतु यह है कि इसमें स्वाभाविक सुख का अभाव देखा जाता है।

नासौ हेतुरसिद्धोऽस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥ १०८४ ॥

अर्थ–वह (सुखादर्शनरूप) हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि प्रसिद्ध दृष्टांत देखे जाते हैं। (सुख के अदर्शन रूपहेतु और अबुद्धिपूर्वक दुःख का सद्भाव रूप साध्य में) व्याप्ति का सद्भाव होने से निश्चित रूप से अन्यथानुपपत्ति है।

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्येव कस्यचित् ।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥ १०८५ ॥

अर्थ–(इन दोनों में) व्याप्ति इस प्रकार है कि जैसे किसी कुचेष्टा करने वाले मतवाले पुरुष के अदृश्य भी मद्यादि का पान इसमें कारण है।

भावार्थ–एक और दृष्टांत देते हैं–कि जैसे हम किसी को शराबीपने की कुचेष्टाएं करते हुए देखें तो हम तुरन्त निश्चय कर लेते हैं कि इसने शराब पी है क्योंकि कुचेष्टारूप कार्य से शराब पीना रूपकारण का अविनाभाव है। कुचेष्टा की 'अन्यथानुपपत्ति' होने से शराब पीने की सिद्धि है उसी प्रकार अनन्तचतुष्टयरूप सुख के अदर्शन रूप कार्य से अनन्त अबुद्धिपूर्वक दुःख की सत्ता सिद्ध है।

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम् ।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥ १०८६ ॥

अर्थ–संसारी जीव के निश्चय से अबुद्धिपूर्वक दुःख है अन्यथा स्व-सुख का (आत्मा के स्वाभाविक सुख का) सर्वथा अदर्शन (लोप) कैसे हो गया है ?

ततोऽनुमीयते दुःखमस्ति नूलमबुद्धिजम् ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥ १०८७ ॥

अर्थ–इसलिये अनुमान किया जाता है कि कर्म बद्ध के निरन्तर कर्म के उदयादि से होने वाला अबुद्धिजन्य दुःख वास्तव में अवश्य है।

भावार्थ–सुख के अभाव से तो उस अबुद्धिपूर्वक दुःख की सत्ता सिद्ध हो जाती है पर अब उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है यह बताते हैं। जिस प्रकार अनन्त सुख की उत्पत्ति का कारण स्वतः सिद्ध आत्मस्वभाव है उसी प्रकार इस दुःख का कारण कर्मों के उदय में जुड़ना है। (श्री समयसार गा. ४५, १६०) ।

नावाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधने ।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥ १०८८ ॥

अर्थ–पूर्वोक्त (अबुद्धिपूर्वक) दुःख उत्पत्ति के सिद्ध करने में अवाच्यता नहीं है क्योंकि अबुद्धिपूर्वक जितना भी दुःख होता है उसका मूल कारण वास्तव में कर्म का उदय है। यहाँ तक अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध किया। अब इसी को शंका समाधान द्वारा पीसते हैं।

शंका सूत्र १०८९ से १०९२ तक ४

तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्च्छितं कर्मभिर्बलात् ॥ १०८९ ॥

शङ्का–यहाँ कोई कहता है वह इसप्रकार कि–बद्ध (जीव) के वह सुख नहीं है जो सुख अपनी आत्मा का तत्त्वं (स्वभाव) है क्योंकि वह सुख बलपूर्वक कर्मों के द्वारा मूर्च्छित है।

अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः ।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥ १०९० ॥

शङ्का चालू–अनिष्ट पदार्थ के संयोग से शारीरिक और ऐन्द्रिय केवल बुद्धि जन्य दुःख आत्मा के है जो जगत में प्रगट प्रसिद्ध है।

मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुखं नाबुद्धिजम् ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वात् व्योमपुष्पवत् ॥ १०९१ ॥

शङ्का चालू–मन-देह-इन्द्रिय आदि से पृथक् अबुद्धिजन्य दुःख नहीं है क्योंकि उसके ग्राहक प्रमाण का अभाव है जैसे आकाश पुष्प ।

साध्ये वाऽबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्त्वासिद्धौ व्याप्तेरसंभवात् ॥ १०९२ ॥

शङ्का चालू–और अबुद्धिजन्य दुःख की सिद्धि में उस (आत्मा) के सुख का अभाव रूप जो हेतु आपने दिया है व्याप्यत्व की असिद्धि होने से (व्याप्यत्वासिद्ध नाम का) हेत्वाभास है क्योंकि व्याप्ति की असंभवता है।

भावार्थ १०८९ से ९२ तक–शंकाकार अनन्तचतुष्टय रूप सुख का अभाव तो मानता है क्योंकि वह जानता है कि अनन्तसुख तो केवली होने पर प्रगट होगा। बुद्धिपूर्वक दुःख भी मानता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष है। अबुद्धिपूर्वक दुःख तथा उसका साधक हेतु नहीं मानता है। उसमें एक दलील देता है कि शरीर सम्बन्धी दुःख तो सब जानते हैं पर बिना शरीर के भी कोई अनन्त अबुद्धिपूर्वक दुःख आत्मा के है यह मेरी समझ में नहीं आता।

समाधान सूत्र १०९३ से ११११२ तक २०

नैवं यत्तद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने ।
कर्मणस्तद्विपक्षत्त्वं सिद्धं न्यायात्कुतोऽन्यथा ॥ १०९३ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है क्योंकि उस (आत्म सुख) के विपक्ष भूत दुःख के सिद्ध करने में (अबुद्धिपूर्वक दुःख के साथ सुखाभाव की) व्याप्ति है अन्यथा कर्म के उस (सुख) का विपक्षपना किस न्याय से सिद्ध होगा ?

भावार्थ–आत्मा का स्वभाव अनन्त सुख है। कर्म का स्वभाव अनन्त दुःख है। कर्म रहित जीव के अनन्त सुख है तो कर्म सहित जीव के अनन्त दुःख है। इसलिये आत्मिक सुख के अभाव की और अनन्तदुःख के सद्भाव की व्याप्ति है। अविनाभाव है। यदि ऐसा नहीं है तो कर्मबद्ध जीव के कर्मों के कारण से अनन्त दुःख है यह कैसे सिद्ध होगा अर्थात् कर्म आत्मा का विरोधी है यह कैसे सिद्ध होगा ? और विरोधी तो उसको आगम में कहा है।

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाविरुद्धयोः ।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः ॥ १०९४ ॥

अर्थ–विरुद्ध दो धर्मों में ही विपक्षपना होता है अविरुद्धों में नहीं । शीत-उष्ण धर्मों में बैर है। वह (बैर) क्षारत्व द्रवत्व में नहीं है।

भावार्थ–आत्मिक सुख और अनन्त दुःख में विरुद्धता है। उनमें एक ही रहेगा। दोनों नहीं। जिस प्रकार ठण्डा या गरम में से कोई एक ही एक समय होगा। जिस प्रकार खारापन और पिघलना एक जगह रह सकते हैं उस प्रकार यह एक जगह नहीं रह सकते क्योंकि–

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी ।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥ १०९५ ॥

अर्थ–निराकुल सुख जीव की शक्ति है जो द्रव्य की अनुजीवी (शक्ति) है। उस सुख से विरुद्ध आकुलता है वह उस घातिकर्म की शक्ति है।

असिद्धा न तथाशक्तिः कर्मणः फलदर्शनात् ।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्तेर्बाधकं कर्म तत्कथम् ॥ १०९६ ॥

अर्थ–कर्म की वैसी शक्ति असिद्ध नहीं है क्योंकि फल (ऐसा ही) देखा जाता है। यदि ऐसा नहीं है तो आत्म शक्ति का बाधक वह कर्म कैसे हो सकता है ?

न्यायात् सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥ १०९७ ॥

अर्थ–इसलिये न्याय से सिद्ध हो गया कि कर्मबद्ध आत्मा के सब प्रदेशों में प्रकम्प पैदा करने वाला दुःख तब तक है जब तक कर्मों का रस-उदय है।

देशतोऽस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥ १०९८ ॥

अर्थ–इस विषय का एकदेश दृष्टान्त यह है कि वायु से ताड़ित समुद्र स्व अधिकार में प्रमत्तवान व्याकुल है स्वस्थ अव्याकुल है। अर्थात् जिस प्रकार समुद्र जब तक वायु से ताड़ित है तब तक दुःखी है वायु के अभाव में सुखी है, उसी प्रकार जब तक आत्मा में कर्म का उदय है तब तक दुःखी है। कर्म का अभाव होने पर सुखी है।

न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत् ।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः ॥ १०९९ ॥

अर्थ–ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि वह सुख बद्ध और अबद्ध के निरन्तर विद्यमान के समान है और इसमें हेतु यह कि वह उस आत्मा की शक्ति मात्र है।

भावार्थ–क्योंकि सिद्ध में और संसारी में सुख नामा गुण दोनों में है अतः यह संसारी भी अनन्त सुखी है इसमें अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि वह कथन द्रव्यार्थिक नय का है। द्रव्य की शक्ति का है

व्यक्ति का नहीं। गुण तो इस आत्मा में अनन्त सुखरूप है पर उसकी व्यक्तता-प्रगटता पर्याय तो अनन्त दुःखरूप है। भोग-वेदन अनुभव पर्याय का हुआ करता है गुण का नहीं।

अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वं कुतोऽर्थतः ॥ ११०० ॥

अर्थ—इसमें दोष आने की युक्ति पहले ही दिखलाई जा चुकी है कि स्वस्थ जीव के वास्तव में व्याकुलता किस कारण से है?

भावार्थ—यदि तुम्हारी बात को ठीक मान लिया जाय अर्थात् बद्ध जीव के सुख गुण के कारण अनन्त सुख है ऐसा मान लिया जाय तो फिर यह जो उसकी पर्याय दुःख रूप हो रही है यह कैसे सिद्ध होगी क्योंकि पर्याय तो एक समय में एक ही रहेगी और यह दुःख रूप पर्याय तो प्रत्यक्ष है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

न चैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत्।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनां ॥ ११०१ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि एकदृष्टि से सुख की व्यक्ति और एक दृष्टि से वह दुःख भी एक ही आत्मा के एक ही पर्याय में अनेकान्तवादियों के सिद्ध (माना गया) है।

भावार्थ—शिष्य कहता है आप तो अनेकान्ती हैं। कथंचित् सुख कथंचित् दुःख मान लो तो कहते हैं कि वह अनेकान्त सयुक्तिक प्रयोग होता है। इच्छानुसार नहीं। गुण में सुख पर्याय में दुःख की अपेक्षा अनेकान्त ठीक है पर किसी अपेक्षा से पर्याय में ही सुख और किसी अपेक्षा से पर्याय में ही दुःख ऐसा अनेकान्त नहीं है यह तो मूर्खवाद है।

अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि।
गुणपर्याययोर्द्वैतात् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥ ११०२ ॥

अर्थ—अनेकान्त इस प्रकार प्रमाण है कि पदार्थपने से एक वस्तु में गुण पर्याय में गौण और मुख्य की व्यवस्था से द्वैत है (गुण में सुख पर्याय में दुःख)।

भावार्थ—श्री पंचास्तिकाय गा. २७ के शीर्षक में संसारी का सोपाधि; निरोपाधि स्वरूप कहा है। सो जब पर्यायदृष्टि को गौण करके द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तो संसारी जीव में अनन्त सुख कहा जाता है और जब गुण को गौण करके पर्याय की मुख्यता से देखते हैं तो अनन्त दुःखी कहा जाता है। इसप्रकार संसारी जीव में अनेकान्त का प्रयोग है क्योंकि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात् सुखदुःखयोः।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद् द्रव्यतः क्वचित् ॥ ११०३ ॥

अर्थ—सुख दुःख की अभिव्यक्ति (प्रगटता) तो पर्यायरूप होती है। इसलिये एक समय में वह दोनों नहीं हैं। यदि द्वैत है तो कहीं द्रव्य से है। (अर्थात् अज्ञान अवस्था में द्रव्यदृष्टि से गुण में अव्यक्त सुख है और पर्याय में व्यक्त दुःख है।)

भावार्थ—सुख गुण तो एक शक्ति रूप है वह सिद्ध संसारी में समान है। उसकी प्रगटता पर्याय में या सुखरूप होगी या दुःखरूप। एक समय में दोनों रूप नहीं हो सकती। सिद्ध में अनन्त सुखरूप है। संसारी में अनन्त दुःख रूप है। हाँ यदि तुम्हें दोनों एक ही आत्मा में एक ही समय कहना इष्ट है तो द्रव्य से सुखी और पर्याय से दुःखी अर्थात् स्वभाव से सुखी और प्रगट दुःखी ऐसा कह सकते हैं।

बहुप्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो यथागमः ॥ ११०४ ॥

अर्थ—बहुत कथन से बस, साध्य प्रमाण से सिद्ध हो गया और जैन आगम से भी सिद्ध है जो आगम स्वतः सिद्ध वह इस प्रकार—

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः ।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥ ११०५ ॥

अर्थ–यह सर्वज्ञ का वचन है आज्ञामात्र है, वही आगम है। कि जो कुछ रस देने के सन्मुख उदयागत कर्म का फल है वह दुःख है। (श्रीसमयसार ४५)।

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणकायकाः ।
आ एकाक्षादापंचाक्षा अप्यन्ये दुःखिनो मताः ॥ ११०६ ॥

अर्थ–इस विषय में यह दृष्टान्त है कि (विग्रहगति में) कार्मण काय वाले जीव तथा एक इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय तक अन्य भी जीव दुःखी माने गये हैं।

भावार्थ–यदि तुम्हारी राय में शरीर और संयोग सम्बन्धी ही दुःख है और अबुद्धिपूर्वक कर्मोदयजन्य कोई दुःख ही नहीं तो विग्रहगति में तो न शरीर है, न संयोग है, न बुद्धिपूर्वक दुःख है तो क्या वहाँ आत्मा सिद्ध समान अनन्त सुखी है ? नहीं। दूसरे शरीर और संयोग तो पंचेन्द्रिय संज्ञियों को अधिक है। एकेन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय असंज्ञी जीव को कम तो इस प्रकार तुम्हारे कहे अनुसार तो वे अधिक सुखी हुए, संज्ञी कम किन्तु ऐसा नहीं है जितनी-जितनी ऊँची गति है उतना-उतना कम दुःख है। यदि ऐसा न्याय न हो तो ऊँची गति ही व्यर्थ हो जाय सो यह कथन अबुद्धिपूर्वक दुःख से ही तो सिद्ध होगा। न्याय यह है कि जहाँ घातिकर्मों का जितना अधिक उदय है उतना ही जीव अधिक दुःखी है क्योंकि स्वरूप से च्युति के अनुसार स्वभाव का घात हो रहा है। स्वभाव के घात का नाम दुःख है। स्वभाव की प्रकटता का नाम सुख है। सिद्ध में पूर्ण प्रकटता है वे महान् सुखी हैं। निगोद में सबसे कम प्रगटता है वे सबसे अधिक दुःखी हैं। यही अब समझाते हैं।

तत्राभिव्यंजको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥ ११०७ ॥

अर्थ–उस आगम में अभिव्यंजक भाव (प्रकट अर्थ) यह है कि घाति कर्मों के उदय के आघात से जीव के प्रदेशों में वध स्वरूप अनिच्छित दुःख कहा गया है। अर्थात् घातिकर्मों के उदय से अनन्त अबुद्धिपूर्वक दुःख होता है ऐसा आगम में कहा गया है। (जीव की प्रत्येक समय की योग्यता का ज्ञान कराने के लिए यह सब निमित्त के कथन हैं किन्तु निमित्त जीव को हैरान कि दुःखी करता ऐसा अर्थ कभी नहीं समझना।)

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः ।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नासंज्ञिनामिति ॥ ११०८ ॥

अर्थ–यदि ऐसा न माना जाये तो ऊँची गति पाना अच्छा नहीं रहेगा क्योंकि दोषों का प्रसंग आता है और वह इस प्रकार कि केवल संज्ञी जीवों के ही दुःख सिद्ध होगा, असंज्ञियों के दुःख न होगा ।

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चासंज्ञिनां न वा ।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥ ११०९ ॥

अर्थ–यदि यह कहा जाय कि संज्ञियों के बहुत दुःख है और असंज्ञियों के थोड़ा है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नीच पद से ऊँच पद श्रेष्ठ है ऐसा माना गया है।

भावार्थ–नीची गति से ऊँची गति इसलिये अच्छी मानी गई है कि उसमें कम दुःख है। इसलिये यही बात ठीक है कि संज्ञियों के दुःख कम है असंज्ञियों के अधिक है।

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥ १११० ॥

अर्थ–यह भी नहीं कहना चाहिये कि सूक्ष्म जीवों में शरीर और स्पर्शन-आदिक इन्द्रियाँ हैं इसलिये उन जीवों के उस शरीर और इन्द्रिय के कारण दुःख है।

भावार्थ–अब कोई यह कहे कि यह तो ठीक है कि ऊँची गति में दुःख कम है नीची में अधिक है पर नीची में अबुद्धिपूर्वक दुःख के कारण अधिक नहीं है किन्तु उनके जो छोटा-सा शरीर और एक-दो इन्द्रियाँ हैं उसके कारण

वे अधिक दुःखी हैं क्योंकि उनको उसी में अधिक मोह-राग-द्वेष है। पर यह कहना गलत है क्योंकि विग्रहगति में तो न शरीर है और न कोई इन्द्रिय है वहाँ क्या कहोगे ? वे सिद्ध समान अनन्त सुखी हैं यह तो कह नहीं सकते। संयोगी दुःख वहाँ है नहीं तो फिर यही कहना पड़ेगा कि वहाँ जो घातिकर्मों का उदय में जुड़ना बनता है उसके कारण वे अनन्तचतुष्टय का घात होने से अबुद्धिपूर्वक महा दुःखी है। इसके अतिरिक्त और कोई गति नहीं है। अतः अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध होगया । यही अगले दो सूत्रों में कहते हैं।

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥ ११११ ॥

अर्थ–ऐसा होने पर (विग्रह गति में) कार्मण अवस्था में अवस्थित जीवों में अव्याप्ति दोष है क्योंकि देह-इन्द्रियादि नोकर्म से रहित उसको देखा जाता है।

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥ १११२ ॥

अर्थ–यदि वहाँ कर्मसमूहरूप कार्मण शरीर है और उसके निमित्त से दुःख है यदि ऐसा कहो तो अनिच्छित दुःख सिद्ध हो गया ।

भावार्थ (सूत्र १०९३ से १११२ तक समाधान का सार)– आत्मा में एक सुख नाम का गुण है। गुण तो त्रिकाल सुखरूप है क्योंकि वह सुखनाम की शक्ति है। उसका परिणमन दो रूप होता है एक स्वभाव परिणमन, एक विभाव परिणमन। स्वभाव परिणमनरूप पर्याय केवली में अनन्तसुख रूप विद्यमान है जिसको आप मानते हैं। यहाँ अज्ञानावस्था में उसकी विभाव रूप पर्याय है जो अनन्त दुःख है। अनन्तसुख रूप पर्याय तो यहाँ है नहीं, यदि अनन्त दुःख रूप भी नहीं है तो फिर कौनसी पर्याय है। गुण है तो उसकी कोई पर्याय तो चाहिये। यदि कहो कि उसकी बुद्धिपूर्वक दुःख रूप पर्याय है जो शारीरिक दुःख रूप प्रगट है तो फिर यह प्रश्न होता है कि विग्रहगति में जहाँ शरीर है ही नहीं, वहाँ शरीर सम्बन्धी बुद्धि पूर्वक दुःख भी नहीं है तो फिर वहाँ कौनसी पर्याय है। यदि अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं मानोगे तो वहाँ अनन्त सुख का धारी आत्मा केवली हो जायगा । अतः भाई आत्मा में अनन्तचतुष्टय के घातरूप अबुद्धिपूर्वक दुःख हर समय विद्यमान है ही। अब प्रश्न यह है कि उसका कारण क्या है तो आचार्य समझाते हैं कि जगत् में दो पदार्थ हैं एक आत्मा एक पुद्गलकर्म। आत्मा का स्वभाव निराकुल अनन्त सुख है जो स्वभाव पर्याय रूप प्रकट होता है और कर्मो का स्वभाव उससे विपरीत अनन्त दुःख रूप है जो उनके विपाक से आत्मा में प्रकट होता है क्योंकि ये दोनों पदार्थ स्वभाव से ही परस्पर विरोधी धर्म वाले हैं। इसपर शिष्य कहता है कि कर्म तो दीखते नहीं फिर उनका विपाक अनन्त दुःख रूप है यह कैसे सिद्ध हो ? तो उत्तर में कहते हैं कि यह तो आगम प्रमाण से सिद्ध है। श्री समयसारजी गाथा ४५ तथा १६० देखिये। यह १०७६ से १११२ तक का सब विषय इन्हीं दो सूत्रों का भाष्य है। यह श्री पञ्चाध्यायीकार की बुद्धि का चमत्कार है कि उन्होंने इन दो गाथा सूत्रों से यह विषय इस ढंग से निकाल कर स्पष्ट कर दिया है यह अबुद्धिपूर्वक दुःख पहले से बारहवें तक के सभी जीवों के पाया जाता है पर अध्यात्म का वर्णन अज्ञानी की मुख्यता से हुआ करता है क्योंकि ज्ञानी को तो इस अबुद्धिपूर्वक दुःख का भान है।

श्री समयसारजी में कहा है

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चई दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥ ४५ ॥

अर्थ–आठों प्रकार का कर्म सब पुद्गलमय है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान–सर्वज्ञदेव कहते हैं जिस के पक्व होकर उदय में आने वाले कर्म का फल प्रसिद्ध दुःख है – ऐसा कहा है।

टीका–अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करने वाला आठों प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है वह सभी पुद्गलमय है। ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। विपाक की मर्यादा को प्राप्त उस कर्म के फलरूप से जो कहा जाता है–वह (अर्थात् कर्मफल) अनाकुलता लक्षण-सुख-नामक आत्मस्वभाव से विलक्षण है इसलिये दुःख है। उस दुःख में ही आकुलता लक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं, इसलिए यद्यपि वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम करते हैं, तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु पुद्गल स्वभाव हैं।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥ १६० ॥

अर्थ—वह ज्ञान (आत्मा) (स्वभाव से) सर्व को जानने-देखने वाला है, तथापि अपने कर्मफल से लिए होता हुआ—व्याप्त होता हुआ संसार को प्राप्त हुआ वह सब प्रकार से सर्व को नहीं जानता ।

टीका—जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्वपदार्थों को सामान्य विशेषतया जानने के स्वभाव वाला है ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से ही, बंध अवस्था में सर्वप्रकार से सम्पूर्ण अपने को (अर्थात् सर्व प्रकार से सर्वज्ञेयों को जानने वाले अपने को) न जानता हुआ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से (अज्ञान दशा में) रह रहा है; इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्ध स्वरूप है। इसलिये स्वयंबन्धस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है।

भावार्थ—यहाँ भी 'ज्ञान' शब्द से आत्मा समझना चाहिए। ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य स्वभाव से तो सबको जानने-देखने वाला है परन्तु अनादि से स्वयं अपराधी होने के कारण कर्मों से आच्छादित है, इसलिये वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता, यों अज्ञान दशा में रह रहा है। इस प्रकार केवल ज्ञानस्वरूप अथवा मुक्त स्वरूप आत्मा कर्मों से लिप्त होने से अज्ञान रूप अथवा बद्ध रूप बर्तता है, इसलिए यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं; अतः कर्मों का निषेध किया गया है।

अबुद्धिपूर्वक दुःख का वर्णन समाप्त हुआ।

अगली भूमिका—इस प्रकार पहले ज्ञानी के इन्द्रिय सुख में हेय बुद्धि दिखलाई, फिर इन्द्रियज्ञान में हेय बुद्धि दिखलाई, फिर अबुद्धिपूर्वक दुःख में हेय बुद्धि दिखलाई । अब अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रियज्ञान रूप सब कर्मों के अभावात्मक तथा पूर्ण स्वभाव के सद्भावात्मक जो सिद्ध दशा है उसका वर्णन करते हैं जिसमें सम्यग्दृष्टि की उपादेय बुद्धि है यह सिद्ध का वर्णन उपर्युक्त तीनों की नास्तिरूप 'अस्ति' है सो जानना ।

सिद्धों * के अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि

सूत्र ११११३ से ११३८ तक २६

अपि सिद्धं सुखं नाम यदानाकुललक्षणम् ।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः ॥ १११३ ॥

अर्थ—(कर्मोदय मात्र से दुःख सिद्ध हो जाने से) आत्मा के सिद्धपना होने से नोकर्म (देह-इन्द्रिय-विषय) से रहित होने पर भी जो अनाकुल लक्षण सुख होता है वह भी सिद्ध हो गया।

भावार्थ—पहले १०७६ से ११११२ तक यह सिद्ध कर आये हैं कि कर्म से बद्धजीव घाति के विपाक में युक्त होने से ही अनन्त दुःखी है तो नास्ति से यह स्वतः सिद्ध हो गया कि उन कर्मों से मुक्त सिद्ध जीव में स्वाभाविक अनन्त सुख है।

शङ्का

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयते कथम् ॥ १११४ ॥

शङ्का—परमात्मा में (सिद्ध में) देह इन्द्रिय और विषय का अभाव प्रसिद्ध है तो फिर उस (देह-इन्द्रिय-विषय) के अभाव में (उस सिद्ध के) सुख और ज्ञान कैसे सिद्ध किया जाता है ?

भावार्थ—शिष्य ने इन्द्रिय सम्बन्धी सुख और ज्ञान ही माना है । अतीन्द्रिय सुख तथा ज्ञान को उड़ा ही दिया है।

* सिद्धों के ज्ञान सुख से भाव अपनी आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान सुख से है जिसकी सम्यग्दृष्टि को रुचि है। अन्य जीवों को रुचि कराने का प्रयोजन है।

समाधान सूत्र १११५ से ११२४ तक १०

न यद्यतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः ।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥ १११५ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है क्योंकि इन्द्रिय रहित और शरीर रहित सिद्ध के ज्ञान और सुख की सिद्धि में प्रमाण है। जिसका साधन हेतु है वह इस प्रकार–

अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वत द्वयोः ॥ १११६ ॥

अर्थ–किसी जीव के देह इन्द्रिय और विषय के संयोग बिना शुद्ध (अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान सम्पूर्णतया है) जैसे खेद है कि हम लोगों के भी उन दोनों (शुद्ध सुख और शुद्ध ज्ञान) का एक देश रूप से स्वादमात्र पाया जाता है।

भावार्थ–यह सूत्र पहले नं १०३१ में नास्तिरूप में आचुका है। वहाँ ग्रन्थकार ने अपने में एकदेशविषय अभिलाषा के अभाव रूप हेतु से किसी के (केवली के) सर्वथा विषय अभिलाषा का अभाव सिद्ध किया था। यहाँ अपने में एकदेश अतीन्द्रिय सुख के अस्तित्व से सिद्ध के अनन्त सुख को अन्यथानुपपत्ति रूप व्याप्ति से सिद्ध किया है। जिनका यह विचार है कि अपना सम्यक्त्व और अतीन्द्रिय सुख अपने को अनुभव में नहीं आता वह मात्र अवधि मनःपर्यय या केवलगम्य है वे इस सूत्र पर विचार करें। अध्यात्म के मर्मज्ञ जान सकते हैं कि इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थकार छठे-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले भावलिंगी मुनि थे क्योंकि जितनी स्वभाव पर्याय की प्रकटता इन दो सूत्रों में लिखी है वह मुनि दशा से नीचे नहीं होती । इसी प्रकार की ध्वनि श्री अमृतचन्दजी ने श्रीप्रवचनसार गाथा २०१ टीका की अन्तिम पंक्ति में दी है। वह इसप्रकार है, ''उस श्रामण्य को अंगीकार करने का जो यथानुभूत मार्ग है उसके प्रणेता हम यह खड़े हुये हैं'' इन शब्दों का अर्थ और ऊपर के दो सूत्रों का अर्थ एक ही है। इससे हमें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पंचाध्यायी के कर्ता यही श्रीअमृतचन्द आचार्य थे । हमको श्रीपंचाध्यायी के प्रत्येक सूत्र से तथा उसकी गहराई के अर्थ से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। अध्यात्म अनुभवी ज्ञानी हमारी प्रार्थना पर शान्ति और सूक्ष्मता से विचार करें। जो अपने सुख की व्याप्ति से सिद्ध का सुख सिद्ध कर रहा है वह मुनि नहीं तो और कौन होगा? बिना भावलिंगी मुनि के ऐसा स्वाभिमानजनित सूत्र नहीं रचा जा सकता। ऐसी सामर्थ्य तो श्रीअमृतचन्द्र जैसे शेर व्यक्ति की ही हो सकती है।

ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ ।
देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ॥ १११७ ॥

अर्थ–ज्ञान और सुख आत्मा के नित्य और द्रव्य के अनुजीवी धर्म (गुण) हैं। इसलिये (सिद्ध के) देह-इन्द्रिय-विषय के अभाव होने पर भी उन दोनों का अभाव नहीं है किन्तु सद्भाव है।

भावार्थ–कर्म-देह-इन्द्रिय-विषय तो प्रकट दूसरा धर्मी है। वह तो संयोग रूप था। उसके हट जाने पर कहीं मूल द्रव्य का या उसके किसी गुण का नाश थोड़ा ही हो जायेगा उलटा उसके अभाव में तो उसके निमित्त से जो विभाव पर्याय रूप परिणमन हो रहा था वह बदल कर अनन्त स्वभाव रूप परिणमन होगा। अतः सिद्ध में शुद्ध जीवास्तिकाय नाम का चेतनद्रव्य है। उसके गुण ज्ञान आदि उसमें विद्यमान हैं और उनकी अनन्त सुखरूप तथा अनन्तज्ञान रूप स्वभाव पर्याय है जिसका उन्हें वेदन है (देखिये श्री पंचास्तिकाय गा. ३७ तथा श्रीप्रवचनसार गाथा ६८)। इसी को अब कहते हैं–

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोर्गुणलक्षणात् ।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किंचिद्देहेन्द्रियं विना ॥ १११८ ॥

अर्थ–क्योंकि आनन्द और ज्ञान में गुण लक्षण होने से धर्मपना (गुणपना) सिद्ध है इसलिये उस (सिद्ध) अवस्था में भी किसी भी देह और इन्द्रिय के बिना (वह पाया जाता है)। अर्थात् द्रव्य के गुण का कभी अभाव नहीं होता। अतः सुख और ज्ञान दोनों गुण सिद्ध में पाये जाते हैं।

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम् ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ॥ १११९ ॥

अर्थ–मतिज्ञान आदि के समय में भी आत्मा उपादान कारण है। देह-इन्द्रियां और उन इन्द्रियों के विषय बाह्य (निमित्त मात्र) कारण हैं। वे अकारणवत् हैं अर्थात् अकिंचित्कर हैं।

भावार्थ–पिछली परिभाषा से कोई यह न समझ ले कि सिद्ध में तो जीव के बिना देहादि के सुख होता है पर संसार में तो इनसे ही होता है तो इसका भी खण्डन करते हैं कि ऐसा भी नहीं है। यहाँ भी जीव स्वयं सुख गुण की विभाव पर्याय से सुखी-दुःखी होता है। विषयादि वास्तविक कारण नहीं हैं वे तो अकारणवत् हैं क्योंकि उसी विषय को भोगते हुए अपनी (कल्पनानुसार) कोई अपने को सुखी मानता है तो कोई अपने को दुःखी मानता है। यह प्रत्यक्ष व्यभिचार दोष है। इसकी विशेष जानकारी के लिये श्री प्रवचनसार गा. ६५-६६-६७ पढ़िये। यह तथा अगले ११२० से ११२४ तक का सब विषय इन्हीं गाथाओं का ज्यों का त्यों लिया हुआ है।

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः ।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ॥ ११२० ॥

अर्थ–जीव संसार (अवस्था) में अथवा सिद्ध (अवस्था) में–दोनों में–ज्ञान-सुख-आदि लक्षण वाला है। इसलिये यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान अथवा सुखमय होता है (ज्ञान और सुख तो आत्मा की गुण पर्यायें हैं अतः उसमें ही होंगी। पर का तो अत्यन्ताभाव है।

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत् ।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जड़ाः ॥ ११२१ ॥

अर्थ–जीव स्पर्श-आदि विषयों को प्राप्त करके स्वयं उस ज्ञान और सुखमय हो जाता है। (आत्मा के) उस (ज्ञान और सुख) में स्पर्श आदि विषय (विचारे) वे जड़ क्या करेंगे ? अर्थात् आत्मा अपने स्वकाल की योग्यता से सुख गुण की विभाव पर्यायरूप स्वयं परिणमन करता है।

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥ ११२२ ॥

अर्थ–यदि स्पर्श-आदि विषय स्वतन्त्र रूप से ज्ञान उत्पन्न करते हैं तो वे ज्ञानशून्य घटादि में भी उस ज्ञान सुख को क्यों उत्पन्न नहीं करते हैं ? अतः वे कुछ नहीं करते । आत्मा स्वयं सुखी-दुःखी होता है। इस पर भी कोई यह कहे कि वे चेतन पदार्थ में ही सुख उत्पन्न करते हैं जड़ में नहीं तो आचार्य कहते हैं कि चेतन तो स्वयं चेतन है वह स्वयं अपने में सुख-दुःख उत्पन्न करता है। देहविषयादि तो स्वयं जड़ हैं। वे चेतन वस्तु को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं। अतः संसार में विषय सुखी करते हैं यह भी भ्रम है। सोई कहते हैं।

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित् ।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥ ११२३ ॥

अर्थ–यदि यह कहो कि ये स्पर्शादिक चेतन द्रव्य में संसार अवस्था में सुख और ज्ञान को उत्पन्न करते हैं तो हम पूछते हैं कि उस आत्मा के स्वयं चेतन होने पर उस (चेतना) में ये क्या उत्पन्न करते हैं? क्या जड़ चेतन को उत्पन्न करता है ? नहीं। ये कुछ उत्पन्न नहीं करते वह स्वयं परिणमता है।

ततः सिद्धं शरीरस्य पंचाक्षाणां तदर्थसात् ।
अस्त्यकिंचित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखं प्रति ॥ ११२४ ॥

अर्थ–इसलिये सिद्ध होता है कि शरीर के, पाँचों इन्द्रियों के और उन इन्द्रिय विषयों के, आत्मा के उस ज्ञान सुख के प्रति अकिंचित्करपना है अर्थात् संसार की सिद्धि दोनों जगह स्वयं आत्मा ज्ञान और सुख की स्वभाव पर्याय रूप परिणमन करके सुखी होता है और विभाव रूप परिणमन करके दुःखी होता है। ये जड़ पदार्थ कुछ नहीं करते। अब इसी को शङ्का समाधान द्वारा पीसते हैं।

शङ्का

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणां ।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिंचित्करं कथम् ॥ ११२५ ॥

शङ्का–मनुष्यों के देह-इन्द्रिय और विषयों के रहने पर ही ज्ञान और सुख होता है और उनके नहीं रहने पर सुख ज्ञान नहीं होता। फिर वह अकिंचित्कर (व्यर्थ) कैसे हैं ?

समाधान सूत्र ११२६ से ११३८ तक १३

नैवं यतोऽन्वयापेक्षे व्यंजके हेतुदर्शनात् ।
कार्याभिव्यंजकः कोपि साधनं न विनान्वयम् ॥ ११२६ ॥

अर्थ–ऐसा नहीं है क्योंकि अन्वय की अपेक्षा (सत्ता) रहने पर ही व्यंजक में (निमित्त में) हेतुपना देखा जाता है। कोई भी कार्य का अभिव्यंजक (निमित्त) अन्वय (उपादान) बिना साधन नहीं है।

भावार्थ–शिष्य की शङ्का का ऐसा भाव था कि महाराज हम तो प्रत्यक्ष देखते हैं कि विषय के बिना इन्द्रिय सुख आत्मा नहीं भोग सकता। इससे प्रत्यक्ष पता चलता है कि विषय सुख को उत्पन्न करते हैं तो उसका समाधान आचार्य निमित्त उपादान की संधि समझाते हैं कि भाई, कार्य तो वह पदार्थ स्वयं (उपादान) करता है। निमित्त उस कार्य को नहीं करता उलटा वह तो यह बताता है कि यह कार्य मैंने नहीं किया है किन्तु उपादान ने किया है। जैसे हवन सामग्री को आग में डालिये तो उसकी सुगन्ध प्रकट हो जाती है। आग उस सुगन्ध को उत्पन्न नहीं करती किन्तु वह तो ढिंढोरा पीट कर जगत् के जीवों को यह प्रकट कर रही है कि रे जीवो ! देखो यह सुगन्ध मेरी नहीं किन्तु हवन सामग्री की है। अतः भाई निमित्त उपादान के कार्य का उत्पादक नहीं है किन्तु अभिव्यंजक है, प्रकाशक है, प्रकट करने वाला है। उसी प्रकार भला बेचारे जड़ पदार्थ चेतन में क्या उत्पन्न करेंगे ? कुछ नहीं । वास्तव में बात यह है कि जगत् को वस्तु के द्रव्य गुण पर्याय का ज्ञान नहीं है। श्री प्रवचनसार नं. २३४, २३५ में कहा है कि यह अज्ञानी जगत् बहिरंग संयोगी चरम चक्षु से देखता है। इसको निमित्त से कार्य होता दीखता है किंतु ज्ञानी आगम चक्षु से देखते हैं उन्हें उपादान स्वयं अपने स्वकाल की योग्यता से कार्य करता दीखता है। एक जगह श्रीसमयसार में आचार्य महाराज ने कहा है कि हमें तो प्रत्यक्ष मिट्टी घड़ा बनाते दीख रही है कुम्हार नहीं। यदि कुम्हार बनाता तो वह कुम्हार के गुण रूप बनता मिट्टी के नहीं। श्री प्रवचनसार की गाथा नं. २३५ की टीका और पूर्वापर वांचने से पूर्ण संतोष हो जायेगा।

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत् ।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥ ११२७ ॥

अर्थ–दृष्टान्त अगुरु (हवन सामग्री) की गन्ध की व्यञ्जक (प्रकट करने वाली) आग होती है। वह गन्ध उस अगुरु द्रव्य के बिना आग के नहीं होती है।

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यंजकाः क्वचित् ।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः ॥ ११२८ ॥

अर्थ–वैसे ही देह-इन्द्रिय और विषय कहीं पर (संसार अवस्था में) ज्ञान के और सुख के अभिव्यञ्जक (प्रकाशक) होते हैं परन्तु वे स्वयं ज्ञान और सुख स्वरूप नहीं हो जाते हैं।

नाप्युपादानशून्येऽपि स्यादभिव्यंजकात्सुखम् ।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः ॥ ११२९ ॥

अर्थ–उपादान के अभाव में केवल अभिव्यंजक (निमित्त) से ही सुख और ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वैसा मानने पर सर्वत्र (उपादान) कारण के अभाव में ही कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आवेगा ।

ततःसिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः ।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥ ११३० ॥

अर्थ–इसलिये संसार में अथवा सिद्ध में ज्ञान और सुख गुण जीव के सिद्ध होते हैं क्योंकि वे गुणपने को उलंघन नहीं करते जिसमें जो गुण नहीं होता उसमें वह कार्य ही नहीं हुआ करता। कार्य तो पर्याय को कहते हैं। बिना गुण के पर्याय कैसी ?

किं च सावरणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये ।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥ ११३१ ॥

अर्थ–आत्मा के संसार अवस्था में आवरण सहित ज्ञान और सुख होता है तथा सिद्ध में वह ज्ञान और सुख निरावरण (क्षायिक) होता है।

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः ।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥ ११३२ ॥

अर्थ–कर्मों के नाश होने पर निश्चय से आत्मा के गुण का नाश नहीं होता है उलटी अत्यन्त निर्मलता (प्रगट हो जाती है) जैसे कीचड़ के नाश होने पर जल आदि निर्मल हो जाते हैं।

भावार्थ–शिष्य यह कह रहा था कि शरीरादिक के अभाव में सिद्ध के सुख ही नहीं होता। उसे समझाते हैं कि उलटा अधिक होता है। कर्मों के नाश होने पर मूल द्रव्य या उसका गुण नाश नहीं होता उलटा गुण की पूर्ण प्रगटता हो जाती है। जैसे कीचड़ के नाश से पानी या उसकी निर्मलता का नाश नहीं किन्तु वह निर्मलता पूर्ण प्रकट हो जाती है। कीटादि के नाश से सोने का या उसके पीलेपन का नाश नहीं किन्तु वह पीलापनपूर्ण प्रकट हो जाता है। यह लिखने का कारण यह कि नैयायिकादि का यह कहना है कि आत्मा के २१ गुणों का नाश होना ही मोक्ष है। यह उनकी अज्ञानता है। गुण के नाश होने पर तो मूल द्रव्य का अस्तित्व ही नाश हो जायेगा। सो गुण का नाश मोक्ष नहीं किन्तु उस की प्रकटता का नाम मोक्ष है। सोई समझाते हैं।

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः ।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः स पर्ययः ॥ ११३३ ॥

अर्थ–कर्म मल का नाश हो जाने पर आत्मा के विकार का नाश हो जाता है क्योंकि वह विकार कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव है और अनित्य है, क्षणिक पर्याय है (गुण नहीं है)।

भावार्थ–फिर भी कोई यह कहे कि नहीं आत्मा के गुणों का नाश ही मोक्ष है देखो राग आत्मा में है। उसका नाश होता है तो कहते हैं कि राग मूल द्रव्य या उसका कोई गुण नहीं है वह तो मूल जीव द्रव्य के चारित्र गुण का विकार-विभाव-विपरीत परिणमन है वह बदल कर स्वभाव परिणमन अर्थात् वीतरागता प्रगट हो जाती है। चारित्र गुण नाश नहीं हुआ उलटा विकार निकल कर निर्मल हो गया । अतः भाई विकार का नाश होना तो जरूर मोक्ष है पर गुण का नाश होना मोक्ष नहीं है। गुण तो नित्य पदार्थ है उसके नाश होने पर शून्यता का प्रसंग आयेगा। विकार को नाश होता देखकर गुण के नाश का भ्रम नहीं करना चाहिये किन्तु उसके प्रकट होने वाले अनन्त स्वभाव पर दृष्टि जानी चाहिए। वास्तव में द्रव्य गुण पर्याय के ज्ञान बिना निःशल्यता नहीं आती। भ्रम बना ही रहता है।

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद् भ्रान्तिर्गुणव्यये ।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात् परमात्मनि ॥ ११३४ ॥

अर्थ–और अशुद्ध पर्याय के नाश होने पर गुण के नाश में भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि गुण के नित्य होने से सिद्ध में उत्कृष्ट (पूर्ण) ज्ञान और आनन्दपना प्रकट है।

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः ।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोऽस्ति चेत् ॥ ११३५ ॥

अर्थ–जैसे यदि सोना है तो अग्नि के संयोग से पत्थर आदि मल के नाश होने पर पीतत्त्व आदि गुण का अभाव नहीं हो जाता उलटा वह अत्यन्त निर्मल हो जाता है।

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः ।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥ ११३६ ॥

अर्थ–'इक्कीस दुःखों (गुणों) का सर्वथा अभाव लक्षण मोक्ष है' ऐसा कोई मानते हैं। वह झूठ है (क्योंकि) जीव के गुणों का अभाव मानने से शून्य सिद्ध होगा (अर्थात् जीव के अभाव का प्रसंग आवेगा) ।

भावार्थ–नैयायिकदर्शन आत्मा में २१ गुण मानता है। उन्हें दुःख कहता है' और उनका नाश मोक्ष कहता है। उसका यहाँ खण्डन किया है कि वैसा मानने पर सत् द्रव्य के नाश से शून्यता का प्रसंग आयेगा। इस पर नैयायिक कहता है कि यदि गुण की प्रकटता को मोक्ष कहोगे तो सिद्ध में अनन्त दुःख सिद्ध हो जायेगा सो उसे समझाते हैं कि सुख

नाम के गुण की पूर्ण प्रकटता अनन्त सुख संवेदन है यदि उसका अभाव मानोगे तो आत्मा महान् दुःखी हो जायेगा। फिर कैसा मोक्ष। सो कहते हैं–

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम् ।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषंगतः ॥ ११३७ ॥

अर्थ–आत्मा के निजगुण की प्रकटता दुःख का साधन नहीं है क्योंकि सुख के मूल से नाश हो जाने से अत्यन्त दुःख का प्रसंग आता है।

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः ।
देहेन्द्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥ ११३८ ॥

अर्थ–इसलिये यह सिद्ध हो गया कि ज्ञानरूप और सुखरूप सिद्ध के देह-इन्द्रिय (और विषयों) के विना भी निश्चित रूप से ज्ञान और आनन्द है।

प्रमाण–सिद्ध के अतीन्द्रिय ज्ञान का विशद विवेचन श्रीप्रवचनसार नं. २१ से ५२ तक खास इसी का अधिकार है तथा अतीन्द्रिय सुख का वर्णन ५३ से ६८ कर खास इसी का अधिकार है। वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है बल्कि है ही नहीं । वह बांचने से ममुक्षु की विषय सुख की अभिलाषा काफूर की तरह नष्ट हो जाती है और अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा जम जाती है । – ग्रन्थकार ने ११११ से ११३८ तक का विषय श्रीपंचास्तिकाय नं. ३७ तथा श्रीप्रवचनसार नं. ६८ पर से लिया है। वह इस प्रकार है–

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥ ६८ ॥

अर्थ–जैसे आकाश में सूर्य अपने आप ही तेज उष्ण और देव है उसी प्रकार लोक में सिद्ध भगवान् भी (स्वयमेव) ज्ञान सुख और देव हैं।

टीका–जैसे आकाश में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य (१) स्वयमेव अत्यधिक प्रभा समूह से चमकते हुए स्वरूप के द्वारा विकसित प्रकाश युक्त होने से तेज है (२) कभी उष्णतारूप परिणमित लोहे के गोले की भांति सदा उष्णता परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है और (३) देवगति नाम कर्म के धारावाहिक उदय के वशवर्ती स्वभाव से देव है, इसी प्रकार लोक में अन्य कारण की अपेक्षा रखे विना ही भगवान आत्मा स्वयमेव ही (१) स्वपर को प्रकाशित करने में समर्थ यथार्थ अनन्तशक्तियुक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है (२) आत्मतृप्ति से उत्पन्न होने वाली जो परिनिर्वृत्ति है उससे प्रवर्तमान अनाकुलता में सुस्थितता के कारण सौख्य है और (३) जिन्हें आत्मतत्त्व की उपलब्धि निकट है ऐसे बुधजनों के मनरूपी शिलास्तम्भ में जिसकी अतिशय द्युति स्तुति उत्कीर्ण है ऐसा दिव्य आत्मस्वरूपवान् होने से देव है । इसलिए इस आत्मा को सुख साधनाभास के विषयों से बस हो।

भावार्थ–सिद्ध भगवान किसी बाह्य कारण की अपेक्षा के बिना अपने आप ही स्वपर प्रकाशक ज्ञानरूप हैं, अनन्त आत्मिक आनन्दरूप हैं और अचिन्त्य दिव्यता रूप हैं। सिद्ध भगवान की भाँति ही सर्व जीवों का स्वभाव है; इसलिये सुखार्थी जीवों को विषयालम्बी भाव छोड़ कर निरालम्वी परमानन्द स्वभाव रूप परिणमन करना चाहिए।

सिद्धों के अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान अर्थात् अपने आत्मा के स्वाभाविक सुख और ज्ञान की सिद्धि समाप्त।

इस अवान्तर अधिकार का साररूप उपसंहार सूत्र ११३९ से ११४२ तक ४

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥ ११३९ ॥

अर्थ–इस प्रकार जान लिया है तत्त्व को जिसने (अर्थात् ऐन्द्रिय सुख और ऐन्द्रिय ज्ञान हेय है ऐसा जिसका निर्णयात्मक ज्ञान है) और अपनी आत्मा को देखने वाला (अर्थात् अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान मेरी आत्मा का स्वभाव है। ऐसा श्रद्धान रखने वाला) वह सम्यग्दृष्टि इन्द्रियजन्य सुख में और इन्द्रियजन्य ज्ञान में राग-द्वेष को छोड़ देता है अर्थात् उन्हें अपना स्वभाव नहीं मानता और उनका ज्ञाता द्रष्टा हो जाता है। अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफल

चेतना का ज्ञाताद्रष्टा हो जाता है। सूत्र १००६ से ११३८ तक जितना इन्द्रियसुखादि का वर्णन इस अधिकार में किया है। उसका सार यहाँ लाकर निकाला है क्योंकि अब इस अवान्तर अधिकार को समाप्त कर रहे हैं ।

ननूल्लेखः किमेतावानस्ति किं वा परोऽप्यतः ।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनांचितः पुमान् ॥ ११४० ॥

शङ्का–क्या इतना ही उल्लेख है अथवा इससे अन्य भी है जिस लक्षण से युक्त जीव 'सम्यग्दृष्टि' जाना जाता है?

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैश्च संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ११४१ ॥

समाधान–सम्यग्दृष्टि आत्मा के दूसरे लक्षण भी हैं। सम्यक्त्व से अविनाभावी जिनके द्वारा सम्यग्दृष्टि भले प्रकार जाना जाता है।

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥ ११४२ ॥

अर्थ–(जैसे) सम्यग्दृष्टि आत्मा के ऊपर कहा हुआ ऐन्द्रिय सुख और ऐन्द्रिय ज्ञान उपादेय नहीं है (हेय है) उसी प्रकार सब कर्म भी उपादेय नहीं है (हेय है) क्योंकि उसे अपने आत्म द्रव्य का प्रत्यक्ष हो गया है। (देखिये पूर्व सूत्र ११३९)।

परिशिष्ट

प्रश्न १९१ – सामान्य धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो धर्म सब द्रव्यों में पाया जाये उसे सामान्य धर्म कहते हैं जैसे द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व, उत्पादव्ययध्रुवत्व, अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, तत्पना-अतत्पना, एकत्व-अनेकत्व इत्यादि । (७, ७७०)

प्रश्न १९२ – विशेष धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो सब द्रव्यों में न पाया जाये किन्तु कुछ में पाया जाये उसे विशेष धर्म कहते हैं जैसे चेतनत्व-अचेतनत्व, क्रियत्व, मूर्तत्व-अमूर्तत्व, अलोकत्व इत्यादिक । (७, ७७०)

प्रश्न १९३ – जीव-अजीव की विशेषता बताओ ।

उत्तर – चेतना लक्षण जीव है, अचेतन लक्षण अजीव है। जीव चेतन हैं शेष पाँच अचेतन हैं। (७७१)

प्रश्न १९४ – मूर्त-अमूर्त की विशेषता बताओ ।

उत्तर – जो इन्द्रिय के ग्रहण योग्य हो अथवा जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाया जाये वह मूर्त है। इससे विपरीत अमूर्त है। एक पुद्गल मूर्त है। शेष पाँच अमूर्त हैं। (७७५, ७७७)

प्रश्न १९५ – लोक-अलोक की विशेषता बताओ ।

उत्तर – षट्द्रव्यात्मक लोक है उससे विपरीत अर्थात् आकाश मात्र अलोक है । (७९०, ७९१)

प्रश्न १९६ – क्रिया, भाव की विशेषता बताओ ।

उत्तर – प्रदेशों का चलनात्मक परिस्पन्द क्रिया है तथा प्रत्येक वस्तु में धारावाही परिणाम भाव है। क्रियावान् दो जीव और पुद्गल है। भाववान छहों हैं । (७९४)

प्रश्न १९७ – सामान्य जीव का स्वरूप बताओ ।

उत्तर – जीव स्वतः सिद्ध, अनादि अनन्त, अमूर्तिक, ज्ञानादि अनन्त-धर्ममय, साधारण-असाधारण गुण युक्त, लोकप्रमाण असंख्यात किन्तु अखण्ड अपने प्रदेशों में रहने वाला, सबको जानने वाला, किन्तु उन सबसे भिन्न तथा उनसे और कोई सम्बन्ध न रखने वाला, अविनाशी द्रव्य है। सब जीव समान रूप से इसी स्वभाव के धारी हैं। (७९८, ७९९, ८००)

प्रश्न १९८ – पर्यायदृष्टि से जीव के भेद स्वरूप सहित बताओ ।

उत्तर– एक बन्द्ध, एक मुक्त। जो संसारी है और अनादि से ज्ञाना-वरणादि कर्मों से मूर्च्छित अर्थात् कर्मों में जुड़ने से स्वभाव से च्युत और परभाव से मूर्च्छित होने के कारण स्वरूप को अप्राप्त है, वह बद्ध है। जो सब प्रकार के कर्म रहित स्वरूप को पूर्ण प्राप्त है वह मुक्त है।

प्रश्न १९९ – बन्ध का स्वरूप भेद सहित बताओ ।

उत्तर – बन्ध तीन प्रकार का होता है – (१) भावबन्ध, (२) द्रव्यबन्ध, (३) उभयबन्ध । राग और ज्ञान के बन्ध को भावबन्ध या जीवबन्ध कहते हैं। पुद्‌गल कर्मों को अथवा उनकी कर्मत्वशक्ति को द्रव्यबन्ध कहते हैं। जीव और कर्म के निमित्त-नैमित्तिक संबंध को उभय बंध कहते हैं । (८१५, ८१६)

प्रश्न २०० – निमित्तमात्र के नामान्तर बताओ ।

उत्तर – निमित्तमात्र, कर्ता, असर, प्रभाव, बलाधान, प्रेरक, सहायक, सहाय, इन सब शब्दों का अर्थ निमित्तमात्र है (प्रमाण-श्रीतत्त्वार्थ सार तीसरा अजीव अधिकार श्लोक नं. ४३) ।

प्रश्न २०१ – निमित्त-नैमित्तिक संबंध के नामान्तर बताओ ।

उत्तर – निमित्त-नैमित्तिक, अविनाभाव, कारणकार्य हेतु हेतुमत्, साध्य साधक, बंध्य बन्धक, एक दूसरे के उपकारक वस्तु स्वभाव, कानूने कुदरत Automelic system – ये शब्द पर्यायवाची हैं। सब शब्दों का प्रयोग आगम में मिलता है। अर्थ केवल निमित्त की उपस्थिति में उपादान का स्वतन्त्र निरपेक्ष नैमित्तिक परिणमन है (प्रमाण श्रीपंचास्तिकाय गाथा ६२ टीका) ।

प्रश्न २०२ – जीव कर्म और उनके बंध की सिद्धि करो ।

उत्तर – प्रत्यक्ष अपने में सुख-दुःख का संवेदन होने से तथा ''मैं–मैं'' रूप से अपना शरीर से भिन्न अनुभव होने से जीव सिद्ध है। कोई दरिद्र कोई धनवान देखकर उसके अविनाभावी रूप कारण कर्म पदार्थ की सिद्धि होती है। जीव में राग-द्वेष-मोह और सुख-दुःख रूप विभाव भावों की उत्पत्ति उनके बंध को सिद्ध करती है। यदि इनका बंध न होता तो जीव धर्मद्रव्यवत् विभाव न कर सकता। (७७३, ८१८, ८१९)

प्रश्न २०३–वैभाविकी शक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – आत्मा में ज्ञानादि अनन्त शुद्धशक्तियों की तरह यह भी एक शुद्ध शक्ति है। पुद्‌गल कर्म के निमित्त मिलने पर अर्थात् निमित्त का लक्ष्य करने पर इसका विभाव परिणमन होता है। स्वतः स्वभाव परिणमन होता है। इसी प्रकार पुद्‌गल में भी यह एक शक्ति है और उसका भी दो प्रकार का परिणमन होता है। इसी शक्ति के कारण जीव संसारी और सिद्ध रूप बना है। (८४८, ८४९)

प्रश्न २०४ – आत्मा को मूर्त क्यों कहते हैं ?

उत्तर – जब तक आत्मा विभाव परिणमन करता है तब तक विभाव के कारण उसे उपचार से मूर्त कहा जाता है। वास्तव में वह अमूर्त ही है। (८२८)

प्रश्न २०५ – बद्ध ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो ज्ञान मोहकर्म से आच्छादित है प्रत्यर्थ परिणमनशील है अर्थात् इष्ट–अनिष्ट पदार्थों के संयोग में रागी-द्वेषी-मोही होता है, वह बद्ध ज्ञान है। पहले गुणस्थानवर्ती अज्ञानी के ज्ञान को बद्धज्ञान कहते हैं। (८३५)

प्रश्न २०६ – अबद्ध ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो मोहकर्म से रहित है, क्षायिक है, शुद्ध है, लोकालोक का प्रकाशक है। वह अबद्ध ज्ञान है। केवली के ज्ञान को अबद्ध ज्ञान कहते हैं। (८३६)

प्रश्न २०७ – विभाव के नामान्तर बताओ ।

उत्तर – परकृतभाव, परभाव, पराकारभाव, पुद्गलभाव, कर्मजन्यभाव, प्रकृति शीलस्वभाव, परद्रव्य, कर्मकृत, तद्गुणाकारसंक्रान्ति, परगुणाकार, कर्मपदस्थितभाव, जीव में होनेवाला अजीवभाव, जीवसंबंधी अजीव भाव, तद्गुणाकृति, परयोगकृतभाव, निमित्तकृत भाव, विभावभाव, राग, उपरक्ति, उपाधि, उपरंजक, बधभाव, बद्धभाव, बद्धत्व, उपराग, परगुणाकारक्रिया, आगन्तुक भाव, क्षणिकभाव, ऊपरतरताभाव स्वगुणच्युति, स्वस्वरूपच्युति, इत्यादि बहुत नाम हैं।

प्रश्न २०८ – बद्धत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर – पदार्थ में एक वैभाविकी शक्ति है। वह यदि उपयोगी होवे अर्थात् विभावरूप कार्य करती होवे तो उस पदार्थ की अपने गुण के आकार की अर्थात् असली स्वरूप की जो निमित्त के आकाररूप संक्रान्ति-च्युति-विभाव परिणति है वह संक्रान्ति ही अन्य है निमित्त जिसमें ऐसा बन्ध है अर्थात् द्रव्य का विभाव परिणमन बद्धत्व है जैसे ज्ञान का राग रूप परिणमना बद्धत्व है। पुद्गल का कर्मत्वरूप परिणमना बद्धत्व है अर्थात् परगुणाकार क्रिया बद्धत्व है। (८४०, ८४४, ८९८)

प्रश्न २०९ – अशुद्धत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर – अपने गुण से च्युत होना अशुद्धत्व है अर्थात् विभाव के कारण अद्वैत से द्वैत हो जाना अशुद्धत्व है। जैसे ज्ञान का अज्ञान रूप होना । (८८०, ८९८)

प्रश्न २१० – बद्धत्व और अशुद्धत्व में क्या अन्तर है ?

उत्तर – एक अन्तर तो यह है कि बन्ध कारण है और अशुद्धत्व कार्य है क्योंकि बंध के बिना अशुद्धता नहीं होती अर्थात् विभाव परिणमन किये बिना ज्ञान की अज्ञानरूप दशा नहीं होती। ज्ञान का विभाव परिणमन बद्धत्व है और उसकी अज्ञान दशा अशुद्धत्व है। समय दोनों का एक ही है। यहाँ बद्धत्व कारण है और अशुद्धत्व कार्य है। (८९९)

दूसरा अन्तर यह है कि बंध कार्य है क्योंकि बन्ध अर्थात् विभाव पूर्वबद्धकर्मों के उदय में जुड़ने से ही होता है और अशुद्धत्व कारण है क्योंकि वह नये कर्मों को खेंचती है अर्थात् उनके बन्धने के लिये निमित्त मात्र कारण हो जाती है। (९००)

पहले अन्तर में बंध कारण है दूसरे में बंध कार्य है। पहले अन्तर में अशुद्धत्व कार्य है दूसरे में कारण है यही बद्धत्व और अशुद्ध दोनों में अन्तर है। (८९७)

प्रश्न २११ – शुद्ध-अशुद्ध का क्या भाव है ?

उत्तर – औदयिक भाव अशुद्ध है क्षायिक भाव शुद्ध है। यह पर्याय में शुद्ध-अशुद्ध का अर्थ है। दूसरा अर्थ यह है कि औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक चारों नैमित्तिक भाव अशुद्ध हैं और उनमें अन्वय रूप से पाये जाने वाला सामान्य शुद्ध है। (९०१)

प्रश्न २१२ – निश्चय नय का विषय क्या है तथा बद्धाबद्धनय (व्यवहारनय) का विषय क्या है?

उत्तर – निश्चय नय का विषय उपर्युक्त शुद्ध सामान्य है तथा व्यवहार नय का विषय जीव की नौ पर्यायें अर्थात् अशुद्ध नौ तत्त्व हैं। (९०३)

प्रश्न २१३ – द्रव्यदृष्टि से जीव तत्त्व का निरूपण करो ।

उत्तर – ऊपर प्रश्न नं १९७ के उत्तर में कह चुके हैं। (७९८, ७९९, ८००)

प्रश्न २१४ – पर्यायदृष्टि से जीव तत्त्व का निरूपण करो ।

उत्तर – जीव चेतना रूप है। वह चेतना दो प्रकार की है – एक ज्ञानचेतना, दूसरी अज्ञानचेतना। अत: उनके स्वामी भी दो प्रकार के हैं। ज्ञानचेतना का स्वामी सम्यग्दृष्टि । अज्ञानचेतना का स्वामी मिथ्यादृष्टि, पर्यायदृष्टि से तीन लोक के जीव इन्हीं दो रूप हैं । (९५८ से १००५)

प्रश्न २१५ – सम्यग्दृष्टि का स्वरूप बताओ।

उत्तर – (१) जो ज्ञान चेतना का स्वामी हो (२) ऐन्द्रिय सुख तथा ऐन्द्रिय ज्ञान में जिसकी हेय बुद्धि हो (३) अतीन्द्रिय सुख तथा अतीन्द्रियज्ञान में जिसकी उपादेय बुद्धि हो (४) जिसे अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष हो गया हो (५) वस्तु स्वरूप को विशेषतया नौ तत्त्वों को और उनमें अन्वय रूप से पाये जाने वाले सामान्य का जानने वाला हो (६) भेदविज्ञान को प्राप्त हो (७) किसी कर्म में खास कर सातावेदनीय में तथा कर्मो के कार्य में जिसकी उपादेय बुद्धि न हो (८) जिसके वीर्य का झुकाव हर समय अपनी ओर हो (९) पर के प्रति अत्यन्त उपेक्षारूप वैराग्य हो (१०) कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का ज्ञाता-द्रष्टा हो (११) सामान्य का संवेदन करने वाला हो (१२) विषय सुख में और पर में अत्यन्त अरुचि भाव हो (१३) केवल (मात्र) ज्ञानमय भावों को उत्पन्न करने वाला हो। ये मोटे-मोटे लक्षण हैं। वास्तव में तो 'एक ज्ञान चेतना' ही स्मयग्दृष्टि का लक्षण है। उस के पेट में यह सब कुछ आ जाता है। हमने अपने परिणामों से मिला कर लिखा है। सन्त जन अपने परिणामों से मिला कर देखें (९६६, १०००, ११३, ११४२) ।

प्रश्न २१६ – मिथ्यादृष्टि का स्वरूप क्या है ?

उत्तर– (१) जो कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना का स्वामी हो (२) ऐन्द्रिय सुख और ऐन्द्रिय ज्ञान में जिसकी उपादेय बुद्धि हो (३) वस्तु स्वरूप से अज्ञात हो (४) सातावेदनीय के कार्य में जिसकी अत्यन्त रुचि हो (५) हर समय पर के ग्रहण का अत्यन्त अभिलाषी हो (६) अपने को पर्याय जितना ही मानकर उसी का संवेदन करने वाले हो (७) केवल अज्ञानमय भावों का उत्पादक हो। ये मोटे-मोटे लक्षण हैं। वास्तव में तो 'एक अज्ञान चेतना' ही मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। उसके पेट में यह सब कुछ आ जाता है।

प्रश्न २१७ – चेतना के पर्यायवाची नाम बताओ ।

उत्तर – (क) चेतना, उपलब्धि, प्राप्ति संवेदन, संचेतन, अनुभवन, अनुभूति अथवा आत्मोपलब्धि इन शब्दों का एक अर्थ । चाहे वह संवेदन ज्ञानरूप हो या अज्ञानरूप । ये शब्द सामान्य रूप से दोनों में प्रयोग होते हैं (ख) शुद्ध चेतना ज्ञानचेतना, शुद्धोपलब्धि शुद्धात्मोपलब्धि ये पर्यायवाची हैं। ज्ञानी के ही होती है। (ग) अशुद्धचेतना, अज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना, अशुद्धोपलब्धि ये पर्यायवाची हैं। अज्ञानी के ही होती है।

प्रश्न २१८ – ज्ञान चेतना का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – ज्ञान चेतना में शुद्ध आत्मा अर्थात् ज्ञानमात्र का स्वाद आता है। यह ज्ञान की सम्यग्ज्ञान रूप अवस्थान्तर है। यह शुद्ध ही होती है। इससे कर्मबंध नहीं होता । (९६४, ९६५)

प्रश्न २१९ – अज्ञानचेतना का स्वरूप बताओ ।

उत्तर – अपने को सर्वथा राग-द्वेष या सुख-दुःख रूप अनुभव करना अज्ञान चेतना है, जो आत्मा स्वभाव से ज्ञायक था वह स्वयं वेदक बन कर अज्ञानभाव का संवेदन करता है। इसमें ज्ञान का रंचमात्र संवेदन नहीं है। यह सब जगत् के पायी जाती है। अशुद्ध ही होती है और इससे बन्ध ही होता है। (९७६)

प्रश्न २२० – कर्मचेतना का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – अपने को सर्वथा राग-द्वेष-मोह रूप ही अनुभव करना, ज्ञायक का रंचमात्र अनुभव न होना कर्मचेतना है । जीव भेद विज्ञान के अभाव के कारण आत्मा के ज्ञायक स्वरूप को भूल कर सर्वथा पर पदार्थ को अपने रूप अथवा अपने को परपदार्थरूप समझता है तो मोहभाव की उत्पत्ति होती है। जिसको इष्ट मानता है उसके प्रति राग की उत्पत्ति होती है, जिसको अनिष्ट मानता है, उसके प्रति द्वेष की उत्पत्ति होती है। फिर सर्वथा राग-द्वेष-मोह का अनुभव करने लगता है। उसे आत्मा, मात्र राग-द्वेष-मोह जितना ही अनुभव में आता है। (९७५)

२२१ – कर्मफलचेतना का स्वरूप बताओ ।

उत्तर – अपने को सर्वथा सुख-दुःख रूप ही अनुभव करना । ज्ञायक का रंचमात्र अनुभव न होना कर्मफल चेतना है। जीव भेदविज्ञान के अभाव के कारण आत्मा के ज्ञायक स्वरूप को भूलकर इष्टविषयों में सुख की कल्पना करता है तथा अनिष्ट विषयों में दुःख की कल्पना करता है फिर उस कल्पित सुख-दुःख भाव से सर्वथा तन्मय होकर उसी को संवेदन करता है। उसे आत्मा; मात्र सुख-दुःख जितना ही अनुभव में आता है। (९७५)

प्रश्न २२२ – ज्ञानी को साधारण क्रियाओं से बंध क्यों नहीं होता ?

उत्तर – क्योंकि वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वामी नहीं है। ज्ञानचेतना का स्वामी है। ज्ञानचेतना के स्वामियों को कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से मिथ्यात्वादि का बन्ध नहीं होता अन्यथा मोक्ष ही न हो । (९९७ से १०००)

प्रश्न २२३ – ज्ञानी-अज्ञानी की परिभाषा क्या है ?

उत्तर – जो अपने को सामान्यरूप संवेदन करे वह ज्ञानी तथा जो अपने को विशेष रूप संवेदन करे वह अज्ञानी। बाकी परलक्षी ज्ञान के क्षयोपशम या बहिरङ्ग चारित्र से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। जगत् में एक सम्यग्दृष्टि ही ज्ञानी है। शेष सब जगत् अज्ञानी है। (९८९, ९९०, ९९१)

प्रश्न २२४ – आत्मा का सामान्य स्वरूप क्या है ?

उत्तर – (१) अबद्धस्पृष्ट (२) अनन्य (३) नियत (४) अविशेष (५) असंयुक्त (६) शुद्ध (७) ज्ञान की एक मूर्ति (८) सिद्ध समान आठ गुण सहित (९) मैलरहित शुद्ध स्फटिकवत् (१०) परिग्रहरहित आकाशवत् (११) इन्द्रियों से उपेक्षित अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य की मूर्ति (१२) अनन्त अतीन्द्रिय सुखरूप (१३) अनन्त स्वाभाविक गुणों से अन्वित (युक्त) आत्मा का सामान्य स्वरूप है। (१००१ से १००५)

प्रश्न २२५ – बद्धस्पृष्टादि का कुछ स्वरूप बताओ ।

उत्तर – (१) आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म से बद्ध नहीं है तथा नोकर्म से छुवा नहीं है इसको अबद्धस्पृष्ट कहते हैं (२) आत्मा मनुष्य तिर्यञ्चादि नाना विभाव व्यञ्जन पर्यायरूप नहीं है यह अनन्य भाव है (३) आत्मा में ज्ञानादि गुणों के स्वाभाविक अविभाग प्रतिच्छेद की हानिवृद्धि नहीं है यह नियत भाव है (४) आत्मा में गुणभेद नहीं है यह अविशेष भाव है (५) आत्मा राग से संयुक्त नहीं है यह असंयुक्त भाव है ।(६) आत्मा नौ पदार्थ रूप नहीं है यह शुद्ध भाव है। (१००१ से १००५)

प्रश्न २२६ – इन्द्रियसुख का सैद्धान्तिक स्वरूप बताओ ।

उत्तर– (१) जो पराधीन है क्योंकि कर्म, इन्द्रिय और विषय के अधीन है (२) बाधा सहित है क्योंकि आकुलतामय है (३) व्यच्छिन्न है क्योंकि असाता के उदय से टूट जाता है (४) बन्ध का कारण है क्योंकि राग का अविनाभावी है (५) अस्थिर है क्योंकि हानि-वृद्धि सहित है (६) दुःखरूप है क्योंकि तृष्णा का बीज है। अतः सम्यग्दृष्टि की इसमें रुचि नहीं होती। (१०१३)

प्रश्न २२७ – इन्द्रियज्ञान में सबसे बड़ा दोष क्या है ?

उत्तर – इन्द्रिय ज्ञान में सबसे बड़ा दोष यह है कि वह जिस पदार्थ को जानता है उसमें मोह-राग-द्वेष की कल्पना करके आकुलित हो जाता है। और आकुलता ही आत्मा के लिये महान् दुःख है। इसको प्रत्यर्थपरिणमन कहते हैं।

प्रश्न २२८ – अबुद्धिपूर्वक दुःख किसे कहते हैं ?

उत्तर – चारघाति कर्मों के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से जो जीव के अनन्त चतुष्टय का घात हो रहा है यह अबुद्धिपूर्वक महान् दुःख है। अनन्त चतुष्टय रूप स्वभाव का अभाव ही इसकी सिद्धि में कारण है। (१०७६ से ११११२)

प्रश्न २२९ – अतीन्द्रिय ज्ञान तथा सुख की सिद्धि करो ।

उत्तर – यह आत्मा के दो अनुजीवी गुण हैं। अनादि से घातिकर्मों के निमित्त से इनका विभाव रूप परिणमन हो रहा है। स्वरूप के अवलम्बन के बल द्वारा उनके घातिकर्मों के अभावपूर्वक इनकी स्वभाव पर्याय प्रकट हो जाती है। उसी का नाम अतीन्द्रियज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख है। इसी को अनन्त-चतुष्टय भी कहते हैं क्योंकि अनन्तवीर्य तथा अनन्तदर्शन इसके अविनाभावी हैं। यही वास्तव में आत्मा का पूर्ण स्वरूप है जिस पर उपादेय रूप से सम्यग्दृष्टि की दृष्टि जमी हुवी है। (१११३ से ११३८ तक)

अंतिम मङ्गलाचरण

कर्मों का करके नाश सब अर्हन्त इस ही विधान से ।
यूं ही कर उपदेश भी निवृत्त हुआ नमूं उनको मैं ॥ ८८ ॥
श्रमणो जिनो तिर्थंकरो इस रीत सेकर मार्ग को ।
सिद्धि वर्या, नमूं उनको मैं निर्वाण के उस मार्ग को ॥ १९९ ॥

हरिगीत

अन्त मङ्गल में गुरुवर त्रय को मैं सुमरण करूं ।
उनका 'शरणा' है सदा उनकी ही कृपा से बनी ॥

ग्रन्थराज श्री पञ्चाध्यायी

द्वितीय खण्ड/पञ्चम पुस्तक

अध्यात्मचन्द्रिका टीका सहित

सम्यग्दर्शन का निरूपण

(सूत्र ११४३ से १५८८)

विषय अनुसंधान

पहली तीन पुस्तकों में सामान्य वस्तु का निरूपण किया। चौथी पुस्तक में विशेष वस्तु का निरूपण किया। विशेष वस्तु में भी जीव वस्तु का पर्याय दृष्टि से निरूपण प्रारम्भ किया। उसमें बतलाया कि सम्पूर्ण जगत् के जीव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं। अतः उन दोनों का निरूपण करने से जीव तत्त्व का निरूपण हो जाता है। जिसमें कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का कर्त्ता-भोक्ता तो सारा जगत् प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है ही उसको क्या दिखलायें। उसका तो सबको प्रत्यक्ष अनुभव है ही। सम्यग्दृष्टि का निरूपण करते आ रहे हैं। सम्यग्दृष्टि कैसा होता है यह चौथी पुस्तक में बतलाया। वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानचेतना का धारी होता है। सामान्य का वेदन करने वाला होता है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का ज्ञाता दृष्टा होता है। इन्द्रिय सुख, इन्द्रिय ज्ञान, कर्म फल से विरक्त होता है और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख का अभिलाषी होता है। पर से अत्यन्त उदासीन, स्वानुभव प्रत्यक्ष ज्ञान और वैराग्य शक्ति का धारक होता है। अब उस सम्यग्दृष्टि में इतनी विलक्षणता उत्पन्न करने वाला जो सम्यग्दर्शन है उसका निरूपण इस सारी पाँचवीं पुस्तक में करेंगे। यह विवेचन विशेष वस्तु विवेचन के अन्तर्गत ही है और जीव तत्त्व के निरूपण में ही गर्भित है सो जानना। सबसे पहले परम पूज्य जो श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन रूप सूक्ष्म पर्याय है उसका सीधा ''आत्मभूत'' लक्षण सूत्र ११४३ से ११५४ तक निरूपण किया है और फिर सूत्र ११५५ से पुस्तक के अन्त तक सम्यग्दर्शन का ''अनात्मभूत'' लक्षण निरूपण किया गया है सो जानना।

पहला अवान्तर अधिकार

शुद्ध सम्यक्त्व का निरूपण सूत्र ११४३ से ११५३ तक ११ खास

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।*
गोचरं स्वावधिस्वान्तः पर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ११४३ ॥
न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ११४४ ॥

सूत्रार्थ - सम्यक्त्व वस्तुपने से सूक्ष्म है। वह केवलज्ञान का विषय है अथवा अपने अवधि (परम+सर्व) और अपने मनःपर्यय इन दो ज्ञानों का भी विषय है किन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों का तो बिल्कुल विषय नहीं है। देश अवधि का भी विषय नहीं है क्योंकि इन तीन ज्ञानों में सम्यक्त्व की अनुपलब्धि है अर्थात् उस पर्याय का सीधा जाननपना नहीं है।

भावार्थ - जिस प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि अनन्त गुण हैं। उसी प्रकार एक सम्यक्त्व गुण भी है। जिसप्रकार ज्ञान गुण की आठ पर्यायें होती हैं, दर्शन गुण की चार पर्यायें होती हैं, चारित्र गुण की सात पर्यायें होती हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण की छः पर्यायें होती हैं - (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) औपशमिकसम्यग्दर्शन (५) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन (६) क्षायिक सम्यग्दर्शन। ये छः पर्यायें तो आगम अर्थात् सिद्धान्त शास्त्रानुसार हैं। अध्यात्म में तो एक विभाव (विपरीत) पर्याय मिथ्यादर्शन और एक स्वभाव (सीधी) पर्याय सम्यग्दर्शन कही जाती है। यहाँ उस सम्यग्दर्शन रूप सीधी पर्याय का निरूपण है। सम्यक्त्व गुण को श्रद्धा गुण भी कहते हैं। यहाँ गुण की चर्चा नहीं है। गुण तो भव्य-अभव्य, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि सभी में समान रूप से पाया जाता है। यहाँ तो जिसका सम्यक्त्व गुण अनादिकालीन मिथ्यात्व पर्याय से बदलकर सम्यक्त्व रूप पर्याय में आ गया है। सीधी उस पर्याय की चर्चा है क्योंकि भोग गुण का नहीं होता पर्याय का होता है। मोक्षमार्ग गुण रूप नहीं है किन्तु

---

* *केवलज्ञान के गोचर तो तीनों सम्यक्त्व हैं ही। परम, सर्व अवधि और मनःपर्यय, दो सम्यक्त्व को तो सीधा जानते ही हैं क्योंकि वे निश्चय से पुद्गल पर्याय कही जाती है। क्षायिक सम्यक्त्व को भी ये ज्ञान, सीधे जानते हैं या नहीं इसके बारे में जैसी आगम की आज्ञा हो वैसा श्रद्धान करना। उपर्युक्त सूत्र तो सामान्य रूप रचा गया है क्योंकि द्रव्यानुयोग में सामान्य कथन ही होता है। भेद-प्रभेदों का कथन करना सिद्धान्त का कार्य है। सिद्धान्त शास्त्र के हम मास्टर नहीं हैं।*

पर्याय रूप है। यह दूसरी बात है कि मोक्षमार्ग प्रगट गुण के आश्रय से होता है किन्तु है वह पर्याय रूप। अब वह जो श्रद्धा गुण की मिथ्यात्व से बदल कर सम्यक्त्व रूप पर्याय हुई है वह पर्याय सीधी किस ज्ञान का विषय है। उसकी यहाँ चर्चा प्रारम्भ की है और सूत्र ११५३ तक उसी की चर्चा है। उस पर्याय का नाम हमने शीर्षक में शुद्ध सम्यक्त्व दिया है अर्थात् सम्यक्त्व गुण की सीधी पर्याय का वर्णन है। वह पर्याय सीधी तो केवल ज्ञान, परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय इन ज्ञानों द्वारा जानी जाती है क्योंकि वह इन्हीं का ज्ञेय है। देशावधि, मति तथा श्रुत द्वारा वह पर्याय सीधी बिल्कुल नहीं जानी जाती क्योंकि वह इन ज्ञानों का विषय (ज्ञेय) नहीं है। यह पढ़ते ही तुरन्त आपको यह शंका होगी कि क्या अपने सम्यक्त्व का अपने को भी पता नहीं होता। होना तो ऐसा चाहिये कि दूसरे के भी सम्यक्त्व का पता चल जाय पर अपना सम्यक्त्व तो अपने को पता चलना ही चाहिये अन्यथा जीव कैसे निःशल्य होगा तथा कैसे वह व्रतों को धारण कर श्रावक या मुनि बनेगा ? इसका उत्तर यह है कि पता तो चलता है पर स्वानुभूति से पता चलता है जो मति, श्रुत ज्ञान की सम्यग्ज्ञान रूप पर्याय है। यहाँ अखण्ड आत्मा का निरूपण नहीं है किन्तु गुण भेद करके उनमें से केवल शुद्ध सम्यक्त्व गुण की चर्चा है। उस गुण की सीधी पर्याय तो वास्तव में केवल, परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय ज्ञान का ही सीधा ज्ञेय है। शेष तीन ज्ञानों का नहीं है। पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान अविनाभावी है और वह स्वात्मानुभूति रूप तुरन्त अनुभव में प्रत्यक्ष आता है और उसके द्वारा जीव अतीन्द्रिय सुख का वेदन करता है, पहले सूत्र ११५३ तक सम्यक्त्व की सीधी पर्याय क्या है और उसका क्या स्वरूप है इसकी चर्चा करेंगे फिर सूत्र ११५४ से पुस्तक के अन्त तक सम्यक्त्व के अविनाभावी दूसरे लक्षणों की चर्चा करेंगे जो सीधी सम्यक्त्व गुण की पर्यायें तो नहीं है। हैं तो ज्ञान या चारित्रादि गुण की पर्यायें पर सम्यग्दर्शन से अविनाभावी प्रकट होती हैं, उनके द्वारा सम्यक्त्व का निश्चय कर लिया जाता है। यह बात पहले सूत्र नं. ११४१ में स्पष्ट कह कर आये हैं कि सम्यग्दर्शन के अविनाभावी लक्षणों से सम्यक्त्व का निश्चय हो जाता है तथा पहले नं. ७०६ में यह कह कर आये हैं कि "इस मति, श्रुत ज्ञान में भी इतनी विशेषता है कि जिस समय इन ज्ञानों द्वारा स्वात्मानुभूति होती है उस समय यह दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं इसलिये ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्ष रूप है पर परोक्ष नहीं है। परोक्ष तो ये पर के जानने में होते हैं" देखिये नं. ७०६, ७०७, ७०९, ७१०। तथा आगे भी नं. १२२८, १२२९ में शंका उठाकर नं. १२३० में समाधान में सिद्ध किया है "मतिश्रुत ज्ञान स्वानुभव काल में प्रत्यक्ष हैं।" पहले नं. ६४५ से ६५३ तक ९ सूत्रों में भी सिद्ध किया है कि नयातीत पुरुष स्वात्मानुभूति वाला ही सम्यग्दृष्टि है। इसलिये मति, श्रुत ज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन अपने अविनाभावी लक्षणों द्वारा जाना जा सकता है और केवलज्ञानादि में सीधी पर्याय जानी जाती है। यह तो ठीक है कि सम्यग्दर्शन यह आत्मा की श्रद्धा गुण की सूक्ष्म पर्याय है फिर भी सम्यग्ज्ञानी यह निर्णय कर सकता है कि मुझे सुमति और सुश्रुत ज्ञान हो गया है और मुझे इनका अविनाभावी सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार मति, श्रुत ज्ञान में भी सम्यग्दर्शन का बराबर निर्णय हो सकता है। यह स्याद्वाद आगम है। बहुत होशियारी से समझने की बात है। विषय क्या चल रहा है। गुण भेद से निरूपण है या अखण्ड आत्मा का। यहाँ सम्यग्दृष्टि की अखण्ड आत्मा का निरूपण नहीं है किन्तु गुणभेद करके केवल श्रद्धा गुण की चर्चा है यही इस में रहस्य या चीज की बात है।

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥ ११४५ ॥

सूत्रार्थ - सम्यक्त्व आत्मा का कोई गुण है और वह निर्विकल्पक है वह अनादि से दर्शनमोह के उदय से मिथ्या स्वादरूप है।

भावार्थ - विकल्प शब्द का एक राग अर्थ है, एक भेद अर्थ है, एक ज्ञेयाकार अर्थ है। यहाँ विकल्प शब्द का ज्ञेयाकार अर्थ इष्ट है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण हैं। उनमें ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जिसकी पर्याय स्वपर को जानती है अर्थात् ज्ञेयाकार रूप परिणमन करती है। ज्ञेयाकार को सविकल्पक कहते हैं। सो आत्मा का ज्ञान गुण-गुण में तो निर्विकल्पक है किन्तु पर्याय में सविकल्पक है। गुण तो सभी निर्विकल्पक होते हैं किन्तु अन्य गुणों की पर्याय भी निर्विकल्पक है। जो ज्ञेयाकार रूप न परिणमे वह निर्विकल्पक है। सो आचार्य कहते हैं कि आत्मा का सम्यक्त्वगुण - गुण में तो निर्विकल्पक है ही किन्तु पर्याय में भी निर्विकल्पक है। निर्विकल्पक होने से वह केवल अनुभव गम्य रह जाता है किन्तु उसका कुछ आकार बताया नहीं जा सकता। जब वह गुण है तो उसकी पर्याय भी चाहिए और उस पर्याय की कुछ रूपरेखा अर्थात् स्वाद-अनुभव-वेदन भी चाहिये तो आचार्य कहते हैं कि उसके वेदन का स्वभाव जो कुछ भी है वह अनादि से जीव को नहीं आया है किन्तु उसका विपरीत स्वाद आ रहा है अर्थात् मिथ्यादर्शनरूप स्वाद आ रहा है। क्योंकि विपरीत स्वाद विभाव पर्याय है और वह पहले बता चुके हैं कि विभाव निमित्त में जुड़ने से होता है तो कहते हैं कि एक दर्शन मोह नाम का कर्म उसके विपरीत परिणमन में निमित्त है। वह गुण भी

अनादि का स्वतः सिद्ध है। वह कर्म भी अनादि का स्वतः सिद्ध है। उनका निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी अनादि का स्वतः सिद्ध है। अतः उस गुण का विपरीत परिणमन भी अनादि से हो रहा है और जीव को मिथ्या श्रद्धारूप से उसका स्वाद आ रहा है। अब विचारना यह है कि वह विपरीत पर्याय पलट कर सम्यग्दर्शन रूप कैसे अनुभव में आवे तो उसके कारण का निर्देश दो प्रकार से होता है एक अध्यात्म भाषा से - एक आगम भाषा से। अध्यात्म भाषा से तो उसकी प्राप्ति का उपाय भेद विज्ञान द्वारा अपने सामान्य स्वभाव को जानकर उसका आश्रय करना है जो पहले सूत्र ६५७ में निरूपण कर आये हैं तथा श्री समयसार गा. १३ में निरूपित है। आगम भाषा से उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है। यह अब दिखाते हैं। अध्यात्म का उपाय उपादान ही मुख्यता से है। आगम का कथन निमित्त की मुख्यता से है। समय दोनों का एक है। जीव तो केवल उपादान का पुरुषार्थ करता है। ये बातें जो अब कहेंगे स्वतः वस्तु स्वभाव के अनुसार अपने आप आ मिलती हैं। कुछ इन्हें बुद्धिपूर्वक नहीं मिलाना पड़ता। बुद्धिपूर्वक तो केवल भेदविज्ञान का पुरुषार्थ करके सामान्य का आश्रय किया जाता है। अब आगम भाषा से सम्यक्त्व की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं। यह उपाय केवल ज्ञान गम्य है ऐसा पं. टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक में स्पष्ट लिखा है।

आगम भाषा में सम्यक्त्व की प्राप्ति का उपाय

दैवात्कालादिसंलब्धो प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ११४६ ॥

सूत्रार्थ - दैवयोग से, काल-आदि लब्धियों की प्राप्ति होने पर, संसार सागर के निकट आने पर, अथवा भव्य भाव के विपाक से, जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

भावार्थ - (१) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किस प्रकार होती है उसका कथन दो प्रकार से करने में आता है। अध्यात्म भाषा द्वारा तथा आगम भाषा द्वारा। अध्यात्म भाषा द्वारा उसका कथन पहले सूत्र ६५७ में आ गया है वहाँ कहा है कि "नवतत्त्वों का भूतार्थनय द्वारा आश्रय करते सम्यग्दर्शन प्रगटता है।" जब सम्यग्दर्शन प्रगटता है उस समय आत्मा की अपनी दशा कैसी होती है यह और कर्म की अवस्था कैसी होती है यह; इस सूत्र में दर्शाने में आया है। यहाँ उपादान और निमित्त दोनों कारण जानने में आये हैं। इसमें कही हुई लब्धियाँ केवलज्ञान गम्य है।

(२) श्रीपंचास्तिकाय की गाथा १५०-१५१ की संस्कृत टीका में श्रीजयसेन आचार्य ने कहा है कि - जब जीव, आगम भाषा से कालादिलब्धिरूप तथा अध्यात्म भाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदन ज्ञान पाता है उस समय पहले मिथ्यात्वादि प्रकृति का स्वयं उपशम होकर सम्यग्दृष्टि होता है।

(३) श्री नियमसार की गाथा ४१ की संस्कृत टीका में "काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता - ऐसी पाँचलब्धि" ये शब्द डाले हैं उसका हिन्दी अर्थ ब्र. शीतलप्रसादजी ने इस प्रकार किया है "काललब्धि को क्षयोपशम लब्धि भी कहते हैं, दूसरी उपशम अर्थात् विशुद्धिलब्धि, तीसरी उपदेश अर्थात् देशनालब्धि, चौथी प्रायोग्यलब्धि और पाँचवीं करणलब्धि" इस प्रकार पाँच लब्धि वहाँ कही है।

(४) श्री मोक्षपाहुड़ की गा. २४ के पीछे के आधे भाग में कहा है कि "कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति"। उसका अर्थ वहाँ इस प्रकार किया है "कालादिलब्धि जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप सामग्री की प्राप्ति उस द्वारा यह आत्मा कि जो कर्मसंयोग में स्वयं अशुद्ध है वही परमात्मा होता है।

(५) श्रीसमयसार गाथा ७१ की श्री जयसेन टीका में धर्म प्राप्ति के अवसर को धर्मकाललब्धि कहते हैं। इसलिये आत्मा की अपनी काललब्धि शब्द का अर्थ आत्मा की अपनी उस समय की पर्याय की प्राप्ति अर्थात् "स्वकाललब्धि" होता है।

(६) श्री गोमटसार जीवकाण्ड गाथा ६५०-६५१ में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ कही हैं। उसमें आत्मा के उपादान कारण और उसके साथ रहने वाले निमित्त भी आ जाते हैं। क्षयोपशम लब्धि में क्षयोपशम भाव वह उपादान और उस के योग्य कर्म का क्षयोपशम वह निमित्त, विशुद्धता में उपादान कारण संक्लेश की हानि तथा विशुद्धि की वृद्धि है और निमित्त कारण अशुभ कर्म का अनुभाग घटना वह है। देशनालब्धि में - उपदेशित नौ पदार्थों आदि की धारणा की प्राप्ति होना वह उपादान कारण है और वहाँ निमित्त कारण नौ पदार्थों का

उपदेश करने वाला आचार्यादिक का लाभ है। प्रायोग्य लब्धि में उपादान कारण – कर्म की स्थिति अन्तः कोटा-कोटि काल मात्र रहने योग्य आत्मा के परिणामों की प्राप्ति है तथा निमित्त कारण द्रव्य, कर्म की उस प्रकार की स्थिति होनी वह है। अन्तिम करण लब्धि में उपादान कारण आत्मा में सम्यक्त्व प्राप्ति योग्य परिणामों की विशुद्धि होनी वह तथा निमित्त कारण द्रव्य कर्मों की उस समय की वैसी योग्यता होनी वह। यह सब लब्धि का विषय केवल ज्ञान गम्य है। उसको मति, श्रुत ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष जाना नहीं जा सकता। उपादान और निमित्त दोनों आगम में बताने में आते हैं उसका कारण यह है कि "जगत में इस कथन के विरुद्ध अनेक अभिप्राय चलते हैं वे यथार्थ नहीं हैं ऐसा ज्ञान होने के साथ-साथ सच्चे उपादान और निमित्तों का सच्चा ज्ञान शिष्य को हो जाता है कारण कि उपादान-निमित्त कारण के ज्ञान में जो विपरीतता हो तो सम्यग्दर्शन होता नहीं।"

(७) "दैवात्" शब्द इस सूत्र के अतिरिक्त अन्य कई सूत्रों में भी प्रयोग किया है। उसका आशय यह है कि - आत्मा की उस समय की द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप योग्यता और निमित्तपने द्रव्य कर्म की भी उस समय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप योग्यता समझनी। श्रीइष्टोपदेश के सूत्र-सूत्र में यह नियम दर्शाया है कि आत्मा की जिस समय जैसी योग्यता होती है उसका आरोप कर्म ऊपर उस समय आता है। उपादान और निमित्त इन दोनों कारणों को जानने के लिये यह शब्द डाला जाता है पर "कर्म कुछ भी जीव को लाभ-हानि करता है" यह बताने के लिये यह शब्द डालने में नहीं आया है कारण कि एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं है। अज्ञानी आत्मा प्रकृति के स्वभाव को छोड़ता नहीं, भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्म प्रकृति के उदय को अपना समझ कर वह परिणमता है, इस प्रकार अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) प्रकृतिस्वभाव में लीन (रक्त) होकर उसके फल का भोक्ता होता है इतना बताने के लिये अज्ञानी सम्बन्धी "दैवात्" शब्द डाला जाता है, तथा भेद ज्ञान के बल से ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा कर्म में लीन होता नहीं है उस समय कर्म की अवस्था कैसी होती है यह बताने के लिये ज्ञानी सम्बन्धी भी "दैवात्" शब्द डाला जाता है। तथा

(८) संज्ञीपना प्राप्त करने के बाद ऐसे भाव जीव किसी वक्त ही करता है ऐसी दुर्लभता और अपूर्वता दर्शाने के लिये भी यह शब्द यहाँ डाला है।

(९) 'भव्यभावविपाकात्' भव्यत्व भाव की पर्याय अशुद्ध थी। उसको टालकर अपने पुरुषार्थ से जीव शुद्ध पर्याय प्रगट करता है वह ही भव्यत्व भाव का विपाक होता है ऐसा यहाँ बताया है।

(१०) 'भवार्णवे प्रत्यासन्ने' ऊपर प्रमाण पुरुषार्थ करके जीव अपने में शुद्ध पर्याय प्रगट करता है तब संसार सागर को पार पाने योग्य वह जीव हो जाता है और वह आसन्न भव्य भी कहलाता है, पर विकार टालने के लिये जीव पुरुषार्थ करे नहीं तो पाँचों लब्धियाँ, भवार्णव के अंत की निकटता कि भव्यभाव विपाकता को वह पा सकता नहीं ऐसा समझना।

(११) श्री शीलपाहुड़ की ३७वीं गाथा में कहा है कि - ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता वीर्य (पुरुषार्थ) के आधीन है। पहली बार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव पा सकते हैं पर पाँचवीं करणलब्धि तो योग्य पुरुषार्थ द्वारा भव्य संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही पा सकते हैं।

(१२) ये पाँचों लब्धियाँ क्षयोपशमिक भाव रूप हैं और उपशम सम्यक्त्व औपशमिक भाव है। इसलिये पाँचों लब्धियाँ उपशम सम्यक्त्व को निमित्त हैं। इसका अर्थ यह है कि जब जीव उपादान में सम्यक्त्व प्राप्त करता है तो शेष गुणों की अपने कारण से ऐसी अवस्था होती है।

(१३) पूर्व सूत्र ९५७ में दर्शाये अनुसार नौ तत्त्वों में रहने वाला एक सामान्य चैतन्य स्वरूप आत्मा कि जो भूतार्थ नय का विषय है उसका आश्रयभाव वह उपादान कारण है और वह साधक जीव के ज्ञान गम्य है। इसलिये भूतार्थनय के आश्रय करने का पुरुषार्थ करना वह साधक का कर्त्तव्य है।

(१४) जिस काल में कार्य होता है उस काल को भी काललब्धि कहने में आता है और वह काल, आत्मा की स्वकाल लब्धि का निमित्त मात्र है तथा आत्मसन्मुख परिणाम होते समय कर्म की स्थिति स्वयं घट जानी वह कर्म की काललब्धि है और उसको आत्म सन्मुख परिणाम निमित्त मात्र है।

(१५) देशना लब्धि यह बताती है कि - मिथ्यादृष्टि का उपदेश कि शास्त्र वाचन जीव को प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये निमित्तपने की योग्यता भी धरावता नहीं है इसलिये वैसे संयोगवाले जीव उस समय सम्यग्दर्शन प्रगट करने की योग्यता वाले नहीं है और जिन जीवों को निसर्गज सम्यग्दर्शन होता है उनकी पूर्व की देशना लब्धि का संस्कार वर्तमान में निमित्त है।

(१६) श्री समयसार गाथा २७६-२७७ की श्री जयसेन आचार्यकृत टीका पृष्ठ ३७० में कहा है कि ''जो तादृश (जैसी है वैसी) आत्मा को उपादेयरूप श्रद्धान करता है उसके सात प्रकृतियों का उपशमादिक है तथा वह भव्य है पर जिसके निज शुद्ध आत्मा उपादेय रूप नहीं है उसके सात प्रकृतियों का उपशमादिक नहीं है ऐसा समझना।''

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥ ११५७ ॥

सूत्रार्थ - और गुणश्रेणी को अतिक्रम न करके (अर्थात् गुणश्रेणी निर्जरा के अनुसार) केवल अन्तर्मुहूर्त में प्रयत्न के बिना ही दर्शनमोह का उपशम होता है (परद्रव्य की पर्याय में जीव का पुरुषार्थ नहीं हुआ करता। वह स्वयं अपनी योग्यता से होती है)।

भावार्थ - पहले सूत्र ९५७ में बतलाये हुए मार्गानुसार जब जीव भेदविज्ञान करके अपने सामान्य के आश्रय करने का पुरुषार्थ करता है तो दर्शनमोह कर्म जो सत्ता में पड़ा है उसकी सिद्धान्तानुसार गुणश्रेणी निर्जरा होते-होते अन्तर्मुहूर्त में उसका उपशम हो जाता है। इधर जीव अपने उपादान में सम्यक्त्व प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है उधर कर्म स्वयं उपशम अवस्था धारण करता है। कर्त्ता कोई किसी का नहीं है। दोनों निरपेक्ष स्वतन्त्र अपना-अपना कार्य करते हैं पर अनादि अनन्त वस्तु का स्वतः ऐसा मेल है कि दोनों कार्य एक समय में निरपेक्ष होते हैं तथा -

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा ।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥ ११५८ ॥

सूत्रार्थ - उपशम सम्यक्त्व दर्शनमोह के उपशम से पुरुष की मिथ्यात्व से दूसरे प्रकार की अवस्था रूप है और वह चिद्विकल्प में आकार नहीं है (ज्ञानवत् साकार नहीं है, निराकार है)।

भावार्थ - उपशम सम्यक्त्व नैमित्तिक पर्याय है और नैमित्तिक पर्याय का कथन निमित्त की ओर से हुआ करता है पर उसका यह अर्थ न समझ लेना कि उसने की है। उत्पन्न तो जीव ने अपने पुरुषार्थ से की है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरा नहीं किया करता। वह सम्यग्दर्शन रूप पर्याय क्या है तो बतलाते हैं कि यह जो अनादिकालीन मिथ्यात्व पर्याय है कि जिसका अनुभव सब जगत् को है वह इससे बिल्कुल दूसरे प्रकार की अवस्था है। अब उस अवस्था का निरूपण करते हुये बतलाते हैं कि वह पर्याय निराकार है। आत्मा के अनन्त गुणों में मात्र एक ज्ञान गुण की पर्याय साकार है। शेष सब गुणों की निराकार है। स्व पर के आकार रूप होने को अर्थात् ज्ञेयाकार को सविकल्प पर्याय कहते हैं। सो यह बात उस सम्यग्दर्शन पर्याय में नहीं है। वह केवल निर्विकल्प अर्थात् राग रहित-भेद रहित-आकार रहित मात्र शुद्ध संवेदन रूप है। ज्ञान गुण की अवस्था को सम्यक्त्व नहीं कहते परन्तु सम्यक्त्व तो एक भिन्न निर्विकल्प गुण है और उपशम, सम्यक्त्व उसकी पर्याय है।

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ११५९ ॥

सूत्रार्थ - सामान्य से भी और विशेष से भी (गुण में भी और पर्याय में भी) सम्यक्त्व निर्विकल्पक है, सत्तारूप है, केवल आत्मा के प्रदेशों में परिणमन रूप है।

भावार्थ - ज्ञान गुण सामान्य में निर्विकल्प है क्योंकि उसका स्वरूप शुद्ध ज्ञान है जैसा श्री द्रव्यसंग्रह की गाथा ६ में कहा है और विशेष में (पर्याय में) ज्ञान, गुण सविकल्प है - ज्ञेयाकार है क्योंकि जानने का कार्य पर्याय में होता है। गुण में नहीं। गुण तो शक्ति रूप त्रिकाल एक जैसा है। अब सम्यक्त्व के बारे में बताते हैं कि वह सामान्य में भी अर्थात् गुण में भी निर्विकल्प है और विशेष में भी अर्थात् पर्याय में भी निर्विकल्प है। अब निर्विकल्प कहने से कोई यह समझे कि वह कुछ है ही नहीं तो कहते हैं कि निर्विकल्प होने से उसका विवेचन कठिन है पर वह है सत्तारूप-

गुण में भी सत्तारूप है और पर्याय में भी सत्तारूप है। वस्तु है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र वीर्य आदि गुणों की तरह इन गुणों से भिन्न उसकी आत्म प्रदेशों में पृथक् पर्याय हर समय परिणमन रूप है और समय-समय नई-नई उत्पन्न होती रहती है और जीव उसकी शुद्धता का सुख भोगता रहता है। अब आत्मभूत उस सम्यक्त्व पर्याय का कुछ स्वरूप बतलाते हैं।

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः ।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ११५० ॥

सूत्रार्थ - उसके विषय में यह उल्लेख है कि जैसे सूर्य की किरणों के द्वारा अन्धकार के नाश होने पर दिशायें सब प्रकार से निर्मल होकर प्रसन्नता को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार -

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः ।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ११५१ ॥

सूत्रार्थ - दर्शनमोह के उपशम होने पर सम्यग्दृष्टि का भी वही उल्लेख है। सब प्रदेशों में शुद्धता हो जाती है जो शुद्धता तीन प्रकार के बन्ध (द्रव्य-भाव-उभय) का नाश करनेवाली है।

भावार्थ - उस पर्याय का सीधा स्वरूप तो शब्दों में समझाना बड़ा कठिन है, पर आचार्य दृष्टान्त द्वारा उसका कुछ प्रतिभास कराते हैं। जिस प्रकार वर्षा काल हो, अमावश्या की अन्धेरी रात हो, चारों ओर से बादल छाये हुए हों, घुप्प अंधेरा हो, ऐसी दशा में दिशायें मैली होने से किसी पथिक को मार्ग नहीं मिलता किन्तु प्रातः होते ही यदि सूर्य निकल आये और उसकी किरणें फैलें तो दिशायें एकदम निर्मल हो जाती हैं। उसी प्रकार अनादि काल से जीव अज्ञानी है, दर्शनमोह का बादल छाया हुआ है। भाव मिथ्यात्व रूप अमावस्या की काली रात्रि है। उस मैल के कारण जीव को अपने पराये का मार्ग नहीं मिलता है। जब दर्शनमोह का बादल फटता है। जीव पुरुषार्थ से भाव मिथ्यात्व को दूर करता है। श्रद्धा गुण रूपी सूर्य की सम्यग्दर्शन रूप किरणें फैलती हैं तो आत्मा के प्रदेशों से अनादिकालीन मैल दूर हो जाती हैं। और उन आत्म प्रदेशों में तत्त्वार्थ श्रद्धान निर्मल अर्थात् शुद्ध हो जाता है। उस शुद्धता का नाम ही सम्यग्दर्शन पर्याय है और कहते हैं कि आत्मा केवल शुद्ध हो जाता है यही लाभ है या और भी कुछ लाभ है तो कहते हैं कि मिथ्यात्व भाव से जो आत्मा में द्रव्य बंध, भाव बंध, उभय बंध हुआ करता था और जिसके फल स्वरूप यह संसार बनता था वह तीनों प्रकार का बन्ध दूर होता है। मिथ्यात्वादि का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध टूट जाता है और उस समय पंच-परावर्तन की श्रृङ्खला पहाड़वत् फट जाती है। यह उसी समय उस एक समय की सम्यक्त्व पर्याय का फल है। अब एक और दृष्टान्त द्वारा सम्यक्त्व के स्वरूप का अनुभव कराते हैं।

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥ ११५२ ॥

सूत्रार्थ - अथवा सम्यग्दृष्टि का यह उल्लेख है कि जैसे उतरे हुए शराब या धतूरे के नशे का मूर्च्छित प्राणी अमूर्च्छित होकर प्रसन्न होता है।

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्च्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्च्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ११५३ ॥

सूत्रार्थ - उसी प्रकार दर्शन, मोह के उदय से मूर्च्छा (स्व स्वरूप की असावधानता) वैचित्य (स्वस्वरूप की विपरीतता) तथा भ्रम (स्वस्वरूप में संशय) होता है और इसके प्रशान्त होने पर मूर्च्छा के नाश होने से जीव निरोगी (मिथ्यात्व रूप रोग से रहित) होता है।

भावार्थ - जिस प्रकार शराब या धतूरे आदि के नशे में प्राणी अपने को भूल जाता है। माँ-बहिन का विवेक खो बैठता है उसी प्रकार अनादि से यह जीव मिथ्यात्व रूप शराब में अपने को भूला हुआ है। शराबीवत् पर को स्व और स्व को पर कहता है किन्तु जब शराब का नशा उतर जाता है तो जीव अपने ठीक होश में आकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार जब मिथ्यात्व का नशा उतर जाता है तो जीव स्व को स्व और पर को पर अनुभवता है तथा प्रसन्न होता है। उसके चेहरे की प्रसन्नता से सम्यक्त्व रूप शुद्धता टपकती रहती है बस वह प्रसन्नता या शुद्धता का केवल इन्हीं शब्दों में ज्ञान कराया जा सकता है और कुछ विवेचन उस सीधी सम्यक्त्व पर्याय का नहीं हो सकता।

सार सूत्र ११४३ से ११५३ तक का

सामान्य आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। उनमें एक सम्यक्त्व गुण है। सम्यग्दर्शन उसकी पर्याय है। यह गुण सामान्य में भी निर्विकल्प है और विशेष में भी निर्विकल्प है। इस गुण की सम्यग्दर्शन पर्याय सीधी तो केवलज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और परमावधि सर्वावधि का विषय है। मति, श्रुत ज्ञान का वह पर्याय विषय नहीं है तो भी सम्यग्दर्शन के अविनाभावी गुणों "स्वात्मानुभूति श्रद्धा आदि जिनका निरूपण आगे करेंगे" के लक्षणों द्वारा उसी का यथार्थ निश्चय लक्ष्यलक्षण भेद द्वारा किया जा सकता है। जो ऐसा न होय तो किसी के भी इस सम्बन्धी संशय आदि दोष टले नहीं। वह सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है ? इसके उत्तर में ग्रंथकार कहते हैं कि सामान्य मात्र होने के कारण उसको वास्तविक रूप से तो शब्दों में नहीं कहा जा सकता पर इतना समझना पर्याप्त है कि मिथ्यात्व आत्मा में एक कलुषता है और सम्यक्त्व एक निर्मलता है। प्रसन्नता है। जिसका अस्तित्व उसके अविनाभावी लक्षणों से प्रगट हो जाता है। जैसे मेघों के जाने पर दिशाएं निर्मल होती हैं, रोग के जाने पर रोगी प्रसन्न होता है। मद्यादि का नशा चले जाने पर जीव होश में आ जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप रोग के जाने पर आत्मा में से मोह सम्बन्धी कलुषता निकल कर सम्यक्त्व रूप शुद्धता प्रगट हो जाती है। इस शुद्धता का अनुभव प्रसन्नता रूप है। अतीन्द्रिय सुख रूप है। यह शुद्धता प्रगट होते ही आत्मा में स्वतः द्रव्य और भावकर्मों का नाश प्रारम्भ हो जाता है और आत्मा का गमन जो अनादि से संसार की ओर था मुड़कर मोक्ष की ओर चल देता है जैसे पानी अपना रुख पलट लेता है। आत्मा में एक दर्शनमोहकर्म अनादि से सम्बन्ध रूप है। उसका स्वतः अपने कारण से उदय है। जब जीव सामान्य के आश्रयरूप पुरुषार्थ द्वारा सम्यक्त्व पर्याय प्रगट करता है यह कर्म बिना जीव के कुछ किये स्वतः अपनी योग्यता से अनुदय रूप हो जाता है। ऐसा ही कुछ इस कर्म का और सम्यक्त्व का स्वतः अविनाभाव सम्बन्ध या समव्याप्ति है। यह तो सम्यक्त्व गुण का वास्तविक निरूपण है। अब आगे यह बतलाते हैं कि जिस समय यह सम्यक्त्व प्रगट होता है उस समय अविनाभावी ज्ञान-चारित्र आदि अन्य गुणों की कैसी अवस्था होती है जिससे सम्यक्त्व का अस्तित्व प्रगट झलकता है।

शुद्ध सम्यक्त्व का निरूपण समाप्त हुआ।

विषय परिचय सूत्र ११५४ से १५८६ तक का

अब सम्यक्त्व के अनात्मभूत लक्षणों का निरूपण करते हैं उनमें सबसे पहले खास लक्षण शुद्धात्मानुभूति है। यह सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण तो यूं नहीं कि सम्यक्त्व श्रद्धा गुण की पर्याय है और शुद्धात्मानुभूति-ज्ञान गुण की पर्याय है। अनात्मभूत लक्षण इसलिये है कि इस शुद्धात्मानुभूति का सम्यक्त्व से अविनाभाव है। समव्याप्ति रूप संबंध है। इसलिये शुद्धात्मानुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण भी कह देते हैं। अब यह समझने की आवश्यकता है कि वह शुद्धात्मानुभूति क्या है और कितने प्रकार की है :-

(१) ऐसा कुछ वस्तु स्वभाव का नियम कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय मतिश्रुतज्ञानवरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम हो जाता है जो क्षयोपशम आत्मा का अनुभव करने में कारण है। इस क्षयोपशम को लब्धि रूप शुद्धात्मानुभूति कहते हैं। इसकी सम्यक्त्व से समव्याप्ति है अर्थात् जब तक सम्यक्त्व रहेगा तब तक यह अवश्य रहेगी और सम्यक्त्व नष्ट होते ही उसके साथ यह भी नाश हो जायेगी।

(२) दूसरी शुद्धात्मानुभूति साक्षात् अनुभव रूप होती है। जब ज्ञानी अपने उपयोग को सब परज्ञेयों से हटाकर केवल अपने आत्मा का अनुभव किया करते हैं। उस समय यह होती है। यह क्षणिक है पर होती सम्यग्दृष्टि को ही है। अतः इसको भी सम्यक्त्व का लक्षण कह देते हैं। वह निरूपण सूत्र ११५५ से ११७७ तक किया गया है।

(३) इससे आगे निम्नलिखित लक्षणों में यह बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और चारित्र का बुद्धिपूर्वक कैसा-कैसा परिणमन हुआ करता है। ये सब अविनाभावी चिन्ह हैं। इसमें एक और खास विवेक की आवश्यकता है कि यह चिन्ह तो मिथ्यादृष्टि में भी प्रगट हो जाते हैं जिनके बल पर वह नवमें ग्रीवक पर्यन्त गमन करता है पर उस में यह आभास रूप होते हैं। Imitation नकली। किन्तु स्वात्मानुभूति ज्ञान की पर्याय होते हुए भी वह एक ही ऐसा लक्षण है कि सम्यग्दृष्टि के ही होता है मिथ्यादृष्टि के कभी कहीं भी नहीं होता। अतः ग्रन्थकार को यह लिखना पड़ा कि यदि यह लक्षण शुद्ध स्वात्मानुभूति के सहचर हैं तो सम्यक्त्व के लक्षण हैं अन्यथा नहीं। ऐसी परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिये। वे लक्षण ये हैं और इस प्रकार से उनका निरूपण हैं -

(१) श्रद्धा-रुचि-प्रतीति-चरण सूत्र ११७८ में ११९१ तक (२) प्रशम-संवेग-निर्वेद-अनुकम्पा-आस्तिक्य सूत्र ११९२ से १२३५ तक (३) भक्ति वात्सल्यता-निन्दन-गर्हण सूत्र १२३६ से १२४४ तक। (४) निशंकित अंग आदि प्रसिद्ध आठ अंग सूत्र १२४५ से १५८६ तक। यह ध्यान रहे कि ये सब लक्षण सम्यक्त्व के अनात्मभूत लक्षण हैं। क्योंकि यह श्रद्धा गुण का परिणमन नहीं है किन्तु बुद्धिपूर्वक ज्ञान और चारित्र का परिणमन है और सब विकल्पात्मक (रागवाला) परिणमन है।

श्रद्धानादिगुणा वाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ११५४ ॥

सूत्रार्थ – श्रद्धान आदि गुण सम्यग्दृष्टि आत्मा के वाह्य लक्षण (अनात्मभूत लक्षण हैं)। वे (श्रद्धान-आदि) ही सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि वे ज्ञान (और चारित्र) गुण की पर्यायें हैं।

भावार्थ – जिस समय पूर्व निरूपित शुद्ध सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसी समय ज्ञान और चारित्र गुण का परिणमन अविनाभाव संबंध से बदल जाता है। ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और शुद्ध स्वात्मानुभूति (ज्ञान चेतना) का धारी हो जाता है तथा चारित्र गुण में अनन्तानुबंधी कषायों का अभाव होने से प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि आत्मा अखण्ड है और ज्ञान और चारित्र गुण भी उसी आत्मा के हैं। उनका ऐसा परिणमन सम्यक्त्व से अविनाभावी है। अतः उनको भी सहचारिता के कारण सम्यक्त्व के लक्षण कहने में कोई दोष नहीं है। अब पहले ज्ञान पर्याय को सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं –

दूसरा अवान्तर अधिकार

सम्यक्त्व का लक्षण "स्वात्मानुभूति" सूत्र ११५५ से ११७७ तक २३

अपि स्वात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्वाह्यलक्षणम् ॥ ११५५।

सूत्रार्थ – और स्वात्मानुभूति भी ज्ञान रूप है क्योंकि ज्ञान की पर्याय है। वास्तव में (वह (स्वात्मानुभूति रूप) ज्ञान सम्यक्त्व नहीं है; यदि है तो वाह्य लक्षण है (अनात्मभूत लक्षण है) अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूति पर्याय तो ज्ञान की है पर सहचरता के कारण उसे सम्यक्त्व का लक्षण कह देते हैं।

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः।
वाड्मनः कायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ११५६ ॥

सूत्रार्थ – जैसे स्वस्थपना वास्तव में कठिनता से जानने योग्य है पर वचन-मन-काया की क्रियाओं के उत्साहादिगुण रूप स्थूल लक्षणों द्वारा जाना जाता है। उसी प्रकार शुद्ध सम्यक्त्व सूक्ष्म और निर्विकल्प है। कठिनता से जानने योग्य है। केवल श्रद्धानादि वा शुद्ध आत्मानुभूति रूप वाह्य लक्षणों द्वारा जाना जाता है।

भावार्थ – जैसे बहुत समय से कोई रोगी हो, दुःखी हो। भवितव्यता वश उसका दुःख दूर हो जाय और वह निरोगी-स्वस्थ हो जाय तो उस स्वस्थता का उसे अनुभव तो है पर वह स्वस्थता सीधी शब्दों में नहीं कही जा सकती है। उसके मन, वचन, काया की क्रियाओं में उस स्वस्थता के कारण जो उत्साह आ जाता है उससे वह प्रगट हो जाती है। उसी प्रकार जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व रूपी रोग से ग्रसित है। जिस समय सम्यक्त्व रूप निर्मलता उस आत्मा में प्रगट होती है, उस समय उसमें शुद्धात्मानुभव प्रारम्भ हो जाता है। देव, शास्त्र, गुरु, तत्त्व की श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। कषायें प्रशमता को धारण कर लेती हैं। ज्ञान का झुकाव पर की ओर से स्व की ओर हो जाता है। इनसे सम्यक्त्व का अस्तित्व पता चल जाता है।

शङ्का

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ ११५७ ॥

सूत्रार्थ – आत्मानुभव स्वयं वस्तुपने से साक्षात् सम्यक्त्व है क्योंकि इस (आत्मानुभव) की मिथ्यादृष्टि के सब प्रकार से किसी काल में भी संभवता नहीं है।

भावार्थ - शङ्काकार आत्मानुभूति को सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण न मानकर आत्मभूत लक्षण मानता है और कहता है कि यही साक्षात् सम्यक्त्व है अर्थात् श्रद्धागुण की पर्याय है। अपनी बात की पुष्टि में युक्ति भी देता है क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि के ही होती है और मिथ्यादृष्टि के कभी किसी अवस्था में नहीं होती। अतः उसे सम्यक्त्व मानना ही ठीक है। उसकी इस शङ्का का आधार यह है कि वह ज्ञान और श्रद्धान गुण की पर्याय का परस्पर अन्तर नहीं जानता है तभी तो ज्ञान की पर्याय को श्रद्धा की पर्याय कहता है। सो उत्तर में आचार्य देव उसे दोनों गुणों की पर्याय की भिन्नता का विवेक कराते हैं।

समाधान सूत्र ११५८ से ११६० तक ३

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्ग्योस्तद्यथोच्यते ॥ ११५८ ॥

सूत्रार्थ - ऐसा नहीं है क्योंकि तू सत्सामान्य और सत्विशेष में और अनाकार साकार लक्षणों में अजान है। वह इस प्रकार कहा जाता है।

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ११५९ ॥

सूत्रार्थ - आकार (शब्द का अर्थ) "अर्थविकल्प है" है। अर्थ 'स्व+पर पदार्थ है। विकल्प उपयोग है अर्थात् स्व पर के आकार का अवभासन है। यह ज्ञान का ही लक्षण है। (भाव तीसरी पुस्तक में प्रमाण में स्पष्ट हो चुका है)।

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ११६० ॥

सूत्रार्थ - जो आकार रूप नहीं है, वह निराकार है, वही वस्तुपने से निर्विकल्पता है। वह (निर्विकल्पता) ज्ञान को छोड़कर शेष अनन्त गुणों का लक्षण है।

भावार्थ - (सूत्र ११५८ से ११६० तक) उसे यह बतलाया है कि सत् सामान्य गुण को कहते हैं और सत् विशेष पर्याय को कहते हैं। सामान्य में अर्थात् गुण में तो सभी गुण निर्विकल्प हैं किन्तु पर्याय में एक ज्ञान गुण सविकल्प है शेष सब निर्विकल्प हैं। ज्ञान की पर्याय के ज्ञेयाकार रूप होने को सविकल्प कहते हैं अर्थात् स्व और पर के आकार रूप परिणमन करने को सविकल्प कहते हैं। यह बात एक ज्ञान गुण में ही है और किसी गुण में नहीं है। अतः भाई शुद्ध आत्मानुभूति जो ऊपर कही गई है व सविकल्प है और शुद्ध सम्यक्त्व निर्विकल्प है। अतः वह शुद्ध आत्मानुभूति साक्षात् सम्यक्त्व नहीं है। अविनाभाव होने से सहचर है। बाह्य लक्षण है। अनात्मभूत लक्षण है।

शङ्का

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत् ।
तत् किं किंचिदनाकारं किंचित्साकारमेव तत् ॥ ११६१ ॥

शङ्का - सत्सामान्य और सत्विशेष सब (दोनों) वास्तविक हैं तो फिर वह कोई अनाकार और कोई साकार ही क्यों है ?

समाधान सूत्र ११६२ से ११७७ तक १६

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं सद्विशेषभाक् ॥ ११६२ ॥

सूत्रार्थ - ठीक है पदार्थरूप से ज्ञान सामान्य (गुण) रूप भी है और विशेष (पर्याय) रूप भी है। जो सामान्य में अनाकार है और विशेष में साकार है अर्थात् ज्ञान गुण रूप भी है, पर्याय रूप भी है, गुण में निराकार है। पर्याय में साकार है।

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः ।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥ ११६३ ॥

सूत्रार्थ - ज्ञान के बिना सब गुण सत्-लक्षण से अङ्कित (युक्त) कहे गये हैं। वे वास्तव में सामान्य से और विशेष से आकारमात्रक (अर्थविकल्पात्मक) नहीं हैं।

भावार्थ - ज्ञान को छोड़कर श्रद्धा, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि अनन्त गुण भी ज्ञान की तरह आत्मा में सत् रूप हैं। अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। जो-जो सत् होता है वह उत्पाद, व्यय, ध्रुव युक्त होता है अर्थात् गुण रूप कायम रहकर पर्याय में बदला करता है। इसलिये अन्य गुण भी है। उनकी पर्याय भी है पर वे पर्यायें ज्ञेयाकार रूप नहीं है। अतः सविकल्पक नहीं है और सामान्य में तो अर्थात् गुण रूप से तो ज्ञान भी निर्विकल्प है। शेष सब भी निर्विकल्प है।

ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः ।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ११६४ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये निर्विकल्प वस्तु के कहने के लिये अशक्य होने से (अनिर्वचनीय होने से) उसके उल्लेख (लक्षण-स्वरूप) को जांच कर ज्ञान द्वारा निरूपण किया जाता है।

भावार्थ - अब शिष्य को आचार्य महाराज एक नियम और समझाते हैं कि निर्विकल्प चीज शुद्ध होती है। उसका वचन में निरूपण नहीं आया करता। हाँ ज्ञान स्वपर प्रकाशक है वह अपने को भी जानता है और शेष सब गुणों को भी जानता है। सब गुणों की पर्यायें ज्ञेय बन कर उसमें आती हैं और वह उनके स्वरूप को जान लेता है। अतः भाई उनका स्वरूप ज्ञान में जाँचकर फिर कुछ शब्द में निरूपण किया जाता है।

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः ।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ११६५ ॥

सूत्रार्थ - ज्ञान एकसाथ स्व और अपूर्वार्थ (पर) दोनों का ही ग्राहक (जानने वाला) है पर ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं है। ज्ञान ज्ञान है। पर (अपूर्वार्थ) है।

भावार्थ - ज्ञान एक साथ अपने को और शेष सब गुणों को जान जरूर लेता है पर इसका यह मतलब नहीं कि ज्ञान उन रूप हो जाता हो या उनकी पर्याय बन जाता हो या वे गुण ज्ञान रूप बन जाते हों या ज्ञान की पर्याय बन जाते हों। ज्ञान-ज्ञान ही रहता है। वे-वे ही रहते हैं। इसलिये शुद्ध आत्मानुभूति सम्यक्त्व नहीं हो जाता क्योंकि वह ज्ञान की पर्याय है।

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थः स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥ ११६६ ॥

सूत्रार्थ - निश्चय से ज्ञान मात्र आत्मा का एक ज्ञान गुण स्वार्थ है। शेष सुखादिक गुण स्वार्थ सम्बन्धी परार्थ हैं अर्थात् सुखादिक एक ही आत्मा के अन्य गुण हैं पर ज्ञेय हैं तो भी अन्य पदार्थवत् भिन्न सत् रूप नहीं है।

भावार्थ - ज्ञान को स्व कहते हैं। शेष सबको पर कहते हैं। उस पर में एक तो आत्मा से भिन्न छः द्रव्य हैं वे भी सब पर हैं। दूसरे आत्मा के ज्ञान गुण के अतिरिक्त आत्मा में जितने दर्शन, चारित्र, श्रद्धा, वीर्य आदि गुण हैं वे भी सब ज्ञान के लिये पर हैं। जिस प्रकार ज्ञान के लिये अन्य पदार्थ ज्ञेय हैं उसी प्रकार वे अन्य गुण भी ज्ञेय हैं। पर पदार्थों को परार्थ अर्थात् पर अर्थ अर्थात् पर पदार्थ कहते हैं और अन्य गुणों को स्वार्थ सम्बन्धित पदार्थ कहते हैं अर्थात् ज्ञान पदार्थ से एक द्रव्य रूप से सम्बन्धित हैं पर ज्ञेय की अपेक्षा पर पदार्थ हैं। भिन्न हैं। इसलिये स्वात्मानुभूति साक्षात् सम्यक्त्व नहीं है किन्तु स्वार्थसम्बन्धी परार्थ है।

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ११६७ ॥

सूत्रार्थ - वह इस प्रकार कि सुख-दुःख-आदि-भाव स्वयं जीव का गुण है और ज्ञान निश्चय से उसका वेदन करने वाला है। पदार्थ रूप से ज्ञान सुखादिमय नहीं हो जाता।

भावार्थ - उपर्युक्त का भाव यह है कि ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुण भी स्वयं उस आत्मा के गुण हैं पर वे स्वयं अपने को या पर को जानने वाले नहीं हैं। ज्ञान ही उन सबका ज्ञाता है। वेदन-अनुभवन भी ज्ञान करता है। सुखी-दुःखी, रागी-द्वेषी भी ज्ञान होता है पर फिर भी गुण लक्षण भेद से प्रत्येक गुण भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं इसलिये ज्ञान स्वयं उन रूप नहीं हो जाता किन्तु उनका ज्ञाता ही कहा जाता है। यह दूसरी बात है कि अज्ञानी का ज्ञान भेद विज्ञान के अभाव के कारण अपने में और अन्य गुणों में भेद का अनुभव नहीं कर सकता है और ज्ञान को ही कर्मचेतना और

कर्मफल चेतनारूप से अनुभवता है किन्तु ज्ञानी का ज्ञान तो बराबर भेदविज्ञान द्वारा भिन्न-भिन्न ही जानता है और भिन्न-भिन्न ही अनुभव भी करता है। इसलिये स्वात्मानुभूति भिन्न है सम्यक्त्व भिन्न है।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥ ११६८ ॥

सूत्रार्थ - सम्यक्त्व वस्तु रूप से सूक्ष्म हैं; वचनों के अगोचर है। इसलिये विधिपूर्वक कहने के लिये और सुनने के लिये (कोई भी) अधिकारी नहीं है। (यह सम्यक्त्व की सीधी आत्मभूत पर्याय की अपेक्षा कथन है)।

खास सूत्र

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत् परमं पदम् ॥ ११६९ ॥

सूत्रार्थ - आत्मा की साधनादि विधि में ज्ञान ही एक प्रसिद्ध (साधन) हैं और (ज्ञान ही) स्वानुभूति का एक कारण है। इसलिये वह परम पद है।

भावार्थ - अन्य गुणों में पुरुषार्थ नहीं होता वे गुण तो केवल ज्ञेय रूप है। ज्ञान द्वारा ही जीव अनादि का पर को एक रूप जानकर, उसमें अपने ज्ञान को रागी-द्वेषी-मोही बनाकर, ज्ञान को बंध का साधन बनाकर, संसार में भटक रहा है और ज्ञान द्वारा ही जीव स्व पर का भेद विज्ञान करके, ज्ञान को पर से मोड़कर, अपने सामान्य तत्त्व में जोड़ कर ज्ञानी बनता है और फलस्वरूप सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वतः प्रगट हो जाती है। ज्ञान द्वारा ही अतीन्द्रिय सुख का भोग करता है और ज्ञान का मात्र शुद्ध ज्ञान रूप रह जाना ही मोक्ष है। सर्वतात्पर्य यह है कि ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। श्रीसमयसार में तो आत्मा को ज्ञान शब्द से ही वाच्य बनाया है और आत्मानुभूति को ही सम्यक्त्व कहा है।

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः ॥ ११७० ॥

सूत्रार्थ - उसमें भी जो आत्मानुभूति है वह आत्मा का विशिष्ट ज्ञान है। वह (स्वात्मानुभूति रूप विशेष ज्ञान) सम्यक्त्व से अन्वय से और व्यतिरेक से अवनाभावी है।

भावार्थ - प्रकरण आत्मानुभूति का चल रहा है। शिष्य आत्मानुभूति को श्रद्धा-गुण की सम्यग्दर्शन पर्याय मान कर सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण कहता है और श्रीअमृतचन्द्र गुरुदेव उसे ज्ञान की पर्याय बतला कर सम्यक्त्व से अविनाभाव होने के कारण उसे सहचर अर्थात् सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण कह रहे हैं। उसे समझाते हैं कि यह आत्मानुभूति, इस ज्ञान गुण की सम्यक्त्व होने पर विशेष अवस्था हो जाती है। ज्ञान की उस विशेष अवस्था का नाम आत्मानुभूति है। अतः वह स्वयं सम्यक्त्व नहीं है, हाँ उसकी सम्यक्त्व के साथ दोनों ओर से व्याप्ति जरूर है। जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ आत्मानुभूति है और जहाँ-जहाँ आत्मानुभूति है वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व है तथा जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व नहीं है वहाँ-वहाँ आत्मानुभूति भी नहीं है। तथा जहाँ-जहाँ आत्मानुभूति नहीं है। वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व भी नहीं है। इस अन्वय व्यतिरेक अविनाभाव के कारण उसे सम्यक्त्व का लक्षण आगम में तथा लोकव्यवहार में कहने की पद्धति है पर भाई इसमें इतना विवेक अवश्य रहना चाहिये कि यह अनात्मभूत लक्षण है। आत्मभूत नहीं फिर भी इसी के द्वारा तो मति, श्रुत और देशावधि वाले अपने सम्यक्त्व का निश्चय करते हैं।

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात् सा चेच्छुद्धनयात्मिका ॥ ११७१ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये उन दोनों में (सम्यक्त्व और स्वात्मानुभूति में) व्याप्ति का सद्भाव होने से आत्मानुभूति को भी सम्यक्त्व कहा जा सकता है वह भी तब जबकि वह स्वात्मानुभूति शुद्धनयात्मक हो अर्थात् शुद्धात्मानुभूति हो (ज्ञान चेतना रूप हो। अज्ञान चेतना रूप न हो)।

भावार्थ - (१) आचार्य शिष्य की शङ्का का उत्तर देते हुए समझाते हैं कि क्योंकि आत्मानुभूति और सम्यक्त्व का अविनाभाव संबंध है इस अपेक्षा उसे सम्यक्त्व का लक्षण कहा जा सकता है पर यह बात भी ज्ञान में रहनी चाहिये कि वह वास्तव में सम्यक्त्व रूप नहीं क्योंकि श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं है किन्तु ज्ञान की पर्याय है (२) दूसरी बात

यह बताते हैं कि आत्मानुभूति तो सब जीवों को है। मिथ्यादृष्टि को भी है उसे आत्मा का अनुभव कर्मचेतना कर्मफलचेतना रूप है। बिना आत्मानुभव तो कोई जीव जगत् में है ही नहीं। यदि वह आत्मानुभूति ज्ञान-चेतना रूप है अर्थात् शुद्ध आत्मा की अनुभूति है। सामान्य के वेदन रूप है तब सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण कही जा सकती है और उसी की सम्यक्त्व के साथ व्याप्ति है अन्यथा सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कही जा सकती है। इसका स्पष्टीकरण चौथी पुस्तक में हो चुका है।

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥ ११७२ ॥

सूत्रार्थ - इतना विशेष है कि सम्यक्त्व और उपयोग रूप अनुभव दोनों में विषम व्याप्ति है। वह इस प्रकार कि - उपयोग में (अर्थात् उपयोग रूप स्वात्मानुभूति और सम्यक्त्व की) समव्याप्ति नहीं है किन्तु वह समव्याप्ति लब्धि रूप स्वात्मानुभूति में तो है।

भावार्थ - शुद्धात्माभूति दो प्रकार की होती है एक लब्धिरूप और दूसरी उपयोग रूप। बहुत से जीव समझते हैं कि सम्यक्त्व दो प्रकार का होता है एक लब्धिरूप दूसरा उपयोगरूप। यह उनकी धारणा गलत है। सम्यक्त्व न लब्धि रूप होता है न उपयोग रूप। सम्यक्त्व में यह भेद ही नहीं है। वह आत्मा की निर्विकल्प शुद्धि का नाम है। लब्धि उपयोग तो ज्ञान की पर्याय में होते हैं। ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम को जो कि क्षयोपशम आत्मशुद्धि में कारण है। उसको लब्धि रूप स्वात्मानुभूति कहते हैं। इसकी तो सम्यक्त्व के साथ दोनों ओर से व्याप्ति है। इसी को समव्प्ति कहते हैं जैसे जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ यह लब्धिरूप स्वात्मानुभूति है तथा जहाँ-जहाँ लब्धि रूप स्वात्मानुभूति है वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व है। इसी के आधार पर शुद्ध आत्मानुभूति सम्यक्त्व का लक्षण कहा जाता है। यह स्वात्मानुभूति सम्यग्दृष्टि को खाते-पीते, सोते-जागते हर समय रहती है। इसका विरह नहीं है। एक स्वात्मानुभूति उपयोग रूप होती है। जिस समय सम्यग्दृष्टि सब पर कार्यों को छोड़कर आत्मध्यान में लीन होता है। बुद्धिपूर्वक सब विकल्पों का अभाव होता है। मात्र उपयोग पूर्णतया स्व में रमता है इसको उपयोगरूप स्वात्मानुभूति उपयोगरूप स्वात्मानुभूति कहते हैं। किन्हीं-किन्हीं का विचार है कि यह उपयोगरूप स्वात्मानुभूति सातवें या आठवें गुणस्थान में प्रारंभ होती है पर वह धारणा बिल्कुल गलत है। यह भी चौथे से ही होती है। चौथे को बहुत देर-देर में होती है। पाँचवें वाले को उससे जल्दी-जल्दी होती है और छठे वाले को अन्तर्मुहूर्त्त बाद नियम से होती है। सातवें से सिद्ध तक तो हैं ही स्वात्मानुभूति रूप। यह जो उपयोगरूप स्वात्मानुभूति है इसकी सम्यक्त्व के साथ समव्याप्ति नहीं है किन्तु विषमव्याप्ति है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ-जहाँ यह उपयोगात्मक अनुभूति है वहाँ-वहाँ तो सम्यक्त्व जरूर है और जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ यह होती भी है और नहीं भी होती है। जिस समय सम्यक्त्वी ध्यानावस्था में होता है उस समय होती है शेष समय में नहीं होती। अब स्वयं आचार्य अमृतचन्द्रजी इसी बात को समझाते हैं।

स्पष्टीकरण सूत्र ११७३ से ११७७ तक ५

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि ।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥ ११७३ ॥

सूत्रार्थ - खुलासा इस प्रकार है कि स्वात्मानुभूति के होने पर अथवा स्वात्मानुभूति के काल में भी उस आत्मा में सम्यक्त्व अवश्य ही है। क्योंकि उस (सम्यक्त्व रूप कारण) के बिना वह (स्वात्मानुभूति रूप कार्य) भी नहीं है।

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान् ।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोऽस्ति वस्तुतः ॥ ११७४ ॥

सूत्रार्थ - अथवा इस प्रकार से भी विषमव्याप्ति कही जाती है कि सम्यक्त्व के होने पर आत्मा स्वात्मानुभूति के उपयोग सहित होवे अथवा न भी होवे किन्तु इतना अवश्य है कि शुद्ध (सामान्य आत्मा) का अनुभव वहाँ लब्धिरूप वस्तुतः है।

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेऽस्त्यवश्यतः ।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥ ११७५ ॥

सूत्रार्थ - उसमें भी कारण है (अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर नियमपूर्वक लब्धिरूप स्वात्मानुभूति के रहने में कारण

यह है) कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय में अवश्य ही स्वतः (अपने कारण से) उस ज्ञानावरण की यथायोग्य अवस्थान्तर होती है (विशिष्ट क्षयोपशम होता है)।

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत् ।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥ ११७६ ॥

सूत्रार्थ - क्योंकि छद्मस्थ (सम्यग्दृष्टि) का उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है और अछद्मस्थ (केवली) में नित्य होता है और छद्मस्थ (सम्यक्त्वी) के लब्धिरूप ज्ञान नित्य रहता है। ऐसा नियम है।

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः ।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥ ११७७ ॥

सूत्रार्थ - सम्यक्त्व अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा न करके सामान्य मात्रपने से नित्य है अर्थात् जब तक औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक कोई भी सम्यक्त्व है तब तक सामान्यपने सम्यग्दृष्टि है और उस सम्यक्त्व और उपयोगात्मक अनुभव-इन दोनों में विषम व्याप्ति सिद्ध होती है। भावार्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है॥

सम्यक्त्व का लक्षण स्वात्मानुभूति समाप्त हुआ

तीसरा अवान्तर अधिकार

सम्यक्त्व के सहचर लक्षण- 'श्रद्धा-रुचि-प्रतीति-चरण'

सूत्र ११७८ से ११९१ तक १४

अपि सन्ति गुणाः सम्यक्श्रद्धानादिविकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ११७८ ॥

सूत्रार्थ - सच्चा श्रद्धान - आदि विकल्प वाले भी (सम्यक्त्व के) गुण (लक्षण) हैं। उनका उद्देश, लक्षण और उनकी परीक्षा अब कही जाती है।

भावार्थ - सम्यक्त्व का वास्तविक आत्मभूत लक्षण (स्वरूप) तो वही है जो सूत्र ११४३ से ११५३ तक निरूपित है। दूसरे नम्बर पर सम्यक्त्व का वह लक्षण (स्वरूप) ठीक है जो आत्मानुभूति रूप है। क्योंकि यह निर्विकल्प (राग रहित) है और सम्यक्त्व से अविनाभावी है। अब तीसरे नम्बर पर उसके लक्षण जो विकल्पात्मक हैं उनको बताते हैं। ये वास्तव में चारित्र गुण की विभाव पर्याय रूप हैं। अतः इनको चारित्र गुण की पर्याय समझें। दूसरे छद्मस्थ का ज्ञान ही इन विकल्पों में प्रवृत्त होता है अतः इनको ज्ञान की पर्यायें भी कह देते हैं। ये वास्तव में सम्यक्त्व नहीं पर क्योंकि ये सब बातें विकल्पात्मक होते हुए भी ये विकल्प सम्यग्दृष्टि में ही उत्पन्न होते हैं। अतः इनको भी आरोप से सम्यग्दर्शन का सहचर लक्षण आगम में तथा लोक में कहने की रूढ़ि है। इनमें एक खास बात यह है कि ये लक्षण होते तो मिथ्यादृष्टि में भी हैं पर उसमें आभास रूप है - नकली हैं। इसलिये इनको सम्यक्त्व कहने में व्यभिचार दोष नहीं है। इसको एक दृष्टान्त से स्फुट करके दिखलाते हैं। जैसे देवगुरु का श्रद्धान सम्यग्दृष्टि को भी होता है; मिथ्यादृष्टि को भी होता है। पर अन्तर जमीन-आसमान का है। सम्यग्दृष्टि को वह श्रद्धा स्वलक्षी है और मिथ्यादृष्टि को परलक्षी है। सम्यग्दृष्टि को अपनी आत्मा का स्वात्मानुभूति द्वारा प्रगट प्रत्यक्ष हो गया है। उसके आधार पर उसे ये श्रद्धा जमी है कि जैसा यह आत्मा मुझे अनुभव में आ रहा है जिसको यह पूरा अनुभव में है वह देव है और जिसको मध्यम अनुभव है वह गुरु है। अतः उसकी श्रद्धा को सम्यक्श्रद्धा-सच्ची श्रद्धा-वास्तविक श्रद्धा कहा है क्योंकि उसने प्रत्यक्ष देखकर पदार्थ की श्रद्धा की है। यह बात स्वयं श्रीअमृतचन्द्रजी महाराज ने आगे सूत्र १२३० में कही है तथा मिथ्यादृष्टि को आत्म प्रत्यक्ष तो है नहीं। अरहन्तदेव-निर्ग्रन्थ गुरु की परलक्षी श्रद्धा आगम आधार पर है। श्रद्धा तो ऐसी है कि सिर कट जाये पर श्रद्धा में अन्तर नहीं आता जभी तो नवमें ग्रीवक तक जाता है पर यह तो बिना देखे की श्रद्धा है। आत्मा का दर्शन हुआ ही नहीं फिर कैसा देव और कैसा गुरु। उस श्रद्धा को श्रीअमृतचन्द्रजी ने आगे सूत्र ११८८ में गधे के सींगवत् कहा है। वास्तव में जो चीज देखी नहीं उसकी श्रद्धा गधे की सींगवत् ही है। अतः ज्ञानियों ने उसे आभासमात्र कहा है। अतः यहाँ से इस पुस्तक के अन्त तक जितने लक्षणों का निरूपण करेंगे उन सबकी यही दशा है। अतः श्री अमृतचन्द्रजी गुरुदेव ने कहा है कि यदि ये लक्षण आत्मानुभूति के सहचर हैं तो ही सच्चे लक्षण हैं। तभी उन्हें

सम्यक्त्व के आरोपित लक्षण समझना। अन्यथा आरोप किसका। जहाँ असली चीज हो वहीं तो सहचर पर आरोप आता है अन्यथा आरोप किसका ? जहाँ उपादान में परिणमन होता है वहाँ ही तो निमित्त पर आरोप आता है अन्यथा आरोप किसका ? जहाँ शुद्ध निश्चयमोक्षमार्ग है वहीं तो रागरूप-विकल्प पर - व्यवहार मोक्षमार्ग का आरोप है अन्यथा आरोप किसका ? सो अगला सब कथन इसी के आधार पर समझें। उद्देश नाम मात्र कथन को कहते हैं ? लक्षण उसके पहचानने के चिन्ह को कहते हैं और परीक्षा उस लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष के परिहार को कहते हैं। सो अब आचार्यदेव प्रत्येक का भिन्न-भिन्न उद्देश, फिर उनका भिन्न-भिन्न लक्षण निर्देश तथा फिर प्रत्येक की परीक्षा दोष परिहार द्वारा दिखलायेंगे।

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ११७९ ॥

मूत्रार्थ - उन (उद्देश-लक्षण-परीक्षा) में उद्देश नाम को कहते हैं। आम्नाय (परंपरा) के अनुसार तत्त्वार्थ के विषय में वास्तविक श्रद्धा रुचि, प्रतीति, आचरण - ये उद्देश्य कथन है।

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात् स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ११८० ॥

सूत्रार्थ - तत्त्वार्थ के सन्मुख बुद्धि-श्रद्धा है। तत्त्वार्थ में लगन-रुचि है और तत्त्वार्थ का स्वरूप ऐसा ही है यह स्वीकार-प्रतीति है। तत्त्वार्थ के अनुसार क्रिया-चरण है। ये लक्षण कथन है। अब परीक्षा करते हैं।

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात् ।
चरण वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ११८१ ॥

सूत्रार्थ - पदार्थरूप से आदि के तीन (श्रद्धा-रुचि-प्रतीति) ज्ञान रूप हैं क्योंकि ये ज्ञान की ही पर्यायें हैं। शुभ क्रियाओं में वचन-काय-मन के द्वारा व्यापार चरण है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि का सहचर ज्ञान जो नौ पदार्थ की श्रद्धा रूप प्रवृत्त होता है उसे यहाँ सम्यक्त्व कहा है तथा व्यवहार धर्म के आचरण रूप जो शुभ विकल्प है जो चारित्र गुण की पुण्य तत्त्व रूप विभाव पर्याय है उस पर सम्यक्त्व का आरोप किया है। मन-वचन-काय की क्रियाओं पर नहीं। वे तो पुद्गल की स्वतन्त्र क्रियायें होती हैं। उनका ज्ञानी कि अज्ञानी कोई कर्त्ता नहीं है। शुभ विकल्प का निर्देश मन-वचन-काया की क्रियाओं द्वारा करने की आगम तथा लोक में रूढ़ि है।

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा ।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ११८२ ॥

सूत्रार्थ - ये चारों (श्रद्धा, रुचि, प्रतीति-चरण) भिन्न-भिन्न अथवा सबके सब सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं भी और नहीं भी हैं क्योंकि सपक्ष और विपक्ष में होते भी हैं अथवा नहीं भी होते हैं।

भावार्थ - सपक्ष का अर्थ सम्यग्दृष्टि है और विपक्ष का अर्थ मिथ्यादृष्टि है। सपक्ष में होते भी हैं और नहीं भी होते हैं का अर्थ तो यह है कि ये विकल्पात्मक बातें चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान वालों में तो होती हैं किन्तु उनके ऊपर के ज्ञानियों में नहीं होती। इसलिये सब सम्यग्दृष्टियों में नहीं पाये जाने से अव्याप्ति दोष आने से सम्यक्त्व के त्रिकाली लक्षण नहीं हैं। विपक्ष में होते भी हैं और नहीं भी होने का अर्थ यह है कि किसी मिथ्यादृष्टि में नहीं होते किसी में होते भी हैं। अतः अतिव्याप्ति दोष आ जाने से भी सम्यक्त्व के लक्षण नहीं है। इन दोषों का परिहार यह है कि जहाँ इनको सम्यक्त्व का लक्षण कहा है वह तो चौथे, पाँचवें, छठे की अपेक्षा ही कहा है। अव्याप्ति दोष तो इस प्रकार दूर हो जाता है और मिथ्यादृष्टि में ये आभास रूप होते हैं। स्वात्मानुभूति उसकी परीक्षा है। यदि स्वात्मानुभूति सहित हैं तो श्रद्धा आदि सच्चे हैं क्योंकि अनुभव पूर्वक श्रद्धा है अन्यथा वह श्रद्धा बिना अनुभव गधे के सींगवत् है। इसप्रकार अतिव्याप्ति दोष का परिहार है। स्वात्मानुभूति एक सम्यक्त्व का ऐसा लक्षण है जो चौथे से सिद्ध तक सभी दृष्टियों में ही पाया जाता है और किसी मिथ्यादृष्टि में कहीं भी नहीं पाया जाता है। अतः परीक्षा करने से वह ही सम्यक्त्व का ठीक लक्षण बैठता है पर है वह भी अनात्मभूत।

स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः ।
स्वानुभूति विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ११८३ ॥

सूत्रार्थ - यदि स्वानुभूति सहित हैं तो श्रद्धा-आदिक सम्यक्त्व के गुण (लक्षण) हैं। स्वानुभूति के बिना आभास रूप हैं। वास्तव में वे श्रद्धा-आदिक गुण नहीं हैं सम्यक्त्व के लक्षण नहीं हैं।

तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥ ११८४ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये श्रद्धा, आदि सब स्वानुभूति सहित सम्यक्त्व हैं। स्वानुभूति के बिना सम्यक्त्व नहीं हैं किन्तु उसके आभास रूप हैं (जैसे श्रद्धाभास, रुच्याभास इत्यादिक)। वे स्वतः मिथ्या श्रद्धानादि के समान हैं अर्थात् श्रद्धा आदिक ही नहीं हैं या मिथ्याश्रद्धादिक हैं।

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां बिना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥ ११८५ ॥

सूत्रार्थ - सम्यक् और मिथ्या विशेषणों के बिना मात्र श्रद्धा-आदिक सपक्ष के समान विपक्ष में भी रहने से व्यभिचारी हैं (व्यभिचार दोष युक्त हैं)।

भावार्थ - केवल श्रद्धा आदिक को सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं कहते क्योंकि ये सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि दोनों में पाये जाते हैं किन्तु उसके साथ समझदारों को सम्यक् विशेषण लगा देना चाहिये ताकि सम्यक्त्वी का ग्रहण हो जाये और मिथ्यात्वी का निराकरण हो जाये। अतः सम्यक् श्रद्धा, सम्यक्रुचि, सम्यक्प्रतीति, सम्यक्चरण, सम्यक्त्व के आरोपित लक्षण कहने में फिर कोई दोष नहीं रहता।

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः ।
मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो ततः ॥ ११८६ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में श्रद्धा-आदिक सम्यग्दृष्टि के श्रद्धा-आदिक ही हैं क्योंकि मिथ्या-श्रद्धा-आदिक मिथ्या हैं। इसलिये वे वास्तव में श्रद्धा-आदिक ही नहीं हैं। अब इसी को विशेष स्पष्ट कहने के लिये शङ्का समाधान द्वारा पीसते हैं।

शङ्का

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोऽर्थतः ॥ ११८७ ॥

शंका - तत्त्व रुचि श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धा का श्रद्धा मात्र यही एक लक्षण है। सम्यक् मिथ्या विशेषणों से युक्त वह दो प्रकार की है। वह वास्तव में कैसे है ?

भावार्थ - देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा जैसी सम्यग्दृष्टि को है वैसी मिथ्यादृष्टि को है फिर एक की श्रद्धा को सम्यक् श्रद्धा और एक की श्रद्धा को मिथ्या श्रद्धा ऐसा भेद क्यों किया जाता है ? नौ तत्त्वों की श्रद्धा दोनों को है। श्रद्धान, श्रद्धान एकसा।

समाधान सूत्र ११८८ से ११९१तक ४

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥ ११८८ ॥

सूत्रार्थ - ऐसा नहीं है क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनों में समव्याप्ति है। वास्तव में अप्राप्त पदार्थ में श्रद्धा गधे के सींगवत् है।

भावार्थ - आत्मा की स्वानुभूति होने पर जो स्व पर की श्रद्धा है वह तो सम्यक्श्रद्धा है क्योंकि उसने तो पदार्थ अनुभव में आने पर श्रद्धा की है और अनुभव तो आया ही नहीं मात्र शास्त्र के पाठ के आधार पर श्रद्धा है वह तो बिना देखे की श्रद्धा गधे के सींगवत् शून्य है। मिथ्या है। झूठी है। उसकी कुछ कीमत नहीं। वह सम्यक्त्व की लक्षण नहीं।

बिना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रत ।
तत्त्वार्थानुगताप्यार्थाच्छ्रद्धा नालुपलब्धितः ॥ ११८९ ॥

सूत्रार्थ - स्वात्मानुभूति के बिना जो श्रद्धा आगम मात्र से है। वह तत्त्वार्थ के अनुसार होती हुई भी वास्तव में श्रद्धा नहीं है क्योंकि अनुभव रूप से उसकी प्राप्ति नहीं है।

भावार्थ - यद्यपि मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा आगमानुकूल है और जैसा तत्त्वार्थ का स्वरूप आगम में लिखा है और है वैसा ही उसने श्रद्धा भी की है किन्तु उस श्रद्धा की वहाँ तक कोई कीमत नहीं जहाँ तक कि स्वात्मानुभूति द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव गम्य न हो जाय।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥ ११९० ॥

सूत्रार्थ - सत्-असत् में विशेषता न होने से (तत्त्वों की) लब्धि उन्मत्तवत् है। वह उपलब्धि वास्तव में उपलब्धि नहीं है। वह तो शेष (अज्ञात) पदार्थों की अनुपलब्धि के समान है।

भावार्थ - जब तक पदार्थ स्वात्मानुभूति द्वारा अनुभव गम्य न हो जाय तब तक उसको वास्तव में सच्चे-झूठे तत्त्व की पहचान नहीं होती क्योंकि तत्त्व की प्राप्ति आगम श्रद्धा से नहीं कही जाती किन्तु अनुभव से तत्त्व की प्राप्ति कही जाती है। अतः जिस प्रकार अन्य अज्ञात पदार्थों का ज्ञान नहीं है उसी प्रकार तत्त्वों की आगम से श्रद्धा होते हुए भी वह नहीं जाने हुए के समान ही है। उसको जानना या श्रद्धान ही नहीं कहते। यह सूत्र वही है जो श्रीमोक्षशास्त्रजी में हैं "सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्" भाव यह है कि मिथ्यादृष्टि को स्वात्मानुभूति बिना सत् और असत् का अन्तर ज्ञात नहीं है और उसका तत्त्वों के स्वरूप को कहना इच्छानुसार पागलवत् बकवास है। आगमज्ञान तो मिथ्यादृष्टि ११ अंग तक करता है पर अनुभव बिना शून्य है। सम्यग्दृष्टि अल्पश्रुति की भी श्रद्धा सच्ची श्रद्धा है।

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणं ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥ ११९१ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये श्रद्धा सम्यक्त्व का लक्षण है यह यौगिक (शास्त्रीय) रूढ़ि है। यह कथन पदार्थ रूप से तब अविरुद्ध है जब उसे स्वात्मानुभूति से युक्त माना जावे।

सूत्र ११७८ से ११९१ तक का सार - जहाँ भी शास्त्रों में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वं' कहा है उसका अर्थ यही है कि वह स्वात्मानुभूति सहित सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। मिथ्यादृष्टि के श्रद्धान को तो आगम में श्रद्धान ही नहीं कहा है क्योंकि उसके तत्त्वार्थ में सत्-असत् का निर्णय नहीं है और उसे अनुभव रूप से तत्त्वार्थ की प्राप्ति नहीं है।

सम्यक्त्व का लक्षण श्रद्धा समाप्त हुआ।

चौथा अवान्तर अधिकार

सम्यक्त्व के लक्षण प्रशम-संवेग (निर्वेद) - अनुकम्पा-आस्तिक्य

सूत्र ११९२ से १२४८

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥ ११९२ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दृष्टि के प्रशम-आदिक जो अन्य गुण (लक्षण) प्रसिद्ध हैं। बहिर्दृष्टी से यथायोग्य वे भी सम्यक्त्व के लक्षण हैं (सहचर लक्षण हैं)।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि के प्रशम आदि वास्तव में चारित्र गुण की विकल्पात्मक शुभभाव रूप पर्याय है जो पुण्य तत्त्व हैं। उनको अविनाभाव सम्बन्ध के कारण यहाँ सम्यक्त्व लक्षण कहा है; यही बहिर्दृष्टि का अर्थ है।

प्रशम का निरूपण सूत्र ११९३ से ११९८ तक ६

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ११९३ ॥

सूत्रार्थ - उनमें पहला प्रशम नाम है, फिर संवेग गुण है। फिर अनुकम्पा तथा आस्तिक्य है। उनके लक्षण को क्रम से कहूँगा। वह इस प्रकार है :-

प्रशमो विषयेषुच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ११९४ ॥

सूत्रार्थ - (पंचेन्द्रिय) विषयों में और असंख्यात लोक मात्र तीव्र भावक्रोध-आदिकों में स्वरूप से (स्वतः स्वभाव से) शिथिल मन का होना प्रशम है।

भावार्थ - सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय ही अनन्तानुबंधी कषायों का नाश हो जाता है ऐसा अविनाभाव संबंध है। पंचेन्द्रिय विषयों में तथा क्रोधादिक में तीव्रता अनन्तानुबन्धी रूप ही है। उसके अभाव को ही प्रशम कहते हैं। सम्यग्दृष्टि का मन कषायों में स्वतः ढीला हो जाता है। इस ढीलेपन का नाम प्रशम है। अब इसको दृष्टान्त से समझाते हैं।

सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ११९५ ॥

सूत्रार्थ - अथवा तत्काल किया है अपराध जिन्होंने ऐसे जीवों पर कभी भी उनके बध-आदि विकार के लिये बुद्धि (भाव) का न होना प्रशम माना गया है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि का कोई कितना भी बुरा करने का भाव करे यहाँ तक कि उसे मारने या उसका धनादि नष्ट करने के लिये प्रवृत्त होवे तो भी उसको स्वभाव से ही उसके जान से मारने का भाव कभी उत्पन्न नहीं होता। उसके प्रति प्रथम तो कषाय ही उत्पन्न न होगी यदि होगी तो बहुत हल्की-सी और वह यह तुरन्त समझ लेता है कि यह मेरी स्वरूप अस्थिरता की निर्बलता के कारण है। इसके कारण नहीं। अब इस प्रशम का वास्तविक कारण बताते हैं।

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥ ११९६ ॥

सूत्रार्थ - उस (प्रशम) में कारण अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय का अभाव है और शेष (अप्रत्ययाख्यानादि) कषायों का अंश रूप से मन्द उदय भी वास्तव में कारण हैं। यहाँ भाव और द्रव्य रूप दोनों प्रकार की कषायों का ग्रहण है।

आरम्भादिक्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तःशुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ११९७ ॥

सूत्रार्थ - आरम्भ-आदि क्रिया उस (सम्यग्दृष्टि) के दैव योग से अनिच्छा पूर्वक होती है। अन्तरंग शुद्धि की प्रसिद्धि होने से वह (क्रिया) प्रशम के नाश के लिये कारण नहीं है।

भावार्थ - कोई यह शङ्का करे कि सम्यग्दृष्टि व्यापार करता है। मुकदमा भी होता है। उसके राज-पाट भी होता है। स्त्री, पुत्र, नौकर, चाकर भी होते हैं। उसमें कषाय करते समय तो प्रशम का नाश होता होगा तो कहते हैं कि उनमें राग तो उनको होता है जो उन क्रियाओं के कर्त्ता-भोक्ता हैं। सम्यग्दृष्टि किसी कर्मज क्रिया का स्वामीपने कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। वह समझता है कि यह सब पर द्रव्यों का परिणमन अपनी-अपनी योग्यता से हो रहा है अथवा इनमें इनके अनुकूल निमित्त कारण में कर्मोदय है। अतः वे सब क्रियाएं उसके अनिच्छापूर्वक होती हैं। यही कारण है कि उसकी अन्तरंग शुद्धि का नाश नहीं हो पाता और प्रशम गुण हर संयोग में बना ही रहता है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमं मन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥ ११९८ ॥

सूत्रार्थ - सम्यक्त्व से अविनाभावी प्रशम परम गुण है। उस (सम्यक्त्व) के अभाव से अन्यत्र (मिथ्यादृष्टि में) प्रशम भी आभास है ऐसा मैं मानता हूँ।

भावार्थ - श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव कहते हैं कि देखने में तो बाहर से मिथ्यादृष्टि के भी इतना प्रशम होता है कि कोई शरीर के खण्ड-खण्ड भी कर दे तो क्लेश न करे और रंचमात्र क्रोध न करे पर सम्यक्त्व तथा आत्मानुभूति के अभाव के कारण मैं उसे प्रशम नहीं किन्तु प्रशमाभास मानता हूँ। हाँ सम्यग्दृष्टि के प्रशम पर सम्यग्दर्शन का आरोप किया जाये तो मुझे स्वीकार है अर्थात् प्रशम सम्यग्दृष्टि का बाह्य लक्षण है मिथ्यादृष्टि का नहीं।

सम्यक्त्व का लक्षण "प्रशम" समाप्त हुआ।

संवेग का निरूपण सूत्र ११९९ से १२१३ तक १५

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ११९९ ॥

सूत्रार्थ - आत्मा के धर्म में (वीतराग भाव में) और धर्म के फल में (अतीन्द्रिय सुख में) परम उत्साह या सधर्मियों में अनुराग अथवा परमेष्ठियों में प्रीति संवेग है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि की स्वभाव से शुद्ध भाव में रुचि होती है। शुद्ध भाव के फल अतीन्द्रिय सुख में रुचि होती है तथा शुद्धभाव धारी चौथे से सिद्ध तक के सब जीवों में प्रीति होती है। यह संवेग है। नास्ति से यह भी सिद्ध हो गया कि अधर्म में (शुभाशुभ भाव में), अधर्म के फल रूप इन्द्रिय सुख-दुःख में तथा एकान्त शुभाशुभ में प्रवृत्ति करनेवाले अधर्मियों में उसकी प्रीति नहीं होती। इसी को नास्ति से निर्वेद कहते हैं।

धर्म और धर्म के फल का स्वरूप

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ १२०० ॥

सूत्रार्थ - सम्यक्त्व मात्र है स्वरूप जिसका (श्रद्धा) और शुद्ध आत्मा का अनुभव (चारित्र) धर्म है। उसका फल वह सुख है जो अतीन्द्रिय, अविनाशी और कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि स्वप्न में भी शुभ भाव को धर्म नहीं समझता और न शुभ भाव के फल ऐन्द्रिय सुख को चाहता है। किन्तु वह वस्तु स्वरूप का परिज्ञाता है। मोह क्षोभ से रहित आत्मा के शुद्ध भाव को ही धर्म समझता है। उस शुद्ध भाव का नाम ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। वह कभी इन विकल्पों को सम्यक्त्व या शुभ क्रियाओं या शुभ विकल्पों को चारित्र नहीं मानता। तथा वह यह भी जानता है कि शुद्ध भाव का फल जो अतीन्द्रिय सुख है वह आत्मा से उत्पन्न होनेवाला सुख है। वही वास्तव में सच्चा सुख है जो आत्मा को तृप्त कर सकता है। यह ऐन्द्रिय सुख को तृष्णा उत्पादक है, हेय है।

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गणेऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ १२०१ ॥

भावार्थ - इधर (अर्थात् साधर्मियों में और परमेष्ठियों में) जो राग है वह उनके गुणों में अनुराग के कारण है। अतद्गुण में (अर्थात् जिनमें वे गुण नहीं हैं ऐसे अन्य जीवों में अर्थात् अधर्मियों में) अनुराग नहीं है क्योंकि (सम्यग्दृष्टि के) उस (अतद्गुण अर्थात् अधर्म) के फल की इच्छा नहीं है।

भावार्थ - इसमें अस्ति-नास्ति से दोनों बातें दिखाई गई हैं कि सम्यग्दृष्टि का सधर्मियों और परमेष्ठियों में राग क्यों है; क्योंकि उसे शुद्ध भाव रूप धर्म की प्रीति है और वे उसके धारी हैं। तथा उसको अन्य जीवों में प्रीति क्यों नहीं है इसलिये कि उसे शुभाशुभ भाव की तथा उसके फल इन्द्रिय सुख-दुःख से प्रीति नहीं है और वे जीव उसके धारण करने वाले हैं। यह तो स्वतः नियम है कि जो जैसा होता है उसकी उसी भाव में और उसी भाव वालों में रुचि होती है। व्यसनी की व्यसनी में और धर्मात्मा की धर्मात्मा में।

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ १२०२ ॥

सूत्रार्थ - यहाँ अनुराग शब्द से अभिलाषा नहीं कहा गया है किन्तु अधर्म से निवृत्ति अथवा अधर्म के फल से भी निवृत्ति होकर जो शेष रहता है वह अनुराग शब्द का अर्थ है।

भावार्थ - यहाँ आचार्य देव ने एक खास बात स्पष्ट की है जिसकी संसारी जीवों को शल्य रहा करती है। सम्यग्दृष्टि जीव को किसी जन्त्र-मन्त्र औषधि लौकिक लाभ या लौकिक सुख की इच्छा नहीं है कि जिसके कारण वह सच्चे त्यागियों, मुनियों, आचार्यों या परमेष्ठियों से अनुराग करता है किन्तु मात्र शुद्ध भाव रूप धर्म उसे प्रिय है और वे उसके धारी हैं बस यह अनुराग शब्द का वाच्य है और कुछ नहीं तथा यह संवेग गुण इस बात का भी सूचक है कि अधर्म, अधर्म के फल और अधर्म के धारियों में उसकी रुचि नहीं है।

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः ।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ १२०३ ॥

सूत्रार्थ - अनुराग शब्द की जिस समय अर्थ से विधि वाच्य है तो प्राप्ति या उपलब्धि अर्थ है क्योंकि ये शब्द एकार्थवाचक हैं।

भावार्थ - संवेग या अनुराग का अर्थ अभिलाषा या इच्छा नहीं है। अभिलाषा या इच्छा तो किसी प्रकार की सम्यग्दृष्टि के होती ही नहीं है किन्तु संवेग या अनुराग का अर्थ प्राप्ति अथवा उपलब्धि है।

न चाशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥ १२०४ ॥

सूत्रार्थ - ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि (सम्यग्दृष्टि की) केवल भोगों में ही अभिलाषनिषिद्ध है किन्तु भोगाभिलाष के समान शुद्धोपलब्धि मात्र में भी अभिलाषा नहीं है अर्थात् सम्यग्दृष्टि के किसी प्रकार की भी अभिलाषा नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हैं।

अर्थात्सर्वोऽभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात् ।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥ १२०५ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में सब अभिलाष अज्ञान है क्योंकि सम्यग्दर्शन से विपरीत है। न्याय से भी तत्त्वार्थ को अप्राप्त जीव ही प्राप्ति के लिये इच्छुक है। तत्त्वार्थ प्राप्त नहीं।

भावार्थ - यहाँ कोई शङ्का करे कि सम्यग्दृष्टि के लौकिक किसी भी वस्तु या भाव या संयोग की अभिलाषा नहीं है यह तो ठीक पर क्या उसके आत्मा की प्राप्ति या मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं है तो कहते हैं कि नहीं है। उसको युक्ति से सिद्ध करते हैं कि अभिलाषा तो उस चीज की हुआ करती है जिसकी कि प्राप्ति न हुई हो। सम्यग्दृष्टि को तो आत्मप्रत्यक्ष हो गया है। शुद्ध भाव विद्यमान है और उसका फल अवश्यंभावी मोक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय सुख है क्योंकि शुद्धभाव और अतीन्द्रिय सुख उसका अविनाभाव फल है। फिर भला जो चीज उसे प्राप्त ही है उसकी अभिलाषा कैसी ? वह तो जानता है कि मैं मुक्त स्वरूप ही हूँ। ये जो पर्याय पर में अटक रही है बस यही मेरे पुरुषार्थ की निर्बलता है। जहाँ यह पर्याय स्वरूप में स्थित हुई और मैं मुक्त हुआ। दूसरे वह यह भी जानता है कि कोई भी इच्छा करना अज्ञानभाव अर्थात् मूढ़ता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र है और संयोग-वियोग स्वतः अपने कारण से या साता-असाता के निमित्ताधीन है। यह इच्छा रूप राग निष्फल ही है। इसकी क्रियाकारित्व कुछ नहीं है। यह केवल मूर्खता की सूचक है। इस कारण भी सम्यग्दृष्टि को पर इच्छा नहीं होती। इच्छा की पूर्ति अपने आधीन नहीं है इसको वह भली-भाँति जानता है सोई कहते हैं -

मिथ्या सर्वोऽभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ १२०६ ॥

सूत्रार्थ - सब अभिलाषा मिथ्या है क्योंकि केवल मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है क्योंकि अभिलाषा प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रयोजन की सम्पूर्ण क्रिया की सिद्धि में समर्थ नहीं है।

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥ १२०७ ॥

सूत्रार्थ - कहीं पर उस (अभिलाषा) के सद्भाव में भी इष्टसिद्धि नहीं है क्योंकि उसके कारण (कर्म उदय) का सद्भाव नहीं है और कहीं पर अभिलाष के अभाव में भी अपने इष्ट की सिद्धि है क्योंकि उस के कारण (कर्मोदय) का सद्भाव है।

यशः श्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेऽपि बिना पुण्योदयात्सतः ॥ १२०८ ॥

सूत्रार्थ - यश, लक्ष्मी, पुत्र, मित्र आदि सब जगत् चाहता है किन्तु इस (जगत) के अभिलाष होने पर भी लाभ नहीं है क्योंकि पुण्य के उदय का सद्भाव नहीं है।

जरामृत्युदरिद्रादि न हि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात् ॥ १२०९ ॥

सूत्रार्थ – बुढ़ापा, मृत्यु, दरिद्रता आदि जगत् नहीं चाहता है (पर) उसका संयोग बलात् है क्योंकि वहाँ अशुभ (कर्म) के उदय का सद्भाव है।

भावार्थ – कुछ लोगों का आज ऐसा भी कहना है कि पर वस्तु का संयोग कर्माधीन नहीं है किन्तु राज समाज व्यवस्था आधीन है। उपर्युक्त सूत्र उनकी मिथ्या मान्यता के स्पष्ट सूचक हैं। वास्तव में तो प्रत्येक सामग्री अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की स्वयं उपादान कारण की योग्यता आधीन है किन्तु निमित्त की दृष्टि से साता-असाता कर्मोदय आधीन है। राज समाज व्यवस्था तो न निमित्त कारण है न उपादान। वह तो कोई वस्तु ही नहीं मात्र अज्ञानियों की कल्पनाओं का नाम राज समाज व्यवस्था है। अब इसी संवेग का नास्ति से विवेचन करते हैं।

निर्वेद का निरूपण सूत्र १२१० से १२१३ तक ४

संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च निषेधनात् ।
स्याद्विवक्षावशाद् द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ १२१० ॥

सूत्रार्थ – संवेग विधिरूप है और निर्वेद निषेधरूप है। विवक्षा वश से (संवेग और निर्वेद) में द्वैत है किन्तु उन दोनों में पदार्थ रूप से पदार्थान्तर (भिन्न-भिन्न पदार्थपना) नहीं है। (अर्थात् दोनों एक ही वस्तु है) अस्ति से संवेग, नास्ति से निर्वेद।

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
स संवेगोऽथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥ १२११ ॥

सूत्रार्थ – सब अभिलाष का त्याग निर्वेद है और निर्वेद के इस लक्षण से वह संवेग अथवा धर्म ही बैठता है क्योंकि (संवेग धर्म को धारण करनेवाला) धर्मात्मा अभिलाषा सहित नहीं है। अब यह बताते हैं कि मिथ्यादृष्टि के कभी संवेग या निर्वेद नहीं होता चाहे वह कोई भी हो।

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव सः ॥ १२१२ ॥

सूत्रार्थ – यहाँ मिथ्यादृष्टि का केवल व्यवहार क्रिया मात्र वास्तव में धर्म नहीं है क्योंकि (उसके) नित्य रागादि भाव का सद्भाव पाया जाता है उलटा वह (क्रिया रूप धर्म) अधर्म ही है।

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात् क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥ १२१३ ॥

सूत्रार्थ – मिथ्यादृष्टि नित्य रागी होता है, वह कभी भी अरागी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि नित्य रागरहित होता है, वह कभी भी सरागी नहीं होता। अस्ति-नास्ति। राग का अर्थ मोह भाव है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण संवेग या निर्वेद समाप्त हुआ

अनुकम्पा का निरूपण सूत्र १२१४ से १२१९ तक ६

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ १२१४ ॥

सूत्रार्थ – अनुकम्पा कृपा जाननी चाहिये अर्थात् सब जीवों में अनुग्रह, मैत्रीभाव, मध्यस्थता, निशल्यता। वह सब जीवों में वैरभाव छोड़ने से होती है।

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥ १२१५ ॥

सूत्रार्थ – उसमें केवल दर्शनमोह का अनुदय कारण कहा गया है। क्योंकि मिथ्याज्ञान के बिना वैरभाव कहीं भी नहीं होता।

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ १२१६ ॥

सूत्रार्थ - जो पर से स्व का अथवा स्व से पर जीवों का कुछ भी सुख-दुःख आदि, मृत्यु अथवा जीवन चाहे, वह मिथ्या है। यहाँ श्रीसमयसारजी के बंध अधिकार वाला भाव है।

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं न चापरम् ॥ १२१७ ॥

सूत्रार्थ - जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि शल्यवान् है और अज्ञान से दूसरे को मारने का इच्छुक होता हुआ भी मारने के लिये समर्थ नहीं है।

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ १२१८ ॥

सूत्रार्थ - जो सब जीवों में समता है, वह पर में अनुकम्पा है। वास्तव में स्व अनुकम्पा तो काँटे के समान शल्य के छोड़ने से होती है। मिथ्यात्व, माया, निदान को शल्य कहते हैं। इनको छोड़ना ही स्वदया है। यही आत्मा को सबसे अधिक दुःख होते हैं।

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥ १२१९ ॥

सूत्रार्थ - राग आदि अशुभ भावों के सद्भाव में निश्चय से बंध ही है। उन (रागादि भावों) के असद्भाव में बन्ध नहीं है। इसलिये अपनी आत्मा पर कृपा करनी चाहिये।

भावार्थ (सूत्र १२१४ से १२१९ तक) - वस्तु स्वभाव ऐसा है कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव में स्थित रहता हुआ ही प्रति समय अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता से परिणमन किया करता है। अतः एक द्रव्य दूसरे में कुछ नहीं कर सकता। तथा द्रव्यों का परस्पर जो संयोग-वियोग है वह अपने-अपने कर्माधीन है। यह निमित्त कारण की अपेक्षा वस्तु का कथन है। जब ऐसा वस्तु स्वभाव है तो दूसरा प्राणी हमारे जीने-मरने, सुख-दुःख में या हम उसके जीने-मरने, सुख-दुःख में न उपादान कारण हैं न निमित्त कारण हैं। ऐसे वस्तु स्वभाव को ज्ञानी जानते हैं। अतः उनका किसी पर वैरभाव नहीं होता किन्तु मध्यस्थ भाव ही रहता है। वस्तु स्वभाव को नहीं जानने वाले अज्ञानियों की ऐसी श्रद्धां है कि "इसने ही इसका ऐसा किया है" अतः यह कोरा वैरभाव है और कुछ नहीं और इसमें केवल अज्ञानता कारण है। (२) ज्ञानी यह भी जानता है कि अपना बुरा अपने रागभाव से है और अपना भला अपने शुद्धभाव से है। अतः वह राग भाव को छोड़कर शुद्ध भाव में वर्तता है। बस यही वास्तव में सच्ची स्वकृपा (अनुकम्पा) है। परकृपा तो कोई कर ही नहीं सकता। परकृपा को श्रीप्रवचनसार सूत्र ८५ में मिथ्याभाव कहा है। वहाँ से ही ग्रन्थकार ने यह भाव लिया है। ज्ञानी पर की कृपा करते हैं यह मात्र उपचार कथन है। इसमें सत्यता कुछ नहीं।

आस्तिक्य का निरूपण सूत्र १२२० से १२३४ तक १५

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतःसिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः ॥ १२२० ॥

सूत्रार्थ - स्वतः सिद्ध तत्त्व के सद्भाव में विनिश्चय और धर्म में, धर्म के कारण में और धर्म के फल में आत्मा की "है" आदि रूप बुद्धि आस्तिक्य है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि को ऐसा निश्चय है कि छहों द्रव्य स्वतः सिद्ध हैं। अनादि अनन्त शाश्वत हैं। उनका स्वभाव या विभाव परिणमन भी स्वतः निरपेक्ष उनके ही आधीन है। मेरा पर से कुछ लगाव नहीं है। शुभ-अशुभ भाव अधर्म हैं। मात्र शुद्ध भाव धर्म है वह सम्यक्त्व और चारित्र रूप है। उस शुद्ध भाव का कारण मात्र अपनी समान्य शुद्ध आत्मा का आश्रय है। उसका फल अतीन्द्रिय सुख है। इस प्रकार की "है" रूप दृढ़ श्रद्धा का होना ही सम्यक्त्वी का आस्तिक्य गुण है । अब स्वयं श्रीअमृतचन्द्रजी इसका खुलासा करते हैं :-

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोऽप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ १२२१ ॥

सूत्रार्थ – आत्मा है। जीव उसका नाम है। जो स्वतः सिद्ध, अमूर्तिक और चेतन है और अजीव तो जितना भी अचेतन है वह है।

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।
कर्त्ता-भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥ १२२२ ॥

सूत्रार्थ – आत्मा अनादि से कार्मण स्वरूप कर्मो के द्वारा बद्ध है। अज्ञानी है और वास्तव में उनका कर्त्ता और भोक्ता है। उनके नाश से मोक्ष पाने वाला होता है। (यह निमित्त की अपेक्षा कथन है)।

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ १२२३ ॥

सूत्रार्थ – निश्चय से पुण्य है और पाप है। उनका कारण है और उनका फल भी है तथा आस्रव-आदिक उस संसारी के निरन्तर है।

भावार्थ – ६८ कर्म प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं। उनका कारण जीव का शुभ भाव है। उसका फल इष्टसंयोग आदि है। १०० पापकृतियाँ हैं। उनका कारण जीव का अशुभ भाव है। इसका फल अनिष्टसंयोग आदि है। जीव का शुभाशुभ भाव आस्रव है। उसके निमित्त से प्रकृति-बंध आदि चार प्रकार का बंध है। जीव का शुद्ध भाव संवर निर्जरा है उसका फल आगामी कर्मास्रव और बंध का अभाव तथा पूर्वबद्ध की निर्जरा है। जीव का पूर्ण शुद्धभाव तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्म का पूर्ण अभाव मोक्ष है। ऐसी उसे आस्तिक्य की श्रद्धा है।

अस्त्येव पर्ययादेशाद् बन्धो मोक्षश्च तत्फलम् ।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥ १२२४ ॥

सूत्रार्थ – पर्याय के कथन से (विशेष दृष्टि से) बन्ध है, मोक्ष है और बन्ध का फल दुःख और मोक्ष का फल अतीन्द्रिय सुख है और शुद्ध नय के कथन से (सामान्य दृष्टि से) सब ही सदा शुद्ध हैं। इसका खुलासा चौथी पुस्तक में हो चुका है।

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः ।
सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ १२२५ ॥

सूत्रार्थ – उनमें यह जीव नाम का पदार्थ जो स्वसंवेद्य है, चेतनस्वरूप है, वह तो मैं हूँ (उपादेय हूँ) और अन्य जो ये पौद्गलिक रागादिक हैं ये 'हेय' हैं।

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यानास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ १२२६ ॥

सूत्रार्थ – इत्यादि अनादि जीवादि जो भी वस्तु समूह है वह सब निश्चय व्यवहार से सत् रूप है। उसमें वैसी ही बुद्धि का होना आस्तिक्य गुण है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतं स्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यंनाम सम्यक्तत् मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥ १२२७ ॥

सूत्रार्थ – जो सम्यक्त्व से अविनाभावी है और स्वानुभूति जिसका एक लक्षण है वह आस्तिक्य सम्यक् (सच्चा) है। उससे विपरीत आस्तिक्य मिथ्या (झूठा) है।

भावार्थ – आगम के आधार से किसी-किसी मिथ्यादृष्टि में भी वह आस्तिक्य पाया जाता है पर स्वात्मानुभूति न होने से वह आस्तिक्य गधे के सींगवत् मिथ्या है। आस्तिक्याभास है जो सम्यक्त्व और स्वात्मानुभूति से अविनाभावी है वही सच्चा आस्तिक्य गुण है और वही सम्यक्त्व का सहचर लक्षण है क्योंकि विना आत्मप्रत्यक्ष हुये उसकी आस्तिक्यता तो कल्पना मात्र है।

शंङ्का सूत्र १२२८ से १२२९ तक २

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ १२२८ ॥

सूत्रार्थ - शङ्का वास्तव में पदार्थरूप से एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है। शेष चार ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नहीं है। फिर सम्यग्दृष्टि के इन सब बातों का आस्तिक्य कैसे है ?

यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥ १२२९ ॥

शङ्का चालू - अथवा इन्द्रिय जन्य अपने सुखादि (साता-असाता जन्य सुख-दुःख) एकदेश प्रत्यक्ष है। फिर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप आस्तिक्य वास्तविक प्रत्यक्ष कैसे है ? अर्थात् शिष्य सुख-दुःख को तो प्रत्यक्ष मानता है पर स्वात्मानुभूति रूप आत्मप्रत्यक्ष नहीं मानता।

समाधान सूत्र १२३० से १२३४ तक ५

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥ १२३० ॥

सूत्रार्थ - ठीक है आदि के दो ज्ञान (मति-श्रुत) पर के जानने में परोक्ष हैं किन्तु दर्शनमोह के उपशम आदि से स्वात्मानुभूति में प्रत्यक्ष हैं (यह विषय तीसरी पुस्तक में स्पष्ट हो चुका है)।

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ॥ १२३१ ॥

सूत्रार्थ - 'स्वात्मानुभूति' मात्र आस्तिक्य परमगुण है। चाहे परद्रव्य में जानना हो या न हो क्योंकि वह तो परद्रव्य ही है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि के मति श्रुतज्ञान द्वारा आत्मप्रत्यक्ष तो हो ही जाता है इसलिये उसे स्व के आस्तिक्य का तो प्रत्यक्ष है और उससे जो भिन्न है वह पर है इस प्रकार पर के आस्तिक्य का भी निश्चय है। पर के विशेष भेदों की या उसके स्वरूप की जानकारी केवली को है और उसे नहीं है। इससे आस्तिक्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसकी जानकारी उसे हो या न हो किन्तु यह तो वह जानता ही है कि ये पर हैं। बस उनकी पर रूपसे श्रद्धा होना ही उनका आस्तिक्य है।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥ १२३२ ॥

सूत्रार्थ - और वहाँ जीवादि परवस्तु के परोक्ष होने पर भी इस सम्यग्दृष्टि आत्मा के गाढ़ प्रतीति है।

न तथास्ति प्रतीतिर्वा तस्मिन् मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ १२३३ ॥

सूत्रार्थ - जैसी प्रतीति इस सम्यग्दृष्टि आत्मा के है वैसी प्रतीति उस मिथ्यादृष्टि के प्रकट नहीं है क्योंकि उसमें दर्शनमोह के उदय में जुड़ने से भ्रान्ति का सद्भाव निरन्तर पाया जाता है।

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥ १२३४ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये यह भले प्रकार युक्ति, स्वानुभव और आगम से सिद्ध है कि सम्यक्त्व से अविनाभावी आस्तिक्य महान्गुण है सम्यक्त्व और स्वात्मानुभूति के बिना आस्तिक्याभास है। मिथ्या है।

भावार्थ - (सूत्र १२२० से १२३४ तक) - जिस प्रकार केवली भगवान् में वस्तु स्वभाव का प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को आगम के बल से वस्तु स्वभाव अनुभव प्रत्यक्ष है। उसे स्व का, पर का, स्वतः सिद्ध छः द्रव्यों का, जीव के अनादि से कर्त्ता-भोक्तापने का, उसके फलस्वरूप चार गतियों में भ्रमण का, फिर स्वपर का भेदविज्ञान करके सामान्य के आश्रय से शुद्धभाव रूप सम्यक्त्व प्रगट करने का, फिर उस सामान्य में स्थिरता करके चारित्र प्रगट करने का, उसके फलस्वरूप यहाँ एकदेश अतीन्द्रिय सुख का, मोक्ष में पूर्ण अतीन्द्रिय सुख का पूर्ण विश्वास है। यही उसका

आस्तिक्य गुण है। उसपर शिष्य पूछता है कि प्रत्यक्ष तो एक केवलज्ञान है और उसी में ये बातें झलकती हैं। सम्यग्दृष्टि के तो मतिश्रुत है। उसे इन सब बातों का कैसे प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है तो उत्तर देते हैं कि स्वात्मानुभूति में मतिश्रुत प्रत्यक्ष है। आत्मप्रत्यक्ष होने से तो उसे आत्मा की श्रद्धा है और उससे भिन्न सब पर है इस प्रकार पर की श्रद्धा है। तथा सम्यक्त्व के कारण उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होने से वह प्रत्येक पदार्थ को आगमचक्षु से देखता है। अतः उसे केवली, गणधरवत् सब कुछ का आस्तिक्य है। (श्रीप्रवचनसार गाथा २३४, २३५) यह सम्यग्दृष्टि का आस्तिक्य गुण है।

आगम प्रमाण तथा अगले कथन की भूमिका

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥

सूत्रार्थ - संवेग[१], निर्वेद[२], निन्दा[३], गर्हा[४], उपशम[५], भक्ति[६] वात्सल्य[७] और अनुकम्पा[८] ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं।

भावार्थ (A) - श्री अमृतचन्द्रजी कहते हैं कि यद्यपि आगम में सम्यक्त्व के उपर्युक्त आठ गुण लिखे हैं पर वास्तव में ये चार ही हैं। वह इस प्रकार कि जिसको अस्ति से संवेग कहते हैं उसी को नास्ति से निर्वेद कहते हैं जैसे धर्म के कारण में, धर्म के फल में और धर्मधारी साधर्मियों तथा परमेष्ठियों में अनुराग संवेग है तो अधर्म में, अधर्म के कारण में, अधर्म के फल में, अधर्मियों में इच्छा का अभाव निर्वेद है। इस प्रकार ये दो नाम से एक ही वस्तु है। दूसरी बात यह है कि कोई पूछे कि सम्यक्त्व का लक्षण है तो उत्तर है 'संवेग'। कोई पूछे कि संवेग का लक्षण क्या है अर्थात् संवेग किसे कहते हैं तो उत्तर है अरहंतादि की भक्ति और वात्सल्यता को। अतः यह भक्ति और वात्सल्यता संवेग के लक्षण है और सम्यक्त्व के उपलक्षण हैं। जो लक्षण का लक्षण हो उसे उपलक्षण कहते हैं। अतः भक्ति और वात्सल्यता संवेग के ही पेट में आ जाने से भिन्न वस्तु नहीं रहे। इस प्रकार संवेग, निर्वेद भक्ति और वात्सल्यता चारों संवेग ही हैं।

(B) प्रशम में मानादि कषायें फीके पड़ जाते हैं। अतः फिर सम्यग्दृष्टि के मुख से अपनी प्रशंसा का शब्द नहीं निकलता किन्तु निन्दा गर्हा ही निकलती है। उसकी दृष्टि सामान्य स्वभाव पर है। वह जानता है कि आत्मा का स्वभाव अनन्त चतुष्टय है और मेरी पर्याय में उसका लोप है। उसके लोप का कारण अर्थात् उसकी प्रगटता को इन रागादि कषाय भावों ने रोका हुआ है। ये अत्यन्त हेय, निन्दनीय और घृणामय हैं। बन्ध के करने वाले हैं तथा मेरे सुख को रोके हुए हैं। इसप्रकार अपनी और उन रागादिक की आलोचना निन्दा है तथा उनके त्याग का निरन्तर प्रयत्न अर्थात् निज महिमावन्त स्वरूप के उग्र अवलम्बन द्वारा रागादि तुच्छ वृत्ति रूप न होना गर्हा है। जो रागादिक का त्याग है वही तो प्रशम है। प्रशम अस्ति से है। रागादिक का त्याग नास्ति से है। या यूं कहिये कि प्रशम सम्यक्त्व का लक्षण है तथा निन्दा गर्हा प्रशम का लक्षण होने से सम्यक्त्व का उपलक्षण है। इसप्रकार निन्दा गर्हा प्रशम के पेट में आ जाने से तीनों एक ही हैं। इसप्रकार ये सम्यक्त्व के आठ गुण आगम में कहे जाने पर भी इन्हीं चार के अन्तर्भूत हैं। कुछ विशेष वस्तु नहीं है। सोई कहते हैं -

उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ १२३५ ॥

सूत्रार्थ - उक्त गाथा सूत्र के अर्थ में भी प्रशम-आदि चारों ही कहे गये हैं, अधिक कुछ नहीं क्योंकि यहाँ लक्षण के उपलक्षण हैं।

सम्यक्त्व के उपलक्षण भक्ति, वात्सल्यता

सूत्र १२३६ से १२३९ तक ४

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथास्त्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ १२३६ ॥

सूत्रार्थ - जो उपलक्षण है वह लक्षण का भी लक्षण है। वह इस प्रकार कि जो उत्तर का (लक्षण का) लक्षण है वह आदि-लक्ष्य का उपलक्षण है।

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥ १२३७ ॥

सूत्रार्थ - जैसे सम्यक्त्व भाव का संवेगगुण लक्षण है वह (संवेग गुण) अर्हन्तों की भक्ति अथवा वात्सल्य से उपलक्षित किया जाता है।

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ १२३८ ॥

सूत्रार्थ - उसमें (दर्शन मोह के) उपशम हो जाने से वचन शरीर और मन की उद्धतता न होना भक्ति है। और उन परमेष्ठियों के गुणों का अपने आत्मा में उत्कर्ष करने के लिये उद्यमवान् मन वात्सल्यता है।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात् संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥ १२३९ ॥

सूत्रार्थ - भक्ति या वात्सल्य संवेग के बिना नहीं होते। वह संवेग सम्यग्दर्शन का लक्षण है और ये दोनों सम्यक्त्व के उपलक्षण हैं।

सम्यक्त्व के उपलक्षण गर्हा, निन्दा सूत्र १२४० से १२४४ तक ५
निन्दा १२४० से १२४१ तक

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ १२४० ॥

सूत्रार्थ - दर्शनमोह के उदय के अभाव से प्रसिद्ध प्रशम गुण है उसको प्रगट करने वाला बाह्य रूप से निन्दा और गर्हा है।

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नापेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥ १२४१ ॥

सूत्रार्थ - उस निन्दा गर्हा में निन्दा यह है कि कठिनता से दूर करने योग्य रागादि दुष्ट कर्मों के होने पर पश्चात्तापकर बन्ध होता है जो बन्ध न तो अपेक्षणीय है और न उपेक्षणीय है।

भावार्थ - अपेक्षणीय तो इसलिये नहीं है कि ज्ञानी बन्ध को नहीं चाहता और वह बन्ध का कर्त्ता नहीं है और उपेक्षणीय इसलिये नहीं है कि वह बन्धुवस्तु से है जरूर। पश्चातापकर इसलिये है कि जबतक वह बन्ध रहेगा तबतक जीव स्वाभाविक पूर्ण सुख को न पा सकेगा। कर्मों की शक्ति तथा रागादि दोषों की संतति का ऐसा विचार करना भी निन्दा है।

गर्हा सूत्र १२४२-४३-४४

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ १२४२ ॥

सूत्रार्थ - गर्हा उस रागादि का परित्याग है जो पंचपरमेष्ठी और अपनी आत्मा की साक्षीपूर्वक प्रमाद रहित होकर निश्चय से शक्ति अनुसार कर्म के क्षय के लिये किया जाता है।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।
प्रशमस्य कषायामनुद्रे काविशेषतः ॥ १२४३ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में यह दोनों सम्यक्त्व के उपलक्षण भलेप्रकार कहे गये हैं। क्योंकि प्रशम गुण के समान इन दोनों में कषायों के अनुद्रेक (उपशम-शमन-ढ़ीलेपड़ना) की अपेक्षा से कोई विशेषता नहीं है।

शेषमुक्तं यथाम्नायाज्ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥ १२४४ ॥

सूत्रार्थ - शेष कथन आम्नाय अनुसार परमागम से जानना चाहिये क्योंकि आगम रूपी समुद्र के पार को पाने के लिये मेरे जैसा पुरुष कैसे समर्थ हो सकता है।

भावार्थ - यद्यपि श्रीअमृतचन्द्रजी ने सारे आगम रूपी समुद्र का दोहन करके ऐसा अलौकिक शास्त्र बनाया है। इतना स्पष्टीकरण और है कहाँ ? फिर भी अपनी निन्दा सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। तद्नुसार कहते हैं कि मुझ जैसा व्यक्ति क्या आगम का पार पा सकता है? कुछ नहीं। बतलाईये हमारे गुरुदेव जो साक्षात् छठे-सातवें गुणस्थान के गुरु थे वे तो अपने को यह कहते हैं अब हम जैसे तुच्छ टीकाकार अपने को क्या कहें ? वास्तव में वस्तु स्वभाव केवली गम्य है। छद्मस्थ का ज्ञान तो समुद्र में बिन्दुवत है यह क्षायोपशमिक ज्ञान अत्यन्त हेय है चौथी पुस्तक में कह ही आये हैं।

सम्यग्दर्शन के लक्षणभूत आठ अंगों का निरूपण
सूत्र १२४५ से १५८६ तक ३४२

नलु सद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ १२४५ ॥

शंका – लक्ष्य रूप सम्यग्दर्शन का यह सम्पूर्णतया लक्षण है या कुछ और भी लक्षण है वह आप हमें कहिये ?

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ १२४६ ॥

सूत्रार्थ – सम्यग्दर्शन आठ अंग सहित है यह तीन जगत् में प्रसिद्ध है। लक्षण, गुण, अङ्ग ये एकार्थ वाचक शब्द हैं।

निःशङ्कितं यथानाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥ १२४७ ॥
उपबृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥ १२४८ ॥

सूत्रार्थ - निःशंङ्कित नाम[१], निष्कांक्षित[२], इसके बाद विचिकित्सा रहितपना[३], और दृष्टि की अमूढ़ता[४], उपवृंहणनाम[५], सुस्थितिकरण[६], वात्सल्य[७], और प्रभावना[८], ये आम्नाय के अनुसार सम्यक्त्व के गुण (लक्षण-अंग) हैं।

पाँचवाँ अवान्तर अधिकार

निःशङ्कित अंग का स्वरूप सूत्र १२४९ से १३१४ तक ६६

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्कान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥ १२४९ ॥

सूत्रार्थ - शङ्का, भी, साध्वस, भीति, भय से सब एक नाम वाचक हैं। उस (भय) के निकल जाने से जो भाव उत्पन्न होता है, वह वास्तव में निशङ्कित अंग है।

अर्थवाशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥ १२५० ॥

सूत्रार्थ – इसका यह भी अभिप्राय है कि इस गुण के कारण सूत्र (जिनागम) में बुद्धिमानों को (सम्यग्दृष्टियों को) शङ्का नहीं होती क्योंकि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ उनके आस्तिक्य गोचर हो जाते हैं।

भावार्थ – पहले कह आये हैं कि सम्यग्दृष्टि प्रत्येक पदार्थ को आगम चक्षु से देखते हैं और आगम चक्षु से देखने वालों को यह सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञानवत् आस्तिक्य गोचर हो जाते हैं निशङ्कित अंग की दो परिभाषाएं हो गई। एक तो भय का न होना दूसरे आगम में किसी प्रकार का संदेह न होना। अब सूक्ष्मादि पदार्थ किनको कहते हैं यह बताते हैं।

तत्र धर्मादय सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः ।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥ १२५१ ॥

सूत्रार्थ – उनमें धर्म-आदिक सूक्ष्म है तथा कालाणु और पुद्गल परमाणु सूक्ष्म हैं। इनके सूक्ष्मपना है क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा लिङ्ग का (लक्षण का) अदर्शन है (जानने में नहीं आता है)।

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥ १२५२ ॥

सूत्रार्थ – अन्तरित पदार्थ ये हैं जैसे द्वीप, समुद्र, पर्वत इत्यादिक दूरार्थ पदार्थ यह है – भविष्यत और भूतकाल में होने वाले राम, रावण, चक्रवर्ती इत्यादिक।

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात् सतः ॥ १२५३ ॥

सूत्रार्थ – मिथ्यादृष्टि के इनका ज्ञान कभी भी संशय रहित नहीं होता। वास्तव में संशय का प्रथम कारण दर्शन, के उदय का सद्भाव है।

न चाशङ्क्य परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसम्भवात् ॥ १२५४ ॥

सूत्रार्थ - ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि वे परोक्ष हैं। सम्यग्दृष्टि के गोचर कैसे हो सकते हैं क्योंकि उनके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष की भी असंभवता है।

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ १२५५ ॥

सूत्रार्थ - वहाँ महापुरुषों के सम्यक्त्व का महान् महात्म्य है कि इसके जगत् का ज्ञान आस्तिक्यपूर्वक होता है।

नासम्भवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तिवत् ॥ १२५६ ॥

सूत्रार्थ - यह असंभव नहीं है क्योंकि स्वभाव तर्क के अगोचर है। यह सब अनिर्वचनीय अतिशय है। योगियों की योगशक्ति के समान (क्योंकि सम्यग्दृष्टि सब कुछ आगम चक्षु से देखता है)।

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ १२५७ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दृष्टि आत्मा के आत्मा को जाननेवाला ज्ञान है जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, शुद्ध और सिद्ध पद के समान है।

यत्रानुभूयमानेऽपि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥ १२५८ ॥

सूत्रार्थ - यद्यपि बालक से लेकर बड़े तक सब के द्वारा आत्मा अनुभव करने योग्य होने पर भी, मिथ्यात्व कर्म के उदय में जुड़ने से वास्तव में जीवों के अनुभूति नहीं है।

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ १२५९ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के वस्तु में स्वाद भेद है किन्तु वहाँ वस्तु में वास्तविक भेद नहीं है क्योंकि वस्तुसीमा का उल्लंघन नहीं होता है।

भावार्थ - जैसे इस समय एक सम्यग्दृष्टि मनुष्य पर्याय में है और एक मिथ्यादृष्टि मनुष्य पर्याय में है। सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञान के महात्म्य के कारण पर्याय को गौण करके सामान्य का वेदन करता है। मिथ्यादृष्टि भेदविज्ञान के अभाव के कारण सामान्य स्वरूप से अपरिचित है। विशेष को (पर्याय को) ही पूर्ण वस्तु समझकर "बस इतना ही मैं हूँ" ऐसा वेदन करता है। यद्यपि वस्तु दोनों की एक जैसी है पर स्वाद में भेद है। सामान्य का वेदन अतीन्द्रिय सुख रूप है। क्योंकि पर्याय नाशवान् है इसलिये पर्याय का वेदन भय युक्त है दुःखरूप है। इस विषय का विवेचन चौथी पुस्तक में हो चुका है।

तत्र तात्पर्यमेवैतत् तत्त्वैकत्त्वेऽपि यो भ्रमः ।
शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सा तु मिथ्योपजीविनी ॥ १२६० ॥

सूत्रार्थ - उसमें यह ही तात्पर्य है कि तत्त्व के एक होने पर भी जो भ्रम है वह शङ्का का अपराध है और वह शङ्का तो मिथ्यात्व के साथ होने वाली है।

शङ्का

ननु शंकाकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।
सा शंकापि न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ १२३१ ॥

सूत्रार्थ - जो जीवों के मिथ्या अनुभव है वह शंकाकृत दोष है। मिथ्यात्व से अविनाभावी वह शंका भी किस न्याय से है ?

समाधान सूत्र १२६२ से १२६५ तक ४

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः ।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥ १२६२ ॥

सूत्रार्थ - इसका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टि है वह सात भयों से युक्त है। जो सम्यग्दृष्टि है वह सात भयों से जरा छुआ भी नहीं है।

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी ।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ १२६३ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में परवस्तु में आत्मीय बुद्धि के बिना भय कैसे हो सकता है ? भय पर्यायमूढ़ों के होता है, एक आत्म तत्त्व (सामान्य के अनुभव करने वालों के नहीं।

ततो भीत्यानुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः ॥ १२६४ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये भय (के सद्भाव का अनुमान जिनागम से किया जाता है और वह भय स्वानुभव के विनाश का अवश्य कारण है।

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः ।
स्वस्थस्य स्वाधिकारत्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥ १२६५ ॥

सूत्रार्थ - यह सिद्ध है कि पराधीन (पर वस्तु के आधीन) जीव-पर को ही स्व मानने वाला जीव भयवान् और स्वात्मानुभव से रहित होता है। स्वस्थ (स्व में स्थित) के स्व में अधिकार होने से (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सहित होने से) निश्चय से भय की असंभवता है (क्योंकि पर संयोग नाशवान् है। सामान्य अमर है)।

शङ्का सूत्र १२६६ से १२६७ तक २

ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसम्भवात् ॥ १२६६ ॥

शंका - किसी-किसी उस सम्यग्दृष्टि के भी चारों संज्ञायें हैं क्योंकि उन संज्ञाओं का, व्युच्छिति गुणस्थान से पहले अस्तित्व पाया जाता है।

भावार्थ - शङ्काकार द्रव्यानुयोग में करणानुयोग की बात पूछता है, वह कहता है कि भय प्रकृति की व्युच्छति तो आठवें गुणस्थान में होती है और आप उसे चौथे में ही निर्भय मानते हो यह कैसे हो सकता है ? ऐसा उसका कहना है। इसका समाधान यह है कि करणानुयोग का कथन केवलज्ञान के आधार पर है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वक राग तक को पकड़ता है। द्रव्यानुयोग का कथन अपने ज्ञान गम्य है। जैसे वेद भाव को व्युच्छति तो नववें गुणस्थान में है पर मुनि छठे में ही पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। उनके जो सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वक वेद का भाव रहता है। उसी की अपेक्षा नौवें में व्युच्छति है। इसप्रकार यहाँ श्रद्धा संबंधी-अनन्तानुबंधी संबंधी-दर्शनमोह सम्बन्धी भय की बात थी। शङ्काकार ने चारित्र संबंधी भय और अबुद्धिपूर्वक भय की अपेक्षा कह दिया है। चारित्र संबंधी भय तो ज्ञानियों को भी होता है पर उसका यहाँ प्रकरण नहीं है। अब उस चारित्रसंबंधी भय के आधार पर वह अगले सूत्र में कहता है कि उसके भय प्रत्यक्ष देखा जाता है और उस भय का उपाय करता भी वह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥ १२६७ ॥

शंका चालू - इसलिये सम्यग्दृष्टि भी सब प्रकार से भय रहित कैसे हैं ? और वह तो अनिष्ट पदार्थ के संयोग से प्रयत्नवान् भी प्रत्यक्ष देखा जाता है।

समाधान सूत्र १२६८ से १२७१ तक ४

सत्यं भीकोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥ १२६८ ॥

सूत्रार्थ - ठीक है, वह भयसहित होकर भी निर्भय है क्योंकि उसके उनके स्वामीपना-आदि का अभाव है जैसे

आँख रूपी द्रव्य को देखता हुआ भी नहीं देखता है अर्थात् श्रद्धा सम्बन्धी भय को ही वास्तव में भय कहते हैं और वह उसके नहीं है। अब अनिष्ट पदार्थ के संयोग से प्रयत्नवान् का उत्तर देते हैं।

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ १२६९ ॥

सूत्रार्थ - संसारी जीवों के जो कर्मांश उदय अवस्था को प्राप्त होते हैं, उसमें मोह, राग, द्वेष करता हुआ उस कर्म के फल से उपयुक्त होता है। (प्रवचनसार गाथा ४३)।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंको न्यायदर्शनात् ।
देशतोऽप्यत्र मूर्च्छायाः शंकाहेतोरसंभवात् ॥ १२७० ॥

सूत्रार्थ - इसी कारण से ज्ञानी निःशंक है। उसमें यह न्याय है कि इसके शंका का कारण एक देश भी मूर्च्छा नहीं पाई जाती है।

सम्यग्दृष्टि के सात भयों से बंध नहीं इसकी भूमिका

स्वात्मसञ्चेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥ १२७१ ॥

सूत्रार्थ - उस (सम्यग्दृष्टि) के स्वात्म संचेतन कैसा है यह विचार किया जाता है जिसके द्वारा कर्म को करता हुआ भी कर्म से युक्त नहीं होता है।

सात भयों का वर्णन सूत्र १२७२ से १३१४ तक ४३

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी ॥ १२७२ ॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ १२७३ ॥

सूत्रार्थ - उनमें (१) इस लोक में भय, (२) परलोक में भय (३) वेदना भय (४) अरक्षा भय (५) अगुप्ति भय (६) मृत्यु भय (७) आकस्मिक भय - से सात भय माने गये हैं और क्रम से उद्देश्य (कथन करने योग्य) हैं।

इस लोक का भय सूत्र १२७४ से १२८३ तक १०

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो मा भून्मा भून्मेऽनिष्टसंगमः ॥ १२७४ ॥

सूत्रार्थ - उनमें इस लोक से भय यह है कि इस जन्म में ऐसा विलाप करना कि मेरे इष्ट पदार्थ नाश न होवे और मेरे अनिष्ट का संयोग न होवे।

स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्मा भूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवादृगात्मनः ॥ १२७५ ॥

सूत्रार्थ - यह धन ठहरेगा या नहीं। दैव से दरिद्रता न हो जावे। इत्यादिरूप से मानसिक व्यथारूपी चिता मिथ्यादृष्टी आत्मा के जलाने के लिये सदैव जलती रहती है।

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥ १२७६ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में अज्ञानी के भय होता है। ज्ञानी के कहीं पर भी भय नहीं है क्योंकि निम्न हेतु से इन दोनों में महान् विशेषता (अन्तर) है।

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥ १२७७ ॥

सूत्रार्थ -अज्ञानी द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म स्वरूप जो कुछ है, इस सबको मोह से अद्वैतवाद की तरह मानता है अर्थात् इनको आत्मा ही मानता है।

विश्वाद्भिन्नोऽपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा ।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ १२७८ ॥

सूत्रार्थ – आत्महत्या करने वाला (मिथ्यादृष्टि जीव) विश्व (सब पदार्थों) से भिन्न होता हुआ भी अपनी आत्मा को विश्वरूप करता हुआ, लोक में विश्वमय होकर कभी भी भय को नहीं छोड़ता है।

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात् ।
नित्यबुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥ १२७९ ॥

सूत्रार्थ – तात्पर्य यही है कि कर्म के उदय से होने के कारण सब प्रकार से अनित्य शरीर-आदि में नित्य बुद्धि से भ्रान्त वह (मिथ्यादृष्टि) भय को प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव ।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥ १२८० ॥

सूत्रार्थ – सम्यग्दृष्टि सदा अपने को एकरूप प्राप्त करता हुआ जो कुछ भी कर्म है उससे रहित होने से शुद्ध चिन्मय रूप को प्राप्त होता है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि की अपनेपने की दृष्टि सामान्य स्वरूप पर जमी हुई है जो अजर-अमर सदा एकरूप अविनाशी है और भेदविज्ञान के कारण शेष सब पर को वह स्वभाव से ही कर्मकृत संयोगी नाशवान् वस्तु मानता है। होते हुए भी न होते के समान ही हर समय मानता है। अतः उसे हर समय अतीन्द्रिय सुख का ही अनुभव होता है। भय का नहीं। इस सब प्रकरण में भय की नास्ति सामान्यसंवेदन समझना।

शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति सः ॥ १२८१ ॥

सूत्रार्थ – वह शरीर सुख-दुःखादि, पुत्र-पौत्र आदि को अनित्य और आत्मस्वरूप से भिन्न जानता है क्योंकि वे कर्मों के कार्य हैं।

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योऽस्ति सोऽर्थतः ।
नापरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥ १२८२ ॥

सूत्रार्थ – यह जो चेतनामयी लोक है, वह मेरा लोक है और वह लोक वास्तव में निश्चय से नित्य है। आत्मा से भिन्न लोक अलौकिक लोक नहीं है (किन्तु लौकिक है) इसलये मेरे इस लोक से भय कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥ १२८३ ॥

सूत्रार्थ – अपनी (शुद्ध) आत्मा का संचेतन करने से इस प्रकार ज्ञानी एक ज्ञान में तल्लीन होने के कारण से इस लोक भय से मुक्त है और इस लोक भय से होने वाले कर्म बन्ध से भी मुक्त है।

भावार्थ – ज्ञानी सदा सामान्य स्वरूप का संचेतन करने वाला है। अतः उसके भय जनित बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

परलोक भय का निरूपण सूत्र १२८४ से १२९१ तक ८

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥ १२८४ ॥

सूत्रार्थ – पर भव में भावी पर्याय रूप अंश को धारण करने वाला आत्मा परलोक है और उस परलोक से जो कम्पने के समान भय होता है वह परलोक से भय है।

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥ १२८५ ॥

सूत्रार्थ – अच्छा हो जो स्वर्ग लोक में जन्म हो, मेरा जन्म दुर्गती में न हो, इत्यादि प्रकार से व्याकुल मन पारलौकिक भय है।

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥ १२८६ ॥

सूत्रार्थ - मिथ्यादृष्टि के ही वह परलोकभय होता है क्योंकि इस में केवल एक मिथ्यात्व भाव ही कारण है। उस (मिथ्यादृष्टि) के विपक्षभूत सम्यग्दृष्टि के वह परलोकभय नहीं होता है क्योंकि उस (सम्यग्दृष्टि) में मिथ्यात्व भाव का अभाव हो गया है।

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥ १२८७ ॥

सूत्रार्थ - बाहर में ही आत्मदृष्टि रखने वाला (अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म को ही आत्मा समझने वाला), अपनी आत्मा को नहीं जानने वाला, केवल एक मिथ्यात्वभूमि में रहने वाला, अज्ञानी अपने को कर्म और कर्मफलस्वरूप प्राप्त (अनुभव) करता है।

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥ १२८८ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये नित्य भ्रान्तिमान की तरह भय से व्याप्त रहता है क्योंकि खोटी बुद्धि वाला मनुष्य (मिथ्यादृष्टि) मृगतृष्णा (रेत) में जल-समूह मानता है (देखिये श्रीसमयसार गाथा ४ की टीका) अर्थात् इन्द्रिय सुखों में सुख मानता है जो रेत में जल के माननेवत् है।

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥ १२८९ ॥

सूत्रार्थ - किन्तु अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) तो निर्भीक है क्योंकि निर्भयपद आश्रित है क्योंकि इस परलोक भय में भी भय की कारण भ्रान्ति की अवश्य ही असंभवता है।

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद् द्रवत्यधीः ॥ १२९० ॥

सूत्रार्थ - जो दूसरे पदार्थ में अन्य पदार्थ का दर्शन करता है वही मिथ्या भ्रान्ति है। जैसे अज्ञानी अन्धकार के कारण से रस्सी में सर्प की कल्पना करने से भागता है। उसी प्रकार जो पर को (परलोकरूप पर्याय को) आत्मा मानता है उसी के परलोक भय है। जो स्व को स्व मानते हैं उनके काहे का भय

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥ १२९१ ॥

सूत्रार्थ - जो स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्योति तो (शुद्ध आत्मा को) अपने से अभिन्न जानता है और यह भी जानता है कि इस (परलोक) में वह ज्योति अन्यथा नहीं हो सकती (अर्थात् आत्मा पलट कर कुछ पुद्गल नहीं बन जायेगा) फिर वह किस न्याय से (कैसे) डरेगा।

प्रमाण - यह इस लोकभय तथा परलोक भय से रहितपने का विषय ज्यों का त्यों श्रीसमयसार कलश १५५ का है। वह इस प्रकार -

इहलोक परलोक से निर्भयपना

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन -
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भी कुतो -
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५५ ॥

कलशार्थ - यह चित्स्वरूप लोक ही, भिन्न आत्मा का (पर से भिन्न रूप परिणमित होते हुए आत्मा का) शाश्वत् एक और सकल व्यक्त (सर्वकाल में प्रगट) लोक हैं; क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है - अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, उससे भिन्न दूसरा कोई लोक - यह लोक या

परलोक तेरा नहीं है, ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, इसलिये ज्ञानी को इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का (अपने ज्ञान स्वभाव का) सदा अनुभव करता है।

भावार्थ - 'इस भव में जीवन पर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं' ? ऐसी चिन्ता रहना इह लोक का भय है। 'पर भव में मेरा क्या होगा' ? ऐसी चिन्ता का रहना परलोक का भय है। ज्ञानी जानता है कि - यह चैतन्य ही मेरा एक, नित्य लोक है, जोकि सदाकाल प्रगट है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है। यह मेरा चैतन्य स्वरूप लोक किसी के बिगाड़े नहीं बिगड़ता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी के इहलोक का अथवा परलोक का भय कहाँ से हो ? कभी नहीं हो सकता, वह तो अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है।

वेदना भय सूत्र १२९२ से १२९८ तक ७

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ १२९२ ॥

सूत्रार्थ - शरीर में (दूषित-वात-वित्त-कफ) मलों के प्रकोप होने से आने वाली बाधा वेदना है। वेदना के आने से पहले ही कांपना अथवा वेदना को आने पर शरीर के मोह से रोना-पीटना वेदना भय है।

उल्लाघोऽहं भविष्यामि मा भून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा महुर्मुहु ॥ १२९३ ॥

सूत्रार्थ - मैं निरोगी (स्वस्थ) हो जाऊं, मेरे कभी भी वेदना नहीं होवे, इस प्रकार की मूर्च्छा ही वेदना भय है अथवा बार-बार रोग का चिन्तवन करना वेदना भय है।

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥ १२९४ ॥

सूत्रार्थ - निश्चय से वह वेदना मिथ्यादृष्टि के होती है क्योंकि उसमें केवल एक दृष्टि दोष (मिथ्या श्रद्धा) ही कारण है। उसके नीरोगी (रोग रहित स्वभाव वाले) आत्मा का अज्ञान है। वह वेदना भय ज्ञानी के कभी नहीं होता।

पुद्गलादिभिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनम् ॥ १२९५ ॥

सूत्रार्थ - पुद्गल से भिन्न चैतन्य स्वरूप मेरे व्याधि नहीं फिर किस कारण से भय हो सकता है। सम्पूर्ण व्याधि शरीर के होती है, अमूर्त आत्मा के नहीं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का विचार है।

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥ १२९६ ॥

सूत्रार्थ - जैसे प्रज्वलित अग्नि झोंपड़ी को जलाती है, उस (झोंपड़ी) के आकार रूप आकाश को नहीं जलाती है ऐसा देखा जाता है। इसी प्रकार व्याधि शरीर को जलाती है। उसके आकार रूप आत्मा को नहीं।

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोऽस्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥ १२९७ ॥

सूत्रार्थ - वर्तमान और भावि स्पर्शन-आदिक इन्द्रियों के विषयों में जिसका आदर नहीं है वह वास्तव में वेदनाभय से निर्भीक है।

भावार्थ - शरीर में वेदना तो कभी-कभी होती है। जीव को सबसे बड़ी वेदना तो विषय अभिलाषा है और वह सम्यग्दृष्टि के नहीं है। अतः वह वेदना भय से मुक्त है।

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धोऽनादरो मनाक् ।
वाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥ १२९८ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दृष्टि के व्याधि के स्थानभूत उन इन्द्रिय विषयों में अत्यन्त अनादर असिद्ध नहीं है क्योंकि स्वभाव से बाधा के कारण उन विषयों के, रोग से, कोई विशेषता नहीं है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि के विषयों में अनादर है इसमें यह युक्ति दी है कि सम्यग्दृष्टि जानता है कि जैसी शरीर में रोग की बाधा ऐसी ही यह विषयों की अभिलाषा की बाधा; दोनों एक बराबर हैं। अतः वह विषयों को रोगवत् ही जानता है।

प्रमाण - यह वेदना भय से रहितपने का विषय ज्यों का त्यों कलश १५६ का है। वह इस प्रकार है :-

वेदना से निर्भयपना

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते,
निर्भेदोदितवेद्यवेदकवलादेकं सदानाकुलैः
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५६ ॥

कलशार्थ - अभेद स्वरूप वर्तते हुए वेद्य-वेदक के बल से (वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं, ऐसी वस्तुस्थिति के बल से) एक अचल ज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषों के द्वारा (ज्ञानियों के द्वारा) सदा वेदन में आता है, वह एक ही वेदना (ज्ञान वेदन) ज्ञानियों के है। (आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है)। ज्ञानी के दूसरी कोई आगत (पुद्गल से उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं इसलिये उसे वेदना का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशङ्क वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ - सुख-दुःख को भोगना वेदना है। ज्ञानी के अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूप का ही उपभोग है। वह पुद्गल से होने वाली वेदना को वेदना ही नहीं समझता, इसलिये ज्ञानी के वेदना भय नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुआ ज्ञान का अनुभव करता है।

अत्राण (अरक्षा) भय सूत्र १२९९ से १३०३ तक ५

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।
नाशात्प्रागंशिनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥ १२९९ ॥

सूत्रार्थ - (बौद्धों के) क्षणिक एकान्त पक्ष में प्रति समय नाश होने वाले चित्त-क्षण आदि की तरह, (पर्याय के) नाश से पहले आत्मा रूप अंशों के नाश की रक्षा करने के लिये असमर्थता अत्राण (अरक्षा) भय कहलाता है।

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोऽन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ १३०० ॥

सूत्रार्थ - अंश (पर्याय) के नाश से पहले अन्वय से अंशी (द्रव्य) के नाश का भ्रम अत्राणभय है। वह निश्चय से केवल एक मिथ्या हेतुक होने से मिथ्यादृष्टि के ही होता है।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोऽस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ १३०१ ॥

सूत्रार्थ - पर्याय के नाश होने पर भी अन्वय रूप रहने से (बना रहने से) सत् शरण है। उस शरणभूत सत् को नहीं स्वीकार करने वाले के समान वह अज्ञानी अत्राण (अरक्षा) भय से त्रस्त (भयभीत) होता है।

सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ॥ १३०२ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दृष्टि तो अपने चेतनात्मक अंशों से प्रतिसमय चिदात्मा के नाश होने पर भी अर्थात् इस अपेक्षा से (पर्यायार्थिक नय से) आत्मा का नाश मानता हुआ भी अत्राणभय से निडर है (क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से तो —।

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नात्राणमशतोऽप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः ॥ १३०३ ॥

सूत्रार्थ - द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से भी वस्तु थोड़ी भी अरक्षित नहीं है। इसलिये महात्मा (सम्यग्दृष्टि) के वह अत्राणभय कैसे हो सकता है ?

सार - सार यह है कि पर्याय दृष्टि वाले मिथ्यादृष्टि के अरक्षाभय अवश्यंभावी है क्योंकि पर्याय तो नाशवान् है। उसकी रक्षा हो ही नहीं सकती और वह रक्षा करना चाहता है। सम्यग्दृष्टि के अरक्षा भय नहीं है क्योंकि उसकी सामान्य दृष्टि है। सामान्यस्वभाव स्वतः रक्षित है। उसका कभी नाश ही नहीं। मिथ्यादृष्टि पर्याय के नाश से सर्वस्व अपना मूल से ही नाश मानता है। उसकी दृष्टि में द्रव्य, पर्याय जितना ही है।

प्रमाण - यह अत्राण भय कलश नं. १५७ का है जो इस प्रकार है -

अरक्षा से निर्भयपना

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति -
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातुं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५७ ॥

कलशार्थ - जो सत् है वह नष्ट नहीं होता ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूप से प्रगट है। यह ज्ञान भी स्वमेव सत् (सत् स्वरूप वस्तु) है (इसलिये नाश को प्राप्त नहीं होता), इसलिये पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा ? इस प्रकार (ज्ञान निज से ही रक्षित है इसलिये) उसका किंचित् मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता, इसलिये (ऐसा जानने वाले) ज्ञानी को अरक्षा का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ - सत्ता स्वरूप वस्तु का कभी नाश नहीं होता। ज्ञान भी स्वयंसत्ता स्वरूप वस्तु है; इसलिये वह ऐसा नहीं है जिसकी दूसरों के द्वारा रक्षा की जाये; तो रहे, अन्यथा नष्ट हो जाय। ज्ञानी ऐसा जानता है, इसलये उसे अरक्षा का भय नहीं होता, वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

अगुप्ति भय सूत्र १३०४ से १३०६ तक ३

दृङ्मोहस्योदयाद् बुद्धिः यस्य चैकान्तवादिनी ।
तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ १३०४ ॥

सूत्रार्थ - दर्शनमोह के उदय में जुड़ने से जिसकी बुद्धि एकान्तवाद के अनुसार श्रद्धान रखने वाली है, उसके ही अगुप्ति भय होता है। निश्चय से दूसरे (सम्यग्दृष्टि) के कभी भी नहीं होता है।

असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ १३०५ ॥

सूत्रार्थ - असत् पदार्थ के जन्म को और सत् पदार्थ के नाश को मानने वाले देहधारी के (मिथ्यादृष्टि के) अगुप्तिभय से छुटकारा चाहते हुए के भी उस अगुप्ति भय से छूटने का क्या अवकाश ?

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसम्भवात् ॥ १३०६ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दृष्टि तो निश्चय से वस्तु के स्वरूप को सदैव गुप्त मानता हुआ अगुप्ति भय से निर्भीक होता है क्योंकि उसके भय के कारण की असंभवता है।

भावार्थ - सामान्य स्वभाव त्रिकाल गुप्त है। उसका कभी नाश नहीं। अतः सम्यग्दृष्टि अगुप्ति भय से रहित है और पर्याय तो प्रगट अगुप्त है। अतः मिथ्यादृष्टि को यह भय बना ही रहता है।

प्रमाण - यह अगुप्ति भय कलश नं. १५८ का है। जो इस प्रकार हैः-

अगुप्ति से निर्भयपना

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य- ।
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ॥
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५८ ॥

कलशार्थ - वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही (निजरूप ही) वस्तु की परम 'गुप्ति' है, क्योंकि स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; और अकृतज्ञान (जो किसी के द्वारा नहीं किया गया ऐसा स्वाभाविक ज्ञान) पुरुष का अर्थात्

आत्मा का स्वरूप है; (इसलिये ज्ञान आत्मा की परम गुप्ति है) । इसलिये आत्मा की किंचित् मात्र भी अगुप्तता न होने से ज्ञानी को अगुप्ति का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ – 'गुप्ति' अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके ऐसा किला, भौंरा (तलघर) इत्यादि; उसमें प्राणी निर्भयता से निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहने वाले प्राणी को अगुप्तता के कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि – वस्तु के निज स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता इसलिये वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परम गुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है। पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञान स्वरूप में रहा हुआ आत्मा गुप्त है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी को अगुप्तता का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।

मृत्यु (मरण) भय सूत्र १३०७ से १३१० तक ४

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रयं मनः ।
निःश्वासोच्छ् वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ १३०७ ॥

सूत्रार्थ – मृत्यु प्राणों के नाश को कहते हैं। प्राण, काय, वचन, इन्द्रिय, मन उच्छ्वासनिःश्वास आयु के दश (प्राण) शब्द का विस्तार है। (अर्थात् प्राणों के दस भेद हैं)।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित् ।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥ १३०८ ॥

सूत्रार्थ – मेरा जीवन बना रहे, मेरा मरण कभी न होवे, अथवा दैव योग से कभी भी मैं (मृत्यु को) प्राप्त न होऊँ इस प्रकार अपने-अपने शरीर के नाश में मानसिक चिन्ता मृत्यु भय है।

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ १३०९ ॥

सूत्रार्थ – निश्चय से तत्त्व को नहीं चाहने वाले मिथ्यादृष्टियों के ही मृत्यु भय नित्य होता है। मात्र एक अन्तस्तत्त्व में वृत्ति रखने वाले ज्ञानियों के वह मरण भय कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ १३१० ॥

सूत्रार्थ – जीव के चेतना प्राण है और वह चेतना निश्चय से आत्मा का जीवन है (आत्मरूप ही है)। वास्तव में मृत्यु (मरण) होता ही नहीं है। इसलिये ऐसा श्रद्धान रखने वाले के वह मृत्यु भय कैसे हो सकता है ?

भावार्थ – सामान्य स्वभाव मात्र चेतनरूप है। वही निश्चय प्राण है। उसका नाश नहीं है। अतः सम्यग्दृष्टि के मरण भय नहीं है। जो पौद्गलिक दस प्राणों से ही आत्मा का जीवन मानता है उसके तो नियम से यह भय होगा ही क्योंकि पुद्गल प्राण तो संयोगी है। उनका वियोग अवश्यंभावी है। अतः मिथ्यादृष्टि को मरणभय बना ही रहता है।

प्रमाण – इस मरण भय का विषय कलश नं. १५९ का है। वह इस प्रकार है :-

मरण से निर्भयपना

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो ।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५९ ॥

कलशार्थ – प्राणों के नाश को (लोग) मरण कहते हैं। निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान है। वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत् होने से उसका कदापि नाश नहीं होता; इसलिये आत्मा का मरण किंचित् मात्र भी नहीं होता। अतः (ऐसा जानने वाले) ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ – इन्द्रियादि प्राणों के नाश होने को लोग सदा मरण कहते हैं। किन्तु परमार्थतः आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण नहीं हैं उसके तो ज्ञान प्राण हैं और ज्ञान अविनाशी – उसका नाश नहीं होता; अतः आत्मा को मरण नहीं है। ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिये उसे मरण का भय नहीं है; वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।

अकस्मात् भय सूत्र १३११ से १३१४ तक ४

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ १३११ ॥

सूत्रार्थ – अकस्मात् उत्पन्न होने वाला महान् भय आकस्मिक भय माना गया है। वह इस प्रकार जैसे बिजली आदि के गिरने से प्राणियों का मरण हो जाता है।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं मा भूद्दौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥ १३१२ ॥

सूत्रार्थ – जैसे स्वस्थपना (अच्छी हालत) बना रहे, मुझे कभी भी दुर-अवस्थापना (बुरी हालत) न होवे, इस प्रकार से व्याकुलित मन से होने वाली मानसिक चिन्ता आकस्मिक भय हैं।

अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ १३१३ ॥

सूत्रार्थ – वास्तव में आकस्मिक भय मिथ्यात्व युक्त जीव के होता है॥ इसके मोक्ष कैसे हो सकती है क्योंकि उस आकस्मिक भय से वह अपने निर्भीक अनुपम पद से (शुद्ध आत्मा से) च्युत हो रहा है।

निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोऽप्यनादिसात् ।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ १३१४ ॥

सूत्रार्थ – जीव मात्र एक निर्भीक पद में स्थित है, अनन्त है और अनादि से है। उस (अनादि अनन्त निर्भीक पद) में (स्थित जीव को) अकस्मात् होने वाला कुछ है ही नहीं। अतः उस निर्भीक पद को चाहने वाले सम्यग्दृष्टि के वह आकस्मिक भय कैसे हो सकता है।

भावार्थ – सामान्य स्वभाव त्रिकाल एक रूप है। उसमें आने-जाने वाला कुछ है ही नहीं। अतः सामान्य दृष्टि वाले सम्यग्दृष्टि के अकस्मात् भय नहीं है। पर्याय दृष्टि वाले को प्रत्येक समय आफत ही आफत है। यह अकस्मात भय है।

प्रमाण – इसमें कलश नं. १६० का विषय है। तथा सातों भय का क्रम वही है जो कलशों का है। निशङ्कित अंग का स्वरूप भी वही है जो अमृतचन्द्रजी ने श्रीसमयसार में अर्थ किया है। अतः यह ग्रन्थ उन्हीं का है। भाव ज्यों का त्यों मिलता है। वह इस प्रकार है –

अकस्मात् से निर्भयपना

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो ।
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १६० ॥

कलशार्थ – यह स्वतः सिद्ध ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है। वह जबतक है तब तक सदा ही वही है, उसमें दूसरे का उदय नहीं है। इसलिये इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान अनुभव करता है।

भावार्थ – 'यदि कुछ अनिर्धारित – अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो' ? ऐसा भय रहना आकस्मिक भय है। ज्ञानी जानता है कि – आत्मा का ज्ञान स्वतः सिद्ध, अनादि, अनन्त, अचल, एक है। उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता; इसलिये उसमें कुछ भी अनिर्धारित कहाँ से होगा, अर्थात् अकस्मात् कहाँ से होगा ? ऐसा जानने वाले ज्ञानी को आकस्मिक भय नहीं होता; वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञान भाव का निरन्तर अनुभव करता है। इस प्रकार ज्ञानी को सात भय नहीं होते।

प्रश्न - अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को भी ज्ञानी कहा है, और उनके भय प्रकृति का उदय होता है तथा उसके निमित्त से उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है। तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे है ?

समाधान - भय प्रकृति के निमित्त से ज्ञानी को भय उत्पन्न होता है और अन्तराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण उस भय की वेदना को सहन न कर सकने से ज्ञानी उस भय का इलाज भी करता है। परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूप के ज्ञान श्रद्धान से च्युत हो जाये और जो भय उत्पन्न होता है वह मोहकर्म की भय प्रकृति नामक प्रकृति का दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्त्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसलिये ज्ञानी के भय नहीं है।

प्रमाण - यहाँ तक निःशंकित अंग का स्वरूप पूरा हुआ। अब कुछ अन्य आगमों के प्रमाण देते हैं -

श्री समयसारजी में कहा है २२८-२२९

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥ २२८ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसलिये निर्भय होते हैं और क्योंकि वे सप्त भयों से रहित होते हैं, इसलिये निःशंक होते हैं (अडोल होते हैं)। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मों के फल के प्रति निरभिलाप होते हैं इसलिये वे कर्म के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं, इसलिये वास्तव में वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ़) निश्चय वाले होने से अत्यन्त निर्भय हैं, ऐसी संभावना की जाती है (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है)।

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २२९ ॥

सूत्रार्थ - जो चेतयिता कर्मबंध सम्बन्धी मोह करने वाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों के द्वारा बंधा हुआ है ऐसा भ्रम करने वाले) मिथ्यात्वादी भावरूप चारों पादों को छेदता है, उसको निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण कर्मबन्ध सम्बन्धी शङ्का करने वाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों से बंधा हुआ है। ऐसा संदेह अथवा भय करने वाले मिथ्यात्वादि भावों का (उसको) अभाव होने से निःशंक है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ - सर्वज्ञों द्वारा वह समस्त जीवादिक पदार्थों का समूह अनेकान्त स्वरूप कहा गया है सो क्या सत्य है या झूठ है? ऐसी शंका कभी नहीं करनी चाहिये। जिनागम में प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक अनेक, इन चार विरोधी धर्मो (युगलों) युक्त कही है। भगवान् जाने ये परस्पर विरोधी धर्म एक वस्तु में रह भी सकते हैं या नहीं, ऐसा विचार नहीं आना निशंकित अंग है अर्थात् वस्तु स्वरूप में किसी प्रकार की शंका न होना निःशंकित अंग है।

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

इदमेवेदृशमेव तत्त्व नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ - तत्त्व यही है और इसी प्रकार है। दूसरा नहीं है और दूसरे प्रकार भी नहीं है। इस प्रकार सच्चे मार्ग में (वस्तु धर्म में) तलवार के पानी के समान निश्चल श्रद्धा होना निशंकित अंग है। भाव उपर्युक्त अनुसार है।

श्रीअमितगतिश्रावकाचार में कहा है

विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना ।
जिनेशिनैते कथिता न वेति यः ॥
करोति शंकां न कदापि मानसे ।
निःशंकितोऽसौ गदितो महामनाः ॥ ७३ ॥

सूत्रार्थ - वीतराग और सब पदार्थों के ज्ञाता जिनेन्द्र देव के ये सब पदार्थ कहे गये हैं। वे हैं या नहीं हैं ? ऐसी शंका को जो कदाचित् मन में नहीं करे वह महान् निःशंकित अंग कहा गया है। भाव यह है कि जिनवचन में वा आत्मस्वरूप में संदेह न होना सो निःशंकित अंग है। ऐसा जानना।

छठा अवान्तर अधिकार

निःकांक्षित अंग सूत्र १३१५ से १३४४ तक ३०

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ १३१५ ॥

सूत्रार्थ – (व्रतादिक) क्रियाओं के करने पर (उनसे) पर भव के लिये भोगों की अभिलाष करना अथवा कर्म में और कर्म के फल में अपनेपने का भाव रखना तथा अन्यदृष्टि की प्रशंसा करना, कांक्षा है।

भावार्थ – अब सम्यग्दृष्टि के निःकांक्षित अंग को बतलाने के लिये पहले कांक्षा का स्वरूप निर्देश करते हैं क्योंकि उस कांक्षा से रहितपना ही निःकांक्षा है (१) मिथ्यादृष्टि जो व्रतादिक क्रियाएं करता है उनके फलस्वरूप स्वर्ग सुख की इच्छा उसके हृदय में रहती है वह इच्छा ही कांक्षा है। सम्यग्दृष्टि को सामान्य का आश्रय है। उसके आश्रय से जितना शुद्ध भाव प्रगट है वह तो मोक्ष का कारण है। साथ में जो शुभ भाव है उसको वह केवल अशुभ से बचने के लिये करता है फिर भी उसमें उसकी उपादेय बुद्धि नहीं है। वह उसका ज्ञाता-दृष्टा है। उसकी इच्छा उस शुभ भाव को तोड़ कर शुद्ध भाव को पूर्ण करने की है किन्तु अभी चारित्र की निर्वलता है तोड़ नहीं सकता है। वह यह भी जानता है कि इस शुभ भाव का फल स्वर्ग का बंध है और उसका फल विषय सुख है पर उस विषय सुख को वह श्रीपंचास्तिकाय सूत्र १७१, १७२ की टीका अनुसार राग के अंगारों में जलना समझता है। चन्दन के वृक्ष पर लगी हुई आग है क्योंकि उस विषय सुख की अविनाभावी तृष्णा की वृद्धि रूप दुःख और रागादिभावों की सेना उसका फल है जो बंध की कारण और संसार बढ़ाने वाली है। अतः वह उस सुख को नहीं चाहता। शरीर और वचन की शुभक्रियाओं को तो वह जानता है कि इनसे पुण्य-पाप या मोक्ष का कुछ सम्बन्ध ही नहीं। यह तो परद्रव्य की स्वतन्त्र क्रिया है जो अपनी योग्यता से होती है। यह सम्यग्दृष्टि का पहला निःकांक्षाभाव है। (२) कर्म के संयोग से जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादि या देव, शास्त्र, गुरु आदि सामग्री का संयोग है यह कर्म का फल है। उसको मिथ्यादृष्टि अपना मानता है यह कर्म और कर्म के फल में अपनेपने का भाव है। यह अपनेपने का भाव ही कांक्षा है। यह कांक्षाभाव मिथ्यादृष्टि के नियम से होता है। सम्यग्दृष्टि को स्वपर का भेदविज्ञान है। उसके वल पर वह केवल सामान्य तत्त्व को उपादेय मानता है। शेष सब कर्मकृत मानता है क्योंकि उसका उसके साथ कार्यकारण सम्बन्ध है। अतः उसे स्वप्न में भी किसी कर्मकृत वस्तु में अपनेपने का भाव नहीं होता यह उसका निःकांक्षा भाव है। (३) मिथ्यादृष्टि को वस्तु स्वरूप का निर्णय न होने से अन्यमती की किसी क्रिया का या अन्य कोई बात की प्रशंसा उसके मुख से निकल पड़ती है। जैसे यह कैसा सुन्दर वक्ता है, उन लोगों में कितनी उदारता है, अपने गुरु की कितनी सेवा करते हैं, कितना दान करते हैं, यहाँ कोई पूछता ही नहीं है। कितना बढ़िया मन्दिर बनाया है, शास्त्र में क्या बढ़िया वैंक पेपर लगाया है। इत्यादि सब कांक्षा भाव है। मिथ्यादृष्टि को सत्-असत् का निर्णय न होने से ऐसा भाव आ ही जाता है। आज विनय मिथ्यात्व का जोर है। सारे जगत् की बुद्धि सब धर्मों के समन्वय की होती जा रही है। यह सब गाढ़ मिथ्यात्व और अनन्त संसार उत्पत्ति का भाव है। जहर व अमृत तीन काल में एक नहीं हो सकते। धर्म और अधर्म का मेल किसी भी अङ्ग से तीन काल में नहीं हो सकता। सत्यमार्ग केवल एक सर्वज्ञ प्रणीत दिगम्बर धर्म है। विना अन्तरंग और बाह्य दिगम्बरत्व के मुक्ति त्रिकाल नहीं। ऐसी सच्ची बात लिखना तो दरकिनार कहने का भी आज किसी को साहस नहीं; किन्तु है यही बात। यह कांक्षा भाव है। मिथ्यादृष्टि को होता ही है। सम्यग्दृष्टि; आत्मा को, पर को, शुद्ध भाव रूप धर्म को, शुभाशुभ जहर को, कर्मजनित संयोग को अनुभव पूर्वक जानता है। उसकी सर्वज्ञभाषित आगमदृष्टि है। कितना भी असाता का उदय आये किन्तु भूलकर भी उसकी मार्ग से श्रद्धा नहीं डिगती यह निःकांक्षित अंग है। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने कहा है। 'तीन काल में एक है परमार्थ को पंथ'। श्रीसमयसारजी में सम्यग्दृष्टि के भाव दिखाते हुए कहा है –

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं ।
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं ।
जानतः स्वमबध्यबोधवपुषंवोधाच्च्यवंते न हि ॥ १५४ ॥

कलशार्थ – जिसके भय से चलायमान होते हुए (खलबलाते हुए) तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं, ऐसा वज्रपात होने पर भी, ये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभावतः निर्भय होने से, समस्त शंका को छोड़कर, स्वयं अपने को (आत्मा

को) जिसका "ज्ञानरूपी शरीर अबध्य है"। ऐसा जानते हुए, ज्ञान से च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करने के लिये मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकित गुण युक्त होते हैं, इसलिये चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदय के समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं। जिसके भय से तीनों लोक के जीव कांप उठते हैं - चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को ज्ञानशरीरी मानता हुआ ज्ञान से चलायमान नहीं होता। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश हो जायेगा, यदि पर्याय का विनाश हो तो ठीक ही है, क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है।

असल में भूल कहाँ होती है। जगत् राज और धर्म का समन्वय करता है। भाई, राज तो परवस्तु को बढ़ाने को कहते हैं और धर्म परवस्तु के आश्रय के त्याग को कहते हैं। यह तो परस्पर आग पानीवत् विरोधी है पर अज्ञानियों को वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञता के कारण ऐसे ही विकल्प आया करते हैं। इससे और आगे बढ़े हुए लोग समाजव्यवस्था और धर्म को एक करते हैं किन्तु यह भी सोलह आने की भूल है। सामाजिक व्यवस्था शरीर के नियम के आधार पर है और धर्म को आत्मा का आधार। इसमें ज़मीन-आसमान का अन्तर है। समाज व्यवस्था तो सबकी भिन्न-भिन्न है तो *क्या दिगम्बर समाज का जीव ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है? नहीं। श्रीरत्नकरण्ड में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि का धारी* चाण्डाल भी देव है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तो नारकी और तिर्यञ्च भी होते हैं। धर्म तो आत्मा का शुद्धभाव है जो सामान्य के आश्रय है। कहाँ तक कहें, सार यही है कि जब तक जीव को आत्मदर्शन नहीं होते, स्वात्मानुभूति नहीं होती तब तक अनेक लोक मूढ़ताओं को धर्म कल्पना करता है। धर्म तो केवल स्वात्मानुभूति है। शेष सब अधर्म है अतः सम्यग्दृष्टि को परमत की प्रशंसारूप कांक्षा भाव कभी नहीं होता। अब क्योंकि मुख्तया भोगों की अभिलाषा को कांक्षा कहते हैं अतः ग्रन्थकार उसकी परीक्षा का चिन्ह बताते हैं जिससे तुरन्त पता चल जाता है कि इस आत्मा में अभी कांक्षा भाव हैं या नहीं ?

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥ १३१६ ॥

सूत्रार्थ - इन्द्रियों के लिये अप्रिय विषयों में जो अत्यन्त उद्वेग होता है वह भोगाभिलाष का चिन्ह है क्योंकि वह अपने इष्ट पदार्थ में अनुराग करने से होता है।

भावार्थ - कोई यह कहे कि हमें तो कांक्षा भाव (भोगाभिलाष भाव) नहीं है तो उसकी परीक्षा बतलाते हैं कि अपने इष्टविषयों के प्रतिकूल विषय में या अपने इष्ट विषय में बाधा डालने वाले पर जो रोष आता है वह इस बात का सूचक है कि अभी इस जीव की इष्ट विषय में रुचि है अन्यथा वह रोष भाव नहीं हो सकता था। अब इसमें युक्ति देते हैं।

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेऽप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ १३१७ ॥

सूत्रार्थ - वह इस प्रकार कि पक्ष में रति भी विपक्ष में अरति के बिना नहीं होती है। अथवा स्वपक्ष में अरति भी उसके विपक्ष में रति के बिना नहीं होती है अर्थात् ऐसा स्वाभाविक नियम है कि एक के प्रति द्वेष उसके विरोधी के प्रति राग का सूचक है और एक के प्रति राग उसके विरोधी के प्रति द्वेष का सूचक है। जैसे -

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते ।
नेच्छेदनुष्णसस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ १३१८ ॥

सूत्रार्थ - जैसे कोई शीत से द्वेष करने वाला उष्णस्पर्श को चाहता है क्योंकि उष्णस्पर्श को चाहने वाला अनुष्ण स्पर्श (ठण्ड) को नहीं चाहता है।

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्यनास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १३१९ ॥

सूत्रार्थ - जिसके कांक्षा भाव है वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है। जिसके वह (कांक्षित भाव) नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है। यह युक्ति, स्वानुभव और आगम से सिद्ध है वह इस प्रकार -

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥ १३२० ॥

सूत्रार्थ – भोगाभिलाष से पर भव में इष्ट पदार्थ का संयोग तो दूर ही रहो किन्तु इससे इस लोक सम्बन्धी सब स्वार्थों की भी सिद्धि नहीं होती है (क्योंकि पदार्थ का संयोग कर्माधीन है। इच्छाधीन नहीं है)।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरंगवत् ॥ १३२१ ॥

सूत्रार्थ – यह (अभिलाष) मात्र एक मिथ्यात्व कर्म के उदय से प्राणी के उन्मत्त पुरुष की तरह व्यर्थ प्रगट होती है जैसे समुद्र में वायु के निमित्त से लहर। (अर्थात् इच्छा का कारण अज्ञानता है)।

शङ्का १३२२ से १३२८ तक ७

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षां बिना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ १३२२ ॥

शंका – कार्य को लक्ष्य किये बिना मन्द भी प्रवृत्त नहीं होता फिर भोग की अभिलाषा के बिना ज्ञानी उस व्रत को कैसे आचरण करे ?

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥ १३२३ ॥

शङ्का चालू – यह भी असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध ही है कि क्रिया का फल केवल बन्ध मात्र है। शुभक्रिया का फल शुभमात्र है और अशुभक्रिया का अशुभफल है।

न चाशंक्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेऽपि विरागवत् ॥ १३२४ ॥

शङ्का चालू – ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिये कि यह क्रिया भी कहीं सम्यग्दर्शन के अतिशय के कारण से सरागी में भी विरागी की तरह अबन्धफला है।

यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतसुम्भवात् ॥ १३२५ ॥

शङ्का चालू – क्योंकि यह बात प्रमाण से भले प्रकार सिद्ध है कि निश्चय से क्रिया बंधफला है क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थानों से पहले-पहले उस बंध का कारण (रागादि) अवश्य पाया जाता है।

सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ १३२६ ॥

शङ्का चालू – सरागी में अथवा वीतरागी में निश्चय से औदयिकी क्रिया अवश्य बन्धफला है क्योंकि मोह, राग, द्वेष में से किसी एक का उदय है।

न च वाच्यं स्यात् सद्दृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः ।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥ १३२७ ॥

शङ्का चालू – ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि कोई सम्यग्दृष्टि बुद्धि के दोष से उस बन्धफल क्रिया को भी अबंधफला जानकर करे।

यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ १३२८ ॥

शङ्का चालू – क्योंकि प्रज्ञा से अविनाभूत सम्यक् विशेषण है। उस प्रज्ञा के अभाव से निश्चय से दर्शन की दिव्यता कैसी ?

शङ्काकार का आशय – शङ्काकार कहता है कि आप कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के पर भव में भोग आकांक्षा नहीं है पर वह व्रत करता हुआ तो प्रत्यक्ष दीखता है और व्रत का फल स्वर्ग है ही। बिना उद्देश्य के तो साधारण व्यक्ति भी कार्य नहीं करता फिर सम्यग्दृष्टि तो महा बुद्धिमान है। वह बिना भोगाभिलाषा के व्रत कैसे पालता है ? यह आप कह नहीं सकते कि क्षीणकषाय जीवों की तरह सरागी सम्यग्दृष्टि को क्रिया से बन्ध नहीं होता क्योंकि दसवें गुणस्थान तक बन्ध तो कहा है। यह भी आप नहीं कह सकते कि सम्यग्दृष्टि उन्हें अबन्धफल वाली जानकर करता है क्योंकि वह तो ज्ञानी है, पदार्थ का स्वरूप जानता है। पदार्थ का स्वरूप जाने बिना सम्यग्दृष्टि ही नहीं हो सकता। इसलिये व्रतक्रिया के पालन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि के भोगभिलाष है। उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के मोह का अभाव होने से इच्छा मात्र का अभाव है। उसकी क्रिया शुभ हो चाहे अशुभ हो सब बिना इच्छा ही होती है।

समाधान

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया ।
शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥ १३२९ ॥

सूत्रार्थ – ऐसा नहीं है क्योंकि यह पहले भले प्रकार सिद्ध कर आये हैं कि क्रिया बिना इच्छा के होती है फिर शुभ क्रिया का और अशुभ क्रिया का क्या अन्तर विशेषता को धारण करने वाला है। अर्थात् शुभ-अशुभ दोनों क्रियायें बिना इच्छा के होती हैं।

अगली भूमिका – इस समाधान से शिष्य की संतुष्टि नहीं हुई वह कहता है कि अनिष्ट क्रियायें तो बिना इच्छा के होती हैं जैसे जीना, मरना, हानि, जरा रोग। पर क्या कहीं व्रतपालन जैसी क्रिया भी बिना इच्छा के होती है। नहीं होती। अतः सम्यग्दृष्टि परभव में भोगाभिलाष से ही व्रत पालता है। उसके उत्तर में उसे समझायेंगे तो तूने सैद्धान्तिक भूल की है। क्रिया मात्र उदय का कार्य हैं। उसमें शुभाशुभ का भेद नहीं है। अर्थात् ऐसा नहीं है कि अशुभ क्रिया तो उदय से हो और शुभ क्रिया पुरुषार्थ से हो। सब उदय का ही कार्य है और दोनों क्रियायें सम्यग्दृष्टि के बिना इच्छा ही होती हैं। पुरुषार्थ तो शुद्ध भाव में है।

शङ्का १३३० से १३३१ तक २

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥ १३३० ॥

शङ्का – जो अनिष्टार्थसंयोगरूपा क्रिया है वह क्रिया तो बिना इच्छा के होती है। जो विशिष्ट इष्टकार्य संयोगरूपा क्रिया है वह बिना इच्छा कैसे हो सकती है।

सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥ १३३१ ॥

शङ्का चालू – शुभ क्रिया व्रतरूप होती है। वास्तव में वह बिना इच्छा के प्रगट नहीं हो सकती है। उस क्रिया के स्वतन्त्र (पुरुषार्थपूर्वक) सिद्ध होने से (सम्यग्दृष्टि के उसका) कर्त्तापना वास्तव में सिद्ध है।

समाधान १३२२ से १३४४ तक १३

नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥ १३३२ ॥

सूत्रार्थ – ऐसा नहीं क्योंकि कर्म के उदय स्वरूप सब कुछ अनिष्ट अर्थ है। इसलिये ज्ञानी जितना भी कर्म और उसका फल है उसको नहीं चाहता है।

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात् ।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत् ॥ १३३३ ॥

सूत्रार्थ – और जो पदार्थपने से कोई इष्ट अर्थ है और कोई अनिष्ट अर्थ है वह सब दृष्टिदोषपने से है, पीला शंख देखने के समान।

भावार्थ – शंख वास्तव में सफेद होता है किन्तु किसी आंख के रोगी को वह पीला दीखता है। इसी प्रकार पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है किन्तु मिथ्यादर्शन के कारण कोई इष्ट कोई अनिष्ट दीखता है।

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् भूतार्थदर्शिनी ।
तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ १३३४ ॥

सूत्रार्थ – दर्शनमोह के नाश होने पर दृष्टि साक्षात् भूतार्थ को देखने वाली होती है। उसके कर्मफल स्वरूप अनिष्ट पदार्थ में अनिष्ट पदार्थपने की बुद्धि होती है।

न चासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १३३५ ॥

सूत्रार्थ – कर्म के और उसके फल के अनिष्टपना असिद्ध नहीं है क्योंकि वह सब प्रकार से दुःख का कारण है। यह युक्ति, स्वानुभव और आगम से सिद्ध है।

अनिष्टफलवत्त्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ १३३६ ॥

सूत्रार्थ – अनिष्ट फल वाली होने से व्रत क्रिया अनिष्टार्था है। जैसे दुष्टकार्य के अनुकूल कारण को 'दुष्ट' कहा जाता है।

अथासिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् ।
ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चासम्भवो यतः ॥ १३३७ ॥*

सूत्रार्थ – और क्रिया के स्वतन्त्रपना असिद्ध है क्योंकि कर्म के फल से होती है क्योंकि कर्मोदय रूप कारण के बिना उसकी असंभवता है।

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ १३३८ ॥*

सूत्रार्थ – सब सरागी और वीतरागी आत्मा की जो कुछ भी क्रिया नाम की है वह सब औदयिकी मानी गई है।

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ १३३९ ॥*

सूत्रार्थ – कर्मोदय के प्रति पुरुष का इच्छानुसार पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि क्रिया केवल पुरुषार्थ की भी अपेक्षा नहीं रखती है किन्तु दैव की अपेक्षा रखती है।

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियां ।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ १३४० ॥

सूत्रार्थ – ज्ञानी औदयिकी क्रिया को करता हुआ भी इच्छा रहित सिद्ध है। विरागियों का इच्छा रहितपने से किया हुवा कार्य राग के लिये नहीं है।

न चाशंक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योऽपि जनः क्वचित् ।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ १३४१ ॥

सूत्रार्थ – और ऐसी आशंका भी न करनी चाहिये कि सामान्य मनुष्य कहीं पर भी सम्यग्दर्शन के अतिशय के बिना किसी अन्य कारण से कांक्षा रहित है।

---

* यहाँ जीव का पुरुषार्थ तो है किन्तु उल्टे पुरुषार्थ को कर्म में डाल दिया है क्योंकि सम्यग्दृष्टि ने उसमें स्वामित्व छोड़ दिया है और नये पुरुषार्थ द्वारा शुद्धभाव को प्रगट कर दिया है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के शुभाशुभ भाव को कर्मकृत कहने की आगम पद्धति है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सम्यग्दृष्टि में बलात् कर्म के उदय से शुभाशुभ भाव होता है। होता है तो स्वयं उसकी पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण। इसमें कहीं भी भूल न हो जाय अन्यथा दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि का दोष आवेगा।

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं बिना ।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ १३४२ ॥

सूत्रार्थ – क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना इच्छा रहितपना नहीं होता है। न्याय से भी उस अतीन्द्रिय सुख को नहीं चाहने वाले के इन्द्रिय जन्य सुख में अनिच्छा नहीं है।

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति ।
दृङ्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ १३४३ ॥

सूत्रार्थ – उस अतीन्द्रिय सुख को मोह से मिथ्यादृष्टि नहीं चाहता है क्योंकि उसके दर्शन मोह की वैसी उदय शक्ति का निरन्तर सद्भाव है।

उक्तो निःकांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
अस्तु का नः क्षति प्राक् चेत् परीक्षा क्षमता मता ॥ १३४४ ॥

सूत्रार्थ – निःकांक्षित भाव कहा गया, जो वास्तव में सम्यग्दर्शन का गुण (अंग) होवे। इसमें हमारी कोई हानि नहीं यदि पहले परीक्षा की जा चुकी हो।

भावार्थ – उपर्युक्त निःकांक्षित भाव स्वात्मानुभूति के साथ ही प्रगट होता है। अतः स्वात्मानुभूति का सद्भाव उसकी परीक्षा है। स्वात्मानुभूति के साथ वह वास्तविक निःकांक्षित भाव है और बिना उसके होता ही नहीं। यदि कोई कहे भी तो आभास मात्र है।

प्रमाण – निःकांक्षित अंग पूरा हुआ। अब कुछ अन्य आगमों के प्रमाण देते हैं –

श्रीसमयसारजी में कहा है

जो दुण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३० ॥

सूत्रार्थ – जो चेतयिता कर्मों के फलों के प्रति तथा सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा नहीं करता है उसका निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयता के कारण, सभी कर्म फलों के प्रति तथा समस्त वस्तु धर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से निष्कांक्ष (निर्वांछक) है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ – इस लोक में ऐश्वर्य सम्पदा पुत्र आदि को और परलोक में चक्रवर्ती नारायण इन्द्र आदि पदों को और एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को भी न चाहे। अर्थात् इन्द्रिय भोगों की इच्छा न करना तथा वस्तु को सर्वथा अस्ति या सर्वथा नास्ति, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य, सर्वथा तत् या सर्वथा अतत्, सर्वथा एक या सर्वथा अनेक, इस प्रकार एकान्त दोष युक्त मानने वाले अन्य विपरीत धर्मो को भी न चाहना निःकांक्षित अंग है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुण्य के फल स्वरूप इन्द्रिय विषयों को आकुलता के निमित्त से दुःख रूप ही जानकर नहीं चाहता है और अन्य धर्मों में वस्तु स्वरूप की विपरीतता होने से उन्हें भी नहीं चाहता है।

श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ – कर्म का है परवश जिसमें, अन्तसहित, दुःखों से मिला हुवा है उदय जिसका, पाप के बीजभूत ऐसे विषय सुख में इच्छा का न होना निःकांक्षित अंग माना गया है (विषयसुख के दोषों का दिग्दर्शन श्रीप्रवचनसार गा. ७६ में अच्छा कराया है और ग्रन्थराज श्रीपंचाध्यायी की चौथी पुस्तक में आ चुका है)।

श्रीअमितगतिश्रावकाचार में कहा है

विधीयमानाः शमशीलसंयमाः
श्रियं ममेमे वितरंतु चिंतिताम् ।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं
निःकांक्षितो नेति करोति कांक्षणाम् ॥ ७४ ॥

सूत्रार्थ - ये उपशम शील संयम हैं। करे भये संसारिक अनेक सुखनिकी बढ़ाने वाली लक्ष्मीकौं मेरे विस्तारहु ऐसी वांछा, निःकांक्षित पुरुष है सो न करै है। अर्थात् कर्म के फल की वांछा त्यागिये सो निःकांक्षित अंग जानना।

सातवां अवान्तर अधिकार

निर्विचिकित्स अंग सूत्र १३४५ से १३५५ तक ११

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः ।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ १३४५ ॥

सूत्रार्थ - अब जो निर्विचिकित्स नाम का गुण है वह भले प्रकार लक्षित किया जाता है। जो युक्ति वश से भी सम्यग्दर्शन गुण का महान् गुण (अंग) है।

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात् ।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता मता ॥ १३४६ ॥

सूत्रार्थ - अपने में अपने गुणों के उत्कर्ष को दिखाने की बुद्धि से अपनी आत्मा की प्रशंसा करने से दूसरे में गुणों के अपकर्ष को दिखाने की बुद्धि विचिकित्सा मानी गई है।

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ १३४७ ॥

सूत्रार्थ - विचिकित्सा से जो रहितपना है वह निर्विचिकित्सक कहा गया है। वह सम्यग्दर्शन का महान गुण है। उसका लक्षण कहूंगा वह इस प्रकार है:-

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे ।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ १३४८ ॥

सूत्रार्थ - खोटे भाग्य से तीव्र असाता से घृणा के स्थान दुःखित पुरुष में जो घृणातत्पर चित्त का नहीं होना है वह निर्विचिकित्सक गुण माना गया है।

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ १३४९ ॥

सूत्रार्थ - उस (निर्विचिकित्सक अंग वाले सम्यग्दृष्टि) के मन में यह अज्ञान नहीं है कि मैं सम्पंत्तियों का स्थान हूँ और वह दीन गरीब मेरे समान नहीं है, किन्तु विपत्तियों का स्थान है।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्म विपाकजाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ १३५० ॥

सूत्रार्थ - उलटा उस (निर्विचिकित्सक गुण वाले सम्यग्दृष्टि) में यह ही ज्ञान है कि कर्म के उदय से उत्पन्न त्रस और स्थावर योनिवाले सब प्राणी बराबर हैं।

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥ १३५१ ॥

सूत्रार्थ - जैसे शूद्री के पेट से दो बच्चे उत्पन्न हुए। वे दोनों ही बच्चे भ्रान्ति रहित शुद्र है। भ्रमात्मकपने से भेद किया जाता है।

प्रमाण - (श्रीसमयसार कलश नं. १०१)।

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम् ।
अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥ १३५२ ॥

सूत्रार्थ - जल में काई की तरह प्रगट जीव में जो कुछ अपवित्र कर्म है, मैं और वे सब जीव सामान्य रूप से निश्चय से कर्मो से मलीन है।

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः ।
यतो अवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥ १३५३ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दर्शन का वह निर्विचिकित्सक गुण है क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर वह अवश्य होता है और उसके अतिरिक्त कहीं पर भी नहीं होता है।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।
सद्विशेषेऽपि समोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥ १३५४ ॥

सूत्रार्थ - कर्म के उदय से होनेवाली पर्याय मात्र में राग करने वाले के वह गुण कैसे हो सकता है। सत् भिन्न-भिन्न होने पर भी गाढ़ मोह से उन दोनों में ऐक्य समझता है।

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥ १३५५ ॥

सूत्रार्थ - इस प्रकार जो युक्ति पूर्वक कहा गया है वह सम्यग्दर्शन का गुण है। वह यदि न कहा जाय तो दोष के लिये नहीं है और कहा जाये तो सम्यग्दर्शन में किसी प्रकार की विशेषता को लाने के लिये भी कारण नहीं है।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन का और इन गुणों का अविनाभाव संबंध है। सम्यग्दृष्टि में यह गुण स्वतः स्वभाव से उत्पन्न होता ही है। इसलिये कहो तो कोई लाभ नहीं और न कहो तो कोई हानि नहीं पर यह होता अवश्य है।

सार - विचिकित्सा ग्लानि को कहते हैं और निर्विचिकित्सा ग्लानि रहितपने को कहते हैं। मिथ्यादृष्टियों की संयोगी दृष्टि है। वे दैवयोग से अपने में इष्टसंयोगों की बहुलता होने पर और दूसरे में अनिष्टसंयोगों की बहुलता होने पर और दूसरे में अनिष्टयोगों की बहुलता होने पर उससे घृणा करते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि तो जानता है कि कर्मरहित वस्तु तो सामान्य आत्मा है। वह सबकी एक बराबर है। उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह कर्मकृत वस्तु है। हेय है। कम हुई तो क्या अधिक हुई तो क्या। अतः उसे दूसरे के प्रति घृणा का भाव नहीं आता।

प्रमाण - अब इस अंग के कुछ आगम प्रमाण देते हैंः-

श्रीसमयसार में कहा है

जो ण करेद जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३१ ॥

सूत्रार्थ - जो चेतयिता सभी धर्मों (वस्तु के स्वभावों) के प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता उसको निश्चय से निर्विचिकित्स (विचिकित्सा दोष से रहित) सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयता के कारण, सभी वस्तु धर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से, निर्विचिकित्स (जुगुप्सारहित-ग्लानिरहित) है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ - भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि नाना प्रकार के भावों में और विष्टा आदिक पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिये। पाप के उदय से दुःखदायक भावों का संयोग होने पर उद्वेग रूप न होना क्योंकि उदयाधीन कार्य अपने बस का नहीं तथा विष्टादि पदार्थों में ग्लानि न करना क्योंकि उस वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है।

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ - स्वभाव से अपवित्र किन्तु रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर से ग्लानि नहीं करना किन्तु उनके गुणों से प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग माना गया है।

श्री अमितगतिश्रावकाचार में कहा है

तपस्विनां यस्तनुमस्तसंस्कृतिं
जिनेन्द्रधर्मं सुतरां सुदुष्करम् ।
निरीक्षमाणो न तनोति निंदनं
स भण्यते धन्यतमोऽचिकित्सकः ॥ ७५ ॥

सूत्रार्थ - जो तपस्विन के मलिन शरीर कूं देख तथा अति कठिन जिनेन्द्र भाषित धर्म कौं देखि निन्दा को नाहीं विस्तारे है सो जीव विकित्सारहित अतिशयकर धन्य कहिये है। अर्थात् तपस्विन के मलिनशरीर कूं देखकैं तथा अनशनादि घोर तप देख करि ग्लानि नहीं करणीं सो निर्विचिकित्सा नाम सम्यक्त्व का अंग जानना।

आठवाँ अवान्तर अधिकार

अमूढ़दृष्टि अंग सूत्र १३५६ से १५४२ तक १८७

अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥ १३५६ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दर्शन से सुशोभित अमूढ़दृष्टि वह है जिससे आत्मा रूपी शरीर के शोभायमान होने पर यह सम्यग्दर्शन जीव में शोभायमान होता है।

तत्त्व अमूढ़ता सूत्र १३५७ से १३६० तक ४

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥ १३५७ ॥

सूत्रार्थ - अतत्त्व में तत्त्व श्रद्धान को मूढ़दृष्टि कहते हैं क्योंकि यह उसका अपना लक्षण है। वह मूढ़दृष्टि जिस जीव के नहीं है वह जीव अमूढ़दृष्टि कहा गया है। जिसके अतत्त्व में तत्त्व श्रद्धान नहीं है वह अमूढ़दृष्टि है।

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैः मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः ॥ १३५८ ॥

सूत्रार्थ - झूठे हेतु और झूठे दृष्टान्तों के द्वारा जो झूठा पदार्थ अन्यमतियों के द्वारा साधा जाता है वह (झूठा पदार्थ) भी उस सम्यग्दृष्टि में मोह उत्पन्न करने के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि उसके दर्शन मोह के उदय का अभाव है।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः स मुह्यते किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥ १३५९ ॥

सूत्रार्थ - सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ के मिथ्यादृष्टियों के द्वारा दिखलाये जाने पर भी थोड़े श्रुत का जानने वाला वह सम्यग्दृष्टि भी मोहित नहीं होता, यदि बहुत श्रुत का जानने वाला हो तो कहना ही क्या ? अर्थात् वह तो मोहित हो ही नहीं सकता।

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेन मूढता ।
स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥ १३६० ॥

सूत्रार्थ - उन सूक्ष्मादि अर्थाभास में भी जब यथार्थ में सम्यग्दृष्टि के मूढ़ता नहीं होती तो फिर स्थूल, पार्श्ववर्ती और वर्तमान मिथ्या पदार्थ में इसके भ्रम किस कारण से हो सकता है। नहीं हो सकता।

लोकमूढ़ता सूत्र १३६१ से १३६२ तक २

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथानिष्टफलप्रदा ॥ १३६१ ॥

सूत्रार्थ - वह इस प्रकार अनेक विकल्प रूप से लौकिकी रूढ़ि है जो निस्सार पुरुषों द्वारा आश्रित है तथा अनिष्ट फल को देने वाली है।

अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ १३६२ ॥

सूत्रार्थ - फलरहित, खोटे फलवाली, हेतुरहित, सम्बन्धरहित लौकिकी रूढ़ि किन्हीं के द्वारा खोटे कर्म के उदय में कठिनता से छोड़ने योग्य है।

देवमूढ़ता सूत्र १३६३ से १३६७ तक ५

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह ।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता ॥ १३६३ ॥

सूत्रार्थ - इस लोक में जो अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि अगुरु में गुरु बुद्धि है, वह देवादिमूढ़ता कही गई है।

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः ।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ १३६४ ॥

सूत्रार्थ - खोटी बुद्धि वाला (मिथ्यादृष्टि) इस लोक सम्बन्धी कल्याण के लिये खोटे देवों के आराधन को करता है। झूठा लोक-उपचार होने से लोकमूढ़ता अकल्याणकारी है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह ।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥ १३६५ ॥

सूत्रार्थ - इस लोक में किन्हीं-किन्हीं को लोक मूढ़ता के वश से ऐसा श्रद्धान है कि भले प्रकार आराधन की गई अम्बिका देवी निश्चय से धन-धान्य को देने वाली है।

अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः ।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥ १३६६ ॥

सूत्रार्थ - अन्य भी खोटी बुद्धि वाले जीव बुद्धि के दोष के कारण (अज्ञानता से) दोषयुक्त देवों को भी निर्दोष देवों की तरह अपनी-अपनी इच्छानुसार मानते हैं।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसंगादपि संगतः ।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥ १३६७ ॥

सूत्रार्थ - प्रसंगानुसार सुसंगत होते हुए भी उन कुदेवों का कथन नहीं कहा गया है। बुद्धिमान पुरुष व्यर्थ ग्रन्थ के विस्तार को नहीं करते।

धर्म मूढ़ता

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः ।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥ १३६८ ॥

सूत्रार्थ - कुदेवों का जितना भी आराधन उद्यम है; वह अधर्म है। उनके द्वारा बताये हुए धर्मों के विषय में वचन, काय, मन की जो-जो चेष्टा है वह सब अधर्म है।

गुरु मूढ़ता सूत्र १३६९ से १३७० तक २

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ १३६९ ॥

सूत्रार्थ - कुगुरु खोटे आचरण वाला, शल्यसहित, परिग्रह सहित होता है क्योंकि सम्यक्त्व से और व्रत से भी युक्त ही सद्गुरु होता है।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोऽतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥ १३७० ॥

सूत्रार्थ - यहाँ नाम-मात्र भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि सब प्रकार से बहुत विस्तार है। यहाँ आगे कही गई विधि उपादेय है और नहीं कही हुई वह ही विधि उपादेय नहीं है।

भावार्थ - श्री अमृतचन्द्र जी को सदा अस्ति से ही लिखने का शौक है। कहते हैं कि यदि हम चाहें तो यहाँ प्रकरणवश सब खोटे देवों, गुरुओं और धर्मों का सविस्तार वर्णन कर सकते हैं पर हम देव गुरु धर्म की अस्तिविधि बतला देते हैं। उसके अतिरिक्त किसी को भी देव, गुरु, धर्म मानना मूढ़ता है। और सम्यग्दृष्टि केवल आगे बतलाए जाने वाली अस्ति विधि को ही मानता है अतः वह अमूढ़दृष्टि अंग का धारी है।

देव का सामान्य स्वरूप सूत्र १३७१ से १३७४ तक ४

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं कर्म तत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ १३७१ ॥

सूत्रार्थ - दोष रागादि का सद्भाव और वह आवरण कर्म है। जहाँ (जिस जीव में) उन दोनों का रागादिभाव का और ज्ञानावरणादि आवरण (कर्म का) सम्पूर्णतया अभाव है, वह देव कहा जाता है।

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ १३७२ ॥

सूत्रार्थ - इस (देव) में केवल ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य इस प्रकार प्रसिद्ध अनन्तचतुष्टय है।

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्थाविशेषतः ।
संख्येया नामसंदर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ १३७३ ॥

सूत्रार्थ - वह देव सामान्य से एक प्रकार का है। अवस्था विशेष से दो प्रकार का है। नाम रचना से संख्यात प्रकार का है। गुणों से अनन्त प्रकार का है।

एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः ।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद् द्विधा मतः ॥ १३७४ ॥

सूत्रार्थ - द्रव्यार्थिक नय से वह देव एक प्रकार है जो शुद्ध आत्मा की पूर्ण प्राप्ति से सिद्ध हो चुका है। (अर्थात् जिसको स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति हो चुकी है)। वही देव अरहन्त और सिद्ध पर्यायार्थिक नय से दो प्रकार माना गया है।

अरहन्त देव का सामान्य स्वरूप

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः ।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ १३७५ ॥

सूत्रार्थ - जो दिव्य औदारिक शरीर में स्थित है, धो दिये हैं घातिया चार कर्म जिसने, ज्ञान दर्शन वीर्य सौख्य का स्थान है, वह अरहन्त है। यह धर्म का उपदेशक है।

श्रीनियमसारजी में कहा है

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइ परमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥ ७१ ॥

सूत्रार्थ - घनघातिकर्म रहित[१], केवलज्ञानादि परम गुणों सहित[२] और चौंतीस अतिशय संयुक्त[३]; - ऐसे अरहन्त होते हैं।

श्रीद्रव्यसंग्रहजी में कहा है

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ - नष्ट कर दिये हैं चार घातिया कर्म जिसने[१], शुभ देह में स्थित[२], शुद्ध[३], दर्शन-सुख-ज्ञान-वीर्यमय[४], आत्मा अरहन्त ध्यान करने योग्य है।

सिद्ध देव का सामान्य स्वरूप

मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः ।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥ १३७६ ॥

सूत्रार्थ - जो मूर्तिक शरीर से रहित है, सब पदार्थों का युगपत् जानने देखने वाला है, लोक के अग्रभाग में ठहरा हुआ है, ज्ञानादि-आठ गुणयुक्त है, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित है, वह सिद्ध नाम का देव है।

श्रीनियमसार जी में कहा है

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥ ७२ ॥

सूत्रार्थ - आठ कर्मों के बन्ध को जिसने नष्ट कर दिया है ऐसा[१] आठ महा गुण सहित[२], परम[३], लोक के अग्र भाग में स्थित[४], और नित्य[५]; - ऐसे वे सिद्ध होते हैं।

श्रीद्रव्यसंग्रह जी में कहा है

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोएसिहरत्थो ॥ ५१ ॥

सूत्रार्थ - नाश कर दिये हैं आठ कर्म और शरीर को जिसने[१], लोक-अलोक के ज्ञाता-द्रष्टा[२], पुरुषाकार[३], लोक के शिखर में स्थित[४], आत्मा सिद्ध ध्याओ।

अरहन्त देव का विशेष स्वरूप सूत्र १३७७ से १३८४ तक ८

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् ।
महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽपि सुखावहात् ॥ १३७७ ॥

सूत्रार्थ - 'अर्हत्' है क्योंकि जगत पूज्य है; जिन है क्योंकि कर्म रूपी शत्रुओं को नाश कर दिया है; महादेव है क्योंकि देवाधिदेव हैं, शङ्कर है क्योंकि सुख का स्थान है।

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथंचन ।
ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥ १३७८ ॥

सूत्रार्थ - 'विष्णु' है क्योंकि ज्ञान से किसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों के विस्ताररूप है। ब्रह्मा है क्योंकि आत्मा के स्वरूप जानने वाला है। हरि है क्योंकि दुःखों के दूर करने वाला है।

इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥ १३७९ ॥

सूत्रार्थ - इत्यादि अनेक नाम वाला होने पर भी अनेक नहीं है क्योंकि उसका निजलक्षण एक ही है। वह अनन्तगुणात्मक एक द्रव्य है यह सिद्ध साधन है।

चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता ।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥ १३८० ॥

सूत्रार्थ - (अनादिकाल से) चौबीस इत्यादि अन्त पर्यन्त (भावि अनन्त काल तक) अनन्तता है (संख्या में अनन्त देव होते हैं) किन्तु वह बहुत्व दोष के लिये नहीं है क्योंकि (उन सबमें) देवपना एक प्रकार का है।

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥ १३८१ ॥

सूत्रार्थ - प्रदीपों का अनेकपना दीपकपने की हानि के लिये नहीं है। क्योंकि यहाँ एक प्रकारता है। नानाप्रकारता नहीं है।

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनन्तधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ १३८२ ॥

सूत्रार्थ - न्यायानुसार एक-एक गुण की मुख्यता से देव का एक-एक नाम भिन्न-भिन्न हो जायेगा इसलिये यथासंख्य रीति से नामों की अपेक्षा से भी तो देव अनन्त प्रकार होना चाहिये - ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि -

नामतो सर्वतो मुख्यसंख्यातस्यैव सम्भवात् ।
अधिकस्य ततो वाचाऽव्यवहारस्य दर्शनात् ॥ १३८३ ॥

सूत्रार्थ - क्योंकि शब्द की अपेक्षा को विषय करने वाले नाम की अपेक्षा से अधिक से अधिक उत्कृष्ट संख्यात तक ही नाम हो सकते हैं। उस उत्कृष्ट संख्यात से अधिक शब्द की अपेक्षा से कभी भी प्रतिपादन नहीं देखा जाता है।

वृद्धै प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गवाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥ १३८४ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये वृद्ध आचार्यों के द्वारा सूत्र में यह कहा गया है कि तत्त्व वचनातीत है। और जो द्वादशांग तथा अङ्गबाह्य श्रुत रूप है वह तो स्थूल पदार्थ को विषय करने वाला है।

सिद्ध देव का विशेष स्वरूप १३८५ से १३८६ तक २

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥ १३८५ ॥

सूत्रार्थ - (सिद्ध में) सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से ज्ञान है, क्षायिक दर्शन है और अतीन्द्रिय सुख है। आत्म से उत्पन्न (अनन्त) वीर्य है इस प्रकार अनन्त चतुष्टय है।

सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अप्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्ट गुणाः स्मृताः ॥ १३८६ ॥

सूत्रार्थ - और सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्यावाधगुण, अगुरुलघुत्व, सिद्ध में ये आठ गुण स्वतः माने गये हैं।

देव का उपसंहार

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यः कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥ १३८७ ॥

सूत्रार्थ - इत्यादि अनन्त गुणों का स्थान, आठ कर्मो से रहित (सिद्ध देव है) और अठारह दोषों से रहित (अरहन्त) देव है। यह देव सेवन करने योग्य है। दूसरा नहीं।

गुरु का सामान्य स्वरूप सूत्र १३८८ से १४१२ तक २५

अर्थाद् गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः ।
भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥ १३८८ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में गुरु वह (अरहन्त) ही है क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेशक है। और वही भगवान है क्योंकि साक्षात् मोक्ष के मार्ग का नेता है।

भावार्थ - अरहन्त भगवान को परमगुरु कहते हैं और शेष छठे से बारहवें गुणस्थान के छद्मस्थ जीवों को (अर्थात् आचार्य उपाध्याय साधुओं को) अपर गुरु कहते हैं। गुरु में सम्यक्त्व, चारित्र तथा बाह्य अभ्यन्तर दिगम्बरत्व अवश्य चाहिये। उसके बिना गुरु नहीं होता। गुरु में उपदेश की मुख्यता होती है क्योंकि जो अपने कल्याण में निमित्त पड़े उसे गुरु कहते हैं सो ग्रन्थकार कहते हैं कि अरहन्त भगवान तो साक्षात् दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देकर जीव का हित करते हैं। नेता को भी गुरु कहते हैं सो वे तो साक्षात् मोक्षमार्ग के नेता हैं।

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः ।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ॥ १३८९ ॥

सूत्रार्थ - उन (अरहन्तों) से पहले भी उस (अरहन्त) रूप के धारण करने वाले छद्मस्थरूप गुरु हैं गुरु के न्याय से। अन्य गुरु नहीं हैं क्योंकि वे भिन्न प्रकार की अवस्था को धारण करने वाले हैं (बाह्य अभ्यन्तर दिगम्बरत्व को धारण करने वाले अरहन्त के रूप के धारी कहलाते हैं। अतः वे भी गुरु हैं। यही उनके गुरुपने में युक्ति है। अन्य भेषधारी गुरु नहीं हो सकता)।

अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् ।
शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ १३९० ॥

सूत्रार्थ - यहाँ (इस गुरुपने में) अवस्था विशेष (कारण) है जो युक्ति-स्वानुभव और आगम से सिद्ध है। शेष संसारी जीवों से उनके ही अतिशयपना पाया जाता है (गुरुपने में कारण छठे, सातवें से होने वाला आत्मानुभव और वीतराग विज्ञानता है। अतः उनके समस्त संसारियों से विशेषता है। श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय सूत्र १६ में उसकी अलौकिकी कहा है)।

भाविनैगमनयायत्तो भूर्णुस्सद्वानिवेष्यते ।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात् ॥ १३९१ ॥

सूत्रार्थ - भाविनैगमनय के आधीन, आगे होने वाला, हुए के समान कहा जाता है और यह ठीक ही है क्योंकि भाव से व्याप्ति का सद्भाव पाया जाने से साधन सिद्ध है अर्थात् छठे से बारहवें के जीव नियम से अरहन्त होंगे। अतः उन्हें भावि नैगम नय से अभी भी गुरु कहने में कोई दोष नहीं है। न्याय संगत ही है। पर छठे से नीचे के जीव में अरहन्तरूपता न होने से गुरु कहने में दोष है।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥ १३९२ ॥

सूत्रार्थ - मिथ्यात्व कर्म की उपशान्ति (अनुदय) से उनमें सम्यग्दर्शन है। और चारित्र मोहनीय के नाश से एक देश रूप में सम्यक् चारित्र है इससे स्पष्ट है कि द्रव्यलिंगी गुरु नहीं होते तथा छठे से नीचे के सम्यग्दृष्टि भी गुरु नहीं होते।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् ।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥ १३९३ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये (उन गुरुओं में) निश्चय करके स्वभाव से और हेतु देखे जाने से शुद्धपना सिद्ध है क्योंकि मोह कर्म के उदय का अभाव होने से उसके कार्य (रागादि भाव) की भी असंभवता है। छठे से जितना राग का अभाव है उससे यहाँ आशय है। अब उस गुरुपने का कारण बतलाते हैं।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा ।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ १३९४ ॥

सूत्रार्थ - वह शुद्धपना सुप्रसिद्ध है और वास्तव में निर्जरा का कारण है। संवर का भी कारण है और क्रम से मोक्ष भी देने वाला है।

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः ।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ १३९५ ॥

सूत्रार्थ - अथवा वास्तव में वह शुद्धपना ही स्वयं निर्जरादि त्रय-रूप (संवर-निर्जरा-मोक्ष) है क्योंकि शुद्ध भावों में अविनाभावी द्रव्य नामा (आत्मा) उन तीन रूप है।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः ।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥ १३९६ ॥

सूत्रार्थ - चैतन्य आत्मा का जो शुद्ध भाव है वह निर्जरादि का कारण है। वह ही परम पूज्य है। उस शुद्धभाव से युक्त आत्मा परम गुरु है।

प्रमाण - उपर्युक्त तीन सूत्रों का भाव श्रीप्रवचनसारजी के इस सूत्र से लिया गया है -

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ २७४ ॥

सूत्रार्थ - शुद्ध के (शुद्धोपयोगी के) श्रामण्य कहा है, शुद्ध के दर्शन और ज्ञान कहा है, शुद्ध के निर्वाण होता है, उसी प्रकार शुद्ध ही सिद्ध होता है, उसके लिये नमस्कार है।

न्यायाद् गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः ।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ १३९७ ॥

सूत्रार्थ - न्याय से गुरुत्वपने में कारण केवल दोषों का क्षय हो जाना है क्योंकि जो निर्दोष है वह जगत का साक्षी है और वह ही मोक्ष मार्ग का नेता है दूसरा नहीं (दोषयुक्त नहीं) (जब तक जीव छठे गुणस्थान से नीचे है तब तक इतना वीतरागी नहीं होता जितना वीतरागता की कि गुरुपने के लिये आवश्यकता है। सब में मध्यस्थ भाव का धारी ही गुरु हो सकता है)।

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ १३९८ ॥

सूत्रार्थ – मुनि की यह छद्मस्थता भी गुरुपने की हानि के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि रागादि-अशुद्ध भावों का कारण केवल वह एक मोह कर्म ही है।

शंका

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वैकृतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ १३९९ ॥

शंका – आवरण द्वय कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) और वीर्य को नाश करने वाला कर्म (वीर्यान्तराय कर्म) वहाँ (उन गुरुवों में) भी अवश्य है। फिर यहाँ शुद्धपना वास्तव में किस हेतु से है ?

भावार्थ – शिष्य तेरहवें गुणस्थान की शुद्धता को ही शुद्धता मानता है और उसी शुद्धता को गुरुत्व में कारण मानता है। छद्मस्थों में गुरुत्व नहीं मानता।

समाधान सूत्र १४०० से १४०४ तक ५

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ १४०० ॥

सूत्रार्थ – ठीक है किन्तु इतनी विशेषता है कि उक्त तीनों कर्मो का बंध, सत्त्व, उदय, क्षय, मोह, कर्म से अविनाभूत है।

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात् ।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥ १४०१ ॥

सूत्रार्थ – वह इस प्रकार है कि – इस (मोह कर्म) के बंध होने पर उस (ज्ञानावरणादि) का बंध होता है क्योंकि इनका बन्धन मोह के बन्ध के आधीन है। उस मोह के सत्त्व पर इनका सत्त्व है, इसके उदय पर उनका उदय है, और इसके क्षय पर उनका क्षय है अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा वीर्यान्तराय, मोहनीय से हर प्रकार से अविनाभूत हैं।

नोह्य छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः ।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ १४०२ ॥

सूत्रार्थ – ऐसा विचार नहीं करना चाहिये कि छद्मस्थ अवस्था में ज्ञानावरणादि क्षय होने से पहले ही उस मोह कर्म का क्षय होता है किन्तु मोह कर्म का अंश रूप से क्षय होने पर ज्ञानावरणादि का भी अंश रूप से क्षय होता है। और मोह कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने से ज्ञानावरणादि का भी सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥ १४०३ ॥

सूत्रार्थ – सम्यग्दृष्टि के ज्ञानावरणादिक सम्पूर्ण कर्मो का निर्जरा रूप तत्त्व असिद्ध नहीं है क्योंकि दर्शन, मोह के उदय का अभाव होने तक वह निर्जरा तत्त्व भी क्रम से (उत्तर-उत्तर) असंख्यात् गुणा माना गया है।

ततः कर्मत्रय प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ १४०४ ॥

सूत्रार्थ – इसलिये यद्यपि अब (इस अवस्था में – छद्मस्थ वीतराग गुरुओं में) ऊपर कहे हुए ज्ञानावरणादिक तीनों ही कर्मो का सद्भाव पाया जाता है तथापि राग, द्वेष और मोह के अभाव से गुरुपना माना ही जाता है।

भावार्थ – समाधान का सार यह है कि गुरुत्वपने के लिये जितने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की आवश्यकता है उतना क्षयोपशम एकदेश (राग-द्वेष-मोह के अभाव के अविनाभाव कारण से उन के होता ही है।

अथास्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात् त्रिधा गुरुः ।
एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ १४०५ ॥

सूत्रार्थ – अब वह गुरु सामान्यरूप से एक प्रकार का है और सत्विशेष से तीन प्रकार का है जैसे कि एक भी अग्नि तृण की आग, पत्र की आग, तथा लकड़ी की आग, तीन प्रकार की कही जाती है।

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥ १४०६ ॥

सूत्रार्थ – गुरु आचार्य, उपाध्याय, साधु ऐसे तीन प्रकार माना गया है। (तीनों) विशिष्ट पदों में आरूढ़ हैं और तीनों ही मुनि कुंजर (मुनिवर-श्रेष्ठ) मुनि हैं।

एको हेतुः क्रियाऽप्येका वेषश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ १४०७ ॥

सूत्रार्थ – (उन तीनों का) एक हेतु (कर्मों की अवस्था) है, क्रिया भी एक है, और वेष भी एक है, बहिरंग भी एकसा है तथा बारह प्रकार का तप एकसा है और पाँच प्रकार का महाव्रत भी एकसा है।

त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोऽप्येकधा मतः ॥ १४०८ ॥

सूत्रार्थ – तेरह प्रकार का चारित्र एकसा है तथा समता एक प्रकार की है, और मूल तथा उत्तर गुण एकसे हैं, और संयम भी एक प्रकार का माना गया है।

परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥ १४०९ ॥

सूत्रार्थ – तथा परीषह और उपसर्गों का सहन भी एकसा माना गया है। तथा आहारादि की विधि एक है। चर्या, शय्या, आसन इत्यादिक एक से हैं।

मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम् ॥ १४१० ॥

सूत्रार्थ – उन तीनों के मोक्ष का मार्ग अर्थात् आत्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय जो अन्तरंग और बहिरंग में स्थित है, समान है।

ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।
चतुर्धाऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ १४११ ॥

सूत्रार्थ – ध्याता, ध्यान, ध्येय और ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भी समान है। चार प्रकार की आराधना भी बराबर है और क्रोधादि की जयशीलता भी समान है।

किं वात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।
विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ १४१२ ॥

सूत्रार्थ – इस विषय में बहुत कहने से क्या, उनका विशेष (लिखना) अवशिष्ट (बाकी) रहता है। विशेष से बाकी बचा शेष सब न्याय से विशेष रहित (एक जैसा) है। अर्थात् उनमें जो अन्तर है उसका आगे निर्देश कर देते हैं। उस अन्तर के अतिरिक्त शेष सब समानता ही है।

गुरु का सामान्य स्वरूप समाप्त हुआ

आचार्य गुरु का स्वरूप सूत्र १४१३ से १४२६ तक १४

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ १४१३ ॥

सूत्रार्थ – आचार्य अनादि रूढ़ि से और योग से (निरूक्ति-अर्थ से) भी कहा जाता है। जो दूसरों के लिये पंचाचार को आचरण कराता है। वह संयमी (आचार्य) है।

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ १४१४ ॥

सूत्रार्थ – और जो व्रत के खण्ड होने पर फिर से उस व्रत में जुड़ने को चाहने वाले साधु के उसका पुनः आदेश देने से प्रायश्चित को देता है। वह आचार्य है।

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ १४१५ ॥

सूत्रार्थ - आदेश के उपदेशों से जो विशेष है वह भेद रखने वाला है। आदेश में तो 'गुरु के दिये हुए व्रत को ग्रहण करता हूँ' यह विधि है परन्तु उपदेशों में यह विधि नहीं है।

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ १४१६ ॥

सूत्रार्थ - (आचार्यों के समान) वह आदेश करना व्रतधारी गृहस्थों के भी निषिद्ध नहीं है क्योंकि दीक्षा आचार्य के द्वारा दी हुई दीक्षा के समान ही वह क्रिया है।

स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात् ॥ १४१७ ॥

सूत्रार्थ - वह (आदेश) आम्नाय के अनुसार अव्रतियों के थोड़ा भी निषिद्ध है। और किसी भी कारण से हिंसक उपदेश भी उपयुक्त नहीं है।

मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम् ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ १४१८ ॥

सूत्रार्थ - मुनि व्रत धारियों के अथवा गृहस्थव्रतधारियों के द्वारा वध-आश्रित (हिंसा करने वाला) आदेश और उपदेश नहीं किया जाना चाहिये।

न चाशंक्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥ १४१९ ॥

सूत्रार्थ - ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि यह प्रसिद्ध है कि व्रतधारी मुनियों के द्वारा मूर्तिमान् पदार्थों की सम्पूर्ण शक्तियाँ हाथ की रेखा के समान देख ली गई हैं।

भावार्थ - ऊपर कहा गया है कि व्रती हिंसा का उपदेश नहीं देते। इसपर कोई कहे कि जिस मुनि को अपने दिव्य ज्ञान अवधि या मनःपर्याय या विशिष्ट मति, श्रुत द्वारा यह पता चल जाये कि उस व्यक्ति के ऐसी हिंसक दशा होने वाली है फिर यदि वह उसके बारे में हिंसक उपदेश दे दें तो क्या आपत्ति है ? उसके उत्तर में अगले सूत्र में कहते हैं कि विरागियों का उपदेश रागकारक नहीं हो सकता।

नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं निषेधितः ॥ १४२० ॥

सूत्रार्थ - निश्चय से विरागियों का ऊपर कहा हुआ उपदेश भी राग के लिये नहीं है किन्तु रागियों का उपदेश ही राग के लिये होता है। अतः अवश्य निषेध किया गया है।

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ १४२१ ॥

सूत्रार्थ - निश्चय से सत्पात्र दानों में और अरहन्तों की पूजा में भी न वह आदेश निषिद्ध है और न वह उपदेश निषिद्ध है।

यद्वादेशोपदेशौ द्वौ स्तो निरवद्यकर्मणि ।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ १४२२ ॥

सूत्रार्थ - अथवा वे आदेश और उपदेश दानों ही हिंसा रहित कार्य में ही होते हैं। जहाँ हिंसा का लेश भी है वहाँ आदेश कदापि नहीं है।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥ १४२३ ॥

सूत्रार्थ - आचार्य असंयमी लोगों के साथ संसर्ग, भाषण (बातचीत) और रति (प्रेम व्यवहार) करे ऐसा कोई कहते हैं। (उसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि) न वह आचार्य है और न अरहन्त का अनुयायी (जैन) है।

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ १४२४ ॥

सूत्रार्थ - इस लोक में किन्हीं-किन्हीं के मत से संघ का संपोषक (भले प्रकार पालन करने वाला) आचार्य कहा गया है (उसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि वह ठीक नहीं क्योंकि) इस धर्म के आदेश और उपदेश से अतिरिक्त आचार्य का दूसरा कोई भी उपकार (कर्तव्य) ही नहीं है।

यद्वा मोहात् प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियां ।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥ १४२५ ॥

सूत्रार्थ - अथवा जो मोह से अथवा प्रमाद से लौकिक क्रिया को करे, उतने काल तक वह आचार्य भी नहीं हैं और अन्तरंग में व्रतों से च्युत है।

उक्तव्रततपः शीलसंयमादिधरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥ १४२६ ॥

सूत्रार्थ - उक्त व्रत, तप, शील, संयम आदि को धारण करने वाला आचार्य है। नमस्कार करने योग्य है। वह साक्षात् गुरु है। उससे भिन्न न गुरु है और न आचार्य है।

श्रीनियमसारजी में कहा है

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥ ७३ ॥

सूत्रार्थ - पंचाचारों से परिपूर्ण १, पंचेन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलन करनेवाला २, धीर ३, और गुणगंभीर ४, - ऐसे आचार्य होते हैं।

श्रीद्रव्यसंग्रहजी में कहा है

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आइरिओ मुणी झेओ ॥ ५२ ॥

सूत्रार्थ - दर्शन, ज्ञान प्रधान वीर्याचार, चारित्राचार और श्रेष्ठ तपाचार में अपने को और पर को जोड़ते हैं वे मुनि आचार्य ध्यान करने योग्य हैं।

उपाध्याय गुरु का स्वरूप सूत्र १४२७ से १४३४ तक ८

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ १४२७ ॥

सूत्रार्थ - उपाध्याय शंकाओं का समाधान करने वाला है, वाद-विवाद करने वाला, स्याद्वाद् के जानने वाला, सुवक्ता शब्द शास्त्र (द्वादशांग) सर्वज्ञ, सिद्धान्त और आगमों का पारगामी है।

कविर्व्रत्त्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ १४२८ ॥

सूत्रार्थ - उपाध्याय कवि है क्योंकि वार्तिक पूर्वक सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाला है अर्थ की मधुरता को जानने वाला है, वक्तृत्व के मार्गो का अग्रणी है।

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥ १४२९ ॥

सूत्रार्थ - उपाध्यायपने में शास्त्र का विशेष अभ्यास ही कारण है। जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्यों को भी अध्ययन कराता है वही गुरु (उपाध्याय) है।

शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥ १४३० ॥

सूत्रार्थ - उस (उपाध्याय) में व्रतादिकों की शेष विधि सर्व साधारण है। वह उपाध्याय धर्म-उपदेश को करता है किन्तु आचार्य की तरह किसी भी विषय में आदेश नहीं करता है।

तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरिणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥ १४३१ ॥

सूत्रार्थ - उन आचार्यों के ही आश्रम को, लिंग को, तप को, शुद्ध चारित्र को, और पंचाचार को वह शुद्ध बुद्धि (उपाध्याय) आश्रय करता है।

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥ १४३२ ॥

सूत्रार्थ - उपाध्याय जैसे शास्त्रों में कहे हैं वैसे मूल उत्तर गुणों को भी चिरकाल तक पालन करता है। वह परीषह और उपसर्गों का जीतने वाला और इन्द्रियों को वश में करने वाला होता है।

अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गणाग्रणी ॥ १४३३ ॥

सूत्रार्थ - इस विषय में अधिक विस्तार से बस, जो निश्चय से मुनि का अन्तरंग और बहिरंग शुद्धवेष धारण करने वाला, धीरवीर, निर्ग्रन्थ और गण में अग्रणी है, वह उपाध्याय है।

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः ।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥ १४३४ ॥

सूत्रार्थ - उपाध्याय का भले प्रकार वर्णन किया गया जो अपने लक्षणों से विख्यात है। अब साधु का लक्षण सिद्ध किया जाता है जो आगम से सिद्ध है।

प्रश्न - उपाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो वादित्व (वाद में जीतने की शक्ति), वाग्मित्व (उपदेश देने में कुशलता), कवित्व (कविता करने की शक्ति) गमकत्व (टीका करने की शक्ति) इन चार गुणों में प्रवीण हों और द्वादशांग के पाठी हों। इनमें शास्त्राभ्यास करना, कराना, पढ़ना, पढ़ाना मुख्य है। इसलिये साधुओं के २८ मूलगुणों के सिवाय ११ अंग और १४ पूर्व का पाठीपना इसप्रकार २५ गुण और भी उपाध्याय में होते हैं।

श्रीनियमसारजी में कहा है

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥ ७४ ॥

सूत्रार्थ - रत्नत्रय से संयुक्त[१], जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक[२], और निःकांक्षभाव सहित[३]; - ऐसे उपाध्याय होते हैं।

श्रीद्रव्यसंग्रहजी में कहा है

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥ ५३ ॥

सूत्रार्थ - जो रत्नत्रययुक्त है[१], नित्य धर्मोपदेश देने में रत है[२], यतियों में श्रेष्ठ है[३], वह आत्मा उपाध्याय है, उसके लिये नमस्कार हो।

साधु गुरु का स्वरूप सूत्र १४३५ से १४४२ तक ८

मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम् ।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ १४३५ ॥

सूत्रार्थ - जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-पूर्वक होता है और जो मोक्ष का मार्ग है ऐसे चारित्र को, जो आत्मा की सिद्धि के लिये साधता है वह साधु है। इस प्रकार अन्वर्थ नामधारी है।

नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १४३६ ॥

सूत्रार्थ - यह साधु कुछ नहीं बोलता (वचन निरोध) हाथ-पैर आदि के संकेत से कुछ नहीं दर्शाता अर्थात् (किसी बात का इशारा नहीं करता (काय निरोध) और मन से भी कुछ नहीं चिन्तवन करता (मन निरोध) किन्तु स्व (आत्मा) में स्थित रहता है।

आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिध्नुवानश्च परम् ।
स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरंगाब्धिवन्मुनिः ॥ १४३७ ॥

सूत्रार्थ - और वह साधु केवल शुद्ध आत्मा में लीन रहता है और तरंग रहित समुद्र की तरह जिसका अन्तरंग और बहिरंग वचन-व्यवहार रूक गया है ऐसा है।

नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ १४३८ ॥

सूत्रार्थ - वह साधु स्वर्ग और मोक्षमार्ग का किंचित् भी न तो आदेश और न उपदेश ही करता है तो फिर उस (स्वर्ग और मोक्षमार्ग) से विपरीत मार्ग के (आदेश उपदेश आदि के) बारे में कहना ही क्या । (वह तो करता ही नहीं)।

वैराग्यस्य परांकाष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ १४३९ ॥

सूत्रार्थ - वैराग्य की पराकाष्ठा को (चरम सीमा को) प्राप्त है अधिक प्रभा युक्त है, दिगम्बर है, यथाजातरूप को धारण करने वाला (नग्न) है और दया में तत्पर है।

निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या, तपस्वी स तपोंशुभिः ॥ १४४० ॥

सूत्रार्थ - वह साधु निर्ग्रन्थ है, अन्तरंग और बहिरंग मोह की गांठ को खोलने वाला है यमी है, गुणश्रेणी क्रम से कर्मों की निर्जरा करने वाला है, और तप रूपी, किरणों से तपस्वी है।

परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ १४४१ ॥

सूत्रार्थ - परीषह और उपसर्ग आदि के द्वारा पराजित नहीं होने वाला है, जीत लिया है कामदेव को जिसने ऐसा है, भोजनशुद्धि से पूर्ण शुद्ध है। प्रत्याख्यान (त्याग) में परायण (तत्पर) है।

इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ १४४२ ॥

सूत्रार्थ - इत्यादिक अनेक प्रकार के अनेक अच्छे-अच्छे गुणों से युक्त है। वह महान् साधु मोक्ष की प्राप्ति के लिये विद्वानों (ज्ञानियों) के द्वारा अवश्य नमस्कार करने योग्य है, दूसरा नहीं।

श्रीसमयसार जी में कहा है

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥ ७५ ॥

सूत्रार्थ - व्यापार से विमुक्त (समस्त व्यापार रहित)[१], चतुर्विध आराधना में सदा रत[२], निर्ग्रन्थ[३] और निर्मोह[४]; - ऐसे साधु होते हैं।

श्रीद्रव्यसंग्रहजी में कहा है

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥ ५४ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, नित्यशुद्ध, मोक्ष के मार्गभूत चारित्र को निश्चय से जो साधता है वह मुनि साधु है, उसके लिये नमस्कार हो।

गुरुओं में परस्पर विशेषता सूत्र १४४३ से १४८२ तक ४०

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि ।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ १४४३ ॥

सूत्रार्थ - इस प्रकार महानों के भी महान् मुनित्रय कहे तथापि तरतमरूप से उनमें विशेष (अन्तर) है। वह अन्तर क्रम से इस प्रकार है।

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः ।
न्यायाद्वादेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः ॥ १४४४ ॥

सूत्रार्थ - उन तीनों में आचार्य प्रसिद्ध है और दीक्षा तथा आदेश (आज्ञा) देने में गण (मुनि समूह) में अग्रेसर है। अपनी आत्मा में तत्पर (स्थित) है। यह न्याय से (युक्ति से), आदेश से (आगम से) और अध्यक्ष से (स्वानुभव से) सिद्ध है।

अर्थान्नातत्परोऽप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः ।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ १४४५ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में यह (अपनी आत्मा में) अतत्पर (अस्थित) नहीं है क्योंकि दर्शनमोह के अनुदय का सद्भाव है। उससे (दर्शनमोह के अनुदय से) अविनाभावी शुद्धात्मानुभव स्पष्टतया पाया जाता है।

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः ।
बाह्यार्थात् केवलं न स्यात्क्षतिर्वा च तदक्षतिः ॥ १४४६ ॥

सूत्रार्थ - और उस शुद्ध आत्म अनुभव में चारित्रावरण (चारित्र मोहनीय) कर्म का एक देश रूप से क्षय भी कारण है। केवल बाह्य पदार्थ से उस (शुद्धात्मानुभव) की क्षति अथवा उस (शुद्धात्मानुभव) की अक्षति नहीं होती है।

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥ १४४७ ॥

सूत्रार्थ - उपादान कारण से उस शुद्धात्मानुभव की क्षति अथवा शुद्धात्मानुभव की अक्षति होती है। (जिस समय अपने इस उपादान हेतु से शुद्धात्मानुभव की क्षति व अक्षति होती है) उस समय भी बाह्य वस्तु (दीक्षा-आदेश-उपदेश-आदि) उस शुद्धात्मानुभव की क्षति या अक्षति में कारण नहीं है क्योंकि वह बाह्य वस्तु उस क्षति-अक्षति में अकारण है।

सन्ति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्धका देशघातिनः ।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद् द्वयोः ॥ १४४८ ॥

सूत्रार्थ - संज्वलन कषाय के देशघाति वास्तविक स्पर्द्धक हैं। उनका तीव्र व मन्द विपाक होता है। वही क्रम से क्षति और अक्षति इन दोनों में कारण है।

संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमस्वांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा ॥ १४४९ ॥

सूत्रार्थ - निश्चय से उस शुद्ध आत्मानुभव की क्षति संक्लेश है और उस शुद्ध आत्मानुभव की अक्षति तो विशुद्धि है। वह संक्लेश और विशुद्धि भी अपने तरतम रूप अंशों की अपेक्षा अनेक प्रकार की है। और यह तरतमरूप अंश भी अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा अनेक प्रकार के हैं।

अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ १४५० ॥

सूत्रार्थ - वहाँ (उस शुद्धात्मानुभव में) हेतु (संज्वलन के तीव्र मन्द उदय) के वश से शिथिलता होवे अथवा मत होवे तथापि इतने मात्र से आचार्य आत्मा में अतत्पर सिद्ध नहीं है।

तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ १४५१ ॥

सूत्रार्थ - उस शुद्धात्मानुभव में उन (संज्वलन) के मन्द उदय से विशुद्धि अंश अवश्य है अथवा उनके तीव्र उदय से संक्लेश अंश अवश्य है। उस संक्लेश और विशुद्धि में यह विधि (बहिरंग क्रिया का सद्भाव या असद्भाव कारण) नहीं मानी गई है।

किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोऽथवा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥ १४५२ ॥

सूत्रार्थ - किन्तु दैव से कभी विशुद्धि-अंश अथवा कभी संक्लेश अंश पाया जाता है। उस (कर्म) की विशुद्धि विशुद्धि अंश है और फिर संक्लेश अंश का उदय (प्रगटता) हो जाता है।

तेषां तीव्रोदयस्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोऽपरोऽस्त्यतः ॥ १४५३ ॥

सूत्रार्थ - उन संज्वल कषायों का जो तीव्र उदय है बस इतना मात्र इस शुद्धात्मानुभव में बाधक है। और वही सर्वथा प्रकोप के लिये (आत्म अतत्परता के लिये) कारण है यदि ऐसा कहा जाय तो इससे और कोई बड़ा अपराध नहीं है।

तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ १४५४ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये इतना मात्र हेतु वास्तव में शुद्ध की अनुभव च्युति करने के लिए समर्थ नहीं है। क्योंकि यहाँ (शुद्ध आत्मा के अनुभव से सर्वथा च्युत करने में) अन्य (कर्म) कारण है।

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः ।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥ १४५५ ॥

सूत्रार्थ -शुद्ध आत्मा के ज्ञान में (अनुभव में) कारण मिथ्यात्व कर्म का अनुदय है और उसमें वास्तविक बाधक तो मिथ्यात्व का शान्त न होना (उदय) है। क्योंकि उस मिथ्यात्व का उदय होते ही उस शुद्धात्मानुभव का नाश हो जाता है।

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ १४५६ ॥

सूत्रार्थ - दर्शनमोह के अनुदय होने पर पुरुष के शुद्ध (आत्मा) का अनुभव होता है। (शुद्ध-अनुभव में) कोई भी चारित्रावरण का उदय विघ्न करने वाला नहीं होता।

न चाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः ।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्य कृते च तत् ॥ १४५७ ॥

सूत्रार्थ - इस का आशय यह नहीं है कि चारित्रावरण का उदय अकिंचित्कर है। वह दर्शनमोह का कार्य करने में समर्थ नहीं है और वह अपने कार्य के करने में समर्थ है।

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ १४५८ ॥

सूत्रार्थ - चारित्रमोह का कार्य आत्मा की चारित्र से च्युति है किन्तु आत्मदृष्टि (श्रद्धा) से च्युति नहीं है क्योंकि वह दृष्टि है (अर्थात् दृष्टि (श्रद्धा) गुण; चारित्र गुण से भिन्न है) न्याय से दूसरी आँख की तरह।

भावार्थ - यदि एक आँख से दीखना बन्द हो जाय तो दूसरी से दीखना बन्द नहीं होता इसी प्रकार चारित्रावरण के उदय से चारित्र की च्युति है किन्तु दृष्टि की च्युति नहीं, दृष्टि की च्युति तो दर्शनमोह से है।

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः ।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ १४५९ ॥

सूत्रार्थ - जैसे किसी की दैवयोग से एक आँख बिल्कुल ठीक है। तो दूसरी आँख में दुःख होने पर भी उस आँख की हानि प्रत्यक्ष में नहीं देखी जाती है।

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ १४६० ॥

सूत्रार्थ - जितना कषायों का अनुद्रेक (अनुदय) है। उतना ही वास्तव में चारित्र है। जितना कषायों का अनुद्रेक नहीं है उतनी आत्मा की चारित्र से च्युति है।

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः ।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥ १४६१ ॥

सूत्रार्थ - उनका (चारित्रावरण का) अनुद्रेक या उद्रेक स्वतः होता है। इसलिये दर्शनमोह के उदय के बिना वास्तव में आत्मदृष्टि की क्षति नहीं है।

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ ।
साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ १४६२ ॥

सूत्रार्थ – आचार्य उपाध्याय ये दोनों हेतुपूर्वक समान हैं, साधु हैं, और साधु की तरह आत्मज्ञानी हैं, शुद्ध हैं और शुद्धोपयोगी हैं।

नापि कश्चिद्विशेषोऽस्ति तयोस्तरतमो मिथः ।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ १४६३ ॥

सूत्रार्थ – उन दोनों में (आचार्य उपाध्याय में) तरतम रूप से आपस में कोई विशेष नहीं है। और इन दोनों से साधु का अन्तरुत्कर्ष अतिशयपने से नहीं है।

लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः ।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः ॥ १४६४ ॥

सूत्रार्थ – यदि उनके आपस में लेशमात्र भी विशेष है तो बहिर्वस्तु कृत क्योंकि मूल कारण से (कर्म अनुदय से) होने वाली शुद्धि की समानता होने से बहिरंग क्रिया वा बहिरंग वस्तु से चारित्र की क्या क्षति हो सकती है ?

नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात् ।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ १४६५ ॥

सूत्रार्थ – उन आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में युक्ति, स्वानुभव और आगम से उन संज्वलन कषाय के स्पर्द्धकों का कोई मन्द आदि उदय नियत नहीं है।

प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥ १४६६ ॥

सूत्रार्थ – आचार्य-उपाध्याय-साधु हर एक बहुत हैं क्योंकि जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावों के द्वारा वे एक-एक करके भिन्न-भिन्न हैं।

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः ।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥ १४६७ ॥

सूत्रार्थ – कोई आचार्य निश्चय से किसी समय परम विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ फिर मध्यम अथवा जघन्य विशुद्धि को भी आश्रय करता है।

हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादि हेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ १४६८ ॥

सूत्रार्थ – उस (विशुद्धि के तरतमत्व) में प्रतिसमय नाना अविभाग प्रतिच्छेदों को लिये हुए उदय में आने वाले संज्वलन कषायों के स्पर्धक ही कारण हैं किन्तु वहाँ (आचार्य में) कहीं पर भी बाह्य धर्म आदेश और उपदेश आदि कारण नहीं है।

परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषो विशेषभाक् ॥ १४६९ ॥

सूत्रार्थ – जो उपाध्याय और साधु हैं वे भी इसी परिपाटी से योजना कर लेने चाहिये (जानने चाहिये) क्योंकि न्याय से उन (उपाध्याय और साधुओं) में आचार्य से विशेपता को धारण करने वाला कोई विशेष (अन्तर) शेष नहीं है।

शंका

ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ १४७० ॥

शंका – धर्मोपदेश आदि बाह्य क्रिया उस (आचार्य) की विशेषता में कारण है क्योंकि अभ्यन्तर हेतु की भी कहीं-कहीं पर बाह्य वस्तु बाह्य हेतु होती है।

समाधान सूत्र १४७१ से १४७३ तक ३

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिंचित्करं बहिः ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ॥ १४७१ ॥

सूत्रार्थ - ऐसा नहीं है क्योंकि वास्तव में सम्पूर्ण बाह्य वस्तु अकिंचित्कर है किन्तु मोह से पर को चाहने वाले के वह पर वस्तु और वह आचार्य पद फलवान् है अर्थात् कर्मबंध में निमित्त हो जाता है।

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोऽनिच्छतो बहिः ।
धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥ १४७२ ॥

सूत्रार्थ - धर्म का आदेश और धर्म का उपदेश (दीक्षा देना) आदि अपना आचार्य पद, और उसका जो फल मानादि इस प्रकार सब प्रकार से बहिर् को नहीं चाहने वाले उस आचार्य की तो बात ही क्या है ? (अर्थात् आचार्यों को तो किसी पर वस्तु में मोह होता ही नहीं है)।

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि ।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ १४७३ ॥

सूत्रार्थ - इस आचार्य के धर्मादेशादि क्रिया में निरिच्छापना असिद्ध नहीं है क्योंकि न्याय से इन्द्रिय विषय की अभिलाषा से ही इच्छा है। अन्य पदार्थ में कभी भी इच्छा नहीं मानी जाती है।

शंका

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥ १४७४ ॥

शंका - कहीं पर भी क्रिया के बिना इच्छा नहीं होती और इच्छा के बिना क्रिया नहीं होती। इसलिये अनिच्छित क्रिया होती ही नहीं है चाहे इन्द्रिय विषय की हो या अन्य किसी कार्य की हो ऐसा शिष्य कहता है।

समाधान सूत्र १४७५ से १४८१ तक ७

नैवं हेतोरतिव्याप्तेराराद्क्षीणमोहिषु ।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः ॥ १४७५ ॥

सूत्रार्थ - ऐसा नहीं है क्योंकि क्षीण कषाय और उसके आसपास के गुणस्थानों में हेतु की अतिव्याप्ति के कारण बन्ध की नित्यता आ पड़ने से मुक्ति की असंभवता है।

भावार्थ - इच्छा के बिना क्रिया के न मानने से क्षीणकषाय और उसके समीप के गुणस्थानों में अर्थात् १०, ११, १२, १३ गुणस्थान में अनिच्छापूर्वक क्रिया के पाये जाने के कारण उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति नाम का दोष आता हैं। और यदि उक्त गुणस्थानों में भी क्रिया के सद्भाव से इच्छा का सद्भाव माना जायेगा तो बन्ध के नित्यत्व का प्रसंग आने से मुक्ति की असंभवता हो जायेगी।

ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतस्त्रिषु ।
निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ १४७६ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये (यद्यपि) तीनों में शुद्धि के नाना अंश से अंतरंगकृत भेद पाया जाता है (परन्तु) सामान्यरूप से तीनों ही समान हैं किन्तु बाह्य क्रिया कृत भेद हैं यह पक्ष न होवे।

किंचास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे ।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरंजसा ॥ १४७७ ॥

सूत्रार्थ - और परमागम में यह अन्वर्थ रूढि प्रसिद्ध है कि वास्तव में साधु पद के (ग्रहण किये) बिना (किसी को भी) केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है।

तत्रचोक्तमिदं सम्यक् साक्षात् सर्वार्थसाक्षिणा ।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ १४७८ ॥

सूत्रार्थ - तथा उस परमागम में प्रत्यक्षरूप से सम्पूर्ण पदार्थो को जानने-देखने वाले (सर्वज्ञदेव) के द्वारा यह ठीक कहा गया है कि श्रेणी में चढ़ने वाले के क्षण भर में वह साधु पद स्वयं हो जाता है।

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि ।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ १४७९ ॥

सूत्रार्थ - क्योंकि वह आचार्य अथवा उपाध्याय श्रेणी चढ़ने के काल में सम्पूर्ण चिन्ताओं के निरोध स्वरूप है लक्षण जिसका ऐसे ध्यान को अवश्य आश्रय करता है।

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति तत्र यत् ॥ १४८० ॥

सूत्रार्थ - इसलिये सिद्ध होता है कि यहाँ (श्रेणी के काल में) उन दोनों के (आचार्य उपाध्याय के) विना किसी प्रयत्न के ही (स्वयं) वह साधुपना प्राप्त होता है क्योंकि वहाँ पर निश्चय से बाह्य उपयोग का अवकाश नहीं है।

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनां वरम् ।
प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ १४८१ ॥

सूत्रार्थ - किन्तु ऐसा नहीं है कि आचार्य (श्रेणी के आरोहण काल में) पहले छेदोपस्थापना रूप उत्तम चारित्र को ग्रहण करके पीछे साधुपद को ग्रहण करता है।

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद्गुरुलक्षणम् ।
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ १४८२ ॥

सूत्रार्थ - प्रसंग वश यहाँ पर नाम मात्र गुरु का लक्षण भी कहा और उस (गुरु) के शेष स्वरूप को विशेष रूप से जिनागम से जानना चाहिये।

सूत्र १४४३ से १४८२ तक का सार

इस प्रकरण में आचार्य-उपाध्याय और साधु में अर्थात् गुरु त्रय में क्या विशेषता है उसपर विचार किया गया है। सबसे पहले यह समझने की आवश्यकता है कि मिथ्यात्व, अनन्तानुवंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का अभाव तो तीनों में होता ही है। अतः तीनों सम्यग्दृष्टि तथा बाह्य अभ्यन्तर दिगम्बरत्व के धारी होते हैं। संज्वलन कषाय के तीव्र मन्द उदय का कोई नियम नहीं है। कभी संज्वलन कषाय कम होती है तो कभी अधिक होती है। परस्पर में भी हीनाधिक होती है तथा तीनों पदों में भी परस्पर हीनाधिक होती है जैसे दो आचार्य हैं तो उन दोनों में भी संज्वलन की अपेक्षा अन्तर रहता है तथा आचार्य उपाध्याय, साधु में भी परस्पर अन्तर रहता है जैसे कभी आचार्य के मन्द होती है तो साधु के तीव्र होती है। कभी साधु के मन्द होती है तो आचार्य के तीव्र होती है। इसी प्रकार उपाध्याय के भी कभी उन दोनों से अधिक, तो कभी हीन होती है। इस प्रकार तीनों में परस्पर अन्तर है। इसपर शिष्य प्रश्न करता है कि मुनि को तो किसी बहिरंग वस्तु का संयोग नहीं है अतः उसकी शुद्धि अधिक होनी चाहिये तथा आचार्य के शिष्यों को दीक्षा, प्रायश्चित्त तथा उपदेश का कार्य है और उनमें राग होता ही है। उसी प्रकार उपाध्याय को मुनियों के पढ़ाने का काम है। उसमें राग होता है। अतः साधु से इन दोनों की विशुद्धि हीन है। अपनी वात में युक्ति भी देता है कि विना राग के क्रिया हो नहीं सकती। उसके उत्तर में उसे समझाया है कि उनकी शुद्धि में बहिरंग वस्तु से रंचमात्र अन्तर नहीं पड़ता वह तो कर्मोदय से स्वतः होती है। उनकी शुद्धि में अन्तर तो संज्वलन कषाय से पड़ता है उसमें निमित्त कारण कर्म का उदय है बहिरंग वस्तु नहीं। उस संज्वलन के तीव्र मन्द उदय अनुसार उनकी अन्तरंग शुद्धि में हीनाधिकता होती है। बहिरंग वस्तु के कारण नहीं। और यह जो उसने कहा था कि बिना राग के क्रिया नहीं होती तो कहा कि ग्यारह-बारह-तेरहवें में योग क्रिया तो है किन्तु राग नहीं है अतः बिना राग क्रिया नहीं होती यह युक्ति बराबर नहीं है। उनकी क्रिया बिना राग के ही होती हैं। एक प्रश्न शिष्य ने यह किया कि इन बहिरंग क्रियाओं के करते समय वे आत्मानुभव से रहित होते होंगे ? उसके लिये उत्तर दिया कि आत्मानुभव का सम्बन्ध मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से है। चारित्रावरण से नहीं और उनका उनके अभाव ही रहता है। अतः बहिरंग क्रिया करते सन्ते भी उनके आत्मानुभव का विरह एक समय के लिये भी नहीं है। एक बात शिष्य ने यह पूछी है और ऐसा लोक में प्रसिद्ध भी है कि आचार्य, आचार्यपद को त्यागकर साधुपद अंगीकार करके ध्यानस्थ हो केवलज्ञान की उत्पत्ति करते हैं। उसका उत्तर यह है कि है तो ऐसा किन्तु इसका भाव समझने में भूल है। इसका भाव यह नहीं है कि आचार्य अपने आचार्यपद का प्रायश्चित करके

मुनि होता है और फिर श्रेणी चढ़ता है। उसने कोई पाप थोड़े ही किया है जिसका प्रायश्चित्त ले। वे तो आचार्य पद में रहते हुए जिस किसी समय भी समाधि में लीन होकर श्रेणी चढ़ते हैं उस समय स्वयं उनकी मुनि संज्ञा हो जाती है। इसी कारण से आगम तथा लोक में यह प्रसिद्ध है कि आचार्य पद से मुक्ति नहीं है। मुनिपद से मुक्ति है। किन्तु इसका यह भाव कदापि नहीं कि आचार्य उपाध्याय का दर्जा मुनियों से कुछ कम है। कम अधिक का प्रश्न ही गलत है। वे तो तीनों मोक्षमार्गी मुनि कुञ्जर हैं। और तीनों समान रूप से गुरु हैं।

धर्म का सामान्य स्वरूप सूत्र १४८३ से १४९० तक ८

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ १४८३ ॥

सूत्रार्थ - जो धर्मात्मा को नीच पद से उच्च पद में धरता है वह धर्म है। उस (नीच और ऊँच पद) में संसार नीचपद है तथा उस (संसार) का नाश (मोक्ष) उच्च पद है (श्रीरत्नकरण्ड-श्रावकाचार नं. २)

स धर्म सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः ।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेलयोः ॥ १४८४ ॥

सूत्रार्थ - वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र तीन स्वरूप है। उन तीनों में सम्यग्दर्शन इन दोनों (सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र) का एक मूल कारण है। इसके बिना शेष दो नहीं होते। दंसणमूलो धम्मो।

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनगार एव वा ।
सदृक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ १४८५ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये सागाररूप-अथवा अनगाररूप जो भी धर्म है वह सब सम्यग्दर्शन पूर्वक ही धर्म है और उस (सम्यग्दर्शन) के बिना कहीं भी धर्म नहीं है।

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ १४८६ ॥

सूत्रार्थ - शरीर की और वचनों की शुभ रूप क्रिया अथवा उस क्रिया में उसके साथ अनुकूलरूप मन की प्रवृत्ति रूढ़ि से धर्म कहलाता है।

भावार्थ - शरीर की शुभ क्रियाओं का पालना और वचन से धर्मोपदेशादि देना और तदनुसार मन का विकल्प व्यवहार से धर्म कहलाता है अर्थात् आरोप से धर्म कहलाता है ऐसी आगम की और लोक की रूढ़ि है। वास्तविक बात तो यह है कि शरीर और वचन की क्रिया तो स्वतन्त्र परद्रव्य की क्रिया है वह आत्मा के आधीन नहीं है, ऐसा ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं। और मन का विकल्प शुभ भाव है, पुण्य बंध का कारण है, आस्रव तत्त्व है, जहर है (श्रीसमयसार गाथा ३०६) ऐसा भी ज्ञानी जानते हैं। वे आरोपित कथनों में कथन के अनुसार अर्थ नहीं समझते किन्तु वस्तु स्वरूप के अनुसार अर्थ समझते हैं। धर्म तो जितना आत्मा में मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध भाव है, बस उतने अंश में धर्म है शेष सब अधर्म है ऐसा ज्ञानी को ठोक बजाकर अनुभव पूर्वक निश्चय है। (श्रीप्रवचनसार गाथा ७ तथा श्री पुरुषार्थसिद्धि नं. २१२, २१३, २१४) पहले उस रूढ़ि धर्म का ही सविस्तार वर्णन करते हैं -

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ १४८७ ॥

सूत्रार्थ - वह क्रिया सब गृहस्थ और सब मुनियों की विशेषता से दो प्रकार की है क्योंकि निश्चय से क्रिया के विशेपपने से ही विशेष रूप धर्म है।

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ १४८८ ॥

सूत्रार्थ - उनमें (सागर और अनगार दोनों प्रकार के धर्मों में) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रह से एकदेश विरक्त होना गृहस्थों का अणुव्रत कहा गया है। यह गृहस्थ का मूल धर्म है। सम्यक्त्व सहित ५ पाप के एकदेश त्याग बिना श्रावकधर्म नहीं होता (श्रीरत्नकरंड श्रावकाचार ६६)।

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् ।
नैतत् सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिंगमर्हताम् ॥ १४८९ ॥

सूत्रार्थ - उन हिंसादिकों का सर्वदेश से त्याग करना महाव्रत कहलाता है और यह (महाव्रत) गृहस्थों के द्वारा किया जाना शक्य नहीं है क्योंकि यह (मुनि लिंग) अरहन्तों का लिंग है (श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक नं. १६ तथा इसी ग्रन्थ का नं. १३८९, १३९०)।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम् ।
तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ १४९० ॥

सूत्रार्थ - जैसे गृहस्थों के एकदेशरूप से मूल और उत्तर गुण होते हैं वैसे मुनियों के एकदेशरूप से नहीं होते हैं किन्तु वे सर्वदेश रूप से ही होते हैं। (भावार्थ आगे नं. १५११ तथा १५१२ में देखिये)।

धर्म का सामान्य स्वरूप समाप्त हुआ।

गृहस्थ धर्म सूत्र १४९१ से १५१० तक २०

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधरणा इमे ॥ १४९१ ॥

सूत्रार्थ - वहाँ (सागर धर्म में व्रतधारी गृहस्थों के आठ मूल गुण हैं और कहीं-कहीं अव्रतियों के भी होते हैं क्योंकि ये सर्व साधारण हैं।

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥ १४९२ ॥

सूत्रार्थ - (गृहस्थों के) वे गुण प्रगट रूप से स्वभाव से ही होते हैं या कुलाम्नाय से आये हुए हैं। उस गुणाष्टक) के बिना प्राणियों के न सम्यक्त्व होता है तथा न कोई व्रत होता है।

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥ १४९३ ॥

सूत्रार्थ - इस (गुणाष्टक) के विना नाम (निक्षेप) से भी यह श्रावक नहीं होता है। फिर पाक्षिक गूढ़ नैष्ठिक अथवा साधकश्रावक की तो बात ही क्या है।

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चक ।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥ १४९४ ॥

सूत्रार्थ - मद्य, मांस, मधु का त्यागी और छोड़ दिये हैं पाँच उदम्बर फल जिसने, वह नाम से श्रावक कहा गया है अन्यथा न श्रावक है और न गृहस्थी।

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीक्रियाम् ॥ १४९५ ॥

सूत्रार्थ - गृहस्थों के द्वारा शक्ति-अनुसार व्यसन त्याग किया जाना चाहिये और कल्याणकारी क्रिया को चाहने वाले, उन व्रत में स्थित गृहस्थों के द्वारा तो अवश्य त्याग किये जाने चाहिये।

त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् ।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ १४९६ ॥

सूत्रार्थ - उन (आठ मूल गुणों) में सूत्र में अतीचारों के नाम से कहे हुए दोषों को भी छोड़े अन्यथा (खालिस) धर्मसादिकों को कौन श्रावक खाता है (अर्थात् कोई नहीं)।

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ १४९७ ॥

सूत्रार्थ - उत्तम श्रावकों के द्वारा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्रों के लिये पात्र बुद्धि से और श्रद्धा से चार प्रकार का दान दिया जाना चाहिये।

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ १४९८ ॥

सूत्रार्थ - कुपात्र के लिये और अपात्र के लिये भी यथोचित दान देने योग्य है। उनको पात्र बुद्धि से दान देने का निषेध किया गया है किन्तु कृपा बुद्धि से निषेध नहीं किया गया है।

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥ १४९९ ॥

सूत्रार्थ - करुणा से भीगा हुआ है हृदय जिनका, उनके द्वारा, शेष जो अशुभ उदय के कारण भूख-प्यास-आदि से पीड़ित हैं और दीन हैं उनके लिये भी अभयदानादि देना चाहिये।

पूजामप्यर्हतां कुर्याद् यद्वा प्रतिमासु तद्धिया ।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ १५०० ॥

सूत्रार्थ - बुद्धिमान (श्रावक) अरहन्तों की अथवा उन (अरहन्तों) की बुद्धि से (उनकी) प्रतिमाओं में भी पूजा को करे। स्वर व्यञ्जनों को भले प्रकार स्थापना करके सिद्धों को भी पूजें।

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पदयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधापूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥ १५०१ ॥

सूत्रार्थ - और वह आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के आगे उनके दोनों चरणों में स्तुति को पहले करके फिर आठ प्रकार की पूजा को त्रि (मन, वचन, काय) शुद्धि से करे। (ये पाँचों भगवान् कहलाते हैं। पाँचों पूजने योग्य हैं)।

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।
व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥ १५०२ ॥

सूत्रार्थ - और शक्ति-अनुसार व्रती या दूसरे अव्रती सधर्मियों का अथवा विशेषरूप से ब्रह्मचारियों का सम्मानादि करना चाहिये।

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।
देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः ॥ १५०३ ॥

सूत्रार्थ - लोगों के अविरुद्धपने से (लोकाचार अविरुद्धपने से) व्रत में स्थित नारियों के लिये भी सम्मानदानादि देना जिनागम में निषिद्ध नहीं है।

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥ १५०४ ॥

सूत्रार्थ - जिन मन्दिर आदि की रचना में सम्पत्ति के अनुसार सावधानता रखनी चाहिये। इसके बनवाने में पाप के लेश से दोष नहीं है।

सिद्धानामर्हताञ्चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत् सुधीः ॥ १५०५ ॥

सूत्रार्थ - बुद्धिमान सिद्धों के और अरहन्तों के भी सुन्दर यन्त्र, प्रतिमा चैत्यालयों में स्थापना करके तुरन्त प्रतिष्ठा करावें।

अथ तीर्थादियात्रासु विदध्यात् सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ १५०६ ॥

सूत्रार्थ - और श्रावक तीर्थ आदि की यात्राओं में उद्यत मन करे और वह वहाँ भी संयम को न विराधें।

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥ १५०७ ॥

सूत्रार्थ – (श्रावकों के द्वारा) नित्य और नैमित्तिक जिनबिम्बमहोत्सव में शिथिलता नहीं करनी चाहिये और तत्त्वज्ञों के द्वारा तो वह शिथिलता विशेषरूप से नहीं की जानी चाहिये (क्योंकि एक साथ बहुत जीवों को लाभ हो जाता है)।

संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ १५०८ ॥

सूत्रार्थ – गृहस्थों के द्वारा दो प्रकार का संयम पालन करने योग्य है। वह इस प्रकार एक तो प्रतिमा रूप व्रत और दूसरा बिना प्रतिमा के अपनी शक्ति अनुसार व्रत।

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यसात् ॥ १५०९ ॥

सूत्रार्थ – तप बारह प्रकार का है । बाह्य अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है वह सम्पूर्ण तप या उसमें से कोई तप अपनी शक्ति को उल्लंघन न करके, करने योग्य है।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् ।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशं सविस्तरम् ॥ १५१० ॥

सूत्रार्थ – प्रसंग अनुसार यहाँ नाम मात्र से गृह व्रत को कहा। उपासकाध्याय से (श्रावकाचार शास्त्र अनुसार) अवकाश मिलने पर विस्तार सहित कहूँगा।

आवश्यक सूचना – व्यवहार गृहस्थ धर्म के पालने में भी बहुत विवेक की आवश्यकता है। आगम पद्धति कुछ और है और समाज का ढर्रा कुछ और है। समाज रूढ़ि बहुत गलत है। इस विषय में श्रीरत्नकरण्ड जैसे श्रावकाचार का भी व्यवहार ज्ञान लोगों को नहीं है और जैसे तैसे देखा देखी विचरते हैं। इसपर भी कुछ प्रकाश डालना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। वह इस प्रकार – सर्वज्ञपद्धति तो यह है कि पहले तीन मकार और ५ पापों को मोटे रूप में त्याग किया जाय (सप्त व्यसन और पाँच उदम्बर फल का त्याग इसी पाँच पाप त्याग के पेट में आ जाता है) देखिये श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार सूत्र नं. ६६। ये गृहस्थों का मूल धर्म है। इसके बिना श्रावक नहीं होता। रात्रि भोजन त्याग, शुद्ध भोजन ग्रहण, भोगोपभोग का कम करना इत्यादिक सब इस के बाद हैं जैसा क्रम कि श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार में दिया है। लोग सात व्यसन तो सेते रहते हैं और रात्रि भोजन का त्याग कर देते हैं। परस्त्री गमन तो करते रहते हैं और खाते शुद्ध भोजन हैं। जुआ, सट्टा, बदनी तो करते हैं और प्रातः शाम सामायिक में बैठ जाते हैं। भाव तो दूसरे के ठगने का करते हैं और स्वाध्याय में शास्त्र के पोथे के पोथे पढ़ जाते हैं। बाहर में तो गरम वस्त्र का त्याग तक कर देते हैं। अन्दर में मिथ्यात्व माया निदान की पोट हैं। बाहर में पूजा करते हैं अन्दर में रात्रि भर ताश खेलते हैं। पाँचों पाप भी करते रहते हैं और बाहर में सबसे अधिक धर्मात्मा भी बने रहते हैं। बाहर में तो सम्यक्त्व के आठ अंग पालते हैं, पढ़ते हैं अन्दर में धर्मात्माओं को ठगने से भी नहीं चूकते ऐसे लोग भले ही अपने को धर्मात्मा समझें किन्तु वे जैनधर्म सुनने के पात्र भी नहीं हैं। नाम जैन भी नहीं है और "हाय व्यवहार धर्म नष्ट हो जायेगा" इसकी दुहाई देते हैं। कहने का आशय थोड़े में इतना ही है कि ऐसे क्रम भंग त्याग की जैन पद्धति नहीं है, न उसमें कुछ धर्म है। सर्वज्ञभाषित व्यवहार पद्धति वही है जो श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार तथा श्रीपुरुषार्थसिद्धि आदि में निरूपित है। उसी क्रम से आपकी आत्मा शुद्ध होकर मोक्षमार्ग पर लगेगी। बाहर अन्दर की मायाचारी या अक्रम ग्रहण त्याग से नहीं। पं. टोडरमलजी ने तो इस सम्बन्ध में बहुत लिखा है। सार रूप में हमने थोड़े में सब कुछ कह दिया है। हम आध्यात्मिक पुरुष हैं अतः अधिक नहीं लिखा। विषयान्तर हो जायेगा। एक बात और खास याद आ गई। जैनधर्म पद्धति तो "निश्शल्यो व्रती" है। जबतक मिथ्यात्व माया निदान दूर न हो, कोई व्रत ही नहीं होता। इसकी ओर प्रायः किसी त्यागी गृहस्थ का ध्यान नहीं है। माया करते रहते हैं और व्रती समझते रहते हैं। ये अपने को ही ठगते हैं और आत्मा तो सुगति का भी पात्र नहीं हो पाता। दूसरों को तो कोई ठग ही नहीं सकता। केवल माया से कर्म बाँध अपना बुरा करता है। उपर्युक्त कड़े शब्दों में जरूर लिखा है किन्तु सत्य है या झूठ यह अपने अनुभव से मिलाकर देखें। हमने भी बहुत अनुभवपूर्वक लिखा है।

मुनि धर्म सूत्र १५११ से १५१३ तक ३

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥ १५११ ॥

सूत्रार्थ - यति के मूलगुण अट्ठाईस होते हैं जैसे वृक्ष का मूल। इनमें कभी भी किसी एक से कम या किसी एक से अधिक नहीं होते अर्थात् किसी में २७ या २९ नहीं होते।

भावार्थ - एक मूल धर्म होता है एक उत्तर धर्म होता है जैसे श्रावक तीन मकार का और पाँच पापों का मोटे रूप से त्याग मूलधर्म है अर्थात् पाँच अणुव्रत मूल धर्म है। ३ गुण व्रत तथा ४ शिक्षव्रत उत्तर गुण हैं। मूल गुण के अभाव में श्रावक नहीं हो सकता किन्तु उत्तर गुणों की हीनाधिकता से श्रावकपना नहीं जाता (श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार) उसी प्रकार २८ मूलगुण मुनि का मूल धर्म है। इनके बिना तो मुनि होता ही नहीं ८४ लाख उत्तर गुण हैं। उनकी हीनाधिकता से मुनिपना रह सकता है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं टिक सकता। डाली पत्ते की हीनाधिकता से वृक्ष रह सकता है।

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् ।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥ १५१२ ॥

सूत्रार्थ - जो कुछ मुनिव्रत है वह इन सब समस्तों के द्वारा सिद्ध है। व्यस्तों (अधूरों-कमों) से नहीं। व्यस्तों से किसी एक अंश नय से अंश मात्र भी मुनि व्रत नहीं है।

भावार्थ - जिस प्रकार श्रावकों का पूरा धर्म सम्यक्त्व सहित ११ प्रतिमा है जैसे प्रतिमाओं के अनुसार हीनाधिक श्रावक धर्म होता है, उसप्रकार मुनिधर्म के २८ मूलगुणों के एक देशपालन से या कुछ के पालन से थोड़ा मुनिधर्म हो जाता हो, ऐसा विधान नहीं है। मुनिधर्म में हीनाधिकता नहीं है। सब के सब में २८ गुण ही होते हैं। कम ज्यादा नहीं होते। हाँ ८४ लाख उत्तर गुणों में हीनाधिकता हो सकती है। ये व्यवहार धर्म की मुख्यता से कथन है। संज्वलन कषाय में हीनाधिकता हो सकती है इसका वर्णन पहले कर आये हैं। वे २८ मूल गुण ये हैं।

श्री प्रवचनसार में कहा है

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ २०८ ॥

सूत्रार्थ - व्रत[५], समिति[५], इन्द्रियरोध[५], लोच[१], आवश्यक[६], अचेलपना[१], अस्नान[१], क्षितिशयन[१], अदंतधोवन[१], खड़ा खड़ा भोजन[१], और एकवक्त आहार[१]। कुल २८।

एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ १५१३ ॥

सूत्रार्थ - जैन शासन में यतियों के ये मूलगुण कहे गये हैं। चौरासी लाख उत्तर नाम वाले गुण कहे गये हैं।

मुनिधर्म समाप्त

धर्म उपसंहार

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥ १५१४ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये यथोक्त जो सागार धर्म अथवा अनगार धर्म है उन दोनों में ही सामान्यरूप से प्राणियों की भले प्रकार रक्षा मूल रूप है।

भावार्थ - धर्म का सामान्य लक्षण प्राणीरक्षा अर्थात् अहिंसा है शुद्धभाव प्रगट करके स्वअहिंसा अर्थात् अपने आपको रागद्वेष मोहरूप भाव हिंसा से रक्षा करना निश्चय धर्म है तथा अपने व दूसरे प्राणी के १० प्राणों की रक्षा का विकल्प व्यवहार धर्म है। यही मुनि व श्रावक धर्म का सार है।

व्यवहार धर्म का निरूपण समाप्त हुआ।

निश्चय धर्म सूत्र १५१५ से १५४० तक २६

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद् व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ १५१५ ॥

सूत्रार्थ - जो विस्तार रूप से क्रियारूप व्रतसमूह कहा गया है वह सब केवल एक सर्वसावद्ययोग के निवारण करने के लिये हैं कषाय से अर्थात् शुभाशुभ भाव से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को सावद्ययोग कहते हैं वह अधर्म है। उसका अभाव धर्म है।

अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ १५१६ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में जैनोपदेश यही है और वह ही आदेश है कि सर्वसावद्ययोग की निवृत्ति व्रत कहा जाता है (शुभाशुभ भाव युक्त योग प्रवृत्ति को सावद्य योग कहते हैं)।

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः ।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ १५१७ ॥

सूत्रार्थ - उसमें (सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति) शब्दार्थ की अपेक्षा से सर्व शब्द से अन्तरंग और बहिरंग वृत्ति लिया गया है) सावद्य प्राण नाश है वह ही हिंसा मानी गई है।

योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते ।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ १५१८ ॥

सूत्रार्थ - और उसमें योग शब्द का अर्थ उपयोग है। वह बुद्धिपूर्वक भी उपयोग कहा जाता है और जो सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वक है वह भी उपयोग माना गया है।

तस्याभावान्निवृत्तिः स्याद् व्रतं वार्थादिति स्मृतिः ।
अंशात्साऽप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोऽपि तत् ॥ १५१९ ॥

सूत्रार्थ - उस (सर्व सावद्य योग) के अभाव से जो निवृत्ति है वह वास्तव में व्रत माना गया है। वह निवृत्ति अंशरूप से हो तो वह व्रत भी अंशरूप से (अणुव्रत रूप से) कहा गया है और यदि वह निवृत्ति संपूर्ण रूप से हो तो वह व्रत भी सर्वदेश से (महाव्रत) कहा गया है।

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु ।
व्रतमन्तःकषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा ॥ १५२० ॥

सूत्रार्थ - यह सब तरह से सिद्ध होता है कि बाह्य व्रत प्राणियों पर दया करना है और अन्तरंग व्रत कषायों का त्याग है। वही यह अपनी आत्मा पर कृपा है।

लोकसंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसा स्यात् संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥ १५२१ ॥

सूत्रार्थ - जब तक वे असंख्यात लोकप्रमाण रागादिक भाव रहते हैं तबतक प्रगट रूप से आत्मा के ज्ञानादि धर्मों की हिंसा होने से हिंसा होती है।

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ १५२२ ॥

सूत्रार्थ - वास्तव में रागादिक ही हिंसा है अथवा अधर्म है अथवा व्रतच्युति है। निश्चय से उस रागादिक का त्याग अहिंसा है अथवा व्रत है अथवा निश्चय से धर्म है।

आत्मेतराङ्गिणामंगरक्षणं यन्मतं स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृते नातः परत्र तत् ॥ १५२३ ॥

सूत्रार्थ - आगम में अपना और दूसरे प्राणियों का अंगरक्षण (प्राणों की रक्षा-दया-अहिंसा) जो माना गया है। वह केवल स्वात्म रक्षा के लिये ही किया गया है। इसलिये वह पर के लिये नहीं है।

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो बधः ॥ १५२४ ॥

सूत्रार्थ - रागादि भावों के होने पर बलात् (निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से वस्तु स्वभाव से स्वतः) कर्मों का बंध होता है और उन कर्मों के उदय से आत्मा के दुःख होता है इसलिये (रागादि भावों के द्वारा) आत्मा का बंध सिद्ध होता है।

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते ।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥ १५२५ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये मोह कर्म के उदय के बिना जो शुद्धोपयोग है वही चारित्र नाम से है। और यह ही निश्चय से उत्कृष्ट व्रत है।

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम् ।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हत् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥ १५२६ ॥

सूत्रार्थ - चारित्र निर्जरा का कारण है। यह बात न्याय से भी अबाधित है। (क्योंकि वह चारित्र) सम्पूर्ण अपनी अर्थ क्रिया में समर्थ होता हुआ सार्थक नाम वाला है दीपक की तरह।

रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया ।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥ १५२७ ॥

सूत्रार्थ - रूढ़ि से शुभोपयोग भी चारित्र नाम से कहा गया है परन्तु निश्चय से अपनी प्रयोजनभूत क्रिया को नहीं करता हुआ सार्थक नाम वाला नहीं है।

भावार्थ - चारित्र की स्वार्थक्रिया निर्जरा है और शुभोपयोग से वह नहीं होती है। अतः शुभोपयोग वास्तव में चारित्र नहीं किन्तु बन्धस्वरूप है। चारित्र का घातक है।

किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ १५२८ ॥

सूत्रार्थ - किन्तु वह शुभोपयोग बन्ध का कारण है वास्तव में वह विरोधिवत् है अशुभोपयोग की तरह चारित्र का घातक है। वह श्रेष्ठ नहीं है। वह श्रेष्ठ है जो न अपकार करता है और न उपकार करता है।

भावार्थ - व्यवहार में अशुभोपयोग अपकार करने वाला माना जाता है और शुभोपयोग उपकार करने वाला माना जाता है किन्तु शुद्धोपयोग की अपेक्षा वे दोनों बन्ध करने वाले होने के कारण चारित्र से विरोधी हैं। अतः श्रेष्ठ (उपादेय) नहीं है।

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ॥ १५२९ ॥

सूत्रार्थ - विचार करने से इस शुभोपयोग के विरुद्ध कार्यकारित्व असिद्ध नहीं है क्योंकि यह एकान्त रूप से (सर्वथा) बन्ध का कारण है और वह भी इस कारण से कि इसमें शुद्ध से अन्यपना (भिन्नता अशुद्धता) पाया जाता है।

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरंशतः ।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥ १५३० ॥

सूत्रार्थ - बुद्धि के अपराधपने (मन्दता) से यह भी नहीं विचार करना चाहिये कि शुभोपयोग अंश रूप से निर्जरा का कारण है। चाहे शुभ हो चाहे अशुभ रूप हो - दोनों अबन्ध के कारण नहीं हैं अर्थात् बन्ध के कारण हैं।

श्रीप्रवचनसारजी में कहा है

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्तिपुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

नहीं मानता - इस रीत पुण्य और पाप में न विशेष है।
वो मोह से आछन्न घोर अपार संसारे भमे ॥ ७७॥

सूत्रार्थ - इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है। ऐसा जो नहीं मानता है वह मोहाच्छादित वर्तता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

श्रीसमयसारजी में कहा है

अज्ञानी की मान्यता - पुण्यकर्म अच्छा है, पापकर्म बुरा हैं

पाप कर्म कुशील है, है सब जगत की मान्यता ।
पुण्य कर्म सुशील है, है सब जगत की मान्यता ॥

खण्डन = पुण्य पाप एक ही है

गुरु कहते कैसे सुशील वो संसार मैं दाखिल करें।
हैं कर्म दोनों एक ही चाण्डालनी के पुत्र हैं ॥ १५४॥

शुभ मोक्ष का कारण नहीं है।

विद्वज्जनों भूतार्थ तज व्यवहार से वर्तन करें ।
पर कर्म क्षय का विधान तो परमार्थ आश्रित सन्त के ॥

व्यवहार और निमित्त के कथनों में लुटता जगत् है ।
रे ज्ञानी! इससे चेत होकर जान तू भूतार्थ से ॥ १५६॥

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् ।
धर्मःशुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः ॥ १५३१॥

सूत्रार्थ - जो कर्मों को ग्रहण करने वाली क्रिया का निरोध है (राग-द्वेष-मोह का अभाव है)। वह स्वरूपाचरण है। वही धर्म है। वही शुद्धोपयोग है और वह यह चारित्र नाम से कहा जाता है।

श्री प्रवचनसार में कहा है

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७॥

चारित्र है वह धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है
अरु साम्य जिव का मोहक्षोभ विहीन निजपरिणाम है ॥ ७॥

सूत्रार्थ - चारित्र निश्चय से धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है यह (शास्त्र में) कहा है। साम्य मोहक्षोभरहित ऐसा आत्मा का परिणाम (भाव) है। इसपर शिष्य शंका करता है।

शङ्का

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ १५३२ ॥

शङ्का - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से मोक्ष पद्धति (मार्ग) है। समस्तों से ही, व्यस्तों (भिन्न-भिन्न) से नहीं तो फिर ऊपर चारित्रमात्र से (मोक्षपद्धति) कैसे ?

समाधान - सूत्र १५३३ से १५३८ तक ६

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥ १५३३ ॥

सूत्रार्थ - ठीक है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र के अन्तर्गत हैं। तीनों के परस्पर अविनाभाव से ये तीनों अखण्डित हैं।

किंच सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ १५३४ ॥

सूत्रार्थ - और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र दोनों का कारण है अथवा यह सम्यग्दर्शन ही आगे उत्पन्न होने वाले ज्ञान और चारित्र के सम्यक् विशेषण का मूल कारण है।

अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूत्पूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाभूतपूर्वकम् ॥ १५३५ ॥

सूत्रार्थ - अर्थ (भाव) यह है कि सम्यक्त्व के होने पर यहाँ जो भूतपूर्व ज्ञान और चारित्र हैं वे सम्यक्हो जाते हैं अथवा (यह सम्यग्दर्शन) अभूतपूर्वक (जो पहले नहीं था ऐसे ज्ञान और चारित्र को) जन्म देता है।

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥ १५३६ ॥

सूत्रार्थ - जो ज्ञान में अतिशय लाने वाली शुद्धोपलब्धि की शक्तिरूप लब्धि है वह सम्यक्त्व के होने पर ही होती है अथवा शुद्ध भाव भी सम्यक्त्व के होने पर ही होता है (अर्थात् उपयोग रूय ज्ञान चेतना या लब्धिरूप स्वात्मानुभूति सम्यक्त्व के होने पर ही उत्पन्न होती है)।

खास सूत्र

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत ॥ १५३७ ॥

सूत्रार्थ - और जो सम्यग्दर्शन के बिना द्रव्य चारित्र (व्यवहार चारित्र) तथा (शब्द) श्रुत ज्ञान होता है। वह न तो ज्ञान है न चारित्र है। यदि है तो कर्म बन्ध के करने वाला है। द्रव्यलिंगी का ग्यारह अंग तक के अभ्यास और निर्दोष मुनिव्रत पालन को मात्र बन्ध का कारण कहा है।

तेषामन्यतमोद्देशो नास्ति दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ १५३८ ॥

सूत्रार्थ - उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में से किसी एक का कथन कदापि दोष के लिये नहीं है क्योंकि मोक्षमार्ग रूप एक साध्य के तीनों साधक माने गये हैं।

धर्म तत्त्व का सार

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ १५३९ ॥

सूत्रार्थ - प्रश्न करने में चतुरों के द्वारा संक्षेप से बन्ध मोक्ष इतना ही जान लेना चाहिये कि राग-अंशों से बन्ध ही होता है और अराग-अंशों से कभी भी बन्ध नहीं होता है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२ से २१४ ॥

सूत्रार्थ - जिस अंश से सम्यग्दर्शन (तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) है उस अंश से इसके बंधन नहीं है किन्तु जिस अंश से राग है उस अंश से इसके बन्धन होता है।

उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसंगात्संगतोंऽशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ १५४० ॥

सूत्रार्थ - प्रसंग से सुसंगत होने से अंश रूप से (संक्षेप से) धर्म का स्वरूप भी कहा अथवा समय प्राप्त होने पर कवि उस (धर्म के स्वरूप) को विस्तारपूर्वक कहेगा।

अमूढ़ दृष्टि अंग का उपसंहार

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।
ख्यातप्यमूढदृष्टि: स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ १५४१ ॥

सूत्रार्थ - देव में, गुरु में तथा धर्म में तत्त्वार्थ को यथार्थरूप से देखने वाली जो दृष्टि है वह अमूढ़दृष्टि कही गई है। अन्यथा मूढदृष्टिपना है।

सम्यक्त्वगुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥ १५४२ ॥

सूत्रार्थ - सम्यक्त्व का यह लक्षण किया गया गुण-दोष के लिये नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टि वैसा (अमूढ़दृष्टि) अवश्य होता है तथा दूसरा (मिथ्यादृष्टि) वैसा (अमूढ़दृष्टि) नहीं होता।

श्री समयसारजी में कहा है

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी समादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३२ ॥

सूत्रार्थ - जो चेतयिता सब भावों में अमूढ़ है - यथार्थ दृष्टिवाला है, उसको निश्चय से अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयता के कारण, सभी भावों में मोह का अभाव होने से, अमूढ़दृष्टि है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ - लोकाचार में, शास्त्राभास में, धर्माभास में, देवताभास में, तत्त्वों में रुचि रखने वाले पुरुष द्वारा सदा अमूढ़दृष्टिपना किया जाना चाहिये। लोकमूढ़ता को लोकाचार कहते हैं, अन्यमत के शास्त्रों को शास्त्राभास कहते हैं, अन्य धर्मों को धर्माभास कहते हैं, अन्य देवताओं को देवताभास कहते हैं। इनकी श्रद्धा का न होना तथा सच्चे देव, गुरु धर्म की श्रद्धा होना अमूढ़दृष्टित्व है।

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ - दुःखों के स्थानभूत खोटे मार्ग में तथा खोटे मार्ग में स्थित पुरुषों में मन से सम्मत नहीं होता, काया से अनुमोदना नहीं करना वचन से प्रशंसा नहीं करना, अमूढ़दृष्टि अंग कहा जाता है।

श्री अमितगति श्रावकाचार में कहा है

देवधर्मसमयेषु मूढता यस्य नास्ति हृदये कदाचन ।
चित्रदोषकलितेषु सन्मतेः सोच्यते स्फुटममूढदृष्टिकः ॥ ७६ ॥

सूत्रार्थ - नाना प्रकार दोषनकरि व्याप्त जे देव अर धर्म अर समय कहिये सर्वमत इन विषै सुबुद्धि के हृदय विषैं कदाचित् मूढता कहिये मूर्खता नहीं है सो अमूढ़दृष्टि कहिये है अर्थात् देवपने के आभास धरें ऐसे हरिहरादिक अर धर्माभास यज्ञादिक अर समयाभास वैष्णवमत आदिक इन विषै ये भी देवादिक हैं ऐसी मूढ़ता का अभाव सो अमूढ़दृष्टि जानना।

नववां अवान्तर अधिकार

उपबृंहण अंग सूत्र १५४३ से १५५४ तक १२

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ १५४३ ॥

सूत्रार्थ - उपबृंहण नामा गुण भी सम्यग्दृष्टि आत्मा का है। जो आत्म शक्तियों के अवश्य बढ़ाने रूप लक्षण से प्रसिद्ध है। अर्थात् अस्ति से उपबृंहण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के बढ़ाने को कहते हैं और नास्ति से उपगूहन अंग कहते हैं।

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद् दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत् ॥ १५४४ ॥

सूत्रार्थ - आत्मा शुद्धि की दुर्बलता नहीं करना उपवृंहण हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र भाव से स्खलित नहीं होना ही वह उपवृंहण है। अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि पर की वृद्धि का इच्छुक नहीं है।

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव
तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ १५४५ ॥

सूत्रार्थ - [एषः] यह सम्यग्दृष्टि [निःशेषात् जानन् अपि] सम्पूर्ण पर पदार्थों को जानता हुआ भी [पौरुषं प्रेरयन् इव] बाहर से ऐसा मालूम पड़ता है कि वह उन पर पदार्थों के बढ़ाने का पुरुषार्थ कर रहा है [तथापि] तो भी वह [पौरुषं प्रेरयन् इव] जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि उनकी वृद्धि के लिये पुरुषार्थ करता है। उस प्रकार [अत्र] इन पर पदार्थों में [यत्नवान् न अस्ति] पुरुषार्थी नहीं है।

भावार्थ - हमारे विचार से इस मूलसूत्र में कुछ अशुद्धि है। पं. फूलचन्द कृत टीका में हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने अपनी इच्छानुसार शुद्ध कर लिया है किन्तु वह और अशुद्ध हो गया है प्रकरण विरुद्ध हो गया है तथा अर्थ भी गलत हो गया है। पं. देवकीनन्दनजी ने अर्थ ही छोड़ दिया है। पं. मखनलाल कृत टीका का मूलसूत्र तथा मूलमात्र संस्कृत पञ्चाध्यायी का पाठ इसी प्रकार मिलता है। उसके अनुसार हमने लिखा है। जहाँ तक हमसे बना है पूर्व अपर अनुसन्धान देखकर अर्थ लिखा है किन्तु मन हमारा पाठ अशुद्धि के भय के संदिग्ध है। ऊपर प्रकरण यह चला आ रहा है कि सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि का ही पुरुषार्थ करता है यह उसका उपबृंहण गुण है। अब कोई कहे कि सम्यग्दृष्टि तो पर की वृद्धि का भी पुरुषार्थ करता देखा जाता है तो कहते हैं कि जिस समय सम्यग्दृष्टि स्वात्मानुभूति की उपयोग दशा में नहीं होता, उस समय पर में प्रवृत्त जरूर होता है। बाहर से ऐसा दीखता है कि वह व्यापार इत्यादिक करता हुआ पर की वृद्धि का पुरुषार्थ कर रहा है किन्तु आचार्य कहते हैं कि वास्तविक बात यह है कि मिथ्यादृष्टि की तो यह मान्यता है कि मैं पर को बढ़ा सकता हूँ। अतः वह तो पर को बढ़ाने का संकल्प अवश्य करता है। बढ़ा तो वह भी नहीं सकता पर संकल्प और श्रद्धा के कारण उनका बढ़ाने वाला (कर्त्ता) कहा जाता है। ज्ञानी की यह श्रद्धा है कि पर का स्वतन्त्र परिणमन है तथा उसकी वृद्धि, हानि कर्माधीन है। अतः वह भूमिकानुसार परपदार्थों के लिए रागादिभाव को करता हुआ जरूर दीखता है किन्तु वास्तव में तो वह सब पर पदार्थों से उपेक्षित है। मात्र उनका ज्ञाता ही है। अब यह कहते हैं कि पर की वृद्धि का पुरुषार्थ नहीं करता इतना ही नहीं किन्तु उस समय भी उसका अन्तरंग पुरुषार्थ तो शुद्धोपलब्धि की वृद्धि में ही कार्य करता है।

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान् ।
निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥ १५४६ ॥

सूत्रार्थ - (उस समय भी) यह शुद्धोपलब्धि में लेशमात्र से भी प्रमादवान् नहीं होता किन्तु प्रमादरहितपने से आत्मा को बड़े आदर से ग्रहण करता हुआ है अर्थात् उस समय भी अन्तरंग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की वृद्धि ही कर रहा है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः ।
सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्साध्योपयोगिनीं ॥ १५५७ ॥

सूत्रार्थ - अथवा शुद्धोपलब्धि के लिये उस बहिरंग (शास्त्र स्वाध्याय आदि) को भी अभ्यास करता है और उस साध्य की उपयोगी किसी-किसी शुभ क्रिया को भी करता है अर्थात् व्यवहार धर्म को भी शुद्धि की वृद्धि का लक्ष्य रखते हुए पालता है।

रसेन्द्रं सेवमानोऽपि कोऽपि पथ्यं न वाचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुल्लाघतामपि ॥ १५४८ ॥

सूत्रार्थ - रसायन (पारे के भस्म आदि) को सेवन करने वाला कोई भी यदि पथ्य सेवन न करे तो अपनी सरोगता को खोता हुआ नीरोगता को भी खो देता है।

भावार्थ - यहाँ पर शङ्का हो सकती थी कि शुभ तो बन्ध है उसे वह क्यों पालता है तो कहते हैं कि अशुभ से बचने के लिये पालता है क्योंकि उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति तो कभी-कभी अन्तर्मुहूर्त्त के लिये होती है। हर समय तो उपयोग पर में ही रहता है। यदि उस समय उपयोग को शास्त्र स्वाध्याय और शुभ आचरण में नहीं लगायेगा तो स्वभावतः उपयोग अशुभ में चला जायेगा और संभव है उसके साथ शुद्ध भाव भी छूट जाये क्योंकि अशुभ का जीव को अनादि का अभ्यास है। वहाँ उपयोग जल्दी रमता है। अतः सम्यग्दृष्टि अशुभ से बचने के लिये शुभ भी पालता है। एक दृष्टान्त से इस भाव की पुष्टि करते हैं कि आतशिक (गरमी का रोग) इत्यादिक रोगों को दूर करने के लिये पारे आदि की भस्म खाते हैं। साथ में यदि बदपरहेजी से बचे रहें तो रोग अच्छा हो जाता है अन्यथा निरोगता तो दूर रहो, पारे से शरीर फटकर और व्याधि बढ़ जाती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार रोग को नाश करने के लिये शुद्धरत्नत्रय की दवाई करता है। परहेज़वत् अशुभ से बचा रहता है तो मोक्ष की सिद्धि कर लेता है। यहाँ तक तो पुरुषार्थ पूर्वक उपबृंहण की सिद्धि की, अब सिद्धान्त दृष्टि से उपबृंहण की सिद्धि करते हैं -

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥ १५४९ ॥

सूत्रार्थ - अथवा बिना प्रयत्न के ही स्वतः उस सम्यग्दृष्टि में उपबृंहण सिद्ध है क्योंकि ऊपर-ऊपर गुणश्रेणी में निर्जरा की सम्भवता है।

अवश्यम्भाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ १५५० ॥

सूत्रार्थ - और इस सम्यग्दृष्टि में सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा अवश्य होने वाली है क्योंकि हरएक सूक्ष्म समय में असंख्येयगुण क्रम से निर्जरा हो रही है।

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ १५५१ ॥

सूत्रार्थ - न्याय से वास्तव में यह बात आई कि जितने अंश से उस कर्म का नाश है (उतने अंश से) शुद्धोपयोग की वृद्धि है और फिर वृद्धि की वृद्धि पुनः-पुनः है।

भावार्थ - आगम में बताया है कि सम्यग्दृष्टि के हर समय नियमानुसार सत्ता में पड़े हुए कर्मों की निर्जरा होती रहती है। उसी प्रकार उदय में भी अभाव होता रहता है और तद्नुसार भी उसकी रत्नत्रय की वृद्धि स्वतः हर समय होती रहती है। इस प्रकार उसके स्वतः उपबृंहणगुण सिद्ध है। अब बताते हैं कि आत्मशुद्धि की वृद्धि और इन्द्रिय विषयों की इच्छा की कमी का अविनाभाव है -

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ १५५२ ॥

सूत्रार्थ - जैसे-जैसे विशुद्धि की अन्तरंग में प्रकाश होने वाली वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में भी उपेक्षा (की वृद्धि) होती जाती है।

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥ १५५३ ॥

सूत्रार्थ - इसलिये वह बड़े भारी क्रियाकाण्ड में भी अपनी शक्ति को नहीं लोपता किन्तु सम्यग्दृष्टि निश्चय से प्रयत्न से भी बढ़ाता है। किन्तु उसमें उसकी उपादेय बुद्धि नहीं होती न उससे लाभ मानता है। केवल जबतक ऊपर की भूमि में नहीं पहुँचा है। तबतक कदाचित् अशुभ से बचने के लिये प्रयत्न भी करता है (श्री पंचास्तिकाय गा. १३६ टीका)।

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ १५५४ ॥

सूत्रार्थ -इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन का उपबृंहण नामा गुण है। वह भी गुणों की गणना में गिना हुआ अगुण (दोष) के लिये नहीं है (क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि के अविनाभाव से होता ही है)।

श्री समयसारजी में कहा है

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३२ ॥

सूत्रार्थ - जो चेतयिता सिद्ध की अर्थात् शुद्ध आत्मा की भक्ति से युक्त है और परवस्तुओं के सर्व धर्मों को गोपने वाला है (अर्थात् रागादि परभावों से युक्त नहीं होता है) उसको उपगूहन करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयता के कारण, समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करता है, इसलिये उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ाने वाला है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ - उपबृंहण गुण के लिये मार्दव, क्षमा आदि भावना द्वारा सदा अपनी आत्मा का धर्म बढ़ाना चाहिये और दूसरे के दोषों को भी गुप्त रखना चाहिये।

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ - स्वयं शुद्ध मार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थ जीवों द्वारा उत्पन्न हुई निन्दा को जो दूर करते हैं उसको उपगूहन अंग कहते हैं।

श्रीअमितगतिश्रावकाचार में कहा है

यो निरीक्ष्य यतिलोकदूषणं कर्मपाकजनितं विशुद्धधीः ।
सर्वथाप्यवति धर्मबुद्धितः कोविदास्तमुपगूहकं विदुः ॥ ७७ ॥

सूत्रार्थ - जो निर्मलबुद्धिपुरुष कर्म के उदयकरि उपज्या ज्यों यतिजननि का दूषण ताहि देखकर धर्मबुद्धि तैं सर्व प्रकार गौपे है ताहि पंडितजन उपगूहन कहै हैं अर्थात् जो पर के दोष वा अपने गुण ढांकना सो उपगूहण अंग जानना तथा इस ही अंग का नाम उपबृंहण भी कह्या तथा 'आत्म शक्ति का पुष्ट करना' अर्थ ग्रहण किया है।

दसवाँ अवान्तर अधिकार

स्थितिकरण अंग सूत्र १५५५ १५७० तक १६

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तद् नाधर्मेऽधर्मणः क्षते ॥ १५५५ ॥

सूत्रार्थ - स्थितिकरण नामा गुण भी सम्यग्दृष्टि आत्मा का है। धर्म से च्युत को धर्म में स्थिर करना वह स्थिति करण है। अधर्म के नाश से अधर्म में पुनः स्थित करना वह स्थितिकरण नहीं है (अस्ति-नास्ति से लिखा है)।

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् ।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ १५५६ ॥

सूत्रार्थ - वृद्ध पुरुषों के द्वारा धर्म के लिये अधर्म का सेवन प्रमाणिक नहीं माना गया है। कोई-कोई मन्द बुद्धिवाले (अज्ञानी) भावि धर्म की आशा से पाप (अधर्म) के सेवन को कहते हैं।

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः ।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत् ॥ १५५७ ॥

सूत्रार्थ - अधर्म सेवन परम्परा से धर्म का कारण है इस पक्ष का भी यहाँ लेशमात्र अवकाश (स्थान) नहीं है। क्योंकि मूर्ख को छोड़कर दूसरा कौन प्राणी मोह से शीत के लिये अग्नि में प्रवेश करेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् ।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ १५५८ ॥

सूत्रार्थ - पहले अधर्म का सेवन करना यह धर्म का पूर्वरूप नहीं है क्योंकि अधर्म सेवन रूप हेतु का विपक्षभूत अधर्म प्राप्ति में भी रह जाने से व्यभिचारी है। इसलिये अधर्म सेवन और धर्म प्राप्ति की व्याप्ति भी व्यभिचारित है।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ १५५९ ॥

सूत्रार्थ - प्रत्येक सूक्ष्म समय में कर्म उदय में जुड़ने के कारण से स्वयं शुभ अथवा अशुभ दोनों होते रहते हैं यह सर्वत्र निश्चय है।

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥ १५६० ॥

सूत्रार्थ - प्रत्यक्ष स्व और पर के भेद वह स्थितिकरण दो प्रकार का है। अर्थात् अपनी आत्मा का अपनी आत्मा में स्थित करना स्वस्थितिकरण है और दूसरे की आत्मा में स्थित करना-परस्थितिकरण है।

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ १५६१ ॥

सूत्रार्थ - स्थितिकरण के उन दोनों भेदों में से जो मोह के उदय के उद्रेक (तीव्रता) से अपनी स्थिति से च्युत हुये अपनी आत्मा को फिर से अपनी आत्मा में स्थापित करना है वह स्व का स्थितिकरण है।

अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ १५६२ ॥

सूत्रार्थ - भाव यह है कि कभी कर्म उदय का आश्रय करने से वह सम्यग्दर्शन से नीचे गिर जाता है और फिर कर्म से (कर्म के उपशमादि से) सम्यग्दर्शन को भले प्रकार पाकर फिर ऊपर चढ़ जाता है।

अथ क्वचिद्यथाहेतु दर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोऽधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥ १५६३ ॥

सूत्रार्थ - और कभी कारण के अनुसार दर्शन से नहीं गिरता हुआ भी भावों की शुद्धि को नीचे-नीचे के अंशों से ऊपर-ऊपर को बढ़ाता है।

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुंचति ।
न मुँचति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥ १५६४ ॥

सूत्रार्थ - और कभी बहिरंग स्वीकृत शुभाचार को भी छोड़ देता है। कभी नहीं छोड़ता है। अथवा कभी छोड़कर फिर से ग्रहण कर लेता है।

यद्वा बहिःक्रियाचारे यथावस्थं स्थितेऽपि च ।
कदाचिद्दीप्यमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥ १५६५ ॥

सूत्रार्थ - अथवा बाह्य क्रियाचार में यथा अवस्थित स्थित रहने पर भी कभी-कभी अन्तरंग भावों से दैदीप्यमान हो करके वर्तता है।

नासम्भवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ १५६६ ॥

- यह कथन असम्भव नहीं है क्योंकि चारित्रावरण का उदय तरतमरूप अपने अंशों से हीनाधिक अवस्था प्राप्त होता रहता है।

अत्राभिप्रेतमेवैतस्वस्थितीकरणं स्वतः ।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ १५६७ ॥

सूत्रार्थ - यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितिकरण स्वतः ही होता है यदि न्यायानुसार यहाँ कोई अन्य कारण है (ऐसा मानोगे तो उस कारण के लिये अन्य कारण और उस अन्य कारण के लिये भी अन्य कारण करते हुये) अनवस्था नाम का दोष वहाँ आवेगा।

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ १५६८ ॥

सूत्रार्थ - दूसरों का स्थितिकरण नामा अंग यह है कि उत्तम दया भाव से अपने पद से भ्रष्ट हुए जीवों को उस पद में वहीं फिर स्थापित कर देना।

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥ १५६९ ॥

सूत्रार्थ - धर्म के आदेश और उपदेश के द्वारा ही दूसरे पर अनुग्रह करना चाहिये किन्तु अपने व्रत को छोड़कर दूसरे की रक्षा में तत्पर न होवे।

कहा भी है -

आदहिद कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥
आत्महितं कर्तव्यं यदि शक्यं परहितं च कर्तव्यं ।
आत्महितपरहितयोः आत्महितं सुष्ठु कर्तव्यं ॥

सूत्रार्थ - पहले आत्महित करना चाहिये। यदि शक्य हो तो पर हित में उत्साह करना चाहिये। किन्तु आत्महित और परहित इन दोनों में से आत्महित भले प्रकार करना चाहिये (यह मूलसूत्र किस आगम का है यह हमें ज्ञात न हो सका)।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ १५७० ॥

सूत्रार्थ - यहाँ नाम मात्र से सुस्थितीकरण गुण भी कहा जो सम्यग्दृष्टि आत्मा का गुणश्रेणी निर्जरा में प्रसिद्ध गुण है।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि आत्मा का भाव कभी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से डिग जाता है तो पुनः अपने को उसी में स्थित कर लेता है और दूसरे को डिगा देखकर तो मात्र उसे समझाया जा सकता है। पर में कुछ किया तो जा नहीं सकता। स्थितिकरण तो वह भी अपना अपने द्वारा ही करेगा। दूसरे के स्थिति करण कराने में कभी अपने रत्नत्रय में हानि नहीं आने देना चाहिये क्योंकि जैनमार्ग में स्वहित मुख्य है। नास्ति का कथन यह है कि अधर्म का सेवन वर्तमान में या भावि में धर्म स्थिति का कारण नहीं है।(यहाँ गुरुदेव का आशय अपनी उन हिंसात्मक बातों से है जिनको जगत धर्म समझकर करता है जिनका दिग्दर्शन उन्होंने श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के प्रारम्भ में दिखाया है जैसे हिंसक जीवों को मारने में धर्म मानना, यज्ञ में हिंसा करने में धर्म मानना इत्यादिक।

श्री समयसारजी में कहा है

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३४ ॥

सूत्रार्थ -जो चेतयिता उन्मार्ग में जाते हुये अपने आत्मा को भी मार्ग में स्थापित करता है वह स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण, यदि अपना आत्मा मार्ग से (सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप मोक्षमार्ग से) च्युत हो तो उसे मार्ग में ही स्थित कर देता है इसलिये स्थितिकारी (स्थिति करने वाला) है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ - काम, क्रोध, मद, लोभादि भावों के उत्पन्न होने पर न्याय मार्ग से च्युत होने के लिये तत्पर अपने को और पर को शास्त्रानुसार युक्ति से पुनः न्याय मार्ग में ही स्थिर करना चाहिये।

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ - धर्म प्रेमी जीवों द्वारा सम्यग्दर्शन से अथवा चारित्र से भी डिगते हुओं को उसमें स्थित कर देना बुद्धिमानों के द्वारा स्थिति करण अंग कहा जाता है।

श्री अमितगतिश्रावकाचार में कहा है

निवर्त्तमानं जिननाथवर्त्मनो, निपीड्यमानं विविधैः परीषहैः ।
विलोक्य यस्तत्र करोति निश्चलं निरुच्यतेऽसो स्थितिकारकोत्तमः ॥ ७८ ॥

सूत्रार्थ - जो नाना प्रकार परीषहनि करि पीड़ित भया संता जिननाथ के मार्ग तैं चिगते पुरुष कौं देख करि तिस जिनमार्ग विषैं निश्चल करै सौ यहु स्थिति करने वाला उत्तम कहिये है अर्थात् जिन धर्मतैं वा आतम स्वरूप तैं आपकौं वा परकौं चिगते कौं स्थिर करना स्थितिकरण अंग कह्या है।

ग्यारहवाँ अवान्तर अधिकार

वात्सल्य अङ्ग का वर्णन सूत्र १५७१ से १५७६ तक ६

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु ।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ १५७१ ॥

सूत्रार्थ - सिद्ध-अरहन्त-प्रतिमा, जिन मन्दिरों में, चार प्रकार के संघ में और शास्त्र में दासपना (का भाव रखना) वात्सल्य नामक अङ्ग है जैसे स्वामी कार्य में योग्य सेवक दासत्व भाव रखता है।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ १५७२ ॥

सूत्रार्थ - अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि उक्त प्रतिमादि में से किसी एक के ऊपर घोर उपसर्ग के आने पर उसके दूर करने में अत्यन्त तत्पर रहता है।

यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद् दृष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ १५७३ ॥

सूत्रार्थ - यदि अपनी सामर्थ्य न हो तो जबतक मन्त्र तलवार और धन है तबतक वह (सम्यग्दृष्टि) उनकी बाधा (उपसर्ग को देखने के लिये और सुनने के लिये) नहीं सह सकता है।

तद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचात् ।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ॥ १५७४ ॥

सूत्रार्थ - और वह वात्सल्य स्व और पर के विषय के भेद से दो प्रकार है । उनमें अपनी आत्मा से संबंध रखने वाला वात्सल्य प्रधान है और जो सम्पूर्ण पर आत्माओं में वात्सल्य है वह गौण है।

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित् ।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥ १५७५ ॥

सूत्रार्थ - परीषह और उपसर्गादि के द्वारा पीड़ित होते हुए भी जो किसी शुभाचार में, ज्ञान में और ध्यान में शिथिलता हीं आने देना वह पहला (स्वात्मसम्बन्धी) वात्सल्य है।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् ।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम् ॥ १५७६ ॥

सूत्रार्थ - दूसरा वात्सल्य इस ग्रन्थ में पहले कहा गया है। वह भी सम्यग्दृष्टि का प्रगट गुण है क्योंकि शुद्ध ज्ञान के बल से ही बाधा दूर की जा सकती है।

भावार्थ - अपने रत्नत्रय में इतनी प्रीति होना कि उसके लिये हर प्रकार के कष्ट और आपत्ति को खुशी से सहना यह स्व वात्सल्य है। देव-शास्त्र-गुरु की इतनी प्रीति होना कि उनके उपसर्गों को तन, मन, धन, जन्त्र, मन्त्र, तलवार इत्यादिक के द्वारा किसी प्रकार से दूर करने के लिये अपनी पर्याय के नाश तक की परवाह न करना परवात्सल्य है और जो सम्यग्दृष्टि विशेष ज्ञान के क्षयोपशम का धारी होता है वह तो अपने ज्ञानोपदेश रूपी अमृत से ही उनके उपसर्गों को दूर करा देता है। निश्चय से वह जानता है कि कोई किसी की बाधा दूर नहीं कर सकता फिर भी उसको अपनी भूमि के अनुसार दूर करने का विकल्प आये बिना नहीं रहता ऐसा ही वस्तु स्वभाव है।

श्रीसमयसारजी में कहा है

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३५ ॥

सूत्रार्थ - जो चेतयिता मोक्षमार्ग में स्थित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों (साधनों) के प्रति वात्सल्य करता है वह वात्सल्यभाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एकज्ञायक भावमयता के कारण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता (अनुभवन करता) है, इसलिये मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीति वाला है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ - मोक्ष सुख की सम्पदा के कारणभूत अहिंसामयी धर्म में और सब साधर्मियों में निरन्तर उत्कृष्ट प्रीति रखना चाहिये।

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

स्वयूथ्यान्प्रतिसद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ - अपने साधर्मियों के प्रति छलकपटरहित सद्भाव युक्त यथायोग्य आदर-सत्कार वात्सल्य कहा जाता है॥

श्री अमितगतिश्रावकाचार में कहा है

करोति संघे बहुधोपसर्गै - रुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः ।
चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो, वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टि ॥ ७९ ॥

सूत्रार्थ - मुनि आर्यिका श्रावक-श्राविका ऐसे च्यार प्रकार संघकौं बहुत प्रकार उपसर्गकरि पीडित भये संते जो वांछारहित धर्मबुद्धिकरि निर्मल वैयावृत्याचार करै है सो सम्यग्दृष्टि वात्सल्य करने वाला कहा है अर्थात् जिनधर्मीनविषैं वा आत्मस्वरूपविषैं अति प्रीति करना सो वात्सल्य अंग जानना।

बारहवाँ अवान्तर अधिकार

प्रभावना अंग का वर्णन सूत्र १५७७ से १५८५ तक ९

प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥ १५७७ ॥

सूत्रार्थ - प्रभावना नामक अंग भी निश्चय से सम्यग्दर्शन का गुण है जो (धर्म का) उत्कर्ष (बढ़ाव) करने रूप लक्षण से लक्षित है।

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि ।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥ १५७८ ॥

सूत्रार्थ - और अधर्म के पक्ष में पाप का किंचित् भी (उत्कर्ष) नहीं करना चाहिये क्योंकि अधर्म के उत्कर्ष की पुष्टि करने से धर्म पक्ष की क्षति होती है (अस्ति-नास्ति से लिखा है) ।

पूर्ववत्सोऽपिद्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः ।
तत्राद्यो परमादेयः समादेयः परोऽप्यतः ॥ १५७९ ॥

सूत्रार्थ - पहले की तरह वह (प्रभावना अंग) भी स्वात्मपरात्म के भेद से दो प्रकार का है। उनमें पहला श्रेष्ठ है - उपादेय है और दूसरा इसके बाद अर्थात् गौण रूप से उपादेय है।

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे ।
असत्सु प्रयत्नीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥ १५८० ॥

सूत्रार्थ - विरोधियों (विरोधी कारणों) के नहीं रहने पर जो धर्म में बल (पुरुषार्थ) की अधिकता से अधिकता की जाती है वह उत्कर्ष हैं। वह कहीं भी दोष के लिये समर्थ नहीं है।

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः ।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ १५८१ ॥

सूत्रार्थ - कोई जीव मोह रूपी शत्रु के नाश होने से शुद्ध है। फिर शुद्ध से शुद्धतर है, फिर शुद्धतम है यह (उत्तर-उत्तर शुद्धता का उत्कर्ष ही) आत्म प्रभावना है।

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥ १५८२ ॥

सूत्रार्थ - यह (आत्मोत्कर्ष) पुरुषार्थ के आधीन नहीं है किन्तु वास्तव में स्वभाव से है क्योंकि जैसे-जैसे ऊपर-ऊपर गुण श्रेणी में निर्जरा है वैसे-वैसे उत्तर-उत्तर (शुद्धि के उत्कर्ष) की सिद्धि है। (यह निमित्त की मुख्यता से प्रथम है। वास्तव में शुद्धि की वृद्धि तो पुरुषार्थ से ही होती है।)

बाह्यः प्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः ।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ १५८३ ॥

सूत्रार्थ - बाह्य प्रभावना अंग यह है कि विद्या मन्त्र-आदि बलों से और तप, दान-आदि से जैनधर्म का उत्कर्ष किया जाये।

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम् ।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ १५८४ ॥

सूत्रार्थ - मिथ्यात्व को बढ़ाने वाले दूसरों (अन्य मतियों) के अपकर्ष करने के लिये जो कुछ चमत्कार करने वाला कार्य है वह भी महात्माओं के द्वारा करने योग्य है।

उक्तः प्रभावनांगोऽपि गुणः सद्दर्शनान्वितः ।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ १५८५ ॥

सूत्रार्थ - प्रभावना अंग भी कहा जो सम्यग्दर्शन से अन्वित (अन्वय रूप से रहने वाला) गुण है। जिससे सम्यग्दर्शन के आठों गुण (अंग) सम्पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि अपने रत्नत्रय को बढ़ाने का नित्य प्रयत्न करता ही है यह निश्चय प्रभावना है। बहिरंग में शास्त्र लिखकर, प्रवचन द्वारा, पढ़ा कर जिस प्रकार से भी हो जैनमार्ग के उत्कर्ष का ही विकल्प आया करता है। यदि धनाढ्य सम्यग्दृष्टि होता है तो दान, पूजा, प्रतिष्ठा, जिनमन्दिर निर्माण आदि से जैनधर्म के उत्कर्ष का भाव भी उसे आये बिना नहीं रहता। अपनी शक्ति-अनुसार हर प्रकार से सम्यग्दृष्टियों को धर्म की प्रभावना का उत्साह रहता है किन्तु अपने रत्नत्रय में जिसप्रकार बाधा न आये और उसका भी उत्कर्ष होता जाये ऐसा कार्य वह करता है। साथ में चाहे अज्ञानियों द्वारा कितनी भी आपत्ति सहनी पड़े पर सम्यग्दृष्टि पाप के कार्यों की वृद्धि में कभी अपना सहयोग नहीं देता।

श्री समयसारजी में कहा है

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमई जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३६ ॥

सूत्रार्थ - जो चेतयिता विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ (चढ़ा हुआ) मनरूपी रथ के पथ में (ज्ञानरूपी रथ के चलने के मार्ग में) भ्रमण करता है; पर जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करने - विकसित करने - फैलाने के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है; इसलिए वह प्रभावना करने वाला है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ - निरन्तर ही रत्नत्रय के तेज से अपना आत्मा प्रभावना युक्त करना चाहिये अर्थात् निरन्तर अपने रत्नत्रय में वृद्धि करना निश्चय से स्वप्रभावना अङ्ग है। दान, तपश्चरण, जिनपूजा और ज्ञान के अतिशय से जिनधर्म प्रभावनायुक्त करना चाहिये अर्थात् धनवान हो तो दान, जिनपूजा, प्रतिष्ठा आदि कार्यों से, तपस्वी हो तो तप की अधिकता से, ज्ञानी हो तो प्रवचन, शास्त्र निर्माण, पठन-पाठन से जिनधर्म बढ़ाना यह व्यवहार से पर प्रभावना है।

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ - अज्ञान रूपी अंधकार के फैलाव को दूर करके यथायोग्य जिनशासन के महात्म्य को प्रकाश करना प्रभावना अंग है।

श्री अमितगतिश्रावकाचार में कहा है

निरस्तदोषे जिननाथशासने, प्रभावनां यो विदधाति शक्तितः ।
तपोदयाज्ञानमहोत्सवादिभिः, प्रभावकोऽसौ गदितः सुदर्शनः ॥ ८० ।

सूत्रार्थ - दूरि भये हैं रागादिक दोष जाके ऐसा जो जिननाथ का शासन ताविषैं जो शक्तिसारू तप, दया, ज्ञान महोत्सव इत्यादिकनि करि प्रभावनाकौं करै हैं उद्योत करै है सो यहु सम्यग्दृष्टि प्रभावना करने वाला कह्या है। सर्व जीव मानैं कि जिनमत धन्य है तामे ऐसे तपश्चरणादि पाइए है, ऐसे तपश्चरणादि करि जिनमत का उद्योत करणा तथा निश्चयतैं आत्माकूं रत्नत्रयतैं आभूषित करना सो प्रभावना अंग जानना।

उपसंहार १५८६-८७-८८=३ खास

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः ।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥ १५८६ ॥

सूत्रार्थ - सम्यग्दृष्टि आत्मा के ये श्रद्धा आदि गुण हैं जो सूत्र ११७८ से १५८५ तक निरूपण किये गये हैं तथा और भी अनेक गुण होते हैं। उनके विचार से बस (क्योंकि वे विकल्पात्मक हैं) जो विवक्षित अर्थात् परम आवश्यक बात है, वह बात अब कही जाती है।

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः ।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ १५८७ ॥

सूत्रार्थ - वह परम आवश्यक बात इस प्रकार है कि चेतना आत्मा का निज स्वरूप है। वह चेतना तीन प्रकार की है तो भी यहाँ सम्यग्दृष्टि के ज्ञान चेतना उपादेय है अर्थात् सम्यग्दृष्टि के ज्ञान चेतना समझनी चाहिये, अन्य दो नहीं और वह ज्ञान चेतना ही सम्यग्दर्शन का वास्तविक लक्षण है क्योंकि वह राग रहित वस्तु है।

श्रद्धानादिगुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह ।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ १५८८ ॥

सूत्रार्थ - ये श्रद्धान-आदिक गुण बाह्य उल्लेख सहचर के छल से इस सम्यग्दर्शन के लक्षण कहे गये हैं किन्तु वास्तव में तो सम्यग्दर्शन का एक लक्षण ज्ञान चेतना ही है (ज्ञान चेतना कहो या आत्मानुभूति कहो, एक ही बात है)।

भावार्थ - वास्तव में तो आत्मभूत सम्यग्दर्शन वही है जो श्रद्धा गुण की पर्याय है जिसका निरूपण सर्वप्रथम सूत्र ११४३ से ११५३ तक किया है। दूसरे नम्बर पर सम्यग्दर्शन का लक्षण शुद्ध स्वात्मानुभूति अर्थात् ज्ञान चेतना है। यह लक्षण सम्यग्दर्शन का अविनाभूत है और चौथे से सिद्ध तक सब जीवों में पाया ही जाता है। अतः अव्याप्ति दोष नहीं है। किसी भी मिथ्यादृष्टि में चाहे वह ग्यारह अंग का पाठी या महाव्रती मुनि ही क्यों न हो, नहीं पाया जाता अतः अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है। बिना आत्मानुभव कैसा सम्यग्दृष्टि, अतः असंभव दोष भी नहीं है। मिथ्यादृष्टि का लक्षण जो कर्म चेतना और कर्मफल चेतना है उसका सम्यग्दृष्टि कर्त्ता-भोक्ता न होने से वह दोष भी इस लक्षण में नहीं आता है और अन्य सब गुण इसके पेट में आ जाने से यही मुख्यतया सम्यग्दृष्टि का प्रधान लक्षण है जिसका विवेचन ग्रन्थकार ने सूत्र ११५५ से ११७७ तक किया है तथा चौथी पुस्तक में भी बहुत किया है। श्रीसमयसार की रचना तो सारी की सारी इसी लक्षण के आधार पर है। उस शास्त्र में तो सम्यग्दर्शन का केवल यही एक लक्षण स्वीकार किया गया है। अब गुरुदेव एक ओर मार्मिक और रहस्य की बात समझाते हैं कि सूत्र ११७८ से १५८५ तक जो सम्यक्त्व के लक्षण कहे गये हैं वे वास्तव में चारित्र गुण के विकल्प हैं, विकार हैं, पुण्य भाव हैं, आस्रवतत्त्व हैं अथवा (विकल्पात्मक ज्ञान की दशा होने से) उन्हें ज्ञान की पर्याय भी कह देते हैं। पर ये सहचर चिन्ह हैं। सम्यग्दृष्टियों में नीचे की भूमिकाओं में पाये जाते हैं ऊपर नहीं पाये जाते तथा आभास रूप से मिथ्यादृष्टियों में भी पाये जाते हैं। अतः ये वास्तविक लक्षण नहीं हैं। तथा इन लक्षणों में से किसी सम्यग्दृष्टि में किसी बात की आधिक्यता रहती है; किसी में किसी दूसरी बात की आधिक्यता रहती है। कोई-कोई बात किसी-किसी सम्यग्दृष्टि में अत्यन्त गौण भी रहती है तथा कभी किसी की मुख्यता हो जाती है, कभी किसी की। अतः ये परीक्षा के योग्य लक्षण नहीं हैं, पर आगम तथा लोकव्यवहार में लक्षण रूप से प्रसिद्ध हैं अतः हमने निरूपण कर दिये हैं तथा इनके निरूपण से एक यह भी लाभ है कि सम्यग्दृष्टि का अन्तरंग, बहिरंग सब झलक जाता है। उसका शुद्धभाव कैसा है, ज्ञान कैसा है, चारित्र कैसा है, विकल्प कैसा है, संयोग कैसा है, कैसे संयोगों में वह रहना चाहता है, किन कार्यों से उसे घृणा है इसका स्पष्ट दिग्दर्शन हो जाता है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य की बुद्धि का कमाल है। हम तो उन पर मुग्ध हैं। जिस विषय को भी उठाया है। सर्वांगदर्शन करा दिया है। क्या सम्यग्दर्शन का सांगोपांग निरूपण किया है। द्रव्यगुण पर्याय से स्पष्ट समझ में आ जाता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव के गणधर का काम लिया है। उनके अन्तरंग पेट को जानने का इन्हें गजब का अभ्यास था। क्या सम्यग्दर्शन का सर्वांग निरूपण आत्मभूत, अनात्मभूत, सहचर इत्यादिक रूप से किया है। बलिहारी है, उस महात्मा को कोटिशः नमस्कार द्वारा ही उनके उपकार को प्रगट करते हैं और उनके उपकार को किस प्रकार प्रगट करें कोई साधन नहीं है। मन का उल्लास भाव तो बहुत है जय हो श्रीअमृतचन्द्र गुरुदेव की।

परिशिष्ट

सम्यक्त्व के लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन

श्रीसमयसारजी में कहा है

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

अर्थ - भूतार्थ नय से जाने हुए जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व है। भाव यह है कि नौ तत्त्व में अन्वय रूप से पाये जाने वाले सामान्य का अनुभव सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन का स्वात्मानुभूति रूप अनात्मभूत लक्षण है; जिसका हमारे नायक श्री पंचाध्यायीकार ने सूत्र नं. ११५५ से ११७७ तक २३ सूत्रों में विवेचन किया है।

श्रीनियमसारजी में कहा है

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ॥ ५ ॥
विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ॥ ५१ ॥
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ॥ ५२ ॥

अर्थ - आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व होता है ॥ ५ ॥ विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय-आग्रह) रहित श्रद्धान वह ही सम्यक्त्व है ॥ ५१ ॥ चलता, मलिनता और अगाढता रहित श्रद्धान वह ही सम्यक्त्व है ॥ ५२ ॥ इसमें व्यवहार सम्यग्दर्शन रूप स्वभाव पर्याय का वर्णन इस ग्रन्थ में सूत्र ११७८ से ११९१ तक १४ सूत्रों में है।

श्री पंचास्तिकाय पन्ना १६९ श्री जयसेन टीका में कहा है -

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्य भावदो भावे ।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदिजुत्ते ॥ १ ॥
एवं जिनप्रज्ञप्तान् श्रद्दधतः भावतः भावान् ।
पुरुषस्य आभिनिबोधे दर्शनशब्दः भवति युक्तः ॥

अर्थ - इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये पदार्थो को भावपूर्वक श्रद्धान करने वाले पुरुष के मति (श्रुत) ज्ञान में दर्शनशब्द प्रयुक्त होता है। इस लक्षण में निरूपण तो श्रद्धा गुण की असली सम्यग्दर्शन पर्याय का है किन्तु वह नीची भूमि वाले सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को सहचर करके निरूपण किया गया है क्योंकि लेखक को आगे सम्यग्दृष्टि के ज्ञान के ज्ञेयभूत नौ पदार्थों का वर्णन करना था और उनकी भूमिका रूप यह सूत्र रचा गया है। इसका निरूपण हमारे नायक ने सूत्र नं. ११७८ से ११९१ तक १४ सूत्रों में किया है।

श्रीप्रवचनसारजी सूत्र २४२ की टीका में कहा है।

"ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण"

अर्थ - ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृत्त्व की तथाप्रकार (जैसी है वैसी ही, यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है ...। यहाँ सम्यग्दर्शन रूप असली पर्याय का निरूपण है। स्व परश्रद्धान लक्षण से उसे निरूपण किया है। यह लक्षण हमारे नायक ने सूत्र ११७८ से ११९१ में निरूपण किया है।

श्रीदर्शनप्राभृत में कहा है

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ २० ॥

अर्थ - जीव आदि कहे जे पदार्थ तिनिका श्रद्धान सो तौ व्यवहार तैं सम्यक्त्व जिन भगवान नैं कह्या है, बहुरि निश्चयतैं अपना आत्मा ही का श्रद्धान सो सम्यक्त्व है। यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व तो विकल्प रूप है जो निश्चय सम्यग्दर्शन का अविनाभावी चारित्र गुण का विकल्प है। इसका निरूपण हमारे नायक ने सूत्र ११७८ से ११९१ तक किया है। नीचे की पंक्ति में सम्यक्त्व का स्वात्मानुभूति लक्षण है। जिसको निश्चय सम्यक्त्व कहा है इसका निरूपण यहाँ सूत्र ११५५ से ११७७ तक २३ सूत्रों में किया है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय जी में कहा है

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत् ॥ २२ ॥

अर्थ - जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों का श्रद्धान सदा करना चाहिये। वह श्रद्धान विपरीत अभिप्राय से रहित है और वह 'आत्मरूप' है। आत्मरूप राग को नहीं कहते। शुद्धभाव को ही कहते हैं। यह लक्षण श्रद्धा गुण की असली सम्यग्दर्शन पर्याय का है। आरोपित नहीं है। जिसका निरूपण हमारे नायक ने सूत्र ११४३ से ११५३ तक ११ सूत्रों में किया है।

श्रीद्रव्यसंग्रहजी में कहा है

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि ॥ ४१ ॥

अर्थ - जीवादि नौ तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और वह आत्मा का रूप है। जिसके होने पर निश्चय करके ज्ञान विपरीताभिनिवेश (मिथ्या अभिप्राय) से रहित सम्यक् हो जाता है। यह लक्षण ज्यों का त्यों ऊपर के श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय मिलता है। आत्मरूप लिखकर इसमें आरोपित लक्षणों का तथा राग का निषेध कर दिया है और श्रद्धा गुण की असली स्वभाव पर्याय रूप सम्यग्दर्शन का द्योतक है। उसके होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है यह उसका लाभ है। इसका निरूपण इस ग्रन्थ में सूत्र ११४३ से ११५३ तक है।

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारजी में कहा है

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥

अर्थ - सच्चे देव, आगम और गुरुवों का तीन मूढ़ता रहित, आठ मद रहित तथा आठ अंग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह लक्षण उपर्युक्त श्री नियमसार के लक्षण से लिया गया है। है तो यह असली सम्यग्दर्शन का लक्षण, पर सम्यग्दर्शन के अविनाभावी चारित्र गुण के बुद्धिपूर्वक विकल्प पर आरोप करके निरूपण किया है क्योंकि उन्हें चरणानुयोग का ग्रन्थ बनाना इष्ट था। इसका निरूपण हमारे नायक ने सूत्र ११७८ से १५८५ तक किया है।

श्रीमोक्षशास्त्रजी में कहा है

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" - सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। है तो यह भी असली सम्यग्दर्शन का लक्षण पर अविनाभावी केवलज्ञान की पर्याय का सहचर करके निरूपण किया है। क्योंकि उन्होंने सात तत्त्वों के ज्ञान कराने के उद्देश्य से ग्रन्थ लिखा हैं। शेष सब ग्रन्थों के लक्षण उपर्युक्त सब लक्षणों के पेट में ही आ जाते हैं तथा उपर्युक्त के समझ लेने से पाठक अन्य पुस्तकों के लक्षणों को स्वयं समझ जाता है।

निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शन

यह विषय समझना परमावश्यक है और हम उसपर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं। यह विषय वास्तविक रूप में उसी को समझ आयेगा जिसके द्रव्य, गुण, पर्याय का अच्छा ज्ञान होगा। इस विषय में जितनी भी भूल जगत् में चलती है वह सब द्रव्य, गुण, पर्याय की अज्ञानता के कारण चलती है। अस्तु (१) आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य इत्यादि अनन्त गुणों की तरह एक सम्यक्त्व नाम का गुण है। इसको श्रद्धा गुण भी कहते हैं। इसकी केवल छः पर्यायें होती हैं (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र अर्थात् सम्यक् मिथ्यात्व (४) औपशमिक सम्यग्दर्शन (५) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन (६) क्षायिक सम्यग्दर्शन। सातवीं कोई पर्याय इस गुण में नहीं होती। व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शन नाम का कोई पर्याय भेद इस गुण में है ही नहीं। यह सिद्धान्त पद्धति है। केवलज्ञान के आधार पर इसका निरूपण होता है। इस पद्धति में एक गुण की पर्याय का आरोप दूसरे गुण पर नहीं होता किन्तु प्रत्येक गुण का भिन्न-भिन्न विचार किया जाता है। इस पद्धति में क्षायिक सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन भी कहते हैं और औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को सराग सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। इस प्रकार सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन दोनों श्रद्धा गुण की वास्तविक पर्याय बन जाती हैं। यह पद्धति श्रीराजवार्तिकजी में है तथा श्रीअमितगतिश्रावकाचार में यह श्लोक है -

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा ।
विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरं द्वयम् ॥ ६५ ॥

अर्थ - वीतराग अर सराग ऐसैं सम्यक्त्वदोय प्रकार कह्या है। तथा क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है और क्षयोपशम, उपशम ए दोय सम्यक्त्व सराग हैं।

(२) अध्यात्म में पहली तीन पर्यायों को सामान्यतया मिथ्यादर्शन कहा जाता है और पिछली तीन पर्यायों को सामान्यतया सम्यग्दर्शन कहा जाता है। अथवा यूँ भी कह सकते हैं कि सासादन और सम्यक् मिथ्यात्व का अध्यात्म में निरूपण नहीं होता केवल मिथ्यात्व पर्याय का निरूपण होता है जो श्रद्धा गुण की विभाव या विपरीत पर्याय कही जाती है क्योंकि अध्यात्म का निरूपण ऐसे ढंग से होता है जो हम लोगों की पकड़ में आ सके। उसी प्रकार औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का मुख्यतया अध्यात्म में निरूपण नहीं होता केवल क्षायिक सम्यक्त्व का निरूपण होता है।(प्रमाण श्री नियमसार गा. ५१, ५२ जो श्रद्धा गुण की स्वभाव अर्थात् सीधी पर्याय कही जाती है यह पर्याय वास्तविक सम्यग्दर्शन है) तत्त्वार्थ श्रद्धान या आत्म श्रद्धान इसका लक्षण है। इस पर्याय में निश्चय व्यवहार का कोई भेद नहीं है। गुणभेद करके केवल श्रद्धागुण की अपेक्षा यदि जानना चाहते हो तो बस सम्यग्दर्शन के बारे में इतनी ही बात है (३) अब अभेद की दृष्टि से कुछ निरूपण करते हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मा में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय चौथे में ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। उस ज्ञान गुण का परिणमन उपयोग रूप भी है। यह उपयोग किसी समय स्व को जानता है तो किसी समय पर को जानता है। जिस समय चौथे में ही उस सम्यग्दृष्टि आत्मा का ज्ञानोपयोग सब पर ज्ञेयों से हटकर केवल आत्मसंचेतन करने लगता है उस समय उसको स्वात्मानुभूति कहते हैं। उस समय बुद्धिपूर्वक विकल्प (राग) नहीं होता। आत्मा का उपयोग केवल स्व सन्मुख होकर अपने अतीन्द्रिय सुख का भोग करता है। इस ज्ञान की स्वात्मानुभूति को अखण्ड आत्मा होने के कारण 'सम्यग्दर्शन' भी कह देते हैं पर इतना विवेक रखना चाहिये कि यह मति श्रुतज्ञान की पर्याय है। श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं है और इसके सम्यग्दर्शन कहना सम्यग्दर्शन का अनात्मभूत लक्षण है। आत्मभूत लक्षण नहीं है। क्योंकि इस स्वात्मानुभूति में बुद्धिपूर्वक विकल्प (राग) नहीं होता अतः इसको निश्चय सम्यग्दर्शन भी कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के साथ निश्चय विशेषण लगाने से बुद्धिपूर्वक राग का निषेध हो जाता है और वह स्वात्मानुभूति दशा का द्योतक हो जाता है। श्रीसमयसारजी में इस पद्धति का निरूपण है। वह दशा चौथे में भी होती है, पाँचवें, छठे में भी होती है तथा सातवें से सिद्ध तक तो है ही स्वात्मानुभूति रूप दशा (प्रमाण श्री आत्मावलोकन पन्ना १६५-१६६)।

(४) जिस समय सम्यग्दृष्टि का ज्ञान स्वात्मानुभूति से छूटकर पर में जाता है और जीवादि नौ पदार्थों को भेदरूप जानता है। उस समय उसके ज्ञान में बुद्धिपूर्वक राग भी आ जाता है। अतः उस समय बुद्धिपूर्वक ज्ञान की अपेक्षा तथा नौ तत्त्वों को भेद सहित और रागसहित जानने के कारण उस ज्ञान के परिणमन को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इसमें सम्यग्दर्शन शब्द तो यह बताता है कि ज्ञान श्रद्धा गुण की सम्यक्त्व पर्याय को लिये हुए है और व्यवहार शब्द यह बतलाता है कि उस ज्ञान में बुद्धिपूर्वक राग भी है। यह जो नौ पदार्थों के जानने रूप ज्ञान की पर्याय को व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है वहाँ यह विवेक रहना चाहिये कि यह सम्यक्त्व का सहचर लक्षण है और वस्तुस्थिति उपर्युक्त अनुसार है यह भी सम्यक्त्व निरूपण की पद्धति है। तत्त्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन इसी पद्धति से कहा जाता है।

(५) सम्यग्दृष्टि आत्मा में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय चारित्र भी सम्यक्चारित्र हो जाता है। जिस समय चौथे से ही सम्यग्दृष्टि आत्मा उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति करता है उस समय इस गुण में अबुद्धिपूर्वक तो राग रहता है पर बुद्धिपूर्वक राग नहीं रहता। अतः स्वात्मानुभूति के समय जब सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कहा जाता है तो उसमें इस गुण का वीतराग अंश भी समाविष्ट है। जिससमय स्वात्मानुभूति से छूटकर सम्यग्दृष्टि आत्मा पर में प्रवृत्त होता है जैसे पूजा, पाठ, शास्त्र, स्वाध्याय प्रवचन इत्यादि में। उस समय इस गुण में बुद्धिपूर्वक राग का परिणमन रहता है। इस बुद्धिपूर्वक विकल्प को व्यवहार सम्यक्त्व या व्यवहार ज्ञान कह देते हैं। पर कहते हैं उसी जीव में, जिसमें दर्शनमोह का उपशमादि होकर वास्तविक सम्यग्दर्शन साथ हो। मिथ्यादृष्टि के श्रद्धान या ज्ञान या चारित्र को निश्चय या व्यवहार कोई भी सम्यक्त्व नहीं कहते। यह बात बराबर ध्यान में रहनी चाहिये। जहाँ कहीं मिथ्यादृष्टि के व्यवहार श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र कह भी दिया हो तो समझ लेना चाहिये कि वहाँ श्रद्धाभास, ज्ञानाभास तथा चारित्राभास को व्यवहार श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र का नाम दिया है और सम्यक्शब्द तो मिथ्यादृष्टि के लिये प्रयोग होता ही नहीं है।

अब इस कथन को उपर्युक्त आगम प्रमाण से मिलाकर दिखाते हैं। श्रीसमयसारजी में उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है जो मति, श्रुत, ज्ञान की पर्याय है पर क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि को ही होती है अतः वह कथन निर्दोष है। श्री पंचास्तिकाय में सम्यग्दर्शन के सहभावी विकल्पात्मक ज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है।

श्रीदर्शनपाहुड़ में सम्यक्त्व के अविनाभावी चारित्रगुण के बुद्धिपूर्वक विकल्प सहित ज्ञान के परिणमन को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति को निश्चय सम्यक्त्व कहा है। श्रीप्रवचनसार में सम्यक्त्व के अविनाभावी सामान्यज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है चाहे वह ज्ञान लब्धिरूप हो या उपयोग रूप हो। श्री पुरुषार्थसिद्धि तथा श्री द्रव्यसंग्रह में श्रद्धागुण की सीधी सम्यग्दर्शन पर्याय का निरूपण है उसमें निश्चय व्यवहार का भेद नहीं है। श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यक्त्व की अविनाभावी चारित्र गुण के देव, शास्त्र, गुरु के विकल्पात्मक परिणमन को सम्यग्दर्शन कहा है। श्री मोक्षशास्त्र में सम्यक्त्व के अविनाभावी विकल्पात्मक ज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है श्री सर्वार्थसिद्धि में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा सम्यक्त्व का लक्षण मिलता है यह सम्यक्त्व के अविनाभावी चारित्र गुण का विकल्पात्मक परिणमन है। श्री आत्मानुशासन में जो सम्यक्त्व के मूल सम्यक्त्व आदि दस भेद किये हैं वे अनेक निमित्तों की अपेक्षा सम्यक्त्व से अविनाभावी हैं। श्रीप्रवचनसार सूत्र २४२ की टीका में एक और ही प्रकार का व्यवहार निश्चय मिलता है। वहाँ अप्रमत्त दशा की बात है। अप्रमत्त दशा में रत्नत्रय में बुद्धिपूर्वक विकल्प का तो अभाव हो जाता है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भिन्न-भिन्न वेदन न होकर पानकवत् एकाग्र वेदन होता है सो आचार्य कहते हैं कि गुण भेद करके भिन्न-भिन्न गुण की पर्याय से यदि मोक्षमार्ग कहो तो वही व्यवहार मोक्षमार्ग है और यदि गुण भेद न करके अभेद से कहो तो वही निश्चय मोक्षमार्ग है। यहाँ राग को व्यवहार और वीतरागता को निश्चय नहीं किन्तु पर्याय भेद को व्यवहार और पर्याय अभेद को निश्चय कहा है। श्री द्रव्यसंग्रह में बहुत सुन्दर विवेचन है। उन्होंने सम्यग्दर्शन जो श्रद्धा गुण की असली पर्याय है उसे तो निश्चय सम्यग्दर्शन लिखा है। ज्ञान की पर्याय स्वपर के जानने रूप है। उसमें निश्चय व्यवहार का भेद नहीं किया। चारित्र गुण का परिणमन क्योंकि वीतरागरूप भी होता है और सरागरूप भी। अतः पर्याय के टुकड़े करके जितने अंश में वह चारित्रगुण शुभ विकल्प रूप परिणमन कर रहा है उतने अंश में तो उसको व्यवहार चारित्र कहा है। ज्ञानी का व्यवहार है। क्योंकि सम्यक् शब्द शुद्ध भाव के लिये ही Reserve है यह सम्यक् विशेषण केवल राग को नहीं लगाया जाता चाहे वह राग ज्ञानी का हो या अज्ञानी का और जितने अंश में चारित्र वीतराग रूप परिणमन कर रहा है उसको निश्चय सम्यक् चारित्र कहा है। इन्होंने पूरे द्रव्य, गुण, पर्याय के हिसाब से लिखा है सब झगड़ा ही खत्म कर दिया है। यह विवेचन शुद्ध अर्थात् भिन्न-भिन्न गुण भेद की पर्याय के अनुसार है। आरोप का काम नहीं है। श्री नियमसार सूत्र ५ तथा ५१-५२ की प्रथम पंक्तियों में व्यवहार सम्यक्त्व का निरूपण है। सूत्र ५१-५२ की अन्तिम पंक्तियों में सम्यग्ज्ञान का तथा ५४-५५ में चारित्र की प्रथम पंक्ति में निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का निरूपण है। सूत्र ५६ से ७६ तक ज्ञानी के विकल्परूप शुभ व्यवहार चारित्र का विवेचन है और ७७ से १५८ तक वीतराग अंश रूप निश्चय चारित्र का वर्णन है। श्रीद्रव्यसंग्रह में सूत्र ४१ में शुद्ध सम्यग्दर्शन का, सूत्र ४२ में शुद्ध सम्यग्ज्ञान का सूत्र ४५ में व्यवहार चारित्र का - इसमें चारित्र का सम्यक् विशेषण नहीं है यह खास देखने की बात है यद्यपि ज्ञानी का विकल्प है। सूत्र ४६ में वीतराग चारित्र का, अज्ञानी को व्यवहार भी नहीं कहा। हमें यह पद्धति बहुत पसन्द आई है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में तीनों शुद्धभाव रूप लिये हैं। राग को अंगीकार नहीं किया बल्कि राग का तो निषेध किया है। श्री तत्त्वार्थसार में ज्ञानी मुनि की विकल्पात्मक प्रवृत्ति को व्यवहार संज्ञा दी है और निर्विकल्प मुनि को निश्चय संज्ञा दी है। श्री पंचास्तिकाय में भी यही बात है। श्रीसमयसार में शुद्ध अंश को निश्चय रत्नत्रय और राग अंग को व्यवहार कहा है पर उस राग के साथ सम्यक् विशेषण नहीं है। पं. टोडरमलजी के अन्तिम नवमें अध्याय में शुद्ध असली सम्यक्त्व है उसको तो निश्चय सम्यक्त्व कहा है और जितने अंश में राग है अर्थात् ज्ञान के साथ उस जाति का बुद्धिपूर्वक विकल्प है उसको व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। इसप्रकार दोनों प्रकार के सम्यक्त्व को एक समय में कहा है तथा उससे आगे वे लिखते हैं कि सम्यग्दृष्टि के राग पर ही व्यवहार सम्यक्त्व का आरोप आता है। मिथ्यादृष्टि के राग पर नहीं अर्थात् मिथ्यादृष्टि के राग को व्यवहार सम्यक्त्व नहीं कहते। सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले जो विकल्पात्मक नौ पदार्थ की श्रद्धा है। वह मिथ्या श्रद्धा है उसको व्यवहार सम्यक्त्व नहीं कहते। आगे चलकर लिखते हैं कि जिस जीव को नियम से सम्यक्त्व होने वाला है और वह करणलब्धि में स्थित है उसकी विकल्पात्मक श्रद्धा को तो व्यवहार सम्यक्त्व कह सकते हैं क्योंकि वहाँ नियम से निश्चय सम्यक्त्व उत्पन्न होने वाला है। श्रीजयसेन आचार्य तथा श्रीब्रह्मदेव सूरि आदि जिन आचार्यों ने एक समय में व्यवहार निश्चय रूप दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग माना है उन्होंने तो शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्यायों को तो निश्चय कहा है और राग को व्यवहार कहा है और जिन्होंने भिन्न-भिन्न समय की मुख्यता से कहा है उन्होंने सम्यग्दृष्टि मुनि की सविकल्प अवस्था को व्यवहार

रत्नत्रय और निर्विकल्प अवस्था को निश्चय रत्नत्रय कहा है (बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ३९ की टीका इन दोनों पद्धतियों का स्पष्ट प्रमाण है) जिन्होंने एक समय में माना है उन्होंने राग पर कारण का आरोप कर दिया है और निश्चय तो है ही कार्य रूप और जिन्होंने ज्ञान की सविकल्प (व्यवहार रत्नत्रय) अवस्था को कारण नहीं है और निर्विकल्प अवस्था को कार्य माना है उनका आशय ऐसा है कि जो भेदसहित तत्त्वों का ज्ञाता होगा वही तो विकल्प तोड़कर निर्विकल्प दशा रूप कार्य अवस्था को प्राप्त करेगा। बाकी यह सब कहने का कार्य कारण है। वास्तव में तो सामान्य आत्मा का आश्रय ही तीनों शुद्ध भावों का वास्तविक कारण नहीं है क्योंकि सामान्य में से ही तो शुद्ध रत्नत्रय प्रगट होता है और व्यवहार (राग का कारण परवस्तु का आश्रय है क्योंकि पर में अटकने से ही तो राग की उत्पत्ति होती है। यह वास्तविक कारण है। राग और शुद्धभाव का क्या कार्यकारण? एक बन्धरूप है एक मोक्षरूप है? ये तो दोनों विरोधी हैं। विपरीत कार्य के करने वाले हैं।

कोई भी सम्यक्त्व कहो उसमें श्रद्धा गुण की स्वभाव पर्याय का सहचर होना अवश्यंभावी है। वास्तव में सम्यग्दर्शन कई प्रकार का नहीं है किन्तु उसका निरूपण कई प्रकार का है। सम्यग्दर्शन तो श्रद्धा गुण की स्वभाव पर्याय होने से एक ही प्रकार का है। उसका कथन कहीं द्रव्यकर्म रूप निमित्त की अपेक्षा से औपशमिक आदि तीन प्रकार का है। कहीं बुद्धिपूर्वक राग के असद्भाव और सद्भाव के कारण निश्चय व्यवहार दो प्रकार का है। कहीं श्रद्धा गुण की अपेक्षा कथन है, कहीं ज्ञान गुण की अपेक्षा कथन, कहीं चारित्र की अपेक्षा कथन है। सिद्धों के आठ गुणों में श्रद्धा और चारित्र दोनों की इकट्ठी एक शुद्ध पर्याय का नाम सम्यक्त्व है वहाँ ज्ञान को भिन्न कर दिया है और चारित्र को सम्यक्त्व में समाविष्ट कर दिया है। कहाँ तक कहें। कहने वाले का अभिप्राय क्या है तथा प्रकरण क्या है यह जानने की आवश्यकता है तथा द्रव्य, गुण, पर्याय का ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिये। फिर भूल का अवकाश नहीं है। एक बात और खास यह है कि बिना असली सम्यग्दर्शन रूप पर्याय प्रगट हुए भी मिथ्यादृष्टि जो शास्त्र के बल से तत्त्वार्थ की विकल्पात्मक श्रद्धा करता है ग्यारह अंग तक का विकल्पात्मक ज्ञान करता है तथा छह काय के जीवों की रक्षा करता है उसकी आगम में व्यवहार कहने की पद्धति है जैसे श्री प्रवचनसार सूत्र २३९ के शीर्षक में मिथ्यादृष्टि के तीनों कहे हैं, श्री समयसारजी सूत्र २७६ में मिथ्यादृष्टि के तीनों आचारादि शास्त्र ज्ञान को ज्ञान, जीवादि के श्रद्धान को श्रद्धान और षट्काय के जीवों की रक्षा को चारित्र कहकर झट २७७ में उसका निषेध कर दिया है कि रत्नत्रय तो आत्माश्रित शुद्धभाव है यह राग रत्नत्रय नहीं हो सकता इसमें इतना विवेक रखने की आवश्यकता है कि मिथ्यादृष्टि के श्रद्धानादि को व्यवहार कहने पर भी वह व्यवहाराभास है। न व्यवहार रत्नत्रय है न निश्चय रत्नत्रय है।

श्री समयसारजी कलश नं. ६ में कहा है कि नौ तत्त्वों की विकल्पात्मक श्रद्धा को छोड़कर एक आत्मानुभव हमें प्राप्त हो। वहाँ भी रागवाली नौ पदार्थों की श्रद्धा से आशय है। कुछ लोगों का ऐसा भी कहना है कि सम्यग्दर्शन से पूर्व होने वाली नौ पदार्थों की श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले व्यवहार रत्नत्रय होता ही नहीं। इसकी साक्षी भी पंचास्तिकाय सूत्र १०६ तथा १०७ की टीका में नियम कर दिया है कि दर्शनमोह के अनुदय और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पहले कोई मोक्षमार्ग नहीं। बिना निश्चय के व्यवहार किसका। अब सार बात यह है कि वास्तव में तो सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की निर्विकल्प शुद्ध पर्याय है जो चौथे से सिद्ध तक एक रूप है। उसमें निश्चय व्यवहार है ही नहीं। वास्तव में यह व्यवहार निश्चय की कल्पना से रहित है। सम्यक्त्व अद्वैत रूप है। इसकी चर्चा स्वयं ग्रन्थकार छठी पुस्तक में करेंगे। ये अनेकान्त आगम की तीक्ष्णधारा है। गुरुगम से चलानी सीखनी पड़ती है अन्यथा रागरूप शत्रु का गला कटने की बजाय जीव स्वयं खड्डे में पड़ जाता है। विशेष सद्गुरु के परिचय से जानकारी करें। हम जैसे तुच्छ पामर क्या आंगम का पार पा सकते हैं ? सद्गुरु देव की जय । ओं शान्ति।

श्री चिद्विलास परमागम में कहा है :-

चौथे गुणस्थान वाला जीव श्री सर्वज्ञ कर कहे हुए वस्तु स्वरूप को चिंतवन करता है, उसको सम्यक्त्व हो गया है। उस सम्यक्त्व के ६७ भेद हैं। वे कहते हैं।

प्रथम श्रद्धान के चार भेद हैं -

(१) परमार्थ संस्तव – सात तत्त्व हैं। उनका स्वरूप ज्ञाता चिन्तवन करता है। चेतना लक्षण, दर्शनज्ञानरूप उपयोग-अनादि अनन्त शक्ति सहित अनन्त गुणों से शोभित मेरा स्वरूप है। अनादि से परसंयोग के साथ मिल्या है तो भी (हमारा) ज्ञान उपयोग हमारे स्वरूप में ज्ञेयाकार होता है; पर ज्ञेयरूप नहीं होता है (हमारी) ज्ञान शक्ति अविकाररूप अखण्डित रहती है। ज्ञेयों को अवलम्बन करती है पर निश्चय से परज्ञेयों को छूती भी नहीं है। उपयोग परको देखता हुआ भी अनदेखता हैं, पराचरण करता हुआ भी अकर्त्ता है – ऐसे उपयोग के प्रतीति भाव को श्रद्धता है। अजीवादिक पदार्थों को हेय जानकर श्रद्धान करता है। वारम्बार भेदज्ञान द्वारा स्वरूप चिन्तवन करके स्वरूप की श्रद्धा हुयी, उसका नाम परमार्थ संस्तव कहा जाता है।

(२) मुनित परमार्थ – जिनागम-द्रव्यश्रुत द्वारा अर्थ को जानकर ज्ञान ज्योति का अनुभव हुआ, उसको मुनित परमार्थ कहते हैं।

(३) यतिजन सेवा – वीतराग स्वसंवेदन द्वारा शुद्ध स्वरूप का रसास्वाद हुआ, उसमें प्रीति-भक्ति-सेवा, उसको यतिजन सेवा कहा जाता है।

(४) कुदृष्टिपरित्याग – परालम्बी बहिर्मुख मिथ्यादृष्टि जनों के त्याग को कुदृष्टि परित्याग कहा जाता है।

सम्यक्त्व के तीन चिन्ह कहते हैं –

(५) १. जिनागमशुश्रूषा – अनादि की मिथ्यादृष्टि को छोड़कर, जिनागम में कहे हुए ज्ञानमय स्वरूप को पाया जाता है। उसमें उपकारी जिनागम है। उस जिनागम के प्रति प्रीति करें। ऐसी प्रीति करे कि जैसे दरिद्री को किसी ने चिन्तामणि दिखाया, तब उससे चिन्तामणि पाया। उस समय जैसे वह दरिद्री उस दिखाने वाले से प्रीति करता है, वैसी प्रतीति श्रीजिनसूत्र से (सम्यग्दृष्टि) करे, उसको जिनागम शुश्रूषा कहा जाता है।

(६) २. धर्मसाधन में परमअनुराग – जिनधर्म रूप अनन्त गुण का विचार वह धर्मसाधन है। उसमें परमअनुराग करे; धर्म साधन में अनुराग दूसरा चिन्ह है।

(७) ३. जिनगुरु वैयावृत्य – जिस गुरु द्वारा ज्ञान-आनन्द पाया जाता है, इसलिये उनकी वैयावृत्य-सेवा-स्थिरता करें; वह जिनगुरुवैयावृत्य तीसरा चिन्ह कहा जाता है। ये तीनों चिन्ह अनुभवी के हैं।

अब दस विनय के भेद कहते हैं –

(८ से १७) १. अरहंत, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. साधु, ६. प्रतिमा, ७. श्रुत, ८. धर्म, ९. चार प्रकार का संघ और १०. सम्यक्त्व; इन दस की विनय करे; उन द्वारा स्वरूप की भावना उत्पन्न होती है।

अब तीन शुद्धि कहते हैं –

(१८ से २०) – मन-वचन-काय शुद्ध करके स्वरूप भावे और स्वरूप अनुभवी पुरुषों में इन तीनों को लगावें; स्वरूप को निःशंक निःसंदेहपने ग्रहे।

अब पांच दोषों का त्याग कहते हैं (अतीचार)

(२१) १. सर्वज्ञ वचन को निःसंदेहपणे माने।

(२२) २. मिथ्यामत की अभिलाषा न करे; पर – द्वैत को न इच्छे ।

(२३) ३. पवित्र स्वरूप को ग्रहे, पर ऊपर ग्लानि न करे।

(२४) ४. मिथ्यात्वी परग्राही द्वैत की मन द्वारा प्रशंसा न करे। उसी प्रकार

(२५) ५. वचन द्वारा (उस मिथ्यात्वी के) गुण न कहे।

अव सम्यक्त्व की प्रभावना के आठ भेद कहते हैं –

(२६) १. पवयणी – (अर्थात् सिद्धान्त का जानकार) सिद्धान्त में स्वरूप को उपादेय कहे।

(२७) २. धर्मकथा – जिनधर्म का कथन कहे।

(२८) ३. वादी - हट द्वारा द्वैत का आग्रह होय तो छुड़ावे और मिथ्यावाद मिटावे ।

(२९) ४. निमित्त - स्वरूप पाने में निमित्त जिनवाणी, गुरु तथा स्वधर्मी है और निजविचार है; निमित्त रूप से जो धर्मज्ञ है उसका हित कहे ।

(३०) ५. तपस्वी - परद्वैत की इच्छा मिटाकर निज प्रताप प्रगट करे।

(३१) ६. विद्यावान् - विद्या द्वारा जिनमत का प्रभाव कहे, ज्ञान द्वारा स्वरूप का प्रभाव करे।

(३२) ७. सिद्ध - स्वरूपानन्दी का वचनद्वारा हित करे, संघ की स्थिरता करे, जिस द्वारा स्वरूप की प्राप्ति होती है उसको सिद्ध कहते हैं।

(३३) ८. कवि - कवि स्वरूप सम्बन्धी रचना रचे, परमार्थ को पावे, प्रभावना करे। इस आठ भेदों द्वारा जिनधर्म का - स्वरूप का प्रभाव बढ़े, ऐसा करे, ये अनुभवी के लक्षण हैं।

अब छह भावना कहते हैं: - (खास)

(३४) १. मूलभावना - सम्यक्त्व-स्वरूप अनुभव वह सकल निज धर्ममूल-शिवमूल है। जिनधर्मरूपी कल्पतरु का मूल सम्यक्त्व है ऐसा भावे (दंसणमूलो धम्मो)।

(३५) २. द्वारभावना - धर्म नगर में प्रवेश करने के लिये सम्यक्त्व द्वार है।

(३६) ३. प्रतिष्ठाभावना - व्रत - तप की, स्वरूप की प्रतिष्ठा सम्यक्त्व से है।

(३७) ४. निधान्भावना - अनन्तसुख देने का निधान सम्यक्त्व है।

(३८) ५. आधारभावना - सब गुणों का भाजन सम्यक्त्व है। ये छह भावनायें स्वरूप रस प्रगट करती हैं।

(३९) ६. भाजनभावना - सब गुणों का भाजन सम्यक्त्व है। ये छह भावनाएँ स्वरूप रस प्रगट करती हैं।

अब सम्यक्त्व के पाँच भूषण लिखते हैं -

(४०) १. कौशल्यता - परमात्मभक्ति, परपरिणाम और पापपरित्याग (रूप) स्वरूप, भावसंवर और शुद्धभावपोषक क्रिया को कौशल्यता कहते हैं।

(४१) २. तीर्थसेवा - अनुभवी वीतराग सत्पुरुषों के संग को तीर्थसेवा कहते हैं।

(४२) ३. भक्ति - जिनसाधु और स्वधर्मी की आदरता द्वारा उसकी महिमा बधाना - उसको भक्ति कहते हैं।

(४३) ४. स्थिरता - सम्यक्त्व भाव की दृढ़ता वह स्थिरता है।

(४४) ५. प्रभावना - पूजा - प्रभाव करना वह प्रभावना है। ये भूषण, सम्यक्त्व के हैं।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण हैं। वे क्या-क्या हैं उनको कहते हैं -

(४५) १. उपशम - राग-द्वेष को मिटाकर स्वरूप की भेंट करना वह उपशम है।

(४६) २. संवेग - निजधर्म तथा जिनधर्म के प्रति राग-वह संवेग है।

(४७) ३. निर्वेद - वैराग्य भाव वह निर्वेद है।

(४८) ४. अनुकम्पा - स्वदया-परदया वह अनुकम्पा है।

(४९) ५. आस्तिक्य - स्वरूप की तथा जिनवचनों की प्रतीति वह आस्तिक्य है, ये लक्षण अनुभवी के हैं।

अब छह जैनसार लिखते हैं -

(५०) १. वंदना - परतीर्थ, परदेव और परचैत्य-उनकी वन्दना न करे।

(५१) २. नमस्कार - उनकी पूजा या नमस्कार न करे ।

(५२) ३. दान – उनको दान न करे ।

(५३) ४. अनुप्रयाण – (उनके लिये) अपने खान-पान से अधिक न करे।

(५४) ५. आलाप – प्रणति सहित संभाषण, उसको आलाप करते है, वह उनके साथ न करे।

(५५) ६. संलाप – गुण, दोष सम्बन्धी पूछना कि बारंबार भक्ति करना संलाप है वह उनकी न करे।

अब सम्यक्त्व के छः अभंग कारण लिखते हैं। जो सम्यक्त्व के भंग के कारण पाकर न डिगे उनको अभंग कारण कहते हैं। उनके छः भेद हैं।

(५६ से ६१) – १. राजा, २. जनसमुदाय, ३. बलवान, ४. देव, ५. पितादिक बड़े जन और ६. माता। ये सम्यक्त्व के अभंगपने में छः भय हैं। उनको जानता रहे पर उनके भय से निजधर्म तथा जिनधर्म को न तजे।

अब सम्यक्त्व के छः स्थान लिखते हैं:-

(६२) १. जीव है – आत्मा अनुभव सिद्ध है। चेतना में चित्त लीन करे; जीव अस्ति रूप है वह केवल ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष है।

(६३) २. नित्य है – द्रव्यार्थिक नय से नित्य है।

(६४) ३. कर्त्ता है – आत्मा पुण्य-पाप का कर्त्ता है।

(६५) ४. भोक्ता है – आत्मा पुण्य-पाप का भोक्ता भी है। यह पुण्य पाप का कर्त्ता भोक्तापना मिथ्यादृष्टि में है। निश्चय नय से आत्मा उनका कर्त्ता कि भोक्ता नहीं है।

(६६) ५. अस्ति ध्रुव (मोक्ष) है – निर्वाण स्वरूप अस्ति ध्रुव है। व्यक्त निर्वाण वह अक्षय मुक्ति है और

(६७) ६. मोक्ष का उपाय है – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्ष का उपाय है।

सम्यक्त्व के ये ६७ भेद परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है।

हमारा नोट – सम्यक्त्व तो एक ही प्रकार का होता है। उसमें भेद नहीं होते। उससे अविनाभावी उस सम्यग्दृष्टि आत्मा के ज्ञान, चारित्र आदि में क्या-क्या विशेषतायें आ जाती हैं उनका यह कथन है। चिद्विलास के अतिरिक्त और किसी शास्त्र में हमारे देखने में नहीं आया है। मुमुक्षुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी समझकर यहाँ दे दिया है।

कण्ठस्थ करने योग्य प्रश्नोत्तर

प्रश्न २३० – सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं ?

उत्तर – आत्मा के सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण की स्वभावपर्याय को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह शुद्ध भाव रूप है। राग रूप नहीं है। आत्मा की एक शुद्धि विशेष का नाम है। तत्त्वार्थश्रद्धान या आत्मश्रद्धान उसका लक्षण है। ये चौथे से सिद्ध तक सब जीवों में एक जैसा पाया जाता है।

प्रश्न २३१ – मिथ्यादर्शन किसको कहते है ?

उत्तर – आत्मा के सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण की विभाव पर्याय को मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह मोह रूप है। आत्मा में कलुषता है। स्वपर का एकत्व इसका लक्षण है।

प्रश्न २३२ – सम्यक्त्व का लक्षण स्वात्मानुभूति क्या है ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि का मति श्रुत ज्ञान जिस समय सम्पूर्ण परज्ञेयों से हट कर मात्र आत्मानुभव करने लगता है उसको स्वात्मानुभूति कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन की सहचरता के कारण और बुद्धिपूर्वक राग के अभाव के कारण इसी को निश्चयसम्यग्दर्शन भी कहते हैं।

प्रश्न २३३ - सम्यक्त्व का लक्षण श्रद्धा, रुचि, प्रतीति क्या है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि का मति श्रुत ज्ञान जब विकल्प रूप से नौ तत्त्वों की जानकारी तथा श्रद्धा में प्रवृत्त होता है उस विकल्प को या विकल्पात्मक ज्ञान को सम्यक्त्व का सहचर होने से व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है।

प्रश्न २३४ - सम्यक्त्व का लक्षण चरण, प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा आस्तिक्य, भक्ति, वात्सल्यता, निन्दा, गर्हा क्या है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व के अविनाभावी अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हो जाता है और उसके अभाव से उसके चारित्र में शुभक्रियाओं में प्रवृत्ति होती है। उस शुभ विकल्प रूप मन की प्रवृत्ति को जो चारित्र गुण की विभाव पर्याय है चरण है आरोप से उसे सम्यक्त्व कह देते हैं। तथा उसी समय कषायों में मन्दता आ जाती है उसको प्रशम कह देते हैं। पंचपरमेष्ठी, धर्मात्माओं, रत्नत्रयरूप धर्म तथा धर्म के अंगों में जो प्रीति हो जाती है उसको संवेग, भक्ति वात्सल्यता कहते हैं तता भोगों की इच्छा न होने को निर्वेद कहते हैं, स्वपर की दया को अनुकम्पा कहते हैं। नौ पदार्थों में "है" पने के भाव को आस्तिक्य कहते हैं। अपने में राग भाव के रहने तथा उससे होने वाले बन्ध के पश्चाताप को निन्दा कहते हैं तथा उस राग के त्याग के भाव को गर्हा कहते हैं। ये सब अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव होने से चारित्र गुण में विकल्प प्रगट होते हैं। उनको आरोप से सम्यक्त्व या व्यवहार सम्यक्त्व भी कह देते हैं क्योंकि सम्यक्त्व की सहचरता है।

प्रश्न २३५ - नि:शंकित अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर - शंका नाम संशय तथा भय का है। इस लोक में धर्म-अधर्म-द्रव्य, पुद्गल परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, समुद्र, मेरु पर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थो तथा तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, राम, रावणादि अन्तरित पदार्थ हैं इनका वर्णन जैसा सर्वज्ञवीतरागभाषित आगम में कहा गया है सो सत्य है या नहीं ? अथवा सर्वज्ञ देव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनन्तधर्म सहित) कहा है सो सत्य है कि असत्य ? ऐसी शंका उत्पन्न न होना सो निश्शंकितपना है।

परपदार्थों में आत्मबुद्धि का उत्पन्न होना पर्यायबुद्धि है अर्थात् कर्मोदय से मिली हुई शरीरादि सामग्री को ही जीव अपना स्वरूप समझ लेता है। इस अन्यथा बुद्धि से ही सात प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं यथा - इहलोकभय[१], परलोकभय[२], वेदनाभय[३], अरक्षाभय[४], अगुप्तिभय[५], मरणभय[६], अकस्मात्‌भय[७]। यहाँ पर कोई शंका करे कि भय तो श्रावकों तथा मुनियों के भी होता है क्योंकि भय प्रकृति का उदय अष्टम गुणस्थान तक है तो भय का अभाव सम्यग्दृष्टि के कैसे हो सकता है ? उसका समाधान सम्यग्दृष्टि के कर्म के उदय का स्वामीपना नहीं है और न वह पर द्रव्य द्वारा अपने द्रव्यत्वभाव का नाश मानता है, पर्याय का स्वभाव विनाशीक जानता है। इसलिये चारित्रमोह सम्बन्धी भय होते हुये भी दर्शन मोह सम्बन्धी भय का तथा तत्त्वार्थ श्रद्धान में शंका का अभाव होने से वह नि:शंक और निर्भय ही है। यद्यपि वर्तमान पीड़ा सहने में अशक्त होने के कारण भय से भागना आदि इलाज भी करता है तथापि तत्त्वार्थ श्रद्धान से चिगने रूप दर्शनमोह सम्बन्धी भय का लेश भी उसे उत्पन्न नहीं होता। अपने आत्मज्ञान श्रद्धान में निश्शंक रहता है।

प्रश्न २३६ - नि:कांक्षित अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर - विषयभोगों की अभिलाषा का नाम कांक्षा या वांछा है। इसके चिन्ह ये हैं। पहले भोगे हुये भोगों की वांछा, उन भोगों की मुख्य क्रिया की वांछा, कर्म और कर्म के फल की वांछा, मिथ्यादृष्टियों को भोगों की प्राप्ति देखकर उनको अपने मन में भले जानना अथवा इन्द्रियों की रुचि के विरुद्ध भोगों में उद्वेगरूप होना ये सब संसारिक वांछाएं हैं जिस पुरुष के ये न हों से निकांक्षित अङ्ग युक्त है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि रोग के उपायवत् पंचेन्द्रियों के विषय सेवन करता है तो भी उसकी उनसे रुचि नहीं है। ज्ञानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुवा भी उनके उदयजनित शुभ फलों की वांछा नहीं करता, यहाँ तक व्रतादि शुभाचरणों को अशुभ से बचने के लिये आचरण करते हुवे भी उन्हें हेय जानता है।

प्रश्न २३७ - निर्विचिकित्सा अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर - अपने को उत्तम गुणयुक्त समझकर अपने ताई श्रेष्ठ मानने से दूसरे के प्रति जो तिरस्कार करने की बुद्धि उत्पन्न होती है उसे विचिकित्सा या ग्लानि कहते हैं। इस दोष के चिन्ह ये हैं - जो कोई पुरुष पाप के उदय से दुःखी हो या असाता के उदय से ग्लान-शरीरयुक्त हो, उसमें ऐसी ग्लानिरूप बुद्धि करना कि - ''मैं सुन्दर रूपवान्, संपत्तिवान्, बुद्धिमान हूँ, यह रंक-दीन, कुरूप मेरी बराबरी का नहीं'' सम्यग्दृष्टि के ऐसे भाव कदापि नहीं होते वह विचार करता है कि जीवों की शुभाशुभ कर्मों के उदय से अनेक प्रकार विचित्र दशा होती है। कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आ जाय तो मेरी भी ऐसी दुर्दशा होना कोई असम्भव नहीं है। इसलिये वह दूसरों को हीन बुद्धि से या ग्लान-दृष्टि से नहीं देखता।

प्रश्न २३८ - अमूढ़दृष्टि अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर - अतत्त्व में तत्त्व के श्रद्धान करने की बुद्धि को मूढ़दृष्टि कहते हैं। जिनके यह मूढ़दृष्टि नहीं है वे अमूढ़दृष्टि अंग युक्त सम्यग्दृष्टि है। इसके बाह्य चिन्ह यह है - मिथ्यादृष्टियों ने पूर्वापर विवेक बिना, गुण-दोष के विचार रहित, अनके पदार्थों को धर्मरूप वर्णन किये हैं और उनके पूजने से लौकिक और पारमार्थिक कार्यों की सिद्धि बतलाई है। अमूढ़दृष्टि का धारक इन सबको असत्य जानता और उनमें धर्मरूप बुद्धि नहीं करता तथा अनेक प्रकार की लौकिक मूढ़ताओं को निस्सार तथा खोटे फलों को उत्पादक जानकर व्यर्थ समझता है, कुदेव या अदेव में देवबुद्धि, कुगुरु या अगुरु में गुरुबुद्धि तथा इनके निमित्त हिंसा करने में धर्म मानना आदि मूढ़दृष्टिपने को मिथ्यात्व समझ दूर ही से तजता है, यही सम्यक्त्वी का अमूढ़दृष्टिपना है। सच्चे देव, गुरु, धर्म को ही स्वरूप पहचानकर मानता है।

प्रश्न २३९ - उपबृंहण अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर - अपनी तथा अन्य जीवों की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शक्ति का बढ़ाना, उपबृंहण अंग है। इसको उपगूहन अंग भी कहते हैं। पवित्र जिनधर्म में अज्ञानता अथवा अशक्यता से उत्पन्न हुई निन्दा को योग्य रीति से दूर करना तथा अपने गुणों को वा दूसरे के दोषों को ढांकना सो उपगूहन अंग है।

प्रश्न २४० - स्थितिकरण अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर - आप स्वयं या अन्य पुरुष किसी कषायवश ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र से डिगते या छूटते हों तो अपने को वा उन्हें दृढ़ तथा स्थिर करना - ये स्थितिकरण अंग है।

प्रश्न २४१ - वात्सल्य अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर - अरहन्त, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध संघ तथा शास्त्रों में अन्तःकरण से अनुराग करना, भक्ति सेवा करना सो वात्सल्य है। यह वात्सल्य वैसा ही होना चाहिये जैसे स्वामी में सेवक की अनुरागपूर्वक भक्ति होती है या गाय का बछड़े में उत्कट अनुराग होता है। यदि इन पर किसी प्रकार के उपसर्ग या संकट आदि आवें तो अपनी शक्ति भर मेटने का यत्न करना चाहिये, शक्ति नहीं छिपाना चाहिये।

प्रश्न २४२ - प्रभावना अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिस तरह से बन सके, उस तरह से अज्ञान अन्धकार को दूर करके जिन शासन के माहात्म्य को प्रगट करना प्रभावना है अथवा अपने आत्मगुणों को उद्योत करना अर्थात् रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा का प्रभाव बढ़ाना और पवित्र मोक्षदायक जिनधर्म को दान-तप-विद्या आदि का अतिशय प्रगट करके तन, मन, धन, द्वारा (जैसी अपनी योग्यता हो) सर्वलोक में प्रकाशित करना सो प्रभावना है।

सम्यग्दर्शन से लाभ

(१) सम्यग्दर्शन से - आगामी कर्मों का आस्त्रव बन्ध रूक जाता है।

(२) सम्यग्दर्शन से - पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

(३) सम्यग्दर्शन से - ज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो जाता है और चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है।

(४) सम्यग्दर्शन से - एकत्वबुद्धि की कलुषता आत्मा से दूर हो जाती है और शुद्धि की प्रगटता हो जाती है।

(५) सम्यग्दर्शन से - दुःख दूर होकर अतीन्द्रिय सुख प्रारम्भ हो जाता है।

(६) सम्यग्दर्शन से - लब्धिरूप स्वात्मानुभूति तो हर समय रहती है और कभी-कभी उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति का भी आनन्द मिलता है।

(७) सम्यग्दर्शन से - अनादिकालीन पर के कर्तृत्व, भोक्तृत्व का भाव समाप्त हो जाता है। पर के संग्रह की तृष्णा मिट जाती है। परिग्रहरूपी पिशाच से मुख मुड़ जाता है। उपयोग का बहाव पर से हट कर स्व की ओर होने लगता है।

(८) सम्यग्दर्शन से - कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के स्वामित्व का नाश होकर मात्र ज्ञान चेतना का स्वामी हो जाता है। ज्ञानमार्गानुचारी हो जाता है।

(९) सम्यग्दर्शन से - परद्रव्यों का, अपने संयोग-वियोग का, राग का, इन्द्रिय सुख-दुःख का, कर्मबन्ध का, नौ तत्त्वों का, यहाँ तक कि मोक्ष का भी ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। केवल सामान्य आत्मा में स्वपने की बुद्धि रह जाती है।

(१०) सम्यग्दर्शन से - इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख में हेयबुद्धि हो जाती है। अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख की रुचि जाग्रत हो जाती है।

(११) सम्यग्दर्शन से - आत्मप्रत्यक्ष हो जाता है।

(१२) सम्यग्दर्शन से - सातावेदनीय से प्राप्त सुख सामग्री में उपादेय बुद्धि नष्ट हो जाती है।

(१३) सम्यग्दर्शन से - विषयसुख में और पर में अत्यन्त अरुचि भाव हो जाता है।

(१४) सम्यग्दर्शन से - केवल ज्ञानमय भाव उत्पन्न होते हैं। अज्ञानमय भावों की उत्पत्ति का नाश हो जाता है।

(१५) सम्यग्दर्शन से - ही धर्म प्रारम्भ होता है। सम्यग्दर्शन पहला धर्म है और चारित्र दूसरा धर्म है। जगत में और धर्म कुछ नहीं है।

(१६) सम्यग्दर्शन से - मिथ्यात्व सम्बन्धी कर्मों का अनादिकालीन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध छूट जाता है।

(१७) सम्यग्दर्शन से - अनादि पंचपरावर्तन की शृङ्खला टूट जाती है।

(१८) सम्यग्दर्शन से - नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति नहीं बन्धती। केवल देवगति में ही सहचर रागवश जाता है। यदि पहले बंधी हो तो नरक में प्रथम नरक के प्रथम पाथड़े से आगे नहीं जाता। तिर्यंच या मनुष्य, उत्तम भोगभूमि का होता है।

(१९) सम्यग्दर्शन से - नियम से उसी भव में या थोड़े से भवों में नियम से मोक्ष होकर सब दुःखों से छुटकारा सदा के लिये हो जाता है।

ऐसे महान् पवित्र सम्यग्दर्शन को कोटिशः नमस्कार हैं।

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचारजी में कहा है

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापस्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

अर्थ - यदि (सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से) पाप का निरोध है अर्थात् आगामी कर्मों का संवर है तो हे जीव ! अन्य सम्पदा से तुझे क्या प्रयोजन है ? कुछ नहीं। और यदि सम्यग्दर्शन के अभाव में पाप का आस्रव है अर्थात् कर्मों का आगमन है तो भी हे जीव ! तुझे अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ - जीव को सबसे अधिक सम्पदाओं की अभिलाषा है तो गुरुदेव समझाते हैं कि हे जीव! यदि सम्यग्दर्शन रूपी महान् सम्पदा प्राप्त हो गई तो अन्य सम्पदायें तेरे किस काम की। इस सम्पदा से तुझे आस्रव का निरोध होगा

और उसके फलस्वरूप महान् अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष मिलेगा। अन्य सम्पदा तो नाशवान् है। वह तेरे कुछ काम नहीं आती। भाई, उनको आत्मा छूता भी नहीं। नीचे की पंक्ति में नास्ति से समझाते हैं कि यदि सम्यक्त्व रूप सच्ची सम्पदा नहीं है और शेष जगत् की सब सम्पदायें हैं। महान् अहमिन्द्र पद तक प्राप्त है तो रहो हे जीव ! मिथ्यादर्शन रूपी महान् शत्रु से तुझे कर्म बन्धता रहेगा और उस के फलस्वरूप नरक निगोद में चला जायेगा। यह सब सम्पदा यहीं पड़ी रह जायेगी। इसलिये भाई, इन सम्पदाओं की अभिलाषा छोड़। ये तो जीव को अनेक बार मिली। असली सम्यक्त्व रूपी सम्पदा का प्रयत्न कर, जिसके सामने ये सब हेच (हेय) हैं।

सम्यग्दर्शन से ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं और उनका गमन भी मोक्षमार्ग की ओर चल देता है अन्यथा ग्यारह अंग तक ज्ञान और महाव्रत तक चारित्र व्यर्थ है। केवल बन्ध करने वाला है। (देखिये इसी ग्रन्थ का नं. १५३७)। इसलिये संसार सागर से तरने के लिये सम्यग्दर्शन खेवट के समान कहा है।

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥ ३१ ॥
विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥

भावार्थ - ज्ञान चारित्र से पहले सम्यग्दर्शन की ही साधना की जाती है क्योंकि वह मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा गया है। ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और अतीन्द्रिय सुख रूपी फल सम्यक्त्व के अभाव में नहीं होते जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति, वृद्धि और फल लगना नहीं होता। दंसण मूलो धम्मो। यहां सम्यग्दर्शन को बीजावत् कहा है और चारित्र को वृक्षवत् कहा है और अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष उसका फल कहा है। अतः पहले सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करना ही सर्वश्रेष्ठ है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृहीश्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥

अर्थ - सम्यग्दृष्टि गृहस्थी मोक्ष की ओर जा रहा है किन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि संसार (निगोद) की ओर जा रहा है। अतः उस मिथ्यादृष्टि मुनि से वह सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ है। इससे सम्यक्त्व का माहात्म्य प्रगट ही है।

(४) प्रथम नरक विन षट्भू ज्योतिष, वान भवन षंढ नारी ।
थावर विकलत्रय पशु में नाहिं, उपजत समकितधारी ॥
तीनलोक तिहुं कालमाहिं, नहिं दर्शन सम-सुखकारी ।
सकलधरम को मूल यही, इस बिन करनी दुःखकारी ॥
मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा ।
सम्यकता न लहै, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा ॥

अर्थ - केवल एक सम्यग्दर्शन से कितना संसार कट जाता है गिने-मिने भवों में मोक्ष हो जाता है और तबतक नरक तिर्यञ्च नहीं होता। केवल देव और वहाँ से कुलीन सम्पत्तशाली मनुष्य होता है। यदि श्रेणिक की तरह मिथ्यात्व अवस्था में सातवें नरक तक की भी आयु बांध ली हो तो कटकर अधिक से अधिक पहले नरक की प्रथम पाथड़े की ८४ हजार वर्ष रह जाती है। यदि पशुगति या मनुष्यगति बांध ली हो तो उत्तम भोगभूमि की हो जाती है और मोक्षमार्ग तो उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है। वह वहाँ भी कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष का ही पुरुषार्थ करता है।

श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है

रयणाण महारयणं सव्वजोयाण उत्तमं जोयं ।
सिद्धीण महारिद्धी सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ॥ ३२५ ॥

अर्थ - सम्यक्त्व है सो रत्ननि विषय तो महारत्न है। बहुरि सर्वयोग कहिये वस्तु की सिद्धि करने के उपाय मंत्रध्यान आदिकतिनि में उत्तम योग है जातें सम्यक्त्व के मोक्ष सधै है। बहुरि अणिमदिक ऋद्धि हैं तिनि में बड़ी ऋद्धि है। बहुत कहा कहिये सर्व सिद्धि करने वाला यह सम्यक्त्व ही है। इसमें यह दिखाया है कि सम्यक्त्व से कोई बड़ी सम्पदा जगत् में नहीं है।

ग्रन्थराज श्री पञ्चाध्यायी

द्वितीय खण्ड/छठी पुस्तक

मंगलाचरण

परमपुरुष निज अर्थ को साध गये गुणवृन्द ।
आनन्दामृतचन्द्र को, वन्दत हूँ सुखकन्द ॥

विषय-परिचय

आगम में भी यह रूढ़ि है और लोक में भी यह रूढ़ि है कि सम्यक्त्व सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का है। वास्तव में यह बात सत्य नहीं है। सविकल्प तो ज्ञान को कहते हैं और निर्विकल्प देखने वाले दर्शन को कहते हैं। यह बात सत्य है। सम्यक्त्व को नहीं कहते। दूसरे विकल्प का अर्थ राग भी होता है। सो चारित्र में जब तक राग रहता है। उस समय तक उसको सराग चारित्र कहते हैं और जब राग नहीं रहता तो वीतराग चारित्र कहते हैं। सो इस प्रकार चारित्र को भी सविकल्प (राग रहित) निर्विकल्प (राग रहित) कहना ठीक है; किन्तु सम्यक्त्व को नहीं। सम्यक्त्व गुण का परिणमन तो या मिथ्यादर्शन रूप होता है या सम्यग्दर्शन रूप। सविकल्प निर्विकल्प रूप उसमें कोई पर्याय ही नहीं है। तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन तो चौथे से सिद्ध तक एक ही प्रकार होता है। बस यही अगले कथन का सार है। फिर प्रश्न यह होता है कि आगम में वह रूढ़ि क्यों है? आगम में बहुत से कथन असद्भूतव्यवहार या उपचरित नय से होते हैं। आगम में कहा है :-

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते

(आलापपद्धतिः)

अर्थ – मुख्य (उपादान-निमित्त) के अभाव होने पर प्रयोजन या निमित्त में उपचार प्रवृत्त होता है।

सो ऐसे कथन सत्य तो नहीं होते पर उस कथन का प्रयोजन समझ लेना चाहिये। जैसे सचेतन शरीर। वास्तव में शरीर तो अचेतन ही होता है। चेतन की सहचरता से सचेतन कह देते हैं। इसी प्रकार चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान में जब तक चारित्र गुण में बुद्धिपूर्वक राग रहता है उसकी सहचरता से सम्यक्त्व को भी सविकल्प कह देते हैं और आगे चारित्र के बुद्धिपूर्वक राग से रहित होने के कारण उसके सहचर सम्यक्त्व को भी निर्विकल्प कह देते हैं। पर यह कहने मात्र की बात है। वास्तविक नहीं। इसी प्रकार कोई-कोई इसी अर्थ में चौथे, पाँचवें, छठे वाले के सम्यक्त्व को सविकल्प की बजाए व्यवहार और आगे सातवें से निर्विकल्प की बजाए निश्चय शब्द का भी प्रयोग कर देते हैं। सो उसका भी ऐसा ही अर्थ समझना।

दूसरी चर्चा यहाँ यह की गई है कि कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में सविकल्प सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान-चेतना नहीं होती, केवल ९ तत्त्वों की राग सहित श्रद्धा मात्र ही होती है। सातवें से निर्विकल्प सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान-चेतना होती है। पर यह उनकी भूल है। ज्ञान-चेतना तो चौथे से सिद्ध तक सभी सम्यग्दृष्टियों के पाई जाती है। इसका समाधान इस प्रकार किया है। सबसे पहले यह समझने की आवश्यकता है कि ज्ञान-चेतना किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय ज्ञानियों को मतिश्रुतज्ञानावरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम हो जाता है। जिस क्षयोपशम के बल पर ही सम्यग्दृष्टि आत्मानुभूति किया करते हैं सो इस क्षयोपशम को लब्धि रूप ज्ञानचेतना कहते हैं। यह सम्यक्त्व की अविनाभावी है। समव्याप्ति रूप है। जहाँ सम्यक्त्व होगा वहाँ यह अवश्य होगी। जहाँ सम्यक्त्व नहीं होगा, वहाँ यह भी नहीं होगी। दूसरी ज्ञान चेतना उपयोग रूप होती है। जिस समय कोई भी ज्ञानी अपने उपयोग को बुद्धिपूर्वक सब परपदार्थों से हटा कर केवल स्वात्मा का अनुभव किया करता है उसको उपयोग रूप आत्मानुभूति कहते हैं। सो यह अनुभूति चौथे वाले के थोड़े समय तक रहती है और बहुत समय बाद हुआ करती है। पाँचवें वालों को कुछ अधिक समय रहती है और कुछ जल्दी-जल्दी हुआ करती है। छठे गुणस्थान वालों को नियम से अन्तर्मुहूर्त्त बाद होती ही रहती है और सातवें से तो सब गुणस्थान ज्ञान-चेतना के उपयोग रूप ही हैं (प्रमाण-आत्मावलोकन पन्ना १६५)। अब जो यह मानते हैं कि सविकल्प सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान-चेतना नहीं होती

उनकी भूल इस कारण से है कि लब्धिरूप ज्ञान-चेतना तो सभी सम्यग्दृष्टियों को नियम से रहती है। उसका विरह तो एक समय को भी नहीं है। यदि उसका विरह हो जाए तो मिथ्यादृष्टि हो जाए और उपयोग रूप ज्ञान-चेतना भी चौथे से ही नियम से कभी-कभी होती ही है। इसलिए उपयोग रूप ज्ञान-चेतना भी सम्यग्दृष्टियों के सब गुणस्थानों में पाई जाती है। यह ध्यान रहे कि ज्ञान-चेतना ज्ञान की पर्याय है। सम्यग्दर्शन की नहीं। लब्धि रूप ज्ञान-चेतना ज्ञान के क्षयोपशम रूप है और उपयोग रूप ज्ञान-चेतना ज्ञान के स्वज्ञेय की जानकारी को कहते हैं। यह भी समझ लेना चाहिए कि सम्यग्दर्शन से जो संवर पूर्वक निर्जरा होती है वह निरन्तर हुआ करती है। चाहे उपयोग स्व में हो या पर में। वह निर्जरा तो सम्यक्त्व की शुद्धि के बल पर होती है कहीं उपयोग के बल पर नहीं होती। यही बात पुण्य बन्ध और पाप के अबन्ध की है तथा चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के जो ७७ प्रकृतियों का बन्ध कहा है सो स्व में उपयोग रूप ज्ञानचेतना के समय भी उतना ही बन्ध है और पर में उपयोग के समय में भी उतना ही बन्ध है। ज्ञान का गुण-दोष से या बन्ध-अबन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान का काम तो केवल जानना है। अन्तर यही है कि चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान के सम्यग्दृष्टियों को पर में उपयोग की प्रवृत्ति के समय चारित्र गुण में बुद्धिपूर्वक राग रहता है और स्व में उपयोगात्मक ज्ञानचेतना के समय चारित्र गुण में बुद्धिपूर्वक राग नहीं रहता और इस राग के कारण कुछ आकुलता रूप दुख अधिक हो जाता है। केवल इस दुख के अभाव के लिए या निराकुल आत्मानन्द के लिए ज्ञानी स्वात्मानुभूति का उपयोग रूप अनुभव किया करते हैं। बाकी लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो उनके हर समय रहती ही है और सम्यक्त्व के और चारित्र के बल से होने वाली निर्जरा भी निरन्तर हुआ ही करती है।

सविकल्प सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान-चेतना नहीं होती किन्तु प्रतीति मात्र होती है ऐसा जो शंकाकार मानता है – उसमें यह भी भूल है कि प्रतीति मात्र तो मिथ्यादृष्टियों के भी होती है। वह कहीं सम्यक्त्व नहीं है।

ग्रन्थकार सम्यक्त्व की जो चर्चा अब करने वाले हैं – वह बहुत सूक्ष्म किन्तु मार्मिक है। इसका विशेष परिश्रम से अभ्यास करने पर ही लाभ होगा और स्पष्ट तो किसी ज्ञानी के सहवास में ही समझ में आयेगा।

गुरुदेव लब्धि रूप ज्ञानचेतना और उपयोगरूप ज्ञानचेतना का पहले सूत्र न. ११५५ से ११७७ तक निरूपण कर आये हैं। उसका पुनः अभ्यास करलें – फिर यह विषय समझने में आपको विशेष सुगमता रहेगी।

सम्यग्दर्शन में सविकल्प निर्विकल्प भेद नहीं है

तथा

सब सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान-चेतना होती है।

(सूत्र १५८९ से १७०३ तक ११५)

शङ्का सूत्र १५८९ से १५९४ तक ६

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा ।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद् व्यवहारतः ॥ १५८९ ॥

शङ्का – शास्त्र से भी और लोक से भी यह रूढि है कि वह सम्यक्त्व निश्चय और व्यवहार से दो प्रकार है।

व्यावहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम् ।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥ १५९० ॥

शङ्का चालू – व्यवहार सम्यक्त्व सराग अर्थात् सविकल्पक है किन्तु निश्चय सम्यक्त्व वीतराग अर्थात् निर्विकल्पक है।

इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषाञ्चिन्मोहशालिनां ।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ १५९१ ॥

शङ्का चालू – किन्हीं मोहयुक्त पुरुषों के यह वासना जन्य संस्कार है। उनके मत में वीतराग सम्यग्दृष्टि के ही ज्ञान-चेतना है।

तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः ।
एकः कश्चित्सरागोऽस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥ १५९२ ॥

शङ्का चालू – उनके द्वारा सम्यक्त्व दो प्रकार किया जा कर स्वामी के भी दो प्रकार के भेद कर दिये गए हैं। एक कोई सराग सम्यग्दृष्टि है और दूसरा कोई वीतराग सम्यग्दृष्टि है।

तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना ।
सद्दृष्टेनिर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥ १५९३ ॥

शङ्का चालू – उनमें किसी वीतराग निर्विकल्प सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-चेतना है। दूसरे (सराग सविकल्प सम्यग्दृष्टि) के ज्ञान चेतना कभी नहीं होती है।

व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्याज्ज्ञानचेतना ॥ १५९४ ॥

शङ्का चालू – (उनके मत में) व्यवहार सविकल्प सरागी सम्यग्दृष्टि के प्रतीति मात्र (९ पदार्थों की श्रद्धा मात्र) ही है, ज्ञान-चेतना कहाँ से हो सकती है? अर्थात् नहीं है।

शङ्काकार का भाव – शङ्काकार का अभिप्राय यही है कि सम्यग्दर्शन के सविकल्प और निर्विकल्प या व्यवहार निश्चय दो भेद हैं तथा उनमें से सविकल्प या व्यवहार सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान-चेतना नहीं होती केवल ९ तत्त्वों की श्रद्धा मात्र होती है और निर्विकल्प या निश्चय सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान-चेतना होती है। चौथे, पाँचवें, छठे में वे केवल व्यवहार सम्यग्दर्शन मानते हैं। उनके तत्त्वों की श्रद्धामात्र मानते हैं और ज्ञान-चेतना नहीं मानते। उन्हें सराग सम्यग्दृष्टि मानते हैं और सातवें से निश्चय सम्यक्त्व मानते हैं। उनके ज्ञान-चेतना मानते हैं और उन्हें निर्विकल्प सम्यग्दृष्टि मानते हैं। ऐसी मान्यता साधारण जनता की भी है और कुछ आगम पाठियों की भी है, वह गलत है। वास्तविक बात यह है कि सम्यग्दर्शन में सविकल्प और निर्विकल्प या व्यवहार निश्चय का तो भेद ही नहीं है और ज्ञान-चेतना चौथे से सिद्ध तक सब सम्यग्दृष्टियों के पाई जाती है। सो उन्हें समझाते हैं :–

समाधान भूमिका सूत्र १५९५ से १५९८ तक ४

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रु ताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥ १५९५ ॥

अर्थ – इस प्रकार बुद्धि के अपराध से जो खोटे आशय वाले कहते हैं उनका जो कुछ श्रुत अभ्यास है वह केवल काय क्लेश के लिये है।

भावार्थ – उसका उत्तर यह है कि शास्त्रों का ऐसा अभिप्राय नहीं है। वे जो शास्त्रों का ऐसा अर्थ करते हैं ये उनकी अपनी बुद्धि का दोष है और उनका शास्त्र अभ्यास व्यर्थ है क्योंकि वे वास्तविक तत्त्व को न पकड़ सके।

अत्रोच्यते समाधानं सामवादेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥ १५९६ ॥

अर्थ – इस विषय में आचार्यों के द्वारा समाधान शान्तिपूर्वक कहा जाता है। क्योंकि दूध में अधिक उबाल आने पर निर्मल जल ही डालना योग्य है।

भावार्थ – इसका आशय यह है कि यह मान्यता लोगों की बहुत प्रबल है और इस रूप की गाढ़ श्रद्धा है। संस्कार ही कुछ ऐसा जम गया है जो एक वासना-सी बन गई है। अतः वह सरलता से नहीं मिटती। फिर भी उन्हें शान्तिपूर्वक समझाना चाहिये तो शायद कुछ मान जायें क्योंकि जब दूध में उबाल आ रहा हो तो ठण्डे पानी का छींटा देते हैं। इसी प्रकार उनकी यह मान्यता उबालवत है। शान्ति से समाधान करने योग्य है।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ।
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकताम् ॥ १५९७ ॥

शब्दार्थ – करीव – करी + इव = हाथी के समान।

अर्थ – मिथ्यादृष्टि जीव हाथी के समान घास-फूस सहित सुन्दर आहार को खा जाता है। हे बुद्धिमान! तू उसको छोड़ और विवेकपने को कर। (श्री समयसार कलश ५७)

भावार्थ – हाथी आदि पशु आहार को घास-फूस सहित खा जाता है। उसमें यह विवेक नहीं करता कि यह स्वाद आहार का है और यह स्वाद घास का है। ठीक इसी प्रकार अज्ञानी सम्यक्त्व, ज्ञान और राग को एक मिला कर अनुभव करता है। भिन्न-भिन्न गुण भेद करके विवेक से सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र गुणों की भिन्न-भिन्न वास्तविक परिस्थिति को नहीं समझता। उसको वास्तविक परिस्थिति इस प्रकार समझनी चाहिये जैसे चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन तो श्रद्धागुण की निर्विकल्प पर्याय है। उसमें सविकल्प निर्विकल्प या व्यवहार निश्चय का भेद नहीं है। ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। उसको ज्ञान के स्वलक्षण की अपेक्षा तो सविकल्प कह सकते हैं पर ज्ञान गुण में राग नहीं है अतः उसको राग की अपेक्षा सविकल्प ज्ञान नहीं कहना चाहिए और चारित्र गुण को विभाव परिणमन रूप राग के कारण सविकल्प ही कहना चाहिये। इस प्रकार हर एक गुणस्थान में वस्तु की ठीक-ठीक परिस्थिति को विवेकपूर्वक गुणभेद करके समझना चाहिये। अज्ञानी ऐसा न करके हाथी के समान व्यवहार चारित्र के राग रूप घास को सुन्दर भोजन रूप निर्विकल्प सम्यक्त्व में मिलाकर सम्यक्त्व को ही सविकल्प (सरागी) समझता है जबकि राग का स्वाद पर (दुख) रूप है सम्यक्त्व का स्वाद स्व (सुख) रूप है। राग से वन्धपूर्वक संसार होता है। सम्यक्त्व से संवर निर्जरापूर्वक मोक्ष होता है। इस सूत्र में आचार्य देव ने सम्यक्त्व के दो भेद मानने वाले को पशुवत कहकर फटकार दी है और अब अगले सूत्र में.सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना न मानने वाले को फटकार देते हैं :–

वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ प्रथक्कर्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषाऽचाक्षुषाशया: ॥ १५९८ ॥

अर्थ – हे आत्मज्ञ! (हे मूर्ख!) तू अग्नि से गर्मी की तरह (सम्यग्दृष्टि से ज्ञान चेतना को) पृथक् करना चाहता है। अरे आँख से देख कर भी आँख से न देखने के आशय से तू भ्रम मत कर।

भावार्थ – जैसे उष्णता आग का गुण है, उसी प्रकार ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि का गुण है। जिस प्रकार उष्णता आग से पृथक् नहीं हो सकती उसी प्रकार ज्ञान-चेतना सम्यग्दृष्टि से पृथक् नहीं हो सकती। जिस प्रकार उष्णता को आग से भिन्न कोई करना चाहता हो पर वह उसकी भूल है – वह हो नहीं सकती, उसी प्रकार ज्ञानचेतना को सम्यक्त्व से भिन्न कोई करना चाहता हो – पर वह उसकी भूल है – वह हो नहीं सकती। सोई शङ्काकार को फटकारते हैं कि भाई तू तो अग्नि से उष्णता की तरह सम्यग्दृष्टि से ज्ञान-चेतना को पृथक् करना चाहता है सो असम्भव है। किसी भी सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-चेतना न मानना तो ऐसा है जैसे किसी वस्तु को प्रत्यक्ष आँख से देखकर भी फिर भी न देखे के समान भ्रम करना कि शायद ऐसा है भी या नहीं। सम्यग्दृष्टि की चारित्र पर्याय में राग हो या न हो किन्तु ज्ञानचेतना तो हर एक सम्यग्दृष्टि के नियम से चौथे से ही होती ही है। ज्ञान-चेतना तो सम्यक्त्वी का प्राण है।

नोट – ग्रन्थकार इस विषय को पहले चौथी पुस्तक में सूत्र ९६० से १००५ तक भले प्रकार स्पष्ट कर आए हैं कि सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान-चेतना होती ही है। वह विषय आपके ध्यान में होना चाहिये।

समाधान सूत्र १५९९ से १७०३ तक १०५

भूमिका – शङ्काकार का सम्यग्दर्शन को सविकल्प सम्यग्दर्शन कहने में भूल का कारण यह है कि वह विकल्प शब्द के भाव को नहीं समझा है। इसलिये ग्रन्थकार पहले विकल्प शब्द को समझाते हैं। विकल्प शब्द के दो अर्थ हैं – एक क्षायोपशमिक ज्ञान – दूसरा राग। सो पहले विकल्प शब्द का क्षायोपशमिक ज्ञान अर्थ करके समझाते हैं :-

विकल्पो योगसंक्रांतिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्ययः ।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थाद् ज्ञेयार्थान्तरसङ्गतः ॥ १५९९ ॥

अर्थ – विकल्प योगसंक्रान्ति है (अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति के परिवर्तन को विकल्प कहते हैं अथवा ज्ञप्ति परिवर्तन को विकल्प कहते हैं)। अर्थ से वह विकल्प ज्ञान की पर्याय है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान है)। (ज्ञान के विषय भूत) एक ज्ञेय पदार्थ से दूसरे ज्ञेय पदार्थ को प्राप्त होकर जो उस ज्ञेय के आकार रूप उपयोग है – वह विकल्प है।

भावार्थ – क्षायिक ज्ञान तो एक उपयोग से ही एक समय में सब ज्ञेयों को विषय कर लेता है। उसको उपयोग की प्रवृत्ति का परिवर्तन नहीं करना पड़ता। किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान एक उपयोग से एक बार एक ही पदार्थ को जानता है फिर उपयोग वहाँ से हटकर दूसरे पदार्थ को जानता है। यह जो एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर उपयोग का जोड़ना है इसको उपयोगसंक्रान्ति या पुनर्वृत्ति या क्रमवर्तित्त्व या ज्ञप्ति परिवर्तन या विकल्प कहते हैं। अर्थ उपयोग का बदलना है। यह बात क्षायोपशमिक ज्ञान में ही है। क्षायिक ज्ञान में नहीं है। ज्ञान गुण है। क्षायिक ज्ञान और क्षायोपशमिक ज्ञान उसकी पर्याय है। जानने का कार्य पर्याय में होता है गुण में नहीं। यहाँ सम्यग्दृष्टि का प्रकरण है। उसके सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान की ५ पर्याय हैं। उनमें एक क्षायिक पर्याय है जिसको केवलज्ञान कहते हैं। उसमें उपयोग संक्रान्ति नहीं है। शेष चार ज्ञान क्षायोपशमिक पर्यायें हैं। उन चार पर्यायों में उपयोग संक्रान्ति होती है। उसी का दूसरा नाम विकल्प है।

क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवात् ।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसम्भवात् ॥ १६०० ॥

शब्दार्थ – अर्थात् = क्योंकि ।

अर्थ – वह विकल्प क्षायोपशमिक ज्ञान है क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होता है। क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञान में संक्रान्ति नहीं होती है। (अर्थात् ज्ञेय से ज्ञेयान्तर नहीं होता है)।

भावार्थ – इस सूत्र में गुरु महाराज ने उपयोग संक्रान्ति का कारण बताया है कि जो भी ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होगा - वह अवश्य संक्रान्ति रूप होगा। केवलज्ञान क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न नहीं होता है - अतः वह संक्रान्ति रूप भी नहीं है। इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान को तो विकल्प कहते हैं पर क्षायिक ज्ञान को नहीं कहते क्योंकि उपयोग संक्रान्ति का नाम विकल्प है।

अस्ति ज्ञायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात् ।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात् ॥ १६०१ ॥

अर्थ – क्षायिक ज्ञान के विकल्पपना अपने लक्षण से है (क्योंकि ज्ञान का लक्षण सविकल्पक और दर्शन का लक्षण निर्विकल्पक है। इस अपेक्षा से क्षायिक ज्ञान सविकल्पक जरूर है)। पर एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के आकार रूप उपयोग के परिवर्तन रूप लक्षण के वह सविकल्पक नहीं है।

भावार्थ – विकल्प शब्द का अर्थ एक तो उपयोग संक्रान्ति है (ज्ञप्ति परिवर्तन है) और दूसरा विकल्प शब्द का अर्थ 'साकार' है अर्थात् उपयोग का ज्ञेयाकार रूप होना है। यह जो विकल्प शब्द का दूसरा साकार (ज्ञेयाकार) अर्थ है - यह तो ज्ञान का स्वलक्षण है। अतः क्षायिक ज्ञान में भी पाया जाता है क्योंकि उसका उपयोग भी स्व और पर - संपूर्ण ज्ञेयों के आकार होता है। इस कारण से विकल्पात्मक या सविकल्पक तो केवलज्ञान को भी कहते हैं पर क्षायिकज्ञान में विकल्प का अर्थ उपयोग संक्रान्ति नहीं है। इसी को स्वयं स्पष्ट करते हैं।

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।
एकोऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ॥ १६०२ ॥

अर्थ – उस क्षायिक ज्ञान का लक्षण स्व को (अपने को – ज्ञान को) और अपूर्वार्थ को (पर को - सम्पूर्ण ज्ञेयों को) विशेष रूप से (साकार रूप से) ग्रहणस्वरूप है (जानने रूप है)। उस क्षायिक ज्ञान का विषयभूत पदार्थ एक है (सब लोकालोक एक बार में ही ज्ञेय हो जाता है। पुनः दूसरे पदार्थ को जानने के लिए ज्ञप्ति परिवर्तन नहीं करना पड़ता। इसलिये उसका विषय एक पदार्थ कहा है)। ग्रहण नाम आकार का है। अतः (ज्ञान का स्व और अपूर्वार्थ के आकार रूप होना ही क्षायिक ज्ञान में) सविकल्पता है।

भावार्थ – जो ज्ञान अपने आपको जानता है – साथ ही सब परपदार्थों को जानता है – परन्तु उपयोग से उपयोगान्तर नहीं होता, उसको क्षायिक ज्ञान कहते हैं। यद्यपि ज्ञायिक ज्ञान में भी स्वाभाविक परिणमन होता रहता है तथापि उसमें छद्मस्थ ज्ञान की तरह कभी किसी पदार्थ का त्याग और कभी किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं है। क्षायिक ज्ञान सभी पदार्थों को एक साथ ही जानता है – इसलिये उसमें उपयोग संक्रान्ति रूप लक्षण घटित नहीं होता है परन्तु ज्ञेयाकार होने से वह सविकल्पक अवश्य है।

विकल्पः सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि ।
योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना ॥ १६०३ ॥

अर्थ – वह विकल्प (जो क्षायिक ज्ञान का स्वरूप है) इस प्रकरण में ज़रा भी अधिकारी (प्रयोजनभूत) नहीं है। जो क्षायोपशमिक ज्ञान में उपयोगसंक्रान्ति रूप विकल्प है – वह यहाँ प्रकरण में आया हुआ है।

भावार्थ – शंका समाधान का प्रकरण यह चल रहा है कि सम्यग्दर्शन विकल्पात्मक है या नहीं और चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-चेतना है या नहीं। सो गुरु महाराज कहते हैं कि इस प्रकरण में क्षायिक ज्ञान का स्वाभाविक लक्षण रूप जो ज्ञेयाकार रूप विकल्पपना है – उससे कुछ प्रयोजन नहीं है किन्तु, क्षायोपशमिक ज्ञान में जो विकल्प का अर्थ उपयोग संक्रान्ति है, वह अर्थ ही इस प्रकरण में कार्यकारी है। ग्रहण किया गया है।

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते क्वचित् ।
यतोऽप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥ १६०४ ॥

अर्थ – और ऐन्द्रिय ज्ञान तो संक्रान्ति के बिना कभी भी नहीं होता है क्योंकि इस ज्ञान का प्रत्येक क्षण में एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में गमन होता रहता है (अर्थात् ज्ञप्तिपरिवर्तन होता ही रहता है। उपयोग संक्रान्ति होती ही रहती है)।

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यत् ।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥ १६०५ ॥

अर्थ – यह (ऐन्द्रिय ज्ञान) तो क्रमवर्ती है – अक्रमवर्ती नहीं है क्योंकि एक ज्ञेय को छोड़ कर फिर दूसरे ज्ञेय को आश्रय करता है। (जिस प्रकार क्षायिक ज्ञान अक्रमवर्ती है – उस प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं है – यह क्रमवर्ती है)।

भावार्थ – एक ही समय में एक उपयोग से ही सब ज्ञेयों को जानना और फिर उपयोग न फेरना – इसको अक्रम कहते हैं। यह अक्रम रूप वृत्ति केवलज्ञान में ही पाई जाती है और एक बार एक ज्ञेय को जानना, फिर दूसरी बार दूसरे ज्ञेय को जानना, फिर तीसरी बार तीसरे ज्ञेय को जानना – इसको क्रमवर्तीपना कहते हैं। यह क्रमरूप वृत्ति क्षायोपशमिक ज्ञान में ही पाई जाती है। इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान को ही क्रमवर्ती कहते हैं। क्षायिक ज्ञान को नहीं।

इयं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाद्वया ।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं न चेतरा ॥ १६०६ ॥

अर्थ – यह इस ज्ञान की आवश्यकी वृत्ति है (अर्थात् क्रमवर्तीपना क्षायोपशमिक ज्ञान में पाया ही जाता है) क्योंकि समव्याप्ति होने से यह वृत्ति ऐन्द्रिय ज्ञान से अभिन्न है (अर्थात् जहाँ-जहाँ ऐन्द्रिय ज्ञान है – वहाँ-वहाँ क्रमवर्तीपना है और जहाँ-जहाँ क्रमवर्तीपना है वहाँ-वहाँ ऐन्द्रिय ज्ञान है)। यह (क्रमवर्तीपने की) वृत्ति इस ऐन्द्रिय ज्ञान में ही होती है – दूसरे (क्षायिक) ज्ञान में नहीं होती। उस ऐन्द्रिय ज्ञान में ही यह क्रमवृत्ति है – दूसरी अक्रम वृत्ति (क्षायिक ज्ञानवाली वृत्ति) इसमें नहीं है।

भावार्थ – इसमें अस्ति-नास्ति से यह बताया है कि क्षायिकज्ञान अक्रमवर्ती ही है – क्रमवर्ती नहीं है। क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती ही है – अक्रमवर्ती नहीं है। नियमरूप सूत्र है। दोनों ओर से अविनाभाव का द्योतक है अर्थात् जहाँ-जहाँ क्षायिक ज्ञान है वहाँ-वहाँ अक्रमवृत्ति है जहाँ-जहाँ अक्रमवृत्ति है वहाँ-वहाँ क्षायिक ज्ञान है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान है वहाँ-वहाँ क्रमवृत्ति है और जहाँ-जहाँ क्रमवृत्ति है वहाँ-वहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान है।

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् ।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ॥ १६०७ ॥

अर्थ – और जो क्षायोपशमिक ज्ञान किसी एक विषय में (ज्ञेय में) निरन्तरपने से वर्तता है वह ध्यान है। यहाँ भी वास्तव में क्रम है, अक्रम नहीं है।

भावार्थ – जिस समय ऐन्द्रिय ज्ञानवाला व्यक्ति किसी एक पदार्थ का ध्यान बहुत समय तक करता है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उसका ज्ञान अक्रमवर्ती है – पर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह ज्ञान क्रमवर्ती ही है। अन्तर केवल यह है कि वह दूसरे ज्ञेय पर उपयोग का परिवर्तन न करके उसी ज्ञेय पर पुनः-पुनः उपयोग का परिवर्तन कर रहा है। इसलिये ऐन्द्रिय ज्ञान ध्यान अवस्था में भी क्रमवर्ती ही है। अक्रमवर्ती नहीं।

एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च ॥ १६०८ ॥

अर्थ – ध्यान में एक तान होने से ज्ञान एक रूप जैसा प्रतिभासित होता है (किन्तु वास्तव में) वह पुनः-पुनः (उसी विषय पर) वृत्ति रूप है और क्रमवर्ती है (भावार्थ ऊपर स्पष्ट हो गया है)।

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥ १६०९ ॥

अर्थ – इस क्रमत्व की सिद्धि में केवल दूसरे पदार्थ के आकार रूप होना कारण नहीं है किन्तु उसी एक ही पदार्थ में पुनः-पुनः वृत्ति भी क्रम से होती है अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि दूसरे ज्ञेय पर जाय तभी क्रमवर्ती कहलाये – किन्तु उसी पदार्थ को भी पुनः-पुनः विषय करने से भी क्रमवर्ती होता है। अतः ध्यान में भी क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती ही है।

नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि।
स्यात्परिणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसम्भवात् ॥ १६१० ॥

अर्थ – तुम्हें यहाँ ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये कि ध्यान रूप ज्ञान का यह लक्षण क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञान में चले जाने से अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। यह दोष नहीं होगा। क्योंकि यद्यपि क्षायिक ज्ञान परिणामी है तथापि उसकी पुनः-पुनः प्रवृत्ति संभव नहीं है अर्थात् जिस प्रकार ध्यान वाला व्यक्ति एक ही पदार्थ को पुनः-पुनः जानता है उसी प्रकार केवलज्ञान भी एक ही पदार्थ को पुनः-पुनः जानता है इसलिये अतिव्याप्ति दोष है – सो बात नहीं है क्योंकि ध्यान वाला व्यक्ति उस एक ही पदार्थ को उपयोग की पुनः-पुनः वृत्ति पूर्वक जानता है किन्तु केवलज्ञान में स्वाभाविक परिणमन होने पर भी पुनर्वृत्ति अर्थात् उपयोग संक्रान्ति नहीं है। इसलिये अतिव्याप्ति दोष नहीं है। इससे यह सिद्ध किया कि क्षायोपशमिक ज्ञान ही पुनर्वृत्तिरूप है। क्षायिक ज्ञान नहीं।

भावार्थ – यद्यपि स्थूलदृष्टि से ध्यान और क्षायिक ज्ञान दोनों ही क्रमरहित दीखते हैं क्योंकि अर्थ से अर्थान्तर का ग्रहण दोनों में नहीं है तथापि दोनों में बड़ा अन्तर है। ध्यान इन्द्रियजन्य ज्ञान है। वह यद्यपि एक पदार्थ में ही एक काल में होता है तथापि उसी में फिर-फिर उपयोग लगाना पड़ता है। क्षायिक ज्ञान ऐसा नहीं है। वह अतीन्द्रिय है। इसलिये उसमें उपयोग की पुनर्वृत्ति नहीं है। वह सदा युगपत अखिल पदार्थों के जानने में उपयुक्त रहता है। क्योंकि क्षायिक ज्ञान में क्रमवर्तीपन नहीं है। इसलिये ध्यान का लक्षण उसमें सर्वथा नहीं जाता है। अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

पुनः भावार्थ – शङ्काकार का कहना है कि यदि कदाचित् यह कहो कि ध्यान में क्रमवर्तित्व मानने से केवली के ध्यान में भी क्रमवर्तित्त्व का प्रसङ्ग आवेगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि केवली के अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञान में पुनर्वृत्ति नहीं होती है – इसलिये वह क्रमवर्ति न कहलाकर अक्रमवर्ती तथा युगपत् अनन्तपदार्थों का ज्ञायक कहलाता है तथा उसमें जो ध्यान शब्द की वृत्ति है वह उपचरित है क्योंकि ध्यान श्रुतज्ञान की पर्याय है – इसलिये वास्तव में ध्यान बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय तक ही होता है; परन्तु आगे के गुणस्थानों में कर्म की निर्जरा रूप ध्यान का कार्य पाए जाने के कारण ध्यान का उपचार किया जाता है।

पुनः भावार्थ – कोई यह कहे कि क्षायिक ज्ञान कूटस्थ थोड़ा ही है। उसमें भी तो परिणमन होता है – वह परिणमन ही क्रमवर्तीपना है। जिस प्रकार ध्यानी का ज्ञान एक ही ज्ञेय को पुनः-पुनः जानता है – उसी प्रकार केवली का ज्ञान एक ही ज्ञेय को पुनः-पुनः जानता है। सो उसके उत्तर में उसे समझाते हैं कि स्वाभाविक परिणमन और चीज है और क्रमवर्तीपना (उपयोग संक्रान्ति) और चीज है। क्षायिक ज्ञान में परिणमन भले ही हो – पर क्रमवर्तीपना (उपयोग

संक्रान्ति) नहीं है। क्रमवर्तीपना तो नियम से क्षायोपशमिक ज्ञान में ही है। परिणमन करना तो द्रव्यत्व गुण के कारण होता है जो सामान्य गुण है और सभी द्रव्य में पाया जाता है। क्रमवर्तीपना उपयोग के परिवर्तन को कहते हैं जो जीव में ही पाया जाता है। और छद्मस्थ अवस्था में ही पाया जाता है। केवली उपयोग का परिवर्तन नहीं करते – अतः वह क्रमवर्ती नहीं - अक्रमवर्ती ही है और छद्मस्थ पुनः-पुनः उपयोग का परिवर्तन करता है – अतः वह क्रमवर्ती ही है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि : –

उपसंहार

यावच्छद्मस्थजीवानामस्ति ज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्तित्वात्सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥ १६११ ॥

अर्थ – [इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि] छद्मस्थ जीवों का जितना ज्ञान चतुष्टय है [अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान है] वह नियम से क्रमवर्तित्त्व होने से सब संक्रमण स्वरूप है [अर्थात् उपयोग संक्रान्ति को लिये हुए है]।

विषय अनुसंधान – शंकाकार की पहली शंका यह थी कि सम्यग्दर्शन के सविकल्प-निर्विकल्प दो भेद हैं सो उसके उत्तर में उसे समझाते हैं कि विकल्प का एक अर्थ तो संक्रान्ति है और संक्रान्ति तो चारों ज्ञानों में सभी छद्मस्थ जीवों के है। यदि इस कारण से तुम उनके सम्यक्त्व को सविकल्प कहते हो तो यह तुम्हारी भूल है क्योंकि :–

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तसंक्रातिलक्षणा ।
हतोर्वैभाविकत्वेऽपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥ १६१२ ॥

भावार्थ – जिसका लक्षण संक्रान्ति कहा है ऐसी वह क्षायोपशमिक ज्ञानशक्ति किसी प्रकार भी दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है [कि जिसके आधार से सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्प दो भेद किये जाएं] कारण कि यद्यपि वह वैभाविकी है तथापि ज्ञानशक्ति के समान वह भी एक शक्ति है [जैसे ज्ञानशक्ति ज्ञानरूप है वैसे यह भी ज्ञान रूप है। कुछ रागरूप या अन्य किसी उलटे रूप नहीं है जो कुछ दोष उत्पन्न करती हो और उस दोष के कारण सम्यक्त्व को सविकल्प कहते हों]।

भावार्थ – जैसे ज्ञानावरण के क्षय से सब ज्ञान का उघाड़ खुल जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ज्ञान का कुछ उघाड़ खुल जाता है। जैसे क्षायिक ज्ञान भी ज्ञान रूप है वैसे यह क्षायोपशमिक ज्ञान भी ज्ञान रूप है। वह सारा ज्ञान सम्यक्त्व के लिये कुछ लाभकारक नहीं – यह अधूरा ज्ञान सम्यक्त्व के लिये कुछ बाधक नहीं – दोषकारक नहीं क्योंकि वह भी ज्ञान रूप है – यह भी ज्ञान रूप है। अब इसके उत्तर में यदि तुम यह कहो कि वह ज्ञान स्वभाव रूप है और यह विभाव रूप है तो उसका उत्तर यह है कि विभाव दो प्रकार का होता है जैसे एक तो सम्यक्त्व का मिथ्यात्वरूप, चारित्र का राग रूप – सो यह विभाव तो स्वभाव का उलटा है – इसलिये हानिकारक है पर ज्ञान में यह बात नहीं है। स्वभाव ज्ञान पूरे ज्ञान को कहते हैं – विभाव ज्ञान अधूरे ज्ञान को कहते हैं। विभाव ज्ञान कुछ ज्ञान के उलटे रूप नहीं है जो कुछ हानिकारक हो किन्तु वह भी क्षायिक ज्ञान की तरह ज्ञान रूप ही है। ज्ञान का उघाड़ तो ज्ञान-ज्ञान-ज्ञानरूप है। अतः वह कुछ दोष उत्पन्न नहीं करता जो उस दोष के कारण से सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्प दो भेद किये जावें। अब उसकी दूसरी शंका का उत्तर देते हैं :–

ज्ञानसञ्चेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम् ।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥ १६१३ ॥

शब्दार्थ – यहाँ विकल्प का अर्थ राग नहीं किन्तु ससंक्रमण ज्ञान है। चारों क्षायोपशमिक ज्ञान है।

अर्थ – वह क्षायोपशमिक ज्ञान – ज्ञानचेतना में विघ्न नहीं कर सकता क्योंकि वह भी ज्ञान की ही पर्याय है। ज्ञान की पर्याय ज्ञान रूप ही है। इसलिये विकल्प (ससंक्रमण ज्ञान – क्षायोपशमिक ज्ञान] ज्ञानचेतना का शत्रु नहीं है।

भावार्थ :– शिष्य की दूसरी शंका यह थी कि सविकल्प सम्यग्दृष्टियों के ज्ञानचेतना नहीं होती। उसके उत्तर में उसे समझाते हैं कि यह क्षायोपशमिक ज्ञान भी तो ज्ञानरूप है और ज्ञानचेतना भी ज्ञानरूप है। दोनों ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होते हैं। दोनों ज्ञानरूप हैं। इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान ज्ञानचेतना का बाधक नहीं है। दोनों ज्ञान रूप होते हुए एक-दूसरे का शत्रु कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। ज्ञानचेतना का जो प्रतिपक्षी कर्म है उसका उदय ज्ञानचेतना में बाधक होता है। विकल्पात्मक ज्ञान तो ज्ञान की ही पर्याय है। इसलिये वह ज्ञानचेतना का प्रतिपक्षी किसी प्रकार नहीं है। इसलिये किसी भी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना न मानना भूल है।

पुनः भावार्थ – सम्यक्त्व के साथ उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतना के लिये चारों ही ज्ञानों का संक्रमण बाधक नहीं है क्योंकि ज्ञानचेतना का बाधक विवक्षित ज्ञानावरण का उदय ही हो सकता है। क्षयोपशम नहीं। जिसप्रकार प्रतिपक्षी कर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाली ज्ञान की क्षायिक रूप शुद्ध पर्याय ज्ञान-चेतना की बाधक नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाली क्षायोपशमिक रूप ज्ञान की पर्याय भी यद्यपि वैभाविक है तथापि वह ज्ञानचेतना की बाधक नहीं हो सकती है कारण कि क्षायोपशमिक रूप ज्ञान की पर्यायें कथंचित् ज्ञानगुणरूप ही पड़ती हैं। इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान के विकल्प (चारों भेद) उस ज्ञानचेतना के बाधक नहीं हो सकते हैं।

सूत्र १५९९ से १६१३ तक का सार – शिष्य की पहली यह शंका थी कि सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। एक सविकल्प सम्यग्दर्शन – एक निर्विकल्प सम्यग्दर्शन – उसके उत्तर में गुरु महाराज कहते हैं कि यह धारणा नितान्त गलत है। अगर तुम विकल्प का अर्थ उपयोगसंक्रान्ति करते हो तो यह लक्षण तो सब क्षायोपशमिक ज्ञानों में पाया जाता है। क्षायिक ज्ञान में नहीं पाया जाता। इस प्रकार तो सब छद्मस्थों का सम्यक्त्व सविकल्प ठहरेगा और केवली का सम्यक्त्व निर्विकल्प – सो बात ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान के क्षयोपशम रूप होने से कोई दोष भी नहीं है जिसके आधार से क्षायोपशमिक ज्ञानियों के सम्यक्त्व को सविकल्प कहा जाय। इसलिये सम्यक्त्व के सविकल्प निर्विकल्प दो भेद मानना ठीक नहीं॥१६१२॥ दूसरी शंका उसकी यह थी कि सविकल्प सम्यग्दृष्टियों के ज्ञानचेतना नहीं है। उसका उत्तर यह दिया कि यदि क्षायोपशमिक ज्ञान –ज्ञानचेतना में बाधक माना जाये फिर तो केवली के ही ज्ञानचेतना रहेगी – छद्मस्थों के नहीं – दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञान भी ज्ञान रूप है। ज्ञानचेतना भी ज्ञानरूप है। दोनों ज्ञान की पर्यायें हैं। ज्ञानरूप हैं। जिस प्रकार एक जीव में चार ज्ञान अविरोध रूप से एक साथ रहते हैं क्योंकि वे एक ज्ञान गुण की पर्यायें हैं – ज्ञान रूप हैं। इसी प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान और ज्ञानचेतना दोनों ज्ञान की पर्याय हैं। उनके एक साथ रहने में कोई आपत्ति नहीं। एक बात यह भी है कि ज्ञानचेतना का बाधक तो उसके प्रतिपक्षी कर्म का उदय होगा न कि विकल्पात्मक ज्ञान। शत्रुपना तो पतिपक्षीकर्मो में है। इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञानियों के ज्ञानचेतना न मानना भी भूल है।

अगली भूमिका – गुरु महाराज ने यह सिद्ध किया कि क्षायोपशमिक ज्ञान – ज्ञान चेतना का बाधक नहीं है चाहे उपयोग स्व में हो या पर में। इस पर शिष्य कहता है कि मैंने ऐसा सुन रक्खा है कि ज्ञानचेतना स्व में ही होती है – पर में नहीं होती और आप कहते हैं कि पर में उपयोग के समय भी ज्ञान चेतना रहती है तो क्या परपदार्थ में भी ज्ञानचेतना होती है? ऐसी अब वह शङ्का उपस्थित करता है।

शङ्का

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः ।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसचेतनान्तरम् ॥ १६१४ ॥

शङ्का – यदि यह प्रतिज्ञा है [अर्थात् आपका यह कहना है] कि [सम्यग्दृष्टि के ज्ञान का] एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में गमन होता रहता है [और उस समय भी उसके ज्ञान चेतना बनी रहती है] तो क्या आत्मा से भिन्न दूसरे परपदार्थ में भी ज्ञानचेतना होती है?

भावार्थ – शङ्काकार ज्ञानचेतना के लब्धि तथा उपयोग रूप दो भेदों को नहीं जानता। उसने केवल उपयोगात्मक ज्ञानचेतना को ही ज्ञानचेतना सुन रक्खा है। इस अपनी समझ के आधार पर वह बोलता है कि मैंने तो सुना है कि ज्ञानचेतना स्व में ही होती है अर्थात् ज्ञानचेतना के समय में उपयोग स्व में ही रहता है – पर में नहीं जाता और आप कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि का उपयोग चाहे स्व में रहे या पर में जाये पर उसके ज्ञानचेतना तो हर समय रहती ही है। तो क्या ज्ञानचेतना पर में भी होती है? सो इसके उत्तर में उसे समझाते हैं कि यह तो तुम ने ठीक सुन रक्खा है कि ज्ञानचेतना स्व में ही होती है - पर में नहीं होती। हम भी ज्ञानचेतना स्व में ही मानते हैं – पर में नहीं मानते – पर भाई पर के जानने से ज्ञानचेतना का कोई सम्बन्ध नहीं है। उस समय उपयोगात्मक ज्ञानचेतना पर में नहीं होती किन्तु उपयोगात्मक

ज्ञानचेतना का तो उस समय नाश हो जाता है – पर उस समय में उनकी निजात्मा में सम्यक्त्व से अविनाभूत ज्ञान लब्ध को आवरण करने वाले ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम से होने वाली लब्ध रूप ज्ञानचेतना तो बनी ही रहती है और उसी के बल पर ही हम यह कहते हैं कि उपयोग के पर में जाने पर भी ज्ञानचेतना रहती है।

समाधान सूत्र १६१५ से १६२४ तक १०

सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद् व्यभिचारिता ।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥ १६१५ ॥

शब्दार्थ – अन्यात्मनः अन्यत्र = पर पदार्थ से भिन्न।
अत्र आत्मनि = अपनी इस आत्मा में ही।

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा यह कहना तो ठीक है कि विपक्षवृत्ति होने से [अर्थात् हेतु के विपक्ष में रहने से] हेतु को व्यभिचारीपना आता है, किन्तु यहाँ पर हेतु विपक्षवृत्ति नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थों से भिन्न जो शुद्ध निजात्मा है, उसमें ज्ञानचेतना की वृत्ति होने से पदार्थान्तर में उपयोग का गमन भी बन जाता है और ज्ञानचेतना की विपक्षवृत्तित्व भी नहीं आता।

भावार्थ – उत्तर में आचार्य महाराज समझाते हैं कि हम पर में ज्ञानचेतना नहीं मानते। ज्ञानचेतना का वास्तव में स्व से ही सम्बन्ध है पर से सम्बन्ध नहीं है – वह इस प्रकार कि जो उपयोगात्मक ज्ञानचेतना है वह तो है ही सर्वथा स्व में उपयुक्त – अतः उसका तो पर से कुछ सम्बन्ध है ही नहीं॥ १६२४॥ अब रही लब्धिरूप ज्ञानचेतना – वह आत्मा में ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम रूप है। उसका भी पर से कुछ सम्बन्ध नहीं है॥१६२३॥ इसलिये उपयोग जितने अंश में पर को जान रहा है – उतने अंश में ज्ञानचेतना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये हमारा हेतु विपक्ष में न जाने से व्यभिचारी नहीं है। पर यहाँ पर शङ्काकार इतनी बात भूलता है कि जिस समय पर में उपयोग जाता है उस समय भी सम्यग्दर्शन से अविनाभावी ज्ञानचेतना वरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से होने वाली लब्धि रूप ज्ञान चेतना तो उनके रहती ही है। उसके बल पर ही उनके [उपयोग के पर में चले जाने पर भी] ज्ञानचेतना कही जाती है। इसी बात को अगले सूत्र १६१६ से १६२४ तक ९ सूत्रों में स्पष्ट खोल कर दिखलाते हैं अर्थात् अगले ९ सूत्रों में स्पष्टीकरण है जिनमें शिष्य की उपर्युक्त शङ्का का समाधान किया है।

किञ्च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ १६१६ ॥

अर्थ – सब सम्यग्दृष्टियों के अटूटक प्रवाह से अथवा अखण्ड एक धारा से नित्य ज्ञान-चेतना होती है। [लब्धि रूप ज्ञानचेतना की अपेक्षा यह कथन किया गया है]।

भावार्थ :- ऐसा सैद्धान्तिक नियम है कि जिस समय दर्शनमोह कर्म का अनुदय होता है – उसी समय लब्धि रूप ज्ञानचेतना के आवरण करने वाले ज्ञानावरण का भी क्षयोपशम अवश्य होता है। सम्यक्त्व तथा ज्ञानचेतना के बाधक कर्मों का अनुदय युगपत होने से उन दोनों की उपलब्धि भी युगपत् ही होती है। जबतक सम्यक्त्व का सद्भाव होता है तबतक लब्धिरूप ज्ञानचेतना भी अखण्डधारा से अवश्य रहती है। इसलिये सम्यक्त्व के साथ ज्ञानचेतना का नित्य सम्बन्ध बताया है और इसीलिये सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना को नित्य कहा है।

हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥ १६१७ ॥

अर्थ – सब सम्यग्दृष्टियों के निरन्तर ज्ञानचेतना के रहने में कारण यह है कि सम्यग्दर्शन के साथ अन्वयरूप से रहने वाली जो समीचीन ज्ञान चेतना लब्धि है – वह अपने आवरण के दूर होने से सम्यग्दर्शन के साथ सदा रहती है [आत्मा में सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने के साथ ही मतिश्रुतज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम होता है। उसी क्षयोपशम का नाम ज्ञानचेतना लब्धि है। यह लब्धि सम्यग्दर्शन के साथ अन्वय रूप से सदा रहती है, और यही लब्धि उपयोगात्मक ज्ञानचेतना में कारण है]।

भावार्थ – पूर्व सूत्र में कहा है कि सब सम्यग्दृष्टियों के अखण्ड धारा प्रवाह रूप से नित्य ज्ञानचेतना होती है। उसका कारण इस सूत्र में बताते हैं कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय ही उनके ज्ञानचेतना लब्धि उत्पन्न हो जाती है क्योंकि उस लब्धि को आवरण करने वाले मतिश्रुत ज्ञानावरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम सम्यक्त्व से अविनाभूत है – समव्याप्ति है। जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ ज्ञानचेतना लब्धि को आवरण करने वाले कर्म का क्षयोपशम है और जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व नहीं है वहाँ-वहाँ लब्ध्यावरण कर्म का क्षयोपशम भी नहीं है। यह त्रिकाल अबाधित नियम है। इसलिए पर में ज्ञानचेतना नहीं है किन्तु उपयोग के पर में जाने पर भी स्व में ही लब्धि रूप ज्ञानचेतना है। अब यह कहते हैं कि स्वोपयोग यदि स्व से छूट कर पर में भी चला जाव तो उपयोगात्मक ज्ञानचेतना भले नष्ट हो जाये पर वह लब्धि रूप ज्ञानचेतना को नष्ट नहीं कर सकती क्योंकि उसकी समव्याप्ति उसके साथ नहीं है।

कादाचित्काऽस्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसम्भवात् ॥ १६१८ ॥

अर्थ – यद्यपि ज्ञान की स्व में उपयोगरूप रहने वाली चेतना [अर्थात् उपयोगात्मक ज्ञानचेतना] कभी-कभी होने वाली है [अर्थात् अनित्य है] तो भी वह लब्धिरूप ज्ञानचेतना के विनाश के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि [लब्धि और उपयोगरूप ज्ञानचेतना में] समव्याप्ति नहीं पाई जाती है।

भावार्थ – सम्यग्दर्शन का अविनाभावी जो मतिश्रुत ज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम है उसी को लब्धि कहते हैं, और उस लब्धि के होने पर आत्मा की तरफ उन्मुख (रुजू) होकर आत्मानुभव करना ही स्वोपयोग है। लब्ध और स्वोपयोग में कारण कार्य भाव है। लब्धि के होने पर ही स्वोपयोगात्मक ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। परन्तु यह नियम नहीं है कि लब्धि के होने पर स्वोपयोग रूप ज्ञान हो ही हो। स्व-उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य है। लब्धिरूप ज्ञान नित्य है। जिस समय स्व के अनुभव के लिए आत्मा उद्यत होता है उसी समय उसके स्वोपयोगात्मक ज्ञान होता है परन्तु लब्धिरूप ज्ञान बना ही रहता है। इसलिये स्वोपयोग और लब्धि दोनों में विषमव्याप्ति है। जो व्याप्ति एक तरफ से होती है उसे विषम व्याप्ति कहते हैं। स्वोपयोग के होने पर लब्धि अवश्य होती है परन्तु लब्धि के होने पर स्वोपयोगात्मक चेतना हो भी और नहीं भी हो, नियम नहीं है। जो व्याप्ति दोनों तरफ से होती है उसे समव्याप्ति कहते हैं जैसे ज्ञान और आत्मा। जहाँ ज्ञान है वहाँ आत्मा अवश्य है और जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञान अवश्य है। ऐसी दोनों ओर से व्याप्ति लब्धि और स्वोपयोगरूप ज्ञानचेतना में नहीं है।

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः ।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥ १६१९ ॥
अभावात्तूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा न वा ।
यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्न चामुना ॥ १६२० ॥

अर्थ – यहाँ लब्धि और उपयोग में विषम व्याप्ति है क्योंकि लब्धि के नाश से अवश्य उपयोग का नाश हो जाता है। किन्तु उपयोग के अभाव से लब्धि का नाश हो अथवा न भी हो कारण कि लब्धिरूप ज्ञानचेतना को आवरण करने वाले कर्म के क्षयोपशम की उस सम्यग्दर्शन के साथ व्याप्ति (समव्याप्ति) है उस उपयोग के साथ नहीं है।

भावार्थ – लब्धि और उपयोग में इसलिये विषम व्याप्ति है कि जहाँ-जहाँ लब्धि का नाश है वहाँ-वहाँ उपयोग का नाश है यह तो ठीक है पर जहाँ-जहाँ उपयोग का नाश है वहाँ-वहाँ लब्धि का नाश हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। इसका कारण यह है कि लब्धि को आवरण करने वाले कर्म के क्षयोपशम की व्याप्ति उपयोग से नहीं है जो उपयोग के नाश होते लब्धि का नाश हो ही हो किन्तु उस आवरण के क्षयोपशम की व्याप्ति तो सम्यक्त्व के साथ है। इसलिये सम्यक्त्व के नाश होने पर लब्धि अवश्य नाश होती है। इसलिये भाई सम्यक्त्वी का उपयोग पर में जाने पर भी लब्धि रूप ज्ञानचेतना तो बनी ही रहती है।

उपरोक्त को सुनकर शिष्य कहता है कि इसका आपके पास क्या प्रमाण है कि सम्यक्त्व के साथ लब्धि को आवरण करने वाले कर्म के क्षयोपशम की समव्याप्ति है जो स्वोपयोग के नाश होने पर भी लब्धि रूप ज्ञानचेतना बनी रहती है। उत्तर में आगम प्रमाण तथा प्रत्यक्ष प्रमाण दोनों देते हैं :–

अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः ।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात् ॥ १६२१ ॥
नूनं कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।
स्यात् सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः ॥ १६२२ ॥

अर्थ – यह बात जिनागम से सिद्ध है कि सम्यक्त्व के होते ही लब्धि रूप ज्ञानचेतना को आवरण करने वाले कर्म का क्षयोपशम अवश्य होता है तथा इस सम्यक्त्व के न होने पर उस लब्धिरूप ज्ञानचेतना को आवरण करने वाले कर्म का क्षयोपशम भी नहीं होता है किन्तु तब निश्चय से कर्म में और कर्मफल में चेतना होती है [ज्ञानी-छद्मस्थ दशा होने पर भी निरन्तर ज्ञान चेतना के स्वामित्वरूप से परिणमता है। कर्मचेतना का कर्मफल चेतना का स्वामी नहीं है। वर्तमान चारित्र पर्याय में दुर्बलता (कमजोरी) की बात अत्यन्त गौण कर दी है।] क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणों से बलवान है [अर्थात् हम कर्मचेतना और कर्मफल चेतना प्रत्यक्ष ज्ञानी में नहीं देखते – अज्ञानी में देखते हैं]।

भावार्थ – भाई यह बात तो केवलियों ने अपने दिव्य ज्ञान में देखी है और उसके आधार पर आगम में लिखी है कि सम्यक्त्व की लब्ध्यावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ समव्याप्ति है। इस आगम प्रमाण के बल पर हम कहते हैं कि सम्यग्दृष्टियों के हर समय ज्ञानचेतना है। दूसरी अनुभव में आने वाली प्रत्यक्ष बात इसमें यह है कि जिस समय सम्यक्त्व और उसका अविनाभावी लब्ध्यावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं होता – उस समय उस जीव में कर्मचेतना और कर्मफल चेतना रहती है। वह प्रत्यक्ष कर्म का कर्त्ताभोक्ता दीखता है। इस नास्ति रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से यह पता चलता है कि जब तक जीव में सम्यक्त्व रहता है तब तक लब्ध्यावरण कर्म का क्षयोपशम भी रहता है और तब तक ज्ञानचेतना भी अवश्य रहती है। इसलिये सब सम्यग्दृष्टियों के ज्ञानचेतना पाई जाती है।

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा ।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा ॥ १६२३ ॥

शब्दार्थ – निर्विकल्पा का अर्थ यहाँ रागरहितता नहीं किन्तु संक्रान्ति रहितता है।

अर्थ – इतने कथन से यह भी सिद्ध होता है कि जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि है वह उपयोग रूप न होने से स्वतः निर्विकल्परूप है [संक्रान्ति रहित है]।

भावार्थ – देख भाई! जैसा पहले कह कर आये हैं – लब्धि रूप ज्ञानचेतना तो कहते ही ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम को हैं। वह तो आत्मा में ज्ञान का उघाड़ है और ज्ञान ज्ञान-ज्ञान रूप ही है। वह उपयोग रूप ही नहीं। जब उपयोग रूप नहीं तो उसमें विकल्प [अर्थात् संक्रान्ति] ही नहीं – वह तो निर्विकल्प है [पदार्थान्तर की संक्रान्ति के प्रश्न से ही रहित है]। इसलिये यह चेतना तो है ही स्व में। इसका तो पर में होने का कोई प्रश्न ही नहीं। शिष्य ने पूर्व सूत्र १६१४ में यह कहा था कि क्या पर में ज्ञान चेतना होती है तो उसे समझा रहे हैं कि चेतना दो प्रकार की है – एक लब्धि रूप – एक उपयोग रूप। लब्धि रूप ज्ञान चेतना तो ज्ञान के विशिष्ट क्षयोपशम रूप है – वह उपयोग रूप ही नहीं। इसलिये यहाँ तो पर में ज्ञान चेतना का कोई अवकाश ही नहीं। यहाँ वह प्रश्न ही out of question है। अब उपयोगात्मक ज्ञान चेतना के समय भी पर में ज्ञान चेतना नहीं है किन्तु स्व में ही है – यह समझाते हैं।

शुद्धः स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्याज्ज्ञानचेतना ।
निर्विकल्पः स एवार्थादर्थासंक्रान्तसंगतेः ॥ १६२४ ॥

शब्दार्थ – निर्विकल्पः का अर्थ रागरहितः नहीं है किन्तु परपदार्थसंक्रान्तिरहितः है।

अर्थ – जो अपनी आत्मा में शुद्ध उपयोग है – वह शुद्धोपयोग स्वयं उपयोगात्मक ज्ञानचेतना है। वह उपयोग भी अर्थ से अर्थान्तर के संक्रमण रहित होने से [एक पदार्थ से दूसरे परपदार्थ में उपयोग के संक्रमण रहित होने से निर्विकल्प है]। (पर पदार्थ में संक्रान्ति रहित है) [शुद्धात्मानुभव रूप जो उपयोगात्मक ज्ञानचेतना है वह भी वास्तव में निर्विकल्पक ही है, क्योंकि जितने काल तक शुद्धात्मानुभव होता रहता है उतने काल तक ही उपयोगात्मक ज्ञान चेतना कहलाती है, और उस काल में शुद्धात्मा से हट कर दूसरे पदार्थों की ओर ज्ञान जाता नहीं है। इसलिये उस समय संक्रान्ति के न होने से उपयोगात्मक ज्ञान को भी निर्विकल्पक कहा गया है]।

भावार्थ – और देख भाई! जो अपनी आत्मा में शुद्धोपयोग है – वह उपयोगात्मक ज्ञानचेतना है। वह तो है ही सर्वथा स्व में उपयुक्त। उसमें दूसरे पर पदार्थ पर उपयोग की संक्रान्ति ही नहीं है। इसलिये वह निर्विकल्प है अर्थात् पर पदार्थ पर उपयोग की संक्रान्ति से रहित है। इसलिये उसमें भी पर में ज्ञानचेतना होने का प्रश्न या अवकाश ही नहीं है। शिष्य ने सूत्र १६१४ में प्रश्न किया था कि क्या परपदार्थ में भी ज्ञानचेतना होती है तो उत्तर दिया कि परपदार्थ से लब्धि रूप ज्ञानचेतना और उपयोग रूप ज्ञानचेतना दोनों का ही सम्बन्ध नहीं है। चेतना तो स्व में ही होती है। पर में होती ही नहीं। पर के जानने से ज्ञान चेतना का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यहाँ तक शिष्य के सूत्र १६१४ में किये गये प्रश्न का समाधान किया।

यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि पहले सब क्षायोपशमिक ज्ञानों को संक्रमणात्मक कहा गया है और यहाँ पर उसी को [स्व शुद्ध उपयोग को] असंक्रमणात्मक [निर्विकल्पक] कहा गया है, सो क्यों? इसके उत्तर में यह समझना चाहिए कि वहाँ पर एक ही शुद्धात्मा में उपयोग की पुनर्वृत्ति को संक्रमणात्मक ज्ञान कहा गया है और यहाँ पर ज्ञानचेतना रूप उपयोग के अस्तित्व काल में शुद्धात्मा से हट कर पदार्थान्तर में ज्ञान का परिणमन न होने की अपेक्षा से उसे असंक्रमणात्मक [निर्विकल्पक] कहा गया है। ऐसा भी क्यों? इसका उत्तर यह है कि वहाँ क्षायोपशमिक तथा क्षायिक ज्ञान का स्वभाव निर्णय करना था और यहाँ दूसरे पदार्थ में ज्ञानचेतना है या नहीं – यह सिद्ध करना है। दोनों जगह विषय का अन्तर होने से संक्रमण शब्द के अर्थ में अन्तर है।

अगली भूमिका – अब गुरु महाराज शिष्य से कहते हैं कि तुमने जो सूत्र १६१४ में यह पूछा था कि क्या पर पदार्थ में ज्ञान चेतना होती है सो ज्ञान चेतना तो नहीं होती – हाँ तुम हम से यह पूछ सकते हो कि जिस समय सम्यग्दृष्टि का उपयोग स्व से छूट कर पर में जाता है – उस समय उससे उनको क्या हानि है? कुछ हानि है या नहीं ?

शङ्का

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम् ।
यत्कश्चिद्बहिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मनः ॥ १६२५ ॥

शङ्का – अब यहाँ पर केवल इतने ही प्रश्न को लेशमात्र अवकाश है कि जब [सम्यग्दृष्टि का] आत्मा के अतिरिक्त किसी बहिर पदार्थ में उपयोग जाता है [तो उससे कुछ हानि है या नहीं] ?

समाधान सूत्र १६२६ से १६६३ तक ३८

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ।
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ॥ १६२६ ॥

अर्थ – यह ज्ञानोपयोग के स्वभाव की महिमा का उदय है कि वह स्व और पर दोनों के स्वरूप का प्रकाशक है जैसे दीपक स्व पर प्रकाशक है।

भावार्थ – भाई! ज्ञान का काम जानना है और स्व तथा पर सबको जानने का है। स्व के जानने में कुछ संवर निर्जरा अधिक होती हो और पर के जानने में कुछ कम होती हो – सो बात नहीं है। या स्व के जानने में बंध नहीं होती हो और पर के जानने में बंध होती हो – सो बात भी नहीं है। वह तो जैसा स्वभाव से स्व का प्रकाशक (जानने वाला) है – उसी प्रकार स्वभाव से पर का प्रकाशक [जानने वाला] है। इसलिये ज्ञान के स्व या पर के जानने से संवर निर्जरा या बंध-अबंध अर्थात् गुण-दोष का कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। जैसे दीपक स्व को प्रकाशता है – उसी प्रकार निर्विशेषपने पर को प्रकाशता है। इसी प्रकार जैसे ज्ञान स्व को प्रकाशता है – उसी प्रकार निर्विशेषपने पर को प्रकाशता है। इसी को स्पष्ट करते हैं :-

निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च ।
तथा मूर्तानामभूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ॥ १६२७ ॥

अर्थ – विशेषता रहित जैसे वह ज्ञान आत्मा को जानता है, ठीक उसी प्रकार अन्य ज्ञेय को भी जानता है तथा [ज्ञेय पदार्थों में] मूर्त पदार्थों को और अमूर्त धर्मादि को भी जानता है।

भावार्थ – ज्ञान का स्वभाव जैसे स्व को जानने का है – उसी प्रकार पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सबको जानने का है अर्थात् ऐसी कोई बात ही नहीं जिसको ज्ञान न जानता हो अर्थात् मूर्तिक वस्तु को भी जानता है और अमूर्तिक वस्तु को भी जानता है।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि ॥ १६२८ ॥

अर्थ – वह कभी अपने स्वरूप में (उपयोग रूप) उपयुक्त होता है अथवा अपने स्वरूप में उपयुक्त नहीं भी होता है। इसी प्रकार वह कभी पर पदार्थ में उपयुक्त होता है अथवा पर पदार्थ में उपयुक्त नहीं भी होता है [अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान कभी स्व को जानता है तो कभी पर को जानता है]।

भावार्थ – केवलज्ञान का स्वभाव तो ऐसा है कि वह एक ही समय में स्व पर सबको जान लेता है। उपयोग का परिवर्तन नहीं करता। पर भाई! क्षायोपशमिक ज्ञान का तो स्वभाव ही ऐसा है कि कभी स्व को जानता है तो कभी पर को जानता है। पर स्व को जाने या पर को – इससे कुछ लाभ-हानि नहीं है यही अब स्पष्ट करते हैं :–

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः।
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥ १६२९ ॥

अर्थ – वह उपयोग अपने में ही उपयुक्त होकर भी वास्तव में [लाभ] के लिये नहीं है और पर में उपयुक्त भी वास्तव में अपकर्ष [हानि] के लिये नहीं है।

भावार्थ – सारा जगत यह मानता है कि उपयोग का स्व में रहना अच्छा है और पर में जाना बुरा है तो आचार्य कहते हैं कि यह बड़ी भारी भूल है। ज्ञान का हानि लाभ से कुछ सम्बन्ध ही नहीं है।

तस्मात्स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया।
मा सीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवैति भोः ॥ १६३० ॥

अर्थ – इसलिये अपने में स्थित रहने के लिये दूसरे पदार्थ से हट कर एकाकार [आत्माकार] करने की इच्छा से तू खेद मत कर! हे महा बुद्धिमान्! प्रयोजनभूत अर्थ (बात) को जान।

भावार्थ :– इस भाव से कि ज्ञान का स्व में रहना लाभदायक है और पर में जाना हानिकारक है – तू पर को जानने से दुःखी मत हो! यह बात ही भूलभरी है। स्व या पर के जानने से हानि-लाभ का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। हे भाई! पहले प्रयोजनभूत बात को जान – अर्थात् पहले इस बात का ज्ञान कर कि गुण [लाभ] किन्हें कहते हैं? वे कौन-कौन से हैं? उनकी उत्पत्ति किस कारण से होती है? दोष (हानि) किन्हें कहते हैं ? वे कौन-कौनसे हैं ? उनकी उत्पत्ति किस कारण से होती है? तब तुझे पता चलेगा कि उपयोग का पर में जाने से कुछ लाभ या हानि है भी या नहीं या यह कल्पना ही मिथ्या है।

चर्यया पर्यटन्नैव ज्ञानमर्थेषु लीलया।
न दोषाय गुणायाथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥ १६३१ ॥

अर्थ – ज्ञान पदार्थों में लीलामात्र से घूमता-फिरता है। वह वास्तव में प्रत्येक पदार्थ को सदा जानता हुआ न तो दोष के लिये है और न गुण के लिये है। अर्थात् हर एक पदार्थ को जानना ज्ञान का धर्म है। गुण-दोष से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। स्व को जानने में वह कुछ गुण पैदा करता हो और पर को जानने में कुछ दोष पैदा करता हो यह बात नहीं है।

भावार्थ – भाई! सबसे पहले यह नियम ध्यान में रहना चाहिये कि ज्ञान का स्वभाव केवल स्व को ही जानने का नहीं है किन्तु स्व पर दोनों के जानने का है और स्वभाव से कभी हानि नहीं हुआ करती।

दोषों का वर्णन सूत्र १६३२ से १६३४ तक ३

दोषः सम्यग्दृशो हानिः सर्वतोंऽशांशतोऽथवा।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरायाः क्षतिर्मनाक् ॥ १६३२ ॥

अर्थ – दोष (१) सम्यग्दर्शन की सर्वांश से अथवा (२) कुछ अंश रूप से हानि होना है तथा (३) संवरपूर्वक निर्जरा की कुछ क्षति होना भी दोष है।

भावार्थ – सम्यक्त्व का छूट जाना हानि है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में कुछ शुद्धि के अंशों का कम होना हानि है। किसी भी सम्यग्दृष्टि की सम्यक्त्व की आंशिक हानि के कारण उससे होनेवाली संवर निर्जरा में कमी होना हानि है।

व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्द्वयस्योपमूलनम् ।
हानिर्वा पुण्यबन्धस्य हेयस्याप्यपकर्षणम् ॥ १६३३ ॥

अर्थ – (४) भिन्न-भिन्न रूप से अथवा इकट्ठे रूप से उन दोनों [सम्यक्त्व और निर्जरा] का नाश होना हानि [दोष] है। अथवा (५) हेय भी पुण्यबन्ध का अपकर्षण [घटना] हानि है।

भावार्थ – सम्यक्त्व और उससे होनेवाली निर्जरा का अविनाभाव है। अतः उन दोनों का एक साथ नाश होना हानि है। गुण उसे कहते हैं जो छूटने का कारण हो पर पुण्य तो बंधन का कारण है इसलिये वह वास्तव में गुण नहीं है [हेय है – छोड़ने योग्य है] पर फिर भी कुछ भूमिकाओं में उसका शुद्धि के साथ अविनाभाव होने के कारण उस पुण्य का भी घट जाना हानि है [यह पुण्य के कारण शुद्धि थी या है – ऐसा न समझें]।

उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तद्द्वयस्याथवा किञ्चिद्यावदुद्वेलनादिकम् ॥ १६३४ ॥

अर्थ – (६) अथवा पाप बंध की उत्पत्ति होना अथवा (७) इस पापबंध का उत्कर्ष [बढ़ना] दोष है अथवा (८) उन दोनों की [सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) प्रकृति की मिथ्यात्व रूप] उद्वेलना आदि का होना भी दोष है।

भावार्थ – जब जीव अनादि मिथ्यादृष्टि से औपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है तो मिथ्यात्व प्रकृति के स्वतः तीन टुकड़े हो जाते हैं और जब पुनः सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि बनता है तो उन तीन में से दो प्रकृति के परमाणु स्वतः मिथ्यात्वरूप होकर मिथ्यात्व प्रकृति में मिलने लग जाते हैं। इसको "उन दोनों की उद्वेलना" कहते हैं। क्योंकि उन दो प्रकृतियों में जितना मिथ्यात्व का रस [अनुभाग] है – वह मिथ्यात्व रूप बदलने से बढ़ जाता है। अतः उन दो प्रकृतियों का मिथ्यात्व रूप बनने में पाप की पुनः उत्पत्ति और पाप की वृद्धि दोनों बातें हैं। यह भी आत्मा के लिए दोष है।

गुणों का वर्णन सूत्र १६३५-१६३६=२

गुणः सम्यक्त्वसंभूतिरुत्कर्षो वा सतोंशकैः ।
निर्जराभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाक् ॥ १६३५ ॥

अर्थ – गुण (१) सम्यक्त्व की उत्पत्ति होना है अथवा (२) उसके सत् अंशों द्वारा वृद्धि होना है अथवा (३) नवीन निर्जरा का होना है और (४) कुछ नवीन संवर का होना है।

भावार्थ – अनादि मिथ्यादृष्टि से औपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति होना गुण है। फिर औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक हो जाना गुण है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के शुद्धि अंशों में वृद्धि होना भी गुण है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति से नई निर्जरा का प्रारम्भ होना गुण है और उसका अविनाभावी संवर होना भी गुण है।

उत्कर्षो वानयोरंशैर्द्वयोरन्यतरस्य वा ।
श्रेयोबन्धोऽथवोत्कर्षो यद्वा स्यादपकर्षणम् ॥ १६३६ ॥

अर्थ – अथवा (५) संवर और निर्जरा दोनों की अंश रूप से वृद्धि होना अथवा (६) दोनों में से किसी एक की वृद्धि होना (७) पुण्य बन्ध का होना अथवा (८) उस पुण्य बन्ध की वृद्धि होना अथवा (९) पाप का अपकर्षण होना (घटना) गुण है।

भावार्थ – चौथे गुणस्थान से ज्यों-ज्यों ज्ञानी की शुद्धि की वृद्धि होती है त्यों-त्यों संवर या निर्जरा या दोनों की भी वृद्धि होती है – यह गुण है। तीर्थंकर, आहारक, अनुदिश और पंचोत्तर आदि कुछ ऐसी प्रकृतियाँ हैं जो ज्ञानियों के ही बंधती हैं – उनका बंधना गुण है। चौथे से दसवें तक पुण्यप्रकृतियों में अनुभाग बढ़ता रहता है – यह गुण है। चौथे से ही पूर्व अवस्था की बंधी हुई पाप प्रकृतियों का स्थिति अनुभाग घटना प्रारम्भ हो जाता है – यह गुण है।

गुण दोष-सूत्र १६३२ से १६३६ का सार

(१) – छूटने के [मोक्ष के] कारणों को गुण [लाभ] कहते हैं। अनादि काल का आत्मा मिथ्यादृष्टि है। उसमें नवीन औपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति होना गुण है। फिर औपशमिक या क्षायोपशमिक से क्षायिक सम्यक्त्व होना या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में शुद्धि की वृद्धि होना या कृत्कृत्यवेदक होना सम्यक्त्व की वृद्धि नामा गुण है। बन्धन के [संसार के] कारणों को हानि [दोष] कहते हैं। सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि होना दोष है। औपशमिक से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो जाना या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की शुद्धि के अंशों में कुछ हानि होना – सम्यक्त्व का कुछ अंश में कम होना नामा दोष है। (१६३२-१६३३-१६३५)।

(२) – औपशमिक सम्यक्त्व होते ही संवर निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है – यह आत्मा को लाभ है। औपशमिक क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक में अधिक संवर निर्जरा होती है – यह संवर निर्जरा की वृद्धि नामा गुण है। सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि होने पर संवर निर्जरा बंद हो जाती है – यह हानि है या सम्यक्त्व अवस्था में ही संवर निर्जरा का कुछ अंश में कम हो जाना भी हानि है। (१६३२, १६३३, १६३५, १६३६)

(३) – पुण्य बन्ध यद्यपि हेय है फिर भी उसका गुण दोष से सम्बन्ध है। जो पुण्य बन्ध सम्यक्त्व अवस्था में ही होता है – उस बंध का प्रारम्भ होना गुण है। फिर उसमें वृद्धि होना गुण है। पाप प्रकृति का बदल कर पुण्य प्रकृति होना भी गुण है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि होने पर पाप का बंध प्रारम्भ होना हानि है। पाप बंध में वृद्धि होना हानि है। पुण्य बंध की कमी होना हानि है। पुण्य प्रकृति का पाप प्रकृति में बदलना हानि है।

(१६३३, १६३४, १६३६)

नोट – उपरोक्त सूत्रों में गुण-दोषों का शिष्य को परिज्ञान कराया। अब यह समझाते हैं कि ज्ञानोपयोग का पर को जानने में गुण या दोष का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। साथ ही यह भी समझाते हैं कि उन गुण-दोषों का जिनसे सम्बन्ध है – उनसे भी उपयोग का कोई सम्बन्ध नहीं है।

गुणदोषद्वयोरेवं नोपयोगोऽस्ति कारणम् ।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ १६३७ ॥

अर्थ – इस प्रकार गुण-दोष दोनों में ही उपयोग कारण नहीं है अथवा उपयोग किसी एक गुण या दोष का हेतु भी नहीं है और यह उपयोग योगवाही (निमित्त कारण) भी नहीं है।

भावार्थ – (१) जिस प्रकार आत्मा का मिथ्यात्व रूप परिणमन ज्ञान के कुज्ञानपने में कारण है – उस प्रकार आत्मा का उपयोग परिणमन आत्मा के गुण-दोषों में कारण नहीं है (२) जिस प्रकार धूम अग्नि का हेतु (साध्य से अविनाभावी साधन) है, उसप्रकार गुण-दोष रूप साध्य का उपयोग हेतु (अविनाभावी साधन) भी नहीं है। (३) जिस प्रकार दर्शनमोह सम्यक्त्व का निमित्त कारण है, उस प्रकार उपयोग गुण-दोषों का निमित्त कारण भी नहीं है। अर्थात् उपयोग का गुण-दोष से कुछ सम्बन्ध ही नहीं है।

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्ताद् दृङ्मोहकर्मणः ।
अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ॥ १६३८ ॥

अर्थ – सम्यक्त्व जीव का भाव है जो दर्शनमोह कर्म के अनुदय से होता है। उसके अनुदय से अविनाभूत है क्योंकि उन दोनों में (सम्यक्त्व और दर्शनमोह के अनुदय में) व्याप्ति का सद्भाव है।

भावार्थ – गुणों की गणना में पहला गुण सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति बतलाया है सो अब कहते हैं कि उसकी प्राप्ति में उपयोग का कुछ सम्बन्ध नहीं है किन्तु दर्शनमोह नामा कर्म से उसका सम्बन्ध है। सम्यक्त्व की उसके अनुदय के साथ सम-व्याप्ति है अर्थात् जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ दर्शनमोह का अनुदय है और जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व नहीं है वहाँ-वहाँ दर्शनमोह का अनुदय भी नहीं है। उपयोग चाहे स्व में हो या पर में – इससे कुछ प्रयोजन नहीं है।

दैवादस्तंगते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम्।
दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ १६३९ ॥

अर्थ – दैवयोग से उस दर्शनमोह के अनुदय (क्षय, उपशम या क्षयोपशम) होने पर सम्यक्त्व उसी समय उत्पन्न हो जाता है। दैवयोग से उसके अनुदय न होने पर अर्थात् उदय रहने पर दूसरा अर्थात् सम्यक्त्व भी नहीं होता है। यह उपयोग सम्यक्त्व या दर्शनमोह का योगवाही (निमित्त कारण) नहीं है।

भावार्थ – इसमें सम्यक्त्व के निमित्त कारण की चर्चा की है कि भाई सम्यक्त्व उत्पत्ति का उपयोग उपादान कारण तो नहीं है पर निमित्त कारण भी नहीं है। इसलिये उसका सम्यक्त्व से कुछ सम्बन्ध नहीं है। सम्यक्त्व का निमित्त कारण तो दर्शनमोह है। उसके साथ उसके होने या न होने की व्याप्ति है। उपयोग से नहीं।

सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि ।
विना तेनापि सम्यक्त्वं तदस्ते सति स्याद्यतः ॥ १६४० ॥

अर्थ – उस उपयोग के साथ उन दोनों की (सम्यक्त्व और दर्शनमोह के अनुदय की) व्याप्ति भी नहीं है। क्योंकि उस उपयोग के बिना भी उस दर्शनमोह के अनुदय होने पर सम्यक्त्व हो जाता है।

भावार्थ – यहाँ शिष्य को यह समझाया है कि जीव का सबसे पहला लाभ सम्यक्त्व है और वह दर्शनमोह के अनुदय के समय ही उत्पन्न हो जाता। उपयोग का न सम्यक्त्व की उत्पत्ति से कुछ सम्बन्ध है और न उस दर्शनमोह के अनुदय से ही कुछ सम्बन्ध है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येऽपि ते निरजरादयः ।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥ १६४१ ॥

अर्थ – सम्यक्त्व से अविनाभावी जो वे निर्जरा-आदिक हैं वे भी उस उपयोग के साथ जरा भी व्याप्तिरूप नहीं हैं।

भावार्थ – गुणों में दूसरा गुण संवर निर्जरा का होना बतलाया था। सो अब उसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि संवर निर्जरा का अविनाभाव सम्बन्ध (समव्याप्ति) सम्यक्त्व के साथ है। उपयोग से उनका जरा भी सम्बन्ध नहीं है। सम्यग्दृष्टि का उपयोग चाहे स्व में हो या पर में हो पर सम्यक्त्व की शुद्धि के बल पर होने वाली संवर निर्जरा तो होती ही रहती है। उपयोग के पर में जाने से वे संवरनिर्जरादि नष्ट नहीं होते पर सम्यक्त्व के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं। इसलिये संवर निर्जरा के लाभ में भी उपयोग कारण नहीं है।

सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम् ।
सद्भावोऽस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगी तत् ॥ १६४२ ॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन के होने पर निर्जरादिक अवश्य ही होते हैं। सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में निर्जरादिक का अभाव नहीं हो सकता है। परन्तु उस समय ज्ञान स्वोपयोगात्मक हो अथवा न हो – कुछ नियम नहीं है अर्थात् शुद्धोपयोग हो या उपयोग पर में जा रहा हो – निर्जरादिक सम्यक्त्व के अविनाभावी हैं। उनमें उपयोग कारण नहीं है।

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात् परात्मनि।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥ १६४३ ॥

अर्थ – ज्ञान चाहे आत्मा में उपयुक्त हो या पर में उपयुक्त हो किन्तु सम्यक्त्व भाव के होने पर वे निर्जरा-आदिक होते ही हैं।

भावार्थ – उपर्युक्त छः सूत्रों में जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि ज्ञान चाहे निजात्मा (शुद्धात्मानुभव) में उपयुक्त हो चाहे परपदार्थों में भी उपयुक्त हो – वह गुण-दोषों में कारण नहीं है। ऊपर के सूत्रों में गुणों का कथन किया गया है। निर्जरादिक गुणों में जीव के सम्यग्दर्शनरूप परिणाम ही कारण है – स्वात्मोपयोग कारण नहीं है।

यत्पुनः श्रेयसो बन्धो बन्धश्चाश्रेयसोऽपि वा ।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात् ॥ १६४४ ॥

अर्थ – और जो पुण्य बन्ध अथवा पाप बन्ध होता है वह राग से, द्वेष से, मोह से होता है किन्तु उपयोग से नहीं होता है।

भावार्थ – आत्मा के लिये तीसरा गुण-दोष पुण्य-पाप बन्ध का था। सो अब उसकी चर्चा प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि उपयोग का बन्ध से भी कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् यह जो लोगों की धारणा है कि उपयोग स्व में हो तो बन्ध नहीं होता है और उपयोग पर में हो तो बन्ध होता है –सोलह आने गलत है। बन्ध का अविनाभाव राग-द्वेष-मोह से है। उपयोग से बिल्कुल नहीं है।

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाव्याप्तिर्विकल्पैरिव।
विकल्परस्य चाव्याप्तिर्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥१६४५॥

अर्थ – बन्ध की रागादिकों के साथ व्याप्ति है – अव्याप्ति नहीं है जैसी कि (बन्ध की) ज्ञानविकल्पों (ज्ञान भेदों – क्षायोपशमिक ज्ञानों) के साथ अव्याप्ति है और इस बन्ध की ज्ञान-विकल्पों (ज्ञानभेदों) के साथ अव्याप्ति है – व्याप्ति नहीं है जैसे कि बन्ध की निश्चय से उन रागादिक के साथ व्याप्ति है (प्रत्येक सूत्र को अस्ति-नास्ति से लिखने की श्री अमृतचन्द्रजी की आदत ही है)।

भावार्थ – जैसे रागादिक के अंशों के साथ बन्ध के होने का अविनाभाव है, वैसा ज्ञान के विकल्पों (अंशों) के साथ नहीं है अर्थात् जब जितने अंशों में रागादिक होते हैं, तब उतने ही अंशों में बन्ध भी होता है। जितने अंश में राग घटता है – उतने अंश में बन्ध घटता है – जितने अंश में राग बढ़ता है – उतने अंश में बन्ध बढ़ता है उसी प्रकार ज्ञान के घटने-बढ़ने पर भी बन्ध का नियम हो सो नहीं है अथवा ज्ञानोपयोग के स्व या पर में जाने पर बन्ध का नियम हो – सो भी नहीं है। तथा ज्ञान के विकल्पों (अंशों) के साथ जैसी बन्ध की अव्याप्ति है वैसी रागादिक के साथ अव्याप्ति नहीं है अर्थात् जैसे-जैसे ज्ञान में हीनाधिकता होती है तदनुसार बन्ध भी होता हो – यह नियम नहीं है और जैसे-जैसे राग की हीनाधिक होती हैं वैसे-वैसे बन्ध न हो – यह नहीं बन्ध होता ही है। इस तरह इस सूत्र में, रागादिक के साथ ही बन्ध की व्याप्ति को, तथा ज्ञानविकल्पों के साथ अव्याप्ति को ही निश्चय रूप से कहने के लिये, उभयथा व्याप्ति-अव्याप्ति बतलाई हैं।

सार – इसमें बन्ध की और राग की समव्याप्ति का ज्ञान कराया है तथा बन्ध की और क्षायोपशमिक ज्ञानों की अव्याप्ति का ज्ञान कराया है। जहाँ-जहाँ रागादिक होंगे वहाँ-वहाँ बन्ध होगा ही होगा। रागादिक हों और बन्ध न हों – यह नहीं हो सकता और जहाँ-जहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान होगा – वहाँ-वहाँ अबन्ध ही होगा – बन्ध नहीं होगा। विषय की दृढ़ता के लिये दोनों ओर से इसलिये लिखा हैं कि देख भाई शिष्य! बन्ध का सम्बन्ध रागादिक से ही है – उपयोग के पर को जानने से बिल्कुल नहीं है।

ऊपर तो यह कहा कि उपयोग की बन्ध से व्याप्ति नहीं है (कुछ सम्बन्ध नहीं है) अब यह कहते हैं कि बन्ध को करने वाला जो राग भाव है – उसके साथ भी उपयोग का कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु उपेक्षा है – उदासीनता है – असंबंध है।

राग और उपयोग की भिन्नता १६४६ से १६५४ तक ९

नानेकत्वमसिद्धं स्यान्न स्याद् व्याप्तिर्मिथोऽनयोः ।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षास्ति तद्द्वयोः ॥ १६४६ ॥

अर्थ – रागादिक [राग, द्वेष, मोह] के और उपयोग के अनेकपना असिद्ध नहीं है [अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं यह सिद्ध ही है] और इन दोनों की [राग की और उपयोग की] परस्पर में व्याप्ति भी नहीं है किन्तु उन दोनों में तो उपेक्षा है अर्थात् इनमें से कोई एक किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करता। दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों स्वतंत्र हैं।

भावार्थ – रागादिक और उपयोग ये दोनों परस्पर में एक नहीं किन्तु अनेक हैं। कदाचित् कहा जाए कि अनेक होते हुए भी उनमें किसी तरह का अविनाभाव सम्बन्ध है – सो भी नहीं है कारण कि रागादिक और उपयोग इन दोनों में किसी प्रकार की परस्पर अपेक्षा नहीं है किन्तु उपेक्षा है। यह नियम रूप सूत्र है। इसी को हेतु और दृष्टांतों से १६४७ से १६५४ तक सिद्ध किया है अर्थात् इसी एक सूत्र का पेट अगले ९ सूत्रों में खोला है।

राग का स्वरूप और हेतु

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथ नान्यथा ॥ १६४७ ॥

अर्थ – उनमें [राग और उपयोग में] कलुषता [मैल-कषाय] रागादि भाव है क्योंकि वह औदयिक भाव है। चारित्रमोह के और दर्शनमोह के उदय से होता है – और प्रकार नहीं होता अर्थात् अन्य किसी कर्म के उदय से नहीं होता।

भावार्थ – मोह, राग, द्वेष औदयिक भाव है क्योंकि मोह, श्रद्धा, गुण का और राग-द्वेष चारित्र गुण का विपरीत परिणमन है। इनका अनुभव कलुषता [मैल-कषाय] रूप है। मोह भाव की उत्पत्ति में दर्शनमोह और राग-द्वेष-भाव की उत्पत्ति में चारित्र, मोह का उदय निमित्त है। उदय को अनुसरण करके होनेवाले भावों को औदयिक भाव कहते हैं। राग-द्वेष में क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन १३ भावों का ग्रहण है।

उपयोग का स्वरूप और हेतु

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते ।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥ १६४८ ॥

अर्थ – जो क्षायोपशमिक ज्ञान है। वह उपयोग कहा जाता है क्योंकि यह अपने आवरण [ज्ञानावरण] के क्षय + उपशय [क्षयोपशम] से होता है।

भावार्थ – उपयोग क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि ज्ञान गुण का एक देश स्वभाव परिणमन है। इसका अनुभव जानने रूप है। इसकी उत्पत्ति में ज्ञानावरण का क्षायोपशम निमित्त है।

भावार्थ १६४७-१६४८ – उपयोग ज्ञानगुण का आंशिक विकास है और मोह तथा राग-द्वेष श्रद्धा और चारित्र गुण की बिल्कुल विपरीत अवस्था है। राग तो विकार है और उपयोग [ज्ञान का व्यापार] ज्ञान के क्षयोपशम का कार्य है।

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्ति स्वहेतुकम् ।
दूरे स्वरूपभेदत्त्वादेकार्थत्वं कुतोऽनयोः ॥ १६४९ ॥

अर्थ – [जैसा कि ऊपर दो सूत्रों में बताया गया है] राग स्वहेतुक है [अर्थात् अपने कारण से उत्पन्न होनेवाला है क्योंकि दर्शनमोह और चारित्र मोह का उदय उसमें निमित्त कारण है और ज्ञान स्वहेतुक है [अर्थात् अपने कारण से उत्पन्न होने वाला है क्योंकि ज्ञानावरण का क्षयोपशम उसमें निमित्त कारण है और स्वरूप भेद से भी अत्यन्त भिन्नता है [क्योंकि राग, श्रद्धा और चारित्र गुण का औदयिक भाव है – इसका अनुभव कलुषता रूप है और उपयोग क्षायोपशमिक ज्ञान है – इसका अनुभव जानने रूप है]। [जब दोनों की उत्पत्ति का कारण भी भिन्न है – स्वरूप भी भिन्न है] फिर उन दोनों में एकपदार्थपना किस प्रकार से हो सकता है? नहीं हो सकता [अतः उनका परस्पर में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वे भिन्न ही हैं]।

किञ्च ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम् ।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥ १६५० ॥

शब्दार्थ – चिद् = ज्ञान।

अर्थ – [क्योंकि दोनों का हेतु भिन्न है और स्वरूप भिन्न है। इसलिये] जब ज्ञान होता है तो ज्ञान ही होता है – राग नहीं होता और जब रागादिक होते हैं तो ये रागादिक ही होते हैं – ज्ञान नहीं होता।

भावार्थ – ज्ञान और राग दोनों प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न अनुभव में आते हैं। राग प्रत्यक्ष कलुषता रूप होता हुआ अनुभव में आता है और ज्ञान प्रत्यक्ष जानना रूप कार्य करता हुआ अनुभव में आता है। यहाँ यह आशय नहीं लेना चाहिए कि ज्ञान का समय भिन्न है और रागादि का भिन्न है। समय दोनों का एक ही है परन्तु ज्ञान अपने स्वरूप से होता है और रागादिक अपने स्वरूप से होते हैं।

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चिति स्फुटम्।
रागादीनामभिवृद्धिर्न स्याद् व्याप्तेरसम्भवात् ॥ १६५१ ॥

शब्दार्थ – अभिज्ञानं = दृष्टान्त = उदाहरण।

अर्थ – इस विषय में (उपरोक्त कथन को सिद्ध करने के लिए) दृष्टान्त भी है कि ज्ञान के प्रगट रूप से बढ़ जाने पर रागादिक नहीं बढ़ते हैं क्योंकि इनमें व्याप्ति नहीं है अर्थात् ज्ञान की वृद्धि के साथ रागादिक की वृद्धि का अविनाभाव नहीं पाया जाता है। ज्ञान के बढ़ने पर राग भी बढ़े – ऐसा नहीं है।

भावार्थ – अगर ज्ञान और राग एक होते या उनमें व्याप्ति होती तो ज्ञान के बढ़ने पर राग भी बढ़ना चाहिए था किन्तु हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसी मुमुक्षु में ज्ञान तो बढ़ता रहता है पर राग नहीं बढ़ता बल्कि कम हो जाता है। इससे पता चलता है कि उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। चौथे से बारहवें तक ज्ञान तो प्रायः बढ़ता चला जाता है और राग तो नाश होता ही जाता है।

वर्द्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित्।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्यां सत्यां वृद्धिः समा द्वयोः ॥ १६५२ ॥

अर्थ – और कहीं इन रागादिकों के बढ़ने पर ज्ञान की वृद्धि नहीं होती है। यदि उस ज्ञान की वृद्धि भी है तो अपनी सामग्री के होने पर है। इस प्रकार कभी दोनों में समान वृद्धि भी हो जाती है।

भावार्थ – कभी ऐसा देखने में आता है कि किसी पापी में राग तो बढ़ता चला जाता है पर ज्ञान नहीं बढ़ता और कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि किसी पापी में राग भी बढ़ता है और ज्ञान भी बढ़ता है – पर वे एक-दूसरे के कारण से नहीं किन्तु अपने-अपने कारण से बढ़ते हैं। ज्ञान की वृद्धि का निमित्त कारण ज्ञानावरण का क्षयोपशम और ज्ञान की योग्यता है। राग की वृद्धि का कारण जीव का तीव्र उल्टा पुरुषार्थ तथा मोहनीय का तीव्र उदय है। इससे स्पष्ट है कि दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

ज्ञानेऽथ वर्धमानेऽपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोः मोहोदयात् सतः ॥ १६५३ ॥

अर्थ – और कहीं अपने प्रतिपक्ष के क्षय रूप हेतु से एक ही समय किसी को ज्ञान का विकास बहुत वृद्धिरूप हो, किन्तु राग की हानि नहीं होती है। क्योंकि उस राग के कारण मोह के उदय का सद्भाव है।

भावार्थ – क्योंकि ज्ञान और राग दोनों के कारण जुदा-जुदा हैं – इसलिये हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसी विद्वान् में एक ही समय में ज्ञानावरण के अधिक क्षयोपशम रूप कारण से ज्ञान तो बहुत बढ़ जाता है पर राग बिलकुल कम नहीं होता – उलटा व्यसनों और पापों में प्रवृत्ति देखी जाती है क्योंकि उस राग के कारण रूप मोह कर्म के उदय का सद्भाव है। इसलिये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

यद्वा दैवात्तत्सामग्र्यां सत्यां हानिः समं द्वयोः।
आत्मीयात्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः ॥ १६५४ ॥

अर्थ – अथवा दैवयोग से उन दोनों की कारण सामग्री होने पर दोनों में एक साथ हानि भी होती है – पर वह हानि अपने-अपने कारण से जाननी चाहिए – एक-दूसरे के कारण से नहीं अर्थात् एक ही हानि का कारण दूसरे की हानि का कारण कभी नहीं हो सकता।

भावार्थ – कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि बुढ़ापे में किसी मुमुक्षु जीव में एक साथ ज्ञान भी कम हो जाता है और राग भी कम हो जाता है पर वहाँ यह न समझ लेना चाहिये कि एक-दूसरे के कारण से हुए। किन्तु भवितव्यतानुसार एक साथ ज्ञानावरण का कुछ उदय बढ़ जाता है और उसी समय मोहनीय का कुछ उदय कम हो जाता है तो एक साथ अपने-अपने कारण से घटते हैं। एक-दूसरे के कारण से नहीं। यहाँ तक यह सिद्ध किया कि और राग भिन्न-भिन्न हैं।

राग और उपयोग की भिन्नता

(सूत्र १६४६ से १६५४ तक का सारांश)

(१) राग औदयिक भाव है। उपयोग क्षायोपशमिक ज्ञान है। (१६४७-४८)

(२) राग, श्रद्धा और चारित्र गुण का विपरीत परिणमन है और उपयोग – ज्ञान गुण का एकदेश स्वभाव परिणमन है। (१६४७-४८)

(३) राग का अनुभव कलुषता रूप है। उपयोग का अनुभव जानने रूप है। (१६४७-४८-५०)

(४) राग की उत्पत्ति मोहनीय के उदय से होती है। उपयोग (ज्ञान) की उत्पत्ति ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होती है। (१६४७-४८)

(५) राग का नाश मोहनीय के नाश से हो जाता है। वह क्षाणिक भाव है। उपयोग का नाश कभी नहीं होता – वह स्वभाव है। राग की वृद्धि मोह के उदय की वृद्धि से अविनाभूत है और ज्ञान की वृद्धि ज्ञानावरण के क्षयोपशम आधीन है। राग की कमी मोह के मन्द उदय आधीन है और ज्ञान की कमी ज्ञानावरण के उदय के बढ़ जाने से है। (१६४९)

(६) क्योंकि दोनों के कारण और स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं – अतः किसी ज्ञानी में ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ज्ञान बहुत बढ़ जाता है और उसी समय मोहनीय के मन्द उदय से राग बिल्कुल कम हो जाता है। (१६५१)

(७) क्योंकि दोनों के कारण और स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। अतः किसी पापी में मोहनीय के तीव्र उदय से राग बहुत बढ़ जाता है और ज्ञानावरण का अधिक उदय रहने से ज्ञान बिल्कुल कम रहता है या ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ज्ञान भी बढ़ जाता है। (१६५२)

(८) क्योंकि दोनों के कारण और स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसी विद्वान् में ज्ञान का क्षयोपशम तो बहुत बढ़ जाता है पर राग बिल्कुल कम नहीं होता – उल्टा पापों और व्यसनों में प्रवृत्ति होती है। (१६५३)

(९) क्योंकि दोनों के कारण और स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं इसलिये हम यह भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसी मुमुक्षु में ज्ञान का क्षयोपशम बिल्कुल कम होता है और राग बहुत मिट जाता है। ८ मात्रा ज्ञानवाला राग को नाश करके केवली तक हो जाता है। यहाँ ज्ञान की और राग की – दोनों की हानि एक समय में अपने-अपने कारण से है।(१६५४)

उपर्युक्त से पता चलता है कि राग-द्वेष-मोह की और उपयोग की (क्षायोपशमिक ज्ञान की) अत्यन्त भिन्नता है। अत्यन्त उपेक्षा है। कोई सम्बन्ध नहीं है। न अविनाभाव है। न व्याप्ति है किन्तु अव्याप्ति और उपेक्षा है। इसको सिद्ध करने का यहाँ यह प्रयोजन है कि आत्मा के गुण-दोषों में जो बन्ध दिखाया था और शिष्य उपयोग के पर में जाने से बन्ध मानता था – उसे ज्ञान करा रहे हैं कि उपयोग के पर में जाने से बन्ध नहीं है – अतः कुछ हानि नहीं है। बन्ध तो राग से होती है।

अगली भूमिका – यहाँ तक तो राग और ज्ञान की व्याप्ति का विचार किया। अब इनके निमित्तों की व्याप्ति का विचार करते हैं। राग का निमित्त मोहनीय कर्म है और ज्ञान का निमित्त ज्ञानावरण कर्म है। सो देखो भाई! उपयोग की द्रव्यमोह से भी कोई व्याप्ति नहीं है। इसको कहने का अभिप्राय यहाँ यह है कि ऐसा नहीं है कि जब सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में जाता हो तो मोहनीय कर्म बंधता हो और जब स्व में रहता है – तो मोहनीय कर्म न बंधता हो सो बात भी नहीं है। इसलिये भी उपयोग के स्व में रहने से लाभ और पर में जाने से हानि नहीं है।

व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा।
रागादीनां तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह ॥ १६५५ ॥

अर्थ – [जिस प्रकार उपयोग की राग-द्वेष-मोह भाव के साथ व्याप्ति नहीं है – उसी प्रकार] उपयोग की द्रव्यमोह कर्म के साथ भी व्याप्ति नहीं है किन्तु रागादिकों की व्याप्ति तो ज्ञानावरणों के साथ है।

भावार्थ – राग का निमित्त कारण मोहनीय कर्म है। सो उससे उपयोग का अविनाभाव [कुछ भी सम्बन्ध] नहीं है। उपयोग का निमित्त ज्ञानावरण है। सो उस ज्ञानावरण को राग के साथ का कुछ सम्बन्ध है या नहीं इसका विचार करते हुए कहते हैं कि राग की ज्ञानावरण के साथ व्याप्ति तो है पर समव्याप्ति नहीं है किन्तु विषम व्याप्ति है – वह इस प्रकार कि जहाँ-जहाँ राग की सत्ता है वहाँ-वहाँ तो ज्ञानावरण की सत्ता है पर जहाँ-जहाँ ज्ञानावरण की सत्ता है वहाँ-वहाँ राग की सत्ता नहीं है। दसवें तक राग की सत्ता है सो ज्ञानावरण की भी सत्ता है किन्तु ग्यारहवें, बारहवें में ज्ञानावरण की सत्ता तो है पर राग की सत्ता नहीं है। इससे समव्याप्ति सिद्ध न हुई किन्तु विषमव्याप्ति सिद्ध हुई।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु ।
न स्यात् समा तथा व्याप्तेर्हेतोरन्यतरादपि ॥ १६५६ ॥

अर्थ – रागादिकों की ज्ञानावरण के साथ अन्वय व्यतिरेक दोनों से विषम ही व्याप्ति है। तथा किसी अन्य कारण से भी इनकी व्याप्ति की समानता नहीं है अर्थात् समव्याप्ति नहीं है।

व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता ।
सैकस्मिन्नपि सत्यन्यो न स्यात्स्यात्वा स्वहेतुतः ॥ १६५७ ॥

अर्थ – यहाँ व्याप्ति की असिद्धि साध्य है और व्यभिचारिपना साधन (हेतु) है [अर्थात् यदि रागादि और ज्ञानावरण की समव्याप्ति मानी जाये तो व्यभिचार दोष आता है] और वह व्यभिचारिपना इस प्रकार आता है कि एक के रहने पर दूसरा नहीं होता है और यदि होता भी है तो अपने कारण से होता है। [अर्थात् ज्ञानावरण के रहने पर रागादि भाव नहीं भी होते हैं और यदि होते भी हैं तो अपने कारण से होते हैं]।

भावार्थ – जहाँ-जहाँ ज्ञानावरण है – वहाँ-वहाँ राग भी होता तब तो समव्याप्ति बन जाती पर ग्यारहवें, बारहवें में ज्ञानावरण तो है पर राग नहीं है। यह जो व्यभिचार मिल गया – यह सिद्ध करता है कि ज्ञानावरण और राग की समव्याप्ति नहीं है अर्थात् ज्ञानावरण के कारण राग नहीं है तथा यह भी सिद्ध करता है कि दसवें तक जो राग है वह ज्ञानावरण के कारण से नहीं है किन्तु अपने कारण से है।

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः ।
सति यत्र यःस्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥ १६५८ ॥

अर्थ – साहचर्य के नियम को व्याप्ति कहते हैं जैसे जिसके होने पर जो होता है और जिसके नहीं होने पर जो नहीं होता। यह व्याप्ति का नियम परस्पर में होता है।

भावार्थ :– इसमें समव्याप्ति का लक्षण बताया गया है कि समव्याप्ति किसे कहते हैं कि जिसके होने पर जो हो और जिसके न होने पर जो न हो जैसे जहाँ-जहाँ ज्ञान दर्शन है वहाँ-वहाँ जीव है और जहाँ-जहाँ ज्ञान दर्शन नहीं है वहाँ-वहाँ जीव भी नहीं है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ जीव है वहाँ-वहाँ ज्ञानदर्शन है और जहाँ-जहाँ जीव नहीं है – वहाँ-वहाँ ज्ञानदर्शन भी नहीं है। इसको समव्याप्ति कहते हैं।

मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात् ।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्यासम्भवादपि ॥ १६५९ ॥

अर्थ – यहाँ (राग और ज्ञानावरण) की समव्याप्ति नहीं है क्योंकि राग के सद्भाव में निश्चय से ज्ञानावरणादि का बन्ध है और रागादिक के असद्भाव में ज्ञानावरणादि का बन्ध नहीं होता है अर्थात् राग के सद्भाव में ज्ञानावरण तो है। इस प्रकार एक तरफ की तो व्याप्ति बैठती है किन्तु दूसरी ओर से विषम है – वह इस प्रकार :–

व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु ।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वास्य स्वहेतुतः ॥ १६६० ॥

अर्थ – रागादिक की और ज्ञानावरणादि की वह विषम व्याप्ति इस प्रकार है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के रहने पर भी राग भाव का अभाव पाया जाता है। यदि इस रागादि का सद्भाव पाया भी जाता है तो इसके अपने कारणों से सद्भाव पाया जाता है [ज्ञानावरणादि के कारण से नहीं]।

भावार्थ – जिस प्रकार ऊपर के सूत्र में बताया है कि जहाँ-जहाँ रागादिक हैं वहाँ-वहाँ ज्ञानावरण है – उसी प्रकार जहाँ-जहाँ ज्ञानावरण है, वहाँ-वहाँ रागादिक भी होते तब तो दोनों ओर से समव्याप्ति बन जाती परन्तु दोनों तरफ से व्याप्ति नहीं है किन्तु एक तरफ से ही है। इसलिये यह विषम व्याप्ति है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञानावरण का राग से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् ज्ञानावरण के कारण राग नहीं है। इसलिये दसवें तक यदि इकट्ठे भी हैं तो भी ज्ञानावरण के कारण से राग नहीं है। अपने कारण से है। यह पहले सिद्ध किया कि उपयोग का राग से सम्बन्ध नहीं है। अब यह सिद्ध किया कि उपयोग का निमित्त जो ज्ञानावरण – उसका भी राग से कुछ सम्बन्ध नहीं है।

विषय अनुसंधान – शिष्य की मूल शङ्का यह थी कि सम्यग्दृष्टि के उपयोग के पर में जाने से क्या हानि है तो उसे समझा रहे हैं कि हानि तो बन्ध से होती है। उपयोग का बन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है यह पहले सूत्र १६४४ से १६४५ तक समझाया। उपयोग का बन्ध को करने वाले राग से भी कुछ सम्बन्ध नहीं है यह सूत्र १६४५ से १६५४ तक समझाया। उपयोग का राग का निमित्त जो द्रव्यमोह कर्म है उससे भी कुछ सम्बन्ध नहीं है यह सूत्र १६५५ में समझाया है। उपयोग का निमित्त जो ज्ञानावरण है उसका भी राग से कुछ सम्बन्ध नहीं है यह अभी ऊपर सूत्र १६५५ से १६६० तक समझाया।

यद्यपि सूत्र १६४४ से १६६० तक यह भली-भांति सिद्ध कर चुके हैं कि उपयोग का बन्ध से कुछ सम्बन्ध नहीं है फिर भी पुनः अन्वय व्यतिरेक की असिद्धि के नियम द्वारा पक्का निर्णय करके निश्चय कर देते हैं कि उपयोग का बन्ध से कोई सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है। पहले सूत्र १६६१ में अन्वय की असिद्धि करेंगे फिर सूत्र १६६२ में व्यतिरेक की असिद्धि करेंगे।

अव्याप्तिश्चोपयोगेऽपि विद्यमानेऽष्टकर्मणाम् ।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति ॥ १६६१ ॥

अर्थ – (उपयोग के साथ ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध की) अव्याप्ति है क्योंकि उपयोग के रहने पर भी ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बन्ध नहीं होता है या उनमें से किसी का भी बन्ध नहीं होता है (जैसे सिद्ध अवस्था)। और उपयोग के नहीं रहने पर भी अबंध नहीं है – ऐसा नहीं है अर्थात् बंध होता रहता है (जैसे विग्रह गति)।[इससे ज्ञात होता है कि उपयोग के साथ ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बंध की व्याप्ति नहीं है]

भावार्थ – उपयोग और बंध की व्याप्ति जब बन सकती है कि जहाँ-जहाँ उपयोग हो – वहाँ-वहाँ आठ कर्मों का या किसी भी कर्म का बंध तो हो और जहाँ-जहाँ उपयोग न हो वहाँ-वहाँ कर्मों का बंध न हो। किन्तु इन दोनों बातों का विपक्ष पाया जाता है। सिद्ध में उपयोग तो है पर बंध न आठ कर्मों का है और न किसी एक कर्म का ही है। विग्रहगति में उपयोग नहीं है पर बंध सब कर्मो का है। इस प्रकार उपयोग और बंध की व्याप्ति नहीं है। अतः अन्वय नहीं घटा। अब व्यतिरेक का विचार करते हैं :–

यद्वा स्वात्मोपयोगीह क्वचिन्नानुपयोगवान् ।*
व्यतिरेकावकाशोऽपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः ॥ १६६२ ॥

अर्थ – जीव स्वात्मा में उपयोगी तो है पर जीव अनुपयोगवान् हो – ऐसा कभी होता ही नहीं है इसलिये यहां पर वास्तव में व्यतिरेक का अवकाश ही नहीं है।

भावार्थ – व्यतिरेक जब बन सकता है कि "जहाँ-जहाँ बंध न हो – वहाँ-वहाँ उपयोग भी न हो"। देखिये सिद्ध में बंध बिलकुल नहीं है पर उपयोग पूरा स्व में है। अतः गुरुदेव कहते हैं कि जीव स्वात्मोपयोगी तो है पर उपयोगरहित जीव नहीं है। इसलिये व्यतिरेक नहीं बना।

भावार्थ – १६६१–१६६२ = उपयोग और बंध का अन्वय व्यतिरेक न बनने से समव्याप्ति नहीं है। अतः उपयोग बंध का कारण नहीं है। अब इस विषय को संकोचते हुए उपसंहार करते हैं :–

---

* यह सूत्र पं. देवकीनन्दनकृत टीका तथा सोनगढ़ की गुजराती टीका में नहीं है। पं. फूलचन्दजी टीका का अर्थ सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत है क्योंकि सम्यग्दृष्टि का उपयोग स्व में ही रहता हो – यह बात नहीं है। पर में भी रहता है। पं. मक्खन लाल कृत टीका के अर्थ का अनुसंधान कुछ हमारी समझ में नहीं आया। हमने पूर्वापर अनुसंधान जोड़ कर जो अर्थ किया है – उसका आप विचार करके परीक्षा करें।

उपसंहार

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावतात्र वै ।
हेतुः स्यान्नोपयोगोऽयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः ॥ १६६३ ॥

अर्थ – यहाँ पर इतने कथन से सम्पूर्णतया यही सारांश सिद्ध होता है कि यह उपयोग न तो सम्यग्दर्शन का ही कारण है और न बन्ध मोक्ष का ही कारण है।

भावार्थ – यह विषय सूत्र १६२५ से प्रारम्भ हुआ था विचार यह कर रहे हैं कि जिस समय सम्यग्दृष्टि का उपयोग स्व में रहता है तो उससे कुछ लाभ है या नहीं और जिस समय सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में जाता है – तो उससे कुछ हानि है या नहीं। लाभ तो आत्मा को सम्यग्दर्शन से है सो सम्यग्दर्शन का उपयोग कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का कारण तो मोह कर्म का अभाव है। दूसरा लाभ आत्मा को संवर निर्जरा से है क्योंकि संवर निर्जरा से मोक्ष होती है पर संवर निर्जरा में भी उपयोग कारण नहीं है। इसलिये उपयोग से लाभ तो कुछ है नहीं। अब हानि का विचार करते हैं। आत्मा की हानि बंध में है। बंध का कारण राग-द्वेष-मोह है उपयोग नहीं। इसलिये उपयोग से हानि भी नहीं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उपयोग न सम्यग्दर्शन का कारण है – न मोक्ष का कारण है – न बंध का कारण है अर्थात् उपयोग का लाभ-हानि से कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिये यह बात ही भूल भरी है कि उपयोग के स्व में रहने से लाभ है और पर में जाने से हानि है। इसलिये भाई सम्यग्दृष्टि का उपयोग जो पर को जानने के लिये उपयुक्त होता है उसके कारण से उसके सम्यग्दर्शन न मानना या ज्ञानचेतना न मानना या संवर निर्जरा न मानना या उसके कारण से उसे सविकल्प सम्यग्दृष्टि मानना – यह बात ही गलत है। यह इस सब कथन का सार है।

विषय अनुसंधान – उपयोग सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है यह सूत्र १६३७ से १६४० तक सिद्ध किया। उपयोग मोक्ष का अर्थात् संवर निर्जरा का कारण नहीं है यह सूत्र १६४१, १६४२ में सिद्ध किया। उपयोग बंध का कारण नहीं है यह सूत्र १६४४ से १६६२ तक सिद्ध किया। इन सूत्रों के आधार पर उपसंहार करते हुए यहाँ लिखा है कि उपयोग का सम्यग्दर्शन तथा मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है – इसलिये तो उपयोग से आत्मा को लाभ नहीं है और उपयोग का बंध से कोई सम्बन्ध नहीं है – इसलिये आत्मा को हानि नहीं है। शिष्य ने सूत्र १६२५ में यह शंका की थी कि जब सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में जाता है तो उससे कुछ हानि है या नहीं। उसका उत्तर यहाँ लाकर समाप्त किया है कि उपयोग का हानि-लाभ से कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। अतः न उपयोग के स्व में रहने से लाभ है और न पर में जाने से हानि है।

सूत्र १६२५ से १६६३ तक का सार – शंकाकार की शङ्का नं. १६२५ के उत्तर में सम्यग्दृष्टि का उपयोग जिस समय स्व से छूट कर पर को जानने के लिये प्रवृत्त होता है उसमें यह सिद्ध किया कि ज्ञान का काम तो जानना है उसका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन से नहीं है। शुद्धि-अशुद्धि से नहीं है। कर्म बंध से भी नहीं है। मोह के उदय-अनुदय से भी नहीं है। हानि-लाभ से भी उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। संवर निर्जरा से भी उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। उसका काम तो केवल जानने का है चाहे स्व को जाने, चाहे पर को जाने। दोनों को ही जानने का उसका स्वभाव है। यह उसकी लीला है। खेल है। वह बिना किसी कष्ट के क्षणमात्र में जानता है। संसार मुक्ति से उसका सम्बन्ध नहीं है – चाहे वह उपयोग स्व में उपयुक्त हो या पर में उपयुक्त हो।

शंका

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा ।
कस्यचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ १६६४ ॥

आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु ।
ज्ञानसंचेतनायाः स्यात्क्षतिः साधीयसी तदा ॥ १६६५ ॥

शंका – इस प्रकार तो वह ही अर्थ निकला जो पहले प्रकरण में था। वह इस प्रकार कि किसी वीतराग सम्यग्दृष्टी के ही ज्ञानचेतना होती है क्योंकि आत्मा से भिन्न कहीं भी परपदार्थों में ज्ञान के [उपयोग के] स्थित होने पर ज्ञानचेतना क्षति उस समय नियम से सिद्ध होती है।

भावार्थ – शंकाकार ने, जिस समय सम्यग्दृष्टि का उपयोग स्व में रहता है उस समय तो उसका नाम निर्विकल्प सम्यग्दृष्टि रक्खा और जब उसका उपयोग पर में जाता है – उस समय उसका नाम सविकल्प सम्यग्दृष्टि रक्खा क्योंकि विकल्प का अर्थ-अर्थ से अर्थान्तर रूप संक्रान्ति किया है और उसी के आधार से उसने यह धारणा बनाई। अब वह कहता है कि यह तो वही बात हुई जो प्रारम्भ में थी अर्थात् निर्विकल्प सम्यग्दृष्टियों के ही उपयोगात्मक ज्ञानचेतना रही और जिस समय उनका उपयोग पर में गया – उस समय वे सविकल्प सम्यग्दृष्टि हो गये और उनके उपयोगात्मक ज्ञानचेतना नाश हो गई इसलिए अब वह पूछता है कि उपयोग के पर में जाने से उपयोगात्मक ज्ञानचेतना का नाश तो है ही – इतनी हानि तो है ही? [पहले शंकाकार सविकल्प सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना नहीं मानता था किन्तु अब उसके लब्धिरूप ज्ञान चेतना तो मानता है पर उपयोग रूप ज्ञानचेतना नहीं मानता। इतना उसकी मान्यता में अन्तर पड़ा]।

समाधान

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित् ।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुता ॥ १६६६ ॥
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम् ।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥ १६६७ ॥

अर्थ – यह ठीक है कि [उपयोग के पर में जाने से] स्वोपयोगात्मक ज्ञानचेतना की क्षति है पर साध्य [निर्जरादिक] की कुछ भी क्षति नहीं है। उपयोग का [उपयोगात्मक ज्ञानचेतना का] [विषय] यह आत्मा है और उसका [आत्मा में रहने वाली ज्ञानचेतना का] [सम्यक्त्व की शुद्धि के बल से होने वाली] उस [निर्जरादिक] में कारणपना नहीं है॥१६६६॥ सम्यग्दर्शन के कारण से जो आठ कर्मों की निर्जरा साध्य है [होती है] वह स्वयं सम्यक्त्व की शक्ति [शुद्धि] के कारण होती है। उस [निर्जरादिक] का कारण स्व में चेतना का रहना नहीं है।

भावार्थ – भाई यह बात तो तेरी पूर्ण सत्य है कि उपयोग के पर में जाने से स्वोपयोगात्मक ज्ञानचेतना नहीं रहती पर भाई कमाल तो यह है कि उससे ज्ञानी का नुकसान कुछ नहीं होता क्योंकि उस उपयोगात्मक ज्ञानचेतना का संवर निर्जरा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। चाहे उस ज्ञानी का उपयोग पर में हो या स्व में किन्तु सम्यक्त्व की सत्ता में जो संवर निर्जरा होती है वह तो उपयोग के स्व में रहने से भी होती है और उपयोग के पर में जाने पर भी होती है। संवर निर्जरा का सम्बन्ध सम्यग्दर्शन की शुद्धि से है। अतः जब तक सम्यग्दर्शन है तब तक संवर निर्जरा होती ही रहेगी। अतः हानि कुछ नहीं है। सार यह है कि उपयोगात्मक चेतना की क्षति होती है तो हो – हमारे मोक्षसाध्य में तो कोई अन्तर नहीं आया।

शिष्य की शङ्का का समाधान इस प्रकार किया कि तुम्हारी वह धारणा तो गलत थी कि किन्हीं सम्यग्दृष्टियों के ज्ञानचेतना नहीं होती। लब्धिरूप सबके होती है। हाँ अब इतनी बात ठीक है कि उपयोग के पर में जाने पर उपयोगात्मक चेतना नहीं रहती पर भाई हमारा ध्येय तो मोक्ष है। मोक्ष का कारण संवर निर्जरा है। उसका अविनाभाव सम्यक्त्व की शुद्धि से है। इसलिये उपयोग के पर में जाने से उसे कुछ हानि नहीं होती जैसा कि हम अभी सिद्ध करके आये हैं कि उपयोग का [जानने का] हानि-लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं है।

विषय अनुसंधान :– शिष्य भव्य है – पात्र है। ऊपर के सब वृतान्त को सुनकर उसका हृदय गद्‌गद हो गया क्योंकि उसकी शंकाओं का ठीक-ठीक समाधान दिया गया। उसकी एक शंका तो यह थी कि सब सम्यग्दृष्टियों के ज्ञानचेतना नहीं होती – जिसका उत्तर उसे यह मिला कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय ज्ञानचेतना को आवरण करने वाले कर्म का क्षयोपशम अविनाभूत है जिसके कारण सब सम्यग्दृष्टियों के ज्ञानचेतना पाई जाती है और यह बात आगम तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। दूसरी उसकी शंका यह थी कि सम्यग्दर्शन सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार है जिसका यह उत्तर मिला कि सविकल्पक ज्ञान तो होता है पर सम्यक्त्व में ऐसा भेद नहीं है। वह निर्विकल्पक ही होता है। चौथे से सिद्ध तक एक प्रकार का ही होता है। इस प्रकार अपनी दोनों शंकाओं का समाधान सुनकर वह प्रसन्न चित्त से पूछता है कि गुरुवर! मैं यह समझ गया कि सम्यक्त्व को सविकल्प कहना तो आकाशफूल के समान मिथ्या है फिर बहुत से प्रसिद्ध और प्रमाणिक आगमों में जो सम्यक्त्व को सविकल्प कहा है उसका क्या कारण है? इतनी बात मुझे और समझाइये? ऐसी अब वह शंका उपस्थित करता है :–

शंका

ननु चेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत्।
तत्किं हेतुः प्रसिद्धोऽस्ति सिद्धः सर्वविदागमात् ॥ १६६८ ॥

शंका – आगम में सम्यक्त्व को जो विकल्पात्मक बतलाया है सो वह विकल्प आकाशफूल के समान आश्रय असिद्ध है [अर्थात् वह राग सम्यक्त्व में नहीं पाया जाता है] तो [फिर यह बतलाइये] कि सर्वज्ञदेव के आगमानुसार ऐसा कौनसा प्रसिद्ध हेतु सिद्ध है जिससे यह जाना जा सके कि सम्यक्त्व को इस कारण से आगम में सविकल्पक कहा है।

भावार्थ – अब शिष्य सन्तुष्ट होकर गुरु महाराज से यह कहता है कि महाराज मैं समझ गया कि सम्यग्दृष्टि का उपयोग चाहे स्व में रहे या पर में यह तो ज्ञान का काम है। इससे सम्यक्त्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो दोनों अवस्थाओं में निर्विकल्प ही है। पर महाराज जब ऐसा वस्तु स्वरूप है तो फिर आगम में कुछ आचार्यों ने जो सविकल्प और निर्विकल्प सम्यक्त्व लिखा है और लोक में प्रसिद्ध भी ऐसा ही है फिर वह कथन झूठा है क्या? यदि नहीं तो फिर उसका क्या बनेगा? कृपाकर इसका समाधान और कर दीजिये। सो इसके उत्तर में उसे कहेंगे कि भाई उन आचार्यों का ऐसा आशय है कि जब तक चारित्र गुण में बुद्धिपूर्वक राग है उस समय तक उसकी सहचरता के कारण उस ज्ञानी के सम्यक्त्व को सविकल्प कह दिया है। यहाँ सह का अर्थ है कि जो सम्यक्त्व – चारित्र के बुद्धिपूर्वक राग सहित है और वीतराग का अर्थ है कि जिस सम्यक्त्व के साथ चारित्र का बुद्धिपूर्वक राग वीत गया है। ऐसा उन आचार्यों का आशय है। सम्यक्त्व के दो भेद करने का उनका आशय नहीं है। इस कथन से आगम पाठियों ने या जनता ने जो दो प्रकार का सम्यक्त्व को ही समझ लिया है – वह उनकी निज भूल है। अपनी बुद्धि का दोष है।

समाधान सूत्र १६६९ से १६८७ तक १९

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात् ।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं न तत्सिद्धं परीक्षणात् ॥ १६६९ ॥

अर्थ – ठीक है। ज्ञान तो अपने लक्षण से विकल्पात्मक है किन्तु सम्यक्त्व में जो विकल्पपना है वह परीक्षा करने से सिद्ध नहीं होता अर्थात् सम्यक्त्व विकल्पात्मक होता ही नहीं।

भावार्थ – भाई! देखने वाले दर्शन का लक्षण निर्विकल्प अर्थात् ज्ञेयाकार रहित है और ज्ञान का लक्षण सविकल्प अर्थात् ज्ञेयाकार सहित है। इस अपने लक्षण से तो सभी ज्ञान सविकल्पक है। केवल ज्ञान में भी स्वपर ज्ञेयाकारता है – अतः वह भी सविकल्पक है। दूसरे जैसा तुम्हें समझाया गया है कि विकल्प का एक अर्थ उपयोग संक्रान्ति भी है। सो इस अपेक्षा तो छद्मस्थों के चारों ज्ञान सविकल्पक हैं और केवली का ज्ञान निर्विकल्पक है। तीसरे विकल्प का अर्थ – उपयोग का एक पदार्थ से हटकर दूसरे पदार्थ को जानना है सो इस अपेक्षा शुद्धोपयोग के समय [उपयोगात्मक ज्ञानचेतना के समय] तो छद्मस्थों का ज्ञान निर्विकल्पक है और पर को जानते समय छद्मस्थों का ज्ञान सविकल्पक है। इस प्रकार तीनों तरह ज्ञान को सविकल्पक कहना तो ठीक है पर सम्यग्दर्शन को सविकल्पक कहना तो अनुचित है क्योंकि परीक्षा करने से सम्यक्त्व में विकल्पपना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

यत् पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात्स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह ।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ १६७० ॥

अर्थ – किन्हीं स्थूल लक्ष्य उन्मुख आचार्यों द्वारा [सूक्ष्मता से गुण भेद पूर्वक कथन न करके – स्थूल अभेद दृष्टि से कथन करने वाले आचार्यों द्वारा] जो [आगम में] सम्यक्त्व को सविकल्पक कहा गया है। इसमें जो उपचार कारण है – उस [उपचार कारण] को अब मैं स्पष्ट रूप से कहता हूँ।

भावार्थ – शरीर वास्तव में हर समय अचेतन है पर जब तक जिस शरीर के साथ चेतना की सहचरता है – तब तक उस शरीर को चेतन शरीर कहने की आगम तथा लोकरूढ़ि है। इसलिये जिन्दा आदमी के शरीर को चेतन शरीर और मुरदा आदमी के शरीर को अचेतन शरीर – ऐसे दो भेद किये जाते हैं। ऐसे कथनों को उपचार कथन कहते हैं

और ऐसे कथन स्थूलदृष्टि [संयोगी दृष्टि] से किये जाते हैं। इसी प्रकार भाई वस्तु स्वरूप का कथन भी एक तो गुण भेद करके सूक्ष्म दृष्टि से किया जाता है जैसा कि हमने अभी ज्ञान के विकल्पात्मकपने के बारे में करके दिखलाया है और एक कथन स्थूल (संयोगी) दृष्टि का होता है। सो आगम में जो सम्यक्त्व को सविकल्पक कहा है – वह सूक्ष्म तात्त्विक बात तो है नहीं पर स्थूलदृष्टि का [संयोगी दृष्टि का] उपचार कथन है। सो उस उपचार का कारण भी हम तुम्हें अब समझाए देते हैं :–

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥ १६७१ ॥
प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत् ।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद् द्विषद्यथा ॥ १६७२ ॥

अर्थ – क्षायोपशमिक ज्ञान जो प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमशील है वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है किन्तु निश्चय से राग की क्रिया है। ज्ञान का पदार्थों में जो प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणामिपना कहा गया है – उसका भाव यह है कि ज्ञान पदार्थ पदार्थ के प्रति मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है।

भावार्थ – देख भाई! ज्ञान का स्वभाव मात्र जानना है जैसे केवलज्ञान पदार्थों को मात्र जानता रहता है। यह जो छद्मस्थों का क्षायोपशमिक ज्ञान है यह पहले एक पदार्थ को जानता है फिर इसको दूसरे पदार्थ के जानने की इच्छा होती है तो उस ज्ञेय को छोड़ कर दूसरे ज्ञेय पर जाता है। उसमें अपने या पराये की कल्पना रूप मोह भाव करता है। किसी को इष्ट मान कर राग करता है तो किसी को अनिष्ट मान कर द्वेष करता है। फिर उस ज्ञेय को छोड़ कर दूसरे ज्ञेय पर जाता है। वहाँ भी इसी राग-द्वेष-मोह भाव की क्रिया को करता है। इस प्रकार जिस पदार्थ को जानता रहता है उसी के प्रति राग-द्वेष-मोह भाव करता रहता है। इसमें इतने विवेक की आवश्यकता है कि उसमें जानने का काम तो ज्ञान का है और एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर ज्ञान का घूमाना और उसमें राग-द्वेष-मोह करना – ये ज्ञान की नहीं किन्तु राग की क्रिया है। इसका सबूत यह है :–

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः ।
रागाक्तं ज्ञानमक्षान्तं रागिणो न तथा मुनेः ॥ १६७३ ॥

शब्दार्थ – अक्षान्तं = शान्ति रहित, आकुलित।

अर्थ – यह पूर्वोक्त कथन स्वसंवेदन [स्वानुभव] प्रत्यक्ष से सिद्ध है क्योंकि रागी पुरुष का [अज्ञानी का] रागयुक्त ज्ञान जैसा शान्ति रहित [आकुलित] होता है – वैसा मुनी का [ज्ञानी का] नहीं होता।

भावार्थ – हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक ही पदार्थ को अज्ञानी भी जानता है और उसी पदार्थ को एक छठे गुणस्थान का ज्ञानी मुनि भी जानता है। यदि जानने की अपेक्षा देखें तो ज्ञान का काम जानना है और वह दोनों अवस्थाओं में जान ही रहा है। फिर अज्ञानी का ज्ञान दुःखी और मुनी का ज्ञान सुखी – ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि जिसके ज्ञान में जितना राग है – वह उतना ही आकुलित [दुःखी] है और जिसके ज्ञान में जितना कम राग है वह उतना ही निराकुल है। इससे पता चलता है कि जानना ज्ञान की क्रिया है और प्रत्येक पदार्थ के प्रति मोह-राग-द्वेष करना राग की क्रिया है। जैसा कि पहले सिद्ध करके आये हैं दोनों क्रियायें स्वतंत्र भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इतनी बात जरूर है कि-

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः ।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद्रागभावः खपुष्पवत् ॥ १६४७ ॥

अर्थ – बुद्धिपूर्वक राग ज्ञान से अविनाभूत है क्योंकि नहीं जाने हुये पदार्थ में राग भाव नहीं होता है जैसे आकाश पुष्प में किसी को राग नहीं होता है।

भावार्थ – वह बुद्धिपूर्वक राग ज्ञान से अविनाभूत है क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पहले जीव पदार्थ को जानता है और फिर उसमें मोह-राग-द्वेष [मेरे-तेरे, अच्छे-बुरे] की कल्पना करता है। विना जाने हुये पदार्थ में [आकाश के फूल में या बंध्या के पुत्र में] किसी को राग नहीं होता।

अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥ १६७५ ॥

अर्थ – उक्त लक्षण वाला [बुद्धिपूर्वक राग] चारित्रावरण के उदय से होता है तथा वह [राग] अप्रमत्त सातवें गुणस्थान से पहले होता है। ऊपर नहीं है।

भावार्थ – राग दो प्रकार का होता है – एक बुद्धिपूर्वक – दूसरा अबुद्धिपूर्वक। पहले से छठे तक के राग को बुद्धिपूर्वक का राग कहते हैं क्योंकि वह स्थूल है और अपने ज्ञान की पकड़ में आता है और सातवें से दसवें तक के राग को अबुद्धिपूर्वक कहते हैं क्योंकि वह सूक्ष्म है और अपने ज्ञान की पकड़ में तो नहीं आता किन्तु बड़े ज्ञानों के गम्य है। यहाँ क्योंकि ज्ञानी का प्रकरण है इसलिये बुद्धिपूर्वक राग में केवल चौथे से छठे का चारित्रमोहजन्य राग ग्रहण किया गया है।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्न वा ॥ १६७६ ॥

अर्थ – ऊपर वह अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग होता है और क्षीणकषाय [बारहवें गुणस्थान] से पहले-पहले होता है। विवक्षावश है अथवा नहीं भी हैं [अबुद्धिपूर्वक राग की विवक्षा करें तो है और जो बुद्धिपूर्वक राग की विवक्षा हो – तो नहीं है]।

भावार्थ – सातवें से दसवें तक के राग को यदि इस अपेक्षा से देखें कि वह अपने ज्ञानगम्य नहीं है तो वह होता हुआ भी एक प्रकार से नहीं हुये के बराबर है।

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः ।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥ १६७७ ॥

अर्थ – केवल यह ही विचार करके किन्हीं आचार्यों के द्वारा असद्भूत उपचार से यहाँ [प्रमत्त छठे गुणस्थान तक] ज्ञान सराग कहा है और उसी प्रकार सम्यक्त्व भी सराग कहा है।

भावार्थ – पूर्व सूत्रानुसार अबुद्धिपूर्वक राग को नहीं हुए के समान मानकर और चौथे, पाँचवें, छठे के बुद्धिपूर्वक राग की विवक्षा करके किन्हीं आचार्यों ने उस बुद्धिपूर्वक राग के सहचर वर्तते हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को ही सविकल्पक कह दिया है। यह कथन असद्भूत उपचार से किया गया है। इसका अर्थ यह है कि जो बात वास्तव में उसमें पाई तो न जावे और किसी कारणवश उसमें कही जावे उसको असद्भूत उपचार कहते हैं जैसे जिन्दा आदमी का शरीर चेतन तो नहीं है पर चेतन की सहचरता से उसे भी चेतन कह देते हैं। पर यह कहने मात्र की बात है। निश्चय की [वास्तविक] बात यह है कि शरीर जड़ है। इसी प्रकार असद्भूत उपचार से बुद्धिपूर्वक राग के सहचर वर्तते हुए सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान को सविकल्पक कह देते हैं वास्तव में वे निर्विकल्पक [राग रहित] ही हैं।

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम् ।
आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥ १६७८ ॥

अर्थ – केवल इस हेतु से ही [बुद्धिपूर्वक राग के कारण ही] प्रसिद्ध उन स्थूल दृष्टि आचार्यों के द्वारा [अभेद दृष्टि से कथन करने वाले आचार्यों द्वारा] ऐसा कहा गया है कि प्रमत्तः गुण स्थान तक [चौथे, पाँचवें, छठे में] सम्यक्त्व और ज्ञान सविकल्पक है।

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम् ।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ १६७९ ॥

अर्थ – और उन्हीं आचार्यों के द्वारा स्थूल दृष्टि से यह भी कहा गया है कि उससे ऊपर तो सम्यक्त्व और ज्ञान निर्विकल्पक है। वह ही शुक्ल ध्यान है और वहाँ ही ज्ञान-चेतना है [उन आचार्यों का यह कथन धाराप्रवाह अखण्ड ज्ञानचेतना की अपेक्षा जानना ताकि सिद्धान्त में कोई बाधा न आवे क्योंकि छठे तक लब्धिरूप ज्ञानचेतना रहती है और उपयोगात्मक कभी-कभी होती है। सातवें से निरन्तर अखण्ड धारा से बिना टूटे स्वोपयोग है]

प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना।
अस्तीति वासनोन्मेषः केषाञ्चित्स न सन्निह ॥ १६८० ॥

अर्थ :– [आगम के इस स्थूल कथन से किन्हीं ने अपनी बुद्धि के दोष से यह समझ लिया है कि] प्रमत्तों के [चौथे-पाँचवें-छठेवालों के] विकल्पपना होने से बुद्धिपूर्वक राग होने से] वह शुद्ध ज्ञानचेतना नहीं है – सो यह उनका वासनाजन्य संस्कार है। वह सच्चा नहीं है।

भावार्थ – आगम के उस कथन का आशय तो यह था कि उन चौथे, पाँचवें, छठेवालों के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना अखण्ड धारा से नहीं है पर वहाँ उनके सर्वथा ज्ञानचेतना का निषेध करने का आशय नहीं था किन्तु उस कथन का आश्रय लेकर किन्हीं स्थूल बुद्धिवालों ने चौथे, पाँचवें, छठे में सर्वथा ज्ञानचेतना का अभाव समझ लिया अर्थात् चौथे, पाँचवे, छठे में केवल नव तत्वों की रागजनित श्रद्धा मात्र होती है – ज्ञानचेतना बिलकुल नहीं होती – ऐसी धारणा कर ली और गुरु महाराज कहते हैं कि उनकी इस धारणा ने एक ऐसा संस्कार जैसा पक्का रूप धारण कर लिया कि अब वे उस अपनी धारणा को बदलने के लिये भी तैयार नहीं पर यह उनकी गलत धारणा है। यह धारणा क्यों गलत है अब इसको आगे सूत्र १६८७ तक ७ सूत्रों में सिद्ध करते हैं।

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम्।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणं चापि पराश्रितम् ॥ १६८१ ॥

अर्थ – [सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इसलिए सविकल्प नहीं है] क्योंकि पराश्रित [एक के आश्रय रहने वाला] दोष या गुण दूसरा आश्रय नहीं करता और उस दूसरे के आश्रय रहने वाला दोष या गुण पहला आश्रय नहीं करता [अर्थात् चारित्र के राग के कारण सम्यक्त्व या ज्ञान को सरागी नहीं कहा जा सकता – क्योंकि वे उसके लिये पर हैं और वे उस राग को आश्रय नहीं करते]।

भावार्थ :– आत्मा में अनन्त गुण हैं। सबकी सत्ता भिन्न-भिन्न है। कार्य (पर्याय) भिन्न-भिन्न है। यथायोग्य निमित्त कारण भिन्न-भिन्न हैं। राग चारित्र गुण का विभाव परिणमन है। वह औदयिक भाव है। ज्ञान ज्ञानगुण का एक देश स्वभाव परिणमन है। उसमें ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम निमित्त है। सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण का स्वभाव परिणमन है। शुद्ध भाव है। उसमें दर्शनमोह का अनुदय निमित्त है। एक गुण के लिये दूसरा गुण पर है। चारित्र गुण के राग रूप दोष को भला क्षायोपशमिक ज्ञान या शुद्ध सम्यक्त्व भाव अपने में कैसे आश्रय कर सकता है। नहीं कर सकता। इसलिये सम्यक्त्व और ज्ञान को उपचार से सविकल्प कहने पर भी वह वास्तविक बात नहीं है। इसी को गुरुदेव स्वयं स्पष्ट करते हैं :–

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोऽस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वानुदयात्मके ॥ १६८२ ॥

अर्थ – चारित्र मोह के उदय से राग है। वह प्रगट औदयिक भाव है। अनुदयात्मक सम्यक्त्व में [क्षायिक-क्षायोपशमिक या औपशमिक भाव रूप सम्यग्दर्शन में] अथवा अनुदयात्मक ज्ञान में [क्षायोपशमिक भाव रूप ज्ञान में] वह किस न्याय से कहा जा सकता है अर्थात् किसी न्याय से भी सम्यक्त्व या ज्ञान को सविकल्पक नहीं कहा जा सकता।

भावार्थ – राग औदयिक भाव है। आत्मा में केवल दोष और मलिनता है। निमित्त का स्वरूप है। सम्यक्त्व शुद्ध भाव है। आत्मा का [पारिणामिक का] स्वभाव परिणमन है। ज्ञान आत्मा का त्रिकाली स्वभाव – लक्षण है। अब विचारिये तो सही। एक केवल दोष रूप – दूसरे दोनों केवल गुण रूप। एक निमित्त का भाव – दो उपादान के भाव – उनका क्या मेल? कुछ भी नहीं। फिर सम्यक्त्व को और ज्ञान को सविकल्पक कहना सरासर भूल नहीं तो और क्या है। वह केवल उपचार कथन है। उसमें सत्यता कुछ नहीं। राग सम्यक्त्व को या ज्ञान को कुछ भी नुकसान नहीं पहुँचाता। इसलिये इस राग के कारण सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान को सविकल्पक कहना भूल है। यह शिष्य की ग्रन्थ प्रारम्भ में की गई पहली शङ्का का उत्तर दिया।

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः ।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम् ॥ १६८३ ॥

अर्थ – यह बुद्धिपूर्वक राग जब सम्यक्त्व को नाश नहीं करता तो निश्चय से इस [लब्धिरूप] ज्ञान चेतना को भी नाश करने के लिये समर्थ नहीं है [क्योंकि लब्धिरूप ज्ञानचेतना सम्यक्त्व से अविनाभूत है]।

भावार्थ – राग भाव आत्मा के चारित्र गुण का ही घात करेगा। वह न तो सम्यक्त्व का ही घात कर सकता है और न सम्यक्त्व के साथ अविनाभावपूर्वक रहने वाली ज्ञानचेतना का ही घात कर सकता है। इन दोनों में राग का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिए चौथे गुणस्थान में भी ज्ञानचेतना होती ही है। उसका कोई बाधक नहीं है। जो लोग वीतराग सम्यक्त्व में ही ज्ञानचेतना कहते थे उनका सयुक्तिक खण्डन हो चुका। इसलिये इस राग के कारण सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना न मानना भूल है। यह शिष्य की ग्रन्थ प्रारम्भ में की गई दूसरी शङ्का का उत्तर दिया।

यहाँ तक तो यह सिद्ध किया कि उपादान में यह राग सम्यक्त्व और ज्ञान को कुछ हानि नहीं पहुँचाता और अब कहते हैं कि इस राग का निमित्त चारित्रमोहनीय भिन्न है। सम्यक्त्व का निमित्त दर्शनमोहनीय भिन्न है। इस राग के कारण दर्शनमोह प्रकृति में कुछ अन्तर पड़ता हो – सो बात भी नहीं है।

नाप्यूहमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोऽपि या ।
बन्धोत्कर्षोदयांशानां हेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ॥ १६८४ ॥

अर्थ – ऐसा भी नहीं विचार करना चाहिये कि राग की ऐसी भी शक्ति है जो दर्शनमोह कर्म के बन्ध – उदय – उत्कर्ष – अपकर्ष आदि अंशों का कारण हो।

भावार्थ – आचार्यदेव समझाते हैं कि यह राग चारित्र मोह के उदय से उत्पन्न होता है। इस राग से चारित्र मोह ही बन्धता है तथा इस राग से पहले बन्धे हुए चारित्रमोह में ही उत्कर्षण अपकर्षण हो सकता है क्योंकि उसी से इसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। पर दर्शनमोह कर्म इस राग के कारण बन्धता हो या बन्ध कर उदय आता हो या बन्धे हुए में उत्कर्षण अपकर्षण हो जाता हो यह बात नहीं है क्योंकि उससे इसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं। उसका सम्बन्ध मोह भाव से है। इस कारण से भी इस राग का सम्यग्दर्शन में हस्तक्षेप नहीं है जिसके कारण से सम्यक्त्व को सविकल्प कहा जा सके। (निमित्त की मुख्यता से कथन होता है किन्तु कार्य नहीं कार्य तो सदैव उपादान की मुख्यता से ही होता है – यह नियम है)।

एवं चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्याद् दृगसम्भवः ।
सत्यां प्रध्वंससामग्र्यां कार्यध्वंसस्य संभवात् ॥ १६८५ ॥

अर्थ – यदि ऐसा होवे [अर्थात् राग भाव ही दर्शन मोहनीय के बन्ध, उदय, उत्कर्ष, अपकर्ष में कारण होवे तो सम्यक्त्व की उत्पत्ति ही न होवे अथवा सम्यक्त्व की उत्पत्ति असम्भव हो जावे क्योंकि प्रध्वंस [नाशक] सामग्री के रहते हुये कार्य नाश होता ही है।

भावार्थ – पहले तो शङ्काकार ने सराग अवस्था में सम्यक्त्व और ज्ञानचेतना का निषेध किया था परन्तु उसका उसे उत्तर दे दिया गया कि राग भाव का सम्यक्त्व और ज्ञानचेतना से सम्बन्ध नहीं है। सम्यक्त्व का सम्बन्ध तो दर्शनमोह से है। पराश्रित गुण-दोष अन्याश्रित नहीं हो सकते। राग भाव चारित्र गुण का घातक है वह सम्यग्दर्शन और ज्ञान का घातक नहीं हो सकता। इस पर अब शङ्काकार दूसरी शङ्का उठाता है कि यद्यपि राग भाव सम्यग्दर्शन का घातक नहीं है, सम्यग्दर्शन का घातक तो दर्शनमोह कर्म है – तथापि राग भाव उस दर्शनमोह कर्म का बन्ध कराने में तथा उसके परमाणुओं को उदय में लाने में और उनमें फेरफार करने में समर्थ हैं। आचार्य उत्तर में कहते हैं कि यदि राग भाव ही दर्शनमोहनीय का बन्ध तथा उदयादि कराने में समर्थ है तो आत्मा में सम्यक्त्व की कभी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है क्योंकि चारित्र का राग तो दसवें तक रहता है फिर तो दसवें तक ही दर्शनमोह का बन्ध उदय आदि होता रहेगा और ‍ह सम्यक्त्व का घातक होने से सम्यक्त्व असंभव हो जावेगा। इससे सिद्ध होता है कि उस राग का दर्शनमोह कर्म ‍व। सम्यक्त्व से कुछ सम्बन्ध नहीं है जो उसके कारण सम्यक्त्व को सविकल्पक कहा जाये।

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात्।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥ १६८६ ॥

अर्थ – चारित्रावरण के उदय से सम्यक्त्व का नाश नहीं होता। इस कारण से राग का उस दर्शनमोह में अधिकार नहीं है।

भावार्थ – उस राग से चारित्रमोहनीय का बन्ध उदय आदि होता है और चारित्रमोह के उदय से सम्यग्दर्शन का घात नहीं होता। राग का अधिकार चारित्रमोह में तो है अर्थात् चारित्रमोह का बन्ध उदय-उत्कर्षण-अपकर्षण तो उस राग से होता है पर दर्शनमोह में उस राग का कुछ अधिकार नहीं है अर्थात् दर्शनमोह का उस राग के कारण बन्ध उदय उत्कर्पण-अपकर्षण नहीं होता है। अब इस कथन को आगम प्रमाण से सिद्ध करते हैं :-

यतश्चास्त्यागमात्सिद्धमेतद् दृङ्मोहकर्मणः।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥ १६८७ ॥

अर्थ – क्योंकि यह बात आगम से सिद्ध है कि दर्शनमोह कर्म का बन्धादि नियम रूप से स्व-उदय में [अपने दर्शनमोह के उदय में] ही होता है। पर – उदय में [चारित्रमोह के उदय में] दर्शनमोह का बन्धादि नहीं होता है।

भावार्थ – किन्हीं प्रकृतियों का बन्ध अन्य प्रकृतियों के उदय होते हुये होता है उनको परोदयबन्धप्रकृति कहते हैं। किन्हीं प्रकृतियों का बन्ध अपने ही उदय में होता है उनको स्वोदयबन्ध प्रकृति कहते हैं और किन्हीं प्रकृतियों का बन्ध स्वोदय तथा परोदय के होते हुये होता है उनको स्वपरोदयबन्ध प्रकृति कहते हैं। दर्शनमोह स्वोदयबंध प्रकृति है। इसलिए दर्शनमोह का बन्ध दर्शनमोह के उदय रहते ही होगा। दर्शनमोह का उदय नष्ट होने पर फिर वह नहीं बन्ध सकती। इसलिये भी चौथे से दर्शनमोह का उदय न रहने से चारित्रमोह के उदय के कारण से होनेवाले राग से दर्शनमोह नहीं बंध सकता। यहाँ तक के सब कथन से यही सिद्ध किया है कि चौथे, पाँचवें, छठे में सम्यग्दृष्टि के बुद्धिपूर्वक राग का सम्यक्त्व से या उसके निमित्त से दर्शनमोह से) भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। इसलिये उस राग के कारण सम्यग्दर्शन को सविकल्प सम्यग्दर्शन कहना भूल है।

शङ्का

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत्।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥ १६८८ ॥
न प्रतीमो वयं चैतद् दृङ्मोहोपशमः स्वयम् ।*
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याथवा मनाक् ॥ १६८९ ॥

शङ्का – इस प्रकार तो [अर्थात् यदि यह राग दर्शनमोह के वंध-उदय-उत्कर्पण-अपकर्षण का कारण नहीं है] जो आदि के दो सम्यक्त्व के [औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के] अनित्यपना है, स्वतः अपने उदय के अभाव में वह बिना कारण के कैसे हो सकता है [क्योंकि बिना कारण के अपना उदय अपने आप तो हो नहीं सकता और बिना दर्शनमोह के उदय हुये आदि के दो सम्यक्त्व में अनित्यता आ नहीं सकती]॥१६८८॥ और यह हमें विश्वास नहीं है कि दर्शनमोह का उपशम स्वयं हो जाता हो अथवा अपने उदय का कारण भी वह स्वयं कर्म ही हो अथवा थोड़ा या अधिक उत्कर्ष-अपकर्ष का कारण भी स्वयं वह कर्म ही हो [इसलिए यह राग ही दर्शनमोह के बन्ध-उदय-उत्कर्ष-अपकर्ष में कारण है]।

भावार्थ – उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशम सम्यक्त्व दोनों ही अनित्य हैं अर्थात् दोनों ही छूट कर मिथ्यात्व रूप में आ सकते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व ही एक ऐसा है जो होकर फिर छूट नहीं सकता है। शिष्य पहले दो सम्यक्त्व के

---

* इस सूत्र का अर्थ अन्य सब टीकाओं में और प्रकार है। हमारी राय में पूर्वापर प्रकरणानुसार यही अर्थ ठीक बैठता है। विद्वान् विचार करें। इसके उत्तर में ग्रन्थकार वही उत्तर देंगे जिसका आज आध्यात्मिक सन्त सत्पुरुष श्री कानजी महाराज प्रचार कर रहे हैं।

विषय में ही पूछता है कि दर्शनमोहनीय का जिस समय उपशम अथवा क्षयोपशम हो रहा है – फिर किस कारण से दर्शनमोहनीय कर्म का उदय हो जाता है जो कि सम्यक्त्व के नाश का हेतु है। स्वयं दर्शनमोहनीय ही अपने उदय में स्वयं तो कारण हो नहीं सकता और बिना कारण दर्शनमोहनीय का उदय हो नहीं सकता। मोह भाव उस समय आत्मा में है नहीं। उस राग के अतिरिक्त अन्य कोई विभाव है ही नहीं। अतः मेरी समझ में तो यही आता है कि वह राग ही उस दर्शनमोह के बन्ध और उदय का कारण है क्योंकि यह भी मेरी समझ में नहीं आता कि कर्म बिना किसी आत्मभाव के कारण के स्वयं ही कभी उदय हो जाता हो, कभी स्वयं उपशम हो जाता हो, कभी स्वयं क्षयोपशम हो जाता हो अथवा स्वयं उसमें उत्कर्षण-अपकर्षण हो जाता हो। इन कार्यों के लिये उसे कोई आत्मभाव तो कारण चाहिये ही ?

समाधान सूत्र १६९० से १६९७ तक ८

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिंत्यशक्तिषु।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः ॥ १६९० ॥

अर्थ – ऐसा नहीं है [अर्थात् राग उस दर्शनमोह के उदय का कारण नहीं है और तुम ऐसा इसलिये कहते हो] क्योंकि तुम पुद्गल कर्मों की उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम आदि अचिन्त्य १० शक्तियों में तथा उनमें प्रत्येक कर्म के प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग आदि नाना रूपों में वस्तुतः अजान हो।

भावार्थ – जिस प्रकार जीव एक स्वतंत्र चेतन द्रव्य है। वह स्वयं स्वतंत्र रूप से अपने शुभ-अशुभ शुद्ध भाव किया करता है। इसी प्रकार पुद्गल भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। वह भी स्वतः स्थायी रहता हुआ बदला करता है। वह भी अपने अचेतन (जड़) भावों को किया करता है। उदय-बन्ध-उपशम आदि जो कर्म की १० अवस्थायें हैं – उनको वह भी स्वयं अपनी परिणमन शक्ति से स्वकाल की योग्यता से बिना किसी अन्य कारण के कभी अपने उदय रूप, तो कभी अपनी उपशम रूप तो कभी अपनी क्षयोपशम रूप दशा को पलटा करता है। भाई तुम जीव की तो शुभाशुभादि भावों के करने की शक्ति जानते हो पर पुद्गल भी एक द्रव्य है – वह भी अपने नाना प्रकार के भावों को प्रति समय किया ही करता है। यह तुम नहीं जानते। आओ हम तुम्हें समझाते हैं :–

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा ।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात् ॥ १६९१ ॥

अर्थ – जिस प्रकार [दर्शनमोह का] अनादि काल से स्वतः उदय है उसी प्रकार उपशम भी स्वतः होता है। इसी प्रकार उपशम के पीछे उदय और उदय के पीछे उपशम बार-बार होता रहता है। यह उदय और उपशम की शृंखला जब तक मोक्ष नहीं होता, बार-बार होती रहती है।

भावार्थ – अनादि का उदय है। बताओ तो सही – वह किस कारण से है। किसी कारण से नहीं। इसी प्रकार जब उसमें उपशम की योग्यता का स्वकाल आता है तो स्वयं उपशम हो जाता है। जब उसमें स्वयं क्षयोपशम की योग्यता का स्वकाल आता है तो स्वयं क्षयोपशम हो जाता है। जब पुनः उदय की योग्यता का स्वकाल आता है तो उदय हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ बिना पर की सहायता के बिलकुल अकेला ही स्वतंत्र स्वकाल की योग्यता से परिणमन किया ही करता है। इसलिये भाई दर्शनमोह का उदय भी स्वतः है और उसका उपशम क्षयोपशम भी स्वतः ही है।

अथ गत्यन्तराद्दोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः ।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोऽन्योन्यसंश्रयः ॥ १६९२ ॥

अर्थ – और दूसरी गति होने से [अर्थात् ऐसा न मानकर राग के द्वारा दर्शनमोह का उदयादि मानोगे तो] दुर्निवार असिद्धत्वसंज्ञक दोष आयेगा। दुर्निवार अनवस्थात्मक दोष होगा तथा दुर्निवार अन्योन्याश्रय दोष होगा।

भावार्थ – (१) यदि एक का कारण दूसरा होना ही चाहिए ऐसा मानोगे तो उस कारण के लिये दूसरा कारण, और फिर उस कारण के लिये और दूसरा कारण इस प्रकार कहीं अन्त न होने से अनवस्था दोष आयेगा। (२) यदि परस्पर एक-दूसरे को एक दूसरे का कारण मानोगे तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा (तथा) (३) वह हो तो उसकी सिद्धि

हो और वह हो तो उसकी सिद्धि हो - इसप्रकार एक भी सिद्ध न हो सकेगा - यह असिद्धत्व दोष आयेगा। अर्थात् दोष ही दोष आयेंगे - पदार्थ की कुछ भी सिद्धि न हो सकेगी।

दृङ्मोहस्योदयो नाम रागायत्तोऽस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोऽस्ति स्वायत्तः किंस्यादपररागसात् ॥ १६९३ ॥

अर्थ – यदि अभी भी तुम्हारी ऐसी मान्यता है कि दर्शन-मोह का उदय राग के आधीन है तो वह राग भी अपने आधीन है या दूसरे राग से है।

भावार्थ – अगर तुम्हारा यही सिद्धान्त है कि एक-दूसरे के आधीन होना ही चाहिये और इसलिये दर्शनमोह का उदय राग के आधीन है तो अच्छा बताओ – वह राग किस के आधीन है? अपने आधीन है या दूसरे राग के आधीन है। यदि दूसरे राग के आधीन कहोगे तो हम पूछेंगे कि वह दूसरा राग किसके आधीन है। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा। अतः तुम्हें यही कहना पड़ेगा कि वह राग अपने आधीन है। तो

स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथा रागस्तथा चायं स्वायत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥ १६९४ ॥

अर्थ – यदि वह राग अपने आधीन है तो स्वतः चारित्रमोह के उदय से सिद्ध हुआ [दर्शनमोह के उदय से सिद्ध नहीं हुआ]। और जैसे वह राग स्वाधीन है [अर्थात् दर्शनमोह के उदयाधीन नहीं है] उसी प्रकार यह दर्शनमोह भी स्वाधीन है [अर्थात् राग के आधीन नहीं है] और स्वतः अपने उदय से है [अर्थात् अपने उदय के स्वकाल की योग्यता से स्वयं उपशम से उदय हो जाता है। राग के कारण उदय नहीं होता]।

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुलः ।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥ १६९५ ॥

अर्थ – यदि उन दोनों [राग और दर्शनमोह] की सिद्धि एक-दूसरे के कारण से होती है ऐसा कहोगे तो अन्योन्याश्रय दोष के कारण न्याय से असिद्ध दोष होगा [जिससे एक की भी सिद्धि न हो सकेगी। दोनों असिद्ध दोष के भागी होंगे]।

भावार्थ – अथवा यदि दोनों की ही सिद्धि एक-दूसरे से मानी जाये अर्थात् राग से दर्शनमोहनीय का उदय माना जाये और दर्शनमोहनीय के उदय से राग की उत्पत्ति मानी जाये तो अन्योन्याश्रय दोष के अन्तर्गत असिद्धत्व नाम का दोष आता है अर्थात् परस्पर एक की सिद्धि दूसरे के आधीन मानने से एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि जब तक एक सिद्ध हो जाय तब दूसरा सिद्ध हो। परस्पर की अपेक्षा में एक भी सिद्ध नहीं होता।

नागमः कश्चिदस्तीदृग्घेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ।
रागस्तस्याथ रागस्य तस्य हेतुर्दृगावृत्तिः ॥ १६९६ ॥

अर्थ – ऐसा कोई आगम [प्रमाण] भी नहीं है कि उस दर्शनमोह कर्म का राग कारण है और उस राग का कारण दर्शनमोहनीय का उदय है।

तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा ।
उदयोऽनुदयो वाथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ १६९७ ॥

अर्थ – इसलिए यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि दर्शनमोह का या दूसरे चारित्रमोह का उदय अथवा अनुदय स्वतः [किसी दूसरे हेतु के बिना] अपने आप होता है – एक-दूसरे के कारण से नहीं होता [यहाँ तक शिष्य की सूत्र १६८८, १६८९ में की गई शङ्का का समाधान किया]।

विषय अनुसंधान – यहाँ तक गुरुदेव ने डटकर यह सिद्ध किया कि उस राग सम्यक्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो चारित्र का विकार है। उसका सम्बन्ध उपादान दृष्टि से केवल चारित्र गुण से है और निमित्त दृष्टि से केवल चारित्र-मोहनीय से है। जब यह सिद्ध हो गया कि राग का सम्यक्त्व से बिलकुल सम्बन्ध नहीं है तो स्वतः यह भी सिद्ध हो

गया कि फिर सम्यक्त्व सविकल्प [सरागी] न रहा किन्तु केवल एक प्रकार का निर्विकल्प [शुद्ध भाव रूप] ही रहा और चौथे से सिद्ध तक एक प्रकार का ही रहा तथा जब राग का सम्बन्ध सम्यक्त्व से सिद्ध नहीं हुआ तो उसकी अविनाभावी ज्ञानचेतना से भी उसका कुछ सम्बन्ध न रहा क्योंकि ज्ञानचेतना ज्ञान गुण की पर्याय है और सम्यक्त्व से अविनाभूत है। सोई कहते हैं अर्थात् ग्रन्थ के प्रारम्भ में की गई शिष्य की दोनों शङ्काओं का उत्तर यहाँ लाकर समाप्त करते हैं :–

उपसंहार

तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि ।
तद्यथावश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥ १६९८ ॥

अर्थ – इसलिये अर्थ की अपेक्षा से अथवा उसके लक्षण की अपेक्षा से भी सम्यक्त्व एक ही है [सविकल्प-निर्विकल्प या व्यवहार-निश्चय दो प्रकार नहीं है] और वह एक प्रकार इस कारण से है कि उस सम्यक्त्व के सद्भाव में ज्ञानचेतना नियम से होती है [ऐसा नहीं है कि सविकल्पवाले के ज्ञानचेतना न हो और निर्विकल्प वाले के ही हो और इसलिए सम्यक्त्व के दो भेद किये जाते हों]।

भावार्थ – शङ्काकार ने राग के निमित्त से सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ऐसे दो भेद किये थे। आचार्य महाराज कहते हैं कि राग का चारित्र से सम्बन्ध है सम्यक्त्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये न तो सराग और वीतराग ऐसे सम्यक्त्व के दो भेद ही हैं और न ज्ञानचेतना का अभाव ही है। सम्यग्दर्शन एक ही है। उसका स्वानुभूति लक्षण है। ज्ञानचेतना सम्यक्त्व से अविनाभूत है। इसलिये वह सम्यग्दर्शन के साथ अवश्य पाई जाती है। इसलिये चाहे सराग अवस्था हो – चाहे वीतराग अवस्था हो – ज्ञानचेतना सम्यक्त्व के साथ अवश्य ही होगी। इस सूत्र द्वारा साध्य की सिद्धि करके विषय का उपसंहार किया है। शिष्य ने सूत्र १५८९ से १५९४ तक ६ सूत्रों में जो यह कहा था कि सम्यक्त्व सविकल्प [व्यवहार] निर्विकल्प [निश्चय] दो प्रकार का है तो उत्तर दिया कि ऐसा नहीं है तथा जो उसने यह कहा था कि सविकल्पक सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना नहीं है तो उत्तर दिया कि ज्ञानचेतना सबके है।

अगली भूमिका – शिष्य की दोनों शङ्काओं का यद्यपि पूर्ण समाधान कर दिया गया किन्तु फिर भी वह अपनी दोनों शङ्काओं के बारे में पुनः प्रश्न करता है और कहता है कि गुरु महाराज ! क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो मलिन है। उसमें तो राग है। इसलिए क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सविकल्प है और औपशमिक सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता है इसलिये वह भी मलीन है, हाँ। क्षायिक सम्यक्त्व निर्विकल्प [वीतराग] है। इस प्रकार सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्प दो भेद ठीक रहेंगे। तथा ज्ञानचेतना के बारे में महाराज! क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के तो ज्ञानचेतना नहीं है क्योंकि उनके प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता है और क्षायिक के है ? अर्थात् उसने घुमा-फिरा कर पुनः वही सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्प दो भेद कर दिये तथा उसीप्रकार सविकल्प सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना का न होना कहा। उसने अपनी दोनों चली आई शङ्काओं को नया रूप देकर पुनः उपस्थित कर दिया। अब इनका समाधान १७०३ तक ४ सूत्रों में करते हैं :–

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा ।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥ १६९९ ॥

अर्थ – वह सम्यक्त्व मिश्र [क्षायोपशमिक] औपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन प्रकार है। इन तीनों में जो कुछ भेद है वह केवल स्थितिबन्धकृत भेद है। रस बन्ध [अनुभाग बन्ध] की अपेक्षा से भेद नहीं है।

भावार्थ – भाई! इन तीनों सम्यक्त्व में तत्त्वार्थश्रद्धान में या आत्मानुभव में कुछ अन्तर नहीं है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में जो मलिनता है – वह तो इतनी सूक्ष्म है कि केवलज्ञान गम्य है। उस व्यक्ति के अनुभव में वह नहीं आती। वह बुद्धिपूर्वक नहीं है किन्तु अबुद्धिपूर्वक है। वह तो करणानुयोग का विषय है। उसका केवल यही आशय है कि केवलियों ने अपने दिव्यज्ञान में उसे भी देखा है। वह चौथे से सातवें तक रह सकती है पर उसका यह मतलब नहीं कि उनके अनुभव में कुछ मोह भाव आ रहा है। इसलिये तीनों सम्यग्दृष्टियों के रस में (अनुभाग में – फल में – वेदन में) अन्तर नहीं है किन्तु स्थिति में अन्तर है। क्षायिक सम्यक्त्व का अनुभव अक्षय है। उसकी कोई स्थिति नहीं है। कभी

नाश नहीं होता। औपशमिक की स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त है और क्षायोपशमिक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त से ६६ सागर तक है। इनमें समय की मर्यादा का भेद तो है पर यह भेद नहीं है कि एक सविकल्प सम्यग्दृष्टि, दूसरे निर्विकल्प सम्यग्दृष्टि। निमित्तदृष्टि से भी इन तीनों ही सम्यक्त्व में मिथ्यात्वप्रकृति का उदय नहीं है इसलिये उनमें रसबन्धकृत किसी प्रकार का अन्तर नहीं है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि को छोड़कर शेष दोनों प्रकार के सम्यग्दृष्टियों के प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता रहती है। अतः इन दोनों में स्थितिबन्धकृत भेद पाया जाता है – ऐसा कहा है। अब इसी बात को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये उसे कर्म Philosophy समझाते हैं :–

तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादिप्रभेदतः।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥ १७०० ॥

अर्थ – पूर्वोक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है कि अनादि काल से बन्ध अवान्तर भेदों की अपेक्षा से चार भेद रूप है। प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध [इनका लक्षण इस प्रकार है :–]

प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥ १७०१ ॥

अर्थ – प्रकृतिबन्ध उसके स्वभावरूप है [अर्थात् जिसका जो स्वभाव है – वह उसकी प्रकृति है जैसे ज्ञानावरण की प्रकृति ज्ञान के उघाड़ न होने में निमित्त होना। जो जिसका नाम है - वही उसकी प्रकृति है]। प्रदेशबन्ध प्रदेशों के आश्रय है [अर्थात् प्रदेशों की संख्या प्रदेशबन्ध है]। अनुभागबन्ध रस जानना चाहिए [अर्थात् पुद्गल परमाणुओं में पड़ी हुई फलदान शक्ति] और स्थितिबन्ध काल की मर्यादा है।

स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बंधः स्याद्रससंज्ञिकः ।
शेषबन्धत्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥ १७०२ ॥

अर्थ :– इन चारों बन्धों में स्वार्थक्रिया में समर्थ तो रस-संज्ञक [अनुभाग] बन्ध है। यह शेष तीन प्रकार का बन्ध कार्य करने में समर्थ नहीं है।

अन्तिम उपसंहार

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेऽप्यत्र संस्थिते ।
ज्ञानसंचेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि ॥ १७०३ ॥

अर्थ – इसलिए दो सम्यग्दर्शनों में स्थिति के वश से ज्ञानचेतना को नाश करनेवाले कर्म के सत्तामात्र में स्थित रहने पर भी ज्ञानचेतना की क्षति तो जरा भी नहीं होती है।

भावार्थ – शिष्य ने जो यह कहा था कि क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना मत मानो – उसका उत्तर यह दिया कि हम यह तो तुम्हें समझा ही चुके हैं कि सम्यक्त्व के साथ ज्ञानचेतना को आवरण करने वाले कर्म के क्षयोपशम का अविनाभाव है। तीनों सम्यग्दृष्टियों के ज्ञानचेतना का अनुभव एक बराबर है और तीनों निर्विकल्प सम्यग्दृष्टि हैं - ऐसा निश्चय करना। यहाँ लाकर उसकी शङ्का का अन्तिम निर्णय दिया है।

पूर्व सूत्र १५८७-१५८८ से अनुसंधानित

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गणोपमाः।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोऽप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥ १७०४ ॥

अर्थ – यह ज्ञानचेतना आदिक अन्य जो-जो सद्गुण हैं वे सम्यक्त्व मात्र [चौथे गुणस्थान] से प्रारम्भ करके उससे ऊपर भी सब सम्यग्दृष्टि जीवों के पाये जाते हैं।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टियों के लब्धिरूप ज्ञानचेतना हर समय रहती है और उपयोगरूप ज्ञानचेतना का स्पष्टीकरण तो इस प्रकार है :– जो सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान का है उसके तो स्वअनुभव का काल लघु अन्तर्मुहूर्त पर्यत रहे है और बहुत काल पीछे होता है और उससे देशव्रती का अनुभव रहने का काल बड़ा अन्तर्मुहूर्त है और थोड़े ही काल पीछे-पीछे होता है और सर्वविरति के स्व अनुभव दीर्घ अन्तर्मुहूर्त तक रहता है और ध्यान से भी होता है और बहुत थोड़े-थोड़े काल पीछे-पीछे स्व अनुभव दशा बारम्बार हुआ ही करती है और सातवें से तो ये परिणाम, जो पूर्व स्व

अनुभव रूप हुये थे वे तो अनुभव रूप रहते ही हैं, किन्तु वहाँ मुख्यपने कर्मधारा से निकल-निकल कर स्व रस-स्वाद अनुभवरूप होते जाते हैं। ज्यों-ज्यों आगे का समय आता है त्यों-त्यों और-और परिणाम स्वादरस अनुभवरूप कर बढ़ते चलते हैं। इस प्रकार वहाँ से अनुभव दशा के परिणाम बढ़ते जाते हैं। इसी प्रकार क्षीणमोह [बारहवें गुणस्थान] पर्यन्त जानना। तेरहवाँ तो है ही सर्वथा साक्षात् पूर्ण ज्ञानचेतना रूप [आत्मावलोकन पन्ना १६५-१६६]। सम्यग्दृष्टि में ज्ञानचेतना के साथ-साथ और क्या-क्या सद्गुण पाये जाते हैं – इनको गुरु महाराज स्वयं स्पष्ट करते हैं :–

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम्।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥ १७०५ ॥

अर्थ – स्वानुभव नाम का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान, वैराग, भेदविज्ञान इत्यादि वे गुण हैं जो सम्यग्दर्शन के होने पर नियम से होते हैं और सब सम्यग्दृष्टियों में चौथे से ऊपर तक सबके पाये जाते हैं। इस विषय में और अधिक क्या कहें।

भावार्थ – सम्यग्दर्शन के होने पर ही भेदविज्ञानादि उत्तम गुणों की प्राप्ति होती है – अन्यथा नहीं होती। दूसरा ये भी आशय है कि जो गुण सम्यग्दर्शन के साथ में होते हैं वे ही सद्गुण हैं। बिना सम्यग्दर्शन के होने वाले गुणों को सद्गुणों की उपमा भले ही दी जाय, परन्तु वास्तव में वे सद्गुण नहीं हैं। चौथे गुणस्थान से पहले-पहले भेदविज्ञानादि [सद्गुण] होते भी नहीं है। ऊपर सब सम्यग्दृष्टियों में रहते हैं। अविनाभाव हैं।

पूर्व सूत्र ९६० से अनुसंधानित

अद्वैतेऽपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात्।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामाऽस्ति नान्यथा ॥ १७०६ ॥

अर्थ – चेतना अद्वैत होने पर भी तीन प्रकार कही जा चुकी है और आगम से भी इसी प्रकार सिद्ध है। जिस चेतना से उपलक्षित [लक्ष में लिया गया] जीव सार्थनामवाला है। अन्यथा नहीं [अर्थात् चेतना लक्षण बिना जीव नहीं होता – अजीव होता है]।

भावार्थ – चेतना जीव का लक्षण है। यहाँ जीव के अखण्ड परिणमन की अपेक्षा चेतना का निरूपण किया है। वह चेतना तीन भेद रूप है। ज्ञानी के ज्ञानचेतना और अज्ञानियों के अज्ञानचेतना [कर्मचेतना और कर्मफलचेतना]। इस प्रकार सूत्र ९५८ से यहाँ तक जीव का चेतना लक्षण करके पर्यायार्थिक नय से अखण्डचेतना परिणमन की अपेक्षा निरूपण किया। अब आगे सातवीं पुस्तक में उसी जीव का खण्ड परिणमन की अपेक्षा चेतना के गुण भेद करके निरूपण करेंगे।

(१) सविकल्प निर्विकल्प चर्चा

प्रश्न २४३ – सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है या नहीं ?

उत्तर – नहीं। आत्मा में एक श्रद्धा गुण है। उसकी एक विभाव पर्याय होती है जिसको मिथ्यादर्शन कहते हैं और एक स्वभाव पर्याय होती है जिसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह स्वभावपर्याय चौथे से सिद्ध तक एक प्रकार की ही होती है। सविकल्प निर्विकल्प सम्यग्दर्शन या व्यवहार-निश्चय सम्यग्दर्शन नाम की इसमें कोई पर्याय ही नहीं होती। अतः सम्यग्दर्शन को दो प्रकार का मानना भूल है।

प्रश्न २४४ – विकल्प शब्द के क्या-क्या अर्थ होते हैं ?

उत्तर – (१) विकल्प शब्द का एक अर्थ तो साकार है। यह ज्ञान का लक्षण है। इस अपेक्षा सभी ज्ञान सविकल्पक कहलाते हैं [और दर्शन निर्विकल्पक कहलाता है]।(२) विकल्प शब्द का दूसरा अर्थ उपयोग संक्रान्ति है। इस अपेक्षा छद्मस्थ के चारों ज्ञान सविकल्पक हैं। केवलज्ञान निर्विकल्पक है। (३) तीसरे एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर उपयोग के परिवर्तन को भी विकल्प कहते हैं। इस अपेक्षा उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति के समय तो छद्मस्थ का ज्ञान निर्विकल्पक

है क्योंकि उसमें उपयोग एक ही आत्मपदार्थ पर रहता है। पदार्थान्तर पर नहीं जाता। शेष समय में ज्ञेय परिवर्तन किया करता है इसलिये सविकल्प है। इन तीन अपेक्षाओं से ज्ञान को सविकल्प कहते हैं। (४) विकल्प का चौथा अर्थ राग है। यह चारित्र गुण का विभाव परिणमन है। चारित्र गुण के राग सहित परिणमन को सविकल्प या सराग चारित्र कहते हैं जो दसवें तक है और चारित्र गुण के विकल्प रहित परिणमन को निर्विकल्प या वीतराग चारित्र कहते हैं जो ग्यारहवें बारहवें में है। (५) पाँचवां विकल्प शब्द का अर्थ बुद्धिपूर्वक राग है जो पाया तो पहले से छठे तक जाता है पर यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान का राग ही ग्रहण किया गया है। इन ५ अर्थों में विकल्प शब्द का प्रयोग होता है। सम्यग्दर्शन को विकल्पात्मक कहना भारी भूल है।

प्रश्न २४५ – केवलियों का ज्ञान निर्विकल्पक किस प्रकार है?

उत्तर – छद्मस्थों के चारों ज्ञान सविकल्प अर्थात् उपयोगसंक्रान्ति सहित हैं और केवली का ज्ञान निर्विकल्प अर्थात् उपयोग संक्रान्ति रहित है। इस अपेक्षा केवलज्ञान निर्विकल्पक है।

प्रश्न २४६ – केवलज्ञान सविकल्पक किस प्रकार है?

उत्तर – [देखने वाले] दर्शन का निज लक्षण निर्विकल्प अर्थात् ज्ञेयाकार रहित है और ज्ञान का निज लक्षण सविकल्प अर्थात् ज्ञेयाकार सहित है। इस अपने लक्षण से प्रत्येक ज्ञान सविकल्पक है। केवलज्ञान में भी स्व पर ज्ञेयाकारपना रहता है। अतः वह भी सविकल्पक है।

प्रश्न २४७ – छद्मस्थ का ज्ञान सविकल्पक किस प्रकार है और निर्विकल्पक किस प्रकार है?

उत्तर – केवलज्ञान निर्विकल्प अर्थात् उपयोगसंक्रान्ति रहित है और छद्मस्थ का ज्ञान सविकल्प अर्थात् उपयोगसंक्रान्ति सहित है। इस अपेक्षा तो छद्मस्थों के चारों ज्ञान सविकल्पक हैं। दूसरे उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति में उपयोग क्योंकि एक ही निज शुद्ध आत्मा में रहता है और अर्थ से अर्थान्तर का परिवर्तन [ज्ञेय परिवर्तन] नहीं करता – इस अपेक्षा स्वोपयोग के समय में तो छद्मस्थों का ज्ञान निर्विकल्पक है और अन्य समय में सविकल्पक है।

प्रश्न २४८ – ज्ञान सविकल्प है या नहीं?

उत्तर :– ज्ञान एक तो अपने ज्ञेयाकार रूप लक्षण से सविकल्प है, दूसरे उपयोगसंक्रान्ति लक्षण से सविकल्प है, तीसरे ज्ञेयपरिवर्तन से सविकल्प है। पर 'ज्ञान-राग रूप ही हो जाता हो' इस अपेक्षा सविकल्पक कभी नहीं है।

प्रश्न २४९ – सम्यग्दर्शन सविकल्पक है या नहीं?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन तो सम्यक्त्व गुण का निर्विकल्प [शुद्धभाव रूप] परिणमन है। चौथे से सिद्ध तक एक रूप है। यह किसी प्रकार भी सविकल्पक नहीं है क्योंकि यह कभी रागरूप नहीं होता है।

प्रश्न २५० – चारित्र सविकल्पक है या नहीं?

उत्तर – पहले गुणस्थान में तो चारित्र गुण का परिणमन सर्वथा राग रूप ही है। अतः वह तो सविकल्प ही है। चौथे में अनन्तानुबंधी अंश को छोड़ कर चारित्र का शेष अंश सविकल्प है – रागरूप है। पाँचवें-छठे में जितना बुद्धि अबुद्धिपूर्वक राग है उतना चारित्र का परिणमन विकल्प रूप है। सातवें से दसवें तक जितना अबुद्धिपूर्वक राग है उतना चारित्र का परिणमन विकल्प रूप है। चारित्र वास्तव में सविकल्पक है पर जहाँ जितना चारित्र राग रहित है वहाँ उतना वह भी निर्विकल्पक है। चारित्र भी सर्वथा सविकल्पक हो – ये बात नहीं है। स्वभाव से तो चारित्र भी निर्विकल्पक ही है और जितना मोक्षमार्गरूप [संवर-निर्जरा रूप] है – उतना भी निर्विकल्पक ही है। जितना जहाँ रागरूप परिणत है वह निश्चय से सविकल्पक ही है।

प्रश्न २५१ – चौथे, पाँचवें, छठे में तीनों गुणों की वास्तविक परिस्थिति बताओ ?

उत्तर – इन गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन तो श्रद्धा गुण की शुद्ध पर्याय है जो राग रहित निर्विकल्प है। सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण के क्षयोपशम रूप है। इसका कार्य केवल स्व पर को जानना है। राग से इसका भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। चारित्र में जितनी स्वरूप स्थिरता है उतना तो शुद्ध अंश है और जितना राग है उतनी मलीनता है। अतः चारित्र को यहाँ सराग या सविकल्प कहते हैं।

प्रश्न २५२ – सातवें से बारहवें तक तीनों गुणों की वास्तविक परिस्थिति क्या है ?

उत्तर – श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन पर्याय तो वैसी ही शुद्ध है जैसी छठे तक थी। उसमें कोई अन्तर नहीं है। ज्ञान है तो क्षयोपशमरूप पर बुद्धिपूर्वक सबका सब उपयोग स्वज्ञेय को ही जानता है। राग से इसका भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। चारित्र में बुद्धिपूर्वक राग तो समाप्त हो चुका। अबुद्धिपूर्वक का कुछ राग दसवें तक है। शेष सब शुद्ध परिणमन है और बारहवें में राग नाश होकर चारित्रपूर्ण वीतराग है।

प्रश्न २५३ – यहाँ सराग सम्यग्दृष्टि से क्या अभिप्राय है?

उत्तर – जिस सम्यग्दर्शन के साथ बुद्धिपूर्वक चारित्र का राग वर्तता है। उसके धारी चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थानवर्ति जीवों को यहाँ सविकल्प या सराग सम्यग्दृष्टि कहा है।

प्रश्न २५४ – यहाँ वीतराग सम्यग्दृष्टि से क्या अभिप्राय है?

उत्तर – जिस सम्यग्दर्शन के साथ बुद्धिपूर्वक चारित्र का राग नहीं वर्तता है। उसके धारी सातवें आदि गुणस्थानवर्ति जीवों को यहाँ निर्विकल्प या वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

(२) ज्ञानचेतना अधिकार

प्रश्न २५५ – ज्ञानचेतना किसे कहते हैं ?

उत्तर – सम्यक्त्व से अविनाभूत मतिश्रुतज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम से होनेवाला ज्ञान का उघाड़ और उस उघाड़ के राग रहित शुद्धपरिणमन को ज्ञानचेतना कहते हैं अथवा ज्ञान के ज्ञानरूप रहने को [रागरूप न होने को] ज्ञानचेतना कहते हैं अथवा ज्ञान के ज्ञानरूप वेदन को ज्ञानचेतना कहते हैं।

प्रश्न २५६ – ज्ञानचेतना के कितने भेद हैं?

उत्तर – दो – (१) लब्धिरूप ज्ञानचेतना (२) उपयोगरूप ज्ञानचेतना।

प्रश्न २५७ – लब्धिरूप ज्ञानचेतना किसे कहते हैं ?

उत्तर – सम्यक्त्व से अविनाभूत ज्ञानचेतना को आवरण करने वाले मतिश्रुतज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम को लब्धिरूप ज्ञानचेतना कहते हैं। वह ज्ञान के उघाड़रूप है।

प्रश्न २५८ – उपयोगरूप ज्ञानचेतना किसे कहते हैं ?

उत्तर – लब्धिरूप ज्ञानचेतना की प्राप्ति होने पर जब ज्ञानी अपने उपयोग को सब परज्ञेयों से हटाकर केवल निजशुद्ध आत्मा को संवेदन करने के लिए स्व से जोड़ता है, उस समय उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। यह ज्ञान के स्व में उपयोगरूप है।

प्रश्न २५९ – लब्धिरूप ज्ञानचेतना किन के पाई जाती है ?

उत्तर – चौथे से बारहवें गुणस्थान तक सभी जीवों के हर समय पाई जाती है।

प्रश्न २६० – उपयोगरूप ज्ञानचेतना किन के पाई जाती है?

उत्तर – चौथे, पाँचवें, छठे वालों के कभी-कभी पाई जाती है और सातवें से निरन्तर अखण्डधारारूप से पाई जाती है।

प्रश्न २६१ – संवर-निर्जरा ज्ञानचेतना के आधीन है या सम्यक्त्व के आधीन है?

उत्तर :– ज्ञानचेतना तो ज्ञान की पर्याय है। ज्ञान का बन्ध मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। संवर-निर्जरा की व्याप्ति तो सम्यक्त्व से है। अतः वे सम्यक्त्व के आधीन हैं चाहे उपयोग स्व में रहे या पर में जावे।

(३) व्याप्ति अधिकार

प्रश्न २६२ – व्याप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर – सहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न २६३ – व्याप्ति के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो (१) समव्याप्ति (२) विषम व्याप्ति।

प्रश्न २६४ – समव्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – दोनों ओर के सहचर्य नियम को समव्याप्ति कहते हैं [अर्थात् किन्हीं दो चीजों के सदा साथ रहने को और कभी जुदा न रहने को समव्याप्ति कहते हैं] जैसे सम्यक्त्व और दर्शनमोह का अनुदय। इन दो पदार्थों में कभी आपस में व्यभिचार नहीं मिलता अर्थात् एक मिले और दूसरा न मिले ऐसा कभी नहीं होता। दोनों इकट्ठे ही मिलते हैं। इसलिये इनमें समव्याप्ति है। समव्याप्ति परस्पर में दोनों की होती है। इसको इस प्रकार बोलते हैं – जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ दर्शनमोह का अनुदय है और जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व नहीं है वहाँ-वहाँ दर्शनमोह का अनुदय भी नहीं है। तथा जहाँ-जहाँ दर्शनमोह का अनुदय है वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व है और जहाँ-जहाँ दर्शनमोह का अनुदय नहीं है वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व भी नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और ज्ञानचेतनावरण कर्म के क्षयोपशम की [अर्थात् लब्धिरूप ज्ञानचेतना की] समव्याप्ति है। इसके जानने से यह लाभ है कि एक का अस्तित्त्व दूसरे के अस्तित्त्व को और एक का नास्तित्त्व दूसरे के नास्तित्त्व को सिद्ध कर देता है।

प्रश्न २६५ – क्या समव्याप्ति में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के आधीन है ?

उत्तर – कदापि नहीं। एक का परिणमन या मौजूदगी दूसरे के आधीन बिलकुल नहीं है। दोनों स्वतंत्र अपने-अपने स्वकाल की योग्यता से परिणमन करते हैं। व्याप्ति का यह अर्थ नहीं कि एक पदार्थ दूसरे को लाता हो या दूसरे को उसके कारण से आना पड़ता हो या एक के कारण दूसरे को अपनी वैसी अवस्था करनी पड़ती हो – कदापि नहीं। व्याप्ति तो केवल यह बताती है कि स्वतः ऐसा प्राकृतिक नियम है कि दोनों साथ रहते हैं – एक हो और दूसरा न हो – ऐसा कदापि नहीं होता। बस इससे अधिक और व्याप्ति से कुछ सिद्ध नहीं किया जाता।

प्रश्न २६६ – विषमव्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – एकतरफा के सहचर्य नियम को विषम व्याप्ति कहते हैं [अर्थात् जो व्याप्ति एकतरफा तो पाई जावे और दूसरीतरफा न पाई जावे उसे विषम व्याप्ति कहते हैं] जैसे जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग है यह तो घट गया पर जहाँ-जहाँ धूम नहीं है वहाँ-वहाँ आग भी नहीं है यह नहीं घटा क्योंकि बिना धूम भी आग होती है। इसलिये धूम और अग्नि में समव्याप्ति नहीं किन्तु विषम-व्याप्ति है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और स्वोपयोग में, राग और ज्ञानावरण में, लब्धि और स्वोपयोग में – विषमव्याप्ति है। जिस ओर से यह व्याप्ति घट जाती है उनका तो परस्पर सहचर्य सिद्ध हो जाता है किन्तु जिस ओर से नहीं घटती उनका सहचर्य सिद्ध नहीं होता – यह इससे लाभ है।

प्रश्न २६७ – सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनावरण के क्षयोपशम में कौनसी व्याप्ति है ?

उत्तर – समव्याप्ति है क्योंकि सदा दोनों इकट्ठे रहते हैं। एक हो और दूसरा न हो – ऐसा कभी होता ही नहीं है। जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ ज्ञानचेतनावरण का क्षयोपशम भी है और जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व नहीं वहाँ-वहाँ ज्ञानचेतनावरण का क्षयोपशम भी नहीं है। तथा जहाँ-जहाँ ज्ञानचेतनावरण का क्षयोपशम है वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व है और जहाँ-जहाँ ज्ञानचेतनावरण का क्षयोपशम नहीं है वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व भी नहीं है। इसलिये सम्यक्त्व का अस्तित्त्व लब्धिरूप ज्ञानचेतना के अस्तित्त्व को सिद्ध करता है। इससे जो सम्यग्दृष्टियों के ज्ञानचेतना नहीं मानते – उनका खण्डन हो जाता है।

प्रश्न २६८ – सम्यक्त्व और उपयोगरूप ज्ञानचेतना में कौनसी व्याप्ति है ?

उत्तर – विषम व्याप्ति है क्योंकि जहाँ-जहाँ स्वोपयोग है वहाँ-वहाँ तो सम्यक्त्व है पर जहाँ-जहाँ स्वोपयोग नहीं है वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व हो – न भी हो – कोई नियम नहीं है। स्वोपयोग के बिना भी सम्यक्त्व रहता है अथवा इसको यूँ भी कह सकते हैं कि जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व नहीं है वहाँ-वहाँ स्वोपयोग भी नहीं है पर जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ स्वोपयोग हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता – कोई नियम नहीं है। इनमें एक तरफ की व्याप्ति तो है पर दूसरे तरफ की नहीं है – इसलिए यह विषम व्याप्ति है। इससे एक तो यह सिद्ध किया जाता है कि शुद्धोपयोग सम्यग्दृष्टियों के ही होता है और दूसरे यह सिद्ध किया जाता है कि सब सम्यग्दृष्टियों के हर समय स्वोपयोग नहीं रहता।

प्रश्न २६९ – लब्धि और उपयोगरूप ज्ञान चेतना में कौनसी व्याप्ति है ?

उत्तर – विषम व्याप्ति है क्योंकि जहाँ-जहाँ उपयोग है वहाँ-वहाँ तो लब्धि है पर जहाँ-जहाँ उपयोग नहीं है वहाँ-वहाँ लब्धि हो भी सकती है अथवा नहीं भी हो सकती अथवा इसको यूँ भी कह सकते हैं कि जहाँ-जहाँ लब्धि नहीं है वहाँ-वहाँ तो उपयोग भी नहीं है पर जहाँ-जहाँ लब्धि है वहाँ-वहाँ उपयोग हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता – कुछ नियम नहीं है। इनमें एक तरफा व्याप्ति है पर दूसरी तरफा नहीं है – इसलिये विषम व्याप्ति है। इससे एक तो यह सिद्ध किया जाता है कि लब्धि कारण है – स्वोपयोग कार्य है। अतः स्वोपयोग वाले के लब्धि अवश्य है। दूसरा यह सिद्ध किया जाता है कि ज्ञानचेतना प्राप्त जीव अपना उपयोग हर समय स्व में ही रखता हो – पर में न ले जाता हो – यह बात नहीं है। ज्ञानचेतना लब्धि बनी रहती है और उपयोग पर को जानने में भी चला जाता है।

प्रश्न २७० – उपयोग और बन्ध में कौनसी व्याप्ति है ?

उत्तर – कोई भी नहीं है क्योंकि जहाँ-जहाँ उपयोग है वहाँ-वहाँ बन्ध होना चाहिये – सिद्ध में उपयोग तो है पर बन्ध बिलकुल नहीं है। जहाँ-जहाँ उपयोग नहीं है वहाँ-वहाँ बन्ध भी नहीं है यह भी नहीं घटा क्योंकि विग्रहगति में उपयोग नहीं है पर बन्ध है। अब दूसरी ओर से देखिये। जहाँ-जहाँ बन्ध है वहाँ-वहाँ उपयोग चाहिये – विग्रह गति में बन्ध है पर उपयोग नहीं है। जहाँ-जहाँ बन्ध नहीं है वहाँ-वहाँ उपयोग नहीं है – यह भी नहीं घटा क्योंकि सिद्ध में बन्ध बिल्कुल नहीं है पर उपयोग सारा स्व में है।

प्रश्न २७१ – राग और ज्ञानावरण में कौनसी व्याप्ति है ?

उत्तर – विषम व्याप्ति है क्योंकि जहाँ-जहाँ राग है वहाँ-वहाँ तो ज्ञानावरण है यह तो ठीक पर जहाँ-जहाँ ज्ञानावरण है वहाँ-वहाँ राग भी अवश्य हो – यह कोई नियम नहीं है। हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता क्योंकि ग्यारहवें, बारहवें में ज्ञानावरण तो है पर राग नहीं है। जहाँ-जहाँ राग है वहाँ-वहाँ ज्ञानावरण है इससे राग का तो ज्ञानावरण के साथ पक्का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है पर जहाँ-जहाँ ज्ञानावरण है वहाँ-वहाँ राग हो – यह सिद्ध न होने से ज्ञानावरण का राग से कुछ सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न २७२ – राग की और दर्शनमोह की कौनसी व्याप्ति है ?

उत्तर – कोई नहीं क्योंकि न राग से दर्शनमोह बन्धता है और न दर्शनमोह के उदय से राग होता है। राग की व्याप्ति चारित्रमोह से है – दर्शनमोह से नहीं। इससे यह सिद्ध किया जाता है कि सम्यग्दर्शन सविकल्पक नहीं। सम्यग्दृष्टि के चारित्र में कृष्ण लेश्या रहते हुये भी शुद्ध सम्यक्त्व बना ही रहता है [यहाँ राग से आशय केवल चारित्रमोह सम्बन्धी राग से है]।

प्रश्न २७३ – सम्यग्दर्शन-बन्ध और मोक्ष से किस की व्याप्ति नहीं है तथा किस की है?

उत्तर – सम्यग्दर्शन – बन्ध – मोक्ष से उपयोग की व्याप्ति नहीं है। दर्शनमोह के अनुदय की व्याप्ति सम्यग्दर्शन से है। राग की व्याप्ति बन्ध से है और संवर निर्जरा की व्याप्ति मोक्षमार्ग से है।

प्रश्न २७४ – अन्वय व्यतिरेक किस को कहते हैं ?

उत्तर – जिसके होने पर जो हो – उसको अन्वय कहते हैं और जिसके नहीं होने पर जो न हो – उसको व्यतिरेक कहते हैं जैसे जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ-वहाँ दर्शनमोह का अनुदय है – यह अन्वय है और जहाँ-जहाँ दर्शनमोह का अनुदय नहीं है – वहाँ-वहाँ सम्यक्त्व भी नहीं है – यह व्यतिरेक है।

प्रश्न २७५ – व्याप्ति के जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर – इससे पदार्थों के सहचर्य सम्बन्ध का पता चल जाता है कि किन पदार्थों की किन पदार्थों के साथ सहचरता है या नहीं। ये अविनाभाव की कसौटी है। इससे परख कर देख लेते हैं। इससे एक पदार्थ की अस्ति या नास्ति से दूसरे पदार्थ की अस्ति या नास्ति का ज्ञान कर लिया जाता है।

नोट – न्यायशास्त्र में अनुमान प्रयोग में साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव और साध्य के अभाव में साधन के अभाव को अविनाभाव या व्याप्ति कहते हैं। वहाँ समव्याप्ति या विषमव्याप्ति नहीं होती। व्याप्ति होती है या अव्याप्ति होती है। यह विषय उससे भिन्न जाति का है। यह आध्यात्मिक विषय है। वहाँ धूम और अग्नि की व्याप्ति है। यहाँ धूम और अग्नि की विषम व्याप्ति है। इसलिये इस विषय को उस न्याय के ढङ्ग से समझने का प्रयत्न न करें किन्तु जिस ढङ्ग से यहाँ निरूपण किया गया है - उसी ढङ्ग से समझें तो कल्याण होगा। वहाँ उद्देश्य साधन द्वारा साध्य के सिद्ध करने का है और यहाँ उद्देश्य एक पदार्थ के अस्तित्त्व या नास्तित्त्व से दूसरे पदार्थ के अस्तित्त्व या नास्तित्त्व को सिद्ध करने का है।

(४) फुटकर (Miscellaneous)

प्रश्न २७६ – उपयोगसंक्रान्ति के पर्यायवाची शब्द बताओ?

उत्तर – उपयोगसंक्रान्ति, पुनर्वृत्ति, क्रमवर्तित्व, विकल्प, ज्ञप्ति परिवर्तन। उपयोग का बदलना।

प्रश्न २७७ – क्षायोपशमिक ज्ञान और क्षायिक ज्ञान में क्या अन्तर है?

उत्तर – क्षायोपशमिक ज्ञान में उपयोग संक्रान्ति होती ही है। वह क्रमवर्ती ही है। क्षायिक ज्ञान में उपयोग संक्रान्ति नहीं ही होती है। वह अक्रमवर्ती ही है।

प्रश्न २७८ – गुण क्या-क्या है?

उत्तर – सम्यक्त्व की उत्पत्ति होना, वृद्धि होना, निर्जरा होना, संवर होना, संवर निर्जरा की वृद्धि होना, पुण्य बन्धना, पुण्य का उत्पकर्षण होना, पाप का अपकर्षण होना, पाप का पुण्य रूप संक्रमण [बदलना] गुण है।

प्रश्न २७९ – दोष क्या-क्या है ?

उत्तर – सम्यक्त्व का सर्वथा नाश या आंशिक हानि होना, संवर निर्जरा का सर्वथा नाश या हानि होना, पाप का बन्धना, पाप का उत्पकर्षण होना, पुण्य का अपकर्षण होना, पुण्यप्रकृति का पाप प्रकृति में बदलना दोष है।

प्रश्न २८० – राग और उपयोग में किन कारणों से भिन्नता है ?

उत्तर – राग औदयिक भाव है। उपयोग क्षयोपशमिक भाव है। राग चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है। उपयोग ज्ञानगुण की क्षयोपशम रूप पर्याय है। राग में चारित्रमोह का उदय निमित्त कारण है और उपयोग में ज्ञानावरण का क्षयोपशम निमित्त कारण है।

राग का अनुभव मलिनता रूप है – ज्ञान का अनुभव स्वभाव रूप [जानने रूप] है। राग से बन्ध ही होता है। उपयोग से बन्ध नहीं ही होता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति में दोनों स्वतंत्र रूप से पाये जाते हैं अर्थात् हीनाधिक पाये जाते हैं या ज्ञान तो पाया जाता है पर राग नहीं पाया जाता। ये दृष्टान्त इनकी भिन्नता को सिद्ध करते हैं।

ग्रन्थराज श्री पञ्चाध्यायी

द्वितीय खण्ड/सातवीं पुस्तक

सूत्र १७०७ से १९०९
आत्मा के औदयिक आदि ५३ भावों का वर्णन
मंगलाचरण
परम पुरुष निज अर्थ को साध गये गुण वृन्द ।
आनन्दामृत चन्द्र को, वन्दत हूँ सुख कन्द ॥

विषय परिचय

१. आप जानते हैं कि ग्रन्थकार सूत्र ७९८-७९९-८०० में जीव के सामान्य स्वरूप का निरूपण कर आये हैं जो द्रव्यार्थिक नय का विषय है। जीव का सामान्य स्वरूप सब जीवों में एक जैसा है और त्रिकाल एकरूप है। यह जीव के निरूपण की प्रथम पद्धति है।

२. उसी जीव के विशेष स्वरूप को, जो पर्यायार्थिक नय का विषय है, निरूपण करने की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार ने सूत्र ९५८ में की थी। इस दृष्टि से जीव का निरूपण अखण्ड परिणमन की अपेक्षा किया जाता है। इसको चेतना कहते हैं। इस अपेक्षा से सब जीवों का परिणमन तीन प्रकार है - ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। ज्ञानियों के ज्ञानचेतना की मुख्यता है और अज्ञानियों का परिणमन तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना रूप ही होता है। सो इसका विशद स्पष्टीकरण ग्रन्थकार ने सूत्र ९६० से १७०६ तक किया। यह जीव निरूपण की दूसरी पद्धति है।

३. जीव का तीसरा निरूपण खण्ड परिणमन की अपेक्षा किया जाता है। जीव के अनन्त गुणभेद करके प्रत्येक गुण का परिणमन पहले से चौदहवें गुणस्थान तक और सिद्ध में किस-किस रूप से होता है - यह औदयिक आदि ५ भावों के ५३ भेदों द्वारा बतलाया जाता है। इससे जीव के सम्पूर्ण अन्तरङ्ग भावों का ख्याल आ जाता है और जीव को अपने स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग स्पष्ट दिग्दर्शन हो जाता है। सो अब ग्रन्थकार जीव तत्त्व का निरूपण पर्यायार्थिक नय से गुणभेद करके सूत्र १७०७ से १९०९ तक २०३ सूत्रों में इस सम्पूर्ण पुस्तक में करेंगे।

२+३. उपर्युक्त २ और ३ नम्बर के निरूपण को यूं भी कह सकते हैं कि जीव भेदाभेदात्मक वस्तु है। उसका परिणमन भी भेदाभेदात्मक होता है। अभेद परिणमन की अपेक्षा निरूपण सूत्र ९६० से १७०६ तक किया और अब शेष ग्रन्थ में भेद परिणमन की अपेक्षा निरूपण करेंगे। विशेष वस्तु निरूपण के अवान्तरगत ही यह निरूपण है जो सूत्र ७६९ से प्रारम्भ हुआ था।

भूमिका

(सूत्र १७०७ से १७२६ तक २०)

शङ्का

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोऽपि सर्वथा ।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचन ॥ १७०७ ॥

अन्वयः - ननु सर्वः अपि जीवः सर्वथा चिन्मात्रः एव अस्ति किं तत्रापि तदाद्याः केचन अन्ये गुणाः च सन्ति।

शब्दार्थ - सर्वः अपि जीवः = सभी जीव, जीव मात्र। सर्वथा = एकान्त रूप से। चिन्मात्रः = अखण्ड चेतना रूप।

अन्वयार्थ - क्या जीवमात्र अखण्ड चेतना रूप ही है या उस जीव में गुणभेद करके चेतना आदिक (चेतन स्वरूप) अन्य गुण भी हैं (गुण भेद होने पर भी जीव के सब गुण चेतन हैं और अजीव के अचेतन हैं)।

भावार्थ - शिष्य का यह आशय है कि महाराज! आपने सूत्र ९६० से १७०६ तक जो जीव का अखण्ड चेतना परिणमन रूप से निरूपण किया - क्या बस पर्यायदृष्टि से जीव को इसी रूप समझा जाता है या कोई ऐसी पद्धति भी है कि यह चेतना का अखण्ड परिणमन बना रहे और इसके और खण्ड करके - गुणभेद करके जीव की विशेष

जानकारी की जा सके ? यदि हो तो कृपा वह भी समझाइये। शिष्य का आशय ऐसा है कि क्या जीव सर्वथा अखण्ड चेतना परिणमन रूप है जैसाकि समझा कर आये हैं या वह चेतना किसी प्रकार खण्ड रूप भी है ?

समाधान सूत्र १७०८ से १७४० तक ३३

उच्यतेऽनन्तधर्माधिरूढोऽप्येकः सचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥ १७०८ ॥

अन्वयः - सचेतनः एकः अपि अनन्तधर्माधिरूढः उच्यते यतः यावत् अर्थजातं अस्ति तावत् अनन्तगुणात्मकं स्यात्।

अन्वयार्थ - वह जीव अखण्ड चेतना की अपेक्षा एक प्रकार का होने पर भी अनन्तधर्माधिरूढ़ (अनन्तगुणयुक्त) कहा जाता है क्योंकि जितना भी पदार्थसमूह है - सब अनन्तगुणात्मक है।

भावार्थ - उत्तर में ग्रन्थकार समझाते हैं कि भाई ! हम एकान्ती नहीं हैं - अनेकान्ती हैं। जीव को अखण्ड भी मानते हैं और खण्ड भी मानते हैं। जैसाकि हम तुम्हें दूसरी पुस्तक में समझाकर आये हैं कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ सत् रूप है और सत् अस्ति-नास्ति आदि ४ युगलों से गुम्फित है। उसमें एक युगल एक-अनेक भी है - जिसका अर्थ हम आपको समझा आये हैं कि पदार्थ अखण्ड होने के कारण एक है और अनन्त गुण पर्याय भेद होने के कारण अनेक है। जीव भी एक पदार्थ है। अन्तर केवल इतना ही है जीव चेतन पदार्थ है - शेष अचेतन पदार्थ हैं पर चेतन-अचेतन कोई भी पदार्थ हो - सब भेदाभेदात्मक हैं। जीव भी भेदाभेदात्मक है। सो अभेद की दृष्टि से तो इसका स्वरूप हम तुम्हें समझा चुके हैं। अब भेद दृष्टि से निरूपण करते हैं।

अब यह बताते हैं कि जिस प्रकार से वह जीव अखण्ड चेतना परिणमन की अपेक्षा जानने योग्य है जैसा कि सूत्र ९६० से १७०६ तक बतलाकर आये हैं - उसी प्रकार वह जीव चेतना के अनन्त गुण भेद करके भी जानने योग्य है जैसाकि अब सूत्र १७०७ से १९०१ तक निरूपण करेंगे ताकि उसकी विशेष जानकारी हो सके।

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः ।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १७०९ ॥

अन्वयः - च तत्रापि तत्परीक्षकैः अभिज्ञानं ज्ञातव्यं। वक्ष्यमाणं अपि युक्तिस्वानुभवागमात् साध्यं ।

शब्दार्थ - अभिज्ञानं ज्ञातव्यं = विशेष रूप से जानकारी करनी चाहिये।

अन्वयार्थ - और उसमें भी उस जीव की परीक्षा करने वालों के द्वारा (अर्थात् उस जीव को विशेष रूप से जानने के इच्छुक पुरुषों द्वारा) उस अनन्तगुणात्मक जीव में विशेष रूप से जानकारी करनी चाहिये। आगे कहे जानेवाला अनन्त गुणभेद भी जीव में युक्ति, स्वानुभव और आगम से सिद्ध करने योग्य है (समझने योग्य है)।

भावार्थ - भाई ! सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान बलवान् होता है। अखण्ड चेतना परिणमन की अपेक्षा जीव का ज्ञान करना सामान्य ज्ञान है और गुण पर्याय भेद करके उसके प्रत्येक अवयव को जानना विशेष ज्ञान है - विशेष से उसका विशद स्वरूप (नक्शोनिगार) भली-भाँति झलकने लग जाता है। अतः जिनकी इच्छा जीव को परीक्षापूर्वक भली-भाँति जानने की हो - उन्हें चेतना के अनन्त गुण पर्याय भेद करके फिर प्रत्येक गुण और उसकी भिन्न-भिन्न प्रत्येक पर्याय का ज्ञान भी करना चाहिये। जिस प्रकार वह अखण्ड जीव ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना की अपेक्षा बराबर अनुभव सिद्ध है - उसी प्रकार गुण पर्याय भेद से भी वह जीव बराबर युक्ति और अनुभव से सिद्ध है।

उस चेतना के अनन्त गुणभेद करके प्रत्येक गुण का नाम, उसका लक्षण और उसके कितने प्रकार के परिणमन - यह सब जानना चाहिये जैसे चेतना में ज्ञान[१], दर्शन[२], सम्यक्त्व[३], चारित्र[४], सुख[५], वीर्य[६], इत्यादिक अनन्त गुण हैं - इस प्रकार तो उनके नाम सीखे। स्वपर को साकार जानने वाला ज्ञान है, सबका निराकार रूप से प्रतिभासक दर्शन है, स्व की स्व रूप से और पर की पर रूप से श्रद्धा करने वाला सम्यक्त्व है, पराश्रय की श्रद्धा और पर में लीनता रूप पराचरण के त्यागपूर्वक स्व में रमने वाला चारित्र है, आह्लादस्वरूप आत्मिक परिणाम सुख है, अपनी परिणति में पुरुषार्थस्वरूप वीर्य गुण है, इत्यादि - इस प्रकार उनके लक्षण सीखे। फिर वह ज्ञान गुण सामान्य में एकरूप रहता हुआ भी विशेष में ८ प्रकार का परिणमन करता है अर्थात् उसकी मति[१], श्रुत[२], अवधि[३], मनःपर्यय[४], केवल[५], कुमति[६], कुश्रुत[७], विभंग[८] - ये आठ पर्यायें होती हैं और पहले गुणस्थान से सिद्ध तक कहाँ-कहाँ कौन-कौनसी पर्यायें होती हैं - यह सीखे।

इसी प्रकार दर्शन, गुण, रूप से एक प्रकार रहता हुआ भी, पर्याय में ४ प्रकार से परिणमन करता है – चक्षु[१], अचक्षु[२], अवधि[३] और केवल[४] – अर्थात् दर्शन गुण में ४ पर्यायें होती हैं और पहले से सिद्ध तक कहाँ-कहाँ किसप्रकार है – यह सीखे।

उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण सामान्य में एकरूप रहता हुआ भी विशेष में ६ प्रकार परिणमन करता है – मिथ्यात्व[१], सासादन[२], मिश्र[३], औपशमिक सम्यक्त्व[४], क्षायिक सम्यक्त्व[५] और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व[६], अर्थात् सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण की ६ पर्यायें होती हैं। पहले गुणस्थान में पहली ही होती है, दूसरे में दूसरी, तीसरे में तीसरी, चौथे-पाँचवें-छठे-सातवें में पिछली तीन में से कोई एक, आठवें-नवें-दशवें-ग्यारहवें में क्षायिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व में से कोई एक, बारहवें से सिद्ध तक केवल एक क्षायिक। इस प्रकार उसका परिणमन सीखे।

उसी प्रकार चारित्र, गुण रूप से एक प्रकार का रहता हुआ भी, पर्याय में ७ प्रकार का परिणमन करता है – असंयम[१], संयमासंयम[२], सामायिक[३], छेदोपस्थापना[४], परिहारविशुद्धि[५], सूक्ष्मसाम्पराय[६], यथाख्यात[७]। इनमें पहले चार गुणस्थानों में असंयम ही होता है – पाँचवें में संयमासंयम ही होता है – छठे-सातवें में अगले तीन में से पहले दो या तीनों होते हैं – आठवें, नवें में सामायिक वा छेदोपस्थापना होता है। दशवें में सूक्ष्मसाम्पराय तथा ग्यारहवें से चौदहवें तक यथाख्यात होता है और सिद्ध में इस गुण की पर्याय को सम्यक्त्व में ही समाविष्ट कर देते हैं।

इसीप्रकार सुख गुण, सामान्य में एक जैसा होने पर भी, विशेष में स्वभाव विभाव रूप दो प्रकार परिणमता है। विभाव में भी साता-असाता दो अवान्तर भेद हैं। स्वभाव में भी एकदेशस्वभाव चौथे से बारहवें तक और सर्वदेशस्वभाव तेरहवें से सिद्ध तक।

इसप्रकार जीव के अनन्त गुणों के नाम, उनके लक्षण, उनके परिणमन (पर्याय भेद) गुरुगम से बराबर यथायोग्य सीखे। इसका फल यह होगा कि जीव का साङ्गोपाङ्ग विशद रूप से दिग्दर्शन होगा। सामान्य (ज्ञान) से विशेष (ज्ञान) बलवान होता है। जीव को अधिक सन्तुष्टि मिलती है।

फिर एक बात और कहते हैं कि पहले तो यह सब चर्चा आगम के आधार पर सीखनी चाहिये। फिर युक्ति से (लक्षण प्रमाण नय निक्षेप से) निर्णय करना चाहिये कि जैसा हमने सीखा है – बराबर वैसा ही है – फिर अपने अनुभव से मिलाना चाहिये क्योंकि स्वयं जीव तो है ही। अपने में अनन्त गुण भी हैं। उनका परिणमन भी हो रहा है। सो जैसा-जैसा परिणमन याद किया है – मेरे में ठीक उसी के अनुकूल है या नहीं। मेरे अनुभव में ऐसा आता है या नहीं – बराबर मिलान करे और जिस गुण की निर्मल पर्याय अपने को प्रगट नहीं है – उसका पुनः-पुनः विचार करके अपनी आत्मा से निर्णय करे कि वह बात बराबर उतरती है या नहीं। तब जीव का परिचय होगा। आप कहेंगे – इतनी सरदर्दी कौन करेगा। भाई ! बसाती की दुकान में कितने सौदे हैं – क्या सबके नाम, कार्य, दाम, घटना-बढ़ना याद नहीं रहता – क्या डॉक्टर को कितनी दवाइयों के नाम, उनके गुण, उनका प्रयोग याद नहीं रहता। जिसकी रुचि उसकी मुख्यता। वीर्य का झुकाव रुचि के अनुसार हुआ करता है। आज तक पर में रुचि रही है। रुपया कमाने के लिये ज्ञान का भरसक उपयोग करता है और यहाँ कहता है कि कौन सरदर्दी करे। भाई ! जिसे अपना दुःख मिटाना है। संसार-सागर को काटना है। आत्मा को अनन्त सुखधाम मोक्षरूप करना है – उसे ठीक रूप से तत्त्वनिर्णय करना ही पड़ेगा। यह जभी तक बोझ मालूम हो रहा है जब तक इसकी रुचि जागृत नहीं हुई है। जब आत्मा की रुचि जागृत हो जायेगी तो फिर परिश्रम मालूम न देगा। लीलामात्र से ही ज्ञानी सीख जाते हैं। यह ध्यान रहे कि मुहर अपने अनुभव से ही लगती है। बिना अनुभव सत्-असत् की विशेषता रहित पागलवत् बकवास है। चाहे ग्यारह अङ्ग तक क्यों न पढ़ लिये जायें। भले ही थोड़ा अभ्यास क्यों न हो – वह अनुभव सिद्ध होना चाहिये। आजकल अभ्यास तो बहुत बढ़ गया है पर विचार बहुत कम हो गया है किन्तु अनुभव बिना सब शून्य है। यही बात मूल सूत्र में है कि जीव इन गुणभेदों को आगम, युक्ति और अनुभव से निर्णय करे। आप मोक्षमार्गी हों – यही हमारा आशीर्वाद है और यही हमारा इस टीका परिश्रम का उद्देश्य है। सफल हो – ऐसी भावना है। अब इसी कथन को ग्रंथकार के मुखारविन्द से सुनिये। वह इस प्रकार है –

तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम् ।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम् ॥ १७१० ॥

अन्वयः – तद्यथायथं-जीवस्य चारित्रं, दर्शनं, सुखं, ज्ञानं, सम्यक्त्वं इति एते स्फुटं विशेषगुणाः स्युः।

अन्वयार्थ – वह इस प्रकार कि - जीव के चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान, सम्यक्त्व - ये प्रगट रूप से विशेष गुण हैं।

भावार्थ - एक द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं - एक सामान्य दूसरे विशेष। जो गुण छहों द्रव्यों में पाये जाते हैं उन्हें सामान्य गुण कहते हैं और जो सबमें न पाये जाकर किसी-किसी में पाये जाते हैं उन्हें विशेष गुण कहते हैं। क्योंकि उपर्युक्त गुण जीव में ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते अतः ये जीव के प्रत्यक्ष-प्रगट अनुभव में आने वाले विशेष गुण हैं। इनका स्पष्टीकरण ग्रन्थकार स्वयं आगे करेंगे - अतः यहाँ विशेष भावार्थ की आवश्यकता नहीं है।

अब जीव के कुछ सामान्य गुणों का निर्देश करते हैं:-

वीर्यं सूक्ष्मोऽवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥ १७११ ॥

अन्वयः - चिदात्मकः वीर्यं सूक्ष्मः अवगाहः अव्याबाधः अगुरुलघुसंज्ञं च स्यात्। इमे [जीवस्य] सामान्यगुणाः स्युः।

अन्वयार्थ - चैतन्यात्मक वीर्य[१], सूक्ष्म[२], अवगाह[३], अव्याबाध[४], और अगुरुलघु[५] नामक इत्यादिक ये जीव के सामान्य गुण हैं।

भावार्थ - सामान्य गुण हैं तो जीव में भी तथा अन्य शेष पाँच द्रव्यों में भी फिर भी एक विशेषता है। जीव के सामान्य गुण चेतन रूप हैं और शेष पाँच द्रव्यों के वही सामान्य गुण जड़ रूप हैं जैसे :-

(१) वीर्यगुण - ''स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः'' - स्वरूप की रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति [वीर्यगुण]। यह छहों द्रव्यों में पाया जाता है क्योंकि विना वीर्य के कोई भी द्रव्य अपने स्वरूप की रचना नहीं कर सकता। अतः यह सामान्य गुण है। किन्तु जीव का वीर्य चेतन स्वरूप है - शेष द्रव्यों का वीर्य जड़ स्वरूप है।

(२) सूक्ष्मगुण - उसको कहते हैं जो इन्द्रियों से ग्रहण न हो। सो पाँच द्रव्य तो अमूर्तिक हैं। इन्द्रियों से ग्रहण होते ही नहीं। अतः वे तो हैं ही सूक्ष्म। अब रहा पुद्गल। पुद्गल परमाणु दशा में शुद्ध द्रव्य कहलाता है। स्कन्ध औपचारिक द्रव्य है - उसका यहाँ कथन नहीं है - न प्रकरण है। परमाणु दशा में पुद्गल भी सूक्ष्म है। अतः यह सूक्ष्म गुण भी छहों द्रव्यों में पाये जाने से सामान्य है। जीव का सूक्ष्मतत्त्व चेतनरूप है। शेष का जड़ रूप है।

(३) अवगाह - छहों द्रव्य एक स्थान में रहते हैं और एक दूसरे को उसी स्थान में रहने को जगह दे देते हैं। यह अवगाह सामान्य गुण है जो छहों द्रव्यों में पाया जाता है। जीव का अवगाह चेतनरूप है - शेष का जड़रूप।

(४) अव्याबाध - का यह अर्थ है कि एक द्रव्य अनादि अनन्त अपने चतुष्टय में अपना कार्य करता है - दूसरे को कोई बाधा नहीं देता। सो यह भी सभी द्रव्यों में पाये जाने से सामान्य गुण है। जीव का अव्याबाध चेतनरूप है - शेष का जड़रूप है।

(५) अगुरुलघु - 'षटस्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका-अगुरुलघुत्त्वशक्तिः'- षटस्थानपतितवृद्धिहानि रूप से परिणमित, स्वरूप-प्रतिष्ठत्व का कारणरूप [वस्तु के स्वरूप में रहने के कारणरूप] जो विशिष्ट गुण है - उस स्वरूप अगुरुलघुत्त्व शक्ति। इस षट्स्थानपतित हानिवृद्धि का स्वरूप 'गोमटसार' ग्रन्थ से जानना चाहिये। अविभाग प्रतिछेदों का संख्या रूप षट्स्थानों में समाविष्ट वस्तु स्वभाव की हानि-वृद्धि जिस गुण से होती है और जो वस्तु को स्वरूप में स्थिर होने का कारण है, ऐसा कोई गुण छहों द्रव्यों में है, उसे अगुरुलघुत्त्व गुण कहा जाता है। ऐसी अगुरुलघुत्त्व शक्ति भी आत्मा में है। आत्मा में चेतनरूप है-अन्यों में जड़रूप है।

आपको यह शंका हो सकती है कि ग्रंथकार ने प्रसिद्ध अस्तित्त्व, वस्तुत्त्व आदि को छोड़कर ये और क्यों लिख दिये? सो भाई! वे तो सब जानते ही हैं। यह ऊँचा ग्रंथ है। आचार्य देव ने जानबूझ कर अन्य लिखे हैं ताकि जीव को विशेष ज्ञान हो। यह तो आपने पढ़ा ही है कि एक द्रव्य में अनन्त सामान्य गुण हैं। आचार्य महाराज को तो महान् ज्ञान होता है - उन्होंने जो उचित समझे वे लिख दिये। फिर आपको यह भी शंका हो सकती है कि ये तो जीव के विशेष प्रतिजीवी गुण बतलाये गये हैं - सामान्य गुण हैं ही नहीं। भाई! पदार्थ अनन्तगुणरूप है। वचन संख्यात परिमित है। जिसप्रकार एक ही नाम के कई व्यक्ति होते हैं - वही बात यहाँ है।

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धा निसर्गतः ।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृताः स्वतः ॥ १७१२ ॥

अन्वयः - सामान्याः वा विशेषाः गुणाः निसर्गतः सिद्धाः। टंकोत्कीर्णाः इव आजस्रं स्वतः प्राकृताः तिष्ठन्तः।

अन्वयार्थ - सामान्य अथवा विशेष गुण स्वभाव से सिद्ध हैं। टंकोत्कीर्ण की तरह नित्य स्वतः अपने प्राकृत स्वभाव में ठहरे रहते हैं।

भावार्थ - कोई यह सोचे कि इस द्रव्य में ऐसे विशेष गुण क्यों हैं या सबमें सामान्य गुण क्यों हैं तो कहते हैं कि उनका स्वभाव ही वैसा है। स्वभाव सिद्ध वस्तु में क्यों का प्रश्न नहीं होता।

नीचे की पंक्ति का अर्थ यह है कि परिणमन [पर्याय] को गौण करके यदि गुणों को गुण दृष्टि से देखा जाय तो वे सदा अपने स्वभाव में ज्यों के त्यों बने रहते हैं। जिसप्रकार टांकी से धातु के पतरे में खोदी हुई तस्वीर वैसी की वैसी बनी रहती है - उसमें फर्क नहीं आता - उसी प्रकार गुणों का पर्याय में हीनाधिक परिणमन होते हुये भी वे सामान्य में स्वतः सिद्ध स्वभाव के कारण ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

तथापि प्रोच्यते किंचिच्छ्रूयतामवधानतः ।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ १७१३ ॥

अन्वयः - तथापि किञ्चित् उच्यते। अवधानतः श्रयताम्। न्यायबलात् समायाताः प्रवाहः केन वार्यते। न केनापि।

अन्वयार्थ - तो भी कुछ कहा जाता है। सावधानता से सुनो। न्यायबल से आया हुआ गुणों के कथन का प्रवाह किसके द्वारा रोका जा सकता है? किसी के द्वारा भी नहीं।

भावार्थ - जैसे हमने जीव का निरूपण अखण्ड परिणमन की अपेक्षा विस्तारपूर्वक किया वैसे ही अब गुण पर्याय भेद करके खण्ड निरूपण भी विस्तारपूर्वक किया जायेगा। आप ध्यान से पढ़ते जाइये।

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च ।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥ १७१४ ॥

अन्वयः - च तेषु गुणेषु स्वतः वैभाविकी शक्तिः अस्ति। सा जन्तोः संसृत्यवस्थायां स्वहेतुतः विकृता अस्ति।

अन्वयार्थ - और उन गुणों में स्वतः एक वैभाविकी शक्ति [गुण] है जो जीव के संसार अवस्था में [अनादि काल से] अपने कारण से [उपादान की स्वतन्त्र योग्यता से] विकृत अवस्था में है।

भावार्थ - जैसे जीव में उपर्युक्त ज्ञान, दर्शन आदि विशेष गुण तथा वीर्य आदि सामान्य गुण स्वतः सिद्ध हैं - उसी प्रकार जीव में एक वैभाविक शक्ति भी स्वतःसिद्ध है। यदि जीव में यह वैभाविक शक्ति न होती तो इसका परिणमन भी सदा धर्मद्रव्यवत् एक जैसा ही रहता। इसलिये ग्रंथकार ने सर्वप्रथम वैभाविक शक्ति के कथन को आवश्यक समझा है क्योंकि उनको यहाँ जिन औदयिक आदि भावों का वर्णन करना है - उनका मूल कारण यह वैभाविकी शक्ति ही है। उपादान में वैभाविकी शक्ति है तभी तो औदयिक आदि ४ भावों का जन्म हुआ है अन्यथा धर्मद्रव्यवत् एक पारिणामिक भाव ही रहता।

कोई यहाँ कहे कि वैभाविकी शक्ति जीव में ही क्यों है - धर्मद्रव्य में क्यों नहीं तो कहते हैं कि इसका कुछ उत्तर नहीं। स्वभाव तर्क के अगोचर है। वह शक्ति निष्कारण स्वतः है। फिर कहते हैं कि अच्छा वह शक्ति तो जीव में स्वतः है पर वह विकृत अवस्था में क्यों है - स्वभाव अवस्था में क्यों नहीं तो इसका भी यही उत्तर देते हैं कि उसकी विकृत अवस्था भी स्वतः अनादि से निष्कारण ही है। वस्तु का कुछ ऐसा ही स्वभाव है। इसमें तर्क को अवकाश नहीं है। कोई कहे कि निमित्त के कारण विकृत है सो बात भी नहीं है। जो पर्याय स्वभाव में विकृत होने की योग्यता न हो तो निमित्त उत्पन्न नहीं कर सकता। निमित्त की तो उपस्थिति मात्र है। जीव अपनी वैभाविक शक्ति के कारण स्वयं निमित्त का आश्रय लेकर विभाव परिणमन को करता है न कि निमित्त कराता है। ऐसा यहाँ ग्रंथकार का मूलसूत्र में स्पष्ट भाव है। जिस-जिस गुण की पर्याय में विभाव है वह अपनी-अपनी योग्यता से है। विभाव के उदय को [प्रगटता को] औदयिक भाव कहते हैं। विभाव के उपशम को [दवने को] औपशमिक भाव कहते हैं। विभाव के आंशिक उदय अनुदय को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं और विभाव के सर्वथा क्षय को क्षायिक भाव कहते हैं। इस प्रकार इन सब भावों का सम्बन्ध सीधा वैभाविकी शक्ति से है।

यथा वा स्वच्छतादर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः ।
तथाप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृतास्त्यर्थतोऽपिसा ॥ १७१५ ॥

अन्वयः - वा यथा आदर्शे स्वच्छता प्राकृता अस्ति तथा अस्य [आदर्शस्य] आस्य संयोगात् सा वैकृता अपि अर्थतः निसर्गतः अस्ति।

अन्वयार्थ - और जैसे दर्पण में स्वच्छता प्राकृतिक [स्वतः] है - उसी प्रकार उस [दर्पण] में मुख के संयोग से वह स्वच्छता विकृत अवस्था में भी पदार्थ रूप से स्वतः है [अर्थात् पदार्थ स्वयं ही अपने पर्याय स्वभाव से विकृत और अविकृत दोनों दशाओं को धारण करता है]।

भावार्थ - जैसे निर्मलता दर्पण में रहती है - उसीप्रकार मुख का संयोग है निमित्त जिसमें ऐसी अनिर्मलता [मलिनता] भी उसी दर्पण पदार्थ में रहती है। जैसे स्वच्छता स्फटिक मणि में रहती है - वैसे ही डांक है निमित्त जिसमें ऐसा रंगीनपना भी स्फटिक में ही रहता है। दोनों अवस्थाओं को वह स्फटिक ही स्वयं धारण करता है। जैसे ठण्डापना पानी में स्वभाव से रहता है - वैसे अग्नि का संयोग है निमित्त जिसमें ऐसा गरमपना भी पानी में ही रहता है अर्थात् दोनों अवस्थायें वह पदार्थ ही स्वयं धारण करता है और अवस्थान्तर [विकृत अवस्था] धारण करने पर भी वह कहीं दूसरा पदार्थ नहीं हो जाता - वही का वही रहता है केवल उसमें कुछ विकार आ जाता है। मलिनता आ जाती है। उसी प्रकार यहाँ जो औदयिक आदि भावों का निरूपण करेंगे - वह जीव में ही वास्तव में होने वाला विकार है - मलिनता है और उस आत्मा में ही है। उनके उत्पन्न होने पर आत्मा अनात्मा [जड़] तो नहीं हो जाता पर विकारी जरूर होता है। कोई निश्चय की अधिक पकड़वाला द्रव्यार्थिक नय के स्वरूप को ही सत्य माने और इस विकृतपने को वास्तविक न समझे या दर्पण में धूलीवत् ऊपर तरता ही समझे तो यह उसकी भूल है। वह तो उसी का परिणमन है। द्रव्यजात भाव है *। हाँ विकृतपना अनित्य भाव है-नित्य स्वभाव भाव नहीं है। पर जैसे स्वभाव भाव उसकी कृति है, उसी प्रकार यह विभाव भाव भी उसी की कृति है। यहाँ कथन पर्यायार्थिक नय का चल रहा है। अतः उसी की सिद्धि कर रहे हैं। वस्तु वास्तव में अनेकान्त रूप है। केवल सामान्य द्रव्यस्वभाव को मानकर पर्याय को कुछ न मानने से एकान्त मिथ्यात्व का महान दोष है ऐसा ग्रन्थकार का यहाँ फरमान है। इसी को अब स्पष्ट करते हैं -

वैकृतत्वेऽपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित् ।
प्रकृतौ यद्विकारत्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥ १७१६ ॥

अन्वयः - भावस्य वैकृतत्त्वे अपि क्वचित् अर्थान्तरं न स्यात् । प्रकृतौ यत् विकारत्त्वं तत् ही वैकृतं उच्यते।

अन्वयार्थ - पदार्थ के विकृतपना होने पर भी कहीं वह दूसरा पदार्थ [निमित्त रूप] नहीं हो जाता। प्राकृतिक में [स्वभाव में] जो विकारपना है - वह ही विकृतपना कहा जाता है।

भावार्थ - दर्पण के मुखाकार रूप परिणत होने पर कहीं वह दर्पण ही बदल कर मुखरूप नहीं हो जाता। स्फटिकमणि में विकार आने से कहीं वह फूल नहीं हो जाती। पानी में गर्मी आ जाने से कहीं वह पानी बदलकर आग नहीं हो जाता - उसीप्रकार आत्मा के औदयिक आदि भावों रूप परिणत होने पर भी कहीं वह कर्म या जड़ नहीं हो जाता। आत्मा ही रहता है। विकार होने से कहीं पदार्थ अपने स्वरूप से पलटकर दूसरे पदार्थरूप नहीं हो जाता है किन्तु वह विकार, मात्र उसकी क्षणिक वर्तमान अवस्था जितना है। जो पदार्थ ही बदल जाय तो वह विकार न कहलाय परन्तु दूसरा ही पदार्थ बन जाय। जो स्वभावसिद्ध पदार्थ है उसका त्रिकालिक स्वरूप तो जैसे का तैसा कायम रहता हुआ मात्र उसकी क्षणिक वर्तमान अवस्था में यह अशुद्धता-विकार उस समय की निज योग्यतानुसार होता है।

यथा हि वारुणीपानाद्बुद्धिर्नाबुद्धिरेव नुः ।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्त्वं तदर्थसात् ॥ १७१७ ॥

अन्वयः - यथा हि वारुणीपानात् नुः बुद्धिः अबुद्धिः एव न स्यात्। बुद्धौ तत्प्रकारान्तरं तत् अर्थसात् वैकृतत्त्वं अस्ति।

अन्वयार्थ - जैसे मद्य के पीने से जीव की बुद्धि अबुद्धि [जड़-पुद्गल] नहीं हो जाती है [किन्तु] बुद्धि में जो वह प्रकारान्तर [दूसरा रूप] हो जाता है - वह ही वास्तव में विकृतपना है।

---

* देखो श्रीप्रवचनसार सूत्र १८६

भावार्थ - जिस प्रकार मदिरा इत्यादि पीने से बुद्धि मलिन होकर स्त्री को माँ और माँ को स्त्रीवत् जानने तो लगती है पर बुद्धि कहीं स्वयं मदिरा या पुद्गल नहीं हो जाती; उसी प्रकार मोहनीय आदि कर्म को अनुसरण करके आत्मा मिथ्यात्व आदि भावों रूप परिणत तो हो जाता है पर कहीं जड़ नहीं हो जाता। यह जो वह स्व को पर और पर को स्व आदि रूप विपरीत जानने का कार्य करने लगता है - बस यही उसमें विकारीपना-खराबी-मलिनता है। इसी प्रकार जिन-जिन गुणों के कार्य में जो विपरीतता आ जाती है - बस वह ही विकृतपना है और वह ही ये औदयिक आदि भाव हैं। अब ग्रन्थकार स्वयं इसी को दृष्टान्त में घटाते हैं।

प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्रं तदेव यत् ।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥ १७१८ ॥

अन्वयः - यत् प्राकृतं वापि वैकृतं अस्ति तत् ज्ञानमात्रं एव [यथा] यावत् अत्र इन्द्रियायत्तं तत् सर्वं वैकृतं विदुः।

अन्वयार्थ - क्योंकि जो प्राकृत [स्वभाव] अथवा वैकृत [विभाव] है - वह सब ज्ञानमात्र [ज्ञानस्वरूप-चेतनास्वरूप] ही है जैसे यहाँ [संसार अवस्था में] जो कुछ इन्द्रिय आधीन ज्ञान है - उस सबको वैकृत [विकारी] ज्ञान कहते हैं [स्वभाविक ज्ञान हो अथवा वैभाविक ज्ञान हो सभी ज्ञान ही कहा जायेगा क्योंकि ज्ञानपना दोनों ही अवस्थाओं में है परन्तु इतना विशेष है कि जितना भी इन्द्रियाधीन ज्ञान है - वह सब वैभाविक है]।

भावार्थ - यहाँ यह बताया है कि आत्मा का प्राकृतिक भाव तो है ही चेतनरूप पर विकृतभाव भी चेतनरूप ही है। क्योंकि वह चेतना का ही रूपान्तर है। ऐसा नहीं है कि स्वभाव भाव तो चेतनरूप हो और विभावभाव जड़रूप हो जैसे आत्मा के सम्यक्त्व गुण का सम्यग्दर्शन परिणमन चेतनरूप है वैसे ही उसका मिथ्यादर्शन परिणमन भी चेतन रूप है। इसी प्रकार सब गुणों का समझ लेना। इतना तो प्रथम पंक्ति का अर्थ है।

अब नीचे की पंक्ति का अर्थ लिखते हैं। आचार्य महाराज स्वभाव विभाव में आत्मा के सबसे प्रधान ज्ञान गुण का दृष्टान्त देते हैं कि जो ज्ञान की एक समय में लोकालोक को जानने की स्वाभाविक कैवल्य दशा है - वह तो स्वभाविक दशा है और वही ज्ञान पहले से बारहवें गुणस्थान तक जो इन्द्रियाधीन होकर विपरीत कार्य करता है - वह उसी ज्ञान की वैकृत अवस्था है; पर दोनों दशाओं में रहता तो ज्ञान ज्ञान ही है। वैकृत अवस्था में जड़ नहीं हो जाता। यही दशा सब दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, सुख, वीर्य आदि गुणों में समझ लेना। एक बात और है - स्वभाव तो एकरूप ही हुआ करता है - उसमें नानापना नहीं होता - हाँ विभाव के अनेकों टाइप हैं। जैसे ज्ञान का स्वभाव तो एक केवलज्ञान है और विभाव मति, श्रुत आदि अनेक प्रकार हैं। इसी प्रकार उन सब गुणों का निर्मल स्वभाव तो एक क्षायिक पर्याय रूप ही है। शेष सब पर्यायें विभावरूप हैं।

अब यह बताते हैं कि विभाव रूप परिणमन होने पर कुछ हानि भी है या नहीं।

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि ।
जीवस्यातीवदुःखत्वात्सुखस्योन्मूलनादपि ॥ १७१९ ॥

अन्वयः - तत्र [वैकृतावस्थायां] जीवस्य अतीवदुःखत्वात् सुखस्य उन्मूलनात् अपि क्षतिः नूनं अस्ति-अक्षतिः वास्तवात् अपि न अस्ति।

अन्वयार्थ - वहाँ [वैकृत अवस्था में] जीव के अतीव दुःखपना होने से और सुख का उन्मूलन भी होने से क्षति [हानि] निश्चय से है - अक्षति [अहानि] वास्तव में नहीं है।

भावार्थ - कुछ लोगों का ऐसा ख्याल है कि जब ज्ञान मतिज्ञानरूप परिणमन करता है तो नीचे केवलज्ञान है - ऊपर यह मतिज्ञान तरता है - तो ग्रंथकार समझाते हैं कि यह बात नहीं है। केवलज्ञान भी पर्याय है। मतिज्ञान भी पर्याय है। पर्याय एक समय में एक ही हुआ करती है। केवलज्ञान तो उस समय शक्तिरूप है पर पर्याय में उसकी वास्तव में क्षति हो रही है। पर्याय में वह मतिज्ञानरूप ही है। इसी प्रकार मिथ्यात्व भाव ऊपर हो और सम्यक्त्व नीचे हो - ऐसा नहीं है किन्तु सम्यक्त्व शक्ति रूप तो है पर परिणमन उसका वास्तव में मिथ्यात्व रूप ही है। सम्यक्त्व की क्षति [हानि] ही है। किसी-किसी निश्चयाभासी को द्रव्यार्थिक नय की सच्ची पकड़ न होने से [स्वप्रकाशक ज्ञान नहीं होने से] यह पर्याय की हानि को क्षति नहीं समझते। उनके लिये समझा रहे हैं कि वह क्षति वास्तव में है। न हो या ऊपर ही तरती हो - ऐसा नहीं है।

इसके साथ ही साथ एक सिद्धान्त और निर्णय करते हैं कि जो जीव का स्वभाव है – वही सुखरूप है और जितना विकृतपना है – वह सब दुःखरूप है। इसलिये विकृत अवस्था में जीव वास्तव में सुखी नहीं है किन्तु वास्तव में अत्यन्त दुःखी ही है। इसलिये विकृतपने का और दुःख का अविनाभाव है या विकृतपना स्वयं दुःखरूप ही है तथा स्वभाव का और सुख का अविनाभाव है या स्वभावपना स्वयं सुखरूप ही है – ऐसा यहाँ आशय है। यहाँ प्रत्येक गुण की विकृत अवस्था को दुःखरूप कहा गया है और स्वाभाविक अवस्था को सुखरूप कहा गया है।

द्रव्यदृष्टि का ज्ञान कराने के लिये तो ऐसा जरूर कहा जाता है कि "विभाव स्वभाव के ऊपर तरता है – द्रव्य में उसका अस्तित्व किस प्रमाण से सिद्ध करोगे" किन्तु पर्यायदृष्टि से यह बात नहीं है। पर्यायदृष्टि से स्वयं द्रव्य का परिणमन ही उस रूप है। पर्यायदृष्टि से श्रीप्रवचनसार सूत्र १८६ में राग को 'द्रव्यजातस्य' कहा है तथा उसी शास्त्र के सूत्र ८ में कहा है कि द्रव्य जिस समय जिस भाव में परिणमन करता है – उस समय वह उसी रूप है। श्री समयसारजी में द्रव्यदृष्टि की प्रधानता है। श्रीप्रवचनसारजी में दोनों का विस्तार है। अतः द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये अन्यथा जीव अनेकान्त के मर्म को नहीं पा सकेगा और कोई एक का आभासी हो जायेगा। इन भावों में पर्यायदृष्टि का कथन है। यह अङ्क पर्यायदृष्टि की मुख्यता से लिखा जा रहा है। [दोनों नयों के विषय जानने योग्य बराबर हैं किन्तु शुद्धता के लिये आश्रय करने योग्य तो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत सामान्य त्रैकालिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप निज आत्मा ही है ऐसा समझना]। [अनेकान्त भी सम्यक् एकांत ऐसे निज पद की प्राप्ति के सिवाय किसी अन्य हेतु से उपकारी नहीं है]।

अपि द्रव्यनयादेशात् टंकोत्कीर्णोऽस्ति प्राणभृत् ।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीवदुःखवान् ॥ १७२० ॥

अन्वयः – अपि द्रव्यनयादेशात् प्राणभृत् टंकोत्कीर्णः अस्ति [किन्तु पर्यायदृष्ट्या] कश्चित् आत्मसुखे स्थितः न अस्ति प्रत्युत अतीवदुःखवान् अस्ति।

अन्वयार्थ – यद्यपि द्रव्यार्थिक नय के कथन से प्राणी टंकोत्कीर्ण [वैसे का वैसा] है तो भी पर्यायदृष्टि से आत्मसुख में कोई भी स्थित नहीं है – उल्टा अत्यन्त दुःखी है।

भावार्थ – जितनी यह बात सत्य है कि द्रव्यार्थिक दृष्टि से जीव अनन्त गुणों के पूर्णस्वभावरूप अर्थात् सुखरूप स्थित है – उसी प्रकार यह बात भी उतनी ही पूर्ण सत्य है कि उसका परिणमन वर्तमान में उन सब गुणों का विभाव परिणमन होने से अत्यन्त दुःखरूप है। कोई द्रव्यार्थिक नय के एकान्त से जीव का वर्तमान दुःखस्वरूप [विभाव स्वरूप] न माने तो यह उसकी भूल है।

इसी को और स्पष्ट करते हैं। वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। उसके दोनों स्वरूपों का बराबर ध्यान रखना चाहिये। सामान्य शक्तिरूप में मोक्षरूप रहते हुवे भी प्रगट पर्याय में संसार [विभाव] वास्तविक है – यह अब सिद्ध करते हैं क्योंकि पर्याय की मुख्यता से कथन चल रहा है:-

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोऽस्ति ना ।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥ १७२१ ॥

अन्वयः – एतत् एव न अङ्गीकर्तव्यं [यत्] ना बद्धः स्यात् वा अबद्धः स्यात् निर्विशेषात् स्वस्वरूपे स्थितः अस्ति यथा मणिः।

अन्वयार्थ – यह भी स्वीकार नहीं करना चाहिये कि आत्मा चाहे बद्ध [संसारी] हो या अबद्ध [मुक्त] हो, निर्विशेषता से स्वरूप में स्थित है जैसे मणि।

भावार्थ – स्वरूप में स्थिति पर्याय में होती है। अतः कोई द्रव्यार्थिक नय का एकांत पक्षपाती यह कहे कि आत्मा चाहे बद्ध हो या अबद्ध – दोनों अवस्थाओं में पूर्णरूप से स्वभाव में स्थित है जैसे मणि चाहे सर्राफ की दुकान में रखी हो या अंगूठी में लगी हो – एक जैसी ही है। यह बात नहीं है। बद्ध-संसार-विभाव इनका एक ही अर्थ है। अबद्ध-मोक्ष-स्वभाव इनका एक ही अर्थ है। विभाव में आत्मा दुःख में ही स्थित है। स्वभाव में आत्मा सुख में ही स्थित है।

अतः यह नहीं मानना चाहिए कि आत्मा चाहे स्वभाव में स्थित हो, चाहे विभाव में स्थित हो – वह दोनों अवस्थाओं में एक जैसा स्वरूप में स्थित है। सुखी है। [ग्रंथकार ने मणि का दृष्टान्त श्री प्रवचनसार सूत्र ११८ से लिया है]। [यहाँ पर्याय अपेक्षा स्वरूप स्थिति का निरूपण है। द्रव्य अपेक्षा नहीं]।

यदि कोई फिर भी न माने तो दोष दिखलाते हैं –

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद्बाधितो बलात् ।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात् ॥ १७२२ ॥

अन्वयः – यतः जन्तोः चैवं स्थिते पक्षः बलात् बाधितः स्यात्। संसृतिः वा विमुक्तिः वा न स्यात् वा अभेदसात् स्यात्।

अन्वयार्थ – क्योंकि प्राणी के वैसे का वैसा रहने पर पक्ष बलपूर्वक बाधित होता है। संसार अथवा मोक्ष नहीं रहते अथवा संसार और मोक्ष अभेदरूप [एक जैसे] हो जाते हैं।

भावार्थ – यदि बद्ध-अबद्ध दोनों अवस्थाओं में आत्मा एक जैसा ही रहता है तो संसार और मोक्ष कहाँ रहे ? पर्याय अपेक्षा आत्मा स्वभाव में स्थित नहीं है – इसका नाम संसार है और आत्मा स्वभाव में स्थित है – इसका नाम मोक्ष है। दुःख का – विभाव का नाम संसार है। और सुख का – स्वभाव का नाम मोक्ष है। यदि दोनों अवस्थाओं में एक जैसा है तो संसार मोक्ष नहीं रहते अथवा रहते भी हैं तो दोनों एक जैसे रहते हैं क्योंकि जब बद्ध अवस्था में भी आत्मा स्वरूप में स्थित है और अबद्ध अवस्था में भी आत्मा स्वरूप में स्थित है फिर तो वह एक जैसा ही रहा – उसमें कुछ अन्तर न रहा।

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसारः स्यात्कुतो नयात् ।
हटाद्वा मन्यमानेऽस्मिन्ननिष्टत्त्वमहेतुकम् ॥ १७२३ ॥

अन्वयः – चेत् ना स्वस्वरूपे स्थितः संसारः कुतः नयात् स्यात् वा अस्मिन् हटात् मन्यमाने अनिष्टत्त्वं अहेतुकम् ।

अन्वयार्थ – यदि आत्मा स्वरूप में स्थित है तो संसार किस न्याय से रहता है और इस संसार के बिना हेतु के हठपूर्वक मानने पर अनिष्टपने का प्रसंग आता है।

भावार्थ – स्वरूप में स्थित तो मोक्ष में है और यदि संसार में भी स्वरूप में स्थित है तो फिर यह भी मोक्षरूप ही हो गया। संसार न रहा। संसार तो नाम ही स्वरूप में स्थित न होने का है अर्थात् विभाव का है। जहाँ आत्मा स्वरूप में स्थित नहीं है उसी का नाम संसार है। यदि संसार में ही जीव स्वरूप में स्थित है तो अनिष्टपना आता है। उस अनिष्टपने को दिखलाते हैं:-

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः ।
नेष्टमिष्टत्त्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥ १७२४ ॥

अन्वयः – चेत् जीवः सर्वतः शुद्धः मोक्षादेशः निरर्थकः वा अत्रापि इष्टत्त्वं इष्ट न तदर्थ श्रमः वृथा।

अन्वयार्थ – यदि जीव अभी [संसार अवस्था में] सर्वथा शुद्ध है तो मोक्ष का आदेश निरर्थक है। मोक्ष की निरर्थकता को इष्ट मानना इष्ट नहीं है क्योंकि उसके लिये श्रम [पुरुषार्थ] वृथा ठहरता है।

भावार्थ – आगम में जो मोक्ष का स्वरूप निर्देश किया गया है वह यही है कि स्वरूप में स्थिरता को मोक्ष कहते हैं और स्वरूप में स्थिरता तो तुम अभी मानते हो तो वह मोक्ष कथन व्यर्थ हो गया। उसके व्यर्थ होने से उसका उपाय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है – वह व्यर्थ हो गया किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानियों ने मोक्ष का और मोक्षमार्ग का – दोनों का निरूपण किया है।

सर्वं विप्लवतेऽप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम् ।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥ १७२५ ॥

अन्वयः – अपि एवं सर्व विप्लवते – न प्रमाणं न तत्फलं न साधनं न साध्यभावः वा न कारकक्रिया स्यात् ।

अन्वयार्थ – और ऐसा मानने पर सब घुटाला हो जाता है। न प्रमाण रहता है। न उस प्रमाण का फल रहता है। न साधन रहता है। न साध्यभाव रहता है और न कर्त्ता-कर्म ही रहते हैं।

भावार्थ – सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और उसका फल इष्टप्राप्ति, अनिष्टपरिहार और माध्यस्थ भाव है। एकदेश शुद्धभाव साधन है और पूर्ण शुद्धता साध्य है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र साधन हैं और मोक्ष साध्य है। संसार मोक्ष में भावरूप क्रिया करने वाला आत्मा कर्त्ता है – यह पहला कर्त्ताकारक है। विभाव भाव या स्वभाव भाव यह उसका कर्म है – कार्य है – यह दूसरा कर्मकारक है। इसको अध्यात्म में क्रिया भी कहते हैं। कर्म-क्रिया-भाव इनका एक ही अर्थ है।

यदि द्रव्य में स्वभाव और पर्याय में विभाव मानते हो तो सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण बनता है और स्वभाव का ग्रहण और विभाव का त्याग- उसका फल बनता है। विभाव दशा मानते हो तो इसको दूर करने के लिये एकदेश शुद्धभाव साधन और पूर्ण शुद्धभाव साध्य बनता है तथा यदि संसार मोक्ष दोनों पर्यायरूप मानकर उनका करनेवाला आत्मद्रव्य मानते हो तब तो कर्त्ता-कर्म दोनों कारक बनते हैं अन्यथा [अर्थात् यदि अभी आत्मा को शुद्ध मानते हो] तो यह सब व्यवस्था खत्म हो जायेगी। पर यह सब व्यवस्था तो प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है।

उपसंहार

सिद्धमेतावताऽप्येवं वैकृता भावसंततिः।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्त्तिर्दुरुत्तरी ॥ १७२६ ॥

अन्वयः – अपि एतावता सिद्धं। एवं वैकृता भावसंततिः संसारिजीवानां अस्ति [या] दुरुत्तरी दुःखमूर्तिः अस्ति।

अन्वयार्थ – इससे यह सिद्ध हो गया है कि इस प्रकार विकृतरूप भावों की सन्तति संसारी जीवों के है जो दुर्लंघ्य दुःख की मूर्ति है।

भावार्थ – इससे यह सिद्ध हो गया कि औदयिक आदि चार भावों में से औदयिक भाव रूप यह जीव वर्तमान में परिणमन कर रहा है और ये औदयिक भाव दुःखरूप होने से संसारी जीव वास्तव में दुःखी भी है तथा इन दुःखरूप औदयिक भावों का फल कर्मबन्ध है जो कर्मबंध चार गति रूप खोटे फल का देनेवाला है तथा इससे यह भी सिद्ध हो गया कि साधनरूप से औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव है तो एकदेश सुखरूप है और इससे यह भी सिद्ध हो गया कि क्षायिक भावों रूप मोक्ष भी है जो पूर्ण सुखरूप है।

औदयिक आदि ५ भावों की भूमिका समाप्त हुई।

पाँच भावों का सामान्य निरूपण

(सूत्र १७२७ से १७४० तक १४)

प्रश्न

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः।
किं नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतां वर ॥ १७२७ ॥

अन्वयः – ननु वैभाविकाः भावाः कियन्तः। किदृशाः सन्ति। किं नामानः। कथं ज्ञेयाः। हे वदतां वरं! मे ब्रूहि।

अन्वयार्थ – शंका – वैभाविक भाव [विशेष भाव] कितने हैं ? कैसे हैं ? क्या नाम वाले हैं ? कैसे जानने योग्य हैं ? [अर्थात् उनके पहचानने में क्या चिह्न-लक्षण हैं]। हे कहने वालों में श्रेष्ठ ! मुझे कहिये।

भावार्थ – यहाँ वैभाविक भावों से केवल रागादि भावों से या केवल औदयिक भावों से आशय नहीं है किन्तु औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक पाँचों भावों से आशय है। यहाँ वैभाविक भाव का अर्थ है विशेष भाव अर्थात् जीव के असाधारण भाव। शिष्य उनके नाम, लक्षण, भेद-प्रभेद इत्यादिक सब कुछ जानना चाहता है ताकि जीव का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान हो सके।

उत्तर सूत्र १७२८ से १७४० तक १३

शृणु साधो महाप्राज्ञ! वच्म्यहं यत्तवेप्सितम्।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित्स्वानुभवादपि ॥ १७२८ ॥

अन्वयः – हे साधो महाप्राज्ञ ! शृणु। यत् तव इप्सितं तत् अहं प्रायः जैनागमाभ्यासात् किञ्चित् स्वानुभवात् अपि वच्मि।

अन्वयार्थ – हे बुद्धिमान् सज्जन ! तू सुन। जो तुझे इष्ट है वह मैं प्रायः जैनागम के अभ्यास से और कुछ स्वानुभव से भी कहता हूँ।

असाधारण भावों के ५ भेद

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात् ।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पंच यथोदिताः ॥ १७२९ ॥

अन्वयः - सूत्रार्थविस्तरात् लोकासंख्यातमात्राः भावाः स्युः। तेषां जातिविवक्षायां पञ्च भावाः यथोदिताः।

अन्वयार्थ - सूत्र के अर्थ के विस्तार से असंख्यातलोक प्रमाण भाव हैं। उनकी जाति की विवक्षा में पाँच भाव इस प्रकार कहे गये हैं।

भावार्थ - भाव तो असंख्यात् प्रकार के हैं पर सूत्रकारों ने उनको जाति की अपेक्षा संग्रह करके पाँच भेदों में बांट दिया है। उन सूत्रों का यदि विस्तृत अर्थ किया जाय तो उन ५ भावों के ५३ भेद होते हैं और उन ५३ के भी असंख्यात् लोकप्रमाण भेद हो सकते हैं।

५ भावों के नाम तथा उनके ५३ भेद

तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोऽपि च ।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति नुः ॥ १७३० ॥
पारिणामिकभावः स्यात् पंचेत्युद्देशिताः क्रमात् ।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपंचाशदितीरिताः ॥ १७३१ ॥

अन्वयः - तत्र नुः औपशमिकः नाम भावः। क्षायिकः अपि स्यात् च क्षायोपशमिकः इति औदयिकः भावः अपि अस्ति। पारिणामिकः भावः स्यात् इति क्रमात् पंच उद्देशिताः च तेषां उत्तरभेदाः त्रिपंचाशत् इति ईरिताः।

अन्वयार्थ - उनमें आत्मा का औपशमिक नामक भाव है। क्षायिक भी है। क्षायोपशमिक भी है और औदयिक भाव भी है और पारिणामिक भाव है। इसप्रकार क्रम से पाँच कहे गये हैं। उनके उत्तर भेद ५३ कहे गये हैं। [२ औपशमिक + ९ क्षायिक + २१ औदयिक + ३ पारिणामिक = ५३ आत्मा के असाधारण भाव]।

अब क्रमशः इनके लक्षणों का निर्देश करते हैं:-

औपशमिक भाव का लक्षण

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात्स्वतः ।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ १७३२ ॥

अन्वयः - प्रत्यनीकानां कर्मणां पाकस्य स्वतः उपशमात् प्राणिनां चः भावः सः औपशमिकसंज्ञकः स्यात् ।

अन्वयार्थ - विरोधी कर्मों के [दर्शनमोह और चारित्रमोह के] उदय के स्वतः [उपादान की स्वतन्त्र स्वकाल की योग्यता से] उपशम से प्राणियों के जो भाव होता है - वह औपशमिक नामवाला है।

भावार्थ - स्वतः शब्द का ऐसा भाव है कि कर्म स्वतः अपनी योग्यता से उपशम होता है - जीव का किया हुआ नहीं। जीव उस समय अपने में अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ से औपशमिक भाव करता है - उधर कर्म अपने स्वकाल की योग्यता से स्वतः उपशम होता है। समय दोनों का एक है पर एक-दूसरे के कारण से नहीं होते हैं।

क्षायिक भाव का लक्षण

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥ १७३३ ॥

अन्वयः - प्रत्यनीकानां कर्मणां यथास्वं सर्वतः क्षयात् यः भावः जातः सः अस्य [आत्मनः] शुद्धः स्वाभाविक क्षायिकः [भावः]।

अन्वयार्थ - विरोधी कर्मों के [घातिकर्मों के] अपनी योग्यता से सर्वथा क्षय से जो भाव उत्पन्न होता है - वह इस [आत्मा] का शुद्ध स्वाभाविक क्षायिक भाव है।

भावार्थ - यथास्वं शब्द का ऐसा भाव है कि कर्म स्वतः अपनी योग्यता से क्षय होता है - जीव का किया हुआ नहीं। जिस समय जीव अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ से शुद्ध स्वाभाविक भाव करता है - उसी समय कर्म अपने स्वकाल की योग्यता से स्वतः क्षय होता है। समय दोनों का एक है।

क्षायोपशमिक भाव का लक्षण

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥ १७३४ ॥

अन्वयः - यः भावः देशघातिनां उदयात् सर्वतः घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः सः क्षायोपशमिकः स्यात्।

अन्वयार्थ - जो भाव देशघातिस्पर्द्धकों के उदय से और सर्वघातिस्पर्द्धकों के अनुदय से उत्पन्न होता है - वह क्षायोपशमिक भाव है।

भावार्थ - जिस समय आत्मा अपने स्वकाल की योग्यता से स्वतन्त्र पुरुषार्थ द्वारा क्षायोपशमिक भाव करता है - उस समय घातिकर्मों की स्वतः अपने स्वकाल की योग्यता से ऐसी क्षयोपक्षम दशा होती है - "वर्तमान निषेक में सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय तथा देशघाति स्पर्द्धकों का उदय और आगामीकाल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम-ऐसी कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं" और ऐसी कर्म की अवस्था को निमित्त बनाकर जीव जो अपना भाव करता है - उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

औदयिक भाव का लक्षण

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ ।
नाम्नाप्यौदयिकोऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥ १७३५ ॥

अन्वयः - संसृतौ जीवस्य कर्मणां उदयात् यः भावः [स्यात्] [सः] नाम्ना अन्वर्थात् अपि औदयिकः [स्यात्] परं बन्धाधिकारवान्।

अन्वयार्थ - संसार में जीव के कर्मों के उदय से [कर्मों के उदय को अनुसरण करने से] जो भाव होता है - वह नाम से और अर्थ से भी औदयिक भाव है। [पाँच भावों में से] केवल यह एक ही बन्ध के करने वाला है।

भावार्थ - यहाँ यह बताया है कि संसारी आत्मा जिस समय अपने स्वकाल की योग्यता अनुसार स्वतन्त्र पुरुषार्थ द्वारा औदयिक भाव करता है - उस समय निमित्त रूप कर्म भी स्वतः अपने स्वकाल की योग्यता से उदय अवस्था में रहता है और इतना ही नहीं किन्तु जीव उस समय उसको निमित्त बनाकर नैमित्तिक रूप से अनुसरण करता है और उसके उदय में जुड़ता है - तब इस विकृत भाव को उत्पन्न करता है। यदि न जुड़े तो कर्म उदय में आकर खिर जाता है जिसको उदयाभावी क्षय भी कहते हैं। किन्तु विपाक उदय नहीं कहा जाता।

'संसृतौ' पद का ऐसा भाव है कि यह भाव सिद्धों में नहीं होता तथा जीव जब रत्नत्रय का पुरुषार्थ करता है - उतने अंश में नहीं होता किन्तु संसारभाव [आस्रवभाव] में होता है। इसका नाम भी औदयिक है और कर्मों के उदय में जुड़कर होने से भी इसको अर्थानुकूल औदयिक कहते हैं। फिर यह बात बताते हैं कि पाँच भावों में आगामी बंध के होने में केवल इसी भाव का अधिकार है। इस भाव से जीव को लाभ तो कुछ नहीं - केवल बंध होकर संसार की उत्पत्ति होती है। अतः जीव के लिये दुःखरूप तथा हेय है। जीव को संसार में जितना भी दुःख है - केवल इसी भाव के कारण है। परवस्तु के संयोग-वियोग से तो कुछ होता ही नहीं-वह तो अघाति कर्मों के निमित्त से स्वतः आती-जाती रहती है। यहाँ मोह और योग सम्बन्धी औदयिक भाव ही बंध का कारण समझना चाहिये जो श्रद्धा-चारित्र और योग गुण की अशुद्ध अवस्था है।

पारिणामिक भाव का लक्षण

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् ।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ १७३६ ॥

अन्वयः - प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा पारिणामिकः भावः स्यात् ।

अन्वयार्थ - ऊपर कही हुई कर्म की चार अवस्थाओं से अर्थात् सम्पूर्ण कर्म से निरपेक्ष-आत्मद्रव्यत्त्व मात्र है आत्मा [स्वरूप] जिसका - वह पारिणामिक भाव है।

भावार्थ - पारिणामिक भाव स्वतःसिद्ध अनादि अनन्त है। उसमें कोई अन्य निमित्तमात्र कारण भी नहीं है। आत्मा निष्कारण स्वतः उस स्वभाव को धारण किये हुये है।

'द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः पारिणामः' अर्थात् जो वस्तु के अपने निजस्वरूप की प्राप्ति मात्र में कारण स्वरूप है – वह पारिणामिक भाव है। उसी को त्रिकालिक द्रव्यरूप स्वभावभाव कहते हैं। [सर्वार्थसिद्धि अ. २ संस्कृत टीका]। जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है और शेष चार भाव पर्यायार्थिक नय का विषय है। पारिणामिक भाव भी निश्चय पारिणामिक और व्यवहार पारिणामिक अथवा अशुद्ध पारिणामिक कहा है [विस्तार चर्चा के लिये देखें श्री समयसार सूत्र ३२० की श्री जयसेन आचार्यकृत टीका]।

स्वरूप कथन की प्रतिज्ञा

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥ १७३७ ॥

अन्वयः – इति तेषां भावानां लेशतः पृथक् लक्षणं उक्तं। इतः एतेषां प्रत्येकं व्यासात् [यत्] रूपं तत् उच्यते।

अन्वयार्थ – इसप्रकार उन पाँच प्रकार के भावों का संक्षेप में भिन्न-भिन्न लक्षण कहा। अब आगे इन पाँचों ही भावों में से प्रत्येक भाव का विस्तार से जो स्वरूप है – वह कहा जाता है।

औदयिक भाव के २१ भेद तथा उनके स्वरूप कथन की प्रतिज्ञा

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशतिः ।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥ १७३८ ॥
त्रीणि लिङ्गानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम् ।
एकं वाऽसंयतत्त्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥ १७३९ ॥
लेश्याः षडेव कृष्णाद्याः क्रमादुद्देशिता इति ।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥ १७४० ॥

अन्वयः – च अस्य औदयिकस्य सूत्रार्थात् एकविंशतिः भेदाः। चतस्रः गतयः नाम, च चत्वारः कषायकाः, त्रीणि लिङ्गानि, एकं मिथ्यात्वं, च एकं अज्ञानमात्रकं, वा एकं असंयतत्त्वं स्यात्, एका असिद्धता अस्ति, षड् एव लेश्याः कृष्णाद्याः, इति क्रमात् उद्देशिताः। [अहं] तत्स्वरूपं न अल्पं न अतीव विस्तरं प्रवक्ष्यामि।

अन्यवार्थ – और इस औदयिक भाव के सूत्र के अर्थ अनुसार २१ भेद हैं। ४ गति नामक भाव और ४ कषाय भाव, ३ लिंग भाव, एक मिथ्यात्व भाव, एक अज्ञानमात्र भाव, एक असंयम भाव, एक असिद्धत्व भाव और ६ लेश्या भाव-कृष्णादिक। इस प्रकार क्रम से २१ भाव कहे गये हैं। मैं उनके स्वरूप को – न संक्षेप से और न बहुत विस्तार से [अर्थात् मध्यम रीति से] कहूँगा।

औदयिक आदि ५ भावों का सामान्य निरूपण समाप्त हुआ।

गति औदयिक भाव

(सूत्र १७४१ से १८२० तक ८०)

विषय परिचय

जीव के २१ औदयिक भावों में जो गति नामा औदयिक भाव कहा गया है – वह दो प्रकार का होता है।

(१) जीव के गतिविषयक मोहजभाव जो बंधहेतुक औदयिक भाव हैं।

(२) जो मोहजभाव न होकर अघातिकर्म में नामकर्म और नामकर्म-अन्तर्गत गति कर्म तथा आंगोपांग नामकर्म तो निमित्त हैं और जीव का अमूर्तत्त्व प्रतिजीवी गुण का अशुद्ध परिणमन नैमित्तिक है। वह औदयिक गति रूप जीव का उपादान परिणाम है जो बन्ध का कारण नहीं है। गति नामकर्म के सामने जीव की मनुष्याकारादि विभाव अर्थ पर्याय और विभाव व्यंजन पर्याय में स्थूलपने का व्यवहार संसार दशा तक चालू रहता है – वह गति औदयिक भाव जीव में है जो चौदहवें गुणस्थान तक रहता है और बन्ध का कारण नहीं है। और मोहज औदयिक भाव ही बन्ध का कारण है।

इस प्रकार गति नामक औदयिक भाव दो प्रकार का है मोहज और अघाति कर्मोदय के सम्बन्धवाले प्रतिजीवी गुण की पर्यायवाले अमूर्तत्त्वादि और मनुष्यादि गति में नैमित्तिक रूप रहने की जीव की अर्थपर्याय तथा व्यंजनपर्याय की योग्यता - वह गति नामक औदयिक भाव जीव का परिणाम है।

श्री पंचाध्यायीकार ने गति के मोहज औदयिक भाव को ही मुख्यता करके लिखा है क्योंकि उन्हें आध्यात्मिक ग्रंथ बनाना था जिसमें मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्त्व है। इसलिये अघाति सम्बन्धी औदयिक को उन्होंने गौण करके बिल्कुल छोड़ दिया है। किन्तु वस्तुस्थिति उपर्युक्त अनुसार आपको ख्याल में बराबर रहनी चाहिये। दूसरा यह भी कारण मालूम पड़ता है कि अघाति के उदयवाला गति औदयिक भाव तो सबको लक्ष में रहता ही है पर मोहज गतिभाव पर प्राय: जीवों की दृष्टि नहीं रहती और जीव को बंध का कारण होने से हानिकारक वह मोहज गति औदयिक भाव ही है। अत: उन्होंने उसे ही लिखा है ऐसा हमें जान पड़ता है। वे इस प्रकार कहना चाहते हैं -

जीव के २१ औदयिक भावों में गति नामा औदयिक भाव उस गति के अनुसार होनेवाले मोहज औदयिक भाव हैं और उनमें निमित्त कारण दर्शनमोह तथा चारित्रमोह का उदय है जो उस गति के अनुसार ही होता है ऐसा वस्तु स्वभाव है गति औदयिक भाव मिथ्यात्व राग-द्वेष रूप हैं, जैसे - बिल्ली को जो चूहे पकड़ने का मोहज भाव है वह उस तिर्यञ्च गति का गति औदयिक भाव के नाम से लोक तथा आगम में प्रसिद्ध है। मोह के उदय को गति के उदय पर आरोप करके निरूपण करने की पद्धति है। इसी प्रकार चारों गतियों में जो उस गति के अनुसार मिथ्यात्व राग-द्वेष रूप भाव हैं - वे ही उस गति के गति औदयिक भाव हैं जैसे स्त्री में स्त्री जैसा राग, पुरुष में पुरुष जैसा राग, देव में देव जैसा राग, बन्दर में बन्दर जैसा राग। यह इस गति औदयिक भाव का सार है। इसको समझाने के लिये ग्रन्थकार ने भारी लम्बा प्रयास किया है क्योंकि लम्बे निरूपण बिना ये भाव स्पष्ट न हो सकता था। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है -

गति औदयिक भावों को समझने से पहले 'औदयिक भाव' क्या वस्तु है - यह ग्रन्थकार ने पहले समझाया है और उसका क्रमश: स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है -

(१) आत्मा में एक ज्ञान गुण है। उधर उसका प्रतिपक्षी एक ज्ञानावरण कर्म है। ज्ञानावरण कर्म के ५ भेद हैं। (१) केवलज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव को जो सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत प्रतिभास नहीं होता है - वह जीव का औदयिक अज्ञान भाव है - और ज्ञानावरण के क्षय से जो जीव को केवलज्ञान होता है - वह क्षायिक भाव है (२) मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव को जो मन:पर्यय ज्ञान नहीं है - वह जीव का औदयिक अज्ञान भाव है और मन:पर्यय ज्ञानावरण के अनेक प्रकार के क्षयोपशम से जो सम्यग्दृष्टि जीव को अनेक प्रकार का मन:पर्यय ज्ञान होता है - वह जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान भाव है (३) अवधिज्ञानावरण कर्म के उदय से जो जीव को अवधिज्ञान नहीं है - वह जीव का औदयिक अज्ञानभाव है और अवधिज्ञानावरण के अनेक प्रकार के क्षयोपशम से सम्यग्दृष्टि जीव के जो अनेक प्रकार का सुअवधिज्ञान होता है - वह जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान भाव है। अवधिज्ञानावरण के अनेक प्रकार के क्षयोपशम से जो मिथ्यादृष्टि जीव को अनेक प्रकार का अवधिज्ञान होता है वह भी जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान भाव है। इसको कुअवधि या विभङ्ग ज्ञान कहते हैं। यह औदयिक भाव नहीं किन्तु क्षायोपशमिक भाव है। (४-५) मति तथा श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम अंश से जितना ज्ञान सम्यग्दृष्टि के प्रगट है - उघाड़ रूप है - वह जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान भाव है। उसको मति श्रुत ज्ञान या सम्यक् मति श्रुत ज्ञान का सुमति सुश्रुत भी कहते हैं तथा मति श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम अंश से जितना ज्ञान मिथ्यादृष्टि के प्रगट है - उघाड़रूप है - वह भी जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान भाव है। उसको मिथ्यामति श्रुत या कुमति कुश्रुत भी कहते हैं। मिथ्यादृष्टि के मति श्रुत अवधिज्ञान को अज्ञान भी कहने की पद्धति है पर उस अज्ञान शब्द का अर्थ औदयिक अज्ञान भाव न समझकर क्षायोपशमिक भाव ही समझा जाय क्योंकि वह उघाड़रूप है। जानने की क्रियाकारित्वरूप है। उसको अज्ञान कहने का कारण केवल मिथ्यात्व की सहचरता है। अज्ञान औदयिक भाव तो जीव को उतने अंश में है जितने अंश में ज्ञानावरण का उदय है। ज्ञान का उघाड़ बन्द है अर्थात नहीं है। उसको शून्य ज्ञान कहो, मूर्च्छित ज्ञान कहो - अभावात्मक ज्ञान कहो। मृतक शरीरवत् वह गुण में विद्यमान होता हुआ भी पर्याय में निश्चेतनरूप है। इसप्रकार तो ग्रन्थकार ने ज्ञान गुण में होने वाले क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भावों को समझाया है और साथ में उसके निमित्तमात्र कारण की भी तदनुकूल होनेवाली दशाओं का ज्ञान कराया है।

(२) इसीप्रकार आत्मा में एक दर्शन गुण है। उधर उसका प्रतिपक्षी एक दर्शनावरण कर्म है। दर्शनावरण के ४ भेद हैं। (१) केवलदर्शनावरण कर्म के उदय से जीव को जो सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत् दर्शन नहीं होता है - वह जीव का औदयिक अदर्शन भाव है और दर्शनावरण के क्षय से जो जीव को केवलदर्शन होता है - वह क्षायिक भाव है। (२) अवधिदर्शनावरण कर्म के उदय से जीव को जो अवधिदर्शन नहीं है - वह जीव का औदयिक अदर्शन भाव है और अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से जो सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीव को अवधिदर्शन होता है - वह जीव का क्षायोपशमिक दर्शन भाव है। (३-४) चक्ष-अचक्षु दर्शनावरण के क्षयोपशम अंश से जितना दर्शन जीव के प्रगट है - उतना तो क्षायोपशमिक भाव है और जितने अंश में उदय है - उतना औदयिक अदर्शनभाव है। मनःपर्यय दर्शनावरण नहीं होता तथा मनःपर्यय ज्ञान में सु या कु विशेषण नहीं होता।

(३) इसीप्रकार आत्मा में एक वीर्य गुण है। उधर उसका प्रतिपक्षी एक अन्तराय कर्म है। अन्तराय के क्षय से प्रगट होनेवाला अनन्तवीर्य क्षायिक भाव है। क्षयोपशम से प्रगट वीर्य क्षायोपशमिक भाव है और उदय अंश से अप्रगट वीर्य औदयिक भाव है।

(४) इसीप्रकार आत्मा में एक सम्यक्त्व गुण पृथक् है। उधर उसका प्रतिपक्षी एक दर्शनमोहनीय कर्म पृथक् है। उसके क्षय, क्षयोपशम और उपशम से तो क्रमशः क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव होते हैं किन्तु उदय में जुड़ने से नियम से मिथ्यात्व भाव होता है। जो आत्मा में एक निर्विकल्प मलिनता है जो अतत्त्वश्रद्धान या विपरीत तत्त्वार्थश्रद्धान से प्रगट की जाती है। इसका विवेचन ग्रंथकार ने स्वयं बहुत किया है।

(५) इसी प्रकार आत्मा में एक चारित्र गुण है। उधर उसका प्रतिपक्षी चारित्रमोहनीय कर्म है। उसके क्षय, क्षयोपशम और उपशम से तो क्रमशः क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव होते हैं किन्तु उदय में जुड़ने से नियम से राग-द्वेष-कषाय असंयम आदि औदयिक भाव होते हैं।

उपर्युक्त अज्ञानभाव का तो २१ औदयिक भावों में पृथक् उल्लेख है ही। औदयिक अदर्शन और औदयिक अवीर्य को अज्ञान में ही अन्तर्भूत करने की आगम पद्धति है। अतः इसका पृथक् उल्लेख नहीं है। मिथ्यादर्शन और चारित्र भावों का पृथक् उल्लेख है ही। अब रहा गति औदयिक भाव - वह क्या वस्तु है तो ग्रन्थकार कहते हैं कि दर्शनमोह और चारित्रमोह के उदय से ही गति औदयिक भाव होते हैं। वस्तु स्वभाव का ऐसा नियम है कि जैसी गति होती है वहाँ तदनुसार ही द्रव्यमोह का उदय रहता है और इसीलिये वैसा राग वहाँ ही होता है - अन्यत्र गति में नहीं होता। इसलिये उस राग की पृथक्-पृथक् जातियों का ज्ञान कराने के लिये उन भावों को मोह भाव न कहकर गति पर आरोप करके गति औदयिक भावों के नाम से आगम में निरूपण किया है। ये भाव मलिन हैं। बन्धसाधक हैं। इसप्रकार ग्रन्थकार ने गति औदयिक भाव को समझाने के लिए इतना कुछ उल्लेख किया है। अब आप इसे ध्यान से पढ़िये तो आपको कोई कठिनाई न होगी क्योंकि उपर्युक्त लेख गति अधिकार के ८० सूत्रों का निचोड़ हमने आपकी सहूलियत के लिये लिख दिया है ताकि आप सुगमता से विषय को अनुसरण करते हुए स्पष्ट समझ सकें।

गति के ४ भेद

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि ।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाऽधिगीयते ॥ १७४१ ॥

अन्वयः - नामकर्मणि गतिनामा एकं कर्म विख्यातं अस्ति। यस्मात् गतयः चतस्रः [तस्मात्] तत् चतुर्धा अधिगीयते।

अन्वयार्थ - नाम कर्म में गति नामा एक कर्म प्रसिद्ध है। क्योंकि गतियाँ चार हैं। इसलिये वह कर्म भी चार प्रकार का कहा गया है।

गति का कारण

कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः ।
प्राप्य तत्रोचितान्भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥ १७४२ ॥

अन्वयः - अस्य कर्मणः विपाकात् वा दैवात् अन्यतमं वपुः प्राप्य तत्र आत्मा उदयात्मनः उचितान् भावान् करोति।

अन्वयार्थ - इस गति नाम कर्म के उदय से अथवा दैव से [शरीर और आङ्गोपाङ्ग आदि नामकर्म के उदय से] किसी एक शरीर को प्राप्त करके वहाँ आत्मा उदयात्मक उचित [उस गति के अनुसार] भावों को करता है। [वे भाव गति औदयिक भाव के नाम से प्रसिद्ध हैं। क्योंकि गति के ४ भेद हैं। इसलिये उन भावों के भी ४ भेद हैं]।

भावार्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि ८ कर्मों में एक अघातिया नाम कर्म है। उसका एक गति नामा भेद है। उसके उदय से तथा साथ में शरीर आदि कर्म के उदय से जीव चारों गतियों में से किसी एक गति का शरीर प्राप्त करता है और फिर उस गति [शरीर] के अनुसार उन वैभाविक मोह-राग-द्वेषरूप भावों को करता है। जैसे बिल्ली के शरीर को प्राप्त करके चूहे पकड़ने का भाव करता है। कुत्ते की पर्याय पाकर भौंकने का भाव करता है। इसी प्रकार सब तिर्यंचों का समझ लेना। उसीप्रकार मनुष्य गति में मनुष्याकार भाव करता है जैसे स्त्री में स्त्री जैसे, पुरुष में पुरुष जैसे, नपुंसक में नपुंसक जैसे - ये सबको अनुभव सिद्ध हैं। उसीप्रकार देवगति में देवाकार, नरक गति में नारकी जैसे भाव करता है। गति के अनुसार जो ये विभाव भाव होते हैं उनको औदयिक गतिभाव कहते हैं। क्योंकि गतियाँ ४ हैं इसलिये ये गति औदयिक भाव भी ४ प्रकार के माने गये हैं।

गति औदयिक भाव का स्वरूप १७४३-१७४४

यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसंततिः ।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥ १७४३ ॥

अन्वयः - यथा तिर्यगवस्थायां तद्वत् या भावसंततिः तत्र अवश्यं च अन्यत्र न [यतः सा भावसंततिः] तत्पर्यायानुसारिणी [भवति]।

अन्वयार्थ - जैसे तिर्यंच अवस्था में उस तिर्यंच गति के अनुसार जो भावों की सन्तति है - वह वहाँ अवश्य है - अन्यगति में नहीं है [क्योंकि वह भावसन्तति] उस पर्याय के अनुसार होती है [जैसे भौंकने का भाव कुत्ते में तो अवश्य होता ही है और अन्यगतिवाले जीव के नहीं ही होता है। इसीप्रकार सब समझ लेना]।

एवं दैवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम् ।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥ १७४४ ॥

अन्वयः - एवं दैवे मानुष्ये अथ नारके वपुषि स्फुटं आत्मीयात्मीयभावाः असाधारणाः इव सन्ति।

अन्वयार्थ - इसीप्रकार देव, मनुष्य अथवा नारक शरीर में प्रगटपने अपनी-अपनी गति के योग्य भाव होते हैं। वे असाधारण [विशेष] गुणों के समान उस गति के असाधारण भाव हैं।

भावार्थ - गति शरीर को नहीं कहते और न आत्मा और शरीर की मिली हुई अवस्था को कहते हैं किन्तु गति तो आत्मा की एक पर्याय का नाम है। यहाँ केवल जीव के पाँच भावों का कथन चल रहा है। औदयिक जीव का भाव है। उस औदयिक भाव के २१ भेद हैं। उनमें ४ गतिरूप भाव हैं। आत्मा की मनुष्याकार विभाव परिणति को मनुष्य गति [मनुष्य पर्याय] कहते हैं। तिर्यंचाकार परिणति को तिर्यंच गति [तिर्यंच पर्याय] कहते हैं, देवाकार परिणति को देवगति [देवपर्याय] और नारकी के आकार परिणति को नरक गति या नारकपर्याय कहते हैं। मनुष्य गति में मनुष्यपने के अनुसार ही भाव होते हैं। यहाँ रागभावों से आशय है। मनुष्य गति में मनुष्यपने के अनुसार रागभाव होता है; तिर्यंच में तिर्यंच के अनुसार जैसे बिल्ली को चूहे पकड़ने का भाव, कुत्ते को भौंकने का भाव, बन्दर को घूरने का भाव। उसीप्रकार देव में देव जैसे और नारकी में नारकी में नारकी जैसे। जिसप्रकार असाधारण [विशेष] गुण जीव के ज्ञान दर्शन आदि जीव में ही होते हैं। पुद्गल के स्पर्श, रस आदि पुद्गल में ही होते हैं, उसीप्रकार ये गति नामा औदयिक भाव जिस गति के हैं - वे उसी गति में होते हैं - दूसरी में नहीं।

शंका

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम् ।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद् घातिकर्मवत् ॥ १७४५ ॥

अन्वयः - ननु देवादिपर्यायः परं नामकर्मोदयात् [भवति] तत् [नामकर्म] घातिकर्मवत् कथं जीवभावस्य हेतुः स्यात्।

अन्वयार्थ – शंका-देवादि पर्याय केवल नाम कर्म के उदय से होती है फिर वह नामकर्म घातिकर्म के समान कैसे जीवभाव का कारण हो जाता है।

भावार्थ – शङ्काकार कहता है कि आप शरीरानुसार जीव के रागभाव को गतिभाव कहते हैं। रागभाव में तो मोहनीय नामा घातिकर्म निमित्त है और गतिनामा औदयिक भाव में तो नाम कर्म के गति नामा कर्म का निमित्त है जो अघाति कर्म हैं। अघाति कर्म तो शरीर के बनने में निमित्त है – जीव के भाव में नहीं। फिर जीव के भाव में यह नाम कर्म का भेद गति नामा कर्म कैसे निमित्त कारण हो गया?

समाधान

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत् ।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥ १७४६ ॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽञ्जसा ।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥ १७४७ ॥

अन्वयः – सत्यं। लक्षणात् तत् नामकर्म अपि चित्रकारवत् [अस्ति]। तत् नूनं चित्रवत् देहमात्रादि निर्मापयति [किन्तु] तत्रापि मोहस्य अञ्जसा नैरन्तर्योदयः अस्ति। तस्मात् औदयिकः भाव तद्देहक्रियाकृतिः स्यात् ।

अन्वयार्थ – ठीक है। लक्षण से वह नामकर्म चित्रकारवत् ही है और वह वास्तव में चित्र के समान देहमात्र आदि [मन-वचन-आङ्गोपाङ्ग आदि पौद्गलिक वस्तुयें] ही बनाता है [अर्थात् तुम्हारी यह बात ठीक है कि नामकर्म शरीरादि के बनने में ही निमित्तमात्र कारण है – जीव के भाव में नहीं]। किन्तु वहाँ भी मोह का वास्तव में निरन्तरपने से रहने वाला वैसा ही उदय है। इसलिये औदयिक भाव उस देह की क्रिया की आकृति रूप होता है।

भावार्थ – उसकी शंका का यह समाधान किया कि यह तो ठीक है कि नाम कर्म तो शरीर के ही बनने में निमित्त है और जीवभाव के बनने में तो मोहकर्म ही निमित्त है किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि उस मोह का उदय उस गति के अनुसार होता है – अन्य प्रकार से नहीं होता अर्थात् जिस गति में जैसे भाव होते हैं वहाँ उसी प्रकार का मोहनीय का उदय है। यदि गति नामकर्म को निमित्त न कहकर केवल मोहकर्म को ही निमित्त कह देते तो यह कैसे पता चलता कि इसप्रकार का मोहभाव कहाँ होता है। उसको गति पर आरोप करके कथन करने से तुरन्त पता चल जाता है कि यह मनुष्यगति का भाव है और यह तिर्यचगति का भाव है।

शंका

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोऽस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुःक्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥ १७४८ ॥

अन्वयः – ननु मोहोदयः नूनं स्वायत्तः एकधारया अस्ति [तत्] अयं तत्तद्वपुःक्रियाकारः कुतः नयात् नियतः [अस्ति]।

अन्वयार्थ – शङ्का जब मोह का उदय वास्तव में अपने आधीन एकधारा से है [वह शरीरादि के आधीन नहीं है] [फिर] यह उस-उस शरीर की क्रिया के आकार रूप नियम से किस न्याय से हो जाता है।

भावार्थ – शिष्य का कहना है कि मोहनीय कर्म तो एक सामान्य कर्म है। उसका कार्य तो मोह-राग-द्वेष में निमित्त होना है फिर उस मोह के उदय की उपस्थिति में यह जीव उसी शरीर के आकार रूप भावों को कैसे उत्पन्न करता है – कृपया यह समझाइये। सो उत्तर में ग्रन्थकार उस मोह के भेद-प्रभेद और उसके भिन्न-भिन्न कार्यों को समझाते हैं –

समाधान १७४९ से १८०१ तक ५३

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात् ॥ १७४९ ॥

अन्वयः – नैवं यतःमोहस्य उदयवैभवे अनभिज्ञः असि। तत्र अपि स्वलक्षणात् बुद्धिपूर्वे च अबुद्धिपूर्वे [अनभिज्ञः असि]।

अन्वयार्थ - ऐसा नहीं है क्योंकि तू मोह के उदय वैभव में अनभिज्ञ [अज्ञान] है। और उसमें भी अपने लक्षण से बुद्धिपूर्वक में और अबुद्धिपूर्वक में तू अनभिज्ञ है।

भावार्थ - शिष्य ने जो यह प्रश्न किया था कि मोह भाव तो एकत्त्वबुद्धि को कहते हैं वह सबमें समान है फिर प्रत्येक गति में भिन्न-भिन्न जाति के मोहभाव कैसे हैं ? उसके उत्तर में कहा है कि भाई! कर्म में एक सामान्य शक्ति होती है - एक विशेष शक्ति होती है। मोह का वैभव-परिवार-अवान्तर भेद सन्तति बहुत बड़ी है। उससे तू परिचित नहीं है। अतः तूझे उसका सविस्तार परिचय कराते हैं। यहाँ बुद्धिपूर्वक मोहभाव से संज्ञी पर्याय में जो एकान्त विपरीत आदि गृहीत मिथ्यात्त्व के भाव होते हैं उनकी ओर लेखक का संकेत है और अबुद्धिपूर्वक से अगृहीत मिथ्यात्त्व भावों से आशय है। स्पष्टीकरण आगे सूत्र १७९० से १८१९ तक किया है।

अब उस मोह के प्रारम्भ से अन्त तक के सब परिवार को दिखाते हैं -

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक् ।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥ १७५० ॥

अन्वयः - मोहनात् मोहकर्म एकं। तत् द्विधा वस्तुतः पृथक्। अत्र दृङ्मोहः च चारित्रमोहः इति द्विधा स्मृतः ।

अन्वयार्थ - मोहित [मूर्च्छित] करने से मोहकर्म एक है। वह दो प्रकार वस्तुतः भिन्न-भिन्न है। उसमें एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। इसप्रकार दो रूप माना गया है।

भावार्थ - अन्य कर्मों की अपेक्षा मोहकर्म में बहुत विशेपता है। अन्य कर्मो के निमित्त से अपने प्रतिपक्षी गुणों में न्यूनता होती है परन्तु अपना गुण मूर्च्छित नहीं होता जैसे ज्ञानावरण के निमित्त से ज्ञानगुण ढक तो जाता है पर ज्ञान से अज्ञान नहीं हो जाता। उसीप्रकार अन्तराय कर्म के निमित्त से वीर्य ढक तो जाता है पर उल्टे रूप नहीं होता। स्वभाव के उल्टा होने में निमित्त मोहकर्म ही है। मोहनीय कर्म के निमित्त से अपना प्रतिपक्षी गुण सर्वथा विपरीत स्वादु बन जाता है। इसलिये इसका नाम मोहनीय है अर्थात् मोहन करनेवाला - मूर्च्छित करनेवाला। सामान्य रीति से वह एक है और विशेष दृष्टि से दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय - ऐसे उसके दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय कर्म के निमित्त में जुड़ने से सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शनरूप और चारित्रमोहनीय के निमित्त से सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्र रूप परिणत हो जाता है।

एकधा त्रिविधा वा स्यात्कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥ १७५१ ॥

अन्वयः - मिथ्यात्वसंज्ञकं कर्म एकधा वा त्रिविधा स्यात् च क्रोधाद्याद्यचतुष्कं एते सप्त दृष्टिमोहनम्।

अन्वयार्थ - मिथ्यात्व नामक कर्म [सामान्यदृष्टि से] एक प्रकार अर्थात् मिथ्यात्व रूप है और [विशेष दृष्टि से] तीन प्रकार है और क्रोधादिक-आदि के चार - ये सात दृष्टि [श्रद्धा] के मोहित होने में कारण हैं।

भावार्थ - सामान्य से दर्शनमोह और विशेष से मिथ्यात्त्व-सम्यगमिथ्यात्त्व-सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्त्व - ये तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ - ये चार, सब मिलकर ७ प्रकृतियाँ सम्यक्त्व के घात में निमित्तमात्र कारण हैं।

विशेषार्थ - मूल में दर्शनमोहनीय का एक ही भेद है - मिथ्यात्व। पीछे प्रथमोपशम सम्यक्त्व के होने पर उस मिथ्यात्व के उपर्युक्त ३ टुकड़े हो जाते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति एक होने पर भी तीन भेदों में बंट जाती है। इसलिये दर्शनमोहनीय के ३ भेद भी हैं।

यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रमोहनीय के भेदों में परिगणित है तथापि इस कषाय में दो शक्तियाँ होने से इसे दर्शन को मोहित करने वाले भेदों में भी गिनाया गया है। अनन्तानुबन्धी कषाय में स्वरूपाचरण चारित्र के घात में निमित्त होने की भी शक्ति है और सम्यग्दर्शन के घात में निमित्त होने की भी शक्ति है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय की किसी अन्यतम प्रकृति के उदय में जुड़ने से इस जीव के सम्यक्त्व का अभाव होकर दूसरा सासादन गुणस्थान होता है - इसलिये इसको दर्शन को मोहित करनेवाली भी कही है। तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का और मिथ्यात्व का अविनाभाव है तथा

सम्यक्त्व का और अनन्तानुबन्धी के अभाव का अविनाभाव है। इसलिये भी इसको दर्शन को मोहित करनेवाली प्रकृतियों में यहाँ गिनाया है। इसप्रकार स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक भाव का ज्ञान कराने के लिये ३ मिथ्यात्व की और ४ अनन्तानुबन्धी ७ प्रकृति दर्शन को मोहित करनेवाली कही हैं।

[निमित्त की मुख्यता से कथन होता है कार्य नहीं। कार्य तो स्वयं निज निज शक्तिरूप उपादान से ही होता है तब उपस्थित को निमित्तमात्र कारण कहा जाता है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये।]

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोऽस्ति जन्मिनः ।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः ॥ १७५२ ॥

अन्वयः - दृङ्मोहस्य उदयात् अस्य जन्मिनः मिथ्याभावो अस्ति। सः नूनं औदयिकः स्यात् [च] दुर्वारः दृष्टिघातकः [अस्ति]।

अन्वयार्थ - दर्शनमोह के उदय से [उदय में जुड़ने से] इस जीव के मिथ्याभाव है। वह मिथ्यात्व भाव निश्चय से औदयिक है। कठिनता से निवारण करने योग्य है और दृष्टि [श्रद्धा] का घातक है।

भावार्थ - जीव के शुद्ध सम्यग्दर्शन गुण का विपरीतस्वादू हो जाना ही मिथ्यादर्शन भाव है। इसमें मोहनीय निमित्त है। इसलिये यह औदयिक भाव है। यह महान् पुरुषार्थ द्वारा ही स्वभाव परिणमन रूप बदला जा सकता है अर्थात् जब तक जीव विपरीत अभिप्राय रहित सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थो का श्रद्धान भावभासनरूप से प्रगट न करें; परम पारिणामिक स्वभाव का आश्रय निर्विकल्प रूप से न करे तबतक मिथ्यात्व टलकर सम्यक्त्व नहीं होता - इसीलिये यह दुर्वार है। श्रद्धा को घात करना इसका कार्य है।

अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः ।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम् ॥ १७५३ ॥

अन्वयः - अपि अस्य दृष्टिमोहस्य कर्मणः प्रकृतिः अस्ति [यत्] जीवस्य शुद्धं सम्यक्त्व गुणं विक्रियां नयति ।

अन्वयार्थ - और इस दर्शनमोह कर्म की प्रकृति [स्वभाव] है कि [निजस्वरूप से च्युत होने वाले] जीव का शुद्ध सम्यक्त्व गुण विक्रिया को प्राप्त हो जाता है। [विकारी हो जाता है। विभावरूप हो जाता है। सम्यक्त्व का विभावरूप होना ही मिथ्यात्त्व है]।

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति ।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥ १७५४ ॥
तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक् ॥ १७५५ ॥

अन्वयः - यथा मद्यादिपानस्य पाकात् बुद्धिः विमुह्यति। यत् शंखादि श्वेत वस्तु [तत्] विभ्रमात् पीतं पश्यति तथा तु इह दर्शनमोहस्य कर्मणः उदयात् यावत् अनात्मीयं [अस्ति] [तत्] अपि कुदृक् आत्मीयं मनुते ।

अन्वयार्थ - जैसे मद्यादि के पान के पाक से बुद्धि विमोहित हो जाती है और फिर जो शंखादि श्वेत [सफेद] वस्तु है - उसको विभ्रम से पीत [पीली] देखता है। उसीप्रकार दर्शनमोह कर्म के उदय से अर्थात् उसका अनुसरण करने से इस लोक में भी जो कुछ अनात्मीय [पर] है - उसको ही आत्मीय [स्व] मिथ्यादृष्टि मानता है।

भावार्थ - सामान्य शुद्ध आत्मा स्व है [उपादेय है] शेष सब द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म पर है और संयोगी पदार्थ और नैमित्तिक निज पर्याय पर है [हेय है] ऐसा सम्यक्त्व का विषय है किन्तु मिथ्यादृष्टि अपने मिथ्यात्व भाव के कारण इस पर को ही स्व मानता है अर्थात् हेय तत्त्व को उपादेय मानता है और स्व से अनभिज्ञ रहता है जैसे कोई मद्यादि के नशे में बुद्धि की विपरीतता के कारण भूल से सफेद शंख को पीला देखता है। ऐसा ही यह दृष्टिदोष से पर को ही स्व श्रद्धता है।

चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा ।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥ १७५६ ॥

अन्वयः - चापि यथा दृङ्मोहस्य उदयः सम्यक्त्वं लुम्पति [तथा] ज्ञानस्य आवरणोदयः आत्मनः ज्ञानं निरुणद्धि।

अन्वयार्थ - जैसे दर्शनमोह का उदय सम्यक्त्व को लोपता है - उसीप्रकार ज्ञान के आवरण का उदय आत्मा के ज्ञान को ढक देता है।

[नोट - निमित्त का ज्ञान कराने के लिये और जीव की उस काल में कैसी योग्यता है - उसे बतलाने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन किया है - वास्तव में जड़ कर्म तो सर्वथा अजीव हैं, अचेतन हैं वह जीव के भाव बनने-बिगड़ने में सच्चा कारण नहीं है - ऐसा सर्वत्र समझना]।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात् ।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥ १७५७ ॥
यथा धाराधराकारैर्गुण्ठितस्यांशुमालिनः ।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात्सतोऽपि वा ॥ १७५८ ॥

अन्वयः - यथा ज्ञानस्य आवरणोदयात् ज्ञानस्य निर्णाशः [भवति] तथा दर्शनावरणोदयात् दर्शननिर्णाशः [भवति]। यथा धाराधराकारै गुण्ठितस्य आंशुमालिनः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात् सतः अपि आविर्भावः न ।

अन्वयार्थ - जैसे ज्ञान के आवरण के उदय से ज्ञान का नाश होता है - ठसी प्रकार दर्शनावरण के उदय से दर्शन का नाश होता है। जैसे मेघों के द्वारा आच्छादित सूर्य के प्रकाश का यद्यपि द्रव्य के आदेश से [द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से] विद्यमान है तो भी उसका आविर्भाव [प्रगटता] नहीं है [उसीप्रकार यद्यपि द्रव्यार्थिक दृष्टि से गुण में सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन विद्यमान है - पर पर्याय में वास्तव में प्रगटता नहीं है]।

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह ।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥ १७५९ ॥

अन्वयः - पुनः यत् इह रूढिवशात् ज्ञानं अज्ञानं अस्ति तत् न औदयिक अस्ति किल क्षायोपशमिकं अस्ति।

अन्वयार्थ - और जो यहाँ रूढ़ि के वश से ज्ञान-अज्ञान कहा जाता है - वह औदयिक नहीं है - वास्तव में क्षायोपशमिक है।

भावार्थ - यहाँ कुमति कुश्रुत विभङ्ग से आशय है । ये क्षायोपशमिक भाव हैं। इनका नाम अज्ञान या कुज्ञान भी है। औदयिक भावों में इनका ग्रहण नहीं है। औदयिक भावों में जो अज्ञान है - वह वास्तव में औदयिक है पर उसका इस सूत्र में प्रकरण नहीं है।

अस्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्च्छितजन्तुवत् ॥ १७६० ॥

अन्वयः - यत् केवलज्ञानं अस्ति तत् तदावरणावृतं अस्ति यतः मूर्च्छितजन्तुवत् स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं न अलं ।

अन्वयार्थ - जो केवलज्ञान है वह उसके आवरण [केवलज्ञानावरण] से आवृत्त [ढका हुआ] है जिसके कारण मूर्च्छित प्राणी की तरह स्व और अपूर्वार्थों को जानने के लिये समर्थ नहीं है [अर्थात् एक समय में स्व और पर सब को नहीं जान सकता है] ।

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥ १७६१ ॥

अन्वयः - यद्वा अवधिज्ञानं वा स्वान्तपर्ययं ज्ञानं अस्ति [तत्] तदावरणवृतं अर्थक्रियासमर्थं न स्यात् ।

अन्वयार्थ - अथवा जो अवधिज्ञान अथवा मनःपर्यय ज्ञान है वह अपने आवरण से आवृत अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है [अर्थात् अपने विषय को नहीं जान सकता है]।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम् ।
यद्यावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम् ॥ १७६२ ॥

अन्वयः - मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतं यत् यावता उदयांशेन स्थितं तावत् अपन्हुतम् ।

अन्वयार्थ - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी उस-उस आवरण से ढका हुआ जितने उदय अंश से स्थित है - उतना तिरोहित है [ढका हुआ है - अप्रगट है]।

यत् पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ॥ १७६३ ॥

अन्वयः - पुनः यत् सर्वार्थभासकं व्यक्तं केवलज्ञानं [अस्ति] सः एव कृत्स्नस्वावरणक्षयात् क्षायिकः भावः।

अन्वयार्थ - और जो सम्पूर्ण पदार्थों का प्रकाशक, व्यक्त [पर्याय में प्रगट] केवलज्ञान है - वह ही अपने आवरण के पूर्ण नाश से क्षायिक भाव है।

नोट - अपने आवरण के नाश से केवलज्ञान प्रगट हुआ कहना निमित्त का कथन है। वास्तव में जीव स्वद्रव्य के उत्कृष्ट अवलंबन के बल द्वारा स्वयमेव पूर्ण पुरुषार्थ रूप परिणत हुआ तब प्रतिपक्षी कर्म का नाश उसकी योग्यता से स्वयं हो जाता है। जैसे अंधेरे को हटाना नहीं पड़ता। प्रकाश करते ही अंधेरा उत्पन्न नहीं होता उसका नाम अंधकार का नष्ट होना है वैसे जीव ने अपने में उग्र पुरुषार्थ द्वारा यथाख्यात चारित्र प्रगट किया उसी समय स्वयमेव कर्म का निमित्त छूट जाता है। अकर्मरूप बन जाता है ऐसा सच्चा अर्थ है।

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक् ।
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥ १७६४ ॥

अन्वयः - मूलमात्रतया पृथक् अष्टौ कर्माणि प्रसिद्धानि । उत्तरसंज्ञया अष्टचत्वारिंशत् शतं कर्माणि ।

अन्वयार्थ - मूलमात्रपने से भिन्न-भिन्न आठ कर्म प्रसिद्ध हैं और उत्तर भेद संज्ञा से १४८ कर्म हैं।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥ १७६५ ॥

अन्वयः - च सर्वकर्मकदम्बकं उत्तरोत्तरभेदैः लोकासंख्यातमात्रकं च शक्तितः अनन्तसंज्ञम् ।

अन्वयार्थ - और सब कर्म समूह उत्तर भेदों से असंख्यात् लोकमात्र हैं और शक्ति से अनन्त प्रकार हैं।

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद् गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥ १७६६ ॥

अन्वयः - तत्र चत्वारि कर्माणि अन्वर्थसंज्ञया घातीनि हि जीवस्य गुणानां घातकत्वाद् एव इति वाक्स्मृतिः ।

अन्वयार्थ - उनमें चार कर्म अन्वर्थ संज्ञा से घातियाँ हैं क्योंकि वे जीव के गुणों के घातक हैं - ऐसा आगम वाक्य है। [यह उपचरित असद्भूतनय का कथन आगम शास्त्र की अपेक्षा से है]

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघाति विवक्षया ।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिमत् ॥ १७६७ ॥

अन्वयः - ततः शेषचतुष्कं कर्म आत्मशक्तिमत् अपि गुणानां घातकाभावशक्तेः अघाति स्यात् ।

अन्वयार्थ - घाति कर्मों से बाकी के बचे हुए चार कर्म अपनी-अपनी शक्ति को रखते हुए भी सम्यक्त्वादि आत्मा के अनुजीवी गुणों के घातने की शक्ति के अभाव की विवक्षा से अघाति कहलाते हैं।

भावार्थ - यद्यपि वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चारों ही कर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियाँ हैं जैसेकि वेदनीय कर्म में आत्मा के अव्याबाध प्रतिजीवी गुण के घात में निमित्तपने की, नामकर्म में सूक्ष्मत्व, गोत्रकर्म में अगुरुलघुत्त्व और आयुकर्म में अवगाहत्व प्रतिजीवी गुणों के घात में निमित्तपने की निजशक्तियाँ हैं तथापि ज्ञानादि अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त न होने के कारण इनको अघाति कहा है।

आगम में अघाति कर्म की ३ परिभाषाएँ देखने में आई हैं -

(१) जो आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त न हों। अथवा
(२) जो आत्मा के प्रतिजीवी गुणों के घात में निमित्त हों। अथवा
(३) जिनके निमित्त से जीव को परवस्तु का संयोग-वियोग हो ।

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्चितः ।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल ॥ १७६८ ॥

अन्वयः - एवं अर्थवशात् नूनं चितः अनेके गुणाः सन्ति। गत्यन्तरात् किल चेतनावरणं कर्मत्वं स्यात् ।

शब्दार्थ - गत्यन्तरात् = दूसरी ओर, विपक्ष में। चेतनावरणं = ज्ञानावरणं ।

अन्वयार्थ - इस प्रकार अर्थ के वश से निश्चय से आत्मा के अनेक गुण हैं तथा दूसरी ओर निमित्त में वास्तव में एक ज्ञानावरण कर्म है।

दर्शनावरणेऽप्येषः क्रमो ज्ञेयोऽस्ति कर्मणि ।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणस्यानतिक्रमात् ॥ १७६९ ॥

अन्वयः - अपि दर्शनावरणः। एषः क्रमः कर्मणि ज्ञेयः अस्ति यतः चिद्गुणस्य वा अविशेषात् आवृतेः अनतिक्रमात्।

अन्वयार्थ - एक दर्शनावरण कर्म है। यह क्रम कर्म में भी जानने योग्य है क्योंकि यह दर्शनावरण भी दर्शन गुण को उसीप्रकार से तिरोभूत करने में अतिक्रम नहीं करता [जैसे कि ज्ञानावरण ज्ञान को तिरोभूत करता है]।

भावार्थ - जैसे आत्मा में एक ज्ञान गुण है तो उधर एक ज्ञानावरण कर्म है। उसी प्रकार जैसे आत्मा में एक दर्शन गुण है तो उधर एक दर्शनावरण कर्म है। जैसे ज्ञानावरण आत्मा के चेतनरूप ज्ञानगुण को ढकता है उसी प्रकार दर्शनावरण आत्मा के चेतनरूप दर्शनगुण को ढकता है। दोनों का एक जैसा क्रम है।

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः ।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते ॥ १७७० ॥

अन्वयः - च एवं जीवस्य सम्यक्त्वे गुणे सति - यत् कर्म तं सर्वतः मोहयति तत् दृङ्मोहाख्यं कर्म उच्यते ।

अन्वयार्थ - और इसीप्रकार जीव का सम्यक्त्व गुण होने पर, जो कर्म उसको सर्वप्रकार से मोहित करता है - वह दर्शनमोह नामक कर्म कहा जाता है।

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित् ।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥ १७७१ ॥

अन्वयः - एतत् कर्म अपि तत्तुल्यं न । क्वचित् अन्तर्भावि इति न यतः एतत् तद्द्वयावरणात् जात्यन्तरं अस्ति ।

अन्वयार्थ - यह दर्शनमोह कर्म भी उस [ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण] के समान नहीं है तथा उन दोनों कर्मों में अन्तर्भूत [समाविष्ट] भी नहीं होता है क्योंकि यह कर्म उन दोनों आवरणों से दूसरी जाति का है।

भावार्थ - ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म भिन्न है। यह दर्शनमोह भिन्न है तथा उन दोनों की आवरण करने की जाति और प्रकार की है और इसकी कार्य जाति और ही प्रकार की है। वे तो प्रतिपक्षी गुणों को ढकते मात्र हैं। उनकी कार्यशक्ति हीन हो जाती है। किन्तु यह तो सम्यक्त्व के स्वरूप से ही उलटा होने में अर्थात् विपरीतता में निमित्त है। इसलिये इसकी कार्य जाति उन दोनों से भिन्न है। इसलिये ज्ञान, दर्शन, गुण आत्मा में भिन्न हैं तथा सम्यक्त्व गुण भिन्न है तथा उसीप्रकार उनके आवरण ज्ञानावरण दर्शनावरण भिन्न है तथा सम्यक्त्व का निमित्त दर्शनमोह भिन्न है। इसलिये एक-दूसरे में अन्तर्भूत नहीं होते। पृथक्-पृथक् ही हैं।

तत् सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः ।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः ॥ १७७२ ॥

अन्वयः - ततः सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्य एकः गुणः स्वतः अस्ति तथा च सम्यक्त्वं नाम जीवस्य एकः गुणः स्वतः अस्ति।

अन्वयार्थ - इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जैसे ज्ञान जीव का एक गुण स्वतः [सिद्ध] है - उसीप्रकार सम्यक्त्व नामक भी जीव का एक गुण स्वतः [सिद्ध] है। [और उससे भिन्न है]।

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम् ।
पृथग्दृङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥ १७७३ ॥

अन्वयः - अस्य पृथक् उद्देश्यः एव। पृथक् लक्ष्यं च पृथक् लक्षणं च पृथक् दृङ्मोहकर्म। अन्तर्भावः कुत नयात् स्यात् ?

अन्वयार्थ – इस सम्यक्त्व गुण का भिन्न ही उद्देश्य [नाम कथन] है और भिन्न ही लक्ष्य है। भिन्न ही लक्षण है और [निमित्त में] भिन्न ही दर्शनमोह कर्म है। फिर यह गुण [ज्ञान गुण या दर्शन गुण में] अन्तर्भाव [समाविष्ट] किस न्याय से हो सकता है ? [अर्थात् किसी तरह भी यह उनमें समाविष्ट नहीं किया जा सकता किन्तु भिन्न ही स्वतन्त्र सिद्ध है]।

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोऽस्त्येकः प्रमाणसात् ।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम् ॥ १७७४ ॥

अन्वयः – एवं जीवस्य एकः चारित्रं गुणः प्रमाणसात् अस्ति। तत् यत् कर्म मोहयति तत् चारित्रमोहनं स्यात् ।

अन्वयार्थ – इसीप्रकार जीव का एक चारित्र गुण प्रमाण से [सिद्ध] है – उसको जो कर्म मोहित करता है – वह चारित्र मोहनीय है।

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोऽस्त्येकस्तदादिवत् ।
तमन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥ १७७५ ॥

अन्वयः – तदादिवत् जीवस्य एकः वीर्याख्यः गुणः अस्ति। तं इदं अन्तरयति तत् हि अन्तरायं कर्म अस्ति।

अन्वयार्थ – ऊपर के गुणों की तरह जीव का एक वीर्य नामक गुण है – उसको जो यह अन्तरित करता है वह ही अन्तराय कर्म है।

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणश्चितः ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १७७६ ॥

अन्वयः – अत्र एतावत् तात्पर्यं यथा चितः ज्ञानं गुणः तथा युक्तिस्वानुभवागमात् अनन्ताः गुणाः ज्ञेयाः ।

अन्वयार्थ – यहाँ यह ही तात्पर्य है कि जैसे आत्मा का ज्ञान गुण है – उसीप्रकार युक्ति, स्वानुभव और आगम से [सिद्ध] अनन्त गुण जानने चाहिये।

न गुणः कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित् ।
नाधारोऽपि नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥ १७७७ ॥

अन्वयः – कः अपि गुणः कस्य गुणस्य क्वचित् अपि अन्तर्भवः न, आधारः न, आधेयः अपि न, अपि इह हेतुः न, हेतुमान् न।

अन्वयार्थ – कोई भी गुण किसी भी गुण में कभी भी अन्तर्भाव नहीं होता है। न कोई गुण किसी गुण का आधार है, न आधेय है, न हेतु है और न हेतुमान् है।

भावार्थ – हेतु और हेतुमान का अर्थ कारण कार्य भी हो सकता है अथवा साधन साध्य भी हो सकता है। कोई गुण किसी गुण का कारण भी नहीं, कार्य भी नहीं, साधन भी नहीं, साध्य भी नहीं। सब स्वतन्त्र सत्ता के धारक हैं। प्रत्येक गुण असहाय-स्वतन्त्र है।

किन्तु सर्वोऽपि स्वात्मीयः स्वात्मीयशक्तियोगतः ।
नानारूपाह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथः ॥ १७७८ ॥

अन्वयः – किन्तु सर्वः अपि स्वात्मीयशक्तियोगतः स्वात्मीयः। एवं हि नानारूपाः अनेके अपि सता मिथः सम्मिलिताः।

अन्वयार्थ – किन्तु सब ही अपनी-अपनी शक्ति के योग से अपने-अपने रूप हैं। इसप्रकार नानाप्रकार से अनेक होने पर भी सत् से [अपने द्रव्य से] सब परस्पर सम्मिलित हैं [अर्थात् सब एक ही द्रव्य के आश्रय रहते हैं या यूं कहिये कि उनका पिण्ड ही द्रव्य है]।

गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात् ।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पूर्वसूरिभिः ॥ १७७९ ॥

अन्वयः – च गुणानां अनन्तत्वे अपि वाग्व्यवहारगौरवात् पूर्वसूरिभिः केचित् प्रसिद्धः गुणाः समुद्दिष्टाः।

अन्वयार्थ – गुणों के अनन्तपना होने पर भी वचन व्यवहार के गौरव [बढ़ने] से पूर्वाचार्यों के द्वारा कुछ प्रसिद्ध गुण ही कहे गये हैं।

यत्पुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा ।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम् ॥ १७८० ॥

अन्वयः – पुनः यत् क्वचित् कस्य अपि अनेकधा सीमाज्ञानं वा अनेकधा मनःपर्ययज्ञानं। तद्द्वयं समं भावयेत् ।

अन्वयार्थ – और जो कहीं-कहीं किसी जीव के अनेक प्रकार का अवधिज्ञान अथवा अनेक प्रकार का मनःपर्यय ज्ञान होता है। उन दोनों ज्ञानों को समान ही मानना चाहिये [अर्थात् कुछ विशेष नियम इन दोनों ज्ञानों में तो समान रूप से पाये जाते हैं – अन्य ज्ञानों में नहीं पाये जाते] जैसे –

तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः ।
स्याद्यथालक्षिताद्भावात् स्यादत्राप्यपरा गतिः ॥ १७८१ ॥

अन्वयः – तत्तदावरणस्य उच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः स्यात। अत्रापि यथालक्षितात् भावात् अपरा गतिः स्यात् ।

अन्वयार्थ – दोनों ही अपने-अपने विशिष्ट क्षयोपशम से होते हैं और यथालक्षित भाव से [अपने-अपने स्वरूप से] इनकी अन्यगति हो जाती है।

भावार्थ – अवधि और मनःपर्यय ये दो ज्ञान थोड़े समय रहते हैं। या तो होकर छूट जाते हैं या केवलज्ञान हो जाने से नष्ट हो जाते हैं। केवलज्ञान की तरह अनन्तकाल रहने वाले भी नहीं हैं और मति श्रुत की तरह अनादि से भी नहीं हैं। ये तो क्षणिक ज्ञान हैं। इनकी अन्यगति अवश्य होती है।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सनातनम् ।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथाहेतूपलब्धिसात् ॥ १७८२ ॥

अन्वयः – मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं एतन्मात्रं सनातनं स्यात् वा यथाहेतूपलब्धिसात् तरतमैः भावैः स्यात् ।

अन्वयार्थ – मतिज्ञान और श्रुतज्ञान – ये दोनों सनातन हैं [अर्थात् अनादि से है और केवलज्ञान होने तक रहते हैं] और कारण की प्राप्ति के अनुसार [अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों की उपस्थिति में] तरतम भावों से [हीनाधिक रूप से] वर्तते हैं।

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥ १७८३ ॥

अन्वयः – ज्ञानं यत् यावत् अर्थानां ग्राहकशक्तिमत् अस्ति तावत् क्षायोपशमिकं अस्ति। औदयिकं न भवेत् ।

अन्वयार्थ – ज्ञान जो जितना पदार्थों को ग्रहण करने की शक्तिरूप है [उघाड़ रूप है] उतना क्षायोपशमिक है – औदयिक नहीं है।

अस्ति द्वेधावधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यग्वधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥ १७८४ ॥

अन्वयः – कुतश्चित् अन्तरात् हेतोः अवधिज्ञानं द्वेधा अस्ति। सम्यगवधिः ज्ञानं स्यात् कुत्सितः अवधिः ज्ञानं स्यात्।

अन्वयार्थ – किसी अन्तरङ्ग कारण से [अर्थात् मिथ्यात्वभाव की सहचरता-असहचरता से] अवधिज्ञान दो प्रकार है। सम्यक् अवधिज्ञान और कुत्सित अवधिज्ञान।

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद् द्विधा ।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥ १७८५ ॥

अन्वयः – मतिज्ञानं द्वेधा अस्ति च श्रुतज्ञानं द्विधा स्यात् अपि सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानं अज्ञानं इति।

अन्वयार्थ – मतिज्ञान दो प्रकार है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकार है। सम्यक् मिथ्या विशेषणों से ज्ञान और अज्ञान हैं [अर्थात् इन सम्यग्ज्ञानों को ज्ञान कहते हैं और मिथ्याज्ञानों को अज्ञान कहते हैं]।

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः ।
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्न स्यादौदयिकं क्वचित् ॥ १७८६ ॥

अन्वयः - च एतेषु त्रिषु ज्ञानेषु यत् अज्ञानं स्यात् । अर्थतः तत् क्षायोपशमिकं स्यात्। औदयिकं क्वचित् न स्यात् ।

अन्वयार्थ - और इन तीनों ज्ञानों में जो अज्ञान [कुज्ञान] है - पदार्थरूप से वह क्षायोपशमिक भाव है। औदयिक भाव कहीं भी नहीं है।

भावार्थ - कुअवधि, कुमति और कुश्रुत मिथ्याज्ञान भी अपने-अपने आवरणों के क्षयोपशम से ही होते हैं। इसलिये वे भी क्षायोपशमिक भाव हैं। वे मिथ्यादर्शन के साथ होते हैं - इसलिये अज्ञान कहलाते हैं। मिथ्यात्व के अविनाभावी ज्ञान भी पदार्थ को विपरीत रूप से जानते ही हैं परन्तु जानना क्षायोपशमिक ज्ञान है। अज्ञान कहने से उन्हें यहाँ औदयिक अज्ञानभाव न समझ लेना।

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् ।
तदस्ति शून्यारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥ १७८७ ॥

अन्वयः - पुनः यत् अज्ञानं अस्ति-तत् अर्थात् औदयिकं स्मृतं । तत् शून्यतारूपं अस्ति यथा निश्चेतन वपुः।

अन्वयार्थ - और जो अज्ञान है [अर्थात् जितने अंश में ज्ञान का उघाड़ नहीं है] वह पदार्थरूप से औदयिक अज्ञान माना गया है - वह शून्यतारूप है जैसे चेतनारहित शरीर [भावार्थ आगे अज्ञान औदयिक भाव में देखिये]।

भावार्थ - जीव के २१ औदयिक भावों में अज्ञान भी है। वह अज्ञानभाव जीव की औदयिक अवस्था है। जब तक इस आत्मा में सर्व पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है अर्थात् जब तक केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है तब तक उसके अज्ञान भाव रहता है। इस भाव में ज्ञानावरण का उदय अंश निमित्त है। [उतने अंश में]।

यह अज्ञान भाव औदयिक भाव है। इसका कारण भी यही है कि क्षायोपशमिक ज्ञान भी आत्मा का गुण है। जितने अंशों में भी ज्ञान प्रगट हो जाता है वह आत्मा का गुण ही है और जो आत्मा का गुण है - वह औदयिक भाव हो नहीं सकता क्योंकि उदय तो कर्मों का ही होता है कहीं आत्मा के गुणों का उदय नहीं होता। इसलिये ज्ञानावरण के उदय अंश से होनेवाली आत्मा की अज्ञान अवस्था को ही अज्ञानभाव कहते हैं। वह अज्ञान औदयिक है। जो भाव ज्ञानावरण के क्षयोपशम अंश से होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इसलिये ही कुमति, कुश्रुत और विभङ्ग ज्ञानों को क्षायोपशमिक भावों में गिनाया गया है।

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोऽप्यौदयिकः स हि ॥ १७८८ ॥

अन्वयः - एतावता यः भावः दृङ्मोहस्य उदयात् अपि चारित्रमोहस्य पाकात् [भवति] सः सर्वः हि औदयिकः [अस्ति]।

अन्वयार्थ - इससे यह फलितार्थ हुआ कि जो भाव दर्शन-मोह के उदय से और चारित्रमोह के उदय से होता है वह सब ही औदयिक भाव है।

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।
यावांस्तत्रोदयाज्जातो भावोऽस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥ १७८९ ॥

अन्वयः - एवं न्यायात् अपि अन्येषां मोहादिघातिकर्मणां उदयात् तत्र यावान् भावः जातः अखिलः औदयिकः अस्ति।

अन्वयार्थ - इसी प्रकार न्याय से दूसरे मोहादि घातिकर्मों के उदय से वहाँ जो भाव उत्पन्न होता है - वह सब औदयिक है।

(१) आत्मा में एक ज्ञान गुण है। उसको आवरण करनेवाला ज्ञानावरण कर्म है। ज्ञानावरण के उदय से ज्ञान तिरोभूत हो जाता है वह इस प्रकार कि केवलज्ञानावरण के उदय से जीव के एक समय के सम्पूर्ण स्वपर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव का तिरोभूत होता है - यह औदयिकपना है। मनःपर्यय ज्ञानावरण से मनःपर्यय ज्ञान तिरोभूत होता है,

अवधिज्ञानावरण से अवधिज्ञान तिरोभूत होता है। श्रुतज्ञानावरण के उदयांश से श्रुतज्ञान तिरोभूत होता है और मतिज्ञानावरण के उदय अंश से मतिज्ञान तिरोभूत होता है। जितना ज्ञान तिरोभूत होता है – उसको औदयिक अज्ञान कहते हैं – यह तो औदयिक अज्ञानभाव है।

(२) ज्ञान के समान आत्मा में एक दर्शनगुण है। उसको आवरण करनेवाला दर्शनावरण कर्म है। वह जितने अंश में उदय रहता है – उतने अंश में दर्शन तिरोभूत हो जाता है।

(३) आत्मा में एक वीर्य गुण है। जितने अंश में अन्तराय का उदय है – उतने अंश में वह तिरोभूत हो जाता है।

(४) उसी प्रकार आत्मा में एक सम्यक्त्व गुण है – वह दर्शनमोहनीय कर्म को निमित्त बनाकर विपरीत होकर मिथ्यात्त्व रूप हो जाता है।

(५) इसी प्रकार आत्मा में एक चारित्र गुण है – वह चारित्र-मोहनीय के उदय रूप निमित्त में जुड़कर विपरीत होकर राग-द्वेष रूप परिणत होता है।

इस प्रकार सब औदयिक भावों का वृतान्त बताकर अब कहते हैं कि औदयिकपने की अपेक्षा तो सब औदयिक हैं ही पर इनमें दर्शनमोह और चारित्रमोह के उदय में जुड़ने से जो औदयिक मोहभाव होता है – वही वास्तव में जीव के लिये अहितकर है और वही सब अनिष्टों का कारण है – सो सहेतुक समझाते हैं:-

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रोदितो यथा ।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोऽपि लौकिकः ॥ १७९० ॥

अन्वयः – तत्र अपि अयं विवेकः श्रेयान् अस्ति यथा अत्र मोहजः उदितः भावः वैकृतः अस्ति। शेषः सर्वः अपि उदितः भावः लौकिकः अस्ति।

अन्वयार्थ – ऊपर के कथन में भी यह विवेक रखना चाहिये कि यहाँ [औदयिक भावों के प्रकरण में] जो मोह के निमित्त से होनेवाला औदयिक भाव है – वह वास्तव में विकारी [विकार रूप] है और शेष सब ही औदयिक भाव तो कहने मात्र के विकृत हैं।

भावार्थ – वास्तव में जिस भाव में मोहनीय का उदय निमित्त होता है – वह विकारी है अर्थात् संक्लेश रूप है। वही भाव आत्मा की अशुद्धता का कारण है। उसी से सम्पूर्ण कर्मों का बन्ध होता है और उसी के अवलम्बन करने से यह आत्मा अशुद्ध रूप धारण करता हुआ अनन्त संसार में भ्रमण करता रहता है। बाकी के कर्म अपने प्रतिपक्षी गुण को ढकते मात्र हैं। उनके उदय में जो औदयिक भाव होता है – उससे न तो कर्मबन्ध ही होता है और न वे उस जाति की अशुद्धता या संक्लेशता ही करते हैं।

स यथानादिसन्तानात् कर्मणोऽच्छिन्नधारया ।
चारित्रस्य दृशश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाच्चितः ॥ १७९१ ॥

अन्वयः – यथा सः चितः अच्छिन्नधारया अनादिसन्तानात् दृशः मोहस्य च चारित्रस्य मोहस्य कर्मणः उदयात् अस्ति।

अन्वयार्थ – वह विकृत मोहरूप भाव आत्मा के अच्छिन्न धारा से अनादि सन्तान से दर्शनमोह और चारित्रमोह कर्म के उदय से [उदय में जुड़ने से] है।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति ।
तत्त्वस्याप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥ १७९२ ॥

अन्वयः – तत्र यथासूत्रं [अयं] उल्लेखः [अस्ति] [यत्] दृङ्मोहस्य उदये सति शरीरिणां तत्त्वस्य अप्रतिपत्तिः वा मिथ्यापत्तिः [स्यात्]।

अन्वयार्थ – उसमें सूत्र के अनुसार यह उल्लेख है कि दर्शनमोह के उदय रहते [उसके उदय में जुड़ने से] जीवों के तत्त्व की अप्रतिपत्ति [अप्राप्ति-अश्रद्धा-अनसमझन] है या मिथ्या प्रतिपत्ति है [अर्थात् तत्त्व की विपरीत प्राप्ति है]।

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात् ।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥ १७९३ ॥

अन्वयः - अर्थात् दृग्विपर्ययात् आत्मप्रदेशेषु कालुष्यं अस्ति तत् मिथ्याजात्यनतिक्रमात् परिणतिमात्रं स्यात्।

अन्वयार्थ - उपरोक्त का भाव यह है कि दर्शन के विपर्यय के कारण से आत्मप्रदेशों में कलुषता है और वह कलुषता मिथ्या जाति को उल्लङ्घन न करके परिणतिमात्र है [अर्थात् मिथ्यात्त्व भाव आत्मा की एक निर्विकल्प मलिनता का नाम है जो सम्यग्दर्शन का विपरीत परिणमन है]।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्ति वक्तुमशक्यता ।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद् बुद्धिपूर्वकम् ॥ १७९४ ॥

अन्वयः - तत्र सामान्यमात्रत्वात् वक्तुं अशक्यता अस्ति ततः तल्लक्षणं संक्षेपात् बुद्धिपूर्वकं वच्मि।

अन्वयार्थ - उस कलुषता में सामान्यमात्रपना होने से [निर्विकल्पता होने से] कहने के लिये अशक्यता है। इसलिये उसके लक्षण को संक्षेप से बुद्धिपूर्वक कहता हूँ।

भावार्थ - सामान्य वस्तु भेद रहित होने से शब्द अगोचर होती है। केवल उस मलिनता को समझाने के लिये उसका ज्ञानगोचर लक्षण कुछ कहा जाता है।

इस पर कोई यह कहे कि जब वह निर्विकल्प है तो आप उसे क्योंकर कह सकते हैं ? तो उत्तर देते हैं -

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता ।
स्वसंवेदनसिद्धत्त्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥ १७९५ ॥

अन्वयः - तत्र निर्विशेषात्मके हेतोः असिद्धता न स्यात् युक्तिस्वानुभवागमैः स्वसंवेदनसिद्धत्वात् ।

अन्वयार्थ - उस मिथ्यात्व रूप कलुषता के निर्विशेषात्मक होने पर [सामान्यमात्र होने पर - निर्विकल्प होने पर] हेतु के असिद्धता नहीं है क्योंकि वह मिथ्यात्व रूप कलुषता युक्ति, स्वानुभव और आगम के बल से स्वसंवेदन सिद्ध है।

भावार्थ - यहाँ कोई कहे कि जब वह मिथ्यात्वरूप मलिनता निर्विकल्प है तो उसकी सिद्धि के लिये अनुमान प्रयोग में जो हेतु आप देंगे वह असिद्धहेत्वाभास हो जायेगा क्योंकि निर्विकल्प वस्तु वचन के अगोचर होती है तो उसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो ठीक है कि निर्विकल्प वस्तु का बराबर लक्षण नहीं कहा जा सकता पर भाई युक्ति, स्वानुभव और आगम की सहायता से वह निर्विकल्प मलिनता भी स्वसंवेदन ज्ञान में अवश्य अनुभवगम्य हो जाती है। सो अब कुछ विवेचन द्वारा उस मलिनता का अनुभव कराते हैं -

सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम् ।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषांचित् संज्ञिनां मनः ॥ १७९६ ॥

अन्वयः - मिथ्याभावः इह सर्वसंसारीजीवां निरन्तरं [अस्ति]। केषांचित् संज्ञिनां मनः विशेषोपयोगि स्यात् ।

अन्वयार्थ - मिथ्यात्व भाव इस संसार में सब संसारी जीवों के निरन्तर है और किन्हीं संज्ञी जीवों का मन [उस मिथ्यात्वभाव में] विशेष उपयोगी है [अर्थात् कोई संज्ञी जीव अगृहीत मिथ्यात्व के अतिरिक्त गृहीत मिथ्यात्व को भी धारण कर लेते हैं। अगृहीत मिथ्यात्व को निश्चय मिथ्यात्व, सामान्य मिथ्यात्व, अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व, निसर्गज मिथ्यात्वादि अनेक नामों से कहा है और गृहीत मिथ्यात्व को व्यवहार मिथ्यात्व, विशेष मिथ्यात्व, बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व और नया गृहीत मिथ्यात्व आदि नामों से कहते हैं। वह अगृहीत मिथ्यात्व तो सब संसारी जीवों के नियम से पाया ही जाता है और गृहीत मिथ्यात्व को कुछ संज्ञी जीव और धारण कर लेते हैं।

तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः ।
कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥ १७९७ ॥

अन्वयः - वा तेषां संज्ञिनां मनः नूनं अनवस्थितं अस्ति। अतः कदाचित् मिथ्याभावार्थभूमिषु सोपयोगि स्यात् ।

अन्वयार्थ - अथवा उन संज्ञी जीवों का मन वास्तव में अनवस्थित है [अर्थात् उन्हें पदार्थ का निर्णय नहीं है] अतः कभी कभी मिथ्या भावार्थ भूमियों में [अर्थात् अन्यमतियों के बताये हुये तत्त्वार्थों में] उपयोगी होता है [अर्थात् उनकी वास्तविक रूप से श्रद्धा कर लेता है - यह गृहीत मिथ्यात्व है]।

ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः ।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत् ॥ १७९८ ॥

अन्वयः - ततः न्यायागतः [यत्] जन्तोः मिथ्याभावः निसर्गतः अस्ति वा दर्शनमोहस्य एव उदयात् प्रवाहवत् वर्तते।

अन्वयार्थ - इसलिये न्याय से यह बात प्राप्त हुई कि जीव के मिथ्याभाव स्वभाव से [उपादान की स्वतन्त्र स्वकाल की योग्यता से] है अथवा दर्शनमोह के उदय से [उदय में जुड़ने से] धाराप्रवाह के समान वर्तता है।

भावार्थ - उपादान की दृष्टि से देखा जाय तो इस आत्मा में मिथ्यात्व भाव उस समय की पर्याय की स्वतः योग्यता से अनादि से धाराप्रवाह रूप चला आ रहा है और निमित्त की दृष्टि से देखा जाय तो दर्शनमोह के अनादि उदय से धाराप्रवाह रूप है क्योंकि विभाव भाव है और विभाव में निमित्त का अनुसरण अवश्य होता है।

अब उस मिथ्यादर्शन के कार्यों को बतलाते हैं। कार्य, स्वरूप, लक्षण, चिन्ह इत्यादिक का एक ही अर्थ है -

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ।
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥ १७९९ ॥

अन्वयः - तत् उदयस्य यत् कार्यं [तत्] उच्चैः प्रत्यक्षात् सिद्धं एव अन्यथा आत्मनः स्वरूपानुपलब्धिः कथं स्यात्।

अन्वयार्थ - उसके उदय का जो कार्य है वह प्रगट प्रत्यक्ष से यह सिद्ध ही है अन्यथा स्वरूप की अनुपलब्धि आत्मा के कैसे हो सकती है ? [*अर्थात् यह प्रत्यक्ष है कि आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि रूप सम्यक्त्व नहीं है जिसके कारण* उसके विरोधी मिथ्याभाव का अस्तित्त्व स्वतः सिद्ध है]।

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात् कर्मणो महान् ।
अत्रैवं शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥ १८०० ॥

अन्वयः - स्वरूपानुपलब्धौ तु कर्मणः महान् बन्धः स्यात् । अत्र एवं शक्तिमात्रं तु सुदृष्टिभिः वेदितव्यं ।

अन्वयार्थ - स्वरूप की अनुपलब्धि में तो कर्म का महान् बन्ध होता है। इस विषय में मात्र इस मिथ्यात्व भाव की ही ऐसी शक्ति है ऐसा सम्यग्दृष्टियों को जानना चाहिये।

भावार्थ - मिथ्यादर्शन नामा औदयिक भाव के चिह्नों को समझाते हुये कहते हैं कि सब से पहली बात यह है कि इसके सद्भाव में जीव को आत्मप्राप्ति अर्थात् आत्मानुभव नहीं होता है। न लब्धिरूप होता है और न उपयोगरूप होता है इस पर यह शंका हो सकती है कि न होने दो - इसमें जीव की क्या हानि है तो कहते हैं कि केवलियों ने अपने ज्ञान में ऐसा देखा है कि इस मिथ्यादर्शन भाव की सामर्थ्य से जीव को कोई महान् कर्मबन्ध होता है जो अनन्त संसार का कारण है। यह मिथ्यात्वभाव से अथवा आत्मास्वरूपानुपलब्धि से सब से बड़ी हानि है। आत्मोपलब्धि होने पर वह बन्ध नहीं होता अथवा सम्यग्दृष्टियों को जो यह कहा जाता है कि उन्हें बन्ध ही नहीं होता - निर्जरा ही होती है - वह इसी अपेक्षा से कहा जाता है।

अब कहते हैं कि इस पर कोई यह तर्क करे कि ऐसा क्यों ? तो कहते हैं कि वस्तुस्वभाव में और वस्तु की शक्तियों में तर्क नहीं होता। वस्तु स्वभाव ही ऐसा है। केवलियों ने ऐसा ही अपने ज्ञान में देखा है। इसी दृष्टि से सम्यग्दृष्टियों को अबन्धक कहा है:-

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः ।
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलङ्घ्या वस्तुशक्तयः ॥ १८०१ ॥

अन्वयः - अत्र प्रसिद्धैः भास्वद्भिः दृष्टान्तकोटिभिः अलं। अत्र इत्थं एव एवं स्यात् [यत्] वस्तुशक्तयः अलङ्घ्याः।

अन्वयार्थ - इस विषय में प्रसिद्ध और प्रगट करोड़ों दृष्टान्तों से क्या लाभ। इसमें ऐसा इस प्रकार ही होता है क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ अलङ्घ्य हैं [टाली नहीं जा सकती हैं]।

भावार्थ - जैसे नीम में स्वतः कड़वेपन की शक्ति है। ज़हर में स्वतः उस जाति की शक्ति है। अग्नि में स्वतः जलाने की शक्ति है - उसी प्रकार मिथ्यात्व भाव में अनन्त संसार उत्पादक कर्मबन्ध की शक्ति है। स्वतः ऐसा वस्तु स्वभाव है। जगत् में करोड़ों पदार्थ अपने-अपने स्वभाव को स्वतः धारण किये हुये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं। स्वभाव में तर्क का प्रश्न नहीं होता। इस पदार्थ में ऐसी शक्ति क्यों है ? यह प्रश्न ही व्यर्थ है। आत्मा में ही ज्ञान क्यों है ? पुद्गल में ही मूर्तिकल्पना क्यों है ? इन सब बातों का एक ही उत्तर है कि उस वस्तु की शक्ति ही वैसी है। वह किसी से टाली नहीं जा सकती।

अवान्तर शङ्का

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् ॥ १८०२ ॥
अथ तत्रापि केषांचित्संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥ १८०३ ॥

अन्वयः - सर्वे [मोहभावाः] जीवमयाः दृष्टान्तः बन्धसाधकः। कस्मात् एकत्र व्यापकः कथं अन्यत्र अव्यापकः। अथ तत्र अपि बुद्धिपूर्वकः मिथ्याभावः गृहीताख्यः मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः केषांचित् संज्ञिनां कथं ?

अन्वयार्थ - जब सब विकाररूप मोहभाव जीवकृत हैं और प्रत्येक मोहभाव बन्ध का साधक है फिर किसी एक जाति का मोहभाव किन्हीं एक जीवों में तो क्यों पाया जाता है और वही मोहभाव दूसरे जीवों में क्यों नहीं पाया जाता ? और उनमें भी वुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वभाव जो गृहीत मिथ्यात्व नामवाला है तथा मिथ्यापदार्थ की आकृति रूप है - वह किन्हीं संज्ञियों के ही क्यों पाया जाता है - सबके क्यों नहीं पाया जाता ?

भावार्थ - शिष्य का कहना है कि मोहज सब औदयिक विकृत भाव जीवकृत हैं। बन्ध के साधन हैं फिर एक प्रकार का मोहभाव एक गतिवाले जीवों के तो क्यों पाया जाता है और वही मोहभाव दूसरी गतिवाले जीवों में क्यों नहीं पाया जाता? जैसे चूहों को पकड़ने का भाव बिल्ली में ही क्यों पाया जाता है - मनुष्यों में क्यों नहीं पाया जाता। शिष्य का ऐसा आशय है कि तिर्यञ्चों के मोहभाव तिर्यञ्चों में ही क्यों पाए जाते हैं मनुष्यों में क्यों नहीं। मनुष्य के मोहभाव मनुष्यों में ही क्यों पाये जाते हैं देवों में क्यों नहीं। देवों के नारकियों में क्यों नहीं इत्यादिक। यह शंका तो उसको अगृहीत मिथ्यात्व के सम्वन्ध में थी कि अगृहीत मिथ्यात्व में अनेकों जातियाँ क्यों हैं। अब दूसरा प्रश्न गृहीत मिथ्यात्व के बारे में करता है कि गृहीत मिथ्यात्व तो सब संज्ञियों में पाया जाना चाहिये फिर किन्हीं में क्यों पाया जाता है जैसे सांख्य वस्तु को नित्य ही मानता है तो वह कहता है कि वह नित्य एकान्तरूप मिथ्यात्व भाव उन्हीं में क्यों पाया जाता है - सबमें क्यों नहीं पाया जाता? बौद्ध वस्तु को अनित्य मानता है तो वह पूछता है कि अनित्य एकान्त मिथ्यात्व उन्हीं में क्यों पाया जाता है - सबमें क्यों नहीं पाया जाता ? किन्हीं की बुद्धि सब धर्मों को एक समान मानने की है - यह विनय मिथ्यात्व उन्हीं में क्यों हैं ? इसी प्रकार किसी में मुख्यतया संशय मिथ्यात्व, किसी में विपरीत मिथ्यात्व, किसी में अज्ञान मिथ्यात्व, ऐसा क्यों है ? सारी शंका का सार यह है कि भावमोह के अनेकों टाइप क्यों हैं ? इस शंका का समाधान उसे सैद्धान्तिक दृष्टि से समझाते हैं -

समाधान सूत्र १८०४ से १८०८ तक ५

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह ।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥ १८०४ ॥

अन्वयः - अर्थात् इह सः जातेः अनतिक्रमात् एकविधः च आलापापेक्षया लोकासंख्यातमात्रः अपि स्यात् ।

अन्वयार्थ - इस लोक में वह मोहभाव वास्तव में तो एक ही प्रकार है क्योंकि अपनी मोह जाति को उल्लंघन नहीं करता है और वही मोहभाव आलाप स्थानों की अपेक्षा से असंख्यात लोकमात्र भी है।

भावार्थ - उसे उत्तर में यह समझा रहे हैं कि मोह जाति की अपेक्षा से तो सब भाव एक प्रकार के ही हैं क्योंकि मोह करने की सबमें समानता है और भिन्न-भिन्न विभाव स्थानों की अपेक्षा असंख्यात भेद भी हैं इसलिये उसके अनेकों टाइप हैं।

आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा ।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादिक्रमादिह ॥ १८०५ ॥

अन्वयः - यः एकजातिः आलापः अपि [सः] अनेकधा नानारूपः [स्यात्] यथा इह एकान्तः विपरीतः च इत्यादिक्रमात्।

अन्वयार्थ - जो एक जाति का भी आलाप है वह भी अनेक प्रकार होने से नानारूप है जैसे एकान्त, विपरीत, इत्यादि से जान लेना [अर्थात् मिथ्यात्व के अवान्तर भेदों में जैसे एकान्त मिथ्यात्व है तो वह एकान्त मिथ्यात्व भी अपने

अवान्तर भेदों से नानारूप है। इसी प्रकार विपरीत आदि सब समझ लेना। अर्थात् मिथ्यात्व के भेद-प्रभेद आदि अनेकों भेद हैं इसलिये जो भाव एक स्थान में पाया जाता है - वह दूसरे स्थान में नहीं पाया जाता]।

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १८०६ ॥

अन्वयः - अथवा शक्तितः मिथ्याभावः निसर्गतः अनन्तः यस्मात् एकैकं आलापं प्रति अनन्ताः शक्तयः ।

अन्वयार्थ - अथवा शक्ति से मिथ्यात्व स्वभाव से ही अनन्त प्रकार है क्योंकि एक-एक आलाप के प्रति अनन्त शक्तियाँ हैं [जैसे एकान्त मिथ्यात्व है। उसमें जो एक ही जाति का एकान्त मिथ्यात्व है - उसमें शक्ति के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से भिन्नता है। किसी के महानतर, महानतम, किसी के अल्प, अल्पतर, अल्पतम इत्यादि। इसी प्रकार सब समझ लेना]।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः ।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥ १८०७ ॥

अन्वयः - वा पुनः शक्तिभेदात् यावत् जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैः परिणामिनः क्षणं पृथक् उन्मज्जन्ति ।

अन्वयार्थ - और फिर शक्ति के भेद से कुछ भी जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भावों से परिणमन करते हुए वे भाव प्रत्येक समय में पृथक् रूप से उदित होते हैं [अर्थात् जो एक ही जाति का एक मिथ्यात्व भाव है वह जिस समय में जितने अविभाग प्रतिच्छेदों की शक्ति संयुक्त है, दूसरे समय में उससे हीनाधिक शक्तियुक्त भी हो सकता है अथवा उसकी जाति भी बदल सकती है। इस प्रकार अनादि से यह धारा चली आ रही है]।

कारुं कारुं स्वकार्यत्वाद्बन्धकार्यं पुनः क्षणात् ।
निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जन्ति यथोदयात् ॥ १८०८ ॥

अन्वयः - स्वकार्यत्वात् कारुं बन्धकार्यं अपि कारुं पुनः क्षणात् निमज्जन्ति च पुनः यथोदयात् अन्ये प्रोन्मज्जन्ति।

अन्वयार्थ - और अपना कार्य होने से अपने कार्य को करके और बन्ध कार्य को भी करके क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं और उदयानुसार [उदय का अनुसरण करके] अन्य भाव उदित होते हैं।

भावार्थ - प्रत्येक समय में जैसा भी मोह भाव होता है - वह उसी रूप अपना काम करता है अर्थात् उसका उसी रूप वेदन होता है । उसके अनुसार कर्मबन्ध होता है और अगले समय में फिर नया भाव होता है - उसके अनुसार वेदन कार्य और बन्ध होता है। यह परिपाटी अनादि से चली आ रही है। उधर कर्मोदय अपने कारण से स्वतः उदय होता है। इधर जीव उस निमित्त की सान्निध्य में औदयिक भाव स्वतः करता है। ऐसा ही कोई स्वतन्त्र रूप से ही उपादान निमित्त का मेल है पर निमित्त उपादान से करवाता है - ऐसा नहीं है। पदार्थ त्रिकाल पर से निरपेक्ष परिणमता है [देखो श्री पंचास्तिकाय सूत्र ६२ टीका] अथवा ऐसा भी नहीं है कि उदय के अनुसार जीव को डिग्री टू डिग्री विभाव करना पड़ता है।

इस प्रकार यहाँ तक मोहभावों की भिन्न-भिन्न जातियों के कारण समझाकर अब मोहभाव का कुछ बुद्धिपूर्वक लक्षण समझाते हैं -

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा ।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात् ॥ १८०९ ॥

अन्वयः - बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणात् लक्षितं यथा जीवादीनां अश्रद्धानं वा विपर्ययात् श्रद्धानं ।

अन्वयार्थ - बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व [अर्थात् मिथ्यात्व का वह लक्षण जो अपने ज्ञान से लक्षणपूर्वक जाना जा सकता है] लक्षण से इस प्रकार लक्षित है जैसे जीवादिक का [नौ पदार्थों का] अश्रद्धान होना या विपर्यय रूप श्रद्धान होना।

भावार्थ - नौ पदार्थों का श्रद्धान न करना या उलटा श्रद्धान करना यह बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व का पहला लक्षण अथवा दृष्टान्त है।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः ।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा ॥ १८१० ॥

अन्वयः - सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः ये अत्र अपि प्राक् एव दर्शिताः ते नित्यं जिनोदितैः वाक्यैः ज्ञातुं शक्याः च अन्यथा न ।

अन्वयार्थ - सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती पदार्थ जो यहाँ पहले ही दिखलाये गये हैं वे सदा जिनेन्द्र के कहे हुए वाक्यों द्वारा ही जानने के लिये शक्य हैं और अन्य किसी प्रकार भी नहीं जाने जा सकते।

भावार्थ - ये पदार्थ केवली गम्य हैं और छद्मस्थ को आगम आधार से जानने योग्य हैं। मिथ्यादृष्टि को इनकी श्रद्धा नहीं होती। धर्म-अधर्म, काल, परमाणु आदि को सूक्ष्म पदार्थ कहते हैं क्योंकि ये इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होते। राम-रावण आदि को अन्तरित पदार्थ कहते हैं अर्थात् जिन पदार्थों में भूत काल का बहुत समय का अन्तर हो या आगे बहुत समय बाद होने वाले हों जैसे राजा श्रेणिक तीर्थङ्कर होंगे - अगली चौबीसी। दूरवर्ती पदार्थ मेरु पर्वत, स्वर्ग, नदी, द्वीप, समुद्र इत्यादिक कहलाते हैं अर्थात् जिनमें इतनी दूर का अन्तर है कि छद्मस्थ वहाँ पहुँचकर उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता। किसी आगम में राम रावण आदि को दूरवर्ती और मेरु आदि को अन्तरित भी कह दिया है।

दर्शितेष्वपि तेषूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ।
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि ॥ १८११ ॥

अन्वयः - स्याद्वादिभिः तेषु उच्चैः स्फुटं दर्शितेषु अपि [मिथ्यादृष्टिः] तान् अपि स्वीकरोति एव न मिथ्याकर्मोदयात्।

अन्वयार्थ - स्याद्वादी जैनों के द्वारा उनके प्रगट दिखलाये जाने पर भी मिथ्यादृष्टि उनको स्वीकार ही नहीं करता क्योंकि उसके मिथ्यात्व कर्म का उदय है। [अर्थात् वह जीव अवस्तु को वस्तु मानकर मिथ्यात्व कर्म का अनुसरण करता है। जड़ कर्म वैसा कराते हों ऐसा नहीं है वह तो निमित्तमात्र है।]

भावार्थ - यद्यपि जैन आगम में वे सूक्ष्मादि पदार्थ स्पष्ट रूप से निरूपित हैं पर मिथ्यात्व से जीव उनको नहीं मानता या उस रूप नहीं मानता।

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात् ।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥ १८१२ ॥

अन्वयः - ज्ञानानन्दौ मुक्तात्मनः अन्वयात् यथा स्यातां यत् अक्षशरीरेभ्यः विना अपि प्रोक्तं अस्ति। अस्ति वा न वा अस्ति।

अन्वयार्थ - [अतीन्द्रिय] ज्ञान और [अतीन्द्रिय] सुख सिद्ध भगवान के अन्वय रूप से [निरन्तर धाराप्रवाह रूप से] जैसे हैं वह और जो बिना इन्द्रिय, शरीर और विषयों के भी कहे गये हैं। वे हैं अथवा नहीं भी हैं।

भावार्थ - अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख का वर्णन चौथी पुस्तक में हो चुका है। उन्हें मिथ्यादृष्टि नहीं मानता। न उन्हें आत्मा का स्वभाव मानता है और न सिद्ध में उनकी प्रगटता ही मानता है क्योंकि उसे मिथ्यात्व के अविनाभावी इन्द्रिय सुख और ज्ञान का चसका है। वह इसे ही सर्वोत्कृष्ट और हितकर जानता है।

स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट् ।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥ १८१३ ॥

अन्वयः - जैनागमे किल यत् स्वतः सिद्धानि जीवादीनि षट् द्रव्याणि इति प्रोक्तं तत् स्यात् अनात्मवित् न इच्छेत्।

अन्वयार्थ - जैनागम में निश्चय से जो स्वतःसिद्ध जीवादिक छः द्रव्य जैसे कहे गये हैं - वे हैं ऐसा अनात्मवित [आत्मा को नहीं जाननेवाला-मिथ्यादृष्टि] नहीं मानता।

भावार्थ - मिथ्यादृष्टि छः द्रव्य, उनके गुण तथा उनका अनादि अनन्त स्वतः सिद्ध स्वभाव या विभाव क्रमबद्ध परिणमन नहीं मानता है।

नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चैकपदे च यत् ।
स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते कुदृक् ॥ १८१४ ॥

अन्वयः - यत् एकं तत्त्वं नित्यानित्यात्मकं एकपदे स्यात्। स्यात् न वा। कुदृक् विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते।

अन्वयार्थ - और जो एक ही तत्त्व [एक ही वस्तु - एक ही द्रव्य] नित्यानित्यात्मक आदि रूप एक ही साथ [एक समय में] है - वह ऐसा है भी या नहीं इस प्रकार मिथ्यादृष्टि विरुद्ध होने से संशय करता है।

भावार्थ - दूसरी सारी पुस्तक में जो यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्येक द्रव्य नित्य-अनित्य, तत्-अतत्, अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, इन ४ युगलों से गुम्फित है अर्थात् वस्तु अनेकान्तात्मक है - इसे वह नहीं मानता क्योंकि इन युगलों में दो-दो धर्मों में परस्पर विरुद्धता है जो उसके ज्ञान में नहीं बैठती या उसे नहीं जँचती। वह तो यह समझता है कि जैसे अन्धेरा-चान्दना या ठण्डा-गर्म दो विरोधी पदार्थ एक साथ नहीं रह सकते - उसी प्रकार ये नित्य-अनित्य आदि विरोधी धर्म एक पदार्थ में नहीं रह सकते किन्तु वह यह नहीं जानता कि अन्धेरा-चान्दना या ठण्डा-गरम तो पर्यायें हैं जो वास्तव में विरोधी होने से एक साथ नहीं रह सकते पर नित्यानित्य आदि युगल तो गुण पर्याय में रहते हैं। गुण पर्याय में विरोधी धर्म रह सकते हैं जैसे शक्ति रूप गुण में सम्यक्त्व और पर्याय में मिथ्यात्व, गुण में सुख पर्याय में दुःख। हाँ पर्याय में एक साथ सम्यक्त्व मिथ्यात्व आदि विरुद्ध वस्तुएँ नहीं रह सकती सो हम भी मानते हैं पर बेचारे मिथ्यादृष्टि को गुण पर्याय का [सामान्य विशेष का] ज्ञान ही कहाँ है।

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु ।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥ १८१५ ॥

अन्वयः - अपि यावत् नोकर्मकर्मसु अनात्मीयभावेषु 'अहं आत्मा' इति या बुद्धिः अस्ति [तावत्] दृङ्मोहस्य विजृम्भितम्।

अन्वयार्थ - और जो, नोकर्म और भावकर्म रूप अनात्मीय भावों में [पर भावों में] ''ये मैं आत्मा हूँ'' ऐसी जो बुद्धि है - वह सब दर्शनमोह का विस्तार है।

भावार्थ - मैं गोरा हूँ, काला हूँ, पीला हूँ, मोटा हूँ, छोटा हूँ। इत्यादि रूप शरीर धर्मों में आपा मानना नोकर्मों में आत्मवुद्धि है और मैं क्रोधी हूँ - तुम्हें जान से मारूँगा, मैं लोभी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं दयालु हूँ, - तुम्हें बचाऊँगा, सुखी-दुःखी करूँगा इत्यादिक भावों में आपा मानना भावकर्मों में आत्मबुद्धि है। यह भी मिथ्यात्व से होती है।

अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह ।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दृङ्मोहस्यानुशासनात् ॥ १८१६ ॥

अन्वयः - इह अदेवे देवबुद्धिः, अगुरौ गुरुधीः अधर्मे धर्मवत् ज्ञानं दृङ्मोहस्य अनुशासनात् स्यात् ।

अन्वयार्थ - और इस लोक में अदेव या कुदेव में देवबुद्धि, अगुरु या कुगुरु में गुरुबुद्धि, अधर्म या कुधर्म में धर्मवत् ज्ञान [अधर्म को धर्मवत् जानना] मिथ्यात्व के अनुशासन से होता है।

भावार्थ - हरिहर आदि अन्यमत के झूठे देवों में अरहन्त देववत् मान्यता का होना मिथ्यात्व है। परिग्रही-विषयी या विपरीत वस्तु के श्रद्धानी गुरुवों में आचार्य-उपाध्याय-साधुओं जैसी गुरुबुद्धि होना मिथ्यात्व है। धर्म तो केवल शुद्ध सम्यक्त्व या शुद्ध चारित्र भाव है जो मोहक्षोभ रहित आत्मा का स्वाभाविक परिणमन है। उसके अतिरिक्त हिंसामय अन्यमतों के बताये हुये पाखण्ड मार्ग को धर्म मानना या पुद्गलाश्रित क्रियाओं को [मन, वचन, काय की शुभ क्रियाओं को] धर्म मानना या शुभ विकल्प को धर्म मानना अधर्म में धर्मबुद्धि है - जो मिथ्यात्व है।

धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं दुराशयः ।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥ १८१७ ॥

अन्वयः - दुराशयः मोहशासनात् धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं सेवते वा कुत्सितं कर्म कुर्यात् ।

अन्वयार्थ - खोटे आशय वाला [झूठी आशा रखनेवाला] मिथ्यादृष्टि जीव मोह के शासन से [मोहभाव के वशीभूत होकर] धन-धान्य, सुता आदि के लिये झूठे देव को सेता है अथवा अनेक खोटे कुकर्मों को करता है।

भावार्थ - मिथ्यादृष्टि पुत्र, धन आदि की प्राप्ति के लिये क्या-क्या नहीं करता। शीतला को पूजता है। अम्बा देवी आदि जाता है। जन्त्र-मन्त्र-तन्त्र वादियों के पीछे फिरता है। अनेक प्रकार की पशुबलि आदि हिंसा करता है। अनेक स्थानों को सेवता है। पीपल तक को पूजता है। कहाँ तक कहें - मिथ्यात्व के प्रभाव से धन, पुत्र आदि परवस्तुओं का

अभिलाषी क्या-क्या नहीं करता। पागलवत् अविवेकी होकर डोलता है। यह सब मिथ्यात्व का प्रभाव है। वह नहीं जानता कि ये पदार्थ सातावेदनीय के उदय बिना किसी उपाय से भी नहीं मिल सकते। इसके लिये श्री समयसार जी का बन्ध अधिकार पढ़कर बहुत सन्तोष होता है क्योंकि संयोग का धर्म वास्तव में वैसा ही है जैसा वहाँ निरूपित है। उपादान दृष्टि से वह स्वतन्त्र अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रहता है और संयोगदृष्टि से [निमित्तदृष्टि से] कर्माधीन है। मिथ्यात्वी के सब उपाय निष्फल मात्र कर्मबन्ध के कारण हैं।

गति औदयिक भाव का उपसंहार सूत्र १८१८ से १८२० तक ३

सिद्धमेतन्नु ते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिछलात् ।
अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहद्वैतोदयात्परम् ॥ १८१८ ॥

अन्वयः - एतत् नु सिद्धं ते भावाः ये अपि गतिछलात् प्रोक्ताः ते अपि अर्थात् औदयिकाः परं मोहद्वैतोदयात् ।

अन्वयार्थ - इससे यह बात भली प्रकार सिद्ध हुई कि वे भाव जो गति के छल से [गति पर आरोप करके गतिभावों के नाम से] कहे गये हैं - वे भी वास्तव में औदयिक हैं क्योंकि केवल मोहद्वैत [दर्शनमोह और चारित्रमोह] के उदय से होते हैं [अर्थात् गति औदयिक भाव विकृत मोहज भावों के ही अवान्तरगत हैं]।

भावार्थ - गति औदयिक भावों में यह बतलाया गया है कि नारक, तिर्यञ्च , मनुष्य, देव इन चारों पर्यायों में आत्मा के भाव भिन्न-भिन्न रीति से असाधारण होते हैं। जैसी पर्याय होती है, उसी के अनुसार आत्मा की भाव सन्तति भी होती है। इस पर शिष्य ने शङ्का की थी कि गतिकर्म तो नाम कर्म का भेद होने से अघातिया है, उसमें आत्मा के भावों में निमित्त होने की योग्यता कहाँ से आ सकती है ? इस शङ्का के उत्तर में यह कहा गया है कि उस गति कर्म के उदय के साथ ही मोहनीय कर्म का भी उसी जाति का उदय हो रहा है - इसलिये वही वास्तव में आत्मा के गति भावों में निमित्त है।

यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः ।
स स्याद् द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥ १८१९ ॥

अन्वयः - यत्र कुत्र अपि वा अन्यत्र बुद्धिपूर्वकः रागांशः सः द्वैविध्यमोहस्य पाकात् वा अन्यतमोदयात् स्यात् ।

अन्वयार्थ - जहाँ कहीं भी अन्यत्र [अर्थात् किसी भी गति में जहाँ कहीं भी] बुद्धिपूर्वक रागांश है - वह दो प्रकार के मोह के उदय से [उदय में जुड़ने से] या उनमें से किसी एक के उदय से होता है।

भावार्थ - उपरोक्त के लिये यह सैद्धान्तिक नियम बताया कि गतिभाव क्योंकि रागभाव है - अतः वे मोहभाव के ही अवान्तर भेद हैं।

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः ।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥ १८२० ॥

अन्वयः - एवं गतिसंश्रिताः चत्वारः औदयिकाः भावाः मोहकर्मोदयात्मकाः केवलं बन्धकर्तारः ।

अन्वयार्थ - इस प्रकार गति आश्रित चार औदयिक भाव मोहकर्म के उदयस्वरूप हैं और केवल बन्ध करनेवाले हैं।

भावार्थ - जब ये गति भाव मोह के अवान्तर भेद हैं तो नियम से बन्धसाधक हैं - यह तो स्वतः सिद्ध हो गया।

गति भाव का सार

जैसे बिल्ली की पर्याय में ही चूहे पकड़ने का भाव होता है। कुत्ते की पर्याय में ही भौंकने का भाव होता है। इनको तिर्यञ्च गति के औदयिक भाव कहते हैं। इसी प्रकार स्त्री में स्त्री जैसा भाव, नारकी में नारकी जैसा भाव, इत्यादिक। ये गति नामा औदयिक भाव हैं। वास्तव में ये मोह भाव के विशेष भेद हैं किन्तु इनको गतिभाव कहने से ये जीवों को स्पष्ट रूप से ख्याल में आ जाते हैं क्योंकि वे गति के अनुसार ही होते हैं। इनको गति भाव कहने में केवल यह ही एक प्रबल कारण है कि ये मोह भाव होते हुये भी गति के अनुसार होते हैं और गति भाव से जीव को झट स्पष्ट रूप से पकड़ में आ जाते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से ये मोह भाव ही हैं। वास्तव में गति तो अघाति कर्मों का कार्य है।

कषाय औदयिकभाव

(सूत्र १८२१ से १८३९ तक १९)

कषायों के भेद सूत्र १८२१ से १८२३ तक ३

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः ।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥ १८२१ ॥

अन्वयः - क्रोधः मानः अथ माया च लोभः इति चतुष्टयात् कषायाः अपि चत्वारः च जीवस्य औदयिकाः स्मृताः।

अन्वयार्थ - क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकार से कषाय भी [गति भाव की तरह] चार हैं और [ये चारों कषाय भाव] जीव के औदयिक भाव माने गये हैं [क्योंकि चारित्रमोह कर्म के उदय में जुड़ने से उत्पन्न होते हैं]।

ते चात्मोत्तरभेदैश्च नामतोऽप्यत्र षोडश ।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥ १८२२ ॥

अन्वयः - च ते आत्मोत्तरभेदैः च नामतः अपि अत्र षोडश च पञ्चविंशतिकाः अपि लोकासंख्यातमात्रकाः।

अन्वयार्थ - और वे चार कषाय अपने उत्तर भेदों से और नाम से भी यहाँ १६ हैं और २५ भी हैं अथवा असंख्यातलोक प्रमाण हैं।

अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १८२३ ॥

अन्वयः - अथवा कल्मषात्मकाः कषायाः शक्तितः अनन्ताः यस्मात् एकैकं आलापं प्रति अनन्ताः शक्तयः ।

अन्वयार्थ - अथवा कलुषित स्वरूप वे कषायें शक्ति से अनन्त प्रकार हैं क्योंकि एक-एक आलाप के प्रति अनन्त शक्तियाँ हैं।

सूत्र १८२१ से १८२३ तक का भावार्थ - सामान्य रूप से क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय के ४ भेद हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, संज्वलन इन अवान्तर भेदों की अपेक्षा से इनके १६ भेद हैं। इनमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन ९ कषायों को जोड़ देने से २५ भेद हैं। इनके अवान्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं और फिर प्रत्येक भेद में अनन्त शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद होने से अनन्त भेद भी हैं।

कषायों का स्वरूप

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान् ।
वैकृतोऽस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥ १८२४ ॥

अन्वयः - जीवस्य शुद्धत्वशक्तिमान् चारित्रं गुणः अस्ति। सः इह चारित्रमोहकर्मोदयात् वैकृतः अस्ति।

अन्वयार्थ - जीव का शुद्धत्वशक्तियुक्त [वीतरागतारूप] चारित्र गुण है। वह यहाँ चारित्रमोह कर्म के उदय से [उदय में जुड़ने से] विकारी है। [ये कषायें उस शुद्ध चारित्र गुण की विभाव पर्यायें हैं]।

भावार्थ - विकार या मलिनता सदा पर्याय में आया करती है । गुण सदा निर्मल रहते हैं। कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी पर्याय के साथ होता है। गुण के साथ नहीं - यह अध्यात्म का त्रिकाल अबाधित नियम है। इसी के आधार पर ग्रन्थकार समझाते हैं कि कषायें क्या हैं ? तो उत्तर देते हैं कि वे शुद्ध पारिणामिक स्वभाव का अंश नहीं है। सब गुणों में या किसी एक चारित्र गुण में भी नहीं है। चारित्र गुण तो त्रिकाल शक्तिरूप शुद्ध है। वीतरागता रूप है। यह तो केवल उस चारित्र गुण का विभाव परिणमन है। जब जीव अपने ज्ञायक स्वभाव को चूककर द्रव्यचारित्रमोह का आश्रय करता है तो एक समय के लिये पर्याय में चारित्र गुण का क्षणिक विभाव परिणमन कषाय रूप हो जाता है और ज्ञायक स्वभाव का आश्रय अच्छी तरह करते ही यह कषाय भाव तुरन्त नष्ट भी हो जाता है। इसलिये ये कषायें चारित्र गुण का एक समय का विभाव परिणमन मात्र है - ऐसा सूत्र का अभिप्राय है।

चारित्रमोह के २ भेद-द्रव्यचारित्रमोह और भावचारित्रमोह

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद् द्विविधो भवेत् ।
पुद्गलो द्रव्यरूपोऽस्ति भावरूपोऽस्ति चिन्मयः ॥ १८२५ ॥

अन्वयः - तस्मात् चारित्रमोहः तद्भेदात् द्विविधः भवेत् । पुद्गलः द्रव्यरूपः अस्ति। भावरूपः चिन्मयः अस्ति।

अन्वयार्थ - इसलिये यह चारित्रमोह अपने भेद से दो प्रकार है [पुद्गलरूप और भावरूप] पुद्‌गलरूप पुद्‌गल द्रव्य है और भावरूप चेतनमय है।

भावार्थ - जीव निज शुद्ध आत्मतत्त्व के अनुसरण को छोड़कर जितने अंश में पराश्रय करता है उतने अंश में चारित्रमोह कर्म के उदय रूप निमित्त में जुड़ने से आत्मा के चारित्र गुण की कषाय रूप वैभाविक अवस्था होती है - उसी से चारित्रमोह के दो भेद हो जाते हैं। एक द्रव्यमोह दूसरा भावमोह। पौद्‌गलिक चारित्रमोह द्रव्यमोह है और उसके निमित्त में जुड़ने से होनेवाला आत्मा का राग-द्वेष रूप कषाय भाव-भावचारित्रमोह है।

द्रव्यचारित्रमोह का स्वरूप

अस्त्येकं मूर्तमद् द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्‌गलः ।
वैकृतः सोऽस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥ १८२६ ॥

अन्वयः - एकं मूर्तिमत् द्रव्यं अस्ति। नाम्ना सः पुद्‌गलः ख्यातः। सः वैकृतः चारित्रमोहरूपेन संस्थितः अस्ति।

अन्वयार्थ - एक मूर्तिक द्रव्य है। नाम से वह पुद्‌गल कहा जाता है। वह पुद्‌गल विकारी होकर चारित्रमोह रूप से स्थित है।

भावार्थ - संसारी जीव के साथ अनन्त कार्माणवर्गणायें बन्धी हैं तथा और भी अनन्त विस्त्रसोपचय कार्माणवर्गणायें जीव के उसी क्षेत्र में स्थित हैं। जब जीव अपनी अज्ञानता से भावमोह करता है तो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के नियमानुसार उन विस्त्रसोपचय कार्मण वर्गणाओं में स्वतः कर्मत्वशक्ति पड़ जाती है और आठ या ७ कर्म रूप से स्वतः उनका बंटवारा हो जाता है। उनमें एक चारित्रमोह कर्म रूप वर्गणा भी हैं। उनको द्रव्यचारित्रमोह कहते हैं।

सम्पूर्ण द्रव्यमोह [दर्शनमोह+चारित्रमोह] का स्वरूप

पृथिवीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्‌गलिकोऽखिलः ।
पुद्‌गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥ १८२७ ॥

अन्वयः - अखिलः पौद्‌गलिकः मोहः पृथिवीपिण्डसमानः स्यात् । सः स्वयं पुद्‌गलः न आत्मा [तथापि] द्वयोः अपि मिथः बन्धः [अस्ति]।

अन्वयार्थ - सम्पूर्ण पौद्‌गलिक द्रव्यमोह [दर्शनमोह+चारित्रमोह] पृथ्वी पिण्डसमान है। वह स्वयं पुद्‌गल है - आत्मा नहीं है फिर भी उन दोनों का [आत्मा और पुद्‌गल कर्मों का] परस्पर में बन्ध है।

भावार्थ - उन आठ कर्मों में जिस प्रकार एक द्रव्यचारित्रमोह है उसी प्रकार एक द्रव्यदर्शनमोह भी है जो सम्यक्त्व के घात में निमित्त है। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि वह दोनों प्रकार का मोह पुद्‌गल द्रव्य है क्योंकि पुद्‌गल परमाणुओं का समूह ही वे कार्माणवर्गणा रूप कर्म हैं। और वे ऐसे ही हैं जैसे प्रत्यक्ष ये पृथ्वी के रजकण हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुणवाले होने से मूर्त हैं। आत्मा स्पर्श, रस, गन्ध वर्णरहित होने से त्रिकाल अमूर्त है। एक मूर्त है - दूसरा अमूर्त है। फिर भी अनादि से स्वतः दोनों का परस्पर निमित्त नैमित्तिक रूप सम्बन्ध है। यही दोनों का पर्याय में संतान की प्रवाह अपेक्षा से स्वतः सिद्ध बन्ध अनादि सिद्ध है।

सम्पूर्ण भावमोह [दर्शनमोह+चारित्रमोह] का स्वरूप
१८२८ से १८३१ तक ४

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्‌गलिकस्य कर्मणः ।
उदयादात्मनो भावो भावमोहः स उच्यते ॥ १८२८ ॥

अन्वयः - द्विविधस्य अपि पौद्‌गलिकस्य मोहस्य कर्मणः उदयात् आत्मनः[यः] भावः [जायते] सः भावमोहः उच्यते।

अन्वयार्थ - दो प्रकार के भी पौद्‌गलिक मोहकर्म के [दर्शनमोह और चारित्रमोह के] उदय से [उदय में जुड़ने] आत्मा का जो भाव होता है - वह भावमोह कहा जाता है।

भावार्थ - पहले सूत्रों में द्रव्यमोह का स्वरूप समझाकर और आत्मा के साथ उनका बन्ध समझा कर अब कहते हैं कि इस जीव में एक सम्यक्त्व और एक चारित्र ऐसे दो गुण हैं। जब आत्मा अपने स्वभाव का लक्ष [झुकाव] चूककर उस द्रव्यमोह का लक्ष करता है तो वे दोनों गुण पर्याय में विकार रूप परिणमन कर जाते हैं अर्थात् सम्यक्त्व गुण का मिथ्यादर्शन रूप और चारित्रगुण का कषायरूप परिणमन हो जाता है। बस इन दो गुणों का एक समय का विभाव परिणमन है वह ही भावमोह है। क्षणिक है। उस प्रत्येक समय की नयी-नयी पर्याय में एक समय मात्र का है। और यह ध्यान रहे कि वर्तमान पर्याय में भावमोह होने पर भी त्रैकालिक गुण तो उस समय भी शुद्ध ही है। यदि गुण अशुद्ध हो जाये तो आत्मा का स्वभाव नष्ट हो जाये। फिर शुद्धतारूप कार्य किसके आश्रय से प्रगट हो - हो ही नहीं सकता। कुछ लोग पर्याय में विकार के समय त्रिकाली शक्ति को भी विकारी मान लेते हैं। यह उनकी भूल है। गुणरूप शक्तियों के समूह को ही तो द्रव्यरूप पारिणामिक भाव कहते हैं। वह त्रिकाल शुद्ध है और जैसे बादल से सूर्य छिप जाता है इस प्रकार पर्याय में विकार आने से वह स्वभाव तिरोभूत हो जाता है अर्थात् उसका परिणमन बदल जाता है। जैसे पानी का गरम परिणमन हो जाता है।

जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत् ।
बन्धहेतुः स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥ १८२९ ॥

अन्वयः - जले जम्बालवत् नूनं सः भावः मलिनः भवेत्। सः अद्वैतः एव अष्टकर्मणां बन्धहेतुः स्यात् ।

अन्वयार्थ - जल में काई की तरह निश्चय से वह भाव मलिन होता है और वह अकेला ही आठ कर्मों के बन्ध का कारण है।

भावार्थ - ग्रन्थकार सामान्य स्वभाव पर अथवा श्रद्धा चारित्र गुण पर दृष्टि रखकर उस मोहभाव का निरूपण करते हैं कि जैसे जल तो स्वभाव से निर्मल है किन्तु उन्हीं जलप्रदेशों में उत्पन्न होने वाली काई मलिन है और जल के निर्मल स्वभाव को ढक लेती है - उसी प्रकार श्रद्धा, चारित्र गुण का धारी ज्ञायक आत्मा तो स्वभाव से नित्य निर्मल है किन्तु उन्हीं प्रदेशों में वर्तमान पर्याय रूप उत्पन्न होनेवाला यह भावमोह मलिन है और श्रद्धा, चारित्र गुण के वीतराग स्वभाव को अपनी मलिनता द्वारा ढक देता है। जिस समय जीव मिथ्यात्व राग-द्वेष रूप [भावमोह रूप] परिणमन करता है तो उसकी वीतरागता का नाश हो जाता है। यह तो भावमोह का स्वरूप है। अब उसका बन्ध रूप कार्य बताते हैं -

बिना भावमोह के कर्म आत्मा के साथ बन्ध नहीं सकते हैं। जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। भावमोह ही उनमें बन्ध का कारण है। इसलिये दसवें गुणस्थान तक ही कर्मबन्ध होता है। उसके ऊपर कर्मबन्ध नहीं होता किन्तु योगों के निमित्त से जिस समय में कर्म आते हैं उसी समय में खिर भी जाते हैं। इसलिये कर्मबन्ध वह इस भावमोह का फल है - कार्य है। जिस प्रकार स्वभाव के वेदन का फल कर्मबन्ध से छूटना है - उसी प्रकार भावमोह का फल कर्म से बन्धना है। इसी को और स्पष्ट करते हैं -

अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च ।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम् ॥ १८३० ॥

अन्वयः - अपि च सः एव एकः यावदनर्थानां मूलं यस्मात् अनर्थमूलानां कर्मणां आदिकारणम् ।

अन्वयार्थ - और वह एक भावमोह ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है क्योंकि वह भावमोह ही अनर्थमूलक कर्मों का आदिकारण [मूलकारण] है।

भावार्थ - जीव के स्वभाव के घातक निमित्त रूप आठ कर्म हैं और उन्हीं के फलस्वरूप यह जीव पंचपरावर्तनरूप संसार में घूम रहा है। इसलिये सब अनर्थो की जड़ वे कर्म हैं और उन आठों ही कर्मो के बन्ध का मूल कारण यह भावमोह है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि भाई तेरी सब आपत्तियों की मूल जड़ यह एक भावमोह ही है। स्वभाव का आश्रय लेकर इसे छोड़ तो तू कर्मबन्ध के संवरपूर्वक संसार से छूट कर अपने पूर्ण स्वभाव का संवेदन कर सकेगा। उसी भावमोह के स्वरूप को और लम्बाते हुए कहते हैं :-

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः ।
किमत्र बहुलोक्तेन सर्वासां विपदां पदम् ॥ १८३१ ॥

अन्वयः - सः [भावमोहः] अशुचिः घातकः रौद्रः दुखं दुःखफलं। अत्र बहुना उक्तेन किं। सर्वासां विपदां पदम् ।

अन्वयार्थ - वह भावमोह अशुचि [अपवित्र-मलिन] है, घातक है [वीतरागता का नाश करने वाला है], रौद्र

है, दुःख रूप है, दुःख ही है फल जिसका ऐसा है। यहाँ अधिक कहने से क्या सब विपत्तियों का घर है [भावार्थ के लिये श्री समयसार सूत्र ७२ तथा ७४ टीका सहित पढ़िये]।

भावार्थ - आचार्य महाराज ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि रखकर कहते हैं कि देखो भाई ! तेरा स्वभाव तो शुचि है, पवित्र है, निर्मल है और यह भावमोह अशुचि है, अपवित्र है, अनिर्मल [मलिन] है जैसे काई तथा यह मोहभाव तेरे उस स्वभाव का घातक है - नष्ट करनेवाला है जैसे गर्मी पानी के शीतल स्वभाव का घात कर देती है तथा यह भावमोह रौद्र है - भयानक है - इसके प्रगट होते आत्मा विडम्बना को धारण कर लेता है जैसे डाकू। तथा यह भावमोह दुःखरूप है। देख भाई! तेरा स्वभाव तो अतीन्द्रिय सुख रूप है। उसमें तो शीतलता भरी है। परम आनन्द है। उसका वेदन तो निराकुल परम आह्लाद स्वरूप है किन्तु इस भावमोह का वेदन तो नियम से दुःख रूप है। अनिष्ट संयोग दुःख के कारण नहीं हैं - उनका तो आत्मा में त्रिकाल अभाव है। आत्मा के दुःख का कारण केवल एक भावमोह ही है। देखो सम्यक्त्व द्वारा भावमोह को छोड़कर जीव सातवें नरक में भी स्वाभाविक सुख का वेदन कर लेता है और भावमोहयुक्त मिथ्यादृष्टि इन्द्र-अहमेन्द्र भी निरन्तर दुःखी हैं तथा इस भावमोह का फल भविष्य के लिये भी दुःख ही है क्योंकि दुःख में निमित्तभूत आठ कर्मों के बन्ध का मूल कारण है जैसा कि पहले कहकर आये हैं। अधिक कहाँ तक कहें-ग्रन्थकार शिष्य को सम्बोधते हुये कहते हैं कि भाई जीव की सब आपत्तियों का कारण यह भावमोह ही है। जो पहले सूत्र में कहा था - उसी का पुनः यहाँ समर्थन कर दिया है। अब यह सब आपत्तियों का मूल क्यों है। इसको स्पष्ट करने के लिये उसका कर्म के साथ जो कार्यकारण सम्बन्ध है - उसको बताते हैं -

सम्पूर्ण भावमोह में कार्यकारणपने की सिद्धि

कार्यकारणमप्येष मोहो भावसमाह्वयः ।
पूर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्रास्त्रवसंचयात् ॥ १८३२ ॥

अन्वयः - अपि एषः भावसमाह्वयः मोहः कार्यकारणं [अस्ति] पूर्वबद्धानुवादेन [कार्यं] प्रत्यग्रास्त्रवसंचयात् [कारणं]।

अन्वयार्थ - और यह भाव नामक मोह ही कार्य कारण रूप है। पूर्वबद्ध कर्म के उदय से होने के कारण से तो कार्य है और आगामी आस्त्रव का संचय करने से कारण है।

भावार्थ - यह भावमोह कैसे उत्पन्न होता है तो कहते हैं कि जब जीव अपने ज्ञायक स्वभाव का आश्रय छोड़कर द्रव्यमोह से दोस्ती करता है तो यह भावमोह उत्पन्न होता है - अतः यह स्वभाव का कार्य नहीं है किन्तु द्रव्यमोह का कार्य है। स्वभाव का कार्य तो वीतरागता है। राग उसका कार्य नहीं है। क्योंकि यह भावमोह द्रव्यमोह के उदय में जुड़ने से उत्पन्न होता है - इसलिये तो कार्य है और जैसे कि पहले कहकर आये हैं - उसी समय इसका निमित्त पाकर आठ या ७ कर्म तुरन्त बन्ध जाते हैं - इसलिये उन अगले कर्मों के आस्त्रव बन्ध का मूल कारण होने से यह भावमोह कारण भी है। इस प्रकार इसका अनिष्टमूलक आठकर्मों के साथ कार्य कारण भाव सदा से बना हुआ है। इसी को स्वयं ग्रन्थकार अब स्पष्ट करते हैं:-

भावमोह के कार्यपने का स्पष्टीकरण

यदोच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः ।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥ १८३३ ॥

अन्वयः - यदा उच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः पाकात् लब्धात्मसर्वस्वः ततः नयात् कार्यरूपः ।

अन्वयार्थ - क्योंकि वास्तव में पूर्वबद्ध द्रव्यमोह कर्म के उदय से प्राप्त किया है आत्मसत्ता को जिसने [ऐसा जो भावमोह वह भावमोह] इस न्याय से कार्यरूप है।

भावार्थ - जब यह जीव अपने ज्ञायक स्वभाव का आश्रय छोड़कर द्रव्यमोह को आश्रय करता है तो फलस्वरूप यह क्षणिक विकार उत्पन्न हो जाता है - अतः यह द्रव्यमोह का कार्य है - आत्मा का नहीं। यहाँ यह नहीं बताना है कि जितनी डिग्री में द्रव्यमोह का उदय है - उतनी डिग्री में भावमोह की उत्पत्ति होती है। यहाँ तो यह बताना है कि जब जीव स्वयं अपनी अनादि अज्ञानता के कारण अपने ज्ञायक स्वभाव का आश्रय छोड़कर द्रव्यमोह में जुड़ता है

तो इसकी उत्पत्ति होती है। अतः यह द्रव्यमोह का कार्य है – आत्मा का नहीं। आत्मा में से निकल जाता है और क्षणिक औपाधिक भाव होने से हटाने के लिये उसे पौद्गलिक द्रव्यमोह का कार्य कह दिया है।

भावमोह के कारणपने का स्पष्टीकरण

निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गलाः ।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद्भावोऽस्ति कारणम् ॥ १८३४ ॥

अन्वयः –तं [मोहभावं] उच्चैः निमित्तमात्रीकृत्य ज्ञानावृत्यादिरूपस्य पुद्गलाः आगच्छन्ति। तस्मात् भावः कारणं अस्ति।

अन्वयार्थ – उस मोहभाव को वास्तव में निमित्तमात्र करके ज्ञानावरणादिरूप के पुद्गल आते हैं। इसलिये वह भावमोह कारण है।

भावार्थ – यहाँ यह नहीं बताना है कि भावमोह कर्मों को बनाता है किन्तु यहाँ तो यह बता रहे हैं कि जिस समय यह जीव अपनी अज्ञानता के कारण भावमोह करता है तो उस समय जगत में स्वतः कर्मरूप परिणमने योग्य कर्म अपने स्वकाल की योग्यता से परिणमते ही हैं और यह भावमोह उनके परिणमन में निमित्तमात्र कारण बन जाता है। अतः इसका फल कर्मबन्ध है ही। जीव भावमोह करे और कर्मबन्ध न हो – ऐसा कभी होता ही नहीं। ऐसा ही कोई प्राकृतिक नियम है। इस प्रकार यह भावमोह आठों कर्मों के बन्ध का कारण भी है।

भावमोह कार्य केवल मोहकर्म का है किन्तु कारण
आठों कर्मों का है

विशेषः कोऽप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः ।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ १८३५ ॥

अन्वयः – कः अपि विशेषः । अयं कार्यं केवलं मोहकर्मणः [किन्तु] कारणं अस्य मोहस्य बन्धस्य सर्वकर्मणां अपि।

अन्वयार्थ – कुछ विशेषता भी है। यह भावमोह कार्य तो केवल मोहकर्म का है [क्योंकि इसकी उत्पत्ति में केवल मोह कर्म का उदय निमित्त है] और कारण इस मोहकर्म के बन्ध का और सब कर्मों के बन्ध का भी है [क्योंकि मोहभाव से आठों कर्मो का बन्ध होता है]।

भावार्थ – जीव के ५ भावों का प्रकरण चल रहा है। ५ भावों में से एक औदयिकभाव ही बन्ध के कारण हैं। जीव में नैमित्तिक औदयिकभाव तो आठों कर्मों के उदय में जुड़ने से होते हैं किन्तु उन सब औदयिक भावों में और इस मोह औदयिक भाव में यह विशेषता है कि और सब औदयिक भाव आगामी ८ कर्मों के बन्ध के रञ्चमात्र भी कारण नहीं हैं। स्वभाव का घात तो करते हैं। दुःख रूप भी हैं पर उनका फल आगामी बन्ध नहीं है। बन्ध तो केवल भाव मोह से ही होता है। साथ ही यह भी बताते हैं कि देखो यद्यपि इसकी उत्पत्ति तो केवल एक द्रव्यमोह के उदय में जुड़ने से ही हुई थी किन्तु बन्ध सब कर्मों का होता है। ऐसा ही कोई वस्तु स्वभाव है। एक का कार्य होने से कारण भी एक का ही हो – ऐसा नहीं है – ऐसा यहाँ अभिप्राय है। द्रव्यमोह से उत्पन्न हुआ है – इसलिये द्रव्यमोह को ही बाँधे – ऐसा नहीं है। यह तो सत्य है कि उत्पन्न केवल द्रव्यमोह से होता है किन्तु फिर भी बन्ध आठों का करता है। और अन्य औदयिक भाव उत्पन्न तो अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मों के उदय में जुड़ने से होते हैं – पर वे बन्ध किसी का नहीं करते – यह भी अन्य औदयिक भावों में और भावमोह में अन्तर है।

अब यह कहते हैं कि यह जो भावमोह और द्रव्यकर्मों में कार्यकारणपने का सम्बन्ध है, इसी को आगम में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध [या जीव और कर्म का बन्ध] कहा जाता है।

जीव और पुद्गल कर्म का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः ।
निमित्तनैमित्तिको भावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥ १८३६ ॥

अन्वयः – ततः सिद्धं अस्ति। जीवपुद्गलकर्मणोः अन्योन्यं निमित्तनैमित्तिकः भावः अस्ति यथा कुम्भकुलालयोः ।

अन्वयार्थ – इसलिये यह सिद्ध हो गया कि जीव और पुद्‌गल कर्म के आपस में निमित्त नैमित्तिक भाव है जैसे कुम्हार घड़े का।

भावार्थ – जब जीव अपनी अज्ञानता के कारण स्वभाव को भूलकर द्रव्यमोह रूप निमित्त में जुड़ता है अर्थात् निमित्त को कारण बनाता है तो भावमोह उत्पन्न होता है और उस भावमोह को निमित्तमात्र करके कार्माणवर्गणायें कर्म रूप में परिणत हो जाती हैं। जब पुनः जीव राग करता है तो वही कार्माणवर्गणायें जो पहले भावमोह से बंधी थीं – इसमें निमित्त कारण पड़ती हैं। इस प्रकार अनादि से भावमोह और द्रव्यमोह की कार्य कारण रूप श्रृङ्खला चली आ रही है। इसी को जीव और पुद्गल कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं –

वह स्वतन्त्र रूप से अपनी-अपनी योग्यता [निज शक्ति] के कारण से है। वास्तव में कोई दूसरे की पर्याय का कर्त्ता नहीं है – ऐसा सर्वत्र समझना।

वास्तव में जीव का नहीं किन्तु वर्तमान एक समय की पर्याय में कषाय और कर्म का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम् ।
निमित्तनैमित्तिको भावः स्यान्न स्याज्जीवकर्मणोः ॥ १८३७ ॥
यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम् ।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥ १८३८ ॥

अन्वयः – अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां च कर्मणां परस्परं निमित्तनैमित्तिकः भावः स्यात् जीवकर्मणोः न स्यात् यतः तत्र कर्मणां जीवे स्वयं निमित्ते सति कर्तृता नित्या स्यात् च इति न्यायात् कस्यचित् मोक्षः न स्यात् ।

अन्वयार्थ – अन्तर्दृष्टि से कषायों का और कर्मों का परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है – जीव कर्म का नहीं क्योंकि उन कर्मों का जीव के स्वयं निमित्त होने पर जीव के कर्मों का कर्तापना नित्य ठहरता है और इस न्याय से किसी को भी मोक्ष न होगी।

भावार्थ – यदि कर्म का निमित्त नैमित्तिक कषाय के साथ न मानकर आत्मद्रव्य के साथ मानोगे तो वह आत्मद्रव्य का स्वभाव ठहरेगा और ज्ञानगुणवत् आत्मा में सदा रहेगा। उसके निमित्त से कर्म बन्धते ही रहेंगे और उनके फलस्वरूप संसार चलता ही रहेगा। जीव का कभी मोक्ष न होगा। यह सूत्र आध्यात्मिक चीज का है और श्री समयसार सूत्र १०० से लिया है। क्योंकि त्रिकाली ज्ञायक आत्मा नित्य है और कषाय एक समय का पर्याय मात्र में विभाव है। अतः विकारी पर्याय के साथ ही कर्मों का निमित्त नैमित्तिक है। त्रिकाली द्रव्य से नहीं। त्रिकाली द्रव्य तो अपने अनन्तगुणों का पिण्ड है। उस का कर्मबन्धक कोई गुण नहीं है जो वह बन्ध का कारण होवे।

पुनः भावार्थ – पर्यायदृष्टि से द्रव्य जिस समय जिस भाव में वर्तता है – उस समय उस भाव से तन्मय हुआ उस रूप कहा जाता है। इस अपेक्षा [अर्थात् पर्याय अपेक्षा] पूर्वसूत्र में जीव और द्रव्यकर्मों का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कहा है किन्तु शुद्धदृष्टि [द्रव्यदृष्टि] से देखने पर अनन्तगुणसमूहरूप त्रिकाली स्वभाव को द्रव्य कहते हैं और भावमोह उसके ऊपर तिरने वाला क्षणिक विकार है। पर्याय है। बन्ध का कारण वह क्षणिक विकार है। स्वभाव नहीं। यदि स्वभाव होता तो त्रिकाल रहता और फिर सदा कर्मबन्ध होते रहने के कारण मोक्ष प्राप्ति असम्भव हो जाती। ज्ञानी इस भेद को जानते हैं। अज्ञानी नहीं जानते। अतः अज्ञानी की अपेक्षा तो जीवद्रव्य और कर्म का निमित्त-नैमित्तिक कहो या कषाय और कर्म का निमित्त-नैमित्तिक कहो – एक ही बात है। किन्तु ज्ञानी इस भेद को जानते हैं कि कर्म का सम्बन्ध विकार से है – स्वभाव से नहीं। अतः वे अपने द्रव्यस्वभाव का आश्रय करके [श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करके] साधक हो साध्यपद को प्राप्त कर लेते हैं और इस सम्बन्ध का नाश कर देते हैं। इस सूत्र में ग्रन्थकार ने भावमोह के स्थान पर उसके पर्यायवाची कषाय शब्द का प्रयोग कर दिया है क्योंकि आगम में भावमोह की बजाय कषाय और योग को बन्ध का कारण कहा है किन्तु प्रकरण यहाँ उस भावमोह का ही चला आ रहा है। अब कषाय अधिकार को संकोचते हैं –

कषाय उपसंहार

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिकाः स्मृताः ।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः ॥ १८३९ ॥

अन्वयः - इति एवं ते कषायाख्याः चत्वारः अपि औदयिकाः स्मृताः [यतः] अस्य चारित्रस्य गुणस्य वैकृतात्मनः पर्यायाः।

अन्वयार्थ - इस प्रकार वे कषाय नामक चार भाव भी औदयिक माने गये हैं क्योंकि वे इस चारित्र गुण की विभाव स्वरूप पर्यायें हैं [भावार्थ पूर्व सूत्रों में स्पष्ट हो चुका है]।

भावार्थ - आपको यह शङ्का हो सकती है कि सूत्र १८२८ से १८३५ तक जो भावमोह का वर्णन किया है उसका कषाय से क्या सम्बन्ध [प्रयोजन] है ? इसका उत्तर यह है कि कषायें उस मोहभाव के ही अवान्तरगत हैं। भावमोह के २ भेद हैं - दर्शनमोह और चारित्रमोह। चारित्रमोह तो सम्पूर्ण कषाय रूप ही है और दर्शनमोह भी एक प्रकार से कषाय रूप ही है क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व की घातक मानी गई है। इसलिये भावमोह की आड़ में यहाँ कषाय के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है। यह कषाय भाव ही सम्पूर्ण अनर्थ और संसार उत्पत्ति का मूल कारण है। अतः ज्ञानियों को इन्हें छोड़ देना चाहिये और स्वभाव का आश्रय करना चाहिये। निजज्ञायक स्वभाव के आश्रय से ये स्वयं छूट जाती हैं। इनकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

लिंग (वेद) औदयिक भाव

(सूत्र १८४० से १८६३ तक २४)

भाव लिङ्गों के भेद, कारण तथा औदयिकपने की सिद्धि

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात् ।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात् किल ॥ १८४० ॥

अन्वयः - स्त्री पुन्नपुंसकात् लिङ्गानि त्रीणि वा कर्मणां नोकषायाणां भेदात् उदयात् किल औदयिकानि एव ।

अन्वयार्थ - पुरुष-नपुंसक के भेद से लिङ्ग भाव तीन हैं क्योंकि ये द्रव्य कर्मों के नोकषायों के तीन भेदों के उदय के अनुसरण से होते हैं इसलिये वास्तव में औदयिक भाव ही हैं।

भावार्थ - लिङ्ग भाव चारित्र गुण का विभाव परिणमन है। यह भाव तीन प्रकार का है। (१) पुंवेद–स्त्री से रमणे की इच्छा रूप भाव को पुंवेद कहते हैं। (२) स्त्रीवेद – पुरुष से रमणे की इच्छा रूप भाव को स्त्रीवेद कहते हैं। (३) नपुंसकवेद – स्त्री-पुरुष दोनों से रमणे की इच्छा रूप भाव को नपुंसकवेद कहते हैं किन्तु रमण किसी से नहीं कर सकता है। केवल अन्दर ही अन्दर काम की पीड़ा से जलता रहता है। यह तो उपादान की अपेक्षा कथन हुआ–अब निमित्त कारण का भी ज्ञान कराते हैं। एक चारित्रमोह नामा द्रव्यकर्म है। उसके दो भेद हैं। कषाय-वेदनीय तथा नोकषायवेदनीय। जिसका उदय क्रोध मान माया लोभ रूप कषायों के वेदन में निमित्त है वह कषायवेदनीय है और जिसका उदय हास्यादि नोकषायों के वेदन में निमित्त है – वह नोकषाय वेदनीय कर्म है। उस नोकषायवेदनीय के ९ भेद हैं। उनमें अन्तिम तीन भेद ये लिङ्ग नाम के कर्म हैं। वे ३ कर्म प्रकृतियां इन तीन प्रकार के भाववेदों में निमित्त हैं। और क्योंकि इन भाव वेदों की उत्पत्ति में कारण इन तीन कर्मों का उदय है – अतः ये निश्चय से औदयिक भाव हैं। विभाव रूप हैं। वैभाविक भाव हैं। इस प्रकार इस सूत्र में भावलिङ्गों का वर्णन, उनके भेद तथा निमित्तकारण के निर्देश पूर्वक उनमें औदयिकपने की सिद्धि की गई है। इसी को अगले तीन सूत्रों में वर्णन किया गया है अतः उन सूत्रों का अब पृथक्-पृथक् भावार्थ लिखने की आवश्यकता नहीं रही।

चारित्रमोह कर्म के भेद-कषाय और नोकषाय

चारित्रमोहकर्मैतद् द्विविधं परमागमात् ।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम् ॥ १८४१ ॥

अन्वयः - एतत् चारित्रमोहकर्म आगमात् द्विविधं। आद्यं कषायं द्वितीयं नोकषायं इति उक्तं।

अन्वयार्थ - यह चारित्रमोह कर्म आगम में दो प्रकार-पहला कषाय दूसरा नोकषाय-इसप्रकार कहा गया है।

नोकषाय के ९ भेद

तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः।
हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम्॥ १८४२॥

अन्वयः - तत्र अपि नोकषायाख्यं स्वविधानतः नवधा-हास्यः रत्यरती शोकः भीः जुगुप्सा त्रिलिङ्गकं इति।

अन्वयार्थ - उनमें भी नोकषायनामक कर्म अपने अवान्तर भेदों से नौ प्रकार है। १. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६. जुगुप्सा, तीन लिङ्ग ७. स्त्रीवेद, ८. पुरुषवेद, ९. नपुंसकवेद।

नोकषायों में औदयिकपने की सिद्धि

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद् ध्रुवम्।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी॥ १८४३॥

अन्वयः - ततः चारित्रमोहस्य कर्मणः हि उदयात् अमी अपि ध्रुवं चारित्रस्य गुणस्य वैभाविकाः भावाः।

अन्वयार्थ - इसलिये चारित्रमोह कर्म के उदय से [उनके आश्रय करने से] ये ९ भाव भी वास्तव में चारित्र गुण के वैभाविक भाव [औदयिक भाव] हैं।

लिङ्गों के भेद

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात्॥ १८४४॥

अन्वयः - सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् इह प्रत्येकं लिङ्गानि निसर्गतः द्रव्यभावविभेदाभ्यां द्विविधानि एव।

अन्वयार्थ - सर्वज्ञ की आज्ञा को उलङ्घन न करके [अर्थात् आगमानुसार] इस जगत् में प्रत्येक लिङ्ग स्वभाव से ही द्रव्यलिंग और भावलिंग के भेद से दो प्रकार का है।

भावार्थ - क्योंकि यह लिंग नामा औदयिक भावों का वर्णन है – अतः ३ प्रकार के लिंग औदयिक भावों का ज्ञान पहले ४ सूत्रों में कराया है। अब लिंग शब्द जगत में और आगम में २ प्रकार से प्रसिद्ध है। एक द्रव्यलिंग के लिये लिंग शब्द का प्रयोग होता है दूसरे भावलिंग के लिये लिंग शब्द का प्रयोग होता है। शरीर में लिंगों की आकृति को द्रव्यलिंग कहते हैं। सो पहले उसी का सहेतुक वर्णन अगले ३ सूत्रों में करते हैं।

द्रव्यलिङ्गों का कारण = १८४५-४६-४७

अस्ति यन्नाम कर्मैकं नानारूपं च चित्रवत्।
पौद्गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत्॥ १८४५॥

अन्वयः - यत् एकं नामकर्म अस्ति-तत् चित्रवत् नानारूपं। यत् पौद्गलिकं, अचिद्रूपं, पुद्गलविपाकि च स्यात्।

अन्वयार्थ - जो एक नामकर्म है – वह चित्र की तरह नानारूप है। जो पौद्गलिक है, अचिद्रूप है और पुद्गलविपाकि है।

आङ्गोपाङ्गं शरीरं च तद्भेदौ स्तोऽप्यभेदवत्।
तद्विपाकात् त्रिलिङ्गानामाकाराः सम्भवन्ति च॥ १८४६॥

अन्वयः - आङ्गोपांगं च शरीरं तद्भेदौ स्तः अपि अभेदवत् स्तः च तद्विपाकात् त्रिलिङ्गानां अकाराः सम्भवन्ति।

अन्वयार्थ - आङ्गोपाङ्ग और शरीर उस नामकर्म के दो भेद होने पर भी अभेदवत् हैं और उन दोनों के उदय से तीन द्रव्य लिङ्गों के आकार उत्पन्न होते हैं।

त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः।
नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्णुता॥ १८४७॥

अन्वयः - त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः तन्नामकर्मणः कार्यं। तत् भावलिंगेषु मनाक् अपि करिष्णुता नास्ति।

अन्वयार्थ - तीन लिङ्गों के आकार रूप सम्पत्ति उस नाम कर्म का कार्य है। वह नामकर्म भावलिङ्गों में थोड़ा भी कार्य करनेवाला नहीं है।

भावार्थ – नाम कर्म के निमित्त से केवल द्रव्यवेद-शरीर में लिंग आकृति की रचना होती है। जीव के भावों में जो रमण करने की वांछा है – वह भाववेद है। उस भाववेद में नाम कर्म का उदय रंचमात्र भी कारण नहीं है। जब तक जीव भाववेद न करे तब तक केवल द्रव्यवेद कुछ नहीं कर सकता – केवल आकारमात्र है। इसलिए नवमें गुणस्थान से ऊपर केवल वेदों का द्रव्याकारमात्र है। जीव में इस जाति का नैमित्तिक कषाय नहीं होने से निमित्त में कारणपने का आरोप भी नहीं दिया जाता।

भावार्थ – १८४५-४६-४७ – इन तीन सूत्रों में यह बताया गया है कि देहधारी जीव के निमित्त रूप से एक नामकर्म है। उसके शरीर और आंगोपांग नामा दो अवान्तर भेदों के उदय में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के आधार पर शरीर में ये तीन प्रकार की आकृतियां बन जाती हैं। इन ३ आकृतियों का होना भाववेदों में रञ्चमात्र भी कारण नहीं है क्योंकि यह आकृति तो अरहन्त भगवान में भी होती है। अतः इन द्रव्यलिंगों का होना मात्र भावलिंगों में रञ्चमात्र भी कारण नहीं है किन्तु उसका कारण कुछ और ही है। इसप्रकार ३ सूत्रों में द्रव्यलिंगों का वर्णन करके अब उन भावलिंगों का सहेतुक वर्णन करते हैं अर्थात् पहले भावलिंगों का कारण बताते हैं फिर कार्य बताते हैं।

भावलिंगों का कारण

भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥ १८४८ ॥

अन्वयः – भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः नूनं एकं कारणं स्यात्। इतरस्य उदयः क्वचित् कारणं न स्यात्।

अन्वयार्थ – भाववेदों में चारित्रमोहकर्म का आंशिक उदय [अर्थात् चारित्रमोह के वेद नामक नोकषाय का उदय] ही निश्चय से एक कारण है। दूसरे किसी कर्म का उदय कहीं पर भी कारण नहीं है। [भावार्थ पहले सूत्र १८४० में लिख आये हैं।]

पुरुषभाववेद और स्त्रीभाववेद का लक्षण

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात् किल।
नारीवेदोयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता ॥ १८४९ ॥

अन्वयः – पुंवेदस्य उदयात् द्रव्यनारीणां रिरंसा स्यात् च नारीवेदोदयात् पुंसां भोगाभिलाषिता वेदः स्यात्।

अन्वयार्थ – पुरुष वेद के उदय से [पुरुषवेद के उदय में जुड़ने से] द्रव्य स्त्रियों के भोगने की इच्छा पुरुष भाव वेद है और नारी वेद के उदय से पुरुषों के साथ भोग की अभिलाषा रूपभाव स्त्रीभाववेद है।

नपुंसक भाव वेद का लक्षण

नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः।
अन्तर्दग्धोऽस्ति यो भावः क्लीववेदोदयादिव ॥ १८५० ॥

अन्वयः – अशक्तितः न नारीणां भोगाय न अपि पुंसां भोगाय अलं किन्तु यः भावः अन्तर्दग्धः अस्ति [सः] क्लीववेदोदयात्।

अन्वयार्थ – अशक्ति के कारण न स्त्रियों के भोग के लिये और न पुरुषों के भोग के लिये समर्थ है किन्तु जो भाव केवल अंतरङ्ग जलन रूप है – वह नपुंसकवेद के उदय से होने वाला नपुंसक भाव वेद है।

अगली भूमिका – पहले ३ सूत्रों में द्रव्यलिङ्गों का वर्णन किया। फिर ३ सूत्रों में भावलिङ्गों का वर्णन [कारण और कार्य] बताया। अब यह बताते हैं कि द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग का आपस में कुछ मेल भी है या नहीं। कहाँ-कहाँ जैसा द्रव्यलिङ्ग होता है – वैसा ही भावलिङ्ग होता है – यह बताते हैं तथा कहाँ-कहाँ द्रव्यलिंग और भावलिंग में विषमता-असमानता है अर्थात् द्रव्यलिङ्ग अन्य है और भावलिङ्ग अन्य है – यह वताते हैं। इसका अगले १० सूत्रों में सब गतियों में भिन्न-भिन्न रूप से खुलासा वर्णन करते हैं :–

लिङ्गों की उत्पत्ति का साधारण नियम

द्रव्यलिङ्गं यथा नाम भावलिङ्गं तथा क्वचित्।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥ १८५१ ॥

अन्वयः – क्वचित् यथा द्रव्यलिंगं नाम तथा भावलिंगं स्यात्। क्वचित् द्रव्यं अन्यतमं च भावः अन्यतमः भवेत्।

अन्वयार्थ - कहीं कहीं जैसा द्रव्यलिंग होता है वैसा ही भावलिंग होता है और कहीं-कहीं द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है। [इस प्रकार साधारण नियम बता कर अब इसी का स्पष्टीकरण करते हैं।]

देवगति में लिंगों का नियम

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोऽस्ति नेतरः ।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥ १८५२ ॥

अन्वयः - यथा दिविजनारीणां नारीवेदः अस्ति-इतरः न च सर्वेषां अपि देवानां पाकः पुँवेदः एव हि-इतरः न।

अन्वयार्थ - जैसे स्वर्ग की सब स्त्रियों के नारीवेद हैं - दूसरा नहीं है और सब देवों के पुरुषवेद का ही उदय है - दूसरा नहीं है।

भावार्थ - देव देवियों के द्रव्यवेद और भाववेद दोनों एक जैसे ही होते हैं।

भोगभूमि में लिंगों का नियम

भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदो न चेतरः ।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः ॥ १८५३ ॥

अन्वयः - भोगभूमौ नारीणां नारीवेदः इतरः न च पुंसां केवलः पुंवेदः अन्यः न वा अन्योन्यसंभवः न।

अन्वयार्थ - और भोगभूमि में स्त्रियों के स्त्रीवेद है – दूसरा नहीं है और पुरुषों के केवल पुरुषवेद है – दूसरा नहीं है। अन्योन्य सम्भव भी नहीं है [अर्थात् वहाँ स्त्रीवेद वाले के पुरुषवेद और पुरुषवेद वाले के स्त्रीवेद कभी नहीं होता है]।

भावार्थ - देव देवियों के समान भोगभूमि में भी समान ही वेद होता है। देव देवियों और भोगभूमि के स्त्री पुरुषों के नपुंसक वेद तो दोनों प्रकार का होता ही नहीं। पुँवेद और स्त्रीवेद भी द्रव्य भाव समान ही होता है। विषम नहीं होता।

नरक में लिंगों का नियम

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥ १८५४ ॥

अन्वयः - च सर्वेषां नारकाणां द्रव्यतः भावतः च अपि एकः नपुंसकः वेद : – न स्त्रीवेदः न वा पुमान्।

अन्वयार्थ - और सब नारकियों के द्रव्य से भी और भाव से भी एक नपुंसक वेद ही है – न स्त्रीवेद है अथवा न पुरुषवेद है।

एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय में लिंगों का नियम

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः ।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीवः स्यात् केवलः किल ॥ १८५५ ॥

अन्वयः - च तिर्यग्जातौ सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः वेदः अस्ति च विकलत्रयाणां किल केवलः क्लीवः स्यात्।

अन्वयार्थ - और तिर्यञ्च जाति में सब एक इन्द्रिय जीवों के नपुंसक वेद है और विकलत्रय के [दो-तीन-चार इन्द्रिय वालों के] केवल नपुंसक वेद ही है। [द्रव्य से भी और भाव से भी।]

पंचेन्द्रिय असंज्ञी में लिंगों का नियम

पंचाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥ १८५६ ॥

अन्वयः - च पंचाक्षासंज्ञिनां तिरश्चां द्रव्यतः भावतः अपि नपुंसकः स्यात् अन्यः कदाचन न स्यात्।

अन्वयार्थ - और पंचेन्द्रिय असंज्ञी तिर्यञ्चों के द्रव्य से और भाव से भी नपुंसक वेद है। दूसरा वेद कभी नहीं होता है।

कर्मभूमि में लिंगों का नियम १८५७ से १८६० तक ४

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च ।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १८५७ ॥

अन्वयः - कर्मभूमौ मनुष्याणां च मानुषीणां तथैव तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयः वेदाः तथोदयात्।

अन्वयार्थ – कर्मभूमि में मनुष्यों के और मानुषियों के तथा तिर्यञ्चों के और तिर्यञ्चनियों के तीन वेद हैं क्योंकि यहाँ उदय भी उसी प्रकार से पाया जाता है।

केषाञ्चिद् द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुनः।
स्त्रीवेदः क्लीववेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च॥ १८५८॥

अन्वयः – केषाञ्चिद् द्रव्यतः सांगः पुंवेदः पुनः भावतः स्त्रीवेदः वा क्लीववेदः वा पुंवेदः त्रिधा अपि च।

अन्वयार्थ – किन्हीं के द्रव्य से पुरुष वेद का लिंग है और भाव से स्त्रीवेद या नपुंसकवेद या पुरुषवेद तीनों में से कोई भी हो सकता है।

केषाञ्चित्क्लीववेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः।
पुंवेदो क्लीववेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः॥ १८५९॥

अन्वयः – केषाञ्चित् द्रव्यतः क्लीववेदः पुनः भावतः पुंवेदः वा क्लीववेदः वा स्त्रीवेदः त्रिधा उचितः।

अन्वयार्थ – अथवा किन्हीं के द्रव्य से नपुंसकवेद है और भाव से पुरुषवेद अथवा नपुंसकवेद अथवा स्त्रीवेद तीनों में से एक समय में कोई एक कहा गया है।

[इसी प्रकार किन्हीं के द्रव्य से स्त्रीवेद है और भाव से तीनों में से कोई एक हो सकता है।]

कश्चिदापर्ययन्यायात् क्रमादस्ति त्रिवेदवान्।
कदाचित्क्लीववेदो वा स्त्री वा भावात्क्वचित्पुमान्॥ १८६०॥

अन्वयः – कश्चित् भावात् आपर्ययन्यायात् क्रमात् त्रिवेदवान् अस्ति। कदाचित् क्लीववेदः वा कदाचित् स्त्रीवेदः वा क्वचित् पुमान्।

अन्वयार्थ – कोई भाववेद से पर्याय पर्यन्त क्रम से तीन वेदवाला है – कभी नपुंसकवेद अथवा कभी स्त्रीवेद और कभी पुरुषवेद।

सूत्र १८५० से १८६० तक का साररूप लिंगों का नियम – देवगति, भोगभूमि, नरक, एकेन्द्रिय, विकलत्रय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में तो द्रव्यलिङ्ग और भावलिंग की समानता है। कर्मभूमि में संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के कोई नियम नहीं है यहाँ तक कि किसी किसी जीव के तो एक पर्याय में तीनों वेद भी हो सकते हैं।

अब अगले एक सूत्र में लिङ्ग भाव की सत्ता का नियम बताते हैं :–

भावलिंगों की सत्ता का नियम

त्रयोऽपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात्किल।
नित्यं चाबुद्धिपूर्वाः स्युः क्वचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः॥ १८६१॥

अन्वयः – ते त्रयः अपि भाववेदाः नैरन्तर्योदयात् भवन्ति च अबुद्धिपूर्वाः नित्यं स्युः बुद्धिपूर्वकाः वै क्वचित्।

अन्वयार्थ – वे तीनों ही भाववेद निरन्तरपने उदयरूप होते रहते हैं। अबुद्धिपूर्वक तो नित्य होते हैं और बुद्धिपूर्वक वास्तव में कहीं कहीं पर होते हैं।

भावार्थ – ये भावलिंग पहले गुणस्थान से नवमें गुणस्थान तक नियम से सब संसारी जीवों के पाये जाते हैं – यह साधारण नियम है। सातवें-आठवें और नवमें गुणस्थान में तो अबुद्धिपूर्वक ही होते हैं। मतिश्रुत ज्ञान द्वारा उस जीव के अपने ज्ञान की पकड़ में नहीं आते। केवल अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान गम्य हैं। पहले से छठे तक बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक दोनों प्रकार का भाववेद होता है ऐसा यहाँ बताया गया है।

अब एक सूत्र में इन भाववेदों का फल बताते हैं :–

भावलिंगों का फल

तेऽपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः।
संक्लेशांगेकरूपत्वात्केवलं पापकर्मणाम्॥ १८६२॥

अन्वयः – ते अपि चारित्रमोहान्तर्भाविनः च संक्लेशांगैकरूपत्वात् केवलं पापकर्मणां बन्धहेतवः।

अन्वयार्थ - और वे भाववेद भी चारित्रमोह भाव के अन्तर्भावी हैं और केवल एक संक्लेश रूप होने के कारण मात्र पापकर्मों के बन्ध के कारण हैं।

भावार्थ - मूर्च्छित करनेवाले भाव को मोहभाव कहते हैं। उसके दो भेद हैं। एक दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यादर्शन भाव। दूसरा चारित्रमोह भाव। मिथ्यादर्शन भाव श्रद्धागुण का विभाव परिणमन है। और चारित्रमोह भाव चारित्रगुण का विभाव परिणमन है। उस चारित्रमोह भाव के १३ अवांतर भेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद। ये सब चारित्र गुण के विभाव परिणमन हैं। इसलिये ये लिंग भाव चारित्रमोह भाव के अवान्तरभेद हैं – ऐसा यहाँ बताया है। अब इन लिंग भावों का स्वरूप बताते हैं कि ये भाव अत्यन्त मलिन हैं – दुःख रूप हैं। आत्मा को संतप्त करते हैं – जलाते हैं। कोई-कोई जीव तो इनके वश में इतना खो जाता है कि आत्मा का स्वभाव अत्यन्त तिरोभूत हो जाता है और पागलवत् डोलता है। यह तो इस भाव का प्रत्यक्ष फल है और आगामी काल के लिये अत्यन्त निकृष्ट पापकर्मों के बन्ध का कारण बनकर नरक तिर्यञ्च के भयङ्कर दुःखों का साधन बनता है। ऐसा यहाँ बताया है। यह भाव सबको अनुभवगम्य ही है। अधिक क्या कहें। कोई-कोई जीव तो इसके वशीभूत होकर माँ, बहिन, पुत्री, स्वस्त्री, परस्त्री, नीच-ऊँच कुल की, तिर्यञ्चनी आदि का सब विवेक खो देते हैं। केवल विषय वासना की पूर्ति होनी चाहिये। इस भाव में आत्मा का अत्यन्त पतन हो जाता है अतः पाप से डरने वाले जीवों को अवश्य अपने को इस भयानक भूल से बचाना चाहिये। यह भाव आत्म कल्याण में महान बाधक है। इसी भाव की अधिकता का फल व्यभिचार और फलस्वरूप नरक गति है। अब यह बताते हैं कि यह सब फल भाववेद का है। द्रव्यवेद का नहीं।

द्रव्यलिंग बन्ध के कारण नहीं हैं

द्रव्यलिंगानि सर्वाणि नात्र बन्धस्य हेतवः।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याकारणात्स्वतः ॥ १८६३ ॥

अन्वयः - अत्र सर्वाणि द्रव्यलिङ्गानि बन्धस्य हेतवः न देहमात्रैकवृत्तत्वे स्वतः बन्धस्य अकारणात्।

अन्वयार्थ - यहाँ [लिङ्गों के प्रकरण में] सब द्रव्यलिङ्ग बन्ध के कारण नहीं हैं क्योंकि वे केवल एक देहमात्र के आश्रय होने से स्वतः बन्ध के अकारण हैं।

भावार्थ - द्रव्यवेद शरीर में चिन्ह मात्र है और मात्र चिन्ह बन्ध का कारण नहीं हो सकता। शरीर आकृति बन्ध का कारण नहीं हो सकती। शरीर आकृति मात्र तो अरहन्तों में भी होती है। भावलिङ्गी महामुनियों में भी होती है।

लिङ्ग भाव का सार

औदयिक लिङ्ग भाव में द्रव्यलिङ्ग से कोई प्रयोजन नहीं है – केवल भावलिङ्ग को ही ग्रहण किया गया है। ये भी चारित्र मोहभाव के ही अवान्तरभाव हैं। अत्यन्त मलिन बन्धसाधक भाव है। जीवों को इनका प्रत्यक्ष अनुभव है अतः अधिक भावार्थ नहीं लिखा गया है। इस भाव के आधीन हुआ जीव अपने को बुरी तरह सर्वथा खो बैठता है जिनकी जगत् में बहुत कथायें प्रसिद्ध हैं। द्रव्यकर्मों के बन्ध का कारण भी है। अतः हेय है।

मिथ्यादर्शन औदयिक भाव
(सूत्र १८६४ से १८६६ तक ३)

मिथ्यादर्शन भाव का कारण और उसमें औदयिकपने की सिद्धि

मिथ्यादर्शनमाख्यातं घातान्मिथ्यात्वकर्मणः ।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किल ॥ १८६४ ॥

अन्वयः - मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वकर्मणः घातात् [उदयात्] आख्यातं। मिथ्यात्वं जीवस्य भावः [अस्ति]। स किल औदयिकः।

अन्वयार्थ - मिथ्यादर्शन मिथ्यात्व कर्म के उदय [में जुड़ने] से कहा गया है। मिथ्यात्व जीव का भाव है। वह निश्चय ..यिक है।

मिथ्यादर्शन भाव का स्वरूप १८६५-१८६६

अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः।
मिथ्याकर्मोदयात्सोऽपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥ १८६५ ॥

अन्वयः - जीवस्य निसर्गजः एकः सम्यक्त्वं गुणः अस्ति। सः अपि मिथ्याकर्मोदयात् विकृतः विकृताकृतिः [मिथ्यात्वरूपः] अस्ति।

अन्वयार्थ - जीव का स्वतः सिद्ध एक सम्यक्त्व गुण है। वह मिथ्यात्वकर्म के उदय से [उदय में जुड़ने से] विकारी होकर विकृत आकृति को धारण कर लेता है [अर्थात् सम्यक्त्व गुण का विकारी परिणमन ही यह मिथ्यादर्शन रूप पर्याय है और सम्यग्दर्शन से विपरीत स्वरूप को धारण करनेवाली है। सम्यग्दर्शन आत्मा में एक निर्मलता है और मिथ्यादर्शन उसकी बिगड़ी हुई दशा रूप मलिनता है]।

उक्तमस्ति स्वरूपं प्राङ् मिथ्याभावस्य जन्मिनां ।
तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥ १८६६ ॥

अन्वयः - जन्मिनां मिथ्याभावस्य स्वरूपं प्राङ् उक्तं अस्ति तस्मात् पुनरुक्तभयात् मनाक् अपि अत्र किल न उक्तं।

अन्वयार्थ - जीवों के मिथ्याभाव का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। इसलिये पुनरुक्त [दोष] के भय से थोड़ा भी यहाँ नहीं कहा गया है।

भावार्थ - मिथ्यात्व भाव को मिथ्यादर्शन भी कहते हैं जो दर्शनमोह के उदय के आश्रय से होने वाली निर्विकल्प कलुषता आत्मा में है। इसको सम्यक्त्व गुण का विभाव परिणमन भी कहते हैं। इस भाव के अस्तित्व को पहचानने के लिये आचार्यों ने निम्नलिखित चिह्न बतलाये हैं जिनका निरूपण इस ग्रन्थ में निम्न सूत्रों में इस प्रकार आया है -

(१) अपने को कर्मचेतना [राग द्वेष मोह रूप] और कर्मफलचेतना [सुख दुःख रूप] तन्मयपने से अनुभव करना अर्थात् मेरा आत्म द्रव्य बस इतना ही है ऐसा अनुभव मिथ्यादर्शन है [सूत्र ९७४ से ९८२]।

(२) अपने को नौ तत्त्वरूप [पर्याय के भेद रूप] अनुभव करना सामान्यरूप [अन्तःतत्त्वरूप] अनुभव न करना मिथ्यादर्शन है [सूत्र ९८३ से ९९६]।

(३) आत्मा का, कर्म का, कर्ताभोक्तापने का, पुण्यपाप का, उसके कारण और फल का, सामान्यविशेष स्वरूप का, राग से भिन्न अपने स्वरूप का आस्तिक्य न होना मिथ्यादर्शन है [सूत्र १२३३]।

(४) सातभय युक्त रहना मिथ्यादर्शन है [सूत्र १२६४]।

(५) इष्ट का नाश न हो जाय, अनिष्ट की प्राप्ति न हो जाय, यह धन नाश होकर दरिद्रता न हो जाय यह 'इहलोक भय' है। विश्व से भिन्न होकर भी अपने को विश्वरूप समझना या विश्व को अपने रूप समझना इस भय का कारण है। यह मिथ्यादर्शन से होता है। [सूत्र १२७४ से १२७८ तक]।

(६) मेरा जन्म दुर्गति में न हो जाय ऐसा परलोकभय मिथ्यादर्शन है [सूत्र १२८४ से १२९१ तक]।

(७) रोग से डरते रहना या रोग आने पर घबराना या उससे अपनी हानि मानना ऐसा वेदना भय मिथ्यादर्शन से होता है [सूत्र १२९२ से १२९४]।

(८) पर्याय के नाश से अपना नाश मानना यह अत्राण भय मिथ्यादर्शन से होता है [सूत्र १२९९ से १३०१]।

(९) पर्याय के जन्म से अपना जन्म और पर्याय के नाश से अपना नाश मानना यह अगुप्तिभय मिथ्यादर्शन से होता है [सूत्र १३०४ से १३०५]।

(१०) दस प्राणों के नाश से डरना या उनके नाश से अपना नाश मानना यह मरणभय मिथ्यादर्शन से होता है [सूत्र १३०७ से १३०८]।

(११) बिजली आदि गिरने से या और किसी कारण से मेरी बुरी अवस्था न हो जाय ऐसा अकस्मात् भय मिथ्यादर्शन से होता है [सूत्र १३११ से १३१३]।

(१२) लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता मिथ्यादर्शन के चिह्न हैं [सूत्र १३६१ से १३६९]।

(१३) नौ तत्त्वों में अश्रद्धा या विपरीत श्रद्धा का होना मिथ्यादर्शन है [सूत्र १७९२ तथा १८०९]।

(१४) अन्य मतियों के बताये हुये पदार्थों में श्रद्धा का होना [सूत्र १७९७]।

(१५) आत्म स्वरूप की अनुपलब्धि होना [सूत्र १७९९]।

(१६) सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का विश्वास न होना [सूत्र १८१०]।

(१७) मोक्ष के अस्तित्व तथा उसमें पाये जाने वाले अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान के प्रति रुचि का न होना। [सूत्र १८१२]।

(१८) छः द्रव्यों को स्वतःसिद्ध अनादि अनन्त स्वतंत्र परिणमन सहित न मानना [सूत्र १८१३]।

(१९) तत्त्व की नित्य-अनित्य, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति, तत्-अतत् स्वरूप अर्थात् वस्तु अनेकान्तात्मक है ऐसा न मानना किन्तु एकान्तरूप मानना [सूत्र १८१४]।

(२०) नोकर्म [मन, वचन, काय] और भावकर्म [क्रोधादि भावों] में, तथा धनधान्यादि जो अनात्मीय वस्तुएँ हैं उनको आत्मीय मानना [सूत्र १८१५]।

(२१) झूठे देव, गुरु, धर्म को सच्चेवत् समझना या सच्चे देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा न होना [सूत्र १८१६]।

(२२) धन, धान्य, सुता आदि की प्राप्ति के लिये देवी आदि को पूजना या अनेक कुकर्म करना [सूत्र १८१७]।

स्व पर का भेदविज्ञान न होना, इन्द्रिय सुख में गाढ़रुचि होना, इत्यादिक मोटे-मोटे चिन्ह आगम में बहुत बतलाये हैं। भाव यही है कि अनर्थकारक संसार का मूल उत्पादक यह मिथ्यात्व भाव ही है। अतः इसको जड़मूल से खोने का जीव को अवश्य उपाय करना चाहिये।

मिथ्यादर्शन भाव का स्वरूप

निज चैतन्यस्वरूप में सर्वथा असावधान होना अर्थात् स्व से च्युत होना अर्थात् दर्शनमोह कर्म के उदय में युक्त होने से जीव के मिथ्यात्वभाव होता है। इसलिये इसको औदयिक मिथ्यात्वभाव कहते हैं। विपरीताभिनिवेश वह मिथ्यात्वभाव कहा जाता है। विपरीताभिनिवेश कहिये अन्यथा अभिप्राय-अतत्त्वश्रद्धानरूपभाव। 'तस्य भावस्तत्त्वं' जिसका जो भाव – वह ही उसका तत्त्व और जिसका जो भाव नहीं – अन्यथा भाव मानना – वह अतत्त्वश्रद्धान कहा जाता है। उसी तत्त्व से जीवादिक पदार्थ अपने-अपने जिस भाव रूप तिष्ठते हैं तिस ही भाव कहिये स्वरूप सहित जानना सो तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन भाव है और जिस भावरूप नहीं है – उस भाव रूप मानना सो अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव होता है। वह मिथ्यात्वभाव २ प्रकार है। (१) अगृहीत (२) गृहीत।

अगृहीत मिथ्यात्व का स्वरूप

उसमें परद्रव्य, परगुण, परपर्याय में अहंकार-ममकार बुद्धि वा दृष्टिगोचर पुद्गल पर्यायों में द्रव्यबुद्धि, अदृष्टिगोचर द्रव्य गुण पर्यायों में अभाव बुद्धि-वह अगृहीत मिथ्यात्वभाव हैं [अब क्रमशः इनका स्वरूप दिखलाते हैं]।

(१) परद्रव्य में अहंबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव – परद्रव्य जो शरीर पुद्गलपिंड उसमें जो अहंबुद्धि "यह मैं हूँ" यह परद्रव्य में अहंबुद्धि मिथ्यात्वभाव है।

(२) परगुण में अहंबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव – जैसे पुद्गल के स्पर्शादि भाव [गुण] उनमें अहंबुद्धि जैसे मैं ऐसा हूँ "गरम मैं, ठण्डा मैं, कोमल मैं, कर्कश मैं, सच्चिकण मैं, सूक्ष्म मैं, हलका मैं, भारी मैं, गोरा मैं, काला मैं, लाल मैं, हरा मैं, पीला मैं, सुगन्धी मैं, दुर्गंधी मैं, मीठा मैं, खट्टा मैं, कटुक मैं, कषैला मैं, चिरपरा मैं" इत्यादि यह परगुण में अहंबुद्धि मिथ्यात्वभाव है।

(३) परपर्यायों में अहंबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव – मैं देव, मैं नारकी, मैं मनुष्य, मैं तिर्यञ्च और इनके अनेक विशेष [अवान्तर भेद-प्रभेद] तिनमें अहंबुद्धि – वह परपर्याय में अहंबुद्धि मिथ्यात्वभाव है।

(४) परद्रव्य में ममकारबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव – यह मेरा धन, यह मेरा मकान, ये मेरे आभूषण, ये मेरे वस्त्र, ये मेरे धान्यादिक पदार्थ इत्यादि वस्तुओं में ममकार वह परद्रव्यों में ममत्वबुद्धिरूप अगृहीतमिथ्यात्वभाव है।

(५) परगुण में ममकारबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव – शरीर के बल वीर्य को ऐसा मानना कि यह मेरा बल ऐसा है कि अनेक पराक्रम करूँ। यह मेरा शब्द, यह मेरी चाल, यह अनेक कार्यों में मेरी प्रवृत्ति इत्यादि – परगुणों में ममबुद्धिरूप अगृहीतमिथ्यात्वभाव है।

(६) परपर्याय में ममकारबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव – यह मेरे पुत्र, यह मेरी स्त्री, यह मेरी माता, ये मेरे पिता, ये मेरे भ्राता इत्यादि वा ये मेरे सामन्त, ये मेरे सैन्या, ये मेरी रैय्यत, ये मेरे हाथी, ये मेरे घोड़े, रथ, पालकी, गोधन इत्यादिकों में ममकारबुद्धि वह परपर्यायों में ममकारबुद्धिरूप अगृहीत मिथ्यात्वभाव है।

(७) दृष्टिगोचर पुद्‌गलपर्यायों में द्रव्यबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव – दृष्टि में जितनी घटपटादि पुद्गल की पर्यायें आती हैं – उनको जुदा जुदा द्रव्य मानता है। ये घट है। ये स्वर्ण है। यह पाषाण है। ये पर्वत है। ये वृक्ष है। ये मनुष्य है। ये हाथी है। ये घोड़ा है। यह काक है। ये चिड़िया है। यह स्याल है। यह सिंह है। यह सूर्य है। यह चन्द्रमा है। इत्यादिक पर्यायों में द्रव्यबुद्धि को धारता है। उनका सत्व मानता है। अर्थात् वर्तमान क्षणिक पर्याय को ही द्रव्य मानता है – त्रैकालिक सत्ता सहित गुण पर्यायरूप द्रव्य नहीं मानता।

(८) अदृष्टिगोचर द्रव्यगुणपर्यायों में अभावबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव – जो दृष्टिगोचर नहीं ऐसे जो दूरक्षेत्रवर्ती वा होकर नाश हो गई वा अनागत काल में होंगी वा इन्द्रियों से अगोचर सूक्ष्मपर्याय इत्यादिक जो अपनी और पर की – उनको अभावरूप मानता है। इनका सत्व हो चुका वा होयेगा वा वर्तमान में है – ऐसा नहीं मानता है।

इत्यादि भाव तो अगृहीतमिथ्यात्व रूप जानना। ये अगृहीत मिथ्यात्व तो जीव के अनादिभाव हैं और परभाव योग्य सर्व पर्याय सदा काल सर्वक्षेत्र में जीव के प्रवर्तता है। कोई कर कदाचित उपदेशित नहीं – इस वास्ते नैसर्गिक कहा जाता है।

गृहीतमिथ्यात्व का स्वरूप

मिथ्यात्वस्वरूप को धारण किया ऐसा जो यह घोर संसारी जीव है उसको सर्वथा अहित का कारण यह है। उस संसार में जीव का हित जो मोक्ष [मोक्ष कहिये सर्व कर्मों का अभाव कहिये संसार से छूट जाना] उसके कारणभूत [निमित्तमात्र कारण] ये ६ पदार्थ हैं (१) देव (२) गुरु (३) धर्म (४) आप्त (५) आगम (६) पदार्थ। ये मोक्षमार्ग के कारण [व्यवहार कारण] ६ तत्व हैं। अब इनका स्वरूप कथन करते हैं।

(१) देव तत्त्व – 'निर्दोषो देवः' सम्पूर्ण समस्त दोषों से रहित जो जीव होता है – वह देव कहा जाता है। दोष अज्ञान और कषाय से होते हैं। उसमें कर्म के आवरण सहित जो ज्ञान – वह अज्ञान कहा जाता है और राग द्वेष भाव वह कषाय कहा जाता है। क्योंकि अज्ञानी कषायी जीव स्व पर के हित को नहीं कर सकता है तो वह पूज्य पद में कैसे स्थापित हो सके क्योंकि जगजीव पूजते हैं सो अपने हित के वास्ते पूजते हैं। जिस जीव द्वारा हित न हो सके – उसको क्यों पूजें। क्योंकि जो हित के कारण नहीं – वे पूज्य भी नहीं – पूज्य नहीं वे देव भी नहीं। इसलिये जो समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण के नाश होते प्रगट हुआ है अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन जिनको और समस्त दर्शनमोह और चारित्रमोह के अभाव होते मिट गया है मिथ्यात्व और कषाय भाव – उस कर उत्पन्न हुआ है अपना सहज स्वभाव अनन्त सुख जिनके, और अन्तराय कर्म के अभाव होते प्रगट हुआ है अनन्तवीर्य जिनके ऐसे अनन्तचतुष्टय के धारक परमदेव हैं। क्योंकि अपने हित की तो हो गई है सिद्धि जिनके और परजीवों के हित करने में परम शक्ति को धारते हैं – इसलिये पूज्यपाद में तिष्ठते हैं – इसलिये वे अरहन्त देव हैं। जो सर्व कर्म का अभाव करके परद्रव्य से सर्वथा छूट लोक के शिखर में तिष्ठे, सर्व प्रकार हो गई है स्वरूप की सिद्धि जिनके, सम्यक्त्वादि अष्टगुण युक्त ऐसे परम देव सिद्ध भगवान वे देव हैं, पूज्य हैं, जिनके स्वरूप चिन्तवन मात्र से ही सुख की प्राप्ति होती है। ऐसा परमदेव का स्वरूप है।

(२) गुरु तत्त्व – गुरु नाम बड़े का है। जो अहित से बचाकर जीवों को हित में प्रवर्तावने के कारण तातें बड़े कहिये सो ही गुरु। जो २८ मूल गुण संयुक्त, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी, नग्नमुद्रा के धारक, शुद्ध रत्नत्रय रूप है प्रवृत्ति जिनकी परम दशलाक्षणिक धर्मरूप है मूर्ति जिनकी, बाह्याभ्यन्तर द्वादश प्रकार तप में आरूढ़ परम दिगम्बर गुरु जानने। धर्मगुरु की अष्टद्रव्य कर पूजा करनी। हाथ जोड़ अष्टांग या पञ्चांग नमस्कार करना। महाभक्तिपूर्वक ४ प्रकार दान देना। सर्वोपरि सत्कार करना विनय करना।

(३) धर्म तत्त्व – धर्म तत्त्व २ प्रकार है। एक निश्चय धर्म, दूसरा व्यवहार धर्म। निश्चय धर्म तो वस्तु का स्वभाव है। राग द्वेष रहित अपना ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में स्थिर होना निश्चय धर्म है। इसी का नाम चारित्र है। और व्यवहार धर्म २ प्रकार है। उस निश्चय धर्म का सहचर निमित्तरूप व्यवहार करिये तब धर्म के २ भेद होते हैं – देशसंयम, सकल संयम। जहाँ मिथ्यात्व सहित एकदेश विषय कषाय और पाँच पाप रूप अन्तरंग परिणमन का त्याग सो देश संयम वा इस धर्म को बाह्य ५ अणुव्रतादिक, तीन गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत इन १२ व्रत का ग्रहण सो भी देशसंयम कहा जाता है क्योंकि यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके इनको संयम कहा है और जहाँ सर्व प्रकार मिथ्यात्व विषय कषाय और पाँच पापों का त्याग वह सकल संयम है वा सकल संयम के कारण बाह्य २८ मूलगुण वा ८४ लाख उत्तरगुणों का ग्रहण भी व्यवहार सकल संयम है।

(४) आप्त तत्त्व – जीव का परमहित जो मोक्ष उसका उपदेष्टा वह आप्त कहा जाता है। वह आप्त २ प्रकार है। एक मूल आप्त दूसरा उत्तर आप्त। प्रत्यक्ष हो गये हैं सकल पदार्थ जिनको और नाश को प्राप्त हुये हैं ४ घातिया कर्म उनको नाश कर अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हो गये हैं। ऐसे श्री अरहन्त महाराज १२ सभा में तिष्ठ कर मोक्षमार्ग का उपदेश करते हैं – वे मूल आप्त हैं और उन हीं के अनुसार कथन करने वाले ऐसे सम्यग्दर्शनादिक के धारक गणधरादिक आचार्य उत्तर आप्त हैं।

(५) आगम तत्त्व – आप्त का जो वचन वह आगम कहा जाता है। वह आगम कैसा है? प्रमाण नय आदिक द्वारा अबाधित है। क्योंकि आगम केवली के वचन हैं – इसलिये बाधित होते नहीं। आगम में तीन प्रकार पदार्थ कहे हैं (१) उपादेय, (२) हेय, (३) ज्ञेय। इन ३ प्रकार पदार्थों में जितने प्रमाण गोचर हों – उतने पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध करना और जो अनुमान प्रमाण करि सिद्ध हों – उनको अनुमान प्रमाण कर सिद्ध करना और जो आगम प्रमाण करि ही सिद्ध होंय उनको सुनिश्चित संभव अबाधक प्रमाण कर सिद्ध करना। उनमें जो अबाधित होय – वह जिनागम जानना और जो बाधित होय वह जिनागम न मानना। ऐसा भी न मानना कि जो ये प्राकृतमय हैं, संस्कृतमय हैं, या बड़े आचार्य के नामकरि वेष्ठित हैं – ऐसी प्रतीति कर अर्थ का श्रद्धान न करना क्योंकि अब कलिकाल के दोष से कषायी पुरुषों द्वारा शास्त्रों में अन्यथा अर्थ का मेल हो गया है। इसलिये जैन न्याय के शास्त्रों की ऐसी आज्ञा है कि (१) आगम का सेवन (२) युक्ति का अवलम्बन (३) परम्परा गुरु का उपदेश (४) स्वानुभव इन ४ विशेषों का आश्रय करके अर्थ की सिद्धि करके ग्रहण करना। अन्यथा अर्थ के ग्रहण होने से जीव का अकल्याण होता है।

(६) पदार्थ तत्त्व – पद का अर्थ कहिये प्रयोजन उसको पदार्थ कहते हैं। वे पदार्थ नौ प्रकार हैं (१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) बन्ध (५) संवर (६) निर्जरा (७) मोक्ष (८) पुण्य (९) पाप। इनका स्वरूप जिनागम में जैसा कहा है वैसे ही स्वरूप सहित ग्रहण करना क्योंकि ये मोक्ष के कारण हैं। जिस स्वरूप कर तिष्ठे हैं – उस ही स्वरूप करि ग्रहण करना सो मोक्ष के कारण होते हैं। अन्यथा स्वरूप करि ग्रहण किये ये ही संसार के कारण होते हैं।

ऐसे मोक्ष के कारण ये ६ तत्त्व हैं १. देव, २. गुरु, ३. धर्म, ४. आप्त, ५. आगम, ६. पदार्थ। इनका यथार्थ स्वरूप सहित जैसे का तैसा श्रद्धा करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन, इनका यथार्थ स्वरूप जाने सो सम्यग्ज्ञान, इनके विषय यथावत प्रवृत्ति करना सो सम्यक्चारित्र – यह ही त्रिधा स्वरूप को धारण किया हुआ मोक्षमार्ग जानना। इन ६ तत्त्वों में एक की भी हानि होय तो मोक्षमार्ग की हानि हो जाय। जो देवतत्त्व न होय तो धर्म किसके आश्रय प्रवर्ते। गुरु तत्त्व न होय तो धर्म को ग्रहण कौन करावे। धर्म तत्त्व को ग्रहण न करिये तो मोक्ष की सिद्धि किसके द्वारा की जाय। आप्त का ग्रहण न होय तो सत्य धर्म का उपदेश कौन दे। आगम का ग्रहण न होय तो मोक्षमार्ग में अवलम्बन किस का करे। पदार्थों का ज्ञान न कीजिये तो आपका और पर का, अपने भावों का और पर भावों का, हेय भावों का और उपादेय भावों का, अहित का और अपने परम हित का कैसे ठीक होय। इसलिये इन ६ तत्त्वों का अवश्य मोक्षमार्ग में ग्रहण है। और जहाँ तीव्र मिथ्यात्ववश इन ही ६ प्रकार तत्त्वों का अन्यथा ग्रहण करना – वह गृहीत मिथ्यात्व भाव है। वह गृहीत मिथ्यात्व भाव इनमें ५ प्रकार प्रवर्त्ता है (१) एकान्त (२) विनय (३) संशय (४) विपरीत (५) अज्ञान। इसलिये गृहीत मिथ्यात्व के मूल भेद ५ प्रकार हैं। उत्तर भेद असंख्यात् लोकप्रमाण हैं। इन ५ प्रकार के मिथ्यात्व को

उपरोक्त ६ पदार्थों में किस प्रकार घटाते हैं – इसके लिये हिन्दी ग्रन्थ 'श्री भावदीपिका' पन्ना ३५ से ४८ तक अभ्यास करें। बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है।

अज्ञान औदयिक भाव

(सूत्र १८६७ से १८८० तक १४)

अज्ञान भाव का कारण तथा औदयिकपने की सिद्धि

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् ।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥ १८६७ ॥

अन्वयः – यः 'अज्ञानं' इति जीवभावः सः स्फुटं औदयिकः स्यात् यस्मात् ज्ञानावरणकर्मणः उदयात् लब्धजन्मा [अस्ति]।

अन्वयार्थ – जो 'अज्ञान' जीवभाव है वह प्रगट औदयिक है क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के उदय से यह जन्म प्राप्त [उत्पन्न] है।

भावार्थ – प्रत्येक जीव का स्वभाव केवलज्ञान जितना है। उस केवलज्ञान के बराबर ज्ञान में से जितना ज्ञान पर्याय में एक समय लब्धिरूप [उघाड़रूप – खुला हुआ] प्राप्त है – वह तो क्षायोपशमिक ज्ञानभाव है चाहे वह सम्यग्दृष्टि का हो – चाहे वह मिथ्यादृष्टि का हो और जितना ज्ञान तिरोभूत है – वह औदयिक अज्ञानभाव है चाहे वह सम्यग्दृष्टि का हो या मिथ्यादृष्टि का हो। यह औदयिक अज्ञानभाव पहले से बारहवें गुणस्थान तक है। तेरहवें में इसका अभाव है। मिथ्यात्व अवस्था में जो कुज्ञान को अज्ञान कहा जाता है – उस अज्ञान शब्द का अर्थ तो क्षायोपशमिक मिथ्याज्ञान है वह औदयिक भाव नहीं है किन्तु क्षायोपशमिक भाव है। यहाँ तो अज्ञान का अर्थ अ-ज्ञान अर्थात् पर्याय में अभावात्मक ज्ञान से आशय है।

अज्ञानभाव का लक्षण

अस्त्यात्मनो गुणः ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम् ।
मूर्च्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात् ॥ १८६८ ॥

अन्वयः – आत्मनः स्वापूर्वार्थावभासकं ज्ञानं गुणः अस्ति। सः स्वावरणोदयात् मूर्च्छितं वा मृतकं वपुः स्यात्।

अन्वयार्थ – आत्मा का एक ज्ञान गुण है जो अपने स्वरूप का और अपूर्वार्थ [अनिश्चित पदार्थों] का प्रकाशक है। वह ज्ञान गुण अपने आवरण [ज्ञानावरण] के उदय अंश से मूर्च्छित या मृतक शरीरवत् हो जाता है। [वह औदयिक अज्ञान भाव है अर्थात् जितना ज्ञान का पर्याय में अभाव है – उघाड़ नहीं है – वह अज्ञान भाव है]।

अज्ञान भाव बन्ध का कारण नहीं है

अर्थादौदयिकत्वेऽपि भावस्यास्याप्यवश्यतः ।
ज्ञानावृत्यादिबन्धेऽस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता ॥ १८६९ ॥

अन्वयः – अर्थात् अस्य भावस्य अवश्यतः औदयिकत्वे अपि अस्मिन् ज्ञानावृत्यादिबन्धे कार्ये वै अहेतुता स्यात्।

अन्वयार्थ – वास्तव में इस भाव के अवश्य औदयिकपना होने पर भी इसमें ज्ञानावरणादि कर्मवन्ध रूप कार्य में निश्चय से अहेतुता [अकारणता] है।

भावार्थ – पाँच भावों में से केवल औदयिक भाव को बन्ध का कारण कहा था सो यहाँ विशेष नियम बताते हैं कि यह अज्ञान भाव औदयिक तो जरूर है पर कर्मबन्ध करने वाला नहीं है। क्यों नहीं है – इसका कारण बतलाते हैं :–

अज्ञान भाव क्योंकि संक्लेशरूप नहीं है इसलिये बन्ध का कारण नहीं है तथापि दुःखरूप जरूर है।

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद् बन्धस्य कारणम् ।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥ १८७० ॥

अन्वयः – अपि अयं संक्लेशरूपः न यः बन्धस्य कारणं स्यात्। यः क्लेशः दुःखमूर्तिः स्यात् तद्योगात् क्लेशवान् अस्ति।

अन्वयार्थ - क्योंकि यह अज्ञान भाव संक्लेशरूप भी नहीं है जो दुःख का कारण होवे परन्तु जो क्लेश दुःख की मूर्ति समझा जाता है – उसके सम्बन्ध से क्लेशवान् अवश्य है।

भावार्थ - १. मिथ्यात्व, २. क्रोध, ३. मान, ४. माया, ५. लोभ, ६. हास्य, ७. रति, ८. अरति, ९. शोक, १०. भय, ११. जुगुप्सा और १२. वेद – ये बारह भाव संक्लेश रूप कहे जाते हैं क्योंकि ये प्रगट क्लेश रूप हैं और मात्र यही बारह भाव ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को बाँधते हैं। सो यह अज्ञानभाव इन संक्लेश भावों में नहीं है अतः बन्ध का कारण भी नहीं है और संक्लेश रूप भी नहीं है यह प्रथम पंक्ति का अर्थ है। अब दूसरी पंक्ति का अर्थ यह है कि आत्मा का स्वभाव अनन्तचतुष्टय रूप है। उसमें अनन्तसुख भी है और वह सुख अनन्तज्ञान का अविनाभावी है। अतः जितने अंश में ज्ञान का अभाव है उतने अंश में जीव के अनन्तचतुष्टय रूप स्वभाव का अभाव ही है और उतने अंश में सुख का अभाव भी है ही। इस अपेक्षा यह अज्ञानभाव क्लेश रूप अथवा दुःख रूप है। इस अपेक्षा दुःख की मूर्ति है। औदयिक भावों में बन्ध करने वाले तो केवल उपरोक्त १२ ही हैं किन्तु दुःख रूप २१ के २१ औदयिक भाव हैं। इतनी विशेषता है सो ध्यान रहे क्योंकि ये २१ भाव आत्मा के स्वभाव का घात करते हैं और स्वभाव का घात ही दुःख की वास्तविक परिभाषा है। चौथी पुस्तक में जो अबुद्धिपूर्वक दुःख का वर्णन किया है वह करीब करीब इस अज्ञान भाव का ही पर्यायवाची है।

अज्ञानभाव दुःखरूप क्यों है? इसका उत्तर

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः।
वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः॥ १८७१॥

अन्वयः - च अयं अज्ञानात्मा भावः निसर्गतः दुःखमूर्तिः यतः कर्मणां उदयः वज्राघातः इव ख्यातः।

अन्वयार्थ - और यह अज्ञानस्वरूप भाव स्वभाव से ही दुःख की मूर्ति है क्योंकि कर्मों का उदय वज्राघात की तरह कहा गया है।

भावार्थ - यह निमित्त का कथन है। श्री समयसारजी सूत्र ४५ तथा १६० पर से लिया गया है। विशेष जानकारी की इच्छा हो तो उन दोनों सूत्रों को टीका सहित पढ़िये। भाव इसका यह है कि आठों ही कर्मों का उदय अंश जीव के महान दुःख और स्वभाव की विपरीतता में ही निमित्त कारण है। अतः उपचार कथन से यूं समझिये कि वह महान् दुःख रूप है। क्योंकि जीव का स्वभाव अनन्त चतुष्टय सहित सिद्ध दशा है और उसका सब प्रकार से घात हो रहा है। अतः जीव जहाँ तक दोषयुक्त बनता है – वहाँ तक कर्मों का 2उदय वज्रघात के समान कहा गया है। अबुद्धिपूर्वक दुःख इसी का फल है।

शंका

ननु कश्चिद्गुणोऽप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत्।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः॥ १८७२॥
तत्कथं मूर्च्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम्।
सूत्रे द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणा गुणाः॥ १८७३॥
न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद्गुणः सुखम्।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम्॥ १८७४॥

अन्वयः - ननु [किं] ज्ञानगुणादिवत् कश्चित् सुखं गुणः अपि अस्ति? [किं] तद्विपक्षस्य कर्मणः पाकात् तद्वैकृतं दुःखं। [यदि एवं तदा] तत् मूर्च्छितं ज्ञानं एकान्ततः दुःखं कथं मत यस्मात् सूत्रे गुणाः द्रव्याश्रयाः प्रोक्ताः च निर्गुणाः प्रोक्ताः। [यदि] ज्ञानादिगुणेषु कश्चित् सुखं गुणः उच्चैः न अस्ति तदा मिथ्याभावाः च कषायाः इत्यादयः कथं दुःखं?

अन्वयार्थ - क्या ज्ञान गुण आदि की तरह कोई सुख गुण भी है? क्या अपने विपक्षी कर्म के उदय से वह सुख विकारी होकर दुःख रूप है? यदि ऐसा है तो वह मूर्च्छित ज्ञान [अज्ञान औदयिक भाव] सर्वथा दुःखरूप कैसे माना गया है क्योंकि सूत्र में गुण द्रव्याश्रित कहे गये हैं किन्तु स्वयं निर्गुण कहे गये हैं अर्थात् गुण के आश्रय गुण नहीं कहे गये हैं? यदि ज्ञानादि गुणों में कोई सुख गुण वास्तव में नहीं है तो मिथ्याभाव और कषाय – इत्यादिक भाव दुःखरूप कैसे हैं?

शङ्काकार का भाव

(१) शङ्काकार का अभिप्राय है कि क्या ज्ञानादि गुणों के समान कोई सुख गुण भी है? और क्या दुःख भाव उसकी वैभाविक अवस्था है? यदि है तो फिर अज्ञान भाव, मिथ्याभाव, कषायें – आदि भाव – इनको दुःख क्यों कहा गया है क्योंकि गुणों में गुण तो रहते नहीं हैं। जब दुःख सुख गुण की वैभाविक अवस्था है तो वह मूर्च्छित ज्ञान [अज्ञान भाव], वैभाविक श्रद्धा, वैभाविक चारित्र में कैसे रह सकती है?

(२) यदि ज्ञानादि गुणों के समान कोई सुख गुण नहीं है तो फिर मिथ्यात्वादि को दुःख किस दृष्टि से कहा जाता है?

भाव यह है कि शङ्काकार सुख दुःख का द्रव्य, गुण, पर्याय तथा निमित्त का पूर्ण वृत्तान्त जानना चाहता है और अज्ञानभाव दुःखरूप कैसे है – वह भी जानना चाहता है।

समाधान सूत्र १८७५ से १८८० तक ६

सत्यं चास्ति सुखं जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत् ।
भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥ १८७५ ॥

अन्वयः – सत्यं। ज्ञानगुणादिवत् सुखं जन्तोः गुणः अस्ति। कर्माष्टकोदयात् हेतोः तद्वैकृतं दुःखं भवेत्।

अन्वयार्थ – ठीक है। ज्ञानगुण आदि की तरह सुख भी जीव का एक गुण है। आठ कर्मों के उदयरूप कारण से उस सुख गुण का विभाव परिणमन दुःख है।

भावार्थ – सुख गुण भी आत्मा का एक अनुजीवी गुण है। उस गुण को घात करने वाला कोई खास कर्म नहीं है जैसे कि ज्ञान दर्शन आदि के हैं किन्तु आठों ही कर्म उसके घात में निमित्त हैं। आठों कर्मों के उदय में जुड़ने से ही उस सुख गुण की दुःखरूप वैभाविक अवस्था होती है। यहाँ पर यदि कोई शङ्का करे कि आठों ही कर्मों में भिन्न-भिन्न प्रतिपक्षी गुणों के घात करने की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, फिर उन्हीं में सुख के घात करने की शक्ति कहाँ से आई? उसका उत्तर देते हैं :–

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका ।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्रसस्य च ॥ १८७६ ॥

अन्वयः – सर्वेषां कर्मणां उदयात्मिका शक्तिः सामान्याख्या च विशेषाख्या द्वैविध्यात् अस्ति च तद्रसस्य।

अन्वयार्थ – सब कर्मों की उदयात्मक शक्ति सामान्यरूप और विशेषरूप दो प्रकार से है और उनका रस भी सामान्यरूप और विशेषरूप दो प्रकार से है।

सामान्याख्या यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात् ।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकागतो रसः ॥ १८७७ ॥

अन्वयः – सामान्याख्या यथा कृत्स्नकर्मणां एकलक्षणात् पाकागतः रसः जीवस्य आकुलतायाः हेतुः स्यात्।

अन्वयार्थ – सामान्यरूप इस प्रकार है कि सब कर्मों का एक लक्षण है। वह इस प्रकार कि उन सबका उदयागत रस जीव की आकुलता का कारण होता है [और वही दुःख है]।

न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विषभक्षणात् ।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥ १८७८ ॥

अन्वयः – च एतत् अप्रसिद्धं न किन्तु विषभक्षणात् दृष्टान्तात् दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात्।

अन्वयार्थ – [कर्मों की सामान्य और विशेष ऐसी दो शक्तियाँ हैं] यह बात अप्रसिद्ध नहीं है किन्तु विष भक्षण के दृष्टांत से दुःख का और प्राणघात का – दो प्रकार के कार्य का दर्शन होता है [इसी प्रकार ज्ञानावरणादि का उदय ज्ञानादि के घात में भी निमित्त है और सुख के घात में भी निमित्त है। एक पदार्थ में भी दो कार्यों की भली भाँति सिद्धि हो जाती है।]

कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च ।
अस्ति किञ्चिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥ १८७९ ॥

अन्वयः – कर्माष्टकं सुखस्य गुणस्य विपक्षि स्यात्। ततः तद्विपक्षं पृथक् किञ्चिन् एकं कर्म न अस्ति।

अन्वयार्थ - आठ कर्म एक सुख गुण का विपक्षी है। इसलिये उसका विपक्षी भिन्न कोई एक कर्म नहीं है।

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च।
न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ॥ १८८० ॥

अन्वयः - चेत् तद्विपक्षि एकं वेदनीयं कर्म स्यात्। एवं न यतः अस्य अघातित्वं परमागमात् प्रसिद्धं।

अन्वयार्थ - यदि कहो कि उसका विपक्षी एक वेदनीय कर्म है तो ऐसा नहीं है क्योंकि इस कर्म के अघातिपना परमागम से प्रसिद्ध है।

समाधान का सार

बहुत लोग सुख को एक पृथक् गुण नहीं मानते किन्तु उन्हें मालूम होना चाहिये कि ज्ञान दर्शन श्रद्धा चारित्र की तरह सुख एक स्वतंत्र गुण है। इसका स्वभाव विभावरूप दो प्रकार का परिणमन होता है। स्वभाव पर्याय को अतीन्द्रिय सुख कहते हैं और विभाव पर्याय को दुःख कहते हैं। उस विभाव रूप दुःख पर्याय के भी दो भेद हैं एक साता रूप दुःख एक असाता रूप दुःख। यह विभाव पर्याय १-२-३ गुणस्थान में पाई जाती है। स्वभाव पर्याय के भी दो भेद हैं एक एकदेश-स्वभाव पर्याय एक सर्वदेश स्वभाव पर्याय। चौथे से बारहवें तक एकदेश स्वभाव पर्याय है और तेरहवें-चौदहवें और सिद्ध में सर्वदेश स्वभाव पर्याय है। अब इसके लक्षण का विचार करते हैं। स्वभाव का घात दुःख का लक्षण है। स्वभाव की प्राप्ति सुख का लक्षण है। अब इसके निमित्त पर विचार करते हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि सुखावरण नाम का कोई कर्म तो है ही नहीं और विभाव इस गुण में होता ही है तो यह बात कैसे बने सो उसका उत्तर देते हैं कि आठों कर्मो का उदय इसमें निमित्त है। इसमें युक्ति यह है कि स्वभाव का घात दुःख का लक्षण है और स्वभाव के घात में आठों कर्मों का उदय निमित्त है ही। अब प्रश्न यह है कि वे कर्म तो अपने-अपने सम्बन्धी गुणों के घात में निमित्त हैं। फिर सुख के घात में निमित्त वे कैसे हैं उसका उत्तर देते हैं कि प्रत्येक कर्म में दो शक्तियाँ हैं एक सामान्य शक्ति, एक विशेष शक्ति। सामान्य शक्ति तो जीव के दुःख में निमित्त होने की है और विशेष शक्ति अपने-अपने सम्बन्धी गुण के घात में निमित्त होने की है। अब शिष्य कहता है कि कहीं एक पदार्थ में दो शक्तियाँ भी होती हैं तो उत्तर देते हैं कि हाँ। जहर में दुःख देने की और मारने की दोनों शक्तियाँ हैं। चावल में ठण्डेपने की और खुश्कपने की दोनों शक्तियाँ हैं। इसी प्रकार कर्मों में सुख के तिरोभूत करने की और अपने विपक्षी गुण के तिरोभूत करने की दोनों शक्तियाँ हैं। जब आठों कर्मों में दोनों शक्तियाँ हैं तो फिर एक भिन्न सुखावरण कर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती। किन्हीं-किन्हीं का ऐसा विचार है कि सुख के विभाव परिणमन में आठ कर्म निमित्त नहीं हैं किन्तु वेदनीय कर्म निमित्त है तो ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि जीव के भाव में घातिया कर्म निमित्त होते हैं अघातिया नहीं। वेदनीय को आगम में अघातिकर्म कहा है। उसका कार्य – सातावेदनीय का कार्य इष्टवस्तु की प्राप्ति कराना है और असाता वेदनीय का कार्य अनिष्टवस्तु की प्राप्ति कराना है। अब यह शङ्का हो सकती है कि आपने भी तो ऊपर आठों कर्मो को निमित्त कहा है। चार को नहीं फिर आपकी बात में पूर्व अपर विरोध हो जायेगा। इसका उत्तर यह है कि अघाति कर्मो को जब तक मोहनीय की सहचरता है तब तक जीव उनसे प्राप्त वस्तु में अपनेपने और इष्ट अनिष्टपने की कल्पना करके दुःखी होता है। अतः वे भी दुःख में निमित्त कारण बन जाते हैं। इस अपेक्षा आठों को दुःख में निमित्त कहा है। हाँ जहाँ घातिया नष्ट होकर केवली हो जाता है वहाँ अघातिया जली हुई रस्सी के समान रह जाते हैं। फिर उनमें दुःख में निमित्तपना नहीं रहता। हाँ जितने अंश में उनका उदय है – उतने अंश में आत्मा में विभाव परिणमन है। वह भी स्वभाव का घात है। इस अपेक्षा सम्पूर्ण अव्याबाध सुख वहाँ भी नहीं है जो केवल सिद्ध में है। इस प्रकार दुःख में आठों कर्मों का निमित्तपना है।

अज्ञान भाव का सार

आत्मा में जितना ज्ञान, सुज्ञान रूप से या कुज्ञान रूप से, विद्यमान है – वह सब तो क्षायोपशमिक ज्ञान भाव है। जीव का स्वभाव केवलज्ञान है। उतनी प्रगटता में जितना ज्ञान प्रगट है – उतना क्षायोपशमिक ज्ञान भाव है और जितना अप्रगट है – उसको अज्ञान भाव – मूर्च्छित ज्ञान या मृतक ज्ञान कहते हैं। यह अनुभव रूप नहीं है किन्तु गुण में विद्यमान होने पर भी पर्याय में शून्य है। यह संक्लेश रूप तो नहीं है क्योंकि संक्लेश रूप तो राग द्वेष मोह भाव है और इसीलिये इससे बन्ध भी नहीं है किन्तु दुःखरूप अवश्य है क्योंकि इसके कारण से स्वाभाविक ज्ञान और सुख का अभाव हो रहा है जैसा कि पहले अबुद्धिपूर्वक दुःख में भली भाँति सिद्ध करके आये हैं।

श्री भावदीपिका में कहा है

जो ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जितना ज्ञान भाव जीव के प्रगट है – उतना तो क्षायोपशमिक भाव कहा जाता है और ज्ञानावरण दर्शनावरण के उदय [में जुड़ने] से जितना ज्ञान अभावरूप है – वह अज्ञानभाव कहा जाता है। क्योंकि जीव का सम्पूर्ण ज्ञानभाव तो केवलज्ञान है। उस में जितना ज्ञान के ऊपर ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय है - उतना तो अभाव है और जितना ज्ञान के ऊपर ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के देशघाति स्पर्धकों का उदय है - उसमें जितना ज्ञान खुला हुआ है उतना तो क्षायोपशमिक भाव-जितना बन्द है – उतना औदयिक अज्ञानभाव है।

यह अज्ञान भाव क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान के अन्तपर्यन्त जानना। वहाँ सम्पूर्ण ज्ञानावरण दर्शनावरण के क्षय होते सम्पूर्ण ज्ञानभाव जीव को केवलज्ञान प्रगट होता है। वहाँ संयोगकेवली तेरहवें गुणस्थान में अज्ञानभाव का अभाव होता है। इसलिये अज्ञान भाव बारहवें गुणस्थान तक जानना।

असंयत (असंयम) औदयिक भाव

(सूत्र १८८१ से १९०५ तक २५)

असंयम भाव का कारण तथा औदयिकपने की सिद्धि

असंयतत्त्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥ १८८१ ॥

अन्वयः - असंयतत्त्वं अपि अस्य औदयिकः भावः अस्ति यतः चारित्रमोहस्य कर्मणः पाकात् लब्धजन्मवान्।

अन्वयार्थ - असंयतपना भी इस [आत्मा] का औदयिक भाव है क्योंकि चारित्रमोह कर्म के उदय से [उदय में जुड़ने से] जन्मप्राप्त है [उत्पन्न है]।

भावार्थ - चारित्रमोह के उदय में जुड़ने से होने वाला असंयत [असंयम] भाव भी आत्मा का औदयिक भाव है। इतना विशेष है कि चारित्रमोहनीय कर्म की उत्तर २ मन्दता से उस असंयत भाव में भी अन्तर पड़ता चला जाता है जैसे चौथे गुणस्थान तक सर्वथा असंयत भाव है क्योंकि वहाँ तक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का विपाक उदय है और इसके विपाक उदय में एकदेश संयम भी नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में एकदेश संयम है – शेष असंयम है। छठे से दसवें तक सकल संयम है पर अबुद्धिपूर्वक असंयम भाव भी है। बारहवें में चारित्र गुण की पूर्ण शुद्धि होने से पूर्ण संयम है और चारित्रमोह का सर्वथा नाश है।

नोट - जीव जितने अंश में कर्मोदय में जुड़ते हैं उतने अंश में ही कर्मोदय को विपाक उदय अर्थात् उदय कहा जाता है और जितने अंश में न जुड़कर स्वसन्मुख ज्ञाता रहे उतने अंश में उदय प्राप्त कर्मों को निर्जरा-उदयाभावी क्षय-अनुदय रूप उपशम अथवा क्षय कहने में आता है। वस्तुस्थिति का नियम ऐसा ही है किन्तु व्यवहार नय द्वारा निमित्त नैमित्तिक दोनों का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन करने में आता है। निमित्त की मुख्यता से कार्य होता है कर्मोदय के अनुसार जीव को राग, द्वेष मोह करना पड़ता है ऐसा कभी भी नहीं है अर्थात् व्यवहार से जो कथन आया है वैसा वस्तु स्वरूप नहीं है किन्तु निमित्त में आरोप करके ऐसा कहने की पद्धति है।

संयम के २ भेद-व्यवहार निश्चय संयम

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद् द्वादशधाऽथवा।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रयस्य च ॥ १८८२ ॥

अन्वयः - क्रियया संयमः द्वेधा अथवा व्यासात् द्वादशधा च शुद्धस्वात्मोपलब्धिः निष्क्रियस्य संयमः स्यात्।

अन्वयार्थ - क्रिया की अपेक्षा से [व्यवहार से] संयम दो प्रकार अथवा विस्तार से १२ प्रकार है और अपने आत्मा की शुद्धोपलब्धि निष्क्रिय संयम है [निश्चय संयम है – वास्तविक संयम है]। [प्रथम पंक्ति व्यवहार संयम की है – दूसरी पंक्ति निश्चय संयम की है।]

भावार्थ – संयम भाव के २ भेद हैं। एक निश्चय संयम दूसरा व्यवहार संयम। आत्मा में चारित्रगुण जितने अंश में शुद्ध आत्मा के आश्रय से शुभाशुभ विकल्प रूप क्रिया से रहित शुद्ध हो गया है अर्थात् मोहक्षोभ रहित हो गया है – राग द्वेष मोह रहित हो गया है – वह तो निश्चय संयम है। यह पर्याय में आत्मप्राप्तिरूप है क्योंकि आत्मा स्वभाव से निष्क्रिय है और उसका निष्क्रिय रूप होना ही शुद्ध भाव है। यह निश्चय संयम है। यह ज्ञानियों के ही होता है और पाँचवें गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। यह नीचे की पंक्ति का अर्थ है। अब ऊपर की पंक्ति का अर्थ लिखते हैं। सक्रिय संयम शुभ प्रवृत्ति रूप है। इसके दो भेद हैं। पहला इन्द्रिय संयम। दूसरा प्राणी संयम। फिर प्रत्येक के ६ भेद हैं। ५ इन्द्रिय और छठे मन के निरोधरूप ६ प्रकार का इन्द्रिय संयम और ५ स्थावर और एक त्रस के संरक्षण रूप ६ प्रकार का प्राणी संयम। इस प्रकार विस्तार से १२ भेद रूप है। इसको व्यवहार कहने का कारण यह है कि इन्द्रियाँ भी परद्रव्य हैं और परजीव भी परद्रव्य हैं – इनका संरक्षण तो मैं कर ही नहीं सकता ऐसा अन्तर में तो ज्ञानी जानता है – बाहर में क्योंकि अशुभभाव निवृत्त हो गया है अतः उन इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति न होने से ऐसा कह देते हैं कि ज्ञानी ने इन्द्रिय संयम कर लिया। इसी प्रकार इन्द्रियविषयों में ज्ञानी को स्वभावतः अरुचि हो जाती है और उन विषयों के कारण जो प्राणीवध होता था – उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतः प्राणीघात न होने से प्राणीसंयम कह देते हैं। इन्द्रिय संयम और प्राणीसंयम में जितना शुद्ध भाव है उतना अंश तो निश्चय संयम का है। जितना अंश अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति रूप भाव है – उतना व्यवहार संयम है। वह शुभ विकल्प निश्चय से असंयम रूप है पर अशुभ की निवृत्ति की अपेक्षा उसे उपचार से संयम कहने की आगम तथा लोक में रूढ़ि है। इसलिये व्यवहार से व्रत के अभाव को असंयम और व्रत [शुभ विकल्प] के सद्भाव को संयम कहा है। व्यवहार संयम का ही दूसरा नाम सक्रिय संयम है। पहले उसका ही निरूपण करते हैं :–

पहला इन्द्रियनिरोध नामा सक्रिय संयम

पञ्चानामिन्द्रियाणाञ्च मनसश्च निरोधनात् ।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ॥ १८८३ ॥

अन्वयः – पञ्चानां इन्द्रियाणां च मनसः निरोधनात् इन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः स्यात्। प्रथमः मतः।

अन्वयार्थ – [निश्चय सम्यग्दर्शन और आंशिक वीतरागभाव सहित ज्ञानी को] पाँचों इन्द्रियों के और मन के निरोध से इन्द्रियनिरोध नामक संयम होता है। यह पहला संयम माना गया है।

भावार्थ – ज्ञानी के स्वतः जितने अंश में पाँच इन्द्रियों की और छठे मन की अशुभ प्रवृत्ति नहीं रहती – उतने अंश में उसके छः प्रकार का इन्द्रिय संयम माना गया है।

दूसरा प्राणसंरक्षण नामा सक्रिय संयम

स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात् ।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद् द्वितीयः प्राणसंयमः ॥ १८८४ ॥

अन्वयः – पञ्चानां स्थावराणां च त्रसस्य अपि रक्षणात् असुसंरक्षणाख्यः द्वितीयः प्राणसंयमः स्यात्।

अन्वयार्थ – [निश्चय सम्यग्दर्शन और आंशिक वीतरागभाव सहित ज्ञानी को] पाँच स्थावरों के और त्रस के भी रक्षण से प्राणसंरक्षण नामक संयम होता है। यह दूसरा प्राण-संयम है।

भावार्थ – ज्ञानी को जो छः काय के जीवों के वध में अशुभ प्रवृत्ति नहीं होती – उसको छः प्रकार का प्राणसंयम या प्राणीसंयम कहा जाता है।

शङ्का

ननु किं नु निरोधत्वमक्षाणां मनसस्तथा ।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च ॥ १८८५ ॥

अन्वयः – ननु अक्षाणां तथा मनसः निरोधित्वं नु किं च स्थावराणां च त्रसस्य संरक्षणं किं नाम।

अन्वयार्थ – शङ्का-इन्द्रियों का तथा मन का रोकना वास्तव में क्या है और स्थावरों का तथा त्रस का संरक्षण क्या ? [अर्थात् इन दोनों प्रकार के क्रियात्मक संयम का क्या स्वरूप है?]

समाधान सूत्र १८८६ से १८८८ तक ३

इन्द्रिय संयम का स्वरूप [Important]

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥ १८८६ ॥

अन्वयः - सत्यं। अक्षार्थसम्बन्धात् यत् ज्ञानं [तत्] असंयमाय न। तत्र या रागादिबुद्धिः तन्निरोधनं संयमः।

अन्वयार्थ - आप की शङ्का ठीक है। इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ को विषय करने से जो ज्ञान होता है – वह असंयम के लिये [असंयम का कारण – असंयम जनक] नहीं है किन्तु वहाँ [इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर उन पदार्थों में] जो रागादिभाव [राग द्वेष-मोहरूप परिणाम हैं – वे परिणाम असंयम हैं और] उसका रोकना [न होने देना] संयम है [अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थों का सम्बन्ध होने पर उन राग-द्वेष-मोह परिणामों का न होने देना संयम है।]

भावार्थ - इस क्रियात्मक संयम और असंयम निरूपण का सम्बन्ध मुख्यतया पाँचवें छठे गुणस्थान से है। सो वहाँ जीव छद्मस्थ है और उसका ज्ञान परपदार्थों के जानने के लिये बुद्धिपूर्वक इन्द्रिय द्वारा ही प्रवृत्त होता है तो कहते हैं कि पर पदार्थों को जानने मात्र के लिये जो इन्द्रियों और पदार्थों का बिना विषय इच्छा रूप राग के सम्बन्ध होता है – वह असंयम नहीं कहलाता और उसका रुकना संयम भी नहीं कहलाता किन्तु जब जीव को विषय अभिलाषा होती है और भोग इच्छा रूप राग से जब इन्द्रियाँ परपदार्थों [विषयों] में प्रवृत्त होती है – तब वह भाव असंयम माना जाता है और वीतरागता-स्व-सन्मुखता पूर्वक भोग इच्छा निरोध सहित इन्द्रिय प्रवृत्ति का रुकना संयम जानना चाहिए।

पुनः भावार्थ - ठीक है। इन्द्रियज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। इस कारण से इसे असंयम नहीं कहते कारण कि पदार्थों का जानना यह तो ज्ञान की पर्याय है पर ज्ञान का विकार नहीं है। असंयम तो विकार का नाम है – ज्ञान का नाम नहीं है। परन्तु इन्द्रियों के विषयों में रागादिक बुद्धि कर ज्ञान का राग-द्वेषवान् होना ही असंयम है और उन विषयों में रागादि बुद्धि उत्पन्न न होने देना ही संयम है। यह सूत्र ग्रन्थकार ने मार्मिक लिखा है।

प्राणी संयम का स्वरूप

त्रसस्थावरजीवानां न बधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥ १८८७ ॥

अन्वयः - त्रसस्थावरजीवानां बधाय क्व अपि मनः उद्यतं न, वचः उद्यतं न, वपुः उद्यतं न इति प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ।

अन्वयार्थ - त्रस स्थावर जीवों के बध के लिये कहीं भी मन उद्यत न होना, वचन उद्यत न होना, शरीर उद्यत न होना [अर्थात् त्रस स्थावर जीवों को मारने के लिये मन, वचन, काय की कभी प्रवृत्ति न होना] प्राण संरक्षण [प्राणी संयम] माना गया है।

असंयम भाव का लक्षण

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः ।
असंयतत्वं तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च ॥ १८८८ ॥

अन्वयः - इति उक्तलक्षणः संयमः यत्र लेशतः अपि न तत् असंयतत्वं नाम च सः औदयिकः भावः अस्ति।

अन्वयार्थ - इस प्रकार ऊपर कहा हुआ दोनों प्रकार का संयम जहाँ लेशमात्र भी नहीं है – वह असंयम नामक भाव है और वह भाव औदयिक भाव है।

भावार्थ - पहले ६ सूत्रों में इन्द्रिय संयम और प्राणसंयम रूप से दो प्रकार का संयम कहा गया है। वह संयमभाव क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव रूप है और उक्त संयम का न होना असंयमभाव है और यह भाव – उदय में जुड़ने से उत्पन्न होने के कारण औदयिक भाव कहा जाता है।

१. निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रतपरिणामरूप विकार को अविरति अथवा असंयम कहते हैं।
२. हिंसादि पापों में तथा पाँच इन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति करने को भी अविरति [असंयम] कहते हैं।

शङ्का

ननु वाऽसंयतत्त्वस्य कषायाणां परस्परम् ।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥ १८८९ ॥

अन्वयः – ननु असंयतत्त्वस्य वा कषायाणां परस्परं कः भेदः स्यात् एकस्य चारित्रमोहस्य पर्ययात्।

अन्वयार्थ – शङ्का – असंयम भाव के और कषायों के परस्पर में क्या भेद [अन्तर] है क्योंकि दोनों एक चारित्रमोह की पर्याय हैं।

भावार्थ – शिष्य का कहना है कि असंयम भाव भी चारित्र गुण की विभाव पर्याय है और कषाय भी चारित्र गुण की विभाव पर्याय है। असंयम में भी चारित्रमोह का उदय निमित्त है और कषायों में भी चारित्रमोह का उदय निमित्त है। फिर ये दोनों भाव एक ही वस्तु हुये। कुछ अन्तर हो तो बतलाइये? अब उत्तर में चारित्र गुण के कैसे कैसे विभाव परिणमन होते हैं और उनमें चारित्रमोहनीय की किस किस रूप से प्रकृतियाँ निमित्त हैं – यह सब वृत्तान्त खोलकर समझाते हैं :–

समाधान सूत्र १८९० से १८९६ तक ७

सत्यं चारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम् ।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥ १८९० ॥

अन्वयः – सत्यं। एकस्य चारित्रमोहस्य कर्मणः पाकात् उभयात्मकं कार्यं स्यात्। असंयमः च कषायाः।

अन्वयार्थ – आपकी शङ्का ठीक है। एक चारित्रमोह कर्म के उदय [में जुड़ने] से दो प्रकार का कार्य होता है। असंयम और कषायें।

भावार्थ – यह तो ठीक है कि असंयम और कषाय आत्मा के दो भाव भिन्न भिन्न जाति के हैं किन्तु निमित्त दोनों में एक चारित्रमोह का उदय ही है। किस प्रकार? इसको आगे अवान्तर भेदों के वृत्तान्त द्वारा खोलकर समझाते हैं :–

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश ।
नव नोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥ १८९१ ॥

अन्वयः – चारित्रमोहस्य पाकात् क्रोधाद्याः षोडश च नव नोकषायनामानः। ततः न न्यूनाः न अधिकाः।

अन्वयार्थ – चारित्रमोह के उदय [में जुड़ने] से क्रोधादिक सोलह कषाय भाव और नौ नोकषाय नामक भाव होते हैं। इससे न कम होते हैं और न अधिक होते हैं।

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात् तत्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥ १८९२ ॥

अन्वयः – तत्र अनन्तानुबन्धिनां पाकात् सम्यक्त्वहानिः च अप्रत्याख्यानस्य पाकात् संयतासंयतक्षतिः स्यात्।

अन्वयार्थ – उनमें अनन्तानुबन्धियों के उदय [में जुड़ने] से सम्यक्त्व की हानि होती है और अप्रत्याख्यान के उदय [में जुड़ने] से संयतासंयत की क्षति होती है।

प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात् संयमक्षतिः ।
संज्वलननोकषायैर्न यथाख्यातसंयमः ॥ १८९३ ॥

अन्वयः – प्रत्याख्यानकषायाणां उदयात् संयमक्षतिः च संज्वलननोकषायैः यथाख्यातसंयमः न स्यात्।

अन्वयार्थ – प्रत्याख्यान कषायों के उदय में जुड़ने से संयम की क्षति है और संज्वलन तथा नोकषायों द्वारा यथाख्यातसंयम नहीं होता है।

इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययोर्द्वयोः ।
कषायनोकषायाणं संयतस्येतरस्य च ॥ १८९४ ॥

अन्वयः – इति एवं कषायनोकषायाणां च संयतस्येतरस्य द्वयोः कारणकार्ययोः सर्ववृत्तान्तः।

अन्वयार्थ - इस प्रकार [उक्त सम्पूर्ण कथनानुसार] कषायों नोकषायों का और संयम असंयम का दोनों के कारण कार्य का सब वृत्तान्त है [अर्थात् उपरोक्त कथन दोनों में कारण कार्य भाव को प्रगट करता है]। [कषाय नोकषाय का असंयम के साथ कारण कार्य भाव है। यथायोग्य कषायें कारण हैं – तदनुसार असंयम कार्य है और उनके अभाव का संयम के साथ कारण कार्य भाव है। गुणस्थान परिपाटी अनुसार [शुद्धि की वृद्धि अनुसार] यथायोग्य कषायों का अभाव कारण है और तदनुसार संयम का होना कार्य है। यह कारण कार्य भाव स्पष्ट प्रगट करता है कि जहाँ जितनी कषायें हैं वहाँ उतना ही असंयम है]।

भावार्थ - कषाय के २ भेद हैं। कषाय और नोकषाय। कषाय के १६ अवान्तर भेद हैं। अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। नोकषाय के ९ भेद हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। इस प्रकार कषायों के कुल २५ भेद हैं।

कारण कार्य का वृत्तान्त :– निमित्त को अर्थात् कर्म की अवस्था को कारण कहते हैं और जीव के नैमित्तिक विभाव भाव को कार्य कहते हैं वह इस प्रकार है :– अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय कारण है और जीव का मिथ्यात्व भाव [स्वरूप की असावधानता] कार्य है। अप्रत्याख्यान कषाय का उदय कारण है और देशसंयम भाव का न होना अर्थात् असंयम होना कार्य है। प्रत्याख्यान कषाय का उदय कारण है और सकल संयम का न होना अर्थात् एक देश असंयम होना [संयमासंयम होना] कार्य है। संज्वलन का उदय कारण है और यथाख्यात संयम का न होना कार्य है। [वास्तव में तो जीव की योग्यता बतलाने के लिये यह सब निमित्त – व्यवहार का कथन है]।

कषाय नोकषाय का वृत्तान्त :– अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन, कषाय कहलाते हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, नोकषाय कहलाते हैं। कर्म प्रकृतियों के भी ये नाम हैं और जीव के विभाव भावों के भी ये नाम हैं।

संयम असंयम का वृत्तान्त :– अनन्तानुबन्धी से संयम असंयम का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह सम्यक्त्व के घात में निमित्त है। अप्रत्याख्यान के उदय में जुड़ने से संयम का पूर्ण अभाव अर्थात् असंयम भाव की पूर्ण प्राप्ति है। प्रत्याख्यान के उदय में जुड़ने से सकल संयम का अभाव और एकदेश संयम और एकदेश असंयम होता है। संज्वलन के उदय में जुड़ने से सकल संयम तो होता है पर स्वस्वरूप की पूर्ण स्थिरता नहीं होती। संज्वलन के अभाव से [पूर्ण शुद्धचारित्र के सद्भाव से] पूर्ण यथाख्यात संयत होता है। असंयम बिलकुल नहीं होता। यह संयम असंयम का सब वृत्तान्त है।

यह चारित्र गुण के विभाव परिणमन का और कर्मों की अवस्था का अर्थात् निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का सब वृत्तान्त है।

अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक के उदय में यथासम्भव शेष क्रोधादिक का तथा नोकषाय का भी उदय रहता है। इसी तरह आगे के अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक के उदय में भी उत्तरवर्ती क्रोधादिक तथा यथा सम्भव नोकषायों का उदय समझना चाहिए।

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थान तक पूर्ण रूप से असंयम भाव होता है और आगे के गुणस्थानों में जब तक पूर्ण रीति से कषायों का अभाव न हो जाय तब तक विवक्षित २ कषायों के उदय से विवक्षित २ चारित्र न होने रूप एक प्रकार का आंशिक असंयतत्त्व रहता है। इसलिये यद्यपि कषाय और असंयम इन दोनों में एक चारित्रमोह कर्म निमित्त है तथापि इन दोनों में सामान्यरूप से वा विशेष रूप से भी परस्पर में कारणकार्यभाव है। कषाय कारण है और असंयम उसका कार्य है। अथवा दूसरी युक्ति यह भी है कि चारित्रमोह कर्म में कषाय और असंयतत्त्वरूप दो प्रकार का शक्ति भेद है। सोई अब कहते हैं :–

किन्तु तच्छक्तिभेदाद्वा नासिद्धं भेदसाधनम् ।
एकं स्याद्वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥ १८९५ ॥
अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः ।
एकञ्चासंयतत्त्वं स्यात्कषायत्वमथापरम् ॥ १८९६ ॥

अन्वय :– किन्तु तच्छक्तिभेदात् भेदसाधनं असिद्धं न यथा विषं एकं अपि विषं हालाहलं अनेकं स्यात्। चारित्रमोहे अपि निसर्गतः शक्तिद्वैतं अस्ति। एकं असंयतत्त्वं अथ अपरं कषायत्वं स्यात्।

अन्वयार्थ – किन्तु उसके शक्ति भेद से भेद सिद्ध करना असिद्ध नहीं है जैसे विष वस्तुरूप से एक होकर भी विष और हालाहल शक्तिभेद से दो रूप है। उसी प्रकार चारित्रमोह [एक कर्म होकर भी उस] में स्वभाव से दो प्रकार की शक्ति है। एक असंयतत्त्व की है और दूसरी कषायत्त्व की।

भावार्थ - जगत् में बहुत ऐसे पदार्थ होते हैं जिनमें दो-दो शक्तियाँ होती हैं जैसे चावल का पाक ठण्डा भी होता है और खुश्क भी होता है। अरहर की दाल गरम भी होती है और कब्ज भी करती है उसी प्रकार किसी-किसी कर्म में तो एक ही प्रकार की शक्ति होती है और किसी-किसी में दो प्रकार की होती है जैसे मिथ्यात्व कर्म में तो केवल सम्यक्त्व के नाश में निमित्त होने की शक्ति है किन्तु अनन्तानुबन्धि में सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण दोनों के घात में निमित्त होने की शक्ति है। उसी प्रकार ये चारित्रमोह की प्रकृतियाँ कषायों में भी निमित्त हैं और असंयम में भी निमित्त हैं जैसे अप्रत्याख्यान के उदय में जुड़ने से असंयम भी होता है और क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय भी होता है।

अब शिष्य कहता है कि चारित्रमोह की दो-दो शक्तियाँ मानने की बजाय यदि पच्चीस की बजाय २६ भेद मान लिये जायें तो क्या हानि है। ये २५ भेद तो कषायों की उत्पत्ति में निमित्त रहें और एक असंयम या संयमावरण नाम की प्रकृति और होवे जो असंयम उत्पन्न करे। आगम में ऐसा कथन होना चाहिये ऐसा शिष्य अब कहता है :-

शङ्का

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम् ।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम् ॥ १८९७ ॥

अन्वयः - ननु च एवं सति न्यायात् तत्संख्या अभिवर्धतां यथा चारित्रमोहस्य स्फुटं षड्विंशतिः भेदाः।

अन्वयार्थ - शङ्का – ऐसा मानने पर [अर्थात् कषाय और असंयत दोनों चारित्रमोह के ही भेद हैं] तो न्याय से उस चारित्रमोह की प्रकृतियों की संख्या भी अधिक माननी चाहिये और फिर चारित्रमोह के प्रगट [पच्चीस की बजाय] छब्बीस भेद मानने चाहिए।

भावार्थ - शङ्काकार का कहना है कि एक कर्म में जितनी प्रकार की शक्तियाँ होती हैं – उतने ही उसके अवान्तर भेद होते हैं। ऐसा न्याय सङ्गत भी है। जब आप यह स्वीकार करते हैं कि चारित्रमोह में कषाय और असंयम दो प्रकार की शक्ति है – तो फिर उसकी प्रकृतियाँ १६ कषाय + ९ नोकषाय + १ असंयत इस प्रकार २६ होनी चाहिये जो बात न्यायसंगत है।

समाधान सूत्र १८९८ से १९०३ तक ६

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्मणवर्गणाः ।
आलापापेक्षया संख्या तत्रैवान्यत्र न क्वचित् ॥ १८९८ ॥

अन्वयः - सत्यं। यत्र ताः यज्जातिभिनाः कार्मणवर्गणाः तत्र एव आलापापेक्षया संख्या अन्यत्र क्वचित् न।

अन्वयार्थ - ठीक है। जहाँ पर जिसकी भिन्न जातिवाली वे कार्माणवर्गणायें होती हैं – वहाँ पर ही आलाप की अपेक्षा उतनी संख्या मानी जाती है और कहीं नहीं।

नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्मणवर्गणाः ।
किन्तु शक्तिविशेषोऽस्ति सोऽपि जात्यन्तरात्मकः ॥ १८९९ ॥

अन्वयः - अत्र तज्जातिभिन्नाः ताः कार्मणवर्गणाः न किन्तु शक्तिविशेषः अस्ति सः अपि जात्यन्तरात्मकः।

अन्वयार्थ - पर यहाँ पर उस जाति की पृथक रूप से वे कार्माणवर्गणायें नहीं हैं किन्तु शक्तिविशेष है और वह भी जात्यन्तर रूप है।

शङ्का का उत्तर - पर यहाँ पर उस जाति की पृथक रूप से वे कार्माणवर्गणायें नहीं हैं किन्तु शक्तिविशेष है और वह भी जात्यन्तर रूप है।

शङ्का का उत्तर

भावार्थ - चारित्रमोह की २६ संख्या माननी ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार से क्रोधादिक की भिन्न-भिन्न जातिवाली कार्माण वर्गणायें हैं – उस प्रकार से संयम को घात करने के लिये चारित्रमोह में भिन्न जातिवाली कार्माण

वर्गणायें नहीं हैं। जब तक भिन्न जातिवाली कार्माण वर्गणायें न हों तब तक चारित्रमोह की उत्तर प्रकृतियों में आलाप की अपेक्षा से संख्या की वृद्धि नहीं मानी जा सकती है किन्तु अनन्तानुबन्धी की तरह चारित्रमोह में कषायत्व और असंयतत्त्व भिन्न जातिरूप से दो प्रकार की शक्ति ही है और वह जात्यन्तररूप होने से कषाय वा असंयम कही जाती है।

कषाय भाव और असंयम भाव का लक्षण

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥ ११०० ॥

अन्वयः - तत्र यन्नाम कालुष्यं स्वलक्षणं [ते] कषायाः स्युः। यः जीवस्य व्रताभावात्मकः भावः सः असंयमः मतः।

अन्वयार्थ - उन [कषाय और असंयम] में जो कलुषतारूप स्वलक्षण को धारण करने वाले हैं – वे कषाय भाव हैं और जो जीव का व्रत के अभावात्मक भाव है – वह असंयम माना गया है।

भावार्थ - जीव के कलुषित भावों का नाम ही कषाय है यही कषाय का निज लक्षण है। ये भाव क्रोध, मान, माया, लोभ, वेद आदि रूप से प्रगट मलिनतारूप सबको अनुभव में आते हैं।

जीव के व्रतरहित भावों का नाम असंयम है। असंयम परिणामों में यह जीव अष्ट मूलगुणों को या अणुव्रतों को या महाव्रतों को धारण नहीं कर सकता अथवा उनके अतिचारों को नहीं छोड़ सकता। इस प्रकार कषाय और असंयम दोनों भिन्न-भिन्न जाति के भाव हैं।

एतद्द्वैतस्य हेतुत्त्वं स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः ।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥ ११०१ ॥

अन्वयः - एतदद्वैतस्य हेतुत्त्वं शक्तिद्वैतैककर्मणः चारित्रमोहनीयस्य स्यात् इतरस्य मनाक् अपि न।

अन्वयार्थ - इस द्वैत का कारण [कषाय भाव और असंयम भाव का कारण] एक चारित्रमोह कर्म की दो शक्तियाँ हैं। इसमें दूसरे कर्म की शक्ति बिलकुल नहीं है।

दोनों साथ ही होते हैं

यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्त्वयोः ।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ॥ ११०२ ॥

अन्वयः - कषायासंयतत्त्वयोः द्वयोः एव योगपद्यं अस्य कर्मणः उच्चै शक्तिद्वयस्य समं तथोदयात्।

अन्वयार्थ - कषाय और असंयम दोनों भाव एक सॉथ रहते हैं क्योंकि इस कर्म की दो प्रकार की शक्ति का इकट्ठा इसी प्रकार का उदय है।

भावार्थ - कषाय भाव और असंयम भाव ये दोनों साथ साथ होते हैं क्योंकि समान दो शक्तियों को धारण करने वाले चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में जुड़ने से वैसा होता है।

कषाय और असंयम का भिन्न काल नहीं है। एक ही काल में उभयशक्तिविशिष्ट चारित्रमोह के उदय में जुड़ने से चौथे गुणस्थान तक कषाय और असंयम युगपत् पाये जाते हैं तथा आगे भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए।

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत् ।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः ॥ ११०३ ॥

अन्वयः - तत्र दृष्टान्तः अपि अस्ति यत् अनन्तानुबन्धि कर्म [अस्ति तत्] दृक्चरियोः मोहनं घातिशक्तिद्वयोपेत [अस्ति]।

अन्वयार्थ - इस विषय में [अर्थात् दो शक्तियों को धारण करनेवाला एक ही कर्म का उदय जीव के दो भावों की उत्पत्ति में निमित्तकारण होता है – इस सम्बन्ध में] दृष्टान्त भी है कि जो अनन्तानुबन्धी कर्म है – वह दर्शन और चारित्र के मूर्च्छित होने में कारण रूप – दो प्रकार की घातकशक्ति से युक्त है [यह कषाय और असंयम की शक्तिवाले चारित्रमोह कर्म का दृष्टान्त है]।

भावार्थ - जैसे स्वरूपाचरण और सम्यक्त्व को युगपत् घात होने में निमित्तरूप शक्ति अनन्तानुबन्धी कर्म में है – वैसे ही कषाय वा असंयम होने में निमित्तरूप शक्ति चारित्रमोह में है – ऐसा समझना चाहिये।

शिष्य ने जो यह कहा था कि २५ की बजाय २६ भेद होने चाहिये उसका उत्तर यह दिया गया है कि कार्माणवर्गणाओं में जिसके भिन्न परमाणु होते हैं – वह पृथक भेद होता है। केवली भगवान् ने अपने ज्ञान में चारित्रमोहनीय के २५ प्रकार के परमाणु ही देखे हैं। अतः अधिक भेद तो है नहीं। हाँ उसमें कषाय और असंयम दो प्रकार के विभाव भावों में निमित्त होने की शक्तिद्वय है।

शङ्का

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात् ।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ ॥ १९०४ ॥

अन्वयः – ननु अप्रत्याख्यानादिकर्मणां उदयात् क्रमात् देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात् तत् स्मृतौ कथं।

अन्वयार्थ – शङ्का-अप्रत्याख्यानादि कर्मों के उदय से [–उदय में जुड़ने से] क्रम से देशव्रत और महाव्रत आदिकों का घात होता है – वह आगम में कैसे कहा गया है?

भावार्थ – जबकि अप्रत्याख्यान के उदय में जुड़ने से देशव्रत की और प्रत्याख्यान के उदय में जुड़ने से महाव्रत की क्रम २ से क्षति होती है तब अप्रत्याख्यान के उदय समय में महाव्रत क्यों नहीं हो जाता क्योंकि उस समय महाव्रतों को रोकने वाला प्रत्याख्यान का तो उदय रहता ही नहीं और यदि अप्रत्याख्यान के उदय काल में प्रत्याख्यान का भी उदय माना जाये तो दोनों का क्रम-क्रम से उदय कैसे कहा है ?

समाधान

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्त्वोदयं प्रति ।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥ १९०५ ॥

अन्वयः – सत्यं। तत्र द्वयोः बन्धसत्त्वोदयं प्रति अविनाभावः अस्ति। अतः अन्यतरस्य विवक्षायां दूषणं न।

अन्वयार्थ – ठीक है। वहाँ दोनों [अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान] में बन्ध, सत्त्व, उदय के प्रति अविनाभाव है। फिर भी किसी एक की विवक्षा में दोष नहीं है।

भावार्थ – अप्रत्याख्यान के उदय काल में प्रत्याख्यान का भी उदय रहता है इसलिये तो अप्रत्याख्यान के उदयकाल में महाव्रत नहीं होता और पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान के उदय का अभाव होने पर भी प्रत्याख्यान का उदय रहता है इसलिये कथंचित् क्रम से उदय कहा जाता है। तथा अप्रत्याख्यान का उदय कहने से प्रत्याख्यान का भी उदय आ जाता है क्योंकि अप्रत्याख्यान् के बंध उदय और सत्त्व के साथ अविनाभावी हैं, अर्थात् प्रत्याख्यान के बन्ध उदय सत्त्व के बिना अप्रत्याख्यान के बन्ध उदय सत्त्व नहीं हो सकते। इसलिये चौथे गुणस्थान तक दोनों का उदय रहते हुये भी अप्रत्याख्यान का उदय कहने में कोई दोष नहीं आता। अविनाभावी पदार्थों में एक का कथन करने से दूसरे का कथन स्वयं हो जाया करता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब अन्यतर [किसी एक का ही प्रयोग करना इष्ट है तब अप्रत्याख्यान के स्थान में प्रत्याख्यान का ही प्रयोग क्यों नहीं किया जाता अर्थात् जैसे अप्रत्याख्यान के उदय से प्रत्याख्यान के उदय का बन्ध होता है उसी प्रकार प्रत्याख्यान का उदय कहने से अप्रत्याख्यान के उदय का भी बोध हो जाना चाहिए।

परन्तु इसका उत्तर यह है कि अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान के उदय की परस्पर विषम व्याप्ति है क्योंकि चौथे गुणस्थान तक अप्रत्याख्यान का उदय तो बिना प्रत्याख्यान के उदय के नहीं रहता किन्तु पाँचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यान का उदय अप्रत्याख्यान के उदय के बिना भी रह जाता है। इसलिये अप्रत्याख्यान की जगह प्रत्याख्यान का प्रयोग नहीं हो सकता।

नोट – सूत्र १९०४-१९०५ का भावार्थ हमने पं. मक्खनलाल कृत टीका से उद्धृत किया है क्योंकि हमारी स्वयं की बुद्धि ने इसमें कुछ काम नहीं किया।

हिन्दी ग्रन्थ श्री 'भावदीपिका' में कहा है

असंयत भाव का लक्षण - अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोह कर्म के उदय [में जुड़ने] से जीव के असंयमभाव होता है। वहाँ पाँच इन्द्रिय और छठे मन की स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है। क्योंकि पाँच इन्द्रिय और छठे मन का विषय स्वच्छन्द होकर सेवन करता है। नहीं है हेय उपादेय का विचार जहाँ और नहीं है त्यजन ग्रहण की प्रवृत्ति जहाँ और नहीं है षट्काय के जीवों की दया जिसके – ऐसी जहाँ निःशङ्क प्रवृत्ति होती है – वह असंयम भाव कहा जाता है। वह असंयम भाव २ प्रकार है। यह सामान्य असंयम भाव आदि के ४ गुणस्थानों में पाया जाता है।

अनन्तानुबन्धी जनित असंयम भाव - एक तो असंयम भाव अनन्तानुबन्धी चारित्रमोह के उदय [में जुड़ने] से होता है। वहाँ तो योग्य-अयोग्य, न्याय-अन्याय, हेय-उपादेय के विवेक रहित होकर विषय कार्यों में और कषाय कार्यों में प्रवृत्त होता है। स्वच्छन्द दया रहित त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है – ऐसा असंयम भाव है। यह असंयम भाव मिथ्यात्व और सासादन २ गुणस्थानों में पाया जाता है।

अप्रत्याख्यानावरण जनित असंयम भाव - दूसरा असंयम भाव अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोह के उदय [में जुड़ने] से होता है। वहाँ विषय कार्य वा कषाय कार्य वा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा न्यायपूर्वक योग्य अयोग्य के विचार सहित होता है। वहाँ त्याग ग्रहण का प्रतिज्ञा वाक्य तो नहीं कहा जा सकता है परन्तु हेय उपादेय के विचार सहित होता है। इसलिये अपने पद योग्य न्यायकार्यों में तो प्रवर्त्ता है और पद योग्य अन्याय कार्यों में नहीं प्रवर्त्तता है – ऐसा असंयमभाव तो अप्रत्याख्यान के ऊपर के स्थानों में होता है। और अप्रत्याख्यान के मन्द उदय [में जुड़ने] से किञ्चित् त्याग ग्रहण रूप आखड़ी, व्यसनादि का त्याग, अभक्ष्य उदंबरादिक का त्यागरूप इत्यादिक प्रतिज्ञा भी होती है। परन्तु पाँच पापों का एकदेश वा सर्वदेश त्याग नहीं कर सकता है। इसलिये असंयम ही कहलाता है। यह असंयम भाव मिश्र और असंयत इन २ गुणस्थानों में पाया जाता है।

असंयम भाव का फल–यह असंयम भाव वर्तमान में भी दुःखरूप है और आगामी चतुर्गति संसार का कारण है।

असंयम भाव का सार (खास)

आगम में संयम भाव का लक्षण इस प्रकार किया है। यह खास कण्ठ करने योग्य हैः–

श्री प्रवचनसार गाथा १४ की संस्कृत टीका (खास)

''सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात् पंचेन्द्रियाभिलाषविकल्पात् च व्यावर्त्य आत्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात् संयमसंयुतः''।

अर्थ - समस्त छः जीवनिकाय के मारने के विकल्प से और पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी अभिलाषा के विकल्प से आत्मा को व्यावृत्त करके [अलग करके] आत्मा के शुद्धस्वरूप में संयमन किया होने से संयम सहित है।

इसलिये प्राणी संयम तो रूढ़ि से कहा जाता है वास्तव में तो कोई किसी को मार या बचा नहीं सकता। परद्रव्य की क्रिया ज्ञानी कि अज्ञानी कोई नहीं कर सकता। प्राणी असंयम का अर्थ है दूसरे जीवों के मारने का भाव करना और प्राणी संयम का भाव है दूसरे जीवों के मारने का भाव न करना (सूत्र १८८७) इसी प्रकार इन्द्रिय संयम भी रूढ़ि से कहा जाता है। वास्तव में इन्द्रिय विषयों की अभिलाषा का भाव इन्द्रिय असंयम है और इन्द्रिय विषयों की अभिलाषा के न होने का भाव इन्द्रिय संयम है [सूत्र १८८६]।

उपरोक्त दोनों परिभाषायें सिद्धांत दृष्टि से या व्यवहार दृष्टि से कही गई हैं वास्तव में अध्यात्म दृष्टि से या निश्चय दृष्टि से तो बात यह है कि मोह क्षोभ रहित आत्मा के शुद्ध भाव को संयम कहते हैं [सूत्र १८८२] और राग द्वेष औदयिक भाव को असंयम कहते हैं [सूत्र १८८१]।

असिद्धत्व औदयिक भाव

(सूत्र १९०६ से १९०८ तक ३

असिद्धत्व भाव का कारण और उसमें औदयिकपने की सिद्धि

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः ।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात् ॥ १९०६ ॥

अन्वयः–असिद्धत्वं नूनं औदयिकः भावः भवेत् यतः व्यस्तात् वा समस्तात् कर्माष्टकोदयात् जातः स्यात् ।

अन्वयार्थ - असिद्धत्व वास्तव में औदयिक भाव है क्योंकि भिन्न-भिन्न अथवा मिलकर आठों कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ है [जब तक आठों कर्मों का उदय है तब तक तो असिद्धत्व भाव है ही किन्तु इनमें से कुछ कर्मों का उदय रहने पर भी असिद्धत्व भाव होता है—इसलिये सब कर्मों का या अलग-अलग प्रत्येक कर्म का कार्य असिद्धत्व भाव बतलाया है] ।

भावार्थ - सिद्ध शब्द का अर्थ निष्पन्न है। जब तक कोई भी वस्तु अनिष्पन्न होती है तब तक वह असिद्ध कहलाती है। असिद्धता प्रत्येक संसारी जीव में मौजूद है। जो अत्यन्त अविकसित अवस्था में हैं—वे तो अनिष्पन्न हैं ही किन्तु जिन्होंने विकारों पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर ली है। जो अरहन्त अवस्था को प्राप्त हो गये हैं—उन्हें भी पूर्ण निष्पन्न नहीं माना जाता क्योंकि उस अवस्था में भी कुछ न्यूनता है।

मिथ्यादृष्टि के आठों कर्मों का उदय रहता है इसलिये वह असिद्ध कहा जाता है और आगे-आगे के गुणस्थानों में यद्यपि क्रम २ से कुछ कम कर्मों का भी उदय रहता है तब भी यह जीव मुक्त न कहलाकर असिद्ध ही कहलाता है। यहाँ तक कि चौदहवें गुणस्थान तक भी असिद्ध (संसारी) कहा जाता है। इसलिये व्यस्त किंवा समस्त रूप से आठों कर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण यह असिद्धत्व भाव भी औदयिक भाव कहा जाता है।

सिद्धत्व भाव का लक्षण

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोऽवस्थान्तरं पृथक् ।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥ ११०७ ॥

अन्वयः - सिद्धत्वं पुंसः कृत्स्नकर्मभ्यः पृथक् ज्ञानदर्शन-सम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकं अवस्थान्तरं [अस्ति]।

अन्वयार्थ - सिद्धत्व पुरुष [आत्मा] की सम्पूर्ण कर्मों से पृथक् [जुदा] ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व वीर्य आदि [सूक्ष्मत्व, अव्या बाध अवगाह और अगुरुलघु] आठ गुणों की प्रगटता स्वरूप अवस्थान्तर [शुद्ध दशा] है।

भावार्थ - सिद्ध दशा को सिद्धत्व भाव कहते हैं और आत्मा में किसी जाति के भी विकार के अस्तित्त्व को असिद्धत्व भाव कहते हैं अर्थात् पहले से चौदहवें गुणस्थान की अवस्था तक असिद्धत्व भाव रहता है फिर सिद्धत्व भाव की प्रगटता होती है। वह क्या है तो इसका उत्तर यही है कि आठ कर्मों के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से जो आत्मा के आठ गुण विकारी हो रहे हैं—उनका पूर्ण शुद्ध हो जाना सिद्धत्व भाव है अर्थात् आत्मा के अनन्त अनुजीवी तथा प्रतिजीवी गुणों की प्रगटता स्वरूप जीवास्तिकाय की सर्वथा शुद्ध आकाशवत् निर्लेप अवस्था का नाम सिद्धत्व भाव है। सिद्धत्व भाव पूर्ण अखण्ड क्षायिक भाव है। पर्याय है।

असिद्धत्व भाव की हेयता

नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः ।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥ ११०८ ॥

अन्वयः - अत्र इदं सिद्धत्वं न इति असिद्धत्वं स्यात्। अर्थतः यावत्संसारसर्वस्वं परं महानर्थास्पदं ।

अन्वयार्थ - (अत्र) यहाँ-संसार अवस्था में (इदं सिद्धत्वं न) यह उक्त सिद्धत्व भाव नहीं होता है [इति] इस कारण से [असिद्धत्वं स्यात्] यह असिद्धत्व कहलाता है। (अर्थतः] वास्तव में [यावत्संसारसर्वस्वं] जितना संसार सर्वस्व है — वह सब [परं] केवल [महानर्थास्पदं] महा अनर्थ की जड़ है।

भावार्थ - ऊपर की पंक्ति का तो यह अर्थ है कि सिद्धत्व आत्मा को अष्ट कर्म रहित अष्ट गुणसहित पूर्व सूत्र में वर्णित शुद्ध अवस्था [पर्याय] है। जब तक आत्मा इस अवस्था को प्राप्त न कर ले तब तक इसके असिद्धत्व भाव ही बना रहता है। इसलिये असिद्धत्व भाव चौदहवें गुणस्थान तक है।

दूसरी पंक्ति में इसका कारण बतलाया है कि यह असिद्धत्व भाव चौदहवें तक क्यों बना रहता है तो उत्तर में समझाते हैं कि जितनी मात्रा में भी आत्मा में संसारत्व है—असिद्धत्व है—किसी भी प्रकार का विकार है—चाहे वह केवल योगजनित ही क्यों न हो या प्रतिजीवी गुणों का ही विपरीत परिणमन क्यों न हो-इस आत्मा के लिये सब महा अनर्थ

रूप है। कलङ्क है। बाधक है। इसकी सुन्दरता और स्वरूप को बिगाड़ने वाला है। हेय है। शोभास्पद नहीं है। अतः आत्मा में थोड़ा से थोड़ा जितना भी असिद्धत्व भाव है—वह सब ज्ञानियों की दृष्टि में महा अनर्थ स्वरूप, आत्मा का घातक और केवल आत्मा के लिये कलङ्क रूप है। इस कलङ्क अंश का नाम ही असिद्धत्व भाव है। मात्र शुद्ध जीवास्तिकाय कें प्रदेशों [जैसा कि श्री पंचास्तिकाय सूत्र ३५ में वर्णित है] का रह जाना ही सिद्धत्वभाव है जिसकी महिमा शब्द के अगोचर है। वही आत्मा का पूर्ण सुन्दर स्वरूप है जो कथंचित उपादेय है। सर्वथा उपादेय तो नित्य शुद्ध निज कारण परमात्मस्वरूप शुद्ध जीवास्तिकाय है।

लेश्या औदयिक भाव

लेश्या के भेद, कारण और औदयिकपने की सिद्धि

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः ।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥ ११०१ ॥

अन्वयः - लेश्याः षड् एव विख्याताः। औदयिकाः भावाः स्मृताः यस्मात् योगकषायाभ्यां द्वाभ्यां एव उदयोद्भवाः।

अन्वयार्थ - लेश्या छः ही कही गई हैं। ये औदयिक भाव माने गये हैं क्योंकि योग और कषाय इन दोनों के ही उदय से उत्पन्न होती हैं [औदयिक भाव उन्हें ही कहते हैं जिनकी उत्पत्ति में कर्म उदय निमित्त मात्र कारण अवश्य पड़ता है]।

भावार्थ - कषायोदय जनित परिस्पन्दात्मक आत्मा के भावों का परम भाव लेश्या है। १-कृष्ण, २-नील, ३-कपोत, ४-पीत, ५-पद्म, ६-शुक्ल । ये ६ लेश्या भाव हैं। पहले तीन अशुभ भावों के तरतमरूप हैं। पिछली तीन शुभ भावों के तरतम रूप हैं। मोहनीय कर्म का उदय निमित्त कारण है। वास्तव में ये मोहभाव ही है। कषाय सहित योगप्रवृत्ति अर्थात् शुभाशुभ भाव सहित मन वचन काय की प्रवृत्ति की मुख्यता से निरूपण की जाती है। शुभाशुभ भाव रहित योगप्रवृत्ति को उपचार से लेश्या कहते हैं। वास्तव में वह लेश्या नहीं है। औदयिक भावों में द्रव्य लेश्या [शरीर के रंगों] से कोई प्रयोजन नहीं है और भाव लेश्या मोह का ही अवान्तर भेद है। यह ध्यान रहे क्योंकि यहाँ जीव के भावों का प्रकरण है।

जीव को यह विवेक रखना चाहिये कि आगामी आयु तथा गति स्वलेश्यानुसार ही बंधती है। अतः लेश्या भाव के विषय में हर समय जागृत रहना चाहिये। [श्री पंचास्तिकाय सूत्र ११९] ।

आमवाले वृक्ष को काटने वाले छः मनुष्यों का दृष्टान्त सदा ध्यान में रखना चाहिए और उसके अनुसार अपने जीवन को चलाना चाहिए। जहाँ तक हो मन्द से मन्द लेश्या भाव से जीवन के कार्य निपटा लेने चाहिये। यहाँ से क्या ले जाना है व्यर्थ अधिक बन्ध करके आत्मा को भारी करने से कोई लाभ नहीं । वैसे तो सभी लेश्या भाव [राग भाव होने से] सर्वथा हेय हैं। ज्ञानी शुक्ल लेश्या को भी उपादेय नहीं मानता पर यहाँ तो कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जहाँ-तहाँ विवेक और सावधानता रखो जहाँ तक हो-हलका से हलका भाव रखना चाहिये क्योंकि न मालूम किस समय आयु बंध जाय और गति तो प्रत्येक समय बन्धती ही है

पुनः भावार्थ - कषायों से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है उसके दो भेद हैं। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। शरीर के रंगों को द्रव्य लेश्या कहते हैं और कषायोदय जनित परि-स्पन्दात्मक आत्मा के भावों को भाव लेश्या कहते हैं। यहाँ आत्मा के औदयिक भावों का प्रकरण है। अतः द्रव्यलेश्या से कुछ प्रयोजन नहीं है। केवल भावलेश्या की बात है। क्योंकि योग से प्रकृति प्रदेश बन्ध और कषाय से स्थिति अनुभाग बन्ध होता है। अतः सम्पूर्ण कर्मबन्ध के कारण ये लेश्या भाव ही हैं।

कर्मों के ग्रहण करने की शक्ति का नाम योग है और उनमें स्थिति अनुभाग डालने की शक्ति का नाम कषाय है। योगों की तीव्रता से कर्मों का अधिक ग्रहण होता है और योगों की मन्दता से मन्द ग्रहण होता है किन्तु उनमें तीव्र कषाय से अधिक स्थिति अनुभाव पड़ता है और मन्द से मन्द । योग + कषाय का नाम ही लेश्या है।

हिन्दी ग्रन्थ श्री 'भावदीपिका' में कहा है

कषायों से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। क्योंकि ये योग और कषाय आत्मा को कर्मों से लिप्त करते हैं इसलिये इस योग कषाय की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। नाम कर्म के उदय रूप निमित्त कारण की उपस्थिति में द्रव्यमन, द्रव्यवचन, द्रव्यकाय उत्पन्न होते हैं। उनके आलम्बन से आत्मा के प्रदेश चंचल होते हैं उसे द्रव्ययोग कहा है और उसी पर्याय में भावयोग नामक कर्म के ग्रहण की शक्ति उत्पन्न होती है। उस भावयोग के द्वारा कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है। इन योगों की कषाय सहित प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। ऐसा लेश्या का स्वरूप है।

और योग कषाय की प्रवृत्ति तीव्र, मध्य, मन्द, मन्दतर इन चार प्रकार होती है। उसके अनुसार आत्मा पाँच पाप रूप कार्य में प्रवर्त्तता है। १-हिंसा, २-झूठ, ३-चोरी, ४-कुशील, ५-परिग्रह [विषय तृष्णा]। इन ५ पापरूप जो तीव्र, मध्य, मन्द, मन्दतर कार्य उसके अनुसार कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ऐसे दृष्टांत पूर्वक लेश्या के छः नाम हैं।

(१) कृष्ण लेश्या–कषाय ४ प्रकार हैं। क्रोध मान माया लोभ। जब ये क्रोधादिक कषाय उत्कृष्ट पाँच पाप मन, वचन, काय द्वारा करता है। वहाँ उस भाव का नाम कृष्ण लेश्या है। क्योंकि ये कषाय भाव महापापरूप प्रवर्त्ते हैं– इसलिये इनको कृष्ण कहते हैं।

(२) नील लेश्या–जहाँ क्रोधादिक कषाय मध्य अनुभाव को धारण कर प्रगट होते हैं–वहाँ आत्मा मन वचन काय द्वारा कुछ कम पाँच महा पाप करता है। इसलिये उस भाव का नाम नील लेश्या है। क्योंकि ये कषाय भाव कृष्ण लेश्या से कुछ कम महापाप रूप हैं–इसलिये इनको नील कहते हैं।

(३) कापोत लेश्या–जहाँ क्रोधादिक कषाय उससे भी नीचे के मध्य स्थानों में मध्य अनुभाग का धारण कर प्रगट होते हैं–तब आत्मा मन वचन काय द्वारा जघन्य पाँच पाप करता है। वहाँ आत्मा का कुछ ज्ञान चमकता है। जैसे कापोत अर्थात् कबूतर के पंख काले हैं तथा पीत में सफेदी का अंश चमकता है वैसे वह ज्ञान पाँच पाप रूप कालिमा सहित है–वैसे आत्मा का ज्ञान अंश चमकता है तथापि पाँच पापरूप कालिमा सहित है। कुछ कार्यकारी नहीं। इसलिये इसको कापोत लेश्या कहते हैं।

(४) पीत लेश्या–जहाँ क्रोधादिक कषाय मन्द अनुभाग को धारण कर प्रगट होते हैं–तब आत्मा मन वचन काय द्वारा ५ पाप मन्द करता है। वहाँ कुछ धर्मानुरागयुक्त होता है–उस भाव का नाम पीत लेश्या है।

(५) पद्म लेश्या–जहाँ क्रोधादिक कषाय अतिमन्द अनुभाग को धारण कर प्रगट होते हैं–तब आत्मा मन वचन काय द्वारा ५ पापों को अतिमन्द करता है। वहाँ कुछ अधिक हीन त्याग भाव प्रवर्त्तता है। वहाँ उस भाव का नाम पद्म लेश्या है।

(६) शुक्ल लेश्या–जहाँ क्रोधादिक कषाय मन्दतर अनुभाग को धारण कर प्रगट होते हैं–तब आत्मा बुद्धिपूर्वक ५ पापों को नहीं करता है। सब लौकिक कार्यों में उदासीन भाव को धारता है। वहाँ आत्मा के भाव को शुक्ल लेश्या कहते हैं।

क्रोधादिक कषाय चार चार प्रकार होकर प्रवर्त्ते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ। अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ। प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ। संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। ये १६ भेद कषाय भावों के हुए। जहाँ अनन्तानुबन्धी सहित अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन कषाय प्रवर्त्ती है–वहाँ कृष्णादिक छहों लेश्या पाई जाती हैं। वह लेश्या अनन्तानुबन्धी की कही जाती हैं। वहाँ कृष्णादिक एक एक लेश्या क्रोधयुक्त कृष्ण लेश्या, मानयुक्त कृष्ण लेश्या, मायायुक्त कृष्ण लेश्या, लोभयुक्त कृष्ण लेश्या-ऐसे एक एक लेश्या चार चार प्रकार है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी में लेश्या के २४ भेद हैं। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान कषायों में कृष्णादिक छहों लेश्या पाई जाती हैं। इसलिये अप्रत्याख्यान में भी २४ भेद हैं। प्रत्याख्यान वा संज्वलन कषायों में पीत-पद्म शुक्ल ये तीन तीन लेश्या ही पाई जाती हैं। इसलिए इनमें क्रोध मान माया लोभ करि १२-१२ भेद हैं। ऐसे लेश्या के ७२ भेद हैं। इन ७२ भेदों का स्पष्ट स्वरूप जानने के लिये हिन्दी ग्रन्थ श्री "भावदीपिका" पन्ना ७५ से ९१ तक पढ़िये। अत्यन्त सुन्दर मार्मिक विवेचन किया है। वैसा विवेचन अन्यत्र कहीं भी हमारे देखने में नहीं आया है।

लेश्या भाव का कुछ विवेचन पं. मक्खनलाल जी ने भी इसी सूत्र के अर्थ में अपनी पञ्चाध्यायी टीका में लिखा है–वह भी पढ़ने योग्य है।

अनन्तानुबन्धी लेश्या का फल

(१) अनन्तानुबन्धी की उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या भाव द्वारा तो आत्मा उत्कृष्ट स्थिति वा उत्कृष्ट अनुभाग सहित नरकायु को बाँधता है और इस ही लेश्या सहित जीव मरण को पाकर सप्तम नरक में उपजता है। अनुत्कृष्ट कृष्ण लेश्या भाव द्वारा आत्मा अनुत्कृष्ट स्थिति अनुभाग सहित नरक गति तथा नरकायु बाँधता है और इस ही लेश्या में मरण करे तो पञ्चम नरक के अन्तिम पाथड़े से लगाकर छठे नरक के अन्तिम पाथड़े पर्यन्त उत्पन्न होता है। जघन्य कृष्ण लेश्या भाव कर आत्मा मनुष्य तिर्यञ्च आयु बाँधकर मनुष्य तिर्यञ्च दोनों गतियों में उत्पन्न होता है और जघन्य कृष्ण लेश्या भाव कर जीव देवायु बाँधकर भवनत्रिक देवगति में उत्पन्न होता है।

(२) अनन्तानुबन्धी नील लेश्या के उत्कृष्ट भाव द्वारा जीव मध्यम स्थिति अनुभाग सहित नरकायु बाँधता है और इसी लेश्या में मरण करे तो पंचम नरक में उत्पन्न होता है। अनुत्कृष्ट नील लेश्या के भाव कर आत्मा मध्यम स्थिति अनुभाग सहित नरकायु को बाँधता है और इसी लेश्या में मरकर तीसरे नरक के अन्तिम पाथड़े से लेकर चौथे नरक के अन्तिम पाथड़े पर्यन्त उपजता है। जघन्य नील लेश्या भाव कर जीव मनुष्य तिर्यञ्च आयु बाँधता है और मरण कर मनुष्य तिर्यञ्च गति में ही उत्पन्न होता है। जघन्य नील लेश्या भाव द्वारा जीव देवायु को बाँधकर भवनत्रिक देवगति में ही उत्पन्न होता है।

(३) अनन्तानुबन्धी कापोत लेश्या के उत्कृष्ट भाव द्वारा जीव मध्यमस्थिति अनुभाग सहित नरकायु बाँध मरण कर तीसरे नरक में उत्पन्न होता है। अनुत्कृष्ट कापोत लेश्या भाव द्वारा परिवर्तमान जघन्यस्थिति अनुभाग सहित नरकायु को बाँधकर मरण को पाकर प्रथम नरक से लगा कर दूसरे नरक पर्यन्त उपजता है। कापोत लेश्या के जघन्य भाव द्वारा जीव मनुष्य तिर्यञ्च आयु बाँध कर मनुष्य तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होता है। कापोत लेश्या के जघन्य भाव द्वारा आत्मा देवायु को बाँधकर भवनत्रिक देवों में उत्पन्न होता है।

(४) अनन्तानुबन्धी पीत लेश्या के भाव द्वारा आत्मा मनुष्य तिर्यञ्च तो देवायु बाँध मरणकर कल्पवासी देव होता है और देव इसी लेश्या के स्थानों द्वारा मनुष्य तिर्यंच आयु बाँध मरणकर मनुष्य तिर्यंच दोनों गतियों में उपजता है।

(५) अनन्तानुबन्धी पद्मलेश्या भाव द्वारा मनुष्य तिर्यंच तो देवायु बाँध मरण कर कल्पवासी देव होते हैं और देव इसी लेश्या भाव द्वारा मनुष्य तिर्यच आयु बाँध मरण कर मनुष्य तिर्यंच दोनों गतियों में उत्पन्न होते हैं।

(६) अनन्तानुबन्धी शुक्ल लेश्या भाव द्वारा मनुष्य तिर्यंच तो देवायु बाँध मरण कर कल्पवासी देव होते हैं और देव इसी लेश्या भाव द्वारा मनुष्य गति आयु बाँधकर मनुष्य गति में उत्पन्न होते हैं।

अप्रत्याख्यान लेश्या का फल

(१) अप्रत्याख्यान की छहों लेश्या भाव द्वारा मनुष्य तिर्यंच के तो देवगति देवायु का ही बन्ध होता है और मरण में विशेषता है। कृष्ण नील लेश्या भावों में तो मरण ही नहीं है। कापोत लेश्या के उत्कृष्टादि भावों सहित जीव प्रथम नरक में उपजता है और मध्यम भावों कर मरा हुआ जीव भोगभूमि में तिर्यञ्च होता है और जघन्यादि भावों सहित मरा हुआ जीव भोगभूमि में मनुष्य होता है।

(२) पीत पद्म शुक्ल लेश्या भावों द्वारा मरा हुआ जीव कल्पवासी देव ही होता है और नारकी कृष्ण नील कापोत लेश्या भावों को धारण करते हैं और मनुष्य गति में ही उत्पन्न होते हैं। देव पीत पद्म शुक्ल लेश्या भावों द्वारा मनुष्य आयु ही बाँधते हैं और मरण कर मनुष्य गति में ही उपजते हैं।

प्रत्याख्यान लेश्या का फल

प्रत्याख्यान की पीत पद्म शुक्ल लेश्या भावों द्वारा मनुष्य वा तिर्यच देवायु ही बाँधते हैं और मरण कर उत्तम कल्पवासी देवों में उपजते हैं।

संज्वलन लेश्या का फल

संज्वलन की पीत पद्म लेश्या वाला मनुष्य मुनिपद में रहता देवायु ही बाँधता है और मरकर कल्पवासी देव उत्तम इन्द्रादिक होता है और शुक्ल लेश्या वाला उत्तम देवायु बाँध मरणकर कल्पातीत जो ९ ग्रीवक या ९ अनुदिश विमान वा सर्वार्थसिद्धि सहित ५ अनुत्तर विमान में उपजता है।

लेश्याओं में गुणस्थान

कृष्ण नील कापोत ये ३ लेश्या भाव चौथे गुणस्थान तक होते हैं। पीत पद्म २ लेश्या भाव सातवें गुणस्थान तक होते हैं। शुक्ल लेश्या वास्तव में दसवें तक किन्तु उपचार से तेरहवें तक पाई जाती है।

औदयिक भावों का सार

(१) २१ औदयिक भावों में ४ गति भाव, ४ कषाय भाव, ३ लिङ्ग भाव, १ मिथ्यात्व भाव, १ असंयम भाव और ६ लेश्या भाव-ये सब १९ भाव तो मोह भाव के अवान्तर भेद हैं। ये सब दर्शनमोह और चारित्रमोह के उदय से होते हैं। यही वास्तव में विकारी हैं। बंधसाधक हैं। जीव के लिये महा अनिष्टकारक हैं और अनन्त संसार के कारण हैं बल्कि साक्षात् अनन्त संसार रूप ही हैं। इनका स्वरूप जानकर प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है कि इन को सर्वथा हेय जानकर यथाशक्ति त्याग करे। श्री समयसार सूत्र ७२, ७३, ७४ इस विषय में विशेष उपयोगी हैं। उनके भाव का पुनः पुनः चिन्तवन करें ताकि इन भावों से बचा रहे।

(२) अज्ञान औदयिक भाव शून्यतारूप है। दुःखरूप भी है पर इसमें सीधा कोई पुरुषार्थ नहीं चलता किन्तु उपरोक्त मोह भावों के त्याग करने से यह स्वयं नष्ट हो जाता है। यही दशा असिद्धत्व औदयिक भाव की है। आठों कर्मों या किसी भी कर्म के उदय से होने वाले विकार को असिद्धत्व भाव कहते हैं। सो उपरोक्त मोहभावों का त्याग करने से [निश्चल ज्ञायक भाव का अच्छी तरह आलम्बन करने से] सब कर्म स्वयं नष्ट हो जाते हैं और जीव अपने स्वाभाविक सिद्धत्व भाव को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न २८१ - आत्मा के असाधारण भाव कितने हैं ?

उत्तर - पाँच – औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। भाव तो असंख्यातलोकप्रमाण हैं पर ज्ञानियों ने जाति के अपेक्षा बहुत मोटे रूप से इन ५ भेदों में विभक्त कर दिये हैं। इनके मोटे प्रभेद [अवान्तर भेद] ५३ हैं।

प्रश्न २८२ - असाधारण भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - असाधारण का अर्थ तो यह है कि ये भाव आत्मा में ही पाये जाते हैं। अन्य ५ द्रव्यों में नहीं पाये जाते। आत्मा में किस-किस जाति के भाव-परिणाम-अवस्थायें होती हैं—यह इससे ख्याल में आ जाता है और इनके द्वारा जीव को जीव का स्पष्ट ज्ञान साङ्गोपाङ्ग द्रव्य गुण पर्याय सहित हो जाता है। इन भावों के जानने से ज्ञान में बड़ी स्पष्टता आ जाती है। अच्छे बुरे [हानिकारक अथवा लाभदायक] परिणामों का ज्ञान होता है जैसे मोह को अनुसरण करके होनेवाला औदयिक भाव हानिकारक तथा दुःखरूप है। मोह के अभाव से होने वाले औपशमिक-क्षायोपशमिक भाव मोक्षमार्ग रूप हैं तथा क्षायिक भाव मोक्षरूप हैं। क्षायिक ज्ञान दर्शन वीर्य जीव का पूर्ण स्वभाव है—क्षायोपशमिक एकदेश स्वभाव है। विपरीत ज्ञान विभाव रूप है। इत्यादिक।

प्रश्न २८३ - क्षायिक भाव किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - कर्म के क्षय को अनुसरण करके होनेवाले भाव को क्षायिक भाव कहते हैं। उसके ९ भेद हैं। १-क्षायिक सम्यक्त्व, २-चारित्र, ३-ज्ञान, ४-दर्शन, ५-दान, ६-लाभ, ७-भोग, ८-उपभोग और ९-वीर्य। इनको ९ क्षायिक लब्धियाँ भी कहते हैं। ये भाव तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में प्रगट होकर सिद्ध में अनन्त काल तक धारा प्रवाह रूप से प्रत्येक समय होते रहते हैं। ९ भिन्न-भिन्न अनुजीवी गुणों की एक समय की ९ क्षायिक पर्यायों के नाम हैं। आदि अनन्त भाव हैं।

प्रश्न २८४ - औपशमिक भाव किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - कर्म के उपशम को अनुसरण करके होनेवाले भाव को औपशमिक भाव कहते हैं। इसके २ भेद हैं। १-औपशमिक सम्यक्त्व, २-औपशमिक चारित्र । वह श्रद्धा और चारित्र गुण का एक समय का क्षणिक

स्वभाव परिणमन है। सादि सान्त भाव हैं। औपशमिक सम्यक्त्व तो चौथे से सातवें तक रह सकता है और पूर्ण औपशमिक चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान में होता है।

प्रश्न २८५ - क्षायोपशमिक भाव किसे कहते हैं और इसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - कर्म में क्षयोपशम को अनुसरण करके होनेवाले भाव को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। इसके १८ भेद हैं। ४ ज्ञान [मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय], ३ अज्ञान [कुमति, कुश्रुत, विभंग], ३ दर्शन [चक्षुः अचक्षु, अवधि], ५ क्षायोपशमिक [दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य], १ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, १ क्षायोपशमिक चारित्र, १ संयमासंयम। ये आत्मा के १८ पर्यायों के नाम हैं। सादि सान्त भाव हैं। इनमें ४ ज्ञान और ३ अज्ञान तो ज्ञान गुण की एक समय की पर्यायें हैं। ३ दर्शन-दर्शन गुण की एक समय की पर्याय हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये आत्मा में ५ स्वतन्त्र गुण हैं। प्रत्येक भाव अपने-अपने गुण की एक समय की पर्याय है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व श्रद्धा गुण की एक समय की स्वभाव पर्याय है। क्षायोपशमिक संयम और संयमा-संयम चारित्र गुण की एक समय की आंशिक स्वभाव पर्याय है। ४ ज्ञान तो चौथे से बारहवें तक पाये जाते हैं। ३ अज्ञान पहले तीन गुणस्थानों में हैं। ३ दर्शन और ५ दानादिक पहले से बारहवें तक पाये जाते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चौथे से सातवें तक पाया जाता है। क्षायोपशमिक चारित्र छठे से दसवें तक है और संयमासंयम केवल एक पाँचवें गुणस्थान में पाया जाता है।

प्रश्न २८६ - औदयिक भाव किसे कहते हैं और इसके कितने भेद हैं तथा उनमें किस-किस कर्म का निमित्त है ?

उत्तर - कर्म के उदय को अनुसरण करके होनेवाले भाव को औदयिक भाव कहते हैं। इसके २१ भेद हैं। ४ गति भाव, ४ कषाय भाव, ३ लिङ्ग भाव, १ मिथ्यादर्शन भाव, १ अज्ञान भाव, १ असंयम भाव, १ असिद्धत्व भाव, ६ लेश्या भाव। गति भाव में गति नामा नाम कर्म के उदय का सहचर दर्शनमोह तथा चारित्रमोह का उदय निमित्त है। कषाय, लिङ्ग असंयम इनमें चारित्रमोह का उदय निमित्त है। अज्ञान भाव में ज्ञानावरण का उदय अंश निमित्त है। मिथ्यादर्शन में दर्शनमोह का उदय निमित्त है। असिद्धत्व भाव में आठों कर्मों का उदय निमित्त है। लेश्या भाव है योग का सहचर और मोहनीय निमित्त है। ये सब दुःखरूप हैं। अज्ञान भाव बंध का कारण नहीं है-शेष सब बन्ध के कारण हैं। आत्मा का बुरा इन औदयिक भावों से ही है। ये आत्मा के एक समय के परिणमन रूप भाव हैं। पर्यायें हैं। सब क्षणिक नाशवान हैं। सादि सान्त हैं।

प्रश्न २८७ - पारिणामिक भाव किसे कहते हैं और इसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - जो भाव कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम या उदय की अपेक्षा न रखता हुआ जीव का स्वभाव मात्र हो-उसको पारिणामिक भाव कहते हैं। इसके ३ भेद हैं। १-जीवत्व, २-भव्यत्व, ३-अभव्यत्व। जीवत्व भाव द्रव्यरूप है। भव्यत्व अभव्यत्व भाव गुण रूप हैं। भव्य जीव में भव्यत्व गुण का सम्यक्त्व होने से पहले अपक्व परिणमन चलता है। चौथे से सिद्ध तक पक्व परिणमन हैं। अभव्य जीव में अभव्यत्व गुण का अभव्यत्व परिणमन होता है। जीवत्व भाव, ज्ञायक भाव, पारिणामिक भाव, परम पारिणामिक भाव, परम पूज्य पञ्चम भाव, कारण शुद्ध पर्याय आदि अनेक नामों से कहा जाता है। यह सब जीवों में है। भव्य अभव्य में से एक जीव में कोई एक होता है। भव्य में भव्यत्व, अभव्य में अभव्यत्व । भव्यत्व अभव्यत्व की अपेक्षा जीव ही मूल में दो प्रकार के हैं। अभव्य संसार रुचि को कभी नहीं छोड़ता है। भव्य स्वकाल की योग्यतानुसार पुरुषार्थ करके संसार रुचि का नाश कर मोक्ष पाता है। पर सब भव्य मोक्ष प्राप्त करें-ऐसा नियम नहीं है। जो पुरुषार्थ करता है-वह प्राप्त कर लेता है। योग्यता सब भव्यों में है। अभव्य में पर्यायदृष्टि से योग्यता नहीं है। द्रव्य स्वभाव तो उसका भी मोक्षरूप है।

प्रश्न २८८ - कर्म किसे कहते हैं ? वे कितने हैं ?

उत्तर - आत्मस्वभाव से प्रतिपक्षी स्वभाव को धारण करने वाले पुद्गल कार्मण स्कन्ध वर्गणाओं को कर्म कहते हैं। वे ८ हैं। १-ज्ञानावरण, २-दर्शनावरण, ३-वेदनीय, ४-मोहनीय, ५-आयु, ६-नाम ७-गोत्र और ८-अन्तराय।

प्रश्न २८९ - उस कर्म के मूल भेद कितने हैं और क्यों ?

उत्तर - उस कर्म के मूल २ भेद हैं - १. घाति कर्म २. अघाति कर्म। जो अनुजीवी गुणों के घात में निमित्तमात्र कारण हैं—उन्हें घातिकर्म कहते हैं। जो अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त नहीं हैं अथवा आत्मा को परवस्तु के संयोग में निमित्तमात्र कारण हैं—अथवा आत्मा के प्रतिजीवी गुणों के घात में निमित्तमात्र कारण हैं—उन्हें अघाति कर्म कहते हैं। घाति कर्म ४ हैं - १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. मोहनीय और ४. अन्तराय। शेष ४ अघाति हैं।

प्रश्न २९० - इन कर्मों में उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम में से कौन कौन अवस्था होती हैं।

उत्तर - अघाति कर्मों में दो ही अवस्था होती हैं। उदय और क्षय । चौदहवें तक इनका उदय रहता है और चौदहवें के अन्त में अत्यन्त क्षय हो जाता है। ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय की दो ही अवस्था होती हैं। क्षयोपशम और क्षय। बारहवें तक इनका क्षयोपशम है और बारहवें के अन्त में क्षय है। मोहनीय में चारों अवस्थायें होती हैं। उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम ।

प्रश्न २९१– किस गुण के तिरोभाव में कौन कर्म निमित्त है ?

उत्तर - ज्ञान गुण के तिरोभाव में ज्ञानावरण निमित्त है। निमित्त में ज्ञानावरण की स्वतः दो अवस्था होती हैं—क्षय और क्षयोपशम। उपादान में ज्ञान गुण में स्वतः दो नैमित्तिक अवस्था होती हैं—क्षायिक और क्षायोपशमिक। इसलिए ज्ञानगुण में दो भाव होते हैं अर्थात् ज्ञान गुण का पर्याय में दो प्रकार का परिणमन होता है—क्षायिक परिणमन रूप केवलज्ञान और क्षायोपशमिक परिणमन रूप शेष ४ ज्ञान और ३ कुज्ञान। [अज्ञान भाव तो औदयिक अंश की अपेक्षा है] ।

इसीप्रकार दर्शनगुण में दर्शनावरण निमित्त है। इस गुण की भी दो अवस्था होती हैं। क्षायिक परिणमन रूप केवल दर्शन, क्षायोपशमिक परिणमन रूप शेष ३ दर्शन ।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यगुण में अन्तराय कर्म निमित्त है। इन गुणों की भी दो अवस्था होती हैं। क्षायिक परिणमन रूप क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। क्षायोपशमिक परिणमनरूप क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य उपरोक्त सब क्षायोपशमिक भाव बारहवें गुणस्थान तक हैं और क्षायिक भाव तेरहवें से प्रारम्भ होकर सिद्ध तक हैं।

मोहनीय के २ भेद हैं। दर्शनमोह और चारित्रमोह। आत्मा के सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण में दर्शनमोह निमित्त है और चारित्र गुण में चारित्रमोह निमित्त है। श्रद्धा गुण की ४ अवस्था होती हैं। पहले, दूसरे तीसरे में इसकी औदयिक अवस्था है। चौथे से सातवें तक प्रथम नम्बर की औपशमिक सम्यक्त्व अवस्था और आठवें से ग्यारहवें तक दूसरी औपशमिक सम्यक्त्व अवस्था रह सकती है। चौथे से सातवें तक क्षायोपशमिक अवस्था रह सकती है और चौथे से सिद्ध तक क्षायिक अवस्था रह सकती है। दर्शनमोह का उदय मिथ्यात्व भाव में निमित्त है। इसका क्षयोपशम, क्षय तथा उपशम क्रमशः क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व में निमित्त है। चारित्र गुण की भी ४ अवस्थायें होती हैं। असंयम भाव में चारित्रमोह का उदय निमित्त है। यह भाव पहले चार गुणस्थानों में होता है। उसका क्षय-क्षायिक चारित्र में निमित्त है और बारहवें से ही होता है। इसका उपशम औपशमिक चारित्र में निमित्त है जो संपूर्ण ग्यारहवें में होता है और इसका क्षायोपशम एक तो संयमासंयम भाव में निमित्त है जो पाँचवें में होता है और दूसरे क्षायोपशमिक चारित्र में निमित्त है जो छठे से दसवें तक होता है।

समाप्त